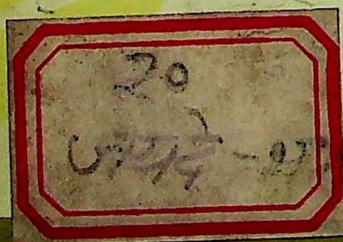
भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास

(मध्यकालीन आचार्यों का दर्शन)

(आचार्य शंकर, रामानुज, आचार्य मध्व, बल्लभ और चैतन्य भक्ति)



जयदेव वेदालंकार

ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास के चतुर्थ भाग में मध्यकालीन आचार्यों का दर्शन निरूपित किया है। लेखक ने इस ग्रन्थ में अद्वैत तथा द्वैत दार्शनिक मध्यकालीन सम्प्रदायों के दर्शन का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है।

इस ग्रन्थ के विषय-प्रवेश में अद्वैतवेदान्त, विशिष्टाद्वैत, और द्वैतवाद के आचार्यों के दर्शन का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। इसके अनन्तर आचार्य गौडपाद के दर्शन का संक्षिप्त तत्त्वमीमांसीय अध्ययन प्रस्तुत करते हुए बौद्धों के दर्शन से उसकी तुलना एवं समीक्षा का प्रस्तुतीकरण हुआ है। आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज और आचार्य मध्व के दर्शनों का तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय अध्ययन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

इन उपर्युक्त दर्शनों के अनुसार ब्रह्म, जीवात्मा, सृष्टि संरचना, नीतिशास्त्र और मोक्ष का तात्त्विक विवेचन सर्वत्र अद्वैतवादी विशिष्टाद्वैतवादी और द्वैतवादी विचारधारा का साम्य एवं वैषम्य का निरूपण करते हुए दार्शनिक विश्लेषण हुआ है।

जो पाठक मध्यकालीन आचार्यों के दर्शन का विस्तार पूर्वक अध्ययन एक ही ग्रन्थ में करना चाहे, उनके लिये यह ग्रन्थ अनुपम कृति है। इस ग्रन्थ का प्रणयन भारतीय विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकगण, ए०ए०, शोधछात्र और दर्शन के जिज्ञासु के लिए किया गया है। यह ग्रन्थ आई०ए०एस० एवं पी०सी०एस० के प्रतियोगी एवं प्रशासनिक प्रतियोगियों के लिये भी अत्यधिक उपयोगी ग्रन्थ है। भारतवर्ष में समस्त विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों के लिए यह ग्रन्थ संग्रहणीय है।

आई.एस.बी.एन. : ८१-८३१५-००२-०

मूल्य : रुपये ९००.००

भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास
HISTORY OF INDIAN PHILOSOPHY

भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास

HISTORY OF INDIAN PHILOSOPHY

चतुर्थ भाग [PART-IV]

(मध्यकालीन आचार्यों का दर्शन)

(आचार्य शंकर, रामानुज, आचार्य मध्व, बल्लभ और चैतन्य भक्ति)

लेखक

आचार्य डॉ० जयदेव वेदालंकार

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष (दर्शन विभाग)

एम०ए० (दर्शन एवं मनोविज्ञान) पी-एच०डी०, डी०लिट्०

डीन प्राच्य विद्या संकाय

पूर्व कुल सचिव

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

(उत्तराञ्चल)





न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन

दिल्ली (भारत)

प्रकाशक :
न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन
५८२४, जवाहर नगर, (शिव मन्दिर के पास)
न्यू चन्द्रावल, दिल्ली-११०००७
फोन : २३८५१२९४, ५५१९५८०९
E-mail : newbbc@indiatimes.com.

प्रथम संस्करण : २००५

आई.एस.बी.एन. : ८१-८३१५-००२-०

मुद्रक :
जैन अमर प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली-७

आत्म-निवेदन

सृष्टि के आदि काल से दार्शनिक चिन्तन धारा का सतत प्रवाह वेद संहिताओं से लेकर वेदांग ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् षड् दर्शन, जैन और बौद्ध दर्शन की परम्परा से होता हुआ, मध्यकालीन आचार्यों के दर्शन तक अक्षुण्य रूप में प्रवाहित है।

इस दार्शनिक चिन्तनधारा को विश्व की तत्त्वमीमांसीय, सामाजिक और सांस्कृतिक आदि की जो समस्याएं मानव के सम्मुख आती हैं उन समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने का मानवीय प्रयास कहा जा सकता है।

भारतीय दर्शन को मूलतः आध्यात्मिक माना जाता है। क्योंकि प्रत्येक दर्शन में दुखों से छूटकर आनन्द एवं मोक्ष प्राप्ति के उपायों को दर्शाया गया है। इसका मतलब यह नहीं कि यहाँ पर प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा का सूक्ष्म और दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत नहीं हुआ है, अपितु यह चिन्तन जितनी तार्किक दृष्टि से भारतीय दर्शन में प्रस्तुत किया गया है, उतना पश्चिमी दर्शनों में प्राप्त नहीं होता है। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक प्रचेता आध्यात्मिकता से विचलित नहीं होते हैं। यह सब होते हुए भी यहाँ चिन्तनधारा की स्वतन्त्र प्रवृत्तियाँ भी पर्याप्त रूप में प्राप्त होती हैं। यही कारण है कि भारत भूमि पर संशयवादी, नास्तिक हेतुवादी स्वतन्त्र विचारक अपने विचारों को प्रस्तुत करते रहे हैं। यह स्वतन्त्र मान्यता है कि समस्त भारतीय चिन्तन धारा का आदि मूल वैदिक संहिताएं हैं। ऋषियों ने, चिन्तकों ने और प्रचेताओं ने उन वैदिक सहिंताओं की व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। उन व्याख्याओं के व्याख्याकारों में समय तथा कालान्तर में मदभेद होते चले गये हैं।

भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास के इस चतुर्थ भाग में मध्यकालीन आचार्यों के दर्शन को निरूपित किया गया है। अब तक जो भारतीय दर्शन के इतिहास के ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, उनका क्रम इस प्रकार है कि ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन) के क्रम

के साथ ही आचार्य शंकर, रामानुज और मध्वादि दर्शन को निरूपित किया जाता रहा है। मैंने मध्यकालीन आचार्यों के दर्शन का खण्ड इसलिए अलग से लिखा है कि भारतीय षड्दर्शन की परम्परा में अन्तिम दर्शन मीमांसा दर्शन माना जाता है। उसके पश्चात् नास्तिक दार्शनिक परम्परा जिसमें लोकायत, जैन और बौद्ध दर्शनों की है। मध्यकालीन आचार्यों में सर्वप्रथम गौड़ पाद आचार्य का नाम, उसके पश्चात् शंकर, रामानुज, मध्व आदि का युग आता है। इसलिए वेदान्त दर्शन के पश्चात् शंकरादि के क्रम को मानना उचित नहीं है। अत: मध्यकालीन आचार्यों के दर्शन का खण्ड पृथक् से लिखा गया है। वैसे भी द्वैत तथा अद्वैत दर्शन के शास्त्रार्थ का युग इन्ही आचार्यों के दर्शनों से प्रारम्भ होता है। इन समस्त आचार्यों का दर्शन मुख्य रूप में उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र को ही अपना आधार सा मानता हुआ प्रतीत होता है।

मध्यकालीन परम्परा के अनन्तर समकालीन दर्शन की परम्परा प्रारम्भ होती है। इस परम्परा का प्रारम्भ, स्वामी दयानन्द सरस्वती के दर्शन से आरम्भ माना जाता है। भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में अनेक दार्शनिक विधाएं हैं, जिनका निरूपण भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में नहीं किया गया है। उन दर्शनों में जैसे-धर्म दर्शन, समाज दर्शन, राजनीति दर्शन, विज्ञान दर्शन, आयुर्वेदीय दर्शन और सौन्दर्य एवं कलादर्शन हैं। इन सभी दर्शनों को पञ्चम खण्ड में निरूपित किया जा रहा है।

इस भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास के चतुर्थ खण्ड के लिखने में अनेक ग्रन्थों, आचार्यों एवं प्रचेताओं की प्रेरणा प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप में सम्प्राप्त की गयी है। मैं उन सब आचार्यों का हृदय से आभारी हूँ।

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में श्री अनीक 'वेदालंकार' एवं श्री मनदीप 'वेदालंकार' ने बहुत अधिक सहयोग प्रदान किया है। मैं उनको हृदय से धन्यवाद प्रदान करता हूँ तथा ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे जीवन में पूर्णरूपेण सफल हों। मैं अपने पुत्र डा० हेमेन्द्र कुमार एवं प्रियरञ्जन का भी धन्यवाद करता हूँ जो अनेक प्रकार सहयोग प्रदान करते रहे हैं।

मेरी जीवन संगिनी श्रीमती डॉ० सुषमा स्नातिका जो मेरी अन्त: प्रेरणा दायिनी बन कर सहयोग प्रदान करती है। उनको धन्यवाद ज्ञापित करने के लिए मेरे पास कोई शब्द नहीं हैं। बस ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि उनका साथ मेरे साथ सदा बना रहे।

अन्त में मैं परमपिता को प्रणाम करता हूँ, जिनकी महती कृपा से यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका है। इस ग्रन्थ में जो तात्विक दार्शनिक विचार हैं वे सब ऋषियों और आचार्यों के हैं जो भी इस ग्रन्थ में स्खलन एवं दोष है। वह सब मेरा है।

०९-०३-२००४ ई०
देवलोक, आर्यनगर
ज्वालापुर (हरिद्वार)

विदुषां वंशवदः
जयदेव वेदालंकार

विषयानुक्रमणिका

प्रथम-अध्याय

विषय-प्रवेश

यह सर्वमान्य है कि भारतीय दर्शन की चिन्तन परम्परा वेदों से प्रारम्भ होकर आधुनिक युग तक सतत प्रवाहित हो रही है। सहस्र वर्षों के इस चिन्तन प्रवाह में अनेक प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तों तथा चिन्तन धाराओं का यदि ऐतिहासिक अवगाहन किया जाए तो, इसका विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है कि इस चिन्तनधारा का मूल स्रोत वैदिक साहित्य ही है। ये मूल चिन्तन के स्रोत दो विभागों में विभाजित हुए से प्रतीत होते हैं। जिनमें प्रथम विभाग ज्ञान काण्डात्मक के रूप में दर्शन साहित्य को कहा जा सकता है। दूसरे विभाग के रूप में कर्म-काण्डात्मक व्याख्या के रूप में स्वीकार किया जाता है।

दर्शन साहित्य की परम्परा में षड्दर्शन, नास्तिक दर्शन, उसके पश्चात् भाष्यकारों और टीकाकारों की दार्शनिक परम्परा प्राप्त होती है। मध्यकालीन आचार्यों का दर्शन मूल रूप में भाष्यकारों का ही दर्शन है। जैसे एक ही ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन) जिसे उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है, उसके तीन प्रसिद्ध आचार्य भाष्यकार हुए हैं। जिन्होने तीन प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदायों को जन्म दिया है। इन भाष्यकारों के सुप्रसिद्ध नाम-जिनमें आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज और मध्वाचार्य हैं। यद्यपि आचार्य गौड़ पाद ने माण्डूक्यकारिका के रूप में बौद्ध दार्शनिकों के सम्मुख अत्यधिक सूक्ष्म अद्वैत विचारधारा को प्रस्तुत किया, परन्तु आगे चलकर के गौड़ पाद और बौद्ध दर्शन के आचार्यों में परमतत्त्व के रूप में जड़ एवं चेतन का ही भेद रहा, लेकिन जागतिक व्याख्या में दोनों ही वैतथ्य के रूप में संक्रमित से अवभाषित हो रहे हैं।

आचार्यशंकर के दार्शनिक सम्प्रदाय को अद्वैतवेदान्त के रूप में मान्यता मिली, आचार्य रामानुज के दार्शनिक सम्प्रदाय को विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से कहा गया है। मध्वाचार्य के दर्शन को द्वैतवाद के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।

अद्वैत-वेदान्त :-

माण्डूक्यकारिका में मायावाद का निरूपण विस्तार रूप में किया गया है। उन्होंने माध्यमिककारिकाकार नागार्जुन के समान जगत् प्रपंच को केवल मिथ्या ही नहीं कहा है, अपितु वैतथ्य कहा है। वैतथ्य का अर्थ है कि जो वस्तु तथ्य रहित हो वह वैतथ्य के रूप में मानी जाती है। गौड़ पाद ने मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए कहा है कि वस्तुएं पूर्वकाल में नहीं थीं, भविष्यत् में भी नहीं रहेगी। इसलिए वर्तमान काल में दिखाई भी दें तो वे वैतथ्य ही हैं अर्थात् वे तथ्यहीन ही हैं।

आचार्यशंकर का जन्म उस समय हुआ जब भारतीय जन मानस वैदिक परम्पराओं से विमुख हो रहा था, बौद्ध दार्शनिकों का प्रचार एवं प्रसार इतना प्रबल था कि उनके सम्मुख वैदिक परम्पराएं छिन्न-भिन्न सी होती जा रही थी। उस समय शंकर ने अपने दादा गुरु गौड़पाद के दर्शन को व्यवस्थित करके स्थापित किया। शंकर ने तीन प्रकार की सत्ताओं को स्वीकार किया है। प्रथम प्रातिभाषिक सत्ता, द्वित्तीय व्यावहारिक सत्ता, और तृतीय पारमार्थिक सत्ता है। इनमें प्रातिभाषिक वस्तुओं का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा है कि ये वस्तुएं केवल प्रतीति मात्र है, अर्थात् जैसे-शुक्तिका में रजत एवं रज्जु में सर्प की सत्ता तब तक ही रहती है, जब तक वे दिखलाई देते हैं। जब रज्जु और रजत के समीप जाया जाता है तो न सर्प रहता है और न ही रजत की सत्ता रहती है। यह द्वित्तीय प्रकार की सत्ता व्यावहारिक सत्ता है। जो भूत और वर्तमान काल में अवस्थित है, परन्तु भविष्यत् काल में, अर्थात् अज्ञान नष्ट होने पर नहीं रहती है। जैसे कि जगत् और जीव की स्थिति मानी जा सकती है। वस्तुतःशंकर के अनुसार सृष्टि की संरचना विवर्तवाद के अनुसार स्वीकार की जाती है। सांख्य एवं योग के अनुसार परिणामवाद अर्थात् प्रकृति से परिणाम तथा विकार से सृष्टि की रचना मानी जाती है। अद्वैतवेदान्त में इस परिणामवाद का खण्डन किया जाता है। परिणामवाद को परमाणुओं से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अचेतन प्रकृति (प्रधान) बिना किसी चेतन सत्ता का आश्रय लिए हुए प्रवृत्त नहीं हो सकता। स्वर्णादि से जो कंगन आदि बनाने के लिए उपादान कारण है। इन आभूषणों का निर्माण करने के समय स्र्वणकार आदि चेतन आधार प्राप्त होते हैं। सुख-दुःख और मोह के रूप में युक्त होना आदि जो साधन के रूप में प्रस्तुत किया, उसकी व्याप्ति तो साध्य है,-चेतन सत्ता का बिना सहारा लिये हुए ही प्रकृति का सुख-दुःख और

मोहात्मक पदार्थों का कारण होना। इसके विपरीत है–चेतन सत्ता का सहारा लेकर सुख-दु:ख और मोहात्मक पदार्थों का कारण बनना।

उपर्युक्त साधन (हेतु) अर्थात्-सुख-दु:ख और मोहात्मक होना, इसी साध्य विपर्यय से व्याप्ता होता है। दूसरे शब्दों में सुखादि से युक्त वही होगा, जो चेतन का सहारा लेकर सुखादि से युक्त पदार्थों का कारण बन सकता है। यदि साधन-साध्याभाव से व्याप्त हो तो विरुद्ध हेतु नाम का हेत्वाभास होता है। अत: यहाँ पर उसी प्रकार का विरुद्ध हेतु है जिस तरह किसी वस्तु का नित्य सिद्ध करने के लिए हेतु दे, कि यह उत्पन्न होती है। उत्पन्न हाने से तो कोई वस्तु अनित्य साध्याभाव ही सिद्ध हो जाएगी नित्य नहीं। उसी तरह सांख्यों के द्वारा यह सिद्ध करने के लिए कि प्रकृति चेतन की सहायता नहीं लेते हुए भी सुखादि से युक्त पदार्थों को उत्पन्न करती है।

शंकर ने कहा है कि प्रधान एवं प्रकृति की सिद्धि के लिए श्रुति प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वस्तुत: जगत् संरचना की व्याख्या विवर्तवाद के अनुसार ही की जा सकती है। विवर्त का अभिप्राय यह है कि कार्य-कारण में जो कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह कारण में विकार अथवा परिणाम से नहीं होती है। अपितु जो कारण से कार्य उत्पन्न होता है वह तत्वरूप अर्थात् यथार्थरूप में न होकर अयथार्थरूप में प्रतीत होता है। इसलिए ही जगत् की व्याख्या में ब्रह्म को केवल निमित्त कारण स्वीकार नहीं किया जाता है ब्रह्म निमित्त एवं उपादान कारण दोनों ही अद्वैतवेदान्त के अनुसार माना जाता है। शंकर ब्रह्म के अन्दर कर्तृत्व आदि गुणों को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि ब्रह्म को सृष्टि रचना का निमित्त कारण माना जाए तो ब्रह्म में कर्तृत्वादि गुणों को स्वीकार करना होगा। उनके मत में ब्रह्म को निमित्त कारण मानने पर दूसरी आपत्ति यह आती है कि यदि ब्रह्म केवल निमित्त कारण है तो सृष्टि रचना के लिये उपादान कारण प्रकृति को ही स्वीकार करना पड़ेगा, जो उनको अमान्य है। आचार्यशंकर ब्रह्म में कोई भी कर्तृत्वादि गुण स्वीकार न करने पर भी ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण स्वीकार करते हैं। जैसे–रज्जु में सर्प की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है। हम यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि यह सर्प है, उससे भयभीत होते हैं।

इस प्रकार आचार्यशंकर और उसके अनुयायी शुक्ति में रजत ज्ञानादि का उदाहरण देते हैं। रज्जु सर्प का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी है। अत: रज्जु सर्प का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार

शुक्तिका और रजत के उदाहरणों में भी जान लेना चाहिए। उपर्युक्त दृष्टांतों के अनुसार ब्रह्म भी जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। ऐसा सिद्ध करने के लिए आचार्यशंकर अध्यास का आश्रय लेते हैं। उनका कथन है। कुछ लोग एक में दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास मानते हैं। जैसे-शुक्ति रूप अधिष्ठान में अज्ञान से कल्पित होने के कारण रजत अध्यस्त है, अथवा रज्जु रूप अधिष्ठान में अज्ञान सर्प का अध्यास है, अध्यास को दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है। स्वरूपाध्यास और संसर्ग अध्यास। जिस अधिष्ठान में जिस धातु का अध्यास होता है, जैसे कि–रज्जु के गुण सर्प में नहीं होते हैं।

शंकर ने ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र का भाष्य करते हुए स्पष्ट किया है कि ब्रह्म जिज्ञासा तभी फलदायक हो सकती है जब की उसका कोई प्रयोजन हो।शंकर के इस मत को स्पष्ट करते हुए सर्वदर्शन संग्रह में कहा है कि ब्रह्म प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता केवल आगम प्रमाण से ही सिद्ध हो सकता है। श्रुति वाक्यों में यह बताया गया है कि जो श्रुति वाक्य ब्रह्म को ज्ञान का विषय मानते हैं, उनमें यह स्पष्ट वर्णन मिलता है कि ये वाक्य दो प्रकार के हैं उनमें प्रथम प्रमाण के रूप में वे श्रुति वाक्य आयेंगे, जो यह स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म क्या नहीं है। दूसरे प्रकार के वे श्रुति प्रमाण है, जो यह सिद्ध करते हैं कि ब्रह्म का साक्षात्कार तभी सम्भव है जब अज्ञान नष्ट हो जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि अन्तःकरण बुद्धि के रूप में आकर, अपने अन्तर्गत चिदाभास को लेकर किसी विषय को व्याप्त करता है। बुद्धि की व्याप्ति से विषय अज्ञान का नाश अर्थात् आवरणभङ्ग होता है तथा चिदाभास की व्याप्ति से विषय घटादि का स्फुरण (प्रकाशन) होता है। बुद्धि अचेतन होने के कारण स्वयं घटादि का प्रकाशन नहीं कर सकती। घटादि ज्ञान की यही विधि है।

उपर्युक्त कहा गया है कि श्रुतियाँ ब्रह्म का ज्ञानगोचरता का विधान भी करती है, निषेध भी निषेध इसलिए करती है कि स्फुरण अर्थात् ज्ञान में ब्रह्म के आकार का समर्पण सम्भव नहीं है। अज्ञान का नाश होने पर आत्मा अपने आप स्फुरित होती है, यही कारण कि स्फुरण वाक्य से उत्पन्न ज्ञान का फल नहीं हो सकता। चिदाभास की व्याप्ति से आत्मा को स्फुरण नहीं होता इस लिए कहा–**''यतोवाचो निवर्तन्ते''** आदि वाक्य है। दूसरी ओर कुछ वाक्यों में ब्रह्म को ज्ञान गोचर माना गया है। वह इसलिए कि ज्ञान का पहला फल तो अज्ञान नाश है, वह तो सम्भव नहीं है? अज्ञान नाश बुद्धि की व्याप्ति से ही होता है

इसलिए उसकी सम्भावना में कोई आपत्ति नहीं। फलतः दोनों प्रकार की श्रुतियों का समन्वय होता है।

यद्यपि शंकर ने ब्रह्म को जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण माना है। इस विषय में उन्होंने कहा है-"अभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्म इति"। यह मानते हुए भी शंकर ने सृष्टि रचना में ईश्वर के सम्प्रत्यय को स्वीकार किया है। इसका कारण यह है कि सृष्टि कर्तृत्वादि गुण ब्रह्म में नहीं हैं। इसलिए ही उनको ईश्वर के सम्प्रत्यय को स्वीकार करना पड़ा है। ईश्वर को सम्प्रत्यय को स्पष्ट करते हुए इन्होने कहा है कि ईश्वर सृष्टि रचना का माया की सहायता से करता है। जिस समय सृष्टि रचना ईश्वर करता है तो मैं बहुत रूपों में हो जाऊँ", यह भावना ईश्वर सम्प्रत्यय में ही सम्भव हो सकती है, ब्रह्म में नहीं। इस लिए शंकर ने कहा है कि ईश्वर समस्त सीमित जगत् का आवास स्थान है, तथा जगत् का उपादान और निमित्त कारण भी है यह एक धारणा है। यह कहना बिल्कुल आसान है कि मूर्तरूप सर्वव्यापी प्रभु सामान्य धारणा तथा विवरण की यर्थाथता को संयुक्त बनाएं रखता है। किन्तु किस प्रकार से बनाए रखता है, यह एक रहस्य है। यदि समानता तथा भेद का एवं स्थायित्व तथा परिवर्तन का सम्बन्ध आनुभविक जगत् में बुद्धिगम्य नहीं है तो जब इसका प्रयोग ईश्वर के सम्बन्ध में होता है तो कैसे बुद्धिगम्य हो सकता है। शंकर जानते हैं कि उनके मत के ऊपर अमूर्त भावात्मकता का दोष आ सकता है, किन्तु उनका मत है कि समानता तथा भेद तार्किक से परस्पर सम्बद्ध नहीं हो सकते। ये दोनों किस प्रकार एक साथ रह सकते हैं, यह वे नहीं जानते और इसे वे भी अनुभव करते हैं। ईश्वर को एक मूर्तरूप पूर्ण इकाई मानने का विचार एक प्रकार से अनुभव का समाधान नहीं है, किन्तु समस्या की पुनरुक्तिमात्र है। हमारे अनुभव के अन्दर समानता और भेद अथवा स्थायित्व तथा परिवर्तन के दो स्वरूप है। हमारा प्रश्न है कि अनुभव का विवरण क्या है? क्योंकि यह जीवात्माओं तथा वस्तुओं का मिश्रण है जिसके विशिष्ट लक्षण है स्थायित्व तथा परिवर्तन और इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि ईश्वर अनुभव की व्याख्या है। चूँकि वह दोनों लक्षणों को संयुक्त करता है। जीवात्माओं तथा वस्तुओं का जगत् यान्त्रिक रूप में उससे सम्बद्ध है।

जगत् तथा ईश्वर के सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये अध्यास का आश्रय अद्वैतवेदान्त में लिया जाता है। यह अध्यास दो प्रकार का है-अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास। सीपी में मिथ्या रजत का अध्यास होना अर्थाध्यास है। वह वही भ्रम

है जिसमें मिथ्या का आधार कोई पदार्थ रहता है। एक अर्थ का दूसरे पर आरोप होना अर्थाध्यास कहलाता है। जब मिथ्याज्ञान का आत्मा पर आरोप होता है तब उसे ज्ञानाध्यास कहते हैं। इसलिए कहा गया है कि–प्रभाव, दोष, तथा संस्कार अर्थात् रजत के पूर्वानुभव से आत्मा में उत्पन्न संस्कार, इन तीनों से उत्पन्न होने वाली, एक वस्तु की जो दूसरे रूप में प्रतीति है, वह तथा उसका ज्ञान–ये दोनो अध्यास है।

आचार्यशंकर ने अध्यास का लक्षण करते हुए कहा है कि–"अध्यासो नाम अतस्मिस्तद्बुद्धिः" अर्थात्–जो यथार्थ रूप में नहीं है उसको उससे भिन्न स्वरूप में मानना अध्यास कहलाता है। जब प्रकाश द्विगुण दिखाई देता है। अथवा जब रस्सी सांप की भांति प्रकट होती है, हमें अध्यास का उदाहरण उपलब्ध होता है।शान्त वस्तुओं का समस्त ज्ञान एक अर्थ में विशुद्ध सत् का अभाव है, क्योंकि एकमात्र नित्य चेतनता के ऊपर पदार्थरूप विषयों का अध्यास किया जाता है। इस अध्यास का सबसे अधिक आकर्षण दृष्टान्त विषयी तथा विषय को एक साथ मिला देना है। जहाँ पर हम क्रियाशीलता, कर्तव्य तथा सुखोपभोग उसी आत्मा के गुण समझ लेते हैं। यथार्थ में विषयी ज्ञाता से भिन्न कुछ नहीं है, क्योंकि यथार्थसत्ता के विषयी में वह सब कुछ समाविष्ट है जो कुछ सम्भवतः हम उसके विषय में कह सकते हैं। विषयी ज्ञाता के विषय में जो कुछ हम कहते हैं, उस यथार्थ सत्ता से बहुत न्यून है, तथा उसका केवल आभासमात्र है। विषय और विषयी, जिनका क्षेत्र 'युष्मत्' (तुम) और अस्मत् (मैं) दोनों का प्रस्तुतिकरण है, एक-दूसरे के विपरीत है, जैसे-अन्धकार व प्रकाश। विषय जिसका क्षेत्र 'तुम' अथवा अनात्म है तथा उसके गुणों का विशुद्ध आध्यात्मिक विषयी में जिसका क्षेत्र आत्मा अथवा (मैं) है, संक्रमण करना तथा इसके विपरीत विषयी तथा इसके गुणों का विषय के प्रति संक्रमण करना तार्किक दृष्टि से असत्य है तो भी मनुष्य जाति के अन्दर उक्त व्यवहार, मिथ्याज्ञान के कारण सत्य तथा असत्य का परस्पर जोड़ा बनाने के सम्बन्ध में नैसर्गिक स्वाभाविक है। इसलिए वे एक के सत् तथा गुणों का दूसरे में संक्रमण कर देते हैं।

अविद्या की ओर ले जाने वाले अध्यास में उन सब क्रियात्मक भेदों की पूर्व कल्पना की जाती है, जो साधारण जीवन तथा वेदों में साधनों तथा ज्ञान में ज्ञान के विषयों तथा ज्ञाताओं और सब अध्यात्म शास्त्रों में किये जाते हैं, चाहे उनका सम्बन्ध कर्म से हो अथवा ज्ञान से।

आचार्य शंकर ने मायावाद को सिद्ध करते हुए कहा है कि पारमार्थिक सत् के रूप में ब्रह्म हैं। परन्तु सृष्टि रचना के लिए अनादि माया की सत्ता को भी स्वीकार किया है। अज्ञान एवं माया का लक्षण करते हुए कहा है कि माया न तो सत् है, न ही असत् है। वह तो सत् असत् से भिन्न अनिर्वचनीय है, त्रिगुणात्मक है, ज्ञान विरोधी और सत्तात्मक है।शंकर ने अपने माया को सिद्ध करने के लिए श्रुति के अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिनकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है कि मायावाद को सिद्ध करने के लिए शंकर ने उपनिषदों एवं वेदान्त दर्शन के आधार रूप में अंगीकार कर लिया है। छान्दोग्य के 'नृतेन हि प्रत्यूढा' में अनृतशब्द का अर्थ आचार्यशंकर ने अविद्यापरक ही किया है। वहीं पर आनन्द गिरि ने उक्तशब्द का अर्थ किया है, अनादि अनिर्वाच्य मिथ्याज्ञान वाचारम्भण श्रुति का अर्थ करते हुए आचार्यशंकर ने कहा है कि विकारजात सम्पूर्ण कार्य जगत् वस्तुतः कारण में अभिन्न है। जिस प्रकार रक्तोपाधान युक्त स्फटिक मणि में पद्म राग मणि का श्रम होता है। वस्तुतः वह पद्म राग मणि नहीं है। उसी प्रकार कार्य जगत् ब्रह्म से कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है। भिन्नता केवल प्रतीत होती है एकमेवाद्वितीयम् श्रुति की व्याख्या में आनन्दगिरि ने ब्रह्म में स्वजातीय विजातीय भेदों का निषेध किया है। जिसका अर्थ है कि भेद मिथ्या है।

छान्दोग्य में कहा गया है कि जहाँ पर अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्य को जानता है वह अल्प है। आचार्यशंकर ने वहीं पर अल्प को स्वप्नवत् मिथ्या कहा है। इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद् में 'ब्रह्मवेदं विश्वम्' इसके भाष्य में आचार्यशंकर ने नामरूप को अवभास कथन किया है।श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा–'मायां तु प्रकृति विद्यात्' में मायाशब्द को भाष्यकार ने कल्पित अर्थ में लिखा है। वृहदारण्यक में नेह नानास्ति किञ्चन के भाष्य में शंकर ने ब्रह्म नानात्व का निषेध किया है वस्तुतः अविद्यारोपण व्यतिरेक परमार्थ द्वैत है ही नहीं।

माया अपनी दो प्रकार की शक्तियों के द्वारा ब्रह्म से भिन्न जीव एवं जगत् को प्रतिभाषित करती है। ये दो प्रकार की शक्तियाँ हैं–विक्षेप तथा आवरणशक्ति। विक्षेपशक्ति का यह है कि जो वस्तु नहीं है उससे भिन्न वस्तु भासित होना। जैसे शुक्तिका में रजत तथा रज्जु में सर्प की प्रतीति, अद्वैतवेदान्त के प्रसिद्ध उदाहरण है। इसी प्रकार आवरणशक्ति का तात्पर्य है कि कुछ किलोमीटर लम्बा चौड़ा मेघ का टुकड़ा अपने से लाखों किलोमीटर बड़े सूर्य को ढक लेता है, इसी प्रकार माया अपनी आवरणशक्ति से ब्रह्म का आवृत्त कर लेती है।

शंकर के अनुसार जीवात्मा अनादि तो हैं परन्तु नित्य नहीं है। क्योंकि शंकर के अनुसार नित्य केवल ब्रह्म ही है। जीवात्मा के अस्तित्व को शंकर स्पष्ट करते हुए करते हैं कि–वेदान्त वाक्यों में आत्मा के सम्बन्ध में दो प्रकार का प्रयोग पाया जाता है। जीवात्मा के विषय में यह कहा जाता है कि उसके अन्दर स्मृतियाँ इच्छा अरुचियाँ साहचर्य सम्बन्ध आदि की व्यवस्थित व्यवस्था उपलब्ध है।

आचार्यशंकर का मानना है कि यद्यपि एक ही दृष्टि में हमारे लिए इस समस्त संगठित व्यवस्था का समझ लेना सम्भव नहीं हो सकता तो भी इसका सामान्य रचनाक्रम तथा प्रधान तत्त्व तो हमारे निरीक्षण के लिए खुला ही है। यह संगठित व्यवस्था विज्ञानात्मा है, जिसमें परिवर्तन सम्भव है, किन्तु परमात्मा सब प्रकार के परिवर्तन से युक्त है। सात्विक रूप में जीव को आत्मा के समान कहा गया है, वह तू है। इस प्रकार की आपत्ति में विरुद्ध गुण रखने वाली वस्तुएं एक नहीं हो सकती, कोई बल नहीं है, क्योंकि गुणों की प्रतिकूलता को असत्य सिद्ध किया जा सकता है।शंकर सावधान पूर्वक उस आत्मा में जो समस्त अनुभव में उपलक्षित होती है, तथा उस आत्मा में जो अन्तर्दृष्टि के द्वारा जाना गया एक निश्चित तथ्य है, एवं आध्यात्मिक विषयी मैं तथा मनोवैज्ञानिक विषयी मुझ में भेद करते हैं। अहम्प्रत्यय का विषय विशुद्ध आत्मा नहीं है। जो साक्षी है, वरन् वह है जो क्रियाशील कर्ता तथा फलोपभोग करने वाला जीवात्मा है। जिसमें विषयनिष्ठ गुणों का समावेश ऐसी आत्मा विषय है। जब मनोविज्ञान वेत्ता आत्मा के विषय में कथन करते हैं। तब वे इसे अन्तर्दृष्टि का विषय मानकर उक्तशब्द का व्यवहार करते हैं। जबकि आत्मा विशुद्ध रूप में ज्ञान का सम्पादन करती है।

हमारी आत्मचेतना एवं क्रियाशीलता चेतना है जो किसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करती है। क्रियाशीलता का भाव हम में से प्रत्येक के लिये हमारा निकटतम अनुभव है। यह लौकिक आत्मा सब क्रियाओं का कर्ता हैं यदि कर्तव्य ही आत्मा का तात्विक रूप होता तो उससे कभी मुक्ति न मिल सकती, ठीक जैसे कि–उष्णता आग से कभी अलग नहीं हो सकती और जब तक मनुष्य अपने को कर्तृत्व से मुक्त नहीं कर लेता, तब तक वह अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल ही रहता है, क्योंकि कर्तृत्व अनिवार्य रूप से दुःखद है। आत्मा का कर्तृत्व केवल ऐसे गुणों की उपाधियों के ही आश्रित है जो इसके साथ लगी हुई है, किन्तु इसके अपने स्वरूप के ऊपर आश्रित नहीं है।

जीवात्मा तात्विक रूप में एक कर्ता है। अन्यथा वैदिक विधिविधान आदि

सब निष्प्रयोजन हो जाएंगे। उपनिषदों में ऐसे अनेक वाक्य पाए जाते हैं। जिनमें आत्मा को कर्ता माना गया है।

शंकर के अनुसार जीवात्मा शरीर, इन्द्रिय और मनादि से भिन्न हैं। यह स्वप्न, जाग्रत, सुषुप्ति और मोक्ष अवस्था में रहता है। इनके अनुसार जीव का सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट होना ही मोक्षावस्था है।

सृष्टि रचना के विषय में शंकर ने स्पष्ट किया है कि सृष्टि रचना क्रम में प्रकृति जो अनात्म पदार्थ निष्ठता का तत्व है सबसे पूर्व आकाश उत्पन्न होता है जो देश और प्रकृति का पूर्ववर्ती है। ''सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से निकला है, जिसमें आकाश सबसे पूर्व आया और उसके अनन्तर अन्य तत्व एक-दूसरे के पश्चात् उचित क्रम से आए हैं। आकाश जो एक है, अनन्त है, लघु और सूक्ष्म है, क्रियारहित है तथा सर्वव्यापक है, सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है। इसका प्रयोग दोनों अर्थों में होता है अर्थात् देश और एक अत्यधिक सूक्ष्म प्रकृति के अर्थों में जिसने समस्त देश को व्याप्त किया हुआ है। आकाश चाहे कितना ही सूक्ष्म द्रव्य क्यों न हो तो भी यह है, उसी श्रेणी का जिस श्रेणी के द्रव्य, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी है। इस प्रकार शंकर बौद्धमत के विरुद्ध अपना मत प्रकट करते हैं कि आकाश एक अभावात्मक वस्तु है अर्थात् केवल मात्र बाधाओं के अभाव का नाम है।

शंकर का यह मत है कि अभावात्मक परिणाम उसके भावात्मक स्वरूप का अन्त है। आकाश से अन्य सूक्ष्म भूत ऊंचे चढ़ते हुए क्रम में उत्पन्न होते हैं। उपनिषदों के विवरण का अनुसरण करते हुए शंकर कहते हैं कि आकाश से वायु उत्पन्न होता है, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। चूँकि ये पाँच तत्व अपेक्षाकृत अपने परिवर्तित रूपों में अधिक स्थायी हैं, उन्हें आलंकारिक भाषा में अमर तथा अविनश्वर कहा गया है। आकाश का गुणशब्द है, वायु का गुण संघात तथा दबाव है, अग्नि का गुण उज्ज्वलता, उष्णता तथा ऊर्ध्वगति है, जल का गुण स्वाद अथवा रस है और पृथ्वी का गुण गन्धवती है।

गुणों का तत्वों के साथ वहीं सम्बन्ध है जो बीज का पौधे के साथ होता है। शब्द तन्मात्रा अथवा शब्द का सार, व आकाश को जन्म देता है, जो अपनी ओर से शब्द के बाह्य रूप को उत्पन्न करता है। तन्मात्रा अथवा सारतत्व के अन्दर तत्त्व तथा उसका गुण दोनों समाविष्ट रहते हैं। हम यह देख चुके हैं कि तत्त्वों के अन्दर श्रेणी वह परम्परा पायी जाती है और वह सब आकाश तन्मात्रा के अन्तर्हित प्रतीत होते हैं, यह समस्त जगत् आकाश अथवा शब्द से उत्पन्न होता है।

स्थूल प्रकृति से निर्मित जगत् अर्थात् महाभूत इन नानाविध सूक्ष्म भूतों के संयुक्त रूपों से मिलकर बना है। आकाश रूप स्थूल द्रव्यशब्दों को व्यक्त करता है, वायुशब्द स्पर्श तथा दबाव को व्यक्त करता है। अग्नि इन दोनों को तथा इनके अतिरिक्त प्रकाश तथा उष्णता को व्यक्त करती है, जल से स्वाद (रस) के गुण है तथा साथ ही अन्य गुण भी है इसी प्रकार पृथ्वी में अन्य द्रव्यों के भी गुण है और अपना विशेष गुण है गन्ध। प्रत्येक पदार्थ में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के गुण है। जहाँ एक ओर प्रकृति के सूक्ष्म मूल तत्त्व हैं वे आकार जो सजातीय तथा निरन्तर रहने वाले हैं तथा जिनकी रचनावृत्ति में कोई पारमाण्विकता नहीं है, वहाँ दूसरी ओर स्थूल द्रव्य मिश्रित है यद्यपि उन्हे भी निरन्तर स्थायी तथा पारमाण्विक रचना से विहित कहा जाता है। स्थूल तत्व परिवर्तनों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं। प्रकृति निरन्तर अवस्था के परिवर्तन में से होकर गुजर रही है। परिवर्तन बाहर से भी आ सकते हैं। शंकर ने एक विश्वात्मक स्पन्दनरूप गति का वर्णन किया है यह सब तत्त्व अचेतन है और स्वयं अपना विकास नहीं कर सकते। इन सबके अन्दर ईश्वर की अन्तर्यामिता कल्पित है। यदि भिन्न-भिन्न तत्त्वों की क्रियाओं का कारण भिन्न-भिन्न वैदिक देवता कहे जाते हैं तो उससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि देवता भी ईश्वर ही के व्यापारों के प्रतीक रूप हैं।

आचार्य शंकर के इस अद्वैतवाद की परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती चली गई।शंकर के पश्चात् अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होने अद्वैतवेदान्त दर्शन को अपने नये-नये तर्कों से मण्डित किया था, अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रणयन किया था। उन आचार्यों में मण्डनमिश्र, आचार्य सुरेश्वर, पद्मपाद, वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, आनन्दबोध यति श्री हर्ष, आचार्य चित्सुख, विमुक्तात्मा और आचार्य रामाद्वय अनेक विद्वान् आचार्य हुए हैं। जिन्होने अपने प्रौढ़ तर्कों से अद्वैतवेदान्त दर्शन को वर्धित एवं पल्लवित किया है।

विशिष्टाद्वैत :–

अद्वैतवेदान्त दर्शन के पश्चात् दक्षिण भारत के ही कई आचार्य उत्पन्न हुए थे, जिनमें आचार्य रामानुज का नाम सर्वविदित है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामानुज का जन्म अद्वैतवेदान्त के प्रत्याख्यान के लिये हुआ हो। रामानुज ने अज्ञान को भावरूप में माना है। इसका खण्डन विशिष्टाद्वैतवाद में किया गया है। जो तर्क इसमें प्रस्तुत किये जाते हैं उनका खण्डन रामानुज ने यह कह कर किया है कि

मायावादियों के द्वारा अज्ञान को भावरूप मानने के लिए तर्क देना ठीक वैसा ही असम्भव है, जैसे कोई पशु आकाश का पागुर, जुगाली, चर्वितचर्वण करे, भाव के रूप में अज्ञान को मानना ज्ञानाभाव के रूप में मानने के ही बराबर हैं इसमें दो विकल्प हो सकते हैं, अज्ञान के विषय आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तथा आश्रय अर्थात् आत्मा के रूप में अज्ञान की व्यावर्तक बनकर , उस ज्ञान स्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है कि नहीं? (मैं अज्ञ हूँ इस अज्ञान की प्रतीति के समय उस ज्ञान स्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है कि नहीं? यदि प्रतीति होती है तो स्वरूप के ज्ञान से निवृत्त होने वाला (ज्ञान का विरोधी) वह अज्ञान है-इसलिए स्वरूप के ज्ञान के बाद अज्ञान ठहरेगा ही नहीं। अहमज्ञः में अज्ञान की प्रतीति के समय ज्ञान यदि रहे तो अज्ञान की प्रतीति कैसे हो सकेगी, अज्ञान कहाँ से रहेगा? दूसरी ओर यदि आत्मा की प्रतीति नहीं होती, तो व्यावर्तक (अज्ञान का व्यावर्तक है आत्मा, प्रतीति बोध) आश्रय तथा विषय से शून्य होने से अज्ञान का अनुभव ही कैसे होगा?

रामानुज ने अज्ञान का खण्डन अपने श्री भाष्य में विस्तारपूर्वक किया है। अज्ञान का खण्डन करते हुए आश्रयानुपपत्ति, ब्रह्मावरणानुपपत्ति, स्वरूपानुपपत्ति, अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति निवर्तकानुपपत्ति और निर्वृत्त्यानुपपत्ति इन हेतुओं से अज्ञान का तार्किक रूप में प्रत्याख्यान किया है।

ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण करते हुए अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म के स्वरूप का प्रत्याख्यान, प्रौढ़ तर्कों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। वह सभी परिणामों से रहित, पूर्ण और सर्वोत्कृष्ट सत्ता है। यह परिवर्तनशील संसार उसी अपरिवर्तनशील आश्रयरूप ईश्वर में स्थित होकर रहता है। इसीलिए उस संसार को सत् कहा जाता है। उसमें और उसके आश्रयभूत जीव में किसी भी प्रकार के धर्मभूत ज्ञानानुप्राणित कर्मों का संक्रमण नहीं होता। इसलिए वह सत्यों का सत्य भी कहा गया है।

आचार्य रामानुज के अनुसार ज्ञानमात्र ही उसका स्वरूप नहीं है। उसमें अन्य अनेक गुणों का आश्रय है। आनन्द इसका सारभूत गुण है। उसमें लेश मात्र भी दुःख का अंश नहीं है। तैत्तिरीय उसे रस बताता है। वह सर्वज्ञ है। उसका धर्मभूतज्ञान अविच्छिन्न है, क्योंकि वह चेतन है। और चेतन स्वयं प्रकाश होता है। वह ज्ञान का आश्रय है, ज्ञानमात्र नहीं। रामानुजीय दर्शन में धर्मभूत ज्ञान चित्तत्व का अपृथक् सिद्ध विशेषण होता है। उसके ज्ञान के परमशुद्ध होने के कारण वह नित्य और विभु है। उसके ज्ञान में कर्मों के साहचर्य से होने वाली संकोच विकासा--वस्थाएँ नहीं हैं। श्रुतियाँ भी उसे सत्य, ज्ञान और अनन्त बताती है।

वह देशगत, कालगत और वस्तुगत तीनों परिच्छेदों से रहित होने के कारण अनन्त है। सत्यत्व, ज्ञानत्व और आनन्दत्व परमात्मा के स्वरूप निर्देशक गुण है। ज्ञान शक्त्यादि से भी उसके स्वरूप धर्म निरूपित किये जाते हैं। सर्वज्ञत्व, सर्वशक्ति आदि कार्योपयोगी धर्म है। वात्सल्य, सौशील्य, सौम्यत्वादि उसके गुण उसे जीवात्मा के परमाश्रयत्व के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं, करुणादि धर्म उसके रक्षक रूप को अभिव्यञ्जित करते हैं।

रामानुज जीवात्मा और जगत् को परमात्मा के विशेषण मानते हैं। परमात्मा उन दोनों का विशेष्य है। जिस प्रकार विशेषण और विशेष्य कदापि एक नहीं हो सकते उसी प्रकार जीवात्मा और जगत् परमात्मा के सदृश नहीं है। जिस प्रकार विशेष्य के अभाव में विशेषण की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार परमात्मा के अभाव में जीवात्मा और जगत् की सत्ता भी संभव नहीं है। रामानुज के इस विचार से तीन रूपों वाला बताते हैं-भेदात्मक, अभेदात्मक और उभयात्मक। भेदात्मक इस दृष्टि से कि सबका शरीर बनकर सब प्रकार से केवल ब्रह्म ही अवस्थित है अभेदात्मक उभयात्मक या भेदात्मक इस प्रकार से कि ब्रह्म एक ही है। नाना प्रकार के चित् और अचित् पदार्थों के भेद के कारण नाना रूप में अवस्थित है और चित् तथा अचित् ईश्वर में स्वरूप और स्वभाव को लेकर विलक्षणता है, अर्थात् भेद है, इसलिए भेदात्मक की सिद्धि होती है। चित् का धर्म है ज्ञानस्वरूप होना इसलिए वह अचित् के सदृश नहीं भिन्न है। चिद् रूप परमात्मा और जीवात्मा परस्पर भिन्न है। परमात्मा विभु सर्वव्यापक और सर्वज्ञत्वादि गुणों से संवलित है, किन्तु जीवात्मा, अणु, परिच्छिन्न और अल्पज्ञत्वादि गुणान्वित है। इसलिए वे भी परस्पर भिन्न हैं।

आचार्य रामानुज अद्वैतवादी दर्शन की भाँति परमात्मा के सजातीय विजातीय और स्वगतरूपेण तीन भेद स्वीकार नहीं करते। वे मात्र स्वगत भेद मानते हैं।

विशिष्टाद्वैत में ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज रूप षड्गुणों से परिपूर्ण परमात्मा षड्गुणविग्रह कहलाता है। यह परमात्मा आत्म-समर्पण के द्वारा तैल धारावद्-अविच्छिन्न-स्नेहित-स्मरण परम्परा रूपभक्ति से लभ्य है। वह आर्त और विभ्रान्त जीवात्माओं पर स्वयं अपनी कृपा पुष्पों की वृष्टि कर उनके ताप को दूर करने में भी समुत्सुक रहता है।

जीव जगत् स्वयं परमात्मा का प्रकार-प्रकारी या शरीर-शरीरी भाव से अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। अतः वे भी परमात्मा से भिन्न माने जाते हैं। इस प्रकार

जगत् परमात्मा का शरीर है। जगत् की हेतुभूत प्रकृति अपनी कारणावस्था में अभिव्यक्त रूपेण परमात्मा के साथ ही रहती है। अत: उसमें होने वाला विकार का परिणाम वस्तुत: परमात्मा के शरीर रूप का परिणाम है। इस रूप में परमात्मा जगत् का उपादान कारण है क्योंकि सृष्टि-उपादान परमार्थक उसका स्वगत शरीर ही है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह परिणाम परमात्मा का प्रकार या विशेषण या शरीरभूता प्रकृति में ही होता है। विशेष्यभूत परमात्मा अपने परमार्थ स्वरूप से निर्विकार है। अत: उससे किसी भी परिणाम की अपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार से मकड़ी अपने में बिना किसी विकार का आश्रय बने अपने शरीरभूत विशेषण के द्वारा कार्यरूप में परिणत होना आरम्भ हो जाती है। इस अवस्था में परमात्मा का उक्त संकल्प सृष्टि का निमित्त कारण बनता है। स्वयं गीता में श्री कृष्ण कहते हैं कि यह समस्त चराचर जगत्-प्रकृति मेरे सत्य-संकल्प के द्वारा लक्षणाधीन होकर रचा जाता है। परमात्मा के ज्ञान इत्यादि गुण सहकारी बनते हैं। परमात्मा को सृष्टि रूप कार्य सम्पन्न करने के लिये सोमवत् किन्ही विशेष (चक्रदण्डादि) की अपेक्षा नहीं होती है। परमात्मा सत्यसंकल्प है, वह सारे जगत् की संकल्प-मात्र से ही रचना कर देता है।

रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जीव का स्वरूपशरीर है, वह इन्द्रियों से मन से, बुद्धि से व्यतिरिक्त, अजड़, आनन्दरूप, नित्य, अणुरूप, श्रव्य, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार ज्ञानाश्रय, ईश्वर के द्वारा नियामित धार्य एवं शेष है।

देह को आत्मा नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह मेरा शरीर और यह मैं (आत्मा) हूँ—यह दोनों प्रतीति एक दूसरे से भिन्न है। विशिष्टाद्वैतियों का कथन है कि 'यह मेरा शरीर है', यह मेरा हाथ है, यह मेरा सिर है, ऐसी चैतन्यगुणक साध्य प्रतीतियाँ उन्हें उस चैतन्य-गुण तत्त्व से व्यतिरिक्त सिद्ध करती है, क्योंकि विभिन्न शरीरों में विद्यमान चेतनों में जिस प्रकार कभी-कभी अभिप्राय भेद एवं विवाद उपस्थित होता है, उसी प्रकार शरीर में विद्यमान अवयवों के चेतन होने पर भी कभी-कभी इसमें अभिप्राय भेद तथा विवाद इत्यादि उपस्थित होना चाहिए। किन्तु वैसा नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा को शरीर से व्यतिरिक्त सिद्ध करने में एक प्रमाण व्रिशिष्टाद्वैती यह भी देते हैं कि सुख दु:ख शरीर को व्याप्त नहीं करते। सुख-दु:ख की अनुभूति आत्मा को अविच्छिन्न मन के द्वारा ही होती है। शरीर के द्वारा नहीं। इसलिए इसके अनुसार शरीर आत्मा नहीं है।

बाह्येन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं मानी जा सकती। विशिष्टाद्वैत के अनुसार उनमें

संख्यात्मक आधिक्य है, जबकि आत्मा एक है। यदि आत्मा का भी संख्यात्मक आधिक्य स्वीकार किया जाए तो पुनःशरीर सन्दर्भवत् वहाँ भी सभी इन्द्रियों में विवाद होना चाहिये जो कि नहीं है। तदतिरिक्त इन्द्रियों के अपने-अपने विषय–विशेष निश्चित है। चक्षु देख ही सकते हैं। सुन नहीं सकते हैं। नासिका सूँघ सकती है, देख नहीं सकती। जब कि आत्मा पाँचों इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों को अन्तर्सात् करने में सक्षम हैं। इसके अतिरिक्त सुषुप्ति अथवा कैवल्य की अवस्था में जब इन्द्रियाँ अपने-२ विषयों से विरत हो जाती है तो स्वप्न में आत्मा के द्वारा व्याघ्रादि का दर्शन भी उसकी बाह्येन्द्रियों से व्यतिरिक्तता को सिद्ध करता है।

विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार आत्मा जड़ नहीं है। वह ज्ञान के बिना भी स्वयं प्रकाशित होने की सामर्थ्य रखता है। आत्मा स्वयं प्रकाश है, अपने ज्ञान के लिए वह किसी अन्यतर साधन की अपेक्षा नहीं रखता। जिस प्रकार दीपक किसी अन्य दीपक की सहायता के बिना स्वयं ज्ञेय है, उसी प्रकार से आत्मा भी चैतन्यगुण होने के कारण स्वयं प्रकाशवान् है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार आत्मा का स्वरूप आनन्दमय है। क्योंकि प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि सुषुप्तावस्था के अनन्तर ''मैं सुख पूर्वक सोया'' जैसी अनुभूतियाँ इस बात को पुष्ट करती है कि आत्मा आनन्द रूप है क्योंकि सुषुप्तावस्था में कोई भी बाहेन्द्रिय अपने विषय में व्याप्त नहीं होती। अतएव विशिष्टाद्वैत के अनुसार निर्विषय आनन्दोपभोग उसकी प्रकृति ही है।

प्रकृति के विषय में रामानुजीय दर्शन में अचित् तत्त्व के तीन भेद माने गये हैं। जगत् के भूत प्रपंच का हेतु हैं। उसमें तीनों गुण मिश्रित रहते हैं। यह बद्ध पुरुषों के ज्ञान तथा आनन्द का आवरण स्वरूप है। इसी के कारण विपरीत ज्ञान भी उत्पन्न होता है। यह नित्य और ईश्वर की जगत् सृष्टि संग क्रीड़ा में परिकर अथवा सहायक है। प्रदेश भेद एवं कालभेद से यह सदृश विसदृश्य पदार्थों का उत्पादक होता है। यही विकारों का उत्पादक होने का कारण कहलाता है। ज्ञान का विरोधी होने के कारण तथा विचित्र सृष्टि करने के कारण माया कहलाती है। उसकी व्यक्त एवं अव्यक्तावस्था के मध्य की स्थिति ''प्राणदा'' कही जाती है। पांचशब्दादि, पञ्चविषय, पञ्च इन्द्रियाँ, पँचभूत, पञ्चप्राण, प्रकृति, महत् अहंकार तथा मन इसी के बुद्धि प्राप्त परिणाम है। गुणों में वैषम्य होने पर इसमें विकार उत्पन्न होता है और तब यह नाना रूपों को धारण कर अपना प्रपंच फैलाती है।

रामानुज द्वारा जगन्मिथ्यावाद के खण्डन से यह निश्चित हुआ कि प्रकृति किं वा जगत् मिथ्या नहीं है। अपितु अपनी यथार्थ सत्ता रखते हैं। रामानुज दर्शन में प्रकृति की सत्यता का आधार उसका अनादि, अनन्त, एवं नित्य ब्रह्म का अंश होना है। जिस प्रकार ब्रह्म की सत्ता को असत्य नहीं माना जा सकता उसी प्रकार तदेश या तत्प्रकार भूत प्रकृति को भी असत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि सत्योद्भूत अंश सत्य ही होगा, मिथ्या कदापि नहीं। वह ब्रह्म समग्र विश्व को व्याप्त करके स्थित है। तो तत्सम्बन्धी यह जगत् अपने में मिथ्या किस प्रकार हो सकता है? तैत्तिरीयोपनिषद् कहता है कि वह ब्रह्म इस जगत् का सृजन करके पीछे से स्वयं भी उसमें व्यापक हो गया है। ईशावास्योपनिषद् में कहा है कि यह अखिल विश्व उस ईश से व्याप्त है। श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है कि जिस प्रकार काष्ठों को अग्नि व्याप्त करके स्थित होता है, उसी प्रकार परमात्मा इस जगत् में व्याप्त है। रामायण में ब्रह्म राम से कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् तुम्हारा शरीर है, गीता में स्वयं विष्णु के अवतार कृष्ण अपने मुख से कहते हैं कि "मैं पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से समस्तभूतों को धारण करता हूँ। परमात्मसत्ता का प्रकारभूत या विशेणभूत अंश यह जगत् है। अत: वह कदापि मिथ्या नहीं हो सकता है।

रामानुज ने कहा है कि सृष्टि रचना के समय तमस् से महत् प्रकट होता है, महत् से अहंकार तथा भूतादि प्रकट होते हैं। सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। तमस् से पांच तन्मात्राएं अथवा पांच तत्व और राजस अहंकार इन तीनों प्रक्रियाओं में सहायक होता है। अहंकार से शब्द का सूक्ष्म तत्त्व प्रकट होता है और उसके पश्चात् आकाश। आकाश से प्रकट होता है सूक्ष्म तत्व स्पर्श (त्वचा) का और उसके आगे वायु आदि दूसरे तत्वों के लिए भी यही प्रक्रिया है।शब्द, स्पर्श आदि गुणों से हम तदनुकूल द्रव्यों का अनुमान लगा लेते हैं। शब्द सब तत्वों में है। स्पर्श का अनुभव तीन प्रकार का है, उष्ण, शीतल और (समशीतोष्ण) नाशीतल न उष्ण। रंग पांच है; जो गरमी पाकर परिवर्तित भी हो सकते हैं।

विशिष्टाद्वैतवादी आकाश के अतिरिक्त अन्य किसी यथार्थ देश को नहीं निश्चित कर लेते हैं, जैसे कि पूर्व, जहाँ कि सूर्य उदय होता है मानते और तर्क करते हैं कि हम इसके अन्दर के कुछ बिन्दु और पश्चिम में अस्त होता है, और इन्ही दृष्टिकोणों द्वारा सामीप्य अथवा दूरी को मापते हैं। मुख्य प्राण को इन्द्रियों के साथ न मिला देना चाहिये, यह वायु की एक अवस्था विशेष है। सांख्य के

विपरीत विशिष्टाद्वैत का मत है कि प्रकृति का विकास तथा उसका नियन्त्रण ईश्वर के द्वारा होता है।

समस्त अचेतन सत्ताएं जो ईश्वर की इच्छा के अधीन काम करती हैं, वे सब अपने आप में न अच्छी है न बुरी है, किन्तु जीवात्माओं को उनके कर्म के अनुसार सुख अथवा दु:ख पहुँचाती है। उनके व्यवहार का निर्णय करना ईश्वर का काम है, क्योंकि ''यदि वस्तुओं के परिणाम केवल उनके अपने स्वभाव के ऊपर निर्भर करते तो प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समय में सब मनुष्यों के लिये सुख अथवा दु:ख ही देने वाली होगी। किन्तु देखा जाता है कि यह बात नहीं है, सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के लिए जो केवल अपने ही अधीन है, वही सम्बन्ध लीलामय खेल का स्रोत है और यही उन वस्तुओं को प्रेरणा भी देता है और विविध प्रकार से उनका नियन्त्रण भी करता है। ऐसे व्यक्ति के लिए जिसने अपने को अविद्या तथा कर्म के सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त कर लिया है, यह संसार वस्तुत: आनन्दमय प्रतीत होगा, जहाँ आत्माएं तथा प्रकृति दोनों ईश्वर के शरीर अथवा गुणों को बनाती है। उनका सीधा सम्बन्ध जीवात्माओं के साथ है और प्रकृति के साथ केवल परोक्ष रूप में है, क्योंकि प्रकृति का नियन्त्रण आत्माओं के द्वारा होता है। प्रकृति अत्यधिक पूर्णता के साथ जीवात्माओं की अपेक्षा ब्रह्म के ऊपर निर्भर है, क्योंकि आत्माओं को चुनाव करने की स्वतन्त्रता है। जीवात्माएं दैवीय जीवन में भाग ले सकती है और इस प्रकार परिवर्तन तथा मृत्यु से ऊपर उठ सकती है।

रामानुज के अनुसार जब कोई भी कार्य उत्पन्न होता है तो उसका एक उपादान कारण भी होता है। सृष्टि रचना में उपादान कारण एवं निमित्त कारण ब्रह्म है। वस्तुत: रामानुज के दर्शन में जीवात्मा एवं प्रकृति ईश्वर के प्रकार हैं, फिर भी ये अनन्त काल से स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में विद्यमान है। इसलिए पूर्णरूप से ब्रह्म में विलीन नहीं हो सकते है, वस्तुत: जीवात्मा और प्रकृति की गौण सत्ता है जो उन्हे अपने ही विधान के अनुसार विकसित होने के लिए ईश्वराधीन के रूप में अंगीकार करनी पड़ती है। वे दो भिन्न-२ अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं जो समय के व्यवधान क्रम के अनुसार आती हैं-पहली एक सूक्ष्म अवस्था है जिसमें उनके अन्दर वे गुण विद्यमान नहीं होते, जिन के द्वारा साधारणत: वे जानी जाती है, और इस अवस्था में नाम व रूप का कोई भेद नहीं लक्षित होता। इस अवस्था में प्रकृति अव्यक्त है और प्रज्ञा संकुचित अवस्था में रहती है। यह प्रलय की अवस्था है। जबकि कहा जाता है कि ब्रह्म कारणावस्था में वर्तमान होता है। उसके पश्चात् जब प्रभु की इच्छा से सृष्टि की रचना प्रारम्भ होती है, तब प्रकृति

सूक्ष्म अवस्था से स्थूल अवस्था में परिणत हो जाती है, और आत्माएं उन भौतिक-शरीरों में प्रविष्ट हो जाती हैं! जो उन्हे उससे पूर्व के जन्मों में किये गए पुण्य या पापकर्मों के अनुसार प्राप्त होते हैं, और उनकी बुद्धि का विकास एक निश्चित प्रकार से होता है। इस प्रकार आत्माओं तथा प्रकृति के सम्पर्क से मुक्त-ब्रह्म व्यक्त होकर कार्यावस्था में आ जाता है, ऐसा कहा गया है। सृष्टि तथा प्रलय केवल सापेक्ष है। उसी एक ब्रह्म रूपी कारणात्मक तत्त्व का द्योतन करते हैं।

आत्माओं तथा प्रकृति का दो प्रकार का अस्तित्व है--एक कारणात्मक और दूसरा कार्यात्मक। अपने कारणात्मक अस्तित्व में आत्माएं अभौतिक होती हैं और प्रकृति साम्यावस्था में रहती है किन्तु जब सृष्टि रचना का समय आता है तो आत्माएं अपने कर्म के प्रभाव से तीनों गुणों (सत्व, रजस्, और तमस्) की साम्यावस्था में हलचल उत्पन्न करती है और प्रकृति उनके कर्मफल को दैवीयशक्ति के अन्तर्गत क्रियात्मक रूप प्रदान करती है। आत्माएं अपने कर्मों के फल का उपभोग कर सकें, इसलिए सृष्टि रचना होती है। ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है, जिससे कि आत्माओं को अपने कर्मों के अनुकूल फल मिल सके। इन अर्थों में ईश्वर का रचनात्मक कर्मस्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष नहीं है।

द्वैतवाद :-

आचार्य मध्व ने बह्मसूत्र के भाष्य से द्वैतवाद की स्थापना की है। अद्वैतवाद दर्शन का प्रौढ़ तर्कों से प्रत्याख्यान किया है। मध्व ने दो प्रकार के पदार्थ को स्वीकार किया है--स्वतन्त्र तथा परतन्त्र। ईश्वर सर्वोपरि है वही एक मात्र स्वतन्त्र पदार्थ है। परतन्त्र पदार्थ दो प्रकार के हैं--भाववाचक और अभाववाचक। भाववाचक के भी दो वर्ग है।--एक चेतन अर्थात्--आत्माएँ। दूसरा प्रकृति तथा काल। अचेतन पदार्थ तो हैं जैसे--वेद। प्रकृति निर्मित समस्त पदार्थ अनित्य है।

मध्वाचार्य के दर्शन में 'ब्रह्म' शब्द विष्णु के लिए प्रयुक्त होता है। जो समुद्र के मध्य में है जिस परम अक्षर में सारी प्रज्ञा व्याप्त है, जिससे सारा जगत उत्पन्न हुआ है, उसने ही जल के मध्य से जीवों की पृथ्वी पर सृष्टि की है, उसे ही विद्वान् ब्रह्मवेत्ता परमब्रह्म कहते हैं। तन्नो विष्णुः इस पद से निश्चित होता है कि ब्रह्म के प्रसंग या विषय में विष्णु का ही उल्लेख है। अन्य किसी शब्द से ब्रह्म का उल्लेख नहीं मिलता। इस नामरूपात्मकता दृश्यमान् जगत् में जो कुछ भी है वह किसी अन्य से उत्पन्न नहीं है, सारे नाम जिसमें प्रविष्ट होते हैं, उस परम ब्रह्म को 'विष्णु' कहते हैं। भाल्लवेय श्रुति में कहा है- ''यो देवा नाम

नामधा एक एव'' आदि श्रुति में किए गए ''एवं'' शब्द के प्रयोग से विष्णु की ही सर्वनामता सिद्ध होती है। अज की नाभि के अन्तराल में समस्त भुवनों सहित विश्व स्थित है ये वर्णन भी विष्णु का ही है।

आचार्य मध्व के अनुसार जीवात्मा को विष्णु अवतरित करता है, उसका अभिप्राय है कि जीवात्माएँ तब तक रहते हैं जब तक स्थित ब्रह्म या विष्णु अवस्थित रहता है। इसलिए जीव नित्य है। जीवात्मा के नित्य होने के विषय में श्रुति कहती है कि ये सारे चैतन्य आत्मा जो कि कभी नष्ट नहीं होते परम ज्योति में प्रविष्ट हो जाते हैं कभी नष्ट नहीं होते अर्थात् नित्य है, और फिर जैसे-तैसे उत्पन्न हो जाते हैं। नित्य होते हुए भी जीव की औपचारिक उत्पत्ति होती है। कहा गया है कि उस नित्य परमात्मा से ये नित्य चैतन्य जीव और अनित्य जड़-अचेतन प्रकृति उत्पन्न होते हैं, उन सब की औपाधिक उत्पत्ति ही कही गई है।

जिन उपाधियों के द्वारा ये प्रतिबिम्ब सम्भव होते हैं, वे उपाधियाँ दो हैं। जैसे कि कहा गया है-जीवों की उपाधियाँ दो प्रकार की होती है-बाह्य उपाधि तथा स्वरूपोपाधि। बाह्य उपाधि का नाश हो जाता है, किन्तु स्वरूपउपाधि का नाश नहीं होता । इस प्रकार जीवों का ब्रह्म विष्णु के साथ एक्य भी है और भिन्नता भी है, तथा स्वरूप में ईश्वर के समान हैं।

कुछ श्रुतियों में कहा गया है कि ये सारे आत्मा चेतन, निर्गुण, सर्वगुण, अनन्त, सर्वात्मा और व्याप्त है, और कुछ श्रुतियों का कथन है कि यह आत्मा अणु है इस समुज्ज्वल आत्मा से ये सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस विरुद्धता का मध्वाचार्य समाधान करते हैं कि-'सोऽस्याच्छरीरादुत्क्रम्या' इस पोष्यायण श्रुति में जो हेतु प्रस्तुत किए गए हैं। उनसे तो जीवात्मा का अणुत्व ही निश्चित होता है-वह इस शरीर से निकल कर अमुक लोक में जाता है, उस लोक से पुनः इसी लोक में आकर गर्भ में प्रवेश करता है, जन्म लेता है, कर्म करता है, तथा जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही पुण्य और पाप को भोगता है। इससे जीवात्मा के स्वातन्त्र्य की पुष्टि होती है।

आत्मा व्याप्त, चेतन और निर्गुण है, अन्तः जीव नहीं है, ऐसा कहना भ्रान्ति है। वह आत्मा इस जगत् की उत्पत्ति करता है वह दो होकर इस जगत् का पोषण करता है, वह अनेक रूप धारण करके इस जगत् का पोषण करता है, वह अनेक रूप धारण करके इस जगत् में प्रविष्ट होकर अभिनय करता है, वह आत्मा का

भी आत्मा है, वह विष्णु परात्पर ब्रह्म है। इत्यादि से निश्चित होता है कि व्याप्ति की बात भी परमात्मा के लिए ही कही गई है। एक, दो या बहुशब्द से उस एक केशव का ही वर्णन किया जाता है, इतने पर भी उसमें भिन्नता नहीं होती है।

यह आत्मा अपनी भानशक्ति से विश्व में स्थित है, इसलिए वेदों में इसे मापदण्ड कहा गया है। व्याप्त आत्मा को स्पष्टत: आत्मा कहकर जगत् का मापदण्ड बतलाया गया है, जिससे परमात्मा का बोध होता है। जीव जगत् का मापदण्ड नहीं हो सकता इस प्रसंग में आत्माशब्द जीववाची नहीं है। परब्रह्म परमानन्द परमात्मा को ही मेय आत्मा-मापदण्ड कहा गया है, अत: वह विष्णु ही एकमात्र गति है। उनके अतिरिक्त इन जीवों की कहीं गति नहीं है आदि से भी आत्माशब्द जीववाची नहीं है इस कथन की पुष्टि मिलती है।

जीवात्मा अणु होते हुए भी समस्त शरीर में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार मलयागिरि चन्दन की एक बूँद शरीर के किसी एक स्थान पर लगाते ही सारे शरीर को शीतल और सुगन्धित कर देती है। चन्दन तो किसी स्थान विशेष पर लगाने से सम्पूर्ण शरीर को आप्लावित करता है किन्तु जीव का तो ऐसा कुछ नहीं है ऐसा नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि "हृदि हृयेव आत्मा" इस श्रुति में जीवात्मा के भी स्थान विशेष का उल्लेख किया गया है।

जीवात्मा के परिमाण के विषय में आचार्य मध्व ने यह माना है कि जीव का अणु परिमाण तथा परिच्छिन्न है क्योंकि उत्क्रान्ति, गति और आगति का श्रवण है। यथा-वह जब मरण समय इस शरीर से उत्क्रमण करता है, तब इन सबके साथ उत्क्रमण करता है। यह श्रुति जीव के उत्क्रान्ति का प्रतिपादन करती है, अत: यह श्रुति उत्क्रान्ति प्रतिपादक है। जो कोई इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोक को जाते हैं। इस श्रुति में 'आत्मा' की गति का प्रतिपादन है, अत: यह श्रुति गति प्रतिपादक है। इसी प्रकार जीव के अवगति के विषय में भी प्रमाण है-उस लोक से पुन: इस कर्म लोक में आता है तथा उस मार्ग में सकाम कर्म करने वाला योगी, चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर वापस आता है।

श्रुति और स्मृति ये दोनों जीव की आगति का प्रतिपादन करती है। अत: ये दोनों, आगति, प्रतिपादक है। इन उत्क्रान्ति, गति एवं आगति विषयक स्मृति एवं श्रुतियों से जीव परिच्छिन्न है, ऐसा सिद्ध होता है, क्योंकि विभु की गति नहीं हो सकती।

कदाचित् उत्क्रान्ति तो अचल आत्मा की भी देह के स्वामित्व निवृत्ति से

कर्मक्षय होने से हो सकती है, जिस प्रकार ग्राम के स्वामित्व की निवृत्ति के समान। परन्तु आगे की गति और आगति तो अचल आत्मा की नहीं हो सकती, क्योंकि उनका सम्बन्ध अपने आत्मा के साथ होता है, कारण की 'गम्' धातु कर्तृनिष्ठ क्रिया है।

मध्यम परिमाण रहित जीव के अणु होने पर ही गति और आगति हो सकती है। गति और आगति होने पर देह से अपसृष्टि अर्थात् बाहर निकलना ही उत्क्रान्ति है, ऐसा प्रतीत होता है, देह से बाहर न निकले हुए कि गति और आगति नहीं होती। इस देह से बाहर न निकले हुए कि गति और आगति नहीं होती। इस देह से बाहर जीवात्मा किस प्रकार निकलता है। इस विषय में कहते हैं कि यह जीवात्मा चक्षु से, मूर्धा से, अथवा शरीर के अन्य भागों से बाहर निकलता है। इस प्रकार देह प्रदेश उत्क्रान्ति में अपादान रूप से कहे गये हैं। वह जीवात्मा इन तेजोमात्राओं यानि इन्द्रिय समूह का सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर हृदय में ही अनुक्रान्त-अभिव्यक्त ज्ञानवान होता है। प्रकाश इन्द्रिय मात्रा को लेकर जीवात्मा पुनः आगति स्थान में आता है। इस प्रकार शरीर के अन्तर्गत भी जीवात्मा की गति और आगति होती है। इससे भी इस जीव की अणुत्व सिद्धि होती है।

जीव अणु है, प्रत्येक प्राणी में जीव भिन्न-भिन्न है, और इसी से सुख--दुःख के वैचित्र्य का समाधान हो सकता है। यह जीव अनन्त और गुणमयी माया से बद्ध है। यह ज्ञान का आश्रय और ज्ञान स्वरूप भी है। इसीलिए इन्द्रियों के बिना भी जीव में ज्ञान रहता है।

जीव दृष्टा, भोक्ता, कर्ता और श्रोता आदि सभी है। यह अणु होने पर भी समस्त शरीर के सुख-दुख का अनुभव करता है। इसी से समस्त शरीर में प्रकाश भी है। 'अणु' होने पर भी गुणों के कारण जीव ''विभु'' भी है, किन्तु इसमें सर्वगतस्थ नहीं है, जीव स्वतन्त्र है, अपने ज्ञान, कर्म मोक्ष तथा बन्धन युक्त है। सबके निमित्त 'ईश्वर' पर जीव निर्भर है। जीवात्मा अपने किये हुए कर्म का भोग स्वयं कराता है।

मध्वाचार्य ने सृष्टि रचना में माया का अर्थ प्रस्तुत करते हुए कहा है कि माया का शाब्दिक अर्थ यह है-''या मा सा-माया'' अर्थात् जो नहीं है वही माया है। यदि प्रपंच की सत्ता वास्तव में है तो वह नष्ट भी होगा, इसमें सन्देह नहीं। यह द्वैत केवल माया है वास्तव में तो अद्वैत ही सत्य है। ऐसी कोई शंका कर सकता है कि द्वैत काल्पनिक है। यदि कोई ऐसा विचार करता है तो यह उचित नहीं है। क्योंकि माया का अर्थ का भगवान् की इच्छा मायामात्र शब्द का अर्थ

है-ईश्वर की प्रज्ञा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमेश्वर इस प्रपंच को जानते हैं। इसकी रक्षा भी करते हैं। इसलिए द्वैत भ्रान्ति के द्वारा कम्पित नहीं है, अपितु सत्य है। ईश्वर को भी सभी विषयों में भ्रान्ति होगी यह सम्भव नहीं है। आचार्यमध्व ने लक्ष्मी, श्रीशक्ति और देव आदि सभी को माया के रूप में स्वीकार किया है। लक्ष्मी के स्वरूप का वर्णन करते हुए मध्वाचार्य ने स्पष्ट किया है कि 'लक्ष' दर्शनाङ्कनयोः इस धातु से 'लक्ष्मी'शब्द सिद्ध होता है जो चराचर जगत् को देखता चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे-शरीर के नेत्र नासिका आदि और वृक्ष के पत्र-पुष्प, फल, पृथ्वी, जल के कृष्ण, रक्त श्वेत, मृत्तिका, पाषाण, चन्द्र सूर्यादि चिन्ह बनाता है तथा सबको देखता, सब शोभाओं की शोभा और जो वेदादिशास्त्र का धार्मिक विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है वह 'लक्ष्मी' है। श्रिञ् सेवायाम् धातु से श्रीशब्द सिद्ध होता है। जिसका सेवन सब जगत् विद्धान् और योगीजन करते हैं, वही श्री है।

'शक्तृशक्तौ' इस धातु से शक्ति शब्द बनता है। जो जगत् के बनाने में समर्थ है, इसलिए उसे 'शक्ति' कहते हैं। जितने 'देव'शब्द के अर्थ लिखे हैं, उतने ही 'देवी'शब्द के भी है। परमात्मा के तीनों लिङ्गों में नाम है। जैसे-ब्रह्म जब ईश्वर का विशेषण होगा तब 'देव' जब चित्ति का विशेषण होगा, तब देवी। इसलिए माया का नाम भी देवी है। यह परमात्मा से भिन्न परन्तु केवल उसी के अधीन है। ब्रह्मा आदि जीव 'लक्ष्मी' के ही पुत्र है, और प्रलय में ये सब लक्ष्मी में ही हानि हो जाते है। परमात्मा की कृपा से बलवती लक्ष्मी एक क्षण में विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय, महा-विभूति वृत्तिप्रकाश, नियमावृत्ति, बन्धन तथा मोक्ष का सम्पादन करती है। हिरण्यगर्भ आदि की अपेक्षा, भगवान् की प्रीति, भक्ति और ज्ञान में लक्ष्मी कोटि-गुण अधिक है।

आचार्य मध्व ने लक्ष्मी को ईश्वर के समान नित्य माना है इन दोनों का सम्बन्ध अनादि और नित्य है। वास्तव में लक्ष्मी ही प्रकृति की अवधारणा के रूप में एक सम्प्रत्यय है। इसकी चार प्रकार की शक्तियाँ है-अचिन्त्यशक्ति, सहज-शक्ति, ३. आधेयशक्ति और ४. पदशक्ति।

सृष्टि के निर्माण में उपादान कारण के रूप में प्रकृति को माना है। काल एवं तीनों गुणों का तथा महत्तादि का उपादान प्रकृति है। इसी से यह द्रव्य भी है। यह बड़ी परिणामिनी तीनों गुणों से अतिरिक्त अव्यक्त और नानारूप है। महा प्रलय के अनन्तर नवीन सृष्टि का उपादान कारण होने से यह नित्य है। क्षण,



लव आदि काल के विभागों का भी कारण यह है। इसी से व्यापक भी है। जीवों के लिंग-शरीर की समष्टि रूप प्रकृति ही है। महाप्रलय में यह अकेली रहती है।

सत्व, रजस् और तमस् इन तीनों के समुदाय को गुणत्रय कहते हैं। ईश्वर की सृष्टि काल में 'मूल प्रकृति' से सत्व राशि, रजोराशि तथा तमो राशि को उत्पन्न कराते है इसी गुणत्रय से महदादि सृष्टि होती है। सृष्टि के लिए इन तीनो गुणों में निम्नलिखित परिमाण रहता है। तम से दो गुणा रज और रज से दो गुणा सत्व, तमोगुण महत्तत्व से दशगुना अधिक परिमाण है। महत्तत्व के चारों ओर यह दशगुणित तमोगुण घिरा हुआ है।

प्रकृति से पहले केवल शुद्ध सत्त्व उत्पन्न होता है। सत्व और तमोगुण के मिश्रण से रजोगुण तथा सत्व एवं रजोगुण के मिश्रण से तमोगुण होता है। रजोगुण में एक भाग रज, सौ भाग सत्त्व और १/१०० भाग तम है। तमोगुण में एक भाग तम १० भाग सत्व और १/१० भाग होता है। गुणों के इसी वैषम्य को सृष्टि कहते हैं। सृष्टि काल में सत्त्व गुण कभी मिश्रित नहीं रहता है। यह सर्वदा शुद्ध ही रहता है। गुणों की साम्यावस्था को ही प्रलय कहते हैं।

रजोगुण से जगत् की सृष्टि रजो गुण में विद्यमान सत्त्व गुण से स्थिति तथा तमोगुण से संहार होता है। सत्त्व की अभिमानिनी देवी श्री, रजस् की अभिमानिनी देवी भू, तथा तम की अभिमानिनी देवियाँ, दुर्गा एवं रमा है। इसी प्रकार सत्त्व को ब्रह्मा रज को विष्णु तथा तम को महेश ये गुणत्रय के अभिमानी देवता है।

इसी प्रकार मन, इन्द्रियाँ, बुद्धितत्व आदि की उत्पत्ति होती है। मध्वाचार्य ने अपने दार्शनिक मन्तव्य में भेद को सिद्ध किया है, यह भेद तीन प्रकार का--सजातीय, विजातीय और स्वगतरूप में है।

शैवदर्शन :-

शैव दर्शन का साहित्य तमिल भाषा में प्राप्त होता है। इनके शैवागम, शिव संहिता, अहिर्बुध्न्य संहिता आदि प्रसिद्ध है। उत्तरी भारत में संस्कृत के आगम ग्रन्थ शैव दर्शन की मूल भित्ति है। इस दर्शन में तत्वमीमांसा का एक विशिष्ट अर्थ है कि इस ब्रह्माण्ड में हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, स्पर्श करते और स्वाद लेते हैं, उन दृश्य, श्रव्य आदि पदार्थों के पीछे कौन वस्तुएँ आधार के रूप में काम कर रही हैं। उनकी खोज करना और उन पर तर्क पूर्वक विचार करने का नाम तत्त्वमीमांसा है। तत्त्व प्राय: परोक्ष ही होता है। उसे केवल बाह्य इन्द्रियाँ

ग्रहण नहीं कर सकती। इसलिए सामने पड़ी वस्तु को भी हम ''इदं तत्त्वम्'' कहते हैं। इदम् का अभिप्राय उसका बाह्य आकार-प्रकार है। तत्त्व का अर्थ है कि उसमें कुछ अदृश्य रहस्य भी निगूढ़ है घृत दुग्ध का तत्त्व है। दुग्ध भी गौ के द्वारा खाए हुए तृणादि का तत्त्व है। तृणादि तत्त्व भी पंचभूतों का है और पञ्चभूत भी तन्मात्रों के तत्त्व हैं। इस प्रकार हम मूल कारण जो कि एक रहस्य है, उसकी खोज करते-करते जिस अन्तिम तत्त्व पर पहुँचते हैं वही दर्शनशास्त्र के अनुसन्धान का विषय है। कहने का अभिप्राय यह है कि तत्त्व पहले परोक्ष ही होता है। इसीलिए कोई भी 'इदन्त्व' नहीं कहता। सभी तत्त्व ही कहते हैं कि सत्य और यथार्थ होने के कारण ही उसे अपरोक्ष कहा जाता है।

शैव दर्शन के अन्तर्गत नकुलीश पाशुपत,शाक्त और तन्त्र एवं त्रिकदर्शन आदिशैव दर्शन के ही सम्प्रदाय माने जाते हैं। तन्त्र दर्शन को आर्ष परम्परा में स्वीकार नहीं किया जाता है। इस दर्शन में शिव की सिद्धि करते हुए अनेक तर्क प्रस्तुंत किए हैं—शैव दर्शन के मतानुसार शिव,शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न माने जाते हैं। ये ही समस्त तत्त्वों के अधिष्ठाता और उपादान कारण रूप से प्रकाशमान होते हैं। शुद्ध तत्त्वमय शुद्ध जगत् के कर्ता शिव एवं कारण शक्ति तथा बिन्दु है। इस मत के अनुसार 'पति' से अभिप्राय 'परमेश्वर'—परमशिव से हैं। परमशिव या पति के परमेश्वर, स्वातन्त्र्य तथा सर्वज्ञत्व तथा सर्वज्ञत्व यें असाधारण गुण है। परमशिव नित्यमुक्त है, अर्थात् स्वभाव-सिद्ध, नित्य निर्मल, निरतिशय, अर्थज्ञान, क्रियाशक्ति-समन्वित है। शिव पंच मन्त्र तनु है। ईशान मन्त्र उनका मस्तक है, तत्पुरुष उनका मुख्य है, और उनका हृदय है, वासुदेव उनका गुह्य है, और सद्यजात उनका पाद है। इस प्रकार पशुओं के पाश-क्षेपण के लिए तथा ध्यान योग के लिए शिव शरीर धारण करते हैं। प्रभु के शरीर में मल आदि का होना असम्भव है, क्योंकि हम लोगों के शरीर के समान उनका शरीर नहीं है, किन्तु उनका शरीर ईशानादि शक्ति के निर्मित होने के कारण ''शाक्त'' कहलाता है। अत:शैव मतानुसार 'ब्रह्म' के स्थान पर 'परमशिव' को प्रतिष्ठित किया गया है।

काश्मीरी शैवदर्शन की अद्वैतपरक शाखा का नाम त्रिकदर्शन स्वीकार किया जाता है। यद्यपि त्रिकशब्द का अर्थ तीन संख्या वाचक है। परन्तु इस त्रिक दर्शन में अद्वैत तत्त्व को ही सिद्ध किया जाता है। इस त्रिक दर्शन का आधार तन्त्र साहित्य है।

शैव दर्शन में सृष्टि संरचना के विषय में स्वीकार किया जाता है कि शिव,शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, और विद्या ये पांच तत्त्व शुद्ध सृष्टि कहलाते हैं। सदाशिव तत्त्व चैतन्य, समुद्र में उन्ही की इच्छा से होने वाले उच्छल्नात्मक स्पंदन से प्रादुर्भूत तीसरे तत्त्व का नाम शिव तत्त्व है। इस अवस्था में सूक्ष्मरूप में प्रमेयता का धीमा-सा आभास होने लगता है। इस दर्शन के अनुसार सृष्टि रचना को अशुद्ध सृष्टि के नाम से माना जाता है। इसके अनुसार तत्त्वमीमांसा के ३६ तत्त्व स्वीकार किये जाते हैं। इनमें शुद्ध सृष्टि के पांच तत्त्व हैं तथा अशुद्ध सृष्टि के ३१ तत्त्व हैं। जिनमें माया, काल, कला, नियति, विद्या, रागपुरुष, अव्यक्त महत्, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच तन्त्रमात्राएं, और पञ्च महाभूत हैं।

पाशुपतदर्शन का मूलाधार पांच पदार्थों पर है। कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त माने जाते हैं। इस दर्शन में महेश्वर को पशुपति कहा जाता है।

वल्लभवेदान्त को पुष्टि मार्ग के नाम से जाना जाता है। इस का कारण यह है कि इन्होंने भक्ति को पुष्टि के रूप में स्वीकार किया है श्रीमद्भागवत के अनुसार पुष्टि या पोषण का अर्थ है–भगवन् का अनुग्रह है। अतः ईश्वर के अनुग्रह को मोक्ष का मुख्य हेतु मानने के कारण यह मार्ग पुष्टि मार्ग कहा जाता है। यह मार्ग वेद-प्रतिपादित मर्यादा मार्ग से सुतरां भिन्न है। वेद प्रतिपादित होने के कारण मर्यादा-मार्ग अक्षर-ब्रह्म की वाणी से प्रादुर्भूत हुआ, किन्तु पुष्टि मार्ग पुरुषोत्तम के साक्षात् शरीर से प्रकट हुआ है। मर्यादा मार्ग में ज्ञान तथा श्रवण आदि साधनों के द्वारा सायुज्य मुक्ति ही परम प्राप्तव्य है। किन्तु पुष्टिमार्ग में पूर्ण आत्म-समर्पण तथा वियोग-रसात्मिका प्रीति ही मुख्य फल है, परमध्येय है।

इस वल्लभ वेदान्त में अवतारवाद को स्वीकार किया गया है। यद्यपि ईश्वर को अव्यय, अप्रमेय, और निर्गुण रूप में माना जाता है। वल्लभ सम्प्रदाय पर यह आपत्ति की जाती है कि जो परमेश्वर निर्गुण है वह सगुण कैसे हो सकता है?

योग-वासिष्ठ में राम और वसिष्ठ मुनि के परस्पर जो दार्शनिक संवाद हैं, उन संवादों में दार्शनिक तत्त्व भी मिलते हैं। इस ग्रन्थ पर स्पष्ट रूप में अद्वैतवेदान्त का प्रभाव मिलता है। इसमें कहा है कि यह मनस् न तो हमारे अन्तर में है और न बाह्य, यह तो हमारे चारों ओर शून्य के सदृश व्याप्त है। इस सम्पूर्ण प्रपंच को मानस से प्रकट हुआ समझना, मृगजल के समान है। सृष्टि रचना के विषय में योग-वासिष्ठ का मत गौडपाद आचार्य से मिलता-जुलता है।

मध्यकालीन आचार्यों के अन्तिम चरण में जिसे हम समकालीन दर्शन का प्रारम्भ ही कह सकते हैं। यह उत्तर भारत के वृन्दावन की लीलाओं के प्रभाव से ओत-प्रोत युग था। धीरे-धीरे यह एक भक्ति आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ। जिसे चैतन्य का भक्ति मार्ग कहा जाता है। जैसे कि निम्बार्क के मत में राधा जो कृष्ण की प्रियतमा, उपपत्नी के रूप में है, वह केवल ऐतिहासिक पत्नी न होकर कृष्ण की अनादि काल से पत्नी है।

इस भक्ति आन्दोलन में गीतगोबिन्द के रचयिता जयदेव, विद्यापति, उमापति और चण्डीदास बंगाल तथा बिहार में अनेक सन्त उत्पन्न हुए। पन्द्रहवीं शताब्दी में वैष्णवमत के महान् प्रचारक चैतन्य हुए थे, जिसके प्रचार के दार्शनिक रूप को प्रदान करने वाले जीवगोस्वामी का बहुत ही महत्व है। यह दर्शन प्रेम एवं भक्ति का दर्शन है। राधा और कृष्ण की लीलाओं पर आधारित है।

मध्यकालीन दार्शनिक युग का यदि सिंहावलोकन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जो भारतीय आर्ष परम्परा में द्वैतवादी दर्शन विकसित हुआ था, इस मध्यकालीन युग में अद्वैतवादी दर्शन न केवल विकसित हुआ, अपितु एक विपुल साहित्य की रचना भी इसी युग में हुई थी। भाष्यों एवं टीकाओं की भाषा बहुत ही अधिक साहित्यिक एवं लालित्यपूर्ण रूप में विकसित हुई। वस्तुतः यह अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी प्रत्ययों को लेकर एक शास्त्रार्थ का युग कहा जा सकता है। इस युग में औपनिषदिक साहित्य से प्रारम्भ होकर पुराण तथा श्रीमद्भागवत के रूप में इस युग को अवलोकित किया जा सकता है।

इस मध्यकालीन परम्परा के पश्चात् जो भारतीय दार्शनिक अक्षुण्यधारा अनादि काल से प्रवाहित हो रही थी, वह इस समकालीन युग में विलुप्त-सी हो गई है। यद्यपि इस समकालीन युग में अनेक चिन्तक तथा विचारक उत्पन्न हुए हैं। परन्तु उनका दार्शनिक चिन्तन किसी न किसी प्राचीन दार्शनिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।

द्वितीय अध्याय

मध्यकालीन आचार्यों का दर्शन

अद्वैतवेदान्त

आचार्य गौड़पाद :-

ब्रह्मसूत्र अर्थात् वेदान्त दर्शन के भाष्यकारों ने वेदान्त दर्शन के मूल स्वरूप को परिवर्तित सा कर दिया है। इसलिए वेदान्त दर्शन के सूत्रों पर भारतीय षड्दर्शन के द्वैतवादी सिद्धान्त के अनुसार भारतीय दर्शन के इतिहास तृतीय भाग में वेदान्त सूत्रों के मूल दर्शन को प्रतिपादित किया जा चुका है।

आचार्य गौड़पाद अद्वैतवेदान्त पर क्रमबद्ध भाष्य लिखने वालों में सर्वप्रथम हैं। इनको शंकर के गुरु गोविन्द के नाम से जाना जाता है। यह भी कहा जाता है कि गौड्पाद ने उत्तरगीता पर भी भाष्य किया था। आचार्य गौड़ को प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा जाता है। क्योंकि इन्होंने यथार्थ जगत् का खण्डन उसी रूप में किया है अर्थात् उसी प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये हैं। जिस प्रकार के तर्क विज्ञानवाद तथा माध्यमिक बौद्ध सम्प्रदाय के मिलते हैं। जैसा कि गौड़पाद ने जागृत तथा स्वप्नावस्था के पदार्थों को एक रूप में स्वीकार किया है।

माण्डूक्य कारिका में आचार्य गौड़पाद ने मायावाद का निरूपण पर्याप्त रूप में किया है।[१] इन्होंने माध्यमिक कारिकाकार नागार्जुन के समान जगत् प्रपंच को मिथ्या कहा है। आचार्य गौड़पाद सांख्य और न्याय-वैशेषिक की तरह जगत् उत्पत्ति को मान्यता नहीं देते हैं। इनके मत में सत्यकार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों के अनुसार जगत् की रचना संभव नहीं है क्योंकि यदि कार्य पूर्व में सत् है तो उत्पत्ति की क्या आवश्यकता है, क्योंकि वह तो है ही। न्याय इस

---

१. जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत्।। माण्डूक्य कारिका, ४.११.

सत्यकार्यवाद का खण्डन करता है। इस तरह दोनों का प्रत्याख्यान करके इन्होने मिथ्याप्रपंच की सिद्धि की है[२] इनके अनुसार परमार्थतः जगत् प्रपंच मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि कारण ब्रह्म से पृथक् रूप में यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं हुआ क्योकि पृथक् रूप से उत्पत्ति असंभव है। अतः समस्त पदार्थों को अनुत्पन्न ही कहा जा सकता है। आचार्य ने माण्डूक्यकारिका में जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या कहा है। जिस प्रकार स्वप्न की वस्तुएँ बाह्य वस्तुओं के समान दृष्टिगोचर होती हैं उसी प्रकार जाग्रतावस्था की वस्तुओं को जानना चाहिए। स्वप्न भी तथ्यहीन है अर्थात् वे वितथ है।[३]

आचार्यशंकर ने गौड़पाद की उक्त (२.१) कारिका के भाष्य में वितथ के भाव को वैतथ्य कहा है। वैतथ्य का अर्थ है असत्य, अर्थात् जिसमें तथ्यता नहीं है। जो अतथ्य है वही वैतथ्य (असत्य) है।[४] स्वप्नकालिक वस्तुएं जब तक स्वप्न दर्शन होता रहता है तब तक दिखाई देती हैं, तभी तक उनकी सत्ता है। स्वप्न से उठे हुए व्यक्ति के लिए स्वप्नकालिक वस्तुएं उसी समय अर्थात् जागते ही मिथ्या दिखाई देती है, अर्थात् जाग्रत् ज्ञान से स्वप्न का ज्ञान बाधित होता है। अतः बाधित होने के कारण स्वप्नकालिक वस्तुएं मिथ्या है। आचार्य गौड़पाद वैतथ्य प्रकरण की तृतीय कारिका में स्वप्न की वस्तुओं को मिथ्या सिद्ध करने के लिए श्रुति से भी प्रमाण उद्धृत करते हैं। श्रुति में कहा है कि स्वप्न में रथ और उसके वाहन अश्व एवं रथमार्ग नहीं होते, फिर भी वे वस्तुएं स्वप्न में दिखाई देती है, परन्तु वे सब मनः कल्पित हैं, सत्य नहीं हैं।[५]

आचार्यशंकर ने गौड़पाद की माण्डूक्यकारिका के द्वित्तीय प्रकरण (चतुर्थकारिकाभाष्य) में स्वप्न की वस्तुओं के सदृश जाग्रत वस्तुओं को भी मिथ्या सिद्ध किया है। आचार्य गौड़पाद मिथ्यात्व सिद्ध करने के हेतु से कहते हैं कि वस्तुएं पूर्वकाल में नहीं थी। भविष्यत् में भी नहीं रहेगी। इस प्रकार यदि कालिक परिच्छिन्न वस्तुएं वर्तमान में दिखाई भी दें तो उनको वितथ्य ही कहना पड़ेगा। वे तथ्यहीन हैं। वे तथ्यहीन होते हुए भी दिखाई देती हैं।[६] परवर्ती आचार्य मधुसूदन

२. भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते विदन्तोऽदूयाह्येवभजातिं ख्यापन्ति ते।। माण्डूक्य का. ४.१२.
३. वैतथ्यं सर्वभावनां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।– वही, २.१.
४. वितथस्य भावो वैतथ्यम् असत्यत्वमित्यर्थः। माण्डूक्य का० २.१ पर शाङ्करभाष्य
५. आदावन्ते च यन्नास्ति----------------लक्षिता।। माण्डूक्य कारिका–२.६
६. मिथ्यात्वलक्षण, अध्याय-४ द्रष्टव्य अनादिमाया सुप्तो यदा जीवःप्रबुध्यते। अजयनिद्रमस्वप्नमभद्वैतं वुध्यते तदा।। माण्डूक्यकौरि १.१६

सरस्वती ने 'परिच्छिन्न' को मिथ्यात्वानुमान में हेतु माना है और परिछिन्नत्वेन वस्तुओं को मिथ्या कहा है।

आचार्य गौड़पाद विश्वदर्शन को अज्ञान या माया के कारण मानते हैं। वस्तुत: अनादिमाया के कारण जीव सोया हुआ है। अपने स्वरूप को भूला हुआ है। माया में सुप्त होने के कारण उसे विश्वदर्शन हो रहा है। गौड़पाद की भाषा में अनादिमाया में सुप्त जीव जब ज्ञान प्राप्त करता है तभी उस शाश्वत अद्वैततत्त्व को जान सकता है, जो कि अनिद्रास्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप है।[७] उनका कहना है कि परमार्थ तत्त्व के ज्ञान से घटादि वस्तुओं का वैसा ही बाध होता है जैसाकि रज्जु में भाषित सर्प का रज्जुज्ञान से। मरुजल का मरुज्ञान से शुक्तिरजत का शुक्ति ज्ञान से बाध होता है। एक मात्र अद्वैत ही परमार्थ है।[८] जिस प्रकार अन्धकार में रज्जु विषयक ज्ञान मात्र से सर्पज्ञान की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार स्वात्मनिश्चय या ज्ञान से सभी अद्वैत हो जाते हैं। तब वस्तुएं पृथक् नहीं दिखाई देती हैं।[९]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर आचार्य गौड़पाद द्वारा प्रतिपादित जग मिथ्यावाद की अवधारणा का विहंगम अवलोकन करने पर जो तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं, उनसे स्पष्ट है कि ये दार्शनिक विद्वान् अपने इस प्रत्ययवाद को दो प्रकार से सिद्ध करने का प्रयास करते प्रतीत होते हैं। एक तो उपनिषदों के कुछ मन्त्रों की व्याख्या अद्वैतवादी विचारधारानुसार करते हैं, दूसरे कुछ भ्रमस्थलों के उदाहरणों द्वारा समस्त जगत् की वस्तुओं को भ्रममय सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इन ग्रन्थों को ख्याति रूप में माना गया है।

स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था :-

गौड़पाद ने अपने माण्डूक्य भाष्य में स्पष्ट किया है कि स्वप्न अवस्था के अनुभव जागरित अवस्था के अनुभव समान प्रतीत होते हैं। डॉ० राधाकृष्णन् ने डेसकार्ट के कथन को उद्धृत करते हुए कहा है कि ''जब मैं इस विषय पर ध्यान देकर विचार करता हूँ तो मुझे एक भी ऐसा लक्षण नहीं मिलता जिसके द्वारा मैं निश्चित रूप से निर्णय कर सकूँ कि क्या मैं जागता हूँ या स्वप्न देख

७. तत्रैव।

८. मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थत:।।–माण्डूक्य कारिका–१.१७.

९. अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता, सर्वधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पित।। निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते। रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चय:।। माण्डूक्यकारिका–२, १७–१८.

रहा हूँ। स्वप्नावस्था के अनुभव तथा जाग्रत के अनुभव इतने अधिक समान है कि मैं पूर्णरूप से हैंरान हो जाता हूँ और वस्तुतः मैं नहीं जानता कि मैं इस क्षण में स्वप्न नहीं देख रहा हूँ ''डेसस्कार्ट'' मेडिटेशन्स पृष्ठ-१ का पास्कल का कथन ठीक है कि यदि हर रात एक ही स्वप्न दिखाई दे तो हम उसमें भी ठीक इसी प्रकार लिप्त हो जाएंगे जैसा कि उन वस्तुओं में हो जाते हैं जिन्हे हम प्रतिदिन देखते हैं। उसके शब्द हैं 'यदि कोई कारीगर निश्चित रूप से पूरे बारह घण्टे तक यह स्वप्न देखे कि वह राजा है तो मेरा विश्वास है कि वह भी उसी राजा के समान सुखी होगा जो हर रात में बराबर बारह घण्टे तक यह स्वप्न देखता है कि वह कारीगर है।

आचार्य गौड़पाद ने इसका विश्लेषण करते हुए कहा है कि अनुभवों की अपनी एक भिन्न श्रेणी है वे अपने अन्दर संश्लिष्ट हैं। जैसे कि स्वप्न में पिया हुआ पानी स्वप्न की प्यास बुझाता है। वह वास्तव में वास्तविक प्यास को नहीं बुझाता है। परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि हम मान लेते हैं कि जागृत अवस्था का अनुभव अपने आप में यथार्थ है वहीं एक मात्र यथार्थ है। इसका यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जागृत तथा स्वप्न कालिक अनुभव अपने अपने स्थान पर यथार्थ है और ये अनुभव दोनों समान हैं। यदि इस स्थिति को निरपेक्षभाव से देखें तो दोनों अयथार्थ हैं। इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जागरित अवस्था के अनुभूत यथार्थ हम सबके लिए एक समान है जबकि स्वप्नावस्था में जाने गए पदार्थ केवल स्वप्नद्रष्टा की निजी सम्पत्ति है।[१०] फिर भी उसका कहना है कि ''क्या स्वप्न में और क्या जागरित अवस्था में जो भी पदार्थ ज्ञान में आते हैं वे सब अयथार्थ है'' उसका तर्क यह है कि पदार्थ के रूप में जो कुछ भी प्रस्तुत होते हैं वे सब अयथार्थ है।[११] यह तर्क कि सब पदार्थ अयथार्थ हैं और केवल मात्र प्रभाता (ज्ञाता) जो निरन्तर साक्षीरूप आत्मा के रूप में है वही यथार्थ है, कुछ उपनिषदों में उपस्थित किया गया है और इसे बौद्ध विचारधारा में निषेधात्मक परिणामों के साथ विकसित किया गया है। इसी तर्क का प्रयोग आगे चलकर गौड़पाद ने यह सिद्ध करने के लिए किया है कि यह जीवन जागरित अवस्था का स्वप्न है।[१२] हम जागरित अवस्था के संसार को बाह्य मान लेते हैं, इसलिए नहीं कि हमें अन्य लोगों की मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान

---

१०. माण्डूक्य कारिका–२:१४.

११. माण्डूक्यकारिका–२.४.

१२. माण्डूक्यकारिका –२.३१.

होता है, किन्तु इसलिए कि हम उनकी साक्षी को मान लेते हैं। देश काल और कारण के सम्बन्ध, जो जागृत संसार के पदार्थों का नियमन करते हैं, आवश्यक नहीं कि यथार्थ ही मान लिए जाएं।

गौड़पाद के अनुसार "एक वस्तु के स्वरूप से जो कुछ समझा जाता है, वह-वह है जो कि अपने में पूर्ण होता है वह जो कि इसकी वास्तविक अवस्था है, वह जो कि अन्तर्निहित है, वह जोकि आकस्मिक नहीं है अथवा वह जो अपने-आप से नष्ट नहीं हो जाता।[१३] इस कसौटी को उपयोग में लाने पर हमें प्रतीत होता है कि आत्माएं तथा संसार अपने-आप में दोनों ही कुछ नहीं है, और केवल आत्मा ही सत् है।

आचार्य ने गम्भीर विवेचना करते हुए माना है कि मस्तिष्क के अन्दर जिन घटनाओं का प्रवेश होता है, उन घटनाओं का परस्पर क्या सम्बन्ध है और वे क्या नियम है, इन नियमों की व्याख्या करते हुए वे मानते हैं कि यह सम्बन्ध कार्य-कारण का सम्बन्ध है।[१४] इन कार्य-कारण का क्या क्रम है जिसके अनुसार कार्य-और कारण एक दूसरे के पश्चात् आते हैं। इस क्रम की व्याख्या करते हुए आचार्य ने कहा है कि यदि ये युगपत् आते हैं जैसाकि एक पशु के दो सींग साथ-साथ आते हैं तो वे कारण और कार्य के रूप में एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं हो सकते। बीज और वृक्ष का दृष्टान्त अधिक उपयुक्त नहीं हो सकता।[१५] हम किसी भी वस्तु को कार्य नहीं कह सकते यदि हम उसके कारण को नहीं जानते। बाह्य आवरण के स्वरूप में कारण-कार्य सम्बन्धी व्याख्या पूर्ण नहीं हो सकती। वस्तुओं की किसी भी प्रस्तुत अवस्था को हम सोपाधिक मानते हैं और उनकी उपाधियों का पता लगाते हैं और जब उपाधियों का पता लग जाता है तो हमें उसकी पृष्ठभूमि में जाना होता है। इस प्रकार की प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं है।[१६] किन्तु यदि हम विश्वास करें कि ऐसे अनादि नित्य कारण भी वर्तमान हैं जो स्वयं में कारण हित है और तो भी कार्यों को उत्पन्न करते हैं, तब फिर गौड़पाद कैसे पूछ सकता है कि क्या वह पदार्थ जो कार्य को उत्पन्न करता है, स्वयं अज (अर्थात् न उत्पन्न होने वाला) हो सकता है? और एक परिवर्तनशील

---

१३. माण्डूक्यकारिका –४:९।

१४. माण्डूक्यकारिका –४:१०,२८,६१

१५. माण्डूक्यकारिका –४:१६, २१

१६. माण्डूक्यकारिका –४:११-१३, २१, २३, २५

पदार्थ कैसे नित्य हो सकता है? स्वयं अनुत्पन्न वस्तुओं को अन्य वस्तुओं को उत्पन्न करते हुए हम कहाँ पाएंगे? कारण और कार्य स्पष्ट है कि परस्पर सापेक्ष है, जिनमें से एक दूसरे को सहारा देता है और जो गिरते भी साथ साथ है।[१७] कारण-कार्य-सम्बन्ध का स्वरूप यथार्थसत्ता के स्वरूप-सा नहीं है, किन्तु केवल ज्ञान की एक दशा है। गौडपाद कहता है। "न तो अयथार्थ का और न यथार्थ का ही कारण कभी अयथार्थ हो सकता है और न ही यथार्थ का कारण यथार्थ हो सकता है–और यथार्थ कैसे अयथार्थ का करण हो सकता है?[१८] कारण-कार्यभाव की समस्याओं के कारण गौडपाद यह कहने के लिये विवश हुआ कि "कोई भी वस्तु न तो अपने से और न अन्य के द्वारा उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः कोई वस्तु उत्पन्न होती ही नहीं, चाहे वह सत् हो या चाहे असत् हो अथवा दोनों में से एक हो।[१९]

कारणकार्यभाव असम्भव है। हम न तो यही कह सकते हैं कि ईश्वर संसार का कारण है और न यह कि जागृत अवस्था का अनुभूत ज्ञान स्वप्नावस्थाओं का कारण है।[२०] नानाविध पदार्थ-विषयनिष्ठ और पदार्थनिष्ठ, जीवात्मा मात्र तथा संसार सभी-अयथार्थ है।[२१] वे तभी तक यथार्थ प्रतीत होते हैं जब तक कि हम कारण कार्य के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।[२२] "प्रत्येक पदार्थ संवृत्ति (अर्थात् सापेक्ष सत्य) की शक्ति से उत्पन्न होता है और इसलिए कुछ भी नित्य नहीं हो सकता और इसलिए विनाश नाम की कोई वस्तु नहीं है।[२३] उत्पत्ति और विनाश केवल प्रतीति-मात्र है और यथार्थ में न तो कुछ उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है।[२४] यथार्थसत्ता तक पहुंचने के लिए हमें कारण कार्यभाव तथा अन्य सम्बन्धों को अस्वीकार करना होगा, क्योंकि यथार्थसत्ता प्रतीति रूप जगत् से अतीन्द्रिय है।[२५]

---

१७. माण्डूक्य कारिका–४:१४-१५
१८. माण्डूक्य कारिका–४:४०
१९. माण्डूक्य कारिका–४:२२
२०. माण्डूक्य कारिका–४:३९
२१. माण्डूक्य कारिका–४:५१-५२,६७.
२२. माण्डूक्य कारिका–४:५५-५६,४:४२
२३. माण्डूक्य कारिका–४:५७
२४. माण्डूक्य कारिका–२:३२.
२५. प्रपंचोपशमम्–२:३५

गौड़पाद की दृष्टि में कुल यथार्थसत्ता मानसिक प्रभाव मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं और वह यह भी घोषणा करता है कि मानसिक प्रभाव के कोई पदार्थनिष्ठ कारण नहीं है। 'वस्तुओं के स्वभाव के आधार पर निर्धारित युक्तियाँ संकेत करती है कि कारण का कारण नहीं होता।'[२६] चित्त अथवा विचार अपने को पदार्थों के साथ सम्बद्ध नहीं करता और न यह पदार्थों को ही अपने अन्दर प्रतिबिम्बित होने देता है क्योंकि पदार्थ अयथार्थ हैं और उनका प्रतिबिम्ब उससे (चित्त से) पृथक् नहीं है।[२७]

जैकोबी गौड़पाद के तर्क को इस तर्कक्रम में प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि ''जागृत अवस्था में देखे गए पदार्थ यथार्थ नहीं है, यह प्रतिज्ञा (प्रोपोजीशन) है, हेतु यह है कि वे देखे गये हैं। जैसे कि किसी स्वप्न में देखे गए पदार्थ, यह दृष्टांत है, जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये पदार्थ यथार्थ नहीं होते, इसी प्रकार दृश्यमानता का गुण जागरितावस्था के पदार्थों से भी सम्बन्ध रखता है, यह हेतु का उपयोग हेतूपनय है, इसलिए जागरित अवस्था में देखे गए पदार्थ भी अयथार्थ है। अर्थात् यह निगमन अनुमान होता है।

मिथ्यात्व के विषय में दूसरा तर्क यह प्रस्तुत किया जाता है कि प्रत्येक वस्तु जो आरम्भ में असत् थी और अन्त में भी असत् रूप में परिवर्तित हो जायेगी, यह मानना चाहिए। वह वस्तु मध्यकाल में भी असत् ही रहेगी[२८] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिसका आदि व अन्त है वह अयथार्थ एवं मिथ्या है।[२९]

यथार्थता का प्रमाण पदार्थ निष्ठता अथवा क्रियात्मक क्षमता नहीं है, परन्तु सब कालों में निरन्तर अस्तित्व अथवा निरपेक्ष आत्म सत्ता है। जागृत काल की अनुभूत वस्तुएं स्वप्न काल में असत् हो जाती है। इस प्रकार इन्होंने अनुभूत जगत् को अयथार्थ सिद्ध किया है। क्योंकि इसकी तुलना स्वप्नावस्था के साथ हो जाती है। इसके प्रस्तुत होने वाले अर्थात् पदार्थ रूप स्वरूप के कारण इनके उन सम्बन्धों में दुर्बोध के कारण जो इसका जो संघटन करते हैं। पदार्थ के सब कालों में स्थिर न रहने के कारण।

२६. माण्डूक्य कारिका–४:२५
२७. माण्डूक्य कारिका–४:२६
२८. माण्डूक्य कारिका–२:६
२९. माण्डूक्य कारिका–२:७

सृष्टि संरचना :–

आचार्य गौड़ पाद ने सृष्टि-संरचना के सम्बन्ध में कई प्रश्न उठाये हैं। उनका कहना यह है कि जो परमार्थचिन्तक है तथा जो सृष्टिचिन्तक है, उनकी कल्पना को यथार्थरूप देने के लिए गम्भीर चिन्तना की जाती है तो यह निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि संरचना सम्बन्धी कोई वस्तु ही नहीं है। परमार्थ सत्ता में कोई परिवर्तन ही सम्भव नहीं है। यदि कोई परिवर्तन सम्भव होता तो अमर मरण-धर्मा हो जाता है।[३०] यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है कि कोई वस्तु अपने से सर्वथा विरोधी गुण वाली वस्तु के रूप में परिणत हो जाए।[३१]

प्रत्येक परिणमन वास्तविक नहीं है, तथा केवल आनुभविक जगत् में ही वह सत्य अथवा सह प्रमाण है। वास्तव में भेद नामक कोई वस्तु नहीं है।[३२] (नास्ति भेद : कथञ्चन:) आत्मा ही जो एकमात्र निरुपाधिक यथार्थसत्ता है, अपने अतिरिक्त और किसी के विषय में अभिज्ञ नहीं है। जैसा कि शंकर कहता है प्रमेय पदार्थों का बोध एक क्रियाशील प्रमाता को होता है, साधारण सत्ता मात्र को नहीं होता। "यह बताना संभव नहीं है कि यह अध्यास अथवा आत्मा का अनात्म के साथ असामंजस्य कैसे उत्पन्न होता है, किस प्रकार से एक अनेक रूप में प्रकट होता है, क्योंकि अखण्ड आत्मा के यथार्थ में विभाग नहीं हो सकते और कभी-कभी यह तर्क किया जाता है कि जगत् की व्याख्या का पता लगाना, यदि यह यथार्थ नहीं है तो भी आवश्यक है।[३२] सृष्टि रचना के विषय में प्रस्तुत किए गए भिन्न भिन्न विकल्पों पर गौड़पाद ने इस प्रकार विचार किया है, "कुछ इसे ईश्वर की अभिव्यक्ति (विभूति) रूप में मानते हैं। किन्तु अन्य कई इसे स्वप्न रूप अथवा भ्रान्ति के रूप में मानते हैं : अन्य कई का मत है कि यह ईश्वर की इच्छा रूपी एक संकल्प है, किन्तु ऐसे व्यक्ति जो काल में विश्वास रखते हैं, बलपूर्वक कहते हैं कि सब कुछ काल से ही प्रादूर्भाव हुआ है। कुछ का कहना है कि सृष्टि भोग के लिए है, दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति है जिनका कहना है यह क्रीड़ा के लिए है।"

गौड़पाद उक्त सब मतों का निराकरण करते हुए बलपूर्वक कहते हैं कि यह उस तेजोमय का अन्त: स्थित स्वभाव (देवस्यैष स्वभावोऽयम्) है जिसे सब कुछ प्राप्त है क्योंकि उसकी इच्छा और क्या हो सकती है।?[३३]

३०. माण्डूक्य कारिका–३:१९.

३१. माण्डूक्य कारिका–३:२१.

३२. माण्डूक्य कारिका–३:१५,९ और २४.

३३. माण्डूक्य कारिका–१:१७-१८.

इसलिए इस मत का निराकरण करते हुए कि जगत् की तुलना एक स्वप्न अथवा भ्रान्ति के साथ की जा सकती है, गौडपाद तर्क करता है कि यह ईश्वर के अपने स्वभाव का व्यक्तरूप है, अर्थात् उसकी शक्ति का अभिव्यक्त स्वरूप है। अन्य वाक्यों में भी जगत् का यथार्थवादी विचार प्रकट होता है तथा 'आत्मा अपनी माया की शक्ति द्वारा (स्वमाया से) अर्थात् अपने-आप से अपनी कल्पना करता है। वही एक मात्र बाह्य विषयों (प्रमेय पदार्थों) का बोध ग्रहण करता है। इस विषय पर वेदान्त का यह अन्तिम मत है।[३४] यहाँ पर गौड़पाद ने मायाशब्द का प्रयोग अद्भुतशक्ति के अर्थों में किया है, यह आत्मा का स्वभाव बन जाता है। "माया के विषय में यह भी कहा गया है कि यह अनादि सृष्टित्व है जो मनुष्य की दृष्टि से यथार्थसत्ता को छिपाए रहती है।[३६] वह परमतत्त्व इस माया रूपी तत्त्व अथवा स्वभाव से संयुक्त होकर जो अव्याकृत है, ईश्वर कहाता है "जो समस्त चैतन्य के केन्द्रों का वितरण करता है।[३७]

पृथ्वी, लोहा और आग के स्फुलिंगों के दृष्टान्त जिनका उपयोग उपनिषदों में किया गया है वह हमें केवल परमार्थसत्ता के प्रत्यक्षीकरण में सहायता प्रदान करने के लिए है।[३८] अर्वाचीन वेदान्त में इस स्थिति को परिष्कार करके अध्यारोपापवाद अथवा एक अध्यास के रूप में, जिसके आगे अपसरण आता है, प्रतिपादन किया गया है।[३९] उक्त सब कथनों में जो आध्यात्मिक सत्य निहित है वह यह है कि इस आनुभविक जगत् का अधिष्ठान आत्मा है जो यथार्थ में किसी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करता। (द्वैतस्याग्रहणम्)[४०] द्वैतपरक जगत् केवल माया है यथार्थसत्ता अद्वैत है। शंकर कहते हैं कि "ज्ञान की विविधता आत्मा के अन्दर ठीक उसी भांति रहती है जैसे कि सांप रस्सी में।[४१] हमें यह न कहना चाहिए कि आत्मा अपने को जगत् के रूप में परिणत करती है। यह वस्तुओं को उत्पन्न करती है केवल उसी भांति जिस भांति कि एक रस्सी सांप का रूप

३४. माण्डूक्य कारिका–१:७-९
३६. माण्डूक्य कारिका–२:१२ और १३:१०
३७. माण्डूक्य कारिका–२:१९.
३७. माण्डूक्य कारिका–१:१६
३८. माण्डूक्य कारिका–१:६
३९. माण्डूक्य कारिका–३:१५
४०. वेदान्त सार–२
४१ माण्डूक्यकारिका–१:१३,१७.

धारण करती है, किन्तु यथार्थ रूप में वह सांप नहीं[४२] यह केवल माया के द्वारा ही अनेक रूप में परिणत होती केवल प्रतीत होती है किन्तु अपने आप में नहीं (न तत्त्वत:)[४३] "अनुभूत ज्ञान की विविधता को आत्मा के अनुरूप नहीं कहा जा सकता और न अपने आप में स्वतन्त्र रूप में अवस्थित ही कह सकते हैं, और कुछ भी भिन्न अथवा तादाम्य सूचक नहीं है।[४४] यह जगत् न तो आत्मा के साथ तादात्म्य रूप है और न उससे पृथक् तथा भिन्न ही है। जिस समय गौडपाद का ध्यान सर्वोपरि यथार्थसत्ता के ऊपर होता है तो वह बलपूर्वक कहता है कि जगत् केवल स्वप्न मात्र अथवा भ्रान्ति है और भेद सब केवल प्रतीति स्वरूप है।[४५]

गौड़पाद ने माया शब्द का प्रयोग ठीक एक ही अर्थ में नहीं किया है। इसका प्रयोग–(१) जगत् तथा आत्मा के मध्यगत सम्बन्ध की अव्याख्येयता के अर्थों में किया है, (२) ईश्वर के स्वभाव अथवा शक्ति के अर्थों में तथा (३) जगत् की स्वप्नसदृश प्रतीति के अर्थों में किया है।शंकर ने माया के पहले अर्थों को ही अधिकतर प्रधानता दी है और तीसरे प्रकार के अर्थो के प्रति वह उदासीन है। वह तीसरे प्रकार के अर्थों की गौड़पाद की स्थिति को माध्यनिको के संवृत्ति सत्य अथवा असत्य के सदृश बना देती है किन्तु व्यावहारिक सत्य अथवा क्रियात्मक सत्य के सदृश नहीं।[४६]

यदि यह जगत् चित्तनिष्ठ पदार्थों से ही बना है। चित्तदृश्य और निरपेक्ष परमार्थ स्वरूप आत्मा के ऊपर आरोपित किया गया है तो यही जीव की दशा है। आत्मा का अनेक जीवों में विभक्त होना केवल प्रतीतिमात्र है। आत्मा की तुलना सर्वव्यापी देश के साथ की गई है और जीव की तुलना भी उसी के समान घड़े में सीमित आकाश (देश) के साथ की गई है। जब ढकने वाला बाह्य आवरण नष्ट हो जाता है तो सीमाबद्ध देश (घटाकाश) व्यापक देश (महाकाश) में मिल जाता है। भेद केवल ऐसे आनुषंगिक पदार्थों में रहते हैं, यथा आकृति क्षमता और नाम, किन्तु स्वयं व्यापक वेश (आकाश) में यह भेद नहीं है। जैसे कि हम यह नहीं कह सकते कि सीमाबद्ध आकाश (देश) व्यापक आकाश का अवयव है अथवा एक विचार है इसी प्रकार हम यह भी नहीं कह सकते

---

४२. माया मात्रमिदं द्वैतं द्वैत परमार्थत:। (२,१७)

४३. ब्रह्म सूत्र पर शांकरभाष्य–२:१२,१९।

४४. माण्डूक्य कारिका–३:२७,२:१७.

४५. माण्डूक्य कारिका–३:२७.

४६. माण्डूक्य कारिका–३:१९,२४,४:४५, और–२:१८ देखे।

हैं कि जीव आत्मा का अवयव है या विकार है। ये दोनों एक ही है और भेद केवल प्रतीतिपरक है। यद्यपि व्यावहारिक रूप में हमें इन दोनों को भिन्न मानना होता है।[४७]

यह जगत् चित्तनिष्ठ पदार्थों से ही बना है, जिसको कि चित्त दृश्यम् कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि पारमार्थिक स्वरूप आत्मा के ऊपर समारोपित किया गया है। जीवात्मा का भी यही आरोपित स्वरूप है। आत्मा का अनेक जीवों के रूप में प्रतिभाषित होना केवल प्रतीति मात्र है। इस विवेचना को करते हुए गौड़पाद आचार्य ने स्पष्ट किया है कि सत् केवल ब्रह्मतत्व है, अन्य समस्त जागतिक वस्तुएं सत् नहीं हो सकती है।

प्रच्छन्न बौद्ध :-

गौड़पाद दर्शन पर यह आरोप लगाया जाता है कि बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद का इनके दर्शन पर प्रभाव है क्योंकि विज्ञानवाद भी बन्धन, मोक्ष, जीवात्मा और जगत् यह सब अयथार्थ है। एक अयथार्थ आत्मा इस अयथार्थ जगत् में निःश्रेयस् कल्याण की प्राप्ति हेतु अयथार्थ बन्धनों से छूट जाने का प्रयास कर रही है। जो युक्तियाँ विज्ञान वाद में प्रदर्शित की गई है उन युक्तियों का प्रदर्शन गौड़पाद दर्शन में भी किया गया है। डॉ० राधाकृष्णन् ने इस का विश्लेषण करते हुए कहा है कि-"बादरायण और शंकर दोनों ही बलपूर्वक कहते हैं कि स्वप्नावस्था के तथा जागृत अवस्था के प्रभावों में मौलिक भेद है।[४८] और यह है कि जागृत अवस्था के प्रभावों का आधार बाह्य पदार्थों का अस्तित्व है। किन्तु गौडपाद जागृत तथा स्वप्न अवस्था दोनों के प्रभावों को एक साथ जोड़ देता है।[४९] शंकर जहाँ एक ओर अपने दर्शन को विषयी विज्ञानवाद से अछूता रखने के लिए उत्सुक है, जोकि विज्ञानवाद का सहचारी है वहाँ गौडपाद उसका स्वागत करता है।[५०] विज्ञानवाद को अन्तिम रूप में स्वीकार करने के लिए उद्यत न होने के कारण वह ऐसी घोषणा करता है कि विषयी (प्रमाता) भी प्रमेय विषय के समान ही अयथार्थ इस प्रकार संकट में पड़कर शून्यवादियों की स्थिति के ही समीप पहुँच जाता है। नागार्जुन के समान वह कारण-कार्य भाव तथा परिवर्तन

४७. माण्डूक्य कारिका- भारतीय दर्शन इतिहास डॉ० राधाकृष्णन् पृ० ३९६-९७।
४८. माण्डूक्य कारिका-२:२,२८-३२.
५९. माण्ड्क्य कारिका-२:४.
५०. माण्डूक्य कारिका-४:२४.२८.

की संभाव्यता का भी निराकरण करता है।[५१] "विनाश नाम की कोई वस्तु नहीं है सृष्टि रचना भी नहीं है, बन्धनों में जकड़ा हुआ कोई नहीं है, मोक्ष के लिए प्रयत्न करने वाला भी नहीं है, न कोई मोक्ष की ही अभिलाषा करने वाला है न कोई मुक्त है, यही परमसत्य है।"[५२] यह आनुविक जगत् अविद्या के कारण है अथवा नागार्जुन की भाषा में संवृत्ति के कारण है। "एक जादू के बीज से जादू का अंकुर निकला है, यह अंकुर न तो स्थायी है और न नाशवान है। वस्तुएं भी ऐसी ही हैं और इसी कारण है"[५३] भेदों के परे सबसे ऊंची ज्ञान की अवस्था को हम अस्तित्व अथवा अभाव दोनों अथवा इनमें से किसी एक के भी विधेयों द्वारा लक्षित नहीं कर सकते। गौड़पाद और नागार्जुन के मत में यह एक ऐसी वस्तु है जो प्रतीतिस्वरूप जगत् से ऊपर है।[५४] इन सिद्धान्तविषयक अंशों के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों में भी समानताएं है जो निश्चयपूर्वक बौद्ध धर्म के प्रभाव का निर्देश करती है। किसी वस्तु अथवा सत्ता के लिए धर्मशब्द का प्रयोग सापेक्ष ज्ञान के लिए संवृत्तिशब्द का प्रयोग और संघातशब्द का प्रयोग पदार्थों के अस्तित्व के लिए विशिष्ट रूप से बौद्धधर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं।[५५] अलात चक्र की उपमा का बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में प्राय: ही अयथार्थता के प्रतीक रूप में प्रयोग हुआ है।[५६]

गौडपाद को कारिका माध्यमिकों के निषेधात्मक तर्क को उपनिषदों के भावात्मक आदर्शवाद के साथ एक पूर्ण इकाई के अन्दर संयुक्त करने का प्रयास है। गौडपाद में निषेधात्मक प्रवृत्ति भावात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाई जाती है। शंकर का दृष्टिकोण अधिक सन्तुलित है।

---

५१. माण्डूक्य कारिका–२:३२,४:४,७,२२,५९.

५२. माण्डूक्य कारिका–२:३२,माध्यमिककारिका–१:१। योगवासिष्ठ–४:३८,२२। न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति नाबन्धोऽस्ति नबन्धनम्। अप्रबोधादिदं दुखं प्रबोधात् प्रविलीयते।

५३. माण्डूक्य कारिका–४:५९. यह बौद्धधर्म के इस सिद्धान्त का कि शून्य से पदार्थो की उत्पत्ति होती है।

५४. प्रपंचोपशनम्–२:३५ तुलना कीजिए; माध्यमिक कारिका–१:१ और २:२५.। सर्वोपलम्भोपशम:प्रपंचोपशम: शिव:। न क्वचित् कस्यचित् कश्चित् धर्मो बुद्धेन देशित:।।

५५. माण्डूक्य कारिका–३'१०,४:७२.।

५६. ब्रह्मसूत्र पर शंकर भाष्य–४:१,२,१२,४२,५०, जहाँ पर बुद्ध तथा उसके सिद्धान्त के अद्भुत उल्लेखों का सामाधान कर दिया गया है।

तृतीय-अध्याय

शंकर-अद्वैतवेदान्त

शंकराचार्य का जन्म उस काल में माना जाता है, जिस काल में बौद्ध धर्म उच्च कोटि पर पहुँचा हुआ था। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा था कि वैदिक मान्यताएं बौद्ध धर्म के प्रभाव से नष्ट हो जाएगी। ऐसे समय में आचार्यशंकर का प्रादुर्भाव हुआ। आचार्यशंकर एक ऐसे आचार्य थे जो किसी भी सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों के समीप जाते थे, उस आचार्य के शिष्य के समक्ष ही शास्त्रार्थ में उनको पराजित करके वापस आ जाते थे। इसलिए बौद्ध मत के प्रभाव को प्रायः नष्ट करने में आचार्यशंकर का हस्त सबसे प्रमुख माना जा सकता है।

बौद्ध मत के प्रभाव को न्यून करने में उस समय के आचार्यों का यह भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है कि महात्मा बुद्ध को पौराणिक परम्परा के अनुसार विष्णु के अवतार के रूप में मान लिया था। यह भी माना जाता है कि अनेक बौद्ध दार्शनिक मान्यताएं अद्वैतवेदान्त में भी समाहित हो गई थीं। इस मत को स्पष्ट करते हुए ड्यूशन ने 'इण्डियन फिलौशिफिकल रिव्यू' में स्पष्ट किया है कि शंकर के अनुसार ऐसे पुरुष की अवस्था का वर्णन करते हैं जिसने सर्वोच्च अथवा निरूपाधित ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया है इस आक्षेप के उत्तर में यह कहा जाता है कि उपक्रम अथवा प्रस्तावना इस प्रश्न के विषय में उपसंहार की अपेक्षा अधिक निश्चयात्मक है। जैसे कि आचार्यशंकर ने ब्रह्म सूत्र पर भाष्य करते हुए प्रथम सूत्र के भाष्य से पूर्व अपनी उत्थानिका में अद्वैत दर्शन की सूत्रात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। उसमें जो व्याख्या प्रस्तुत की गयी है वह अनिर्वचनीय माया प्रकाशतम आदिक के विषय में जो प्रस्तावना है वह बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद के सिद्धान्त से मिलती-जुलती प्रतीत होती है। इसलिए उन पर गौड पाद की भाँति प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप लगाया जाता है।

पद्मपुराण में कहा है कि ईश्वर ने पार्वती पर प्रकट किया कि माया की प्रकल्पना एक मिथ्या सिद्धान्त है और बौद्धमत का ही प्रच्छन्न रूप है, हे देवि!

मैने ही कलियुग में एक ब्राह्मण का रूप धारण करके इस प्रकल्पना का प्रचार किया है।[१] यामुनाचार्य की भी जो रामानुज के आध्यात्मिक प्रपितामह थे, यही सम्मति है और इसी सम्मति को रामानुज ने भी दोहराया है।[२] सांख्यदर्शन पर टीका करते हुए विज्ञानभिक्षु कहता है" एक भी ब्रह्म सूत्र ऐसा नहीं है जिसमें कहा गया हो कि हमारा बन्धन केवल अज्ञान के कारण है। जहाँ तक माया की विलक्षण प्रकल्पना का सम्बन्ध है जिसका प्रचार अपने को वेदान्ती कहने वालों ने किया है, यह केवल बौद्धों के विषयी विज्ञानवाद का ही रूप है। यह प्रकल्पना वेदान्त का मन्तव्य नहीं है।[३]

यह स्पष्ट है कि शंकर के मायावाद की कटट्रता को सिद्ध करने के कुछ काल पश्चात् ही इस मत के विरोधियों ने कहना प्रारम्भ किया कि बौद्धमत के प्रच्छन्न रूप से अधिक कुछ नहीं है और इसलिए वेदों के अनुकूल नहीं है। पद्मपुराण में आगे चलकर उसी अध्याय में शिव के ये शब्द आते हैं : "उस महान् दर्शन अर्थात् माया के सिद्धान्त को वेदों का समर्थन प्राप्त नहीं है यद्यपि उसके अन्दर वेदों के सत्य अवश्य निहित है।[४] उक्त सब अनुमान इस विषय का संकेत करते हैं कि शंकर ने अपने वेदान्तदर्शन में कतिपय बौद्ध धर्म के अंशों का समावेश किया जैसे कि माया का सिद्धान्त तथा वैराग्यवाद। यह भी कहा जाता है कि विचार धारा के अविच्छिन्न रूप को सुरक्षित रखने के प्रति अपने प्रयास में उन्होंने तार्किक दृष्टि से परस्पर असंगत कुछ विचारों को भी संयुक्त करने का प्रयत्न किया। शंकर के मस्तिष्क की नमनशीलता तथा उनकी सच्ची सहिष्णुता के भाव के पक्ष में यह विषय कितना ही विश्वसनीय क्यों न हो यह उनकी विचारधारा की तार्किक उग्रता के ऊपर असर किए बिना न रह सका और माया के सिद्धान्त ने उनके दर्शन के अन्तर्गत छिद्रों को ढकने के लिए चोले का काम किया। इस सबके होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं कि शंकर ने अपने दर्शन का परिष्कार उपनिषदों तथा वेदान्त-सूत्र के आधार पर किया जिसमें बौद्ध दर्शन का कोई उल्लेख नहीं है।[५] भारत के धार्मिक इतिहास के निरन्तर मिथ्या अध्ययन

---

१. मायावादसच्छास्त्रम् प्रच्छन्नं बौद्धमेव च। मयैवकथितं देवि। कलौ ब्राह्मणरूपिणा।
सर्व०दर्शन उत्तर खण्ड, पृ० २३६.

२. जर्नल आफदी रायल एशियातिक सोसाइटी, १९१०, पृ० १३२.

३. सांख्य प्रवचन भाष्य १:२२.

४. वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादवैदिकम्.

५. वितण्डाकथामालम्ब्यखण्डानां वक्तव्यत्वात्.

किए जाने का ही परिणाम यह हुआ कि यह विश्वास सर्वसाधारण के अन्दर प्रचलित हो गया कि बौद्धमत वेदों के विरुद्ध तथा विदेशी है। बौद्ध-दर्शन के विषय में विचार-विमर्श करते हुए हमने बार-बार इस विषय पर बल दिया है कि बुद्ध ने उपनिषदों के ही कुछ विचारों का परिष्कार किया है बुद्ध को विष्णु के अवतारों में सम्मिलित करने का यही आशय है कि उसका प्रादुर्भाव वैदिक धर्म की स्थापना के लिए हुआ था न कि उसके ऊपर कुठाराघात करने के लिए। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध दर्शन तथा अद्वैतवेदान्त के विचारों में समानताऐं है। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है जबकि हम इस तथ्य को देखते हैं कि उक्त दोनों ही दर्शन-पद्धतियों की पृष्ठभूमि में उपनिषदें हैं।

शंकर तो इस तथ्य से स्पष्ट रूप में अभिज्ञ थे यद्यपि बुद्ध इस तथ्य से अभिज्ञ प्रतीत नहीं होते। शंकर बुद्ध की भाँति स्वतन्त्र विचार के प्रति आदरभाव रखते हुए भी परम्परा के लिए महती श्रद्धा रखते थे। दार्शनिक दृष्टि से उन्हे इस विषय का निश्चय हो गया कि कोई भी आन्दोलन निषेधपरक भाव के आधार पर फल-फूल नहीं सकता और इस प्रकार उन्होंने श्रुति के आधार पर ब्रह्म की यथार्थता का बलपूर्वक प्रतिपादन किया। बौद्धों का प्रतीतिवाद माया के सिद्धान्त की ही कोटि का है।शंकर घोषणा करते हैं कि यह आनुभाविक जगत् है भी और नहीं भी है। इसका अन्तर्वर्ती अस्तित्व है जो दोनों ही है अर्थात् भी और नहीं भी है। बुद्ध चरमसीमा के दोनों ही विचारो का खण्डन करते हैं जिनके अनुसार हर एक वस्तु है और हर एक वस्तु नहीं भी है और अपना मत प्रकट करते हैं कि केवल 'परिणमन' का ही अस्तित्व है।[६] शंकर परमार्थ सत्य तथा व्यावहारिक सत्य के अन्दर जो भेद हैं उसे स्वीकार करते हैं और यह मत बौद्ध-धर्म का अभिमत परमार्थ तथा संवृत्ति के अन्दर के भेद के ही अनुकूल हैं।[७] प्राचीन बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण भावात्मक था और उसने जो कुछ हम प्रत्यक्ष देखते हैं, उस तक ही अपने को सीमित रखा। कुछ प्राचीन बौद्ध तो यहाँ तक बढ़ गए कि उनके अनुसार इस प्रतीयमान जगत् की पृष्ठभूमि में कुछ भी नहीं है। केवल हमारे ही लिए कुछ नहीं, किन्तु सर्वथा कुछ नहीं है। हिन्दू होने के नाते शंकर का दावा है कि अपने प्रतीयमान रूप की असंन्तोष प्रदाता के परे एवं अपने गम्भीरतम गह्वर

---

६. देखें–भारतीय दर्शन खण्ड-२, पृष्ट-३२१. संयुक्त निकाय २२:९०, १६.

७. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना लोक संवृत्तिसत्यं च सत्यं परमार्थतः।। श्लोक वार्तिक

में यथार्थ आत्मा है जिसमें सर्वप्रकार की विशेषताऐं निहित हैं। किन्तु तो भी शंकर का मोक्ष-सम्बन्धी विचार बौद्ध धर्म के निर्वाण से अधिक भिन्न नहीं है।[८] यदि हम प्राचीन बौद्ध धर्म में एक निरपेक्ष ब्रह्म के यथार्थ अस्तित्व को प्रविष्ट कर दें तो फिर भी हम अद्वैतवेदान्त पर ही आ जाते हैं।शंकर को बौद्ध-विचार के वास्तविक औचित्य तथा प्रतिबन्धों पर पूरा अधिकार प्राप्त था और यदि कहीं-कहीं हमें बौद्ध-धर्म के सम्प्रदायों पर की गई उनकी समीक्षा से विरोध प्रकट करने की प्रवृत्ति होती है तो हमें यह भी न भूलना चाहिए कि उन्होंने जो कुछ भी लिखा, बुद्ध की शिक्षाओं पर नहीं, अपितु उस समय के प्रचलित बौद्ध धर्म सम्बन्धी विचारों के ऊपर लिखा।[९]

विवर्तवाद एवं परिणामवाद :-

भारतीय दर्शनों में कार्य-कारणवाद का बहुत अधिक महत्व है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार विवर्तवाद के अनुसार सृष्टि की रचना हुई है। सांख्य एवं योग के अनुसार परिणामवाद अर्थात् प्रकृति से परिणाम तथा विकार से सृष्टि की रचना मानी जाती है। अद्वैतवेदान्त में इस परिणामवाद का खण्डन किया जाता है। परिणामवाद को परमाणुओं से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अचेतन प्रकृति (प्रधान) बिना किसी चेतन सत्ता का आश्रय लिए हुए प्रवृत्त नहीं हो सकता। स्वर्णादि से जो कंगन आदि बनाने के लिए उपादान कारण है। इन आभूषणों का निर्माण करने के समय स्वर्णकार आदि चेतन आधार प्राप्त होते हैं। सुख-दु:ख और मोह के रूप से युक्त होना आदि जो साधन के रूप में प्रस्तुत किया। उसकी व्याप्ति तो साध्य के विरुद्ध स्थानों में भी है। यहाँ सांख्यों के अनुसार साध्य है—चेतन सत्ता का बिना सहारा लिए हुए ही प्रकृति का सुख-दु:ख और मोहात्मक पदार्थों का कारण होना। इसका उल्टा है चेतन सत्ता का सहारा लेकर सुख:दुख और मोहात्मक पदार्थों का कारण बनना। उपर्युक्त साधन लेकर सुख-दु:ख और मोह से युक्त होना इसी साध्य विपर्यय से व्याप्त होता है। दूसरे शब्दों मे सुखादि से युक्त नहीं होगा जो चेतन का सहारा लेकर सुखादि से युक्त पदार्थों का कारण बन सकता है यदि साधन साध्याभाव से व्याप्त हो तो विरुद्ध हेतु नाम का हेत्वाभास होता है। अतः यहाँ पर उसी प्रकार का विरुद्ध हेतु है जिस तरह किसी वस्तु का नित्य सिद्ध करने के लिए हेतु दें कि यह उत्पन्न होती है। उत्पन्न होने से तो कोई व्स्तु अनित्य साध्याभाव ही सिद्ध हो जायगी नित्य नहीं। उसी

८. वासनात्यन्तविरामः जीवात्मा के ब्रह्म के साथ तादात्म्य का साक्षात्कार (सोऽय अथवा अहं ब्रह्मास्मि) में शून्य हूँ (शून्यत्वैवाहम्).

९. भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन् पृ० ४०६-४०७.

तरह सांख्यों के द्वारा, यह सिद्ध करने के लिए कि प्रकृति चेतन की सहायता नहीं लेते हुए भी सुखादि से युक्त पदार्थों को उत्पन्न करती है, दिया गया साधन ठीक उल्टी वस्तु को ही सिद्ध कर देगा।[१०]

यह उक्त मान्यता स्वरूपासिद्ध भी है यह सुख-दुःख और मोह आन्तरिकभाव है तथा मन के द्वारा ज्ञेय है। इसलिए ये जो चन्दन आदि बाह्य पदार्थ चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य है। इसलिए चन्दन आदि दूसरे साधनों के रूप में ज्ञेय होते हैं तथा सुख-दुखादि उनसे अलावा ज्ञेय रूप में प्रतीत होते हैं। इस लिए उपर्युक्त स्वरूपासिद्ध हेतु है। जो हेतु पक्ष में न रहे–जैसे-यह कहा जाये कि शब्द एक गुण है क्योकि वह चाक्षुष है यहाँ चाक्षुषत्व हेतुशब्द में नहीं रहता है इसी प्रकार सुख-दुःख और मोह में जो हेतु प्रदर्शित किया गया है, वह उनमें असिद्ध हो जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है[११]

प्रधान एवं प्रकृति की सिद्धि के लिए श्रुतिप्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। जैसे कि कहा है कि अग्नि का जो लालरूप है वह तेज का रूप है,श्वेत रूप जल का है तथा काला रूप अन्न का है, यह छान्दोग्य में कहा गया है। इस प्रकार तेज, जल और अन्नरूपी प्रकृति के लाल उजला और काला ये तीन रूप दिये गए हैं, वे तीनो रूप ही यहाँ भी प्रत्यभिज्ञा से जाने जाते हैं। यहाँ पर एक तो वैदिक प्रत्यभिज्ञा प्रबल है, दूसरे लोहित आदि शब्दों का मुख्यार्थ ग्रहण करना सम्भव भी है। सांख्य में लोहित आदि शब्दों का मुख्यार्थ न लेकर लक्षणा से रंजकत्व आदि धर्मों की समानता देखकर इनका अर्थ रजस् सत्त्व, तमस् तीन गुण के रूप में किया गया है। परन्तु शंकराचार्य इनका खण्डन करके कहते हैं कि जब मुख्य अर्थ लेना सम्भव ही है, तब लक्षणा क्यों लें?

इसलिए इस श्रुति का अर्थ यही हुआ कि तेज, जल और अन्नरूपी प्रकृति ही जरायुज (गर्भ से उत्पन्न) अण्डज (पक्षी, सर्प, मच्छली आदि), स्वेदज (पसीने या गर्मी से उत्पन्न कीड़े, मच्छर, खटमल आदि) तथा उद्भिज (पृथ्वी को फाड़कर निकलने वाले-पेड़ पौधे) इन चारों प्रकार के जीव समूह का कारण है।

---

१०. सोऽयं परिणामवादः प्रामाणिकगर्हणमर्हति। न ह्यचेतनं प्रधानं चेतना नधिष्ठितं प्रवर्तते। सुवर्णादौ रुचकाद्युपादाने हेमकारादि चेतनाधिष्ठानोपलम्भेन नित्यत्वासाधक कृतकत्त्ववत्सुखदुःखमोहात्मनत्वितत्वादे..........विरुद्धत्वात्। सर्वदर्शन संग्रह शंकर दर्शन, पृ० ६३१.

११. स्वरूपासिद्धात्वाच्च। आन्तराः खल्वमी सुखदुःखमोहा ब्राह्येम्यश्चन्दनादिभ्यो विभिन्न प्रत्यय वेदनीयेभ्यों व्यत्तिरिक्ता अध्यक्षमीक्ष्यन्ते। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६३२.

कार्य-कारण का सिद्धान्त विवेचन करते हुए शंकर ने कहा है कि कारण-सम्बन्धी स्वरूप को स्वभाव अथवा सामान्य या व्याप्ति प्रतिपादन करते हैं जबकि कार्य को एक उपाधि, अवस्था अथवा विशेष मानते हैं।[१२] इस जगत् में अनेक सामान्य अपने विशेषों सहित हैं, चैतन्य सहित तथा चैतन्य विहीन। ये समस्त सामान्य अपनी श्रेणीबद्ध श्रृंखलाओं में एक ही सामान्य में अर्थात् ब्रह्म की बुद्धि के पुञ्जस्वरूप के अन्तर्गत है, और इसी रूप में उनका बोध ग्रहण होता है।[१३] इस सर्वव्यापक यथार्थसत्ता के स्वरूप को समझ लेने का तात्पर्य यह है कि उसके अन्तर्गत जितने विशेषण है उन्हे भी समझ लिया।[१४]

शंकर ने न्याय वैशेषिक के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि कार्य ऐसी वस्तु है जो कारण में नहीं रहती, इस सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि कार्य को अपने से अभिव्यक्त होने से पूर्व कारण रूप में अवश्य रहना चाहिए क्योंकि कोई भी पदार्थ जो पहले उपस्थित नहीं होता है, वह उत्पन्न नहीं हो सकता है, जैसे बालू को दबाकर उसमें से तैल नहीं निकाला जा सकता। यदि कार्य-कारण अन्दर अन्तर्निहित नहीं है तो कार्य को किसी भी प्रकार से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। एक प्रकार से उसको उत्पन्न करना असम्भव है। जो कार्य उत्पन्न करता है वह केवल इतना ही करता है कि कारण को कार्य के रूप में परिणत कर देता है। यदि कार्य अभिव्यक्त होने से पूर्व न होता, तो कर्ता कार्य को उत्पन्न करता है। इसका प्रयोजन ही न रहता, यदि यह माना जाए कि कार्य को कारण का अपने से परे विस्तृत रूप में अवस्थित है, जो कि उसके अन्दर समवाय-सम्बन्ध से रहता है। इसका यह अर्थ हुआ कि कार्य वहाँ नये रूप में उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिए शंकर ने कहा है कि कर्ता की क्रिया का उद्देश्य यह समझना चाहिए कि वह कारण रूप द्रव्य को कार्य के रूप में लाने की व्यवस्था करती है। कारण और कार्य में नैरन्तर्य भाव है अर्थात् ऐसा समय कभी नहीं आता कि कारण अपरिवर्तित रूप में बना रहे। क्योंकि यदि कारण कुछ समय तक इसी प्रकार अपरिवर्तित रूप से बना रहे और तब हठात् परिवर्तित हो

---

१२. शांकर भाष्य २:३, ९.

१३. अनेक हि विलक्षणाः चेतनाचेतनरूपाः सामान्यविशेषाः तेषां पारम्पर्यगत्या एकस्मिन्, महासामान्ये अन्तर्भावः प्रधानघने......

(शांकर भाष्य, वृहदारण्यक उपनिषद्-२:४, ९).

१४. सामान्यस्यच ग्रहणेनैव तद्गता विशेषा गृहीता भवन्ति

(शांकर भाष्य, वृहदा० उप०-२:४,७).

तो इस आकस्मिक परिवर्तन का कोई कारण होना चाहिए जिसे हम नहीं जानते। इसलिए यह कहा गया है कि कारण निरन्तर कार्यरूप में परिवर्तित होता रहता है। यदि कारण-कार्य भाव निरन्तर रहने वाली वस्तु है तब कारण और कार्य दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं नहीं हुई और हम यह भी नहीं कह सकते कि एक दूसरे के रूप में परिणत हो जाता है। यह कहा गया है कि कार्य के अपने अन्दर एक प्रकार का अतिशय रहता है।[१५] अर्थात् कार्य की ओर बढ़ने की शक्ति जिसके द्वारा यह कार्य को व्यक्त रूप में ला सकता है।शंकर का कहना है यदि अतिशय से तुम्हारा तात्पर्य कार्य की उस पूर्ववर्ती अवस्था से हैं तो तुम अपने उस सिद्धान्त को छोडते हो कि कार्य-कारण के अन्दर विद्यमान नहीं रहता। यदि इससे तुम्हारा तात्पर्य कारण की किसी ऐसी शक्ति से हैं जिसकी कल्पना इस तथ्य की व्याख्या के लिए की गई है कि एक ही निर्णीत कार्य कारण से उत्पन्न होता है तब तुम्हें अवश्य मानना पड़ेगा कि यह शक्ति एक विशेष कार्य का ही निर्णय कर सकती है यदि यह न तो अन्य (अर्थात् कारण तथा कार्य के अतिरिक्त) है और न असत्स्वरूप ही है। क्योंकि यदि यह इन दोनों में से एक होती तो यह अन्य किसी वस्तु से भिन्न न होती जो या तो असत् है अथवा कारण तथा कार्य से भिन्न है (और तब यह किसी कार्य विशेष को उत्पन्न न कर पाती) परिणाम यह निकला कि वह शक्ति उस शक्ति के अपने ही समान है।'' इसके अतिरिक्त कारण केवलमात्र कार्य के अन्दर विद्यमान न हो तो कार्य दिखाई नहीं दे सकता। मिट्टी के पात्र के अन्दर मिट्टी बराबर वर्तमान रहती है तथा कपड़े के अन्दर धागे भी बराबर विद्यमान रहते हैं। कारण और कार्य ऐसी दो भिन्न-भिन्न वस्तुऐ नहीं हैं जिन्हे घोड़े तथा गाय की भांति पृथक्-पृथक् देखा जा सके। व्यक्त होने से पूर्व जो कार्य की अवस्था है और व्यक्त होने के पश्चात् जो अवस्था है इनका परस्पर भेद सापेक्ष है कारण तथा कार्य एक ही वस्तु के दो भिन्न-भिन्न रूपों को प्रकट करते हैं और वस्तुतः एक ही प्रकृति के हैं।[१६] यह कहा जाता है कि दो वस्तुएं जब उनकी आकृतियों में परिवर्तन होता है तो व्यक्त होने तथा विलय होने से एक ही स्वरूप की नहीं हो सकती।शंकर का कहना है कि यह तर्क निरर्थक है। ''व्यक्त होना बीजों से पौधों के उत्पन्न होने के समान उस पदार्थ का जो पहले से विद्यमान था केवल परिणमनमात्र है एवं तत्समान अवयवों के एकत्र हो

---

१५. शांकर भाष्य २:१, १८.

१६. शांकर भाष्य २:१, १७.

जाने से सोपाधिक है, और इसी प्रकार विलय भी केवल दृश्य अवस्था में परिणमन का नाम है जो उन्हीं अवयवों के तिरोभाव के कारण होता है।

यदि हमारा काम उनके अन्दर सत् से असत् और असत् से सत् की ओर संक्रमण को पहचानने का है तब भ्रूण पीछे से उत्पन्न मनुष्य से भिन्न होता, एक युवा पुरुष बाल सफेद हो जाने पर बदल जाया करता और एक व्यक्ति का पिता अन्य किसी व्यक्ति का पिता नहीं हो सकता था।[१७]

बाह्यप्रतीति के कारण कोई वस्तु परिवर्तित नहीं होती। देवदत्त चाहे अपनी भुजाएं फैलाए चाहे सिकोड़ ले, रहेगा वही देवदत्त। द्रव्य अपने में बने रहते हैं, उदाहरण के रूप में दूध खट्टा हो जाने पर भी दूध तो बना ही रहता है इत्यादि। उनका नाम कार्य हो जाता है, और हम कार्य का कारण से भिन्न रूप में चिन्तन नहीं कर सकते चाहे हम सौ वर्ष भी प्रयत्न करें। स्थिति यह है कि आदि कारण जो अन्तिम कार्य तक किसी न किसी कार्य के रूप में प्रकट होता है अपने व्यक्त होने से पूर्व विद्यमान रहता है और कारण रूप ही होता है।[१८]

शंकर अपने मत को वस्त्र के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं और तर्क करते हैं कि जब तक वस्त्र एक थान के रूप में लिपटा हुआ रहता है हम यह नहीं जान सकते कि यह कपड़ा ही है या कोई और वस्तु है और यदि यह जान भी जाएं तो भी उसकी लम्बाई व चौड़ाई का तो ज्ञान होता ही नहीं, किन्तु उस थान के खुलने पर ही पता लगता है कि यह कपड़ा है और इसकी लम्बाई-चौड़ाई क्या है। जिस प्रकार लिपटा हुआ वस्त्र तथा खुला हुआ वस्त्र एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं इसी प्रकार कारण तथा कार्य परस्पर भिन्न नहीं है।[१९] कोई भी द्रव्य एक भिन्न रूप में प्रकट होने से अपने स्वरूप को नहीं छोड़ देता। प्रत्येक परिवर्तन किसी वस्तु का तथा उस वस्तु के अन्दर का परिवर्तन है। परस्पर असम्बद्ध वस्तु विषयों के केवल एक-दूसरे के पश्चात् क्रम में आने से ही, जिनमें किसी सामान्य रूप से कोई बन्धन नहीं है, वह परिवर्तन नहीं कहलाता। जो कुछ भी होता है वह केवल आकृति का परिवर्तन है। दही व मट्ठे के रूप में दूध की निरन्तर उपस्थिति तथा वृक्ष में बीज की स्थिति रूपनिरन्तरता माननी ही पड़ती है, चाहे यह प्रत्यक्ष रूप में दिखाई दे, जैसा कि दूध व दही की अवस्था में

---

१७. शांकर भाष्य २:१; १८. ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त, पृ० २५८-२५९.

१८. शांकर भाष्य २:१, १८.

१९. शांकर भाष्य २:१, १९.

अथवा न दिखाई दे जैसे कि बीज व वृक्ष के दृष्टान्त में। यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि कारण ही एकमात्र यथार्थता है और कार्य सब प्रतीति मात्र है।[२०] शंकर का अभिमत सिद्धान्त है कि कारण और कार्य भिन्न-भिन्न नहीं है।[२१] वे संक्रमण की क्रियाओं को कारणों से कार्यों में जो यथार्थ सत्ता के सम्पूर्ण विकास के अन्तर्गत रहते हैं, अनुपूर्व क्रम के एक निश्चल सम्बन्ध में परिणत करते हैं जो कुछ प्रकार के तार्किक तथा विचारात्मक सम्बन्ध में विशेष रूप से पाया जाता है।

ब्रह्म :-आचार्यशंकर ने ब्रह्म की सिद्धि श्रुतिप्रमाणों के द्वारा की है। जो वेद उपनिषद् और षड्दर्शन की परम्परा द्वैतवाद की चल रही थी उसकी नवीन व्याख्या उन्होंने अपने भाष्यों में की हैं। वे ब्रह्म के अन्दर कर्तव्य आदि गुणों को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि ब्रह्म को सृष्टिरचना का निमित्त कारण माना जाए तो ब्रह्म में कर्तृत्वादि गुणों को स्वीकार करना होगा। उनके मत में ब्रह्म को निमित्त कारण मानने पर दूसरी आपत्ति यह आती है यदि ब्रह्म केवल निमित्त कारण है तो सृष्टि रचना के लिए उपादान कारण प्रकृति को भी स्वीकार करना पड़ेगा जो उनको अमान्य है। आचार्यशंकर ब्रह्म मे कोई भी कर्तृत्वादि गुण स्वीकार न करने पर भी ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण स्वीकार करते हैं जैसे कि यह सर्प है उससे भयभीत होते हैं। इसी प्रकार आचार्यशंकर और उसके अनुयायी शुक्ति में रजत ज्ञानादि का उदाहरण देते हैं। रज्जु सर्प का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी है। अत : रज्जु सर्प का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार शुक्तिका और रजत के उदाहरणों में भी जान लेना चाहिए। उपर्युक्त दृष्टान्तों के अनुसार ब्रह्म भी जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। ऐसा सिद्ध करने के लिए आचार्यशंकर अध्यास का आश्रय लेते हैं। उनका कथन है कि स्मृतिरूप पूर्व दृष्ट का अन्य में (अधिष्ठान में) अवभास (प्रतीति) नहीं अध्यास है। कुछ लोग एक में दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास मानते हैं।[२२] जैसे शुक्ति रूप अधिष्ठान में अज्ञान से कल्पित होने के कारण रजत अध्यस्त है अथवा रज्जु रूप अधिष्ठान में अज्ञान कल्पित सर्प का

२०. शांकर भाष्य २:१, १९.

२१. कार्य-कारण भेद अथवा तादात्म्य अथवा अनन्यत्व। देखें शांकर भाष्य भाष्य २:१, १४, १:४, १४. और गौड पाद कृत आदि का ३:१५. सुरेश्वस्कृत बार्तिक-पृ० २५८.

२२. आह कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते स्मृतिरूप: परत्र पूर्व दृष्टावभास:। ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य).

अध्यास है। अध्यास को दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है। स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास।[२३] जिस अधिष्ठान में जिस धातु का अध्यास होता है। जैसे कि रज्जु के गुण सर्प में नहीं होते हैं।

उपनिषद् वचनों से आचार्यशंकर केवल ब्रह्म की ही सत्ता सिद्ध करते हैं। उनमें से मुख्य वचन इस प्रकार है। जैसा कि वृन्दारण्यक में कहा गया है कि जो कुछ भी है वह सब वह आत्मा ही है।[२४] छान्दोग्य की मान्यता है कि यह सब ही जो कुछ है सो सब ही यह आत्मा है।[२५] इसी विषय में मुण्डकोपनिषद् का कहना है कि ब्रह्म ही अमृत है और ब्रह्म ही सब कुछ है। ब्रह्म को छोड़कर कुछ भी नहीं है।[२६]

जगत् में नाना कुछ भी नहीं है। केवल ब्रह्म ही है।[२७] आचार्यशंकर उपनिषदों के कुछ वचनों को महावाक्य नाम से कहते हैं। संभवतः महावाक्य यह नाम उन्ही का दिया हुआ है। उनकी मान्यता है कि इन महावाक्यों द्वारा भी ब्रह्म ही केवल निरपेक्ष[२८] और परमसत्ता है। इन महावाक्यों का क्रमशः आचार्यशंकर के अनुसार अर्थ प्रस्तुत किया जाता है। सर्वप्रथम यह ब्रह्म ही था उसने अपने आपको जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवों में से जानने वाला वृहत्रूप हो गया। उसे आत्मरूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना कि इस ब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ।[२९] इस वचन पर आचार्यशंकर भाष्य करते हुए कहते हैं कि यहाँ ब्रह्म शब्द से ऊपर ब्रह्म अभिप्रेत है क्योंकि उसी में सर्वभाव का साध्यत्व सम्भव है। इससे आगे कहा गया है कि वह यह ब्रह्म अपूर्व (कारण सहित) अनपर (कार्य रहित) अनन्तर और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है।[३०] आचार्यशंकर इस वचन

२३. 'शुक्तौइदं रजतम्' नेदं "रजतम्" (शांकर भाष्य, सत्यानन्दी दीपिका, पृ० ५)
२४. इदं सर्व यदयात्मा पृ० २.४.६.
२५. आत्मैवेदं सर्वम् छा० ७.२५.२.
२६. ब्रह्मैवेदभृतं पुरुस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्मदक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं बरिष्ठम्।। मुण्डकोपनिषद् २.२.११.
२७. नेह नानास्ति किंचन.
२८. सर्वं खल्विदं।। ब्रह्म छा० ३.१४.१.
२९. ब्रह्मणा इदमग्र आसीत् तादात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्।
वृहदारण्यक उपनिषद् १.४.१०.
३०. तदेतत् ब्रह्म पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।। (वृहदार).

के भाष्य में कहते हैं कि वह निरन्तर ब्रह्म कौन है? जो प्रत्यागा द्रष्टा श्रोता, मन्ता, बौद्धा, अर्थात् जानने वाला और सर्वान्नुभू है, उसका न कोई कारण है, वह आत्मा ही है। अगले महावाक्य में कहा गया है कि पहले यह पुरुष आत्मा ही था। उसने आलोचना करते हुए अपने से भिन्न कोई न देखा। उसने आरम्भ में 'अहमस्मि' अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूँ।[३१] इससे अगले महावाक्य में भी इसी भाव को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि वह यह जो अणिमा है एतद् रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है। हे श्वेतकेतु वही तू है। इस पर शंकर का कहना है कि जिस आत्मा से यह समस्त जगत् आत्मसात् है वही सत् संज्ञक है। कारण सत् अर्थात् परमार्थ सत् है।[३२] अर्थात् वह आत्मा ही जगत् का प्रत्यक् स्वरूप है। सतत्व याथात्म्य है। जिस प्रकार गौ आदि में रूढ़ है। उसी प्रकार उपपद रहित आत्मा शब्द प्रत्यगात्मा में रूढ़ है। अतः हे श्वेतकेतु वह सत् तू है।[३३]

यह जो समस्त जगत् दृश्यरूप दिखलाई दे रहा है वह सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म है। जो निर्विशेष है वही परमार्थतः सत् है। उसके अतिरिक्त जितने भी ज्ञाता, ज्ञेय आदि भेद है वे सब कल्पित और मिथ्या है।[३४]

आचार्यशंकर ब्रह्म को किसी भी प्रकार से सविशेष स्वीकार नहीं करते हैं अर्थात् वे निर्विशेष और निर्गुण मानते हैं। निर्गुणशब्द से अभिप्राय है कि उस ब्रह्म में किसी भी प्रकार का गुण नहीं है अर्थात् वह ब्रह्म गुण विहीन है। जो वाक्य उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप को बतलाते हुए सविशेष रूप में बतलाते हैं आचार्यशंकर इनका अर्थ विधेय्रात्मक न करके निषेधात्मक पद्धति से कहते हैं। जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रहा को सत्य ज्ञान का अनन्त विशेषणों या गुणों वाला कहा है।[३५] सत्य का अर्थ आचार्यशंकर करते हैं कि ब्रह्म असत्य नहीं हैं अर्थात् वह विकार रहित है।[३६] इसी प्रकार ज्ञान का अर्थ भी उनकी दृष्टि में ज्ञान गुण नहीं अपितु उसमें अज्ञान नहीं और अनन्त का अभिप्राय है वह ब्रह्म सान्त

---

३१. आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुष विधः........नामाभवत्। वृहा० उप० १.४.१.

३२. स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वतत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। छा०उप० ६.८.७.

३३. येन चात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत्तदेव..........यथात्म्यम्।। छा० ६.८.७-शांकर भाष्य.

३४. अशेषविशेष प्रत्यनीक चिन्मात्र ब्रंह्मैव परर्माथतः तदतिरिक्त नानाविध जातृज्ञेयतत्कृत ज्ञानभेदादि सर्वैतस्मिन्नेव परिकल्पित मिथ्याभूतम्।। वेदान्तसार, शांकर भाष्य.

३५. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्र०व०, प्रथम अनुवाक.

३६. अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्मविकारान्निर्वर्वयति। तै०उ० शांकर भाष्य.

नहीं हैं।[३७] आचार्यशंकर ब्रह्म को परब्रह्म और अपरब्रह्म दो रूपों में मानते हैं। उनका कथन हैं कि पर ब्रह्म में स्वत: ही उभयलिंगत्व नहीं हो सकता। यह नहीं हो सकता है कि एक ही वस्तु स्वत: ही रूप आदि विशेषण वाली भी हो और इसके विपरीत भी हो।[३८] आगे उन्होंने कहा है कि अपरब्रह्म का प्रतिषेध और परब्रह्म का प्रतिषेध तो नहीं हो सकता है, अन्यथा शून्यवाद सिद्ध हो जाएगा।[३९] जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आये हैं कि आचार्यशंकर ब्रह्म को सभी विशेषणों से रहित और निर्विकल्प मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि उपनिषदें ब्रह्म की निर्विशेष ही स्वीकार करती है।[४०] ब्रह्म तो सब विशेषणों से रहित निर्विकल्प ही है। उनके मत में ब्रह्म को ऐसा ही उपनिषदों ने स्वीकार किया है।

सर्वदर्शनकार ने ब्रह्म के विषय में शंकर के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इसलिए ब्रह्म की जिज्ञासा होती है। जिसमें ब्रह्ममीमांसा (वेदान्तशास्त्र) के आरम्भ का प्रतिपादन किया गया है। अधिकरण में पाँच खण्ड होते हैं यह प्रसिद्ध ही है। आत्मा का दर्शन करना चाहिए यह वाक्य विषय है। ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए या नहीं-यह सन्देह है जिज्ञासा के लिए सन्देह और प्रयोजन दोनों ही आवश्यक है। किसी पक्ष में इन में इन दोनों के रहने से जिज्ञासा सम्भव है, कभी अकेले के रहने से असम्भव भी हो सकती है। सन्देह वहीं होता है जहाँ किसी की सम्भावना और असम्भावना दोनों हों। जिज्ञासा के साथ भी यही बात है। कहीं तो जिज्ञासा सम्भव है, कहीं असम्भव भी। कारण यह है कि किसी की जिज्ञासा तभी हो सकती है, जब उसके विषय में सन्देह भी हो और जिज्ञासा का प्रयोजन (फल) भी मिले। जिस अर्थ के विषय में सन्देह नहीं है, वस्तु पूर्ण निश्चित है, उसमें प्रयोजन रहने पर भी उसकी जिज्ञासा नहीं होती क्योंकि वह वस्तु तो ज्ञात ही है। उसी तरह जहाँ जिज्ञासा का फल कुछ नहीं हो वहाँ वस्तु सन्दिग्ध होने पर भी जिज्ञासा नहीं होती, क्योंकि

---

३७. द्रष्टव्य तैत्तिरीयोपनिषद् पर शांकर भाष्य.

३८. न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते। न ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादि विशेषोपेत तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात्। ब्रह्म सूत्र ३.२.११ पर शांकर भाष्य.

३९. न तावद् उभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवाद प्रसंगात् ब्रह्मसूत्र ३.२.२१ पर शांकर भाष्य.

४०. अतश्चान्यरलिंगपरिग्रहे अपिसमस्त..................ब्रह्मनोपदिश्यते। ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य ३.२.११.

वह ज्ञान निर्थक हो जाएगा। इसलिए जहाँ दोनों नहीं होंगे वहाँ जिज्ञासा नहीं होगी। जहाँ दोनों होंगे वहाँ जिज्ञासा हो सकेगी।[४१]

सर्वदर्शन संग्रह में ब्रह्म की सिद्धि के लिए कहा है कि ब्रह्म किस प्रमाण से सिद्ध होता है। इस विषय में स्पष्ट किया है कि यह सत्य है कि ब्रह्म प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता है, आगम प्रमाण से सिद्ध हो सकता है।[४२] श्रुति वाक्यों में यह स्पष्ट किया गया है कि जो श्रुति वाक्य ब्रह्म को ज्ञान का विषय मानते हैं उनमें यह स्पष्ट वर्णन मिलता है कि ये वाक्य दो प्रकार के हैं। उनमें प्रथम प्रमाण के रूप में वे श्रुतिवाक्य आयेंगे जो यह स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म क्या-क्या नहीं है। दूसरे प्रकार के वे श्रुति प्रमाण है जो यह सिद्ध करते हैं कि ब्रह्म का साक्षात्कार तभी सम्भव है जब अज्ञान नष्ट हो जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि अन्तः करण बुद्धि के रूप में आकार, अपने अन्तर्गत चिदाभास को लेकर किसी विषय को व्याप्त करता है बुद्धि की व्याप्ति से अज्ञान का नाश (आवरणभङ्ग) होता है। तथा चिदाभास की व्याप्ति से विषय (घटादि) का स्फुरण (प्रकाशन) होता है। बुद्धि अचेतन होने के कारण स्वयं घटादि का प्रकाशन नहीं कर सकती। घटादि ज्ञान की यही विधि है।[४३] अब ऊपर कहा गया है कि श्रुतियाँ ब्रह्म की ज्ञानगोचरता का विधान भी करती है, निषेध भी, निषेध इसलिए करती है कि स्फुरण अर्थात् ज्ञान में ब्रह्म के आकार का समर्पण सम्भव नहीं है। अज्ञान का नाश होने पर आत्मा अपने आप स्फुरित होती है यही कारण है, स्फुरण वाक्य से उत्पन्न ज्ञान का फल नहीं हो सकता। चिदाभास की व्याप्ति से आत्मा कर स्फुरण नहीं होता। इसलिए 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि वाक्य हैं। दूसरी ओर, कुछ वाक्यों में ब्रह्म को ज्ञानगोचर माना गया है। वह इसलिए कि ज्ञान का पहला फल जो अज्ञान नाश है वह तो सम्भव नहीं है। अज्ञान-नाश बुद्धि की व्याप्ति से ही होता है इसलिए उसकी सम्भावना में कोई आपत्ति नहीं। फलतः दोनों प्रकार की श्रुतियों का समन्वय होता है।

इस श्लोक को स्पष्ट करते हुए बड़े-बड़े आचार्यों ने कहा है कि ब्रह्म श्रुति

---

४१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मसूत्र १/१/१.

४२. प्रत्यक्षापद्यसम्भवेऽपि आगमस्य सत्त्वात्। पतो वाचो निवर्तन्ते इति।।

४३. बुद्धि तत्स्थ चिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।। पचंदशी-७/९१.

का विषय इसलिए नहीं बन सकता, क्योंकि ब्रह्म पर स्फुरणरूपी फल का आरोपण (उत्पादन) श्रुति नहीं कर सकती, ब्रह्म तो स्वयं स्फुरित होता है। श्रुति उस पर स्फुरण रूपी फल का उत्पादन नहीं कर सकती। प्रमेय तभी हो सकता है। जब वह ज्ञान पर अपने आकार का समर्पण करे। जैसे-घट का स्फुरण चिदाभास के द्वारा अपने आकार का समर्पण ज्ञान पर करने से होता है। उस प्रकार से ब्रह्म का स्फुरण नहीं होता। ब्रह्म अज्ञान-नाश के बाद स्वयं प्रकाशित होता है।[४४]

ब्रह्म को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'ब्रह्म प्रमाण से प्रकाशित नहीं होता क्योंकि उसका प्रकाश अपने आप होता है। सत्य इतना ही है कि प्रमाण से आवृत्ति अज्ञान, आवरण का नाश होता है, और आवरणभंग से ब्रह्म का सफुरण होता है, इसलिए ब्रह्म प्रमेय कहलाता है।[४५]

आचार्यशंकर ने ब्रह्म के विषय में स्पष्ट किया है कि यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो ब्रह्म को यथार्थ सत्ता के रूप में मानना ही होगा। ब्रह्म के विषय में यह मानवीय भाव है जो कि रिक्त सा प्रतीत होता है। ब्रह्म अपने-आप में रिक्त नहीं है। वह तो परमरूप में यथार्थ सत्ता है।[४६] वह ब्रह्म देश से गुणों से गति से, फलोपभोग और भेद से शून्य अत्यन्त महान् अर्थों में जिसके समान दूसरा नहीं है, ऐसा सत् मन्दमति पुरुषों को असत् के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होता है।[४७] हमें ब्रह्म ऐसे रूप में प्रतीत होता है कि जिसके अन्दर कुछ भी नहीं रह गया हो, परन्तु जो ब्रह्म का योगी जन साक्षात्कार करते हैं वे तो यह अनुभव करते हैं कि उसके अन्दर सब कुछ प्राप्त है वे इस अनुभव को शब्दों के रूप में पूर्णतया वर्णन करने में असमर्थ है।[४८]

शंकर उपनिषदों के भाष्यकार के रूप में सर्वप्रसिद्ध है। उपनिषदों के

४४. अनाधेयफलत्वेन श्रुतेब्रह्म न गोचरः। प्रमेयं प्रमितौ तु स्यादात्माकार समर्पणात्।। सर्व द०सं० पृ० ६७४.

४५. न प्रकाश्यं प्रमाणेन प्रकाशो ब्रह्मणः स्वयम् तज्जन्यावृत्ति भङ्गत्वात्प्रमेयमिति गीयते।।२।।......पृ० ६७४.

४६. बृहदारण्यक उपनिषद् ३:८:८.

४७. निविषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्। सिद्धान्तमुक्तावली पृ० ४९.

४८. दिग्देशगुणगतिफलभेद शून्यं हि परमार्थसत् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धिनामसदिव प्रतिभाति। (शांकर भाष्य छांदोग्य उप० ८:१,१).

अनुसार शंकर ने जो ब्रह्म का वर्णन विधेयात्मक और निषेधात्मक रूप में किया है उसका वर्णन करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि हम उस ब्रह्म तक जो अपने-आप में सर्वोच्च है जो विश्व का स्रष्टा तथा अधिष्ठाता है। यद्यपि ब्रह्म गुणों से विहीन है तो भी सत् के गुण, अर्थात् चैतन्य और आनन्द इसके स्वलक्षण कहे जा सकते हैं और सृष्टि कर्तृत्व आदि लक्षण इसमें आनुषंगिक लक्षण (तटस्थ लक्षण) है शंकर जानते हैं कि ब्रह्म की परिभाषा सच्चिदानन्द[४९] नाम से भी सर्वथा निर्दोष नहीं है, यद्यपि वह यथार्थ सत्ता को, जहाँ तक सम्भव है, सबसे उत्तम रीति में प्रकट करती है। मानव मस्तिष्क की शक्ति इतनी महान् अवश्य है कि वह अपनी सीमाओं को समझ सके। ब्रह्मानुभव के द्वारा ही ब्रह्म ज्ञान के लिए श्रेष्ठतम अन्तर्दृष्टि उपलब्ध होती है और यह अन्तर्दृष्टि जिसे प्राप्त हो जाती है ऐसा व्यक्ति ही ब्रह्म के स्वरूप सम्बन्धी सब प्रकार के प्रश्नों का उत्तर मौन अथवा निषेधात्मक चिन्हों द्वारा दे सकता है। विद्या (परा) ब्रह्म के विषय में सर्वोच्च विध्यात्मक विचारपरक विवरण सत्, चित् और आनन्द के गुणों के साथ इसकी समानता के द्वारा देती है और यह अपने आप में पूर्ण है। अविद्या अथवा अपरा विद्या ऐसे गुणों (लक्षणों) का आधान करती है जो सृष्टि कार्य, तथा विश्व के शासकत्व के लक्षणों का उपलक्षण है।[५०] इस प्रकार निरपेक्ष परमसत्ता के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हैं–पर तथा अपर। जिसमें नामरूप आदि भेदों का, जो अविद्या के कारण है निराकरण करके ब्रह्म का संकेत निषेधात्मक उक्तियों के द्वारा किया जाता है, यथा न ठोस है आदि आदि, वह पर है।[५१] किन्तु जिसमें इसके विपरीत ठीक उसी यथार्थसत्ता का पूजा आदि के उद्‌देश्य को लक्ष्य में रखकर किसी न किसी भेद के द्वारा वर्णन किया जाता है वह अपर है।[५२] तर्कशास्त्र आन्वीक्षिकी विद्या के द्वारा एक विशेष ढांचे में रख कर जिस ब्रह्म का वर्णन किया जाता है वह ईश्वर है। यह सर्वोच्च यथार्थसत्ता नहीं है क्योंकि सर्वोच्च अनुभव की दृष्टि से इसका कुछ अर्थ नहीं है जिसमें अस्तित्व तथा वस्तु विषय पृथक्-पृथक् नहीं है। तो भी हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्थाओं में

४९. नृसिंहतापिनी उपनिषद्।
५०. विद्याविषयो ज्ञेयं निर्गुणं सत्यम् अविद्याविषय उपास्यं कल्पितम्। रत्न प्रभा १: १,११.
५१. वृहदारण्यक उप० ३:८,९.
५२. शांकर भाष्य १:३१, ४: ३, १४.

यह सत्य की सर्वोत्तम प्रतिकृति है। सगुण ब्रह्म उत्सुक आत्मा का केवल निर्गत भागमात्र नहीं है और न ही बहता हुआ वायु का बुलबुला है। हमारे मानवीय मस्तिष्क के लिए वह स्थायी यथार्थसत्ता एक प्रभा समान आदर्श के रूप में ही प्रकट होती है।[५३] एक विचारात्मक संगति की मांग हमसे आशा करती है कि हम परम यथार्थसत्ता का एक अभावात्मक विशेषण समुच्चय के द्वारा वर्णन करें जैसे—न व्यक्तिरूप न नैतिक आदर्शरूप न सुन्दर और न सत्य, ''जैसा कि ब्रैडले करता है। इस अभावात्मक वर्णन का अनिवार्य प्रभाव यह है कि हम यह धारणा बना लें कि निरपेक्ष परमसत्ता का अनुभव के उच्चतम दृष्टिकोणों से कोई सम्बन्ध नहीं और वह उनके प्रति उपेक्षा भाव रखती है। जब एक निश्चित अध्यात्म विद्या को ये सूत्र उनके उद्देश्य की सिद्धि नहीं कर सकते तो हमारी प्रवृत्ति अपनी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति की ओर होती है।[५४]

किन्तु ब्रह्म सगुण भी हो और निर्गुण भी, उसके ये दोनों रूप एक साथ नहीं हो सकते।[५५] एक ऐसी यथार्थसत्ता जिसके दो पार्श्व हो अथवा जिसके अनुभव दो भिन्न-भिन्न प्रकार से सकता हो उच्चतम यथार्थसत्ता नहीं है। किन्तु ज्योंही हम 'सत्' के स्रोत तक पहुँचते हैं दोनों भिन्न पार्श्व विलीन हो जाते हैं। इन निरपेक्ष यथार्थसत्ता के रूपों को तब ग्रहण कर सकते हैं, जब हम उसे बाहर से देखते हैं। अपने-आप में निरपेक्ष परमसत्ता बिना किसी पार्श्व के है आकृति-विहीन है और द्वैतभाव के किसी भी अंश से रहित तथा गुणों से भी विहीन है। रूप और व्यक्तित्व के ये लक्षण विद्या अथवा अनुभव के जगत् में ही कुछ अर्थ रखते हैं।

सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म में सब प्रकार की अपेक्षाओं का विलय हो जाता है। यह कोई ऐसी व्यवस्था अथवा पूर्ण इकाई नहीं है जिस तक विरोधीभाव को समवेत करने की अन्तरहित प्रक्रिया के द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। अनन्त ऐसा पदार्थ नहीं है जो दर्शनशास्त्र की रचना हो यह निरन्तर विद्यमान तथ्य है।शंकर परम निरपेक्ष सत्ता को विचार के द्वारा जानने के समस्त प्रयत्नों के विरोधी हैं। ज्यों ही हम इसका विचार करते हैं यह आनुभाविक जगत् का एक भाग बन जाता है।

---

५३. ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ दि वेदांत पृष्ठ १०३, एपीयरेंस एण्ड, रियलिटी, पृष्ठ १५९.
५४. तुलना कीजिए ब्रैडले: ट्रुडले : ट्रुथ एण्ड रियलिटी, पृ० ४३१.
५५. ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ दि वेदान्त, पृष्ठ १०२-३.

उपनिषद् का भाष्य करते हुए आचार्यशंकर ने अद्वैतवादी एवं प्रत्ययवादी ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की है। जैसा कि प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि जैसे पक्षी अपने वास स्थान रूप वृक्ष को प्राप्त होते हैं इसी प्रकार यह समस्त जगत् के पदार्थ उस ब्रह्म में ही निवास करते हैं अर्थात् उस परमात्मा से सूक्ष्म कोई भी नहीं है।[५६] इतना ही नहीं अपितु आगे वर्णन किया है कि जो उस अज्ञान से रहित शरीर से रहित, रक्तादि वर्णों से रहित, प्रकाशस्वरूप अविनाशी परमात्मा को भली प्रकार जानता है अर्थात् परमसूक्ष्मब्रह्म का ज्ञाता है वह सब कुछ ज्ञान लेता है और तदनुरूप ईश्वर के गुणों को धारण करके महान् हो जाता है[५७] यहाँ अभिप्राय यह है कि उस ब्रह्म को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। यह केनोपनिषद् में भी कहा है।[५८] यहाँ पर अद्वैतवेदान्त में कहा जा चुका है कि वह जीव ब्रह्म होकर सर्वज्ञ हो जाता है। परन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि अद्वैतवादी सर्वज्ञता आदि गुण शुद्ध ब्रह्म में नहीं मानते हैं। फिर सर्वज्ञ का अर्थ ब्रह्म बन जाना मानना असंगत है। यहाँ अभिप्राय यह है कि "सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः" अर्थात् ब्रह्म को जानने पर समस्त विश्व को जानने वाला हो जाता है।[५९] यह परमात्मा को व्यापक बतलाकर उसके स्वरूप की निषेधात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है वह ब्रह्म (ईश्वर) जड़ पदार्थ से भिन्न है अर्थात् वह परमक्षर है।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि वह ब्रह्म अत्यन्त दिव्य मूर्त धर्मों से रहित, सर्वत्र व्यापक, प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर है। इसलिए वह उत्पत्ति से रहित अणु है। प्राणों से रहित, मन से रहित है प्रकाश स्वरूप है। अव्याकृत प्रकृति से परमसूक्ष्म है।[६०] समस्त संसार के पदार्थों में निरुक्तकार यास्कमुनि के अनुसार षड्भाव उपलब्ध है। सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं। बढ़ते

---

५६. स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते एवं ह तै तत् सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।। प्रश्नोपनिषद् ४.७.

५७. परमेवाक्षरे प्रतिपद्यते स यो ह वै ....सर्वज्ञः सर्वो भवति। प्रश्नोपनिषद् ४.१०.

५८. तस्मिन्नेव विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति.

५९. पं० सत्यकाम विद्यालंकार का भाष्य द्रष्टव्य आर्ममुनि, ब्रह्ममुनि भाष्य-द्रष्टव्य।

६०. दिव्यो ह्यभूतः पुरुषः सर्वाश्चाभ्यन्तरो ह्यजः अप्राणोह्यमनः शुभ्रोह्यक्षरात् परतः परः।। मुण्ड उ० २.१.२.

परिणाम को प्राप्त होते हैं, क्षय को प्राप्त होते हैं और तदुपरान्त नाश को प्राप्त हो जाते हैं।[६१]

परमात्मा इन षड्भाव-विकारो से रहित है इसलिए उसे अमूर्त कहा है अर्थात् वह निराकार है। उस निराकार ब्रह्म से ही मन, प्राण और इन्द्रियाँ आदि उत्पन्न होते हैं, उसी से पृथ्वी आदि। यहाँ निमित्तकारण के रूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है।

ब्रह्म का रूपक द्वारा निरूपण किया है। यदि हम उसे मूर्त रूप में देखना चाहें तो अग्नि उसका मुख है; चन्द्र और सूर्य उसकी आँखे हैं; वायु प्राण है; समस्त विश्व उसका हृदय स्थान है, पृथ्वी पादस्थानीय है, ऋग्वेदादि उसकी खुली हुई वाणी है। वास्तव में वह ब्रह्म सबकी अन्तरात्मा है।[६२] यहाँ आलङ्कारिक रूप में विराट्ब्रह्म का स्वरूप निरूपित किया है। ये अग्नि आदि अवयव उसमें आरोपित हैं वस्तुतः नहीं। क्योंकि वह तो सर्वभूतान्तरात्मा है। वही समस्त सृष्टि की रचना करता है।[६३]

यह ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वावित् है उसकी महिमा सृष्टि रचना से परिलक्षित है वह परमात्मतत्व हृदयकमल रूप आकाश में वर्तमान है। ज्ञान रूप है। प्राण और शरीर का चलाने वाला है और प्रत्येक प्राणी के हृदय में विद्यमान रहकर वह आनन्द स्वरूप ब्रह्म सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है।[६४] इस वर्णन को अद्वैतवादी जीवपरक लगाते हैं। परन्तु यहाँ तो ब्रह्म का प्रतिपादन है। क्योंकि आगे कहा है कि वह ब्रह्म सर्वथा निष्कल है। वह ज्योतियों की भी ज्योति है। उसे आत्मविद् विद्वान् जानते हैं।[६५] यहाँ रूपकालंकार द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, स्पष्ट रूप में कहा है कि वहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं है। चन्द्रमा, नक्षत्र विद्युत् और अग्नि

---

६१. अस्ति-जायते-वर्धते-विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति इति षड्भाव बिकारः। निरुक्त.

६२. एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्यधारिणी। मुण्ड० २,१.३.

६३. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो.........सर्वभूतान्तरात्मा।। मुण्ड० २.१.४.

६४. तस्मादग्निः समिधो यस्य-सूर्य सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् मुण्डकोपनिषद्-२. १.५.६..७.८.

६५. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमाभुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।। मुण्ड० २.२.७.

उसको प्रकाशित नहीं करते हैं, वास्तव में उसी की अनन्त शाश्वत शक्ति से समस्त भूमण्डल प्रकाशित हो रहा है। इसके अनन्तर उस ब्रह्म की सर्व व्यापकता का विशद रूप में उल्लेख करते हुए कहा है कि यह अमृत रूप ब्रह्म सबसे पूर्व था, बाद में भी रहेगा। दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर सभी स्थानों पर ब्रह्म ही फैला हुआ है। ब्रह्म ही विश्व में वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ है। यहाँ पर ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित बतलाया गया है। अर्थात् जगत् से पूर्व ब्रह्म ही था अर्थात् यह रूपात्मक जगत् अव्याकृत प्रकृति में लीन था। वह प्रकृति ब्रह्माश्रित होने के कारण सजातीय भेद की अपादक न थी। इसलिए ब्रह्म को सर्वालत्वेन कथन किया गया है और ऊपर नीचे दक्षिण उत्तर भाव से कथन किया है कि अनवच्छिन्न सत्ता होने से एकमात्र ब्रह्म ही समस्त दिशाओं में है। इसीलिए कहा है कि वह ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है।[६६]

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म का स्वरूप जीव से भिन्न है। उससे अधिक उपनिषद् और क्या स्पष्ट करेगा कि दीप्ति वाला ब्रह्म अणु से भी सूक्ष्म जिसमें भी लोक-लोकान्तर निवास करते हैं और समस्त प्राणी भी अवस्थित हैं। वह अक्षरब्रह्म है।[६७] वह अक्षरब्रह्म है।[६८] वही सभी की शक्तियों की शक्ति है। सोम्य है वही जानने योग्य है।[६९] इस उपनिषद् में ब्रह्म को परम ब्रह्म रूप में वर्णित किया है अतः परम विशेषण केवल ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है।[७०] अतः ब्रह्म ही सब दृष्टियों से परम है। जीवात्मा ब्रह्म (महान्) हो सकता है परन्तु परमब्रह्म कदापि नहीं हो सकता है।

इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद् पर आचार्य शंकर भाष्य करते हुए कहते हैं

---

६६. हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलन्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।। मुण्डकोननिषद् २.२.९.

६७. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। मुण्डकोपनिषद् २.२.११ आर्यमुनि.

६८. आवि सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्......प्रजानपाम्। मुण्डको प० २.२.१.

६९. उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन युक्त हेतु प्रधान न होकर अनुभूति प्रधान है। स्वामी ब्रह्म मुनि

७०. ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याब्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एवं यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। माण्डूक्योपनिषद् १.

कि "ओउम्" यह अक्षर ही सब कुछ है। यह अभिधेय (प्रतिपाद्य) रूप जितना पदार्थ समूह है, वह अपने अभिधान (प्रतिपादक) से अभिन्न होने के कारण और सम्पूर्ण अभिधान के ओंकार से अभिन्न होने के कारण यह सब कुछ ओंकार ही है। परब्रह्म भी अभिधान-अभिधेय (वाच्य-वाचक) रूप उपाय के द्वारा ही जाना जाता है। इसलिए वह भी ओंकार ही है। यह जो परापर ब्रह्मरूप अक्षर "ओउम्" है। उसका उपाख्यान ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने के कारण उसकी समीपता से स्पष्ट कथन का नाम उपाख्यान है।

जिस प्रकार यजुर्वेद में चार पदार्थों का कथन है। इसी प्रकार यहाँ इस उपनिषद् में भी चार पादों का विन्यास है। जिस आत्मतत्व के उक्त चार पाद वर्णन किये गए हैं वह निश्चित रूप से जीवात्मा नहीं हैं। किन्तु ब्रह्म रूप आत्म तत्व हैं। इसी भाव से 'अयं आत्मा' कहा गया है। परन्तु 'अयं आत्मा' से अद्वैत-वादी विद्वान् जीवात्मा ग्रहण शब्द अनेकों स्थलों पर आया है। परन्तु जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध करने के लिए अद्वैतवादी इसी प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं। तो 'अयमात्मा चतुष्पात्' यह पद कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि आत्मा के भेदों या पादों का वर्णन कहीं भी नहीं हुआ है। अपितु ब्रह्म के चतुष्पाद का वर्णन वेदों में आया है। जैसा कि हम अभी देख आये हैं। अतः सिद्ध हुआ कि यहाँ पर ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है।

परमात्मा का प्रथम पाद के रूप में व्याख्यान इस प्रकार हैं।-जीव-जाग्रत अवस्था में बाहर के पदार्थों का प्रकाशक है इसलिए उसे बहिष्प्रज्ञ कहा है। दो आंख, दो कान, दो नाक तथा एक मुख ये उसके सप्तांग कहलाते हैं। पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये सब मिलकर उन्नीस मुख वाला जीवात्मा को कहा है। अर्थात् ये १९ तत्व मुख्य रूप में हमारे शरीर में है। यह जाग्रत स्थान रूप में प्रथम पाद है।[७१]

दूसरे पाद का नाम तैजस् रखा है क्योंकि स्वप्नास्था में तैजसी निद्रा प्रधान होने से तैजस् है। इसे अन्तः प्रज्ञ रूप में कहा है। जिस अवस्था में पुरुष न किसी कामना की इच्छा करता है और न कोई स्वप्न देखता है। सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है। वह सुषुप्ति रूप तृतीय पाद है। यह तीनों पादो का वर्णन संक्षिप्त रूप में किया है। वास्तव में ये तीनों पाद जीवात्मा की तीन अवस्थायें है। जाग्रत,

---

७१. जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूल भुग्वैश्वानरः प्रथम पादः। माण्डूक्य उप० ३, ४.

स्वप्न और सुषुप्ति। सुषुप्ति में आनन्दमय अवस्था का वर्णन है। यदि जीव ब्रह्म का अभेद कहा जाता तो चतुष्पाद में ब्रह्म का उल्लेख न किया होता।[७२] वास्तव में यह प्राज्ञ नामा जीव का वर्णन है। ये विश्व, तैजस् और प्राज्ञ तीनों एक ही जीव की संज्ञा मानते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म की भी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीन संज्ञा मानते हैं।[७३] ये तीनों मायोपहित चैतन्य है। आचार्य शंकर यह मानते हैं कि ब्रह्म से विवर्त होकर ईश्वर, हिरण्यगर्भ आदि का मायोपहित चैतन्य रूप निर्माण होता है।[७४] ये उक्त सभी नाम तथा अन्य सहस्त्रों शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं। इन शब्दों के प्रसंगानुसार अन्य अर्थ भी हो सकते हैं। जैसे कठोपनिषद् में एक स्थान पद वैश्वानर शब्द का प्रयोग अग्नि के लिए हुआ है।[७५] ईश्वरवाची नाम में उसका अर्थ है समस्त विश्व का रचने वाला अर्थात् विश्वव्यापक[७६] परन्तु वैश्वानर का आदित्य अर्थ भी आता है। आचार्य शंकर भी तीनों अर्थों में वैश्वानर शब्द का अर्थ स्वीकार करते हैं।[७७]

ऐतरेयोपनिषद् में स्पष्ट किया है कि वह ब्रह्म ही सबसे पूर्व अर्थात् इस कार्य रूप जगत् से पूर्व था। ऐसा उसके तुल्य कोई भी तत्व नहीं था जो उसकी स्पर्द्धा करता, वह ब्रह्म निरपेक्ष रूप में वर्तमान था। उसने ही अपनी ईक्षण। शक्ति द्वारा सभी लोक लोकान्तरों को उत्पन्न किया।[७८] अन्य उपनिषदों की तरह ब्रह्म को अनेक नामों से ऐतरेय में कहा गया है। उस ईश्वर का नाम ब्रह्म, उसी का नाम इन्द्र, प्रजापति और प्रज्ञानेत्र आदि नाम है।[७९] जिससे समस्त पदार्थ सत्ता रूप

---

७२. स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।। माण्डूक्य ४.

७३. यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। माण्ड्क्य उप० ५.

७४. आचार्य शंकर और दूसरे अद्वैतवादी इन तीनो पादों को अभेदरूप, विश्वानर, हिरण्य, ईश्वर रूप कहते हैं.

७५. वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्। कठोपनिषद् १.१.७.

७६. वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात्। ब्रह्मसूत्र १.२.२४.

७७. स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। प्रश्नोनिषद् १.७.

७८. वैश्वानर शब्दस्तु त्रयस्य साधारणः। ब्रह्मसूत्र १.२.२४. पर शांकर भाष्य।

७९. एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि न पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुकाश आपोज्योतीषीत्येतानीमानि च.........प्रज्ञानं ब्रह्म।। ऐतरेयोप० ३.१.३. (आर्यमुनि)

में व्यक्त होकर लाभ को प्राप्त करते हैं, उसका नाम नेत्र है। अर्थात् ज्ञान रूप नेत्र हो जिसके उसका नाम प्रज्ञानेत्र है।[८०] इसका अभिप्राय यह है कि यह जड़ चेतन जगत् शुक्ति-रजत के समान प्रज्ञान रूप ब्रह्म में कल्पित होने के कारण इस संसार वर्ग को प्रज्ञान में प्रतिष्ठित कहा गया है अर्थात् चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हो आरोप रूप व्यवहार का कारण जिसका उसका नाम प्रज्ञानेत्र है।[८१] और चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में यह सब संसार प्रलय काल में स्थिति पाने के कारण इसे प्रज्ञा-प्रतिष्ठा कहा गया है।[८२] इस प्रकार संसार का एक मात्र कारण वे ब्रह्म को ही मानते है। ये अन्त में जो 'प्रज्ञान' ब्रह्म कहा है, उससे यह जीव ब्रह्म बन जाता है। परन्तु यह उनका कथन उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि अगले मंत्र में ही जीव की उत्क्रान्ति का विवेचन करके उसकी सुख रूप मुक्ति की प्राप्ति का उल्लेख किया है। यदि उक्त अभिप्राय होता तो जीव की मुक्ति का वर्णन न किया होता। जब "प्रज्ञानेत्रो लोक:" कहकर अखिल ब्रह्माण्ड के साथ वाणसमानाधिकरण्य की रीति से अभेद कथन किया गया हे तो जीव भी तो उसी में आ गया। दूसरी आपत्ति यह है कि जब प्रथम मन्त्र में प्रज्ञानपद ईश्वर वाच्य है तो यहाँ ब्रह्म के प्रकरण में प्रज्ञान का अर्थ जीव क्यों ग्रहण किया जाए? प्रकृष्ट ज्ञान का स्रोत ब्रह्म ही है। इसलिए ब्रह्म के लिए ही प्रज्ञान पद का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है। अत: स्पष्ट है कि प्रज्ञानं ब्रह्म विशेष्यविशेषण भाव कथन किया है। यदि प्रज्ञानं पद का विशेषण न लेकर कहा जाता तो ब्रह्म का अर्थ प्रकृति, जीव और वेद भी तो हैं। इसलिए उनसे पृथक् करने के लिए 'ज्ञानस्वरूप ब्रह्म' रूप में ब्रह्म स्वरूप उपलब्ध होता है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्म के स्वरूप को सत्य, ज्ञान, अनन्त रूप में कहा गया है। वह परमात्मा सत्य, ज्ञान और अनन्त धर्मों वाला है। इस वाक्य में ब्रह्म विशेष्य और सत्यादि उसके विशेषण है। यदि 'ब्रह्मसत्यं' कहा जाता है। तो प्रकृति में उसकी अभिव्यक्ति हो जाती, क्योंकि प्रकृति भी सत्य है। केवल ज्ञानं ब्रह्म कहा जाता तो जीव में उसकी अतिव्याप्ति हो जाती! क्योंकि जीव भी ज्ञानस्वरूप है। इसकी व्यावृत्ति के लिए 'अनन्तं ब्रह्म" ब्रह्म अनन्त है। जीव के समान परिछिन्न नहीं है। इन तीनों पादों के मिलाने से ब्रह्म का लक्षण हुआ। ब्रह्म, सत्य ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।[८३]

---

८०. नीयते सत्तां प्राप्ये अनेनेति नेत्र।।

८१. प्रज्ञाचैतन्यमेवनेत्र व्यवहारकारणं यस्य स प्रज्ञानेत्र:।। एतरेय.

८२. प्रज्ञायां चैतन्ये प्रतिष्ठति प्रलयकाले सर्वजल्लीयते इति।। एतरेय.

८३. ब्रह्मविदाप्नोति परम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।। तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्दवल्ली)

छान्दोग्यापनिषद् में ब्रह्म का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है 'ओउम्' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि वह 'ओउम्' उसका मुख्य नाम है जो अविनाशी है, इसी को उद्गीथ अर्थात् वाणी का आधार मानकर उपासना करे।[८४] उसको सर्वव्यापकता के लिए कहा है कि ब्रह्म ने समस्त लोक लोकान्तरों को प्रकाशित करने के अनन्तर तीन व्याहृतियों को प्रकाशित किया और व्याहृतियों के प्रकाशानन्तर ब्रह्म प्रकाशित हुआ अर्थात् ब्रह्म अर्थ ज्ञात हुआ जिस प्रकार पर्णनाल से सम्पूर्ण पत्र छिपे हुए होते हैं या जिस प्रकार रथ के पहिए में आरे लगे होते हैं, इसी प्रकार ओंकार में सम्पूर्ण वाणियाँ प्राप्त है अथवा वह ओंकार ही सम्पूर्ण में व्याप्त होकर अखिल ब्रह्माण्ड को धारण कर रहा है। उसकी व्याख्या के साथ सूक्ष्मता का विवेचन बड़े विशद रूप में छाग्योग्योपनिषद् में उपलब्ध है। जैसा कि उदाहरणों में समझाया गया है कि जो ब्रह्मस्थ समझे क्योंकि वह ब्रह्म सबसे सूक्ष्म है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि ब्रह्म को जगत् से तीनों कालों से अभिन्न माना है। यह उनके अनुसार मुख्य समानाधिकरण है। अर्थात् समस्त पदार्थ अपने अपने आकार से ब्रह्म रूप ही है। उससे भिन्न नहीं है। यहाँ यह विवेचनीय है कि क्या इन पदार्थों को ब्रह्म माना जाये, या इन पदार्थों में ब्रह्म को व्यापक माना जाए? यदि पहली बात मानी जाए तो प्रश्न होगा कि उत्पत्ति स्थिति लय वस्तुओं का होने के कारण ब्रह्म विकृत नहीं हो जाएगा? विवर्त करने से दोष दूर नहीं हो सकता, क्योंकि जीव भी तो ब्रह्म ही है क्योंकि आगे ही प्रतिपादन है कि उक्त गुणों वाला ईश्वर मेरे हृदय के मध्य में अति सूक्ष्म है, धानों से, यवों से, और सरसों से, चावलों से भी अति सूक्ष्म है। यह ब्रह्म और हृदय के मध्य में पृथ्वी के अन्तरिक्ष से, द्यौलोक से अर्थात् लोकों से महान् है। वहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् रूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है।[८५]

शाण्डिल्य ऋषि ने ब्रह्म का स्वरूप विश्वकर्मा रूप में वर्णित किया है। सर्व कर्मों वाला, सब कामनाओं वाला, सब गन्धो वाला, सब रसों वाला है, यह सब जगत् उस ब्रह्म से व्याप्त है। वाणी रहित, पक्षपात शून्य मेरे हृदय के अन्दर है। यही वह ब्रह्म है। मैं ऐसे गुणों वाले या स्वरूप वाले ब्रह्म को प्राप्त होऊँ यह मेरी प्रार्थना है।[८६] उक्त हेतुओं से स्पष्ट है कि वह ब्रह्म हमारा स्वामी है। जीवात्मा जैसे पिता-पुत्र स्वामी-सेवक के सम्बन्ध से प्राप्त करना चाहता है। परमात्मा के कोशों का वर्णन भली प्रकार करते हुए प्रतिपादित किया कि उसका कोश कैसा

८४. छान्दोग्य उपनिषद् २.२३.३.

८५. छाग्दोग्य उपनिषद् ३.१४.३.

८६. सर्व कर्मा सर्वकाम: सर्व रस: सर्वगन्धा.......।। छान्दोग्य उप० ३.१४.४.

है? आकाश जिसका उदर समान है, पृथ्वी पाद समान है, दिशाएँ जिसके कर्ण है। द्यौलोक जिसका जिसका खुला हुआ मुख है इत्यादि। ऐसा जो परमात्मा रूप कोश है वह कभी जीर्ण नहीं होता; अर्थात् सदा एक रस रहता है। विश्व का धन उसके कोश के आश्रित है।[८७] छाग्दोग्यपनिषद् की तरह वेदों में भी ब्रह्म का विराट् रूप में वर्णन प्राप्त होता है। ॠग्वेद के दशम मण्डल के इक्कीसवे सूक्त में ब्रह्म को विश्वकर्मा के रूप में वर्णन किया गया है क्योंकि वह विश्व का बनाने वाला है।[८८] छाग्दोग्य मे ईश्वर का वर्णन भूमा रूप में भी हुआ है। भूमा के नीचे, ऊपर पीछे पूर्व में वही दक्षिण में वही उत्तर में वही स्थित है। अर्थात् वही इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है।[८९] इस नाम की व्याख्या देखने योग्य है। ब्रह्म के 'सत्य' नाम से सक्रिय यह तीन अक्षर है। इन अक्षरों में जो 'सकार' है वह अमृत है। और जो तकार है, वह मर्त्य है। तथा जो 'य कार' है वह उक्त दोनों को नियम में रखता है। इसी कारण यह कहलाता वास्तव में जो ऐसा जानने वाला है। वह प्रतिदिन महान् सुख को प्राप्त होता है। इस उक्त स, त, य का अभिप्राय यह हुआ कि 'स' का अर्थ अमृत जीवात्मा है। 'त' का अर्थ मर्त्य अर्थात् प्रकृति है। 'य' का अर्थ ब्रह्म है। अर्थात् जीव और प्रकृति को जो अपने अधीन रखता है। उसका नाम सत्य है। प्रकृति में परिवर्तन होने से वह मर्त्य है। यह ब्रह्म दोनों का उपयोग कर संसार का निर्माण करता है।[९०] इससे आगे ब्रह्म का वर्णन 'सेतु' रूप में हुआ है। वह ब्रह्म जो सदा अपहत पाप्मा विजर, विमृत्यु और विशोकादि विशेषण युक्त है। वही संसार का सेतु है। अर्थात् जैसे-हम सेतु पर बिना चढ़े नदी को पार नहीं सकते हैं इसी प्रकार ब्रह्म का आलम्बन लेना आवश्यक है। इसी सेतु रूप को कठ में श्रेष्ठ आलम्बन' नाम से कहा है।[९१] यदि यह सेतु संसार को धारण न करे तो संसार तत्काल नष्ट हो जाए। अतः यह अमृतमय सेतु ही इसकी रक्षा कर रहा है। मुण्डक में भी इसको अमृतमय सेतु कहा है।[९२] इसी भाव को यजुर्वेद में भी प्रदर्शित किया है।[९३] छान्दोग्य का ब्रह्म भी दूसरे उपनिषदों के समान है।

---

८७. अन्तरिक्षोदरे कोशो भूमि बुध्नो न जीर्यति.................३.१५.१.

८८. विश्वंकरोतीति विश्वकर्मा। जैसे कार्य करोति यहाँ कार्य का निमित्त पृथक् है, उपादान निमित्त कारण से भिन्न है।

८९. छान्दोग्य ६.२५.१.

९०. छान्दोग्य ८.३.५.

९१. छान्दोग्य ८.४.१.

९२. अमृतस्य सेतु २.२.५.

९३. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।। यजुर्वेदः ३१.१८.

बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का आख्यान करते हुए कहा है कि ब्रह्म एक अश्व हैं अथर्ववेद के गवि सूक्त में गौ रूप में परमात्मा का वर्णन हुआ है। वह अश्व परमात्मा कैसा है? इसका प्रतिपादन करते हुए उपनिषद्कार ने कहा है कि उस परमात्मा का ब्रह्ममुहूर्त काल शिरस्थानीय, सूर्य, चक्षुस्थानीय वायु प्राण स्थानीय वैश्वानर अग्नि विस्तृत मुख के समान और संवत्सर देह स्थानीय है। इस पूज्य अश्व का प्रकाशलोक, पृष्ठस्थानीय, अन्तरिक्षलोक उदरस्थानीय, पृथ्वी पादस्थानीय, पूर्व आदि दिशाएं पासें और आग्नेयादि बीच की दिशाएं पसलियें हैं। ऋतुएं अंगस्थानीय महीने तथा पक्ष सन्धियें, दिन और रात्रि ठहरने का स्थान और नक्षत्र अस्थियें हैं। मेघों से परिपूररित आकाश मांस स्थानीय बालू रेत चबाये हुए अन्न के समान नदियाँ नाड़ी स्थानीय, पर्वत यकृत और क्लोम पिपासास्थानीय औषधियें तथा वनस्पतियाँ लोमस्थानीय, उदय होता हुआ सूर्य उसका पूर्वार्द्ध तथा मध्यान्ह का ढलता हुआ सूर्य उसके पीछे का भाग है। जो जंभाई लेता है वह बिजली का भभकना, जो उसके प्रकृति रूप शरीर से सूक्ष्म धातुओं का बहना है। वही वर्षा और जो विराट् में जो गर्जना है वही उसके शब्द समान है।[९४] वास्तव में जैसा कि इस उपनिषद् का नाम वृहत् है ऐसी ही विराट् स्वरूप की व्यवस्था अश्व रूप में उपनिषद् के प्रारम्भ में ही कर दी है। ऋग्वेद और यजुर्वेद और अन्य उपनिषदों में भी इस प्रकार परमात्मा के स्वरूप का व्याख्यान हुआ है।[९५] जैसे विराट् अश्व का वर्णन परमात्मा के लिए हुआ है इसी प्रकार आगे इसी उपनिषद् ने विराट् पुरुष का विशद वर्णन इस प्रकार किया है। सृष्टि से पूर्व वह आत्मास्वरूप ब्रह्म ही था। उस पुरुषाकार आत्मा ने चारों ओर आलोचन किया तो अपने से भिन्न कुछ न देखकर 'मैं ही सर्वात्मा हूँ' इस प्रकार कथन किया। इसी कारण वह 'अहम्' नामा हुआ। इसी से बुलाया हुआ यह पुरुष भी प्रथम 'अहम् अयम्' कहकर पश्चात् जो इसके माता-पिता कृत अन्य नाम होता है उसे कहता है जिस कारण इस सम्पूर्ण प्रपंच से पूर्व उस आत्मा ने सबको दग्ध किया अर्थात् जो सृष्टि से पूर्व भी शुद्ध और अपापविद्ध था। इस कारण भी

९४. (क) अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगदिति अश्वः।
(ख) कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तया रोहन्ति कवयो निपश्चितस्तस्व्य चक्राभुवानि निश्वा।।
अथर्ववेद १९.५३.१.
(ग) उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः .....मेध्यस्य।। वृहदा० १.१.१

९५. पुरुष सूक्त (यजुर्वेद का ३१ वां अध्याय).

उसको पुरुष कहते हैं। जो इस प्रपंच से पूर्व पुरुष की तरह होने की इच्छा रखता है वह आत्मा की शुद्धता को जानता है। वह पुरुष भी पाप को दग्ध करके सुखी होता है।[९६] वास्तव में यहाँ पर यह स्पष्ट किया गया है कि इस जगत् की रचना से पूर्व ब्रह्म ने किस प्रकार इस जगत् को रचने का ईक्षण किया।

ब्रह्म में सजातीय तथा स्वगत भेद का निषेध करते हुए उसकी दुर्विजेयता को बतलाते हुए वृहदारण्यक ऋषि कहते हैं कि जहाँ द्वैत होता है, वहाँ दूसरे को सूंघता है। देखता है, सुनता है, कथन करता है मनन करता है और दूसरे को जानता है। पर जहाँ अपने आप हो वहाँ कौन किसको सूंघे कौन किसको देखे, कौन किसको सुने, कथन करे, मनन करे, जाने, जिसकी सत्ता से पुरुष सबको जानता है, उसको किससे जाने। अर्थात् जो सब का विज्ञाता है उससे किसको जाने। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक यह मेरा प्रिय है और वह दुश्मन है इस प्रकार का द्वैतभाव हमारे मन में रहेगा तब तक हम उस को प्राप्त नहीं कर सकते। यही द्वैत है। वास्तव में जब मनुष्य निश्चय कर लेता है कि एक मात्र ब्रह्म ही उपादेय है तब वह सब वासनाओं का परित्याग कर देता है। ऐसा करने के कारण दुःख से दुःखी और सुख से सुखी नहीं होता है।

वास्तव में यह समस्त चराचर जगत् उस परमात्मा की सत्ता के आश्रित है। पीछे दुन्दुभि आदि दृष्टान्त भी इसी लिए दिए हैं। लवण से भी यही बतलाया है कि जैसे लवण घुलकर जलमय होने पर भी जिधर से भी ग्रहण किया जाए वहाँ लवण ही लवण प्रतीत होता है, इसी प्रकार इस चराचर जगत् के पीछे अर्थात् भीतर व्यापक होने से सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर दृष्टिगत होता है।[९७] इसी भाव को मुण्डक उपनिषद् में भी देख चुके हैं। इसी भाव को दूसरे रूप में आगे कथन किया गया है कि यह पृथ्वी सब भूतों का उपकारक है तथा इसी प्रकार सब भूत इस पृथ्वी के उपकारक हैं। यह तेजोमय, प्रकाशमय, अमृतमय आनन्दमय पुरुष है वह उसी ब्रह्म के आश्रित है। समस्त विश्व को ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म कहा गया है।[९८]

---

९६. आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोहमस्मीत्यग्रे व्याहरत् ततोऽहं नामाभवत् तस्माद् प्येतर्ह्यामन्त्रि तोडहमयमित्येवाग्र......य एवं वेद।। वृहदारण्यक उप० १.४.१.

९७. यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं श्रृणोति........विजानीयादिति।। वृहदा० उप० २.४.१४.

९८. इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो.........सर्वम्।। वृहदा०उप० २.५.१.

इसी प्रकार आपः (जल) अग्नि, वायु आदित्य दिशाएं, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, धर्म और सत्यादि दृष्टान्तों से समस्त विश्व को उसके आश्रित बतलाकर उस आत्मतत्व को ब्रह्म कहा है। चूंकि संसार के पदार्थ उसके आश्रय में रहते हैं। इसलिए ये भी महान् है। परन्तु इनकी महत्ता ब्रह्म के कारण है। अन्य उपनिषदों में भी हम ऐसा ही देख आए हैं। संसार में समस्त वस्तुएं मिलकर उस ब्रह्म का पराभव नहीं कर सकती हैं क्योंकि वह सभी रूपों में पूर्ण है। सर्वत्र आकाश के समान होने से पूर्ण। उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ कार्य-कारण रूप संघातात्मक जगत् भी पूर्ण कहाता है। उसी पूर्ण परमात्मा के पूर्ण भाव को लेकर ही जगत् अव्याकृत से शेष रह जाता है। कौरव्यायणी के पुत्र का मत है कि जो परमात्मा के निरतिशय कल्याण गुणाकर होने से तथा आकाश की तरह सर्वगत होने से उसी को ब्रह्मवेत्ता लोग 'ओउम्' पद वाच्य कहते हैं। समाधि अवस्था में जप करते हैं, क्योंकि मनुष्य एकमात्र उसी ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा प्रसंख्यान् की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर सब प्रकार के क्लेशों से रहित हो जाता है।[९९] वास्तव में ब्रह्म सब कार्य-कारणात्मक संघात का कर्ता, धर्ता तथा हर्ता है। वह सदा एक रस आकाश की तरह व्यापक होने के कारण पूर्ण है। अथर्ववेद में भी यही कहा है कि उस सत्य रूप ब्रह्म के द्वारा ही भूमि, सूर्य आदि धारण किये हुए है।[१००] आचार्य शंकर ब्रह्म में किसी भी प्रकार के गुण की अवधारणा का प्रत्याख्यान करते हैं, इसलिए वे 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' का अर्थ निषेधात्मक विधि से करते हैं। सत्य का अर्थ करते हैं कि वह ब्रह्म असत् नहीं है। ज्ञान का अर्थ है कि उस ब्रह्म में अज्ञान नहीं है। अनन्त का अर्थ करते हैं कि वह ब्रह्म शान्त नहीं है। इसलिए शंकर ने ब्रह्म के द्वारा सृष्टि कर्तृत्व का खण्डन किया है। शंकर के सामने जब सृष्टि रचना का प्रश्न उत्पन्न हुआ तो उन्होंने माया की दो प्रकार की शक्ति को मानकर सृष्टि रचना का समाधान प्रस्तुत किया।

ईश्वर सम्प्रत्यय :-

वेदान्तसार में ईश्वर का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि सत्त्व की उत्कृष्ट

---

९९. ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ओम् खं ब्रह्म पुराणं वायुरं खमिति हस्माऽऽह कौरव्यायणीपुत्रो.....यद्वेदितव्यम्। वृहदा उप० ५.१.१.

१००. सत्येनोत्तभिता भूमि सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः।। अथर्ववेद-१४.१.१.

उपाधि से युक्त मायोपहित चैतन्य ईश्वर है। यह ईश्वर ही सृष्टि की रचना करता है यही संकल्प करता है कि 'एकोऽहम् बहुस्यामिति' इत्यादि श्रुति से शंकर ईश्वर के सम्प्रत्यय को स्वीकार करता है। ईश्वर जीवों का कर्म फल प्रदाता है, यह अनादि है। परन्तु पारमार्थिक सत् नहीं है। ईश्वर सृष्टि की रचना माया के सहयोग से करता है। इसी को सगुण ब्रह्म कहा जाता है। डॉ० राधाकृष्णन् ने शंकर के इस ईश्वर सम्प्रत्यय को स्पष्ट किया है कि ईश्वर सगुण ब्रह्म का नाम है। जिसे सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व माना गया है। शंकर का विश्वास है कि ईश्वर के अस्तित्व का प्रश्न सर्वथा निरर्थक है। यदि ईश्वर का अस्तित्व है तब उसका अस्तित्व भी अन्य प्रमेय विषयों की भांति ही होना चाहिए। यह ईश्वर को सीमित पदार्थों के स्तर पर पहुँचा देना होगा और इस प्रकार यह भी पदार्थों के अनन्त बाहुल्य में एक इकाई मात्र हो जाएगा जो उन सबसे भिन्न होगा, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वे एक-दूसरे से भिन्न है, अथवा वह भी कुल अस्तित्व सम्पन्न वस्तुओं में एक वस्तु के रूप में मिल जाएगा और बहु देवतावाद में सम्मिलित होकर एक ऐसी व्यवस्था को जन्म देगा जिसे नास्तिकवाद से भिन्न रूप में समझना कठिन होगा। ईश्वर के प्रश्न को अस्तिवाचक परिभाषाओं में प्रस्तुत करना प्रारम्भ में ही इस समस्या के समाधान की कुल सम्भावना को दूर कर देगा। यदि तर्क का कड़ा विधान हमें सत्य की प्राप्ति के लिए कोई सुरक्षा प्रदान कर सकता तो हम बहुत पहले ही इस तक पहुँच गए होते। सच्चाई तो यह है कि हमें तर्क के क्षेत्र में अनेक प्रकार के सम्प्रदाय मिलते हैं। जिनमें से प्रत्येक तर्कसम्मत होने का दावा करता है और दूसरों के साथ उसका विरोध होता है। ईश्वर की सत्ता के विषय में प्रस्तुत किए जाने वाले सभी प्रमाणों पर तथा ज्ञानवाद सम्बन्धी, विश्वविज्ञान-सम्बन्धी और भौतिक ईश्वरीय-ज्ञान सम्बन्धी प्रमाणों पर शंकर विचार करते हैं और उनकी निष्फलता को दर्शाते हैं, जैसाकि काण्ट ने भी बहुत पीछे जाकर किया।

तर्कशास्त्र का आदर्श हमें एक निर्दोष विषयी की यथार्थसत्ता की कल्पना करने को विवश करता है जिसके साथ समस्त सत्ता का सम्बन्ध प्रमेय पदार्थ (विषय) का सम्बन्ध है। क्रमबद्ध सामञ्जस्य के रूप में सत्य का अर्थ है एक दैवीय अनुभव की यथार्थता। एक व्यवस्था के अन्दर घटनाएं एक-दूसरे से सम्बद्ध है यह साधारण बुद्धि तथा विज्ञान की धारणा है जिसका बढ़ते-बढ़ते अनुभव से समर्थन हो जाता है यद्यपि उसकी पूर्ण रूप में कभी सिद्धि नहीं हुई। क्योंकि संसार में ऐसा बहुत कुछ है जो प्रत्यक्ष रूप में हमारे अनुभवों में नहीं

प्रविष्ट होता। ऐसा प्रतीत होता है कि हम बहुत कुछ जानते हैं यद्यपि इस सीमित क्षेत्र में भी हमारा ज्ञान अपूर्ण है। केवल यथार्थसत्ता का एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में पूर्णरूप में बोधग्रहण करने से ही हमारी इस धारणा का औचित्य माना जा सकता है कि ईश्वर है और वह सबका स्रष्टा है। हमारा मानवीय अनुभव संसार का ज्ञान उसके पूर्णरूप में प्राप्त करने तथा विशुद्ध सत् के अविराम अनन्तता के साथ सामञ्जस्य को समझने में असमर्थ है हम अपने अनुभव को चाहे कितना ही सरल तथा व्यवस्थित क्यों न बना लें और इसकी जटिलता को कम करके केवल एकमात्र प्रकृति तक भी ले आवें तो भी पुरुष अथवा विषयी को एक निरीक्षक के रूप में स्वीकार करना ही होगा जो देश तथा काल में से प्रकृति की एकाकी उड़ान का निरीक्षण करता है। यदि विश्व इतना छोटा है कि हमारा परिमित शक्ति वाला मस्तिष्क उसकी खोज ले सकता है; यदि हम यह बता सकते कि यह सृष्टि कहाँ से आई और किधर जाएगी, इसके आदि निकास तथा स्वरूप और लक्ष्य को समझ सकते, तब हम सीमित न होकर अनन्त की मांग भी उपस्थित न कर सकते। इस प्रकार की तार्किक धारणा एक विचारमात्र है कि समस्त तथ्य किसी व्यवस्था से सम्बद्ध है तथा ईश्वर की मननशक्ति को अभिव्यक्त करते हैं।

विश्व विज्ञान-सम्बन्धी तर्क कारण-भाव का प्रयोग करता है जो आनुभाविक जगत् में भी पर्याप्त सन्तोषजनक नहीं है और तब सर्वथा अनुपयोगी सिद्ध होता है जब हम आनुभाविक जगत् का सम्बन्ध परमयथार्थसत्ता के साथ स्थापित करने का प्रयास करते हैं जिसके विषय में कहा जाता है कि वह इस जगत् के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। प्रतीतिरूप जगत् की श्रृंखलाओं में भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ एक-दूसरे का समाधान नहीं कर सकती। प्रतीति रूप जगत् में हम किसी ऐसे कारण को जिसका कोई अन्य कारण न हो स्वीकार नहीं कर सकते। इस प्रतीति रूप श्रृंखला अर्थात् संसार के नितान्त प्रारम्भ का प्रश्न स्वतः विरोधी है। इसकी खोज का तात्पर्य है काल के अन्तर्गत उस सत्ता की खोज जो स्वयं काल की सत्ता की भी प्रतिष्ठा है। संसार का सारत्व ही यह है कि उसका आदि नहीं है। एक ऐसी अनन्तसत्ता जिस तक हम समस्त सीमित पदार्थों का निषेध करते हुए पहुँचते हैं एक ऐसा विचार है जिसके समाधान की आवश्यकता है। जब हम कारण-कार्यभाव के तर्क का उपयोग यथार्थसत्ता की सिद्धि के लिए करते हैं, जिसकी प्रामाणिकता की सीमा परिवर्तनशील आनुभाविक जगत् तक ही परिमित है, तो यथार्थसत्ता का भ्रमात्मक विचार होता है, क्योंकि उस अवस्था

में इसे ज्ञान का विषय बना लिया जाता है और वह जिसे हम संसार के कारणरूप में अनुमान के द्वारा जानना चाहते हैं वह भी आनुभाविक जगत् से सम्बद्ध हो जाता है। यदि हम इस सिद्धान्त की व्यापकता को भी स्वतः सिद्ध मान लें कि प्रत्येक कार्य का कारण होता है तब भी एक सीमित जगत् से हम एक सीमित स्रष्टा का ही अनुमान कर सकते हैं।[१०१] अवश्य ही आदि कारण को सत् के उस ही संघ की समान इकाई होना चाहिए। जिसके अन्य प्रमेय पदार्थ भी है क्योंकि उक्त प्रमेय पदार्थ भी उसी से सम्बद्ध होकर उत्पन्न हुए हैं। यदि ईश्वर जगत् का कारण है तो उसे भी देश-काल के ढ़ांचे के अन्तर्गत होना चाहिए, अर्थात् एक विस्तृत रूप से वृहदाकार मानव जिसके आत्मचैतन्य की परिभाषा हमारे अपने ही समान शरीर तथा मनरूपी साधन-सामग्री के द्वारा की जा सकती है। यदि इस प्रकार के सत्-स्वरूप प्राणी का अस्तित्व है तो हमारे ज्ञान का विस्तृत रूप कितना ही दूरदर्शी क्यों न हो 'वह' हमें उसके स्वरूप तथा सत्ता का निर्णय नहीं करा सकता। इस प्रकार का ईश्वर विशेषतः जो मानवीय साधनों के समान ही साधनों से कार्य करता है न तो अनन्त ही और न सर्वशक्तिमान् ही हो सकता है।

इस प्रकार का नैतिक तर्क की वस्तुओं का पूर्वापर सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा के अनुकूल है और यह एक उपकारी ईश्वर की कारीगरी को प्रदर्शित करता है, सर्वथा असन्तोषप्रद है हम प्रकृति की ओर चाहे कितना भी क्यों न झुकें एक यथार्थ जगत् में पुण्य व पाप का उत्तरदायित्व ईश्वर ही के ऊपर आता है।[१०२] यदि उसकी पाप के जनक होने के उत्तरदायित्व से मुक्त करने के लिए फारस के पुराणशास्त्र की भाँति शैतान को उत्तरदायी ठहराएं तो ईश्वर की एकता विलुप्त हो जाती है और हम ईश्वर एवं शैतान के बीच एक द्वैतभाव की पुनः स्थापना करते हैं। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा ईश्वर का ही एक अंश है तो ईश्वर को आत्मा की पीड़ा का भी अनुभव होना चाहिए वैसे ही जैसे कि जब शरीर के किसी एक अवयव को दु:ख होता है तो उसके साथ सारा शरीर दु:ख का अनुभव करता है। परिणाम यह निकला कि ईश्वर की पीड़ाएं जीवात्मा की पीड़ाओं से कहीं अधिक है और इसलिए हमारे लिए यह कहीं अधिक अच्छा होगा कि हम अपनी सीमित पीड़ाओं के साथ अपने अन्दर ही सीमित रहें, अपेक्षा इसके कि हम ईश्वर के स्तर तक उठें और समस्त जगत् का भार उठाने का प्रयत्न करें।

---

१०१. यत्कार्य तत् सकर्तृकम्।

१०२. यहूदियों के पैगम्बर द्वारा प्रस्तुत (कौषीतकि उपनिषद् ३:८).

एक पूर्ण निर्दोष ईश्वर को अपने सन्तोष की प्राप्ति के लिए किसी जगत् की आवश्यकता नहीं है। यदि यह कहा जाए कि जगत् उसके सुखोपभोग के लिए है तो फिर वह भी एक संसारी जीव हो गया और ईश्वर न रहा।

यदि हम कहें कि ईश्वर में संकल्प है तथा हमारे जैसा व्यक्तित्व, और पूर्णता आदि गुण है तो यह विचार में नहीं आ सकता कि ये सब उसकी निरपेक्षता के साथ-साथ कैसे रह सकते हैं व्यक्तित्व के लक्षण (गुण) तथा निरपेक्षता (ब्रह्म) को एक साथ सुरक्षित रखना तर्क शास्त्र की दृष्टि में लगभग असम्भव सा ही है।

ईश्वर के अस्तित्वविषयक उक्त अपर्याप्त प्रमाणों से जो परिणाम निकलता है वह शंकर के अनुसार यह है कि यथार्थसत्ता के विषय में इस प्रश्न का कुछ अर्थ ही नहीं है और यह प्रश्न केवल आनुभाविक जगत् में ही उठ सकता है। जब हम जगत् के सापेक्षस्वरूप को समझ लेते हैं तो हम देखते हैं कि सृष्टि रचना की समस्या और उसका समाधान इन दोनों का सम्बन्ध हमारे तर्कमय जगत् से ही है किन्तु यथार्थसत्ता का जो स्वरूप है उसके साथ नहीं है। तार्किक प्रमाणों के निराकरण का तात्पर्य ईश्वर के अस्तित्व का निषेध नहीं है। शंकर दृष्टिकोण से कोई भी विवेकपूर्ण तर्क शरीर धारी सर्वोपरि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में अन्त में पहुँचकर स्वीकार किये जाने के य़ोग्य नहीं है। अधिक से अधिक उक्त प्रमाण हमें यह बतला सकते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना है। ईश्वर की यर्थाथता हमारी कल्पना की तथा बोधग्रह की विवेकशक्ति से अतीत है।[१०३] केवल उसी अवस्था में जब कि हम ऋषियों की उस आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का आश्रय ग्रहण करें जो धर्मशास्त्रों में संगृहीत है; हमें ईश्वर की सत्ता का निश्चित ज्ञान प्राप्त हो सकता है। श्रुति उसका आधार है।[१०४] ईश्वर सर्वोपरि आत्मा है, सर्वज्ञ है तथा सर्वशक्तिमान् है। वह प्रकृति का आत्मतत्व है, विश्व का तत्व है, इसका जीवनदायी प्राण तथा प्रेरक स्रोत है और समस्त सत्ता-रूप आकृतियों का आदि और अन्त है। जो सिद्धान्त शास्त्रप्रमाण के ऊपर आधारित है यह आवश्यक नहीं कि वह तर्क के विरुद्ध हो। श्रुति की स्वीकृति ऐसी एक धारणा को स्वीकार करना है जिसके विरोधी प्रमाण न हो भले ही उसके पक्ष में प्रमाण पर्याप्त मात्रा में न मिलें। तार्किक विवरण में हम अपने को एक ऐसे

१०३. भूमिका १२, सिविलिजेशन एण्ड एथिक्स, भाग,२ स्वीट्जर.
१०४. विलीव इन गॉड्, पृष्ठ-१५२, केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य की तुलना १.४.

संसार को सौंप देते हैं और ऐसे विवादास्पद विषय पर पहुँच जाते हैं जहाँ हमें अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। अन्तर्दृष्टिपरक अनुभव की प्राप्ति से पूर्व हमें श्रुति का आश्रय लेना पड़ता है। ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व के विषय में धर्मशास्त्र ही हमारा एकमात्र ज्ञान का साधन है।[१०५]

यह बलपूर्वक कहा है कि "वह कारण जिससे संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय सम्पन्न होते हैं जिसका विस्तार ही नाम व रूप हैं, जिसके अन्तर्गत अनेकों कर्ता तथा फलोपभोक्ता समाविष्ट हैं, जिसके अन्तर्गत कर्मों के फल भी समाविष्ट है और जिनका निर्णय विशेषकर देश, काल और कारण के द्वारा होता है। यह जगत् जिसका निर्माण एक ऐसी व्यवस्था के अनुसार हुआ है जो मन की कल्पना से भी दूर है-यह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् कारण ब्रह्म ही है।[१०६] समस्त आध्यात्मिक और नैतिक पूर्णताएं उसी के अन्तर्गत बतलाई गई हैं। यह कहा गया है कि वह समस्त पाप से ऊपर है।[१०७] वही अन्तर्यामी परमात्मा विषय तथा विषयी जगत् में सर्वत्र व्याप्त है, वह सूर्य (प्रमेय विषय) का अन्तर्वर्ती है तथा आंख में भी अन्तर्वर्ती रूप में देखा जाता है।[१०८] वह विश्व का स्रष्टा, शासक तथा संहारक है।[१०९]

आचार्य शंकर की इस मान्यता का यह कारण है कि संसार एक कार्य है, कार्य की सिद्धि बिना कारण के नहीं हो सकती। किसी वस्तु का मूल कारण कोई कारण नहीं होता है इसलिए ईश्वर का भी कोई कारण नहीं माना जा सकता है। ईश्वर की उत्पत्ति अनात्म से भी नहीं हो सकती है। श्रुति में भी कहा है कि ईश्वर परिवर्तित सत्ता नहीं है।[११०] ईश्वर अजन्मा है वह किसी का कार्य नहीं है और न ही उसका कोई कारण है।

आचार्य शंकर ने ईश्वर को जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण बताया है। इस आपत्ति के उत्तर में कि अनुभव के अनुसार उपादान कारण ज्ञान सम्पन्न नहीं होते, शंकर कहते हैं; यह आवश्यक नहीं है कि यहाँ भी ठीक वैसा ही

---

१०५. ब्रह्म सूत्र १:१, ३.

१०६. शांकर भाष्य १:१,२.

१०७. छान्दोग्य उपनिषद् १:६, शांकर भाष्य १:१, २०.

१०८. शांकर भाष्य १:१,२०, वृहदारण्यक उप० ३:७,९.

१०९. शांकर भाष्य १:१, १८-२०, २२, १:३, ३९, ४१, १:२, ९-१०.

११०. शांकर भाष्य २:३,९.

हो जैसा अनुभव में होता है; क्योंकि इस विषयी का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा हुआ है, अनुमान के द्वारा नहीं। जब हम श्रुतिवाक्यों पर विश्वास करते हैं तो हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम अनुभव की भी अनुकूलता ढूंढ़े।[१११]

न्यायदर्शन के अनुसार निमित्त कारण वह है जिसका ज्ञान, इच्छा, तथा प्रयत्न किसी भी पदार्थ को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। वेदान्ती केवल ज्ञान को ही अपने में पूर्ण मानता है। किन्तु इच्छा तथा प्रयत्न को नहीं जिनके लिए एक पूर्ववर्ती इच्छा तथा पूर्ववर्ती प्रयत्न की कल्पना करनी पड़ती है, और इस प्रकार कहीं अन्त नहीं ऐसा तर्क उपस्थित किया जाता है कि ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि दोनों के स्वभाव में अन्तर है, अर्थात्-कारण और कार्य एक-दूसरे से विलक्षण है। सोने का एक टुकड़ा मिट्टी के बर्तन का कारण नहीं हो सकता, इस प्रकार विशुद्ध तथा धार्मिक ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् अशुद्ध तथा अधार्मिक है।[११२] शंकर के उत्तर में कहते हैं कि अचेतन पदार्थ प्रायः चेतन प्राणियों से जन्म लेते हैं जैसे बाल और नाखून चेतन मनुष्य से उत्पन्न होते हैं। अचेतन गोबर से चेतन गुबरैला उत्पन्न हो जाता है। यदि यह कहा जाए कि इन अवस्थाओ में दिखाई देने वाली विभिन्नता के होते हुए भी एक मौलिक तादाम्य है, क्योंकि ये दोनो ही भूमि से उत्पन्न होते हैं; तो शंकर इसका उत्तर यों देते हैं कि ईश्वर और जगत् में सत्ता का एक सामान्य लक्षण है। दोनों ही सर्वथा भिन्न नहीं हैं और यदि ईश्वर के अन्दर कुछ अतिशय है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि कारण में सर्वत्र यह विशेषता पाई जाती है।[११३]

शंकर के द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के सम्प्रत्यय को लेकर अनेक प्रश्न होते हैं। प्रथम प्रश्न यह है कि यदि ईश्वर से जगत् उत्पन्न होता है और उस ईश्वर में समाहित हो जाता है तो ऐसे गुण जैसे-जड़ता, सीमितता, अशुद्धता और संयोग आदि ईश्वर को अवश्य ही मलिन कर देते होंगे।[११४] इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शंकर कहते हैं कि जब कार्य अपने कारणों में समाहित होते हैं तो उस समय

---

१११. न अवश्य तस्य यथादृष्टमेव सर्वम् अभ्युपगन्तव्यम् (ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ दी वेदान्त पृष्ठ ९२-९३).

११२. शांकर भाष्य २:१,४.

११३. शांकर भाष्य २:१, ६.

११४. स्थौल्य, सावयवत्व अचेतनत्व, परिच्छिन्नत्वाशुद्ध-यदि।

वे अपने विशिष्ट गुणों को त्याग देते हैं जैसे-सोने से निर्मित आभूषण आदि पुनः सोने में परिवर्तित होते समय अपने साथ खोट नहीं लाते हैं। इसी प्रकार जगत् के जड़तादि गुण प्रलय के समय अपने मुख्य कारण में ही विलीन हो जाते हैं।[११५] यदि यह कहा जाए कि जगत् अपने विशिष्ट गुणों को त्याग कर ईश्वर में समाहित होता है तो फिर ईश्वर को सृष्टि बनाने का कोई कारण नहीं होना चाहिए। क्योंकि अपने को योग्य और भोक्ता आदि भेदों रूपों में विभक्त करें, जैसा कि नई सृष्टि में होता है। इस पर शंकर का कहना है कि जीवात्मा समाधि तथा प्रगाढ़ निद्रा में अपनी मौलिकता के रूप में कुछ समय के लिए वापस पहुँच जाता है। परन्तु उपर्युक्त अवस्थाओं में जागरित होने पर तब तक के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन में आ जाता है जब तक कि वह अविद्या से मुक्त नहीं होता।[११६] इसी प्रकार क्रिया ईश्वर के अन्दर समान रूप में बनी रहती है, यद्यपि उस समय वह अभिव्यक्त रूप में नहीं होती है। जब जगत् उसमें नहीं समाता है। श्रुति में ईश्वर को अर्न्तयामी माना है; शंकर अर्थ करते हुए कहते हैं कि ईश्वर जीवात्मा से पृथक् नहीं है। इस अवधारणा की व्याख्या करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा है कि चूंकि नितान्त विशुद्ध होने के कारण वह अपवित्र शरीर में अपनी निजी आत्मा सहित प्रवेश नहीं करेगा और यदि वह ऐसा करता भी है तो भी इस बात को स्मरण करना छोड़ देगा कि उसने स्वयं ही इसे बनाया है। आत्मा जिसके रूप में ईश्वर जगत् में प्रविष्ट हुआ बिना किसी कष्ट के जगत् का संहार कर देती जिस प्रकार कि एक जादूगर अपने द्वारा उत्पन्न किए गये चाक-चक्य को नष्ट कर देता है। चूंकि यह नहीं होता इसलिए परिणाम यह निकला कि जगत् का निर्माण किसी ऐसे धार्मिक सत् के द्वारा नहीं हुआ जो यह जानता हो कि उसके लिए श्रेयस्कर क्या है।[११७]

इस आपत्ति का उत्तर शंकर यों देते हैं कि देखो एक ही कारण से भिन्न-भिन्न कार्यो की उत्पत्ति होती है। यह एक ही पृथ्वी अनेक प्रकार के पत्थरों को उत्पन्न करती है जिनमें बहुमूल्य जवाहरात भी हैं और साधारण पत्थर भी है। ठीक इसी प्रकार एक ही ईश्वर से नानाविध आत्माओं तथा कार्यों की सृष्टि होती है।[११८]

---

११५. शांकर भाष्य २:१, ९.
११६. शांकर भाष्य २: १, ९.
११७. शांकर भाष्य २:१, २१.
११८. शांकर भाष्य २:१, २३.

ईश्वर बिना साधनों के सृष्टिरचना करता है। अपनी महान् शक्तियों के द्वारा वह अपने को अनेक कार्यरूपों में परिणत कर लेने में समर्थ है।[११९] ईश्वर को किसी बाह्य सहयोग की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके अपने अन्दर सब प्रकार की आवश्यक शक्तियाँ पूर्णरूप में विद्यमान हैं। यह कहा जाता है कि ईश्वर और ऋषिगण केवल समाधि के बल से अनेक वस्तुओं का सृजन कर सकते हैं। और इस कार्य में उन्हे किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती है।[१२०] सृष्टि की उत्पत्ति का उसका कार्य मानवीय कर्मों के समान नहीं है।[१२१] अपनी प्रकृति के विशेष गुण के कारण ईश्वर अपने को जगत् के रूप में परिणत कर लेता है ठीक उसी प्रकार जैसे कि दूध-दही में परिणत हो जाता है।[११२] चूंकि अनेकत्व पूर्ण जगत्-ईश्वर से उत्पन्न होता है इसलिए ईश्वर अनेक शक्तियों का भण्डार है।[१२३] यदि ईश्वर तात्विक रूप में स्वतन्त्र है तो उसे सृष्टि रचना के लिए कोई विवश नहीं कर सकता। ईश्वर में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है और न कोई उसकी अतृप्त इच्छा ही है। ईश्वर के पक्ष में किसी प्रयोजन का निर्देश करने से उसकी पूर्णता के साथ विरोध होता है।[१२४]

यदि इस जगत् की उत्पत्ति किसी प्रयोजन से हुई अथवा किसी इच्छा को व्यक्त करती है अथवा किसी अभाव की पूर्ति करती है तब इसका अर्थ होगा कि उसके अन्दर किसी वस्तु की आवश्यकता का भाव एवं उस सर्वोपरि सत्ता की अपूर्णता प्रकट होती है। यदि उसने बिना किसी निश्चित उद्देश्य के सृष्टि रचना की तो फिर उसके और एक बच्चे के कर्मों में कोई भी भेद न हुआ। यदि ईश्वर ही एक मात्र कारण होता तो समस्त कार्य एक साथ उपस्थित हो जाता, किन्तु वस्तुतः हमें एक शनैः-शनैः विकसित होती हुई उन्नति मिलती है, जो इस बात का संकेत करती हुई प्रतीत होती है कि भिन्न-भिन्न स्थितियों के लिए कारण भी भिन्न-भिन्न है। उत्तर में यह कहा गया है कि अनिवार्य रूप में बाह्य क्रियाशीलता केवल लीलामात्र है, ऐसा समझना चाहिए; जो उसके अपने स्वभाव वश

---

११९. परिपूर्ण शक्तिकम् शांकर भाष्य २:१, २४.
१२०. शांकर भाष्य २:१, २५, ३१.
१२१. शांकर भाष्य १:४, २७.
१२२. क्षीरवत् द्रव्यस्वभाव विशेषात् शांकर भाष्य २:१, २४.
१२३. शांकर भाष्य २:१, ३०,
१२४. नित्यपरितृप्तत्वम् शांकर भाष्य २:१, ३२-३३.

है और उसमें कोई प्रयोजन नहीं रहता।[१२५] ईश्वर की रचनात्मक कर्मण्यता उसकी पूर्णता का अनिच्छिता अतिरेक है जो अनुत्पादक के रूप में उसके अपने अन्दर नहीं समा सकता। लीला का भाव अनेक सुझाव उपस्थित करता है। सृष्टि रचना का कर्म किसी स्वार्थपरक प्रयोजन की प्रेरणा से नहीं है। यहं ईश्वर के स्वभाव का स्वाभाविक अतिरेक है, जिस प्रकार श्वास-निश्वास मनुष्य की स्वाभाविक क्रिया है।[१२६] ईश्वर बिना सृष्टि रचना के रह नहीं सकता। सृष्टिरचना का कार्य आकस्मिक घटना अथवा अविवेक का परिणाम नहीं है किन्तु केवल ईश्वर के स्वभाव का परिणाम है। अपने आह्लाद की पूर्णता के कारण ईश्वर बाहर की ओर जीवन तथा शक्ति का वितरण करता है।[१२७] शंकर अनन्त को ऐसा नहीं मानते कि वह पहले अपने में अवस्थित हो और फिर आवश्यकता वश यह अनुभव करे कि उसे सीमित अवस्था में बाहर जाना चाहिए। वह अपने आह्लाद की अपरिमितता के कारण तथा नैतिकता की मांग के कारण भी सृष्टि की रचना करता है। इस सृष्टि को एक ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी मनोरंजक खेल समझकर, जिसका आनन्द सर्वोपरि ब्रह्म अनुभव करता है शंकर उस प्रयोजनात्मकता, विवेकपूर्ण, सुखसान्त्वना तथा निष्क्रियता का प्रतिपादन करते हैं जिसके द्वारा सृष्टि का धारण होता है।

ईश्वर एवं माया :–

शंकर ने एक प्रकार से ईश्वर को जगत् रचयिता माना है। क्योंकि उनकी मान्यता है कि ब्रह्म पूर्णरूपेण निर्गुण है, इसलिए वह सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता इसके विपरीत उन्होंने यह भी माना है कि ''अभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्म इति'' अर्थात् ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। यहाँ पर यह विचारणीय है कि जब उन्होंने अपने शांकरभाष्य में ब्रह्म को निमित्त और उपादान कारण मान लिया है तो ईश्वर के सम्प्रत्यय को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? संभवत: उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि सृष्टि कर्तृत्व एक गुण एवं क्रिया है उनकी दृष्टि में ब्रह्म पूर्ण रूपेण निर्गुण है, इसलिए सृष्टिरचना की समस्या का समाधान ईश्वर सम्प्रत्यय को मान कर ही किया जा सकता है।

---

१२५. शांकर भाष्य २:१, ३३.

१२६. शांकर भाष्य २:१, ३३.

१२७. इसके साथ आत्मा के विषय में प्लाटिनस के विचार की तुलना कीजिए। वहाँ भी इसे अतिरेकमय पूर्णता बताया गया है।

ईश्वर सृष्टि रचना माया के बिना नहीं कर सकता है। शंकर की दृष्टि में यद्यपि ईश्वर भी मायोपहितचैतन्य ही है। मायोपहितचैतन्य ईश्वर से रचना किया हुआ जगत् परिणाम एवं विकार न होकर विवर्त है। यद्यपि शंकर ने जगत् की वस्तुओं को व्यावहारिक सत् रूप में माना है, परन्तु यह सत् अज्ञान दूर होने तक सीमित है इसलिए यह एक प्रकार से अद्भुत विषय है कि भेद शून्य ब्रह्म के इन दो विरोधियों के मध्य चाहे वे प्राकृतिक रूप में एक-दूसरे से कितने भी पृथक् क्यों न हों शंकर कोई भी स्पष्ट भेद नहीं मानते और यहाँ तक कि एक वाक्य के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने औपचारिक आकृतियों में प्रस्तुत आकृतियों को आधार (आलम्ब) के रूप में देखा। परिणाम यह निकला कि हमारे ग्रन्थकार को उनके मध्य जो भेद है उसके विषय में स्पष्ट ज्ञान कभी नहीं हुआ।[१२८] ड्यूसन स्वीकार करता है कि शंकर ने एक वाक्य में इस भेदभाव का उल्लेख किया है[१२९] और इसे व्यर्थ बताकर छोड़ दिया है। समस्त प्रतीति स्वरूप जगत् ब्रह्म का ही आभास है। ब्रह्म जिसके ऊपर सब स्थित है तब ईश्वर बन जाता है जब औपचारिक रूपों का आकार धारण करता है और अपने अन्दर सबको समाविष्ट कर लेता है। एक ओर अनन्त ईश्वर तथा दूसरी ओर जीवात्माएं इनके मध्य जो भेद है वह ऐसा है जैसा कि एक ही सम्पूर्ण इकाई के अवयवों में होता है दृष्टान्त के रूप में जैसा भेद मगध तथा विदेह के राज्यों में या जो दोनो एक ही जगत् से सम्बद्ध है।[१३०] जब हम यथार्थ ब्रह्म का विचार ब्रह्म के सांसारिक रूप में करते हैं, तो ईश्वर, मनुष्य और जगत् (ईश्वर, जीव, प्रपञ्च) प्रधान अवयव बन जाते हैं।

विचारात्मक दर्शनशास्त्र सत्तात्मक जगत् की उत्पत्ति का अनुमान एक निरपेक्ष परमात्मा के प्रथम तत्व से करते समय, जिसमें आनुषंगिक कुछ नहीं है चाहे पूर्व में हो चाहे पश्चिम में, विषयनिष्ठता (प्रकृति) के आत्माभिव्यक्ति (माया) सम्बन्धी किसी न किसी तत्व को स्वीकार करने के लिए विवश है। यूरोपियन विचारधारा में काण्ट ने तर्क किया कि आत्मबोध के अतीन्द्रिय एकत्व के अतिरिक्त अन्य कोई अनुभव नहीं है और तो भी उसने इसे विशुद्ध औपचारिक बना दिया और इस प्रकार इससे सम्पूर्ण अनुभव को उत्पन्न करने में

---

१२८. ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ दिवेदान्त, पृष्ठ २०५-२०६.
१२९. शांकर भाष्य ३:२, २१.
१३०. शांकर भाष्य ३:२; ३१.

असफल रहा। अनुभव को आत्मबोध की अतीन्द्रिय एकता और वस्तुओं के अपने अन्दर अनुभव को एक पारस्परिक प्रतिक्रिया मानते हुए उसने अपने दर्शन में तर्क विरुद्ध आकस्मिक घटना के एक अंश को स्थान दिया। फीश्ट काण्ट से इस प्रमुख सत्य को ग्रहण कर लेता है कि समस्त अनुभव एक विषयी के लिए ही अपना आस्तित्व रखता है और इसी से समस्त अनुभव को विकसित करने का प्रयत्न करता है। उसका मत है कि विषयी के विकास में किसी विजातीय अवयव का प्रवेश नहीं है किन्तु प्रत्येक क्रम का निर्णय अन्दर से ही होता है। निरपेक्ष विषयी अपनी स्थापना ही के कर्म में अपने को एक 'अन्य' का रूप देता है। आत्मा बिना अपने से भिन्न एक विरोधी तत्व का जो अनात्म हो के निर्माण के लिए अपने विषय में स्वीकारोक्ति अथवा स्थापन नहीं कर सकता। अन्यता का अंश आत्मा के अपने निजी सत्त्व में ही उत्पन्न किया जाता है। शनैः शनैः निरपेक्ष आत्मा के अन्दर सीमित अहंभाव के अनेकत्व के रूप में सर्वथा अपने से भिन्न तथा अपनी भिन्न-भिन्न आकृतियों में भेद उत्पन्न होता जाता है। फीस्ट काण्ट द्वारा मान्य आत्मा को इस प्रकार अपने ही अन्दर से एक नियन्त्रक अथवा बाधक अनात्म को उत्पन्न करना होता है, जो इसकी क्रिया के विषय में अभिज्ञता रखने के लिए एक आवश्यक उपाधि है। आदिम चैतन्य की स्वनिर्मित सीमा अथवा एक ऐसी बाधा की उत्पत्ति की कल्पना करनी ही पड़ती है। जिसके विरुद्ध आत्मा को अपने-आपको विभक्त करना होता है, भले ही वह बुद्धिगम्यता से कितनी ही अतीत क्यों न हो। इसी प्रकार ईश्वर सम्बन्धी विचार में निरपेक्ष परब्रह्म के अतिरिक्त विषयनिष्ठता अथवा प्रकृति, आत्माभिव्यक्ति अथवा माया का अंश भी रहता है।

यह परिणमित जगत् है उसका ब्रह्म कारण होना सम्भव नहीं है क्योंकि ब्रह्म तो अखण्ड है। जब यह ब्रह्म स्वयं में परिणमित हो जाता है तो वह ब्रह्म नहीं रहता, परन्तु उसका अपनापन बना रहता है। इस प्रकार के अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। परिवर्तनशील विश्व का कारण प्रकृति नहीं हो सकती है, क्योंकि वह जड़ है, ब्रह्म जहाँ एक ओर सत् है वहाँ प्रकृति के साथ संयोग करना उसके लिए सम्भव नहीं है। यदि ब्रह्म के साथ परमनिरपेक्ष वर्ग के रूप में प्रकृति की स्थापना की जाए तो ब्रह्म के स्वरूप को सीमित करना होगा।

इन उपर्युक्त कठिनाईयों को दूर करने का एक मात्र यही उपाय है कि एक सगुण ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया जाये जो ईश्वर के रूप में शंकर दर्शन

में प्रतिष्ठित किया गया है वह अपने अन्दर सत् तथा परिणाम से विशिष्ट लक्षणों को अर्थात् अनासक्त ब्रह्म तथा अचेतन प्रकृति को समाहित कर लेता है।

आचार्य शंकर ने कहा है आदि एकत्व अपने से बाहर निकल जाता है, वह एक ऐसा अपने अव्यक्त से व्यक्त रूप उत्पन्न करता है जो इससे अपेक्षतया स्वतन्त्र है, एक ऐसी सत्ता सरल, निर्मल तथा आत्मभूत निरपेक्ष ब्रह्म शरीरधारी प्रभु का रूप धारण कर लेता है जो विश्व के अन्दर सत् का है। डॉ० राधाकृष्णन् ने इसका विस्तृत विवेचन करते हुए कहा है कि ''ब्रह्म'' वह सत्ता है जो विषयी तथा विषय दोनों से परे हैं। जब यह विषयी के रूप में होता है तो एक विषय से व्यवहार करते हुए हम इसे ईश्वर कहते हैं यह शब्द ब्रह्म है एक और अनेक है। विषयनिष्ठ शून्य प्रकृति विषयी रूप ईश्वर, ईश्वर की शक्ति के द्वारा समस्त जगत् का विकास करती है। प्रकृति अथवा विषय की अपने-आप में कोई सत्ता नहीं और न कुछ अर्थ है। यह विवेक शून्य है और इस पुकार बिना किसी एक विवेक-सम्पन्न आत्मा के कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकती। यह केवल विषयी से विपरीत भिन्न सत्ता है और जगत् ईश्वर के असमान अथवा अनन्य रूप है। जो आत्मचेतन ब्रह्म है। ईश्वर के अन्दर ब्रह्म तथा प्रकृति दोनो तत्व संयुक्त हैं। वह केवल नितान्त चैतन्य नहीं है किन्तु एक आत्मचेतन व्यक्तित्व है। ''उसने योजना बनाई (ऐक्षत) कि मैं अनेक हो जाऊं और मैं उत्पत्ति करूँ।[१३१] ज्ञान, आमचैतन्य तथा व्यक्तित्व ये सभी सम्भव हो सकते है जबकि प्रमेद विषय विद्यमान हो। सर्वज्ञत्व ईश्वर का लक्षण है यद्यपि इसकी सम्भावना की व्याख्या भिन्न प्रकार से की जाती है।[१३२] ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान है। यह ज्ञान एक विषय का रूप धारण कर लेता है। जब यह किसी ज्ञातव्य विषय के द्वारा सीमित हो जाता है। तब उस विषय के सम्बन्ध में ब्रह्म को विज्ञाता अथवा ज्ञान का प्रमाता विषयी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म जिसका स्वरूप ज्ञान है तब एक ज्ञाता बन जाता है जब वह एक ज्ञेय विषय के सम्बन्ध में प्रकट होता है।[१३३]

इस प्रकार का विचार रखने में एक अनात्म व्यक्तित्व का आन्तरिक अंश बनाकर रहता है शंकर, रामानुज तथा हीगल के साथ सहमत हैं। केवल जहाँ वे व्यक्तित्व के भाव को उच्चतम मानते हैं। वहाँ शंकर बलपूर्वक कहते हैं कि जब

१३१. छान्दोग्य उप० ६:२.३. तथा ऐतरेय उप०-१:१,१, प्रश्नोप० ६:३,४, मुण्ड० उप० १,१,९.

१३२. शांकर भाष्य १:४, ९, तथा सिद्धान्त लेश.

१३३. यही मत वाचस्पति का भी है।

तक हमें अनात्म को चैतन्य ज्ञान है हम प्रीतिरूप जगत् के अन्दर हैं। यथार्थसत्ता तक पहुँचने के लिए हमें इस भेदभाव से अवश्य ऊपर उठना होगा। जब विशुद्ध सत् एक सम्बद्ध विशिष्ट सत् बन जाता है तो इसका पहला सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु के साथ होना चाहिए जो सत् से भिन्न हो और जो सत् से भिन्न है वह असत् है।[१३४] ईश्वर जो ब्रह्म अर्थात् प्रकाश की अविच्छिन्न शक्ति से भिन्न है एक प्रकाश है जो अपनी सत्ता को अन्धकार के अन्दर से तथा उसके द्वारा स्वीकारात्मक रूप में दावे के साथ प्रकट करता है। वह सत्य का तत्त्वरूप है जो अस्तव्यस्तता को व्यवस्था का रूप देता है और ईश्वर की आत्मा है जो जल ऊपर के स्तर पर विचारमग्न है।[१३५] अन्धकार प्रकाश के ऊपर आधिपत्य जमाकर उसे आवृत्त करने का प्रयत्न करता है और सबको ढक लेने की चेष्टा करता है और प्रकाश बराबर अन्धकार को दबाने में तत्पर रहता है जहाँ एक ओर ब्रह्म और अन्धकार में ईश्वर तथा अन्धकार में एक अनिवार्य विरोध है अर्थात् एक प्रकार का संघर्ष बराबर बना है वहाँ अन्त में अन्धकार पर प्रकाश की विजय होती है। इस प्रकार ईश्वर ब्रह्म तथा जगत् के मध्य एक मध्यस्थ तत्व है और दोनों के ही स्वरूप में हिस्सा बांटता है। उसका ब्रह्म के साथ तादाम्य है और फिर भी वह प्रमेय जगत् से सम्बद्ध है।

शंकर का मत है कि सृष्टि रचना से पूर्व भी शरीरधारी ईश्वर का उन नामों तथा रूपों में एक प्रयोजन रहता है जिनके लिए हम सत् की पारिभाषिक संज्ञा का प्रयोग नहीं कर सकते और न वे उसके विपरीत गुण ही हैं जिनका अभी विकास नहीं हुआ है हालांकि वे विकास के प्रति प्रयत्नशील है।[१३६] यहाँ हम परमतत्वरूप आत्मा को अहं के रूप में निर्दिष्ट पाते हैं जो अहं से विपरीत को अपना विषय मानकर चिन्तन करता है। ईश्वर की दृष्टि में अपरिवर्तनशीलता तथा निष्क्रियता असम्भव है। व्यावहारिक अर्थों में यथार्थ सत्ता के रूप में उसे सदा कर्मठ रहना चाहिए, अपने को पहचानने के लिए अपने को खोते हुए विश्व में प्रकट होते हुए और फिर विश्व के ही द्वारा अपने स्वरूप में पुनः वापस लौटते हुए। वह जो करता कुछ नहीं और जगत् से तटस्थ होकर खड़ा रहता है। ईश्वर नहीं है, कम से कम किसी प्रकार भी एक प्रेममय ईश्वर नहीं है। प्रेम इसके

---

१३४. प्रकाश अन्धकार के अन्दर से चमकता है (सेंट जॉन १:५).
दि गोस्पल अकार्डिग टू सेट जॉन, पृष्ठ ५.

१३५. प्रस्तावना भगवद्गीता पर शांकर भाष्य १.

१३६. शांकर भाष्य १:१५, अनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते.

विषयों के जीवन में दुख को किन्तु अनिष्ट कर्म को अपराध और पाप को नहीं तथा धार्मिक जीवन की प्रसन्नता को प्रदर्शित करते हुए उपस्थित रहता है। शंकर की दृष्टि में अन्य अनेक दार्शनिकों की ही भांति ऐसा आत्मचेतन सत् असम्भव है जिसका कोई उद्देश्य न हो और जिसका कोई विपरीत गुण न हो तथा जो अपनी परिभाषा में अपने एकत्व का समर्थन न करे। यह अभिव्यक्तियों अथवा प्रमेय पदार्थों के द्वारा ही सम्भव है तथा अपने अस्तित्व को स्थिर रखता है। तो भी यह मानना भी आवश्यक है कि यह अपने विषयगत परिवर्तनों से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता। यह एक ऐसा साध्यपक्ष है जिसे सिद्ध करना कठिन है। प्रकृति की घटनाएं तथा आत्माओं का परिवर्तन ईश्वर के स्वरूप में भी परिवर्तन उत्पन्न करता है। वेदान्त परिभाषा नामक ग्रन्थ स्पष्ट रूप में स्वीकार करता है कि जीवित प्राणियों की क्रियाएं माया अथवा प्रकृति के नानाविध परिवर्तनों को जन्म देती हैं जो उपाधि अथवा ईश्वर की देह है।[१३७]

शंकर के अनुसार ईश्वर समस्त सीमित एवं औपचारिक जगत् का प्रलय स्थान है। वह ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादानकारण भी है। शंकर के आलोचक यह कहकर आलोचना करते हैं कि शंकर की मान्यता भावात्मक वस्तुओं के निर्माण का कोई दृष्टांत प्रस्तुत नहीं कर सकती है। इसलिए शंकर प्रायः करते संतुष्ट हो जाता है। यहाँ पर शंकर माया और जादूगर का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार उस माया से जिसे जादूगर स्वयं बनाता है उसके ऊपर किसी प्रकार का असर नहीं होता क्योंकि वह माया अयथार्थ होता है, इसी प्रकार सर्वोपरि ब्रह्म भी संसाररूपी माया से प्रभावित नहीं होता।[१३८]

इस प्रकार शंकर सीमित के निराकरण के विचार तथा ईश्वर सम्बन्धी विचार में अनन्त की पूर्वकल्पना के विचार को एक साथ संयुक्त कर देते हैं। स्पिनोजा के विरुद्ध जो यह कहा जाता है कि वह निरपेक्ष परमब्रह्म का केवल मात्र एक अनिर्दिष्ट सत् के शून्य रूप में निरूपण करता है और जिसे वह असंगत रूप में आत्मनिर्णायक ईश्वर के रूप में परिणत कर देता है इसमें कुछ बल नहीं है क्योंकि शंकर इस प्रकार की किसी महती असंगति के लिए वचनबद्ध नहीं है। वे स्पष्ट रूप में इस विषय से अभिज्ञ हैं कि अनन्त विषयक सब प्रकार के

---

१३७. सृज्यमान् प्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूतमायायां वृत्तिविशेषा। इदमिदानीं. सृष्टव्यम्, इदमिदानीं पालयतिव्यम्, इदमिदानीं सहर्तव्यम्, इत्याद्याकारा.

१३८. जायते, तासां च वृत्तीनां सादित्वात् तत्प्रतिबिम्बित चैतन्यमपि सादीत्युच्यते। शांकर भाष्य २:१,४.

निर्धारणों को निराकरण हमारे सम्मुख केवल एक अमूर्त रूप को प्रस्तुत कर सकता है जिसके विषय में इसके अतिरिक्त कि यह है और कुछ कथन नहीं किया जा सकता। जब तक हम तर्कशास्त्र के उपायों का प्रयोग करते हैं तब तक जिस यथार्थसत्ता तक पहुँचते हैं वह अनिर्दिष्ट ब्रह्म नहीं किन्तु सीमित ईश्वर है जो विश्व के नाना प्रकार के परिवर्तनों का निकास स्थान है। किन्तु शंकर के दर्शन में आदि से अन्त तक तर्कशास्त्र की पर्याप्तता और इसके आदर्श की अन्तिमता के विषय में अरुचि ही पाई जाती है और इस प्रकार हम देखते हैं कि सगुणब्रह्म अथवा एक मूर्तरूप आत्मा का यह विचार उनके अनुसार असंगतियों तथा परस्पर विरोधों के कारण इतना जटिल बन गया है कि इसे सर्वोच्च यथार्थसत्ता नहीं माना जा सकता।

ईश्वर समस्त सीमित जगत् का आवास स्थान है तथा जगत् का उपादान और निमित्त कारण भी है, एक धारणा है। यह कहना बिल्कुल आसान है कि मूर्तरूप सर्वव्यापी प्रभु-सामान्य धारणा तथा विवरण की यथार्थता को संयुक्त बनाए रखता है, किन्तु किस प्रकार से बनाए रखता है यह एक रहस्य है। यदि समानता तथा भेद का एवं स्थायित्व तथा परिवर्तन का सम्बन्ध आनुभाविक जगत् में बुद्धिगम्य नहीं है तो जब इसका प्रयोग ईश्वर के सम्बन्ध में होता है तो कैसे बुद्धिगम्य हो सकता है। शंकर जानते हैं कि उनके मत के ऊपर अमूर्त भावात्मकता का दोष हो सकता है किन्तु उनका मत है कि समानता तथा भेद तार्किक से परस्पर सम्बद्ध नहीं हो सकते। ये दोनों किस प्रकार एक साथ रह सकते हैं यह वे नहीं जानते और इसे वे भी अनुभव करते हैं ईश्वर को एक मूर्तरूप पूर्ण इकाई मानने का विचार एक प्रकार से अनुभव का समाधान नहीं है किन्तु समस्या की पुनरुक्तिमात्र है। हमारे अनुभव के अन्दर समानता और भेद अथवा स्थायित्व तथा परिवर्तन के दो स्वरूप है। हमारा प्रश्न है कि अनुभव का विवरण क्या है क्योंकि यह जीवात्माओं तथा वस्तुओं का मिश्रण है जिसके विशिष्ट लक्षण है स्थायित्व तथा परिवर्तन और उत्तर में हम यह कहते हैं कि ईश्वर अनुभव की व्याख्या चूंकि वह दोनों लक्षणों को संयुक्त करता है तथा जीवात्माओं और वस्तुओं का जगत् यान्त्रिक रूप में उससे सम्बद्ध है। यह कहना कि वे उसके शरीर के विधायक हैं अनुभव की व्याख्या करना नहीं है। हम अनुभव के एक सामान्य रूपक विचार को बनाते हैं और इसे ईश्वर कहते हैं। अनुभूत जगत् की व्याख्या वह जगत् स्वयं है जो अपनी साधारण परिभाषाओं में ईश्वर कहलाता है। रामानुज और हीगल दोनों का मत है कि परम यथार्थसत्ता एक

है जिसके अन्दर अनेक समाविष्ट है। उनकी दृष्टि में जो विवेकी है। वही यथार्थ है ईश्वर तथा जगत् दोनों ही यथार्थ है। अन्तर्दृष्टि की सन्दिग्धता तथा यथार्थसत्ता का रहस्य उनको ठीक नहीं जंचता। उन्हें ऐसे यथार्थ में कोई रुचि नहीं जो अपने में यथार्थ हो किन्तु यथार्थ विचार के लिए हो जिसमें अभावत्व का भी एक अंश रहता है। विचार की प्रक्रिया में मन के द्वारा अपने निजी प्रतिकूल तथा अदम्य भागों को निरन्तर आत्मसात् करना तथा ऊपर उठना जारी रहता है। इस प्रकार समस्त आध्यात्मिक जीवन आग्रही तत्वों के साथ एक प्रकार का निरन्तर संघर्ष है। दिव्य जीवन निरन्तर कर्मण्यता का जीवन समझा जाता है। जगत् के विषय में यह सोचना कि यह एक तार्किक एकता है, अथवा एकमात्र व्यवस्था है इसे एक पूर्व निश्चित तत्व को अनन्त ब्यौरों से युक्त एकमात्र सत्ता की अभिव्यक्ति मानना है। किन्तु सर्वोच्च सत्ता को मूर्तरूप व्यापक या सान्त तथा अनन्त का मिश्रण मानने में जो कठिनाइयाँ सम्मुख आएंगी उन्हें दृष्टि से ओझल न करना चाहिए।[१३९]

शंकर ने माना है कि धर्मशास्त्र में सृष्टि सम्बन्धी विवरण का प्रयोजन यह है कि क्रम और सृष्टि का परस्पर तादात्म्य सिद्ध किया जाये।[१४०] ईश्वर में जगत् का तादात्म्य सम्बन्ध न होता, यदि ईश्वर ने अपने से पृथक् द्रव्य के रूप में निर्माण किया होता, तब उस पर यह दोष आता, कि वह किसी प्रेरक प्रयोजन में आकर कार्य करता है। यह भी आपत्ति की जाती है कि वह ईश्वर, ईश्वर ही नहीं है। यदि वह कर्म विधान के अनुसार कार्य करता है तो उसके ऊपर एक प्रतिबन्ध लग गया। इस प्रकार के तर्क फीश्टे के तर्क कहे जाते हैं। शंकर ने स्पष्ट रूप में कहा है कि विषयी और विषय परक भेद तर्क शास्त्र द्वारा निर्मित है जब हम समस्त तर्कशास्त्र के आदि स्रोत के विषय में विचारते हैं तो विषयी का भेद ही नहीं रहता। वास्तव में परम सत्ता निरपेक्ष रूप में ज्ञान को धारण नहीं करती है। इस प्रकार ईश्वर के बल सापेक्ष है निरपेक्ष नहीं।[१४१]

अध्यास :–

जिस प्रकार अवयवों में वृत्ति होने पर संयोग उत्पन्न होता है यह सर्वमान्य

१३९. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ४८६-४८७.
१४०. एवम् उत्पत्त्यादिश्रुतीनाम् ऐकात्म्यावगमपरत्वात् (शांकर भाष्य ४:३, १४, २:१ ३३).
१४१. मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञस्वादिलक्षणः काव्य वृत्ति, पृ० ४५.

मान्यता है। यह संयोग अवयवों से रहित परमाणु में सिद्ध करना संभव नहीं है। शंकर के इस मत को सर्वदर्शन संग्रह में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि न्याय-वैशेषिक की मान्यता के अनुसार सृष्टि रचना परमाणु के संयोग से द्वयणुक क्रमश: त्रिस्त्रेनुक क्रम से मानी जाती है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार परमाणु में संयोग सम्भव नहीं है क्योंकि वह निरवयव है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति की परिणति (विकास) महत् आदि तत्वों के क्रम से मानने वाला परिणामवाद (सांख्यमत) भी असम्भव है। आरम्भवाद या परिणामवाद के अयुक्त हो जाने पर यह संसार असत् ही न मान लें क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। ऐसा भी न करें कि प्रपंच प्रतीत होता है अत: किसी तरह इन दोनों सिद्धान्तों का ही निर्वाह करके, प्रपंच सत्य है, यही मान लें। कारण यह है कि ज्ञानियों की दृष्टि से इस प्रतीति में बाध (प्रतिरोध) उत्पन्न होता है। यदि यह संसार सत्य होता तो इसकी प्रतीति में प्रतिरोध नहीं होता। प्रतीति के बाध की सिद्धि किसी भी दूसरे उपाय से नहीं हो सकने के कारण विवश होकर इस अनिर्वचनीय प्रपंच को चित् या आत्मा का विवर्त मानते हैं; यह सिद्ध हुआ।[१४२]

अपने रूप का परित्याग किये बिना ही दूसरे रूप का आपादान करना विवर्त है। इसे सत्य और मिथ्या नाम का अवभास कहते हैं। आत्मा सत्य है तथा अहंकार आदि प्रपंच मिथ्या। अहंकारादि अनात्म-पदार्थ पर आत्मा के स्वरूप का अध्यास नहीं होता बल्कि आत्मा के संसर्ग का ही अध्यास होता है। किन्तु आत्मा पर अहंकार आदि अनात्म-पदार्थ जो मिथ्या है। उनका स्वरूप भी अध्यस्त होता है। शुक्ति का सीपी में रजत का अध्यास भी ऐसा ही है जिसमें सीपी अपने रूप का त्याग किये बिना ही रजत के रूप में बदल जाती है अवभास और अध्यास ये दोनों पर्यायवाची है।

यह अध्यास दो प्रकार का है–अर्थाध्यास तथा ज्ञानाध्यास, सीपी पर मिथ्या रजत का अध्यास होना अर्थाध्यास है। वह वही भ्रम है जिसमें मिथ्या का आधार कोई पदार्थ रहता है। एक अर्थ का दूसरे पर आरोप होना अर्थाध्यास कहलाता है। जब मिथ्याज्ञान का आत्मा पर आरोप होता है तब उसे ज्ञानाध्यास कहते हैं। इसे

---

१४२. निष्प्रदेशे परमाणौ प्रदशे वृत्तित्वेनाभिमतस्य संयोगस्य दुरुपपादनतया तन्निवन्धस्य द्वयणुकस्यासिद्धौ द्वयणुकादिक्रमेण आरम्भवादासम्भवादचेतनायाः प्रकृतेर्महदादिरूपेण परिणामवादासम्भावाच्च ख्याति बाधान्यथान्नुपपत्यानिर्वचनीयः प्रपञ्चश्चिद्विवर्त इति सिद्धम् (सर्वदर्शन सं० पृष्ठ ६८२).

कहा गया है—प्रमाण, दोष तथा संस्कार अर्थात् रजत के पूर्वानुभव से आत्मा में उत्पन्न संस्कार, इन तीनों से उत्पन्न होने वाली एक वस्तु की जो दूसरे रूप में प्रतीति है, वह तथा उसका ज्ञान ये दोनों अध्यास है।[१४३]

सर्वदर्शन संग्रहकार ने अध्यास को पुनः दो प्रकार का स्वीकार किया है—निरूपाधिक और सोपाधिक इसे भी कहा है—दोष से या कर्म से संचालित अविद्या (अज्ञान) से जो उत्पन्न होता है तथा तत्वज्ञान का विरोधी होता है वह भ्रम निरूपाधिक (आत्मा पर अहंकार का अध्यास करने वाला) है। 'इदं रजतम्' वाक्य में इदम् अंश उपहित नहीं हुआ है। उस पर रजत के संस्कार के साथ वर्तमान अविद्या के द्वारा रजत का अध्यास होता है। उसी प्रकार अविद्या के द्वारा ही अनुपहित चित् रूपी आत्मा पर अहंकार का अध्यास होता है।[१४४] उपाधि के सामीप्य से जब अविद्या में क्षोभ (संचालन, क्रिया) उत्पन्न होता है तब उस अविद्या से ही उत्पन्न भ्रम को सोपाधिक कहते हैं जो उपाधि के विनाश से स्वयं भी नष्ट हो जाता है। जब एकात्मक ब्रह्म पर उसके उपहित हो जाने पर, जीव और ईश्वर के रूप में भेद की प्रतीति हो तो उसे सोपाधिक भ्रम कहते हैं।[१४५]

सर्वदर्शन संग्रहकार ने निरूपाधिक के स्वरूप को बताते हुए कहा है कि उनमें स्वरूप से कल्पित अहम् आदि का (आत्मा पर) अध्यास होना निरूपाधिक है। उसे भी कहा है—जिस प्रकार आकाश में नीलापन का भ्रम है उसी तरह भ्रान्ति से यह संसार भी ब्रह्म में प्रतिभासित होता है। आकाश सत्य है नीलिमा भ्रम, वैसे ही ब्रह्म सत्य है प्रपञ्च भ्रम होने के कारण आकाश से भिन्न घट के आकाश को समझते है वैसे ही यह भोक्ता (जीव) अपने को ब्रह्म से भिन्न समझकर भ्रान्त होता है जब कि स्वरूप से ऐसी भिन्नता नहीं है।[१४६] उक्त श्लोकों में दोनों प्रकार के अध्यासों का वर्णन है। आत्मा पर अहंकारिता का अध्यास होना निरूपाधिक भ्रम है। निरूपाधिक भ्रम उसे उपाधि के निरूपण के अधीन न हो। एक ब्रह्म

---

१४३. प्रभाणदोषसंस्कारजन्मान्यस्य परातमता। तद्धीश्चाध्यास इति हि द्वयमिष्टं मनीषिभिः।। (सर्वदर्शन संग्रह पृ० ६८३).

१४४. दोषेण कर्मणा बापि क्षोभिताज्ञानसम्भवः। तत्त्वविद्या विरोधी च भ्रमोऽयं निरूपाधिकः।। (सर्वद. संग्रह, पृष्ठ ६८३).

१४५. उपाधि संनिधिप्राप्त क्षोभा विधाविजृम्भितम्।
उपाध्यपगमापो ह्यमाहुः सोपाधिकं भ्रमम्।। इति सर्व दर्शन, पृ० ६८४.

१४६. नीलिमेव वियत्येषा भ्रान्त्या ब्रह्मणि संसृतिः।

में जीव और ईश्वर के भेद की प्रतीति होना सोपाधिक अध्यास है। सोपाधिक भ्रम की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से नहीं होता, क्योंकि इसमें उपाधि लगी है। इसका निरूपण उपाधि के निरूपण पर आधारित है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य के आरम्भ में दोनों के उदाहरण दिये हैं-इसे बतलाते हैं।

इसीलिए भाष्यकार ने दो दृष्टांतों का उदाहरण दिया है–सीपी और चाँदी की भांति प्रतीत होती है, निरुपाधिक और एक चन्द्रमा दो चन्द्रमाओं की तरह दिखलाई पड़ता है। सोपाधिक अवशिष्ट बातें तो शास्त्र में ही स्पष्ट हुई हैं अतः विस्तार होने के भय से हम उपरत होते हैं। इस प्रकार वेदान्तियों का सिद्धान्त है कि दृक् (आत्मा) और दृश्य (प्रपञ्च) ये दो पदार्थ ही हैं इस तरह सब कुछ स्पष्ट है।[१४७]

अद्वैतवेदान्त के अध्यास का खण्डन करते हुए प्रभाकर ने कहा है कि अध्यास में सिद्धि जो दृष्टान्त दिया गया है वह उचित नहीं है क्योंकि रजत का ज्ञान शुक्तिका के विषय में हो जाए, यह सम्भव नहीं है। जैसे कि पट के विषय में घट का ज्ञान सम्भव नहीं है जो विषय है उसी का ज्ञान होता है दूसरे का नहीं होता है। जैसे-'इदं रजतम्' इस प्रतीति में (चाँदी के ज्ञान) को शुक्तिका के विषय में क्यों नहीं कहते हैं क्या उसकी सत्ता सामने हैं, या वह शुक्तिका के कारण के रूप में है, इसलिए इसको केबल प्रतीति मात्र में कहा जा सकता है।[१४८]

यह उपर्युक्त मत आख्यातिवादी मीमांसको का मत है। अद्वैतवेदान्त एवं मीमांसको का यह शास्त्रार्थ का विषय रहा है।

मिथ्याज्ञान की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि यह निश्चित है कि सभी विवेकशील मनुष्य अभीष्ट वस्तु या उसकी प्राप्ति के साधन इन दोंनों में किसी एक के ज्ञान में ही प्रवृत्त होते हैं। ऐसा नहीं देखा जाता कि जो व्यक्ति रजत का इच्छुक है उसे सीपी के टुकड़े का ज्ञान उस रूप का अनुभव करा दे। सीपी के टुकड़े में रजत की सत्ता नहीं है। इदम् के रूप में सीपी का टुकड़ा ज्ञात है

---

१४७. घटव्योमेव भोक्तायं भ्रान्तो भेदेन न स्वतः।। इति।। सर्व दर्शन सं०, पृष्ठ ६८५. शुक्तिका दजतवद भासत् एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति निदर्शन द्वयमुदाजहार। शिष्टं शास्त्र एव स्पष्टमिति विस्तरभियोपरम्यते। एव च दृग्दृश्यौ द्वावेव पदार्थाविति वेदान्तिनां सिद्धान्त इति। सर्व द० संग्रह, पृ० ६८४.

१४८. अत्र प्रभाकरः शुक्तिका रजतवदभासत इति दृष्टान्तो नेष्टः।। सर्व दर्शन संग्रह, शांकर दर्शन, पृ० ६८५.

किन्तु रजत चाहने वाले व्यक्ति को न तो उससे अपनी अभीष्ट वस्तु का ही स्वरूप मालूम होता है न उसके साधन का ही। क्योंकि सीपी का टुकड़ा उस व्यक्ति का न तो अभीष्ट ही हो सकता है न अभीष्ट प्राप्ति का साधन ही। इसके अतिरिक्त रजत का स्मरण सामने में विद्यमान पदार्थ में प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि स्मरण अनुभव के अधीन रहता है, इसलिए वह रजतस्मरण अनुभव के स्थान में जहाँ चांदी देखी थी और जिसका स्मरण कर रहे हैं वहीं प्रवृत्ति को उत्पन्न कर सकता है। स्मरण अनुभव पर ही निर्भर करता है। जिस स्थान का, जिस रूप का और जिस वस्तु का अनुभव होगा--उसके अनुरूप ही स्मरण भी हो सकेगा। जिस स्थान पर चांदी देखी थी, प्रवृत्ति उसी स्थान की ओर होगी अन्यत्र नहीं। सामने की सीपी पर प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती।[१४९]

आप यह भी नहीं कह सकते हैं कि भेद का ग्रहण न करना ही इदं रजतम् आदि विशिष्ट व्यवहारों का कारण है। चेतन के सारे व्यवहार ग्रहण ज्ञान, प्रतीति पर चलते हैं और आप कहते हैं कि ग्रहण न होने से व्यवहार चलता है। आप अपनी रक्षा के लिए कदाचित् कहेंगे कि हम लोग एक-दूसरे को लेकर तो केवल 'इदम्' के ग्रहण को या केवल रजत के स्मरण को कारण नहीं मान रहे हैं कि आप वेदान्ती हमें इस तरह खरी-खोटी सुना रहे हैं बल्कि हम तो उन दोनों ज्ञानों की जिसमें भेद की प्रतीति नहीं होती तथा जिसमें सच्चे और सन्निहित रजत के ज्ञान के साथ समरूपता है उन्हे ही कारण मानते हैं, अतः हमारा मत उलाहना देने योग्य नहीं है।[१५०]

अतः हम वेदान्ती कहेंगे कि यह भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि नीचे दिए विकल्पों को सहने की शक्ति इसमें नहीं है। वे विकल्प है आपका कहना है कि उक्त दोनों ज्ञानों में सच्चे रजत के ज्ञान से सादृश्य है, उसी सादृश्य से व्यक्ति

---

१४९. खलु निखिलप्रेक्षावान् समीहितत्साधनयोरन्यतरप्रवेदने प्रवर्तते। न च रजतमर्थयमानस्य शुक्तिकाशकलज्ञानं तद्रूपमनुभावयितुं प्रभवति। शुक्तिकाश कलस्य समीहित-त्साधनयोरन्यतरभावात्। नापि रजत स्परणं पुरोवर्तिनि प्रवृत्ति कारणम्। सर्व द० संग्रह, पृष्ठ ७०३.

१५०. ग्रहण निबन्धनत्वाच्चेतनव्यवहारस्य ननु न वयमेकैकस्यं कारणत्वं ब्रूमहे येनैवमुपालभ्येमहि। किं त्वगृहीत विवेकस्य ज्ञानद्वयस्य प्राप्तसमीचीन पुरः स्थितरजतज्ञान सारूप्यस्येत्यनुक्तोपालनेम्भोऽयमिति चेत् तदप्ययुक्तम्, विकल्पासहत्वात्। सर्व द० सं०, पृ० ७०४.

प्रवृत्त होता है तो वह सच्चे रजत की प्रतीति से सादृश्य होना क्या केवल ज्ञान रहने से ही प्रवृत्ति का कारण होता है या वस्तुतः विद्यमान रहकर प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। अब यहाँ प्रथम विकल्प में दो विकल्प करते हैं।

सर्वप्रथम विकल्प में दो विकल्प हैं–१. सारूप्य को दूसरे शब्दों में भेद का ग्रहण न करना भी कहते हैं ये दोनों ज्ञान सच्ची चांदी के ज्ञान के समान है। इस प्रकार सामान्य आकार में गृहीत सारूप्य प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। इन दोनों ज्ञानों में ही स्वरूप और विषय को लेकर भेदाग्रह (सारूप्य) है। इस प्रकार विशेष आकार में गृहीत सारूप्य प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। चूंकि ज्ञान दो प्रकार का होता है, इसलिए ज्ञान सादृश्यवाले विकल्प के दो खण्ड हो रहे हैं। वैशेषिक आदि कहते हैं कि जिस धर्म के कारण सादृश्य होता है–उस धर्म और सादृश्य में तादात्म्य है, वह धर्म ही सादृश्य है। उस धर्म का यह रूप है–मुख (उपमेय) और चन्द्र (उपमान) में सौन्दर्य (धर्म) समान है। यह कभी विशेषाकार में ज्ञात होता है। कभी-कभी सामान्य रूप में ही जैसे यह धर्म अमुक पदार्थ में हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में देखते हैं कि भेदाग्रह समान धर्म है। जैसे सच्ची चाँदी के ज्ञान में भेद का ग्रहण नहीं होता वैसे ही ज्ञानद्वय से युक्त प्रतीति में भेद ग्रहण नहीं हो पाता। इस रूप में भेदाग्रह का ज्ञान प्रवृत्त करता है। या इन दोनों ज्ञानों के पारस्परिक भेद का ग्रहण नहीं होने से ही हम प्रवृत्त होते हैं संक्षेप में यह कहें कि सच्चे रजत के ज्ञान से तुलना करने पर भेदाग्रह ज्ञान प्रवर्तक होता है। या अपने ही दोनों ज्ञानों में भेदाग्रह होने से प्रवृत्ति होती है।[१५१]

इसमे पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि जैसे–समीचीन ज्ञान सच्ची चीज का ज्ञान अपने उचित व्यवहार की ओर लोगों को प्रवृत्त करता है उसी तरह से समीचीन ज्ञान की तुलना करने वाला ज्ञान (इदं रजतम्) उस सम्यक् ज्ञान की तरह व्यवहारों में लोगों को प्रवृत्त नहीं कर सकता। गौ के समान गवय होता है। यह प्रतीति गौ चाहने वाले व्यक्ति को गवय की ओर प्रवृत्त नहीं करती।

विद्यमान वस्तु के साथ अविद्यमान वस्तु के सादृश्य का ज्ञान होने से भी अविद्यमान वस्तु की ओर प्रवृत्ति नहीं होती।[१५२]

---

१५१. आद्ये विकल्पे भेदाग्रहापर्यायस्य सारूप्यस्य समीचीनसन्निभे इमे ज्ञाने इति विशेषाकारेण गृह्यमाणस्य प्रवृत्तिकारणत्वं किं वानयोरेव स्वरूपो विषयतश्च मिथोभेदाग्रहो विद्यते इति। सर्व दर्शन संग्रह, पृष्ठ ७०४.

१५२. समीचीनज्ञानवत्तव्यसन्निभाज्ञानस्य तदुचितव्यवहार प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। न खलु गोसन्निभो, गवय इत्यवभोसोगवार्थिनं गवये प्रवर्तयति।

दूसरा विकल्प इसलिए ठीक नहीं इसमें व्याघात प्रतिरोध होता है। जिसमें भ़ेद का ग्रहण ही नहीं किया गया है। उसमें इन दोनों में इस तरह की प्रतीति नहीं हो सकती और न अनयो: ऐसा लेने से भेदाग्रह की ही प्रतीति हो सकती। एक ओर कह रहे हैं कि भेद का ग्रहण नहीं होता अर्थात् ज्ञान एक है, दूसरी ओर द्विवचन शब्द का प्रयोग भी कर रहे हैं । यह व्याघात नहीं तो क्या है?

इसलिए अब अवशिष्ट बचे दूसरे विकल्प को ले अर्थात् विद्यमान होने के कारण भेदाग्रहरूपी सादृश्य के व्यवहार का कारण मानें। जैसे-इन्द्रिय स्वयम् अज्ञात होने पर भी ज्ञान उत्पन्न करती है अथवा पास में पड़ी आग अज्ञात होने पर दाहक होती है उसी तरह इन दानों ग्रहण स्मरणात्मक ज्ञानों में वस्तुत: विद्यमान भेदाग्रह ज्ञान न होने पर भी व्यवहार या प्रवृत्ति की उत्पत्ति कर सकता है। मीमांसकों ने ऐसा ही माना भी है।[१५३]

यदि मीमांसक उपर्युक्त रूप में विकल्प को ही स्वीकार करें तो उन्हे यह स्पष्ट करना चाहिए कि यह भेदाग्रह समारोप की उत्पत्ति के क्रम से व्यवहार का प्रयोजक है या बिना आरोप की उत्पत्ति किये स्वयं ही व्यवहार को चलाता है। सीपी पर रजत के स्वरूप का आरोप भेदाग्रह के ही कारण होता है। यही आरोप व्यवहार या प्रवृत्ति उत्पन्न करता है इसलिए आरोप के क्रम से भेदाग्रह व्यवहारादि का कारण हो ऐसा मानते हैं। दूसरा विकल्प है कि भेदाग्रह रजत के स्वरूप की सीपी पर बिना आरोपित किये ही व्यवहार का प्रवर्तन करता है।

दूसरा पक्ष भी अधिक उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यदि उतने से ही व्यवहार की सिद्धि होती है तो आरोप को इस विवाद में ले आना कल्पनागौरव के दोष से दूषित हो जाएगा। यह समझें, यह नियम है कि विशिष्ट व्यवहार ज्ञान के बाद ही हो सकता है, इस लिए अज्ञान के बाद सिद्धि नहीं होती। जैसे पुरुष में दण्ड की विशिष्टता जानकर ही यह व्यवहार होता है कि यह दण्डी है। वैसे ही सामने के पदार्थ में रजतत्व की विशिष्टता जानकर ही यह चाँदी है, ऐसा व्यवहार करेंगे। अज्ञान से यह व्यवहार कभी सम्भव नहीं। भेदज्ञान न होना ही अज्ञान है। यदि अज्ञान ही व्यवहार का कारण होता तो सामने में पदार्थ के सन्निकर्ष के पूर्व भी तो वह सुलभ ही था तो वैसा व्यवहार क्यों नहीं हुआ, अथवा प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई? इसलिए चेतन के व्यवहार का ही है अज्ञान नहीं।[१५४]

---

१५३. न खल्वनाकलित भेदस्यानयोरिति, अनयोरिति ग्रहे भेदाग्रह इति च प्रतिपत्तिर्भवति।

१५४. तावतैव व्यवहारोत्पत्तावारोपस्य गौरवन्दोषदुष्टतवादिति मन्तव्यम्। विशिष्टव्यवहारस्य विशिष्टिज्ञानपूर्वकत्वनियमेनाज्ञानपूर्वकत्वानुपपत्तेः। सर्वद० संग्रह, पृ० ७०६.

यदि कोई मीमांसक शंका करे कि यह सीपी में रजत का व्यवहार अज्ञानपूर्वक नहीं है, उनका यह कहना अनुचित है। एक नियम यह है कि मनुष्य किसी वस्तु को जानता है, तब उसकी इच्छा करता है और अन्त में उसके लिए प्रवृत्त होता है-इससे स्पष्ट है कि ज्ञान इच्छा और प्रवृत्ति का विषय एक ही वस्तु रहनी चाहिए। उसके अनुसार जो रजतार्थी 'इदम्' शब्द के द्वारा प्रतीत वस्तु की ओर प्रवृत्त हुआ है उसकी इच्छा भी उसी पर आधारित है। यदि ऐसा नहीं होगा तो दूसरी वस्तु की इच्छा ही और व्यवहार दूसरी वस्तु का करें ऐसा व्याघात होने की सम्भावना होगी।[१५५]

ऐसी स्थिति में यदि 'इदम्' शब्द का प्रतीति विषय रजत ज्ञान को विषय नहीं बनाता तो रजतार्थी उसकी इच्छा कैसे करेगा? यदि ये उत्तर दो कि सामने में विद्यमान वस्तु रजत में भिन्न है, ऐसा ग्रहण नहीं होता, इसलिए रजतार्थी उसकी इच्छा करेगा तो हम कहेंगे कि उन्ही मीमांसकों के मत से चूंकि सन्निहित वस्तु का रजत के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है, इसलिए उसकी उपेक्षा क्यों नहीं करेगा रजत के रूप में ग्रहण न होने से उधर प्रवृत्ति ही नहीं होगी यह उत्तर दिया जा सकता है।[१५६]

इससे एक ही साथ रजत के भेद का अज्ञान और रजत के अभेद का दोनों उत्पन्न होंगे जिन पर आधारित उपादान (प्रकृति) और उपेक्षा के द्वारा पुरुष आगे पीछे की ओर खिंचने लगेगा। उपर्युक्त दोनों अज्ञान एक साथ ही विद्यमान रहेंगे। अपना-अपना कार्य वे एक ही साथ करेंगे। लेकिन प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों एक ही साथ सम्भव नहीं होती। वह मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ होने से तब तक प्रवृत्ति के पक्ष में समझा नहीं जा सकता जब तक हम रजत का सीपी पर आरोप नहीं मान लें। रजत का आरोप मान लेने से व्यक्ति की प्रवृत्ति उस आरोपित रजत की ओर सरलता से सिद्ध हो जाएगी। इस तरह आप जैसे स्वच्छ बुद्धि के व्यक्ति को इच्छा न रहते हुए भी समारोप मान ही लेना चाहिए। जैसा कि कहा है-भेद के अज्ञान के कारण 'इदम्' शब्द के द्वारा प्रतिपादित वस्तु पर रजतत्व का आरोप करके उस जाति वाले (रजत) पदार्थ को उपकार का कारण स्मरण करके उसी

---

१५५. नन्वयं व्यवहारो नाज्ञानपूर्वक इत्यनाकलितपराभिसन्धिः स्वसिद्धान्त सिद्धार्थाद् यदि काश्चिच्छङ्केत स प्रतिवक्तव्यः। सर्व द० संग्र०, ७०७.

१५६. जानाति इच्छति ततः प्रवर्तत इति न्यायेन ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानविषयत्वेन भाव्यम्.

जाति का होने के कारण इस के उपकार का कारण होने का अनुमान करके उसकी कामना से पुरुष प्रवृत्त होता है। इसलिए पहला पक्ष अर्थात् आरोप उत्पन्न करके भेदाज्ञान व्यवहार का कारण बनता है, मानना अच्छा है।[१५७]

आचार्य शंकर ने शंकर भाष्य के प्रस्तावना में अध्यास का लक्षण करते हुए कहा है कि "अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः" अर्थात् जो यथार्थ रूप में नहीं है उसको उससे भिन्न स्वरूप में मानना अध्यास कहलाता है।[१५८] डॉ० राधाकृष्णन् ने शंकर भाष्य के इस विषय का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि ऐसी वस्तु का कही भास होना जहाँ वह न हो।[१५९] जब प्रकाश द्विगुण दिखाई देता है अथवा जब रस्सी सांप की भांति प्रकट होती है। हमें अध्यास का उदाहरण उपलब्ध होता है। सान्त वस्तुओं का समस्त ज्ञान एक अर्थ में विशुद्ध सत् का अभाव है, क्योंकि एकमात्र नित्य चेतनता के ऊपर पदार्थरूप विषयों का अध्यास किया जाता है। इस अध्यास का सबसे अधिक आकर्षक दृष्टान्त विषयी तथा विषय को एक साथ मिला देना है।[१६०] जहाँ पर हम क्रियाशीलता, कर्तव्य तथा सुखोपभोग उसी आत्मा के गुण समझ लेते हैं। यथार्थ में विषयी ज्ञाता से भिन्न कुछ भी नहीं है क्योकि यथार्थसत्ता के विषयी (ज्ञाता) में वह सब कुछ समाविष्ट है जो कुछ सम्भवतः हम उसके विषय में कह सकते हैं। विषयी ज्ञाता के विषय में जो कुछ हम कहते हैं, उस यथार्थ सत्ता से बहुत न्यून है तथा उसका केवल आभासमात्र है। विषय और विषयी, जिनका क्षेत्र 'युष्मत्' तुम और 'अस्मत्' (मैं) दोनों का प्रस्तुतिकरण है, एक दूसरे के विपरीत है जैसे अंधकार व प्रकाश। विषय जिसका क्षेत्र 'तुम' अथवा अनात्म है, तथा उसके गुणों को विशुद्ध आध्यात्मिक विषयी में जिसका क्षेत्र आत्मा अथवा 'मैं' हैं; संक्रमण करना तथा इसके विपरीत विषयी तथा इसके गुणों का विषय के प्रति संक्रमण करना तार्किक दृष्टि से असत्य हैं तो भी मनुष्य जाति के अन्दर उक्त व्यवहार, मिथ्या ज्ञान के कारण सत्य तथा असत्य का परस्पर जोडा़ बनाने के सम्बन्ध में नैसर्गिक स्वाभाविक है। इसलिए वे एक के सत् तथा गुणों का दूसरे में संक्रमण

---

१५७. युगपत्तद्भेव भेदाग्रहाभेदाग्रह निबन्धनाभ्यामुपादानोपेक्षाभ्यां पुरतः पृष्ठतश्चाकृष्णमाणः पुरुषो दोलायमानतया.................समारोपः समाश्रयणीयः।। सर्व द० सं०, ७०९.

१५८. अध्यसो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः। (शांकर भाष्य, प्रस्तावना).

१५९. स्मृतिरूपः परत्र परावभासेः

१६०. आत्मानि क्रियाकारकफलाद्यारोपलक्षणम्,

कर देते हैं।[१६१] अविद्या की ओर ले जाने वाले अध्यास में उन सब क्रियात्मक भेदों की पूर्व कल्पना की जाती है। जो साधारण जीवन तथा वेदों में साधनों तथा ज्ञान में, ज्ञान के विषयों तथा ज्ञाताओं और सब अध्यात्म शास्त्रों में किये जाते हैं, चाहे उनका सम्बन्ध कर्म से हो अथवा ज्ञान से।[१६२]

ज्ञान के समस्त साधन केवल तभी तक प्रामाणिक हैं जब तक कि परम सत्य की प्राप्ति नहीं हो जाती।[१६३] और इस प्रकार परिमित ज्ञान का सापेक्ष महत्व सम्मुख नहीं आता। वस्तुतः हमारा समस्त ज्ञान अज्ञान है और उस सबका निराकरण कर देने पर जिसे उसके ऊपर बलात् आरोपित किया गया है। परमचैतन्य को निश्चयपूर्वक जान लेने का नाम विद्या अथवा ज्ञान है।

विषयी और विषय, अर्थात् आत्मा तथा अनात्म से शंकर का आशय सर्वातीत यथार्थसत्ता और सांसारिक अस्तित्व से हैं। विषय के अन्दर व्यक्तिगत कर्तृव्य, शारीरिक इन्द्रियाँ तथा भौतिक जगत् आदि सब समाविष्ट है। परमचैतन्य ही विषयी है, जिसके ऊपर समस्त विषय जगत् आश्रित है। चेतनता को विषयों का यह एक विशेष लक्षण है कि वे अपने को चेतनता के विषय रूप में मानसिक वृत्ति के द्वारा व्यक्त होने के अतिरिक्त अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। यहाँ तक कि जब हम परम आत्मा के स्वरूप का ज्ञान श्रुति के मन्त्रों द्वारा प्राप्त करते हैं तो भी हम इसके सत्यस्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। आत्मा का सत्य ज्ञान किसी भी आकृति तथा वृत्ति से विहीन है।[१६४]

उस अध्यास का विशिष्ट उपयोग, जो हमें एकमात्र निरपेक्ष यथार्थ सत्ता को विषय-विषयी सम्बन्ध के रूप में विभक्त करने के लिए प्रेरणा करता है, मानवीय मस्तिष्क की ही अपनी रचना का परिणाम है। इस अध्यास को जिसके कारण विषयी तथा विषय जगत् की उत्पत्ति होती है अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्या प्रयत्नरूप तथा जीवात्माओं के[१६५] कर्तृव्य सुखोपभोग और क्रियाशीलता का कारण बताया गया है और यह सबके ऊपर अधिकार जमाए हुए हैं।[१६५(अ)]

---

१६१. देहादिष्यनात्मसु अहमस्मीत्यात्मरविद्या (शांकर भाष्य १५, ३, ३ प्रस्तावना).

१६२. शांकर भाष्य, प्रस्तावना, देखें ड्यूसन सिस्टम ऑफ दि वेदान्त, पृ० ५६. सर्व सिद्धान्त सारसंग्रह १२: ८५-८६.

१६३. शांकरभाष्य-१:१,४.

१६४. शांकरभाष्य-१:१,१.

१६५. कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः

१६५. (अ) सर्वलोकप्रत्यक्षः.

भ्रान्तिमय प्रत्यक्ष का शंकर ने जो विश्लेषण किया है उससे हमें उसके ज्ञान विषयक मत का आभास मिलता है। जब हम भूल से रस्सी को सांप समझ लेते हैं और यह निर्णय करते हैं कि यह एक सांप है तो हमारे सम्मुख दो अवयव होते हैं; यह अथवा जो इन्द्रियों के आगे आया हुआ है, और सांप जिसे हम 'यह' कहते हैं। पिछला अथवा उस वृत्ति अथवा आकृति का वर्णन करता है जिसे रूप में हम प्रस्तुत सामग्री का बोध करते हैं निर्णय पर पहुँचने में मूल व्याख्या के अवयव के कारण है अथवा उसके कारण है जिसे हमारा विचारभूमि के ऊपर से आरोपित कर देता है। यह का अवयव जो कुछ वस्तुतः हमारे सम्मुख उपस्थित है भ्रांति के दूर होने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। शंकर का तर्क है कि साधारण प्रत्यक्ष में भी हमारे सम्मुख एक सामग्री के अवयव है और एक व्याख्या है और आगे शंकर प्रश्न करते हैं कि वह क्या है जो हमारी चेतना के समस्त विषयों का सामान्य अधिष्ठान है? क्या ऐसी कोई वस्तु है जो उन सब वस्तुओं के लिए सामान्य है जिन्हे हम देखते हैं साधारण और असाधारण सत्य और असत्य?

शंकर उत्तर देते हैं कि यह सत् है। प्रत्येक वस्तु जिसका हम प्रत्यक्ष करते हैं उसे सत् के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। हमारी व्याख्याओं का स्वरूप चाहे कुछ भी क्यों न हो वह अधिष्ठान नित्य स्थायी है और यथार्थ है। उपनिषदों की भाषा में यह मिट्टी से बनी वस्तुओं में मिट्टी के समान हैं अथवा सोने के आभूषणों में सोने के समान है। इसके ऊपर की आश्रित आकृतियों में भले ही कितले परिवर्तन क्यों न हों यह स्थायी है। अविद्या का करण मौलिक आधार के विषय में अज्ञान है।[१६६]

अविद्या अथवा अध्यास के प्रति स्वाभाविक प्रकृति हमारे अस्तित्व के मूल में ही समाई हुई है और हमारी सान्तता का पर्यायवाची है। यथार्थसत्ता अपनी व्याख्या अपने आप है। यह सदा अपने स्वरूप में स्थित रहती है। यह अयथार्थ ही है जो अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं रहता और इसीलिए उसे किसी व्याख्या की आवश्यकता होती है। जब अविद्या का पता लग जाता है तो बन्धन टूट जाते हैं। अविद्या नैसर्गिक भले ही हो किन्तु फिर भी अनिवार्य नहीं है। यदि यह अनिवार्य होती तब इससे मुक्त होने के लिए हमें क्यों कहा जाता। अनिवार्य के विरुद्ध हम प्रयास नहीं कर सकते। जो नहीं जाना जा सकता उसे हम नहीं जान

१६६. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ४३७–३८.

सकते। अविद्या की गति को रोकना सम्भव है और यह दर्शाता है कि हम वस्तुतः अपनी आदतों से अधिक महान् हैं।

विज्ञानवाद का निराकरण :-

अद्वैतवेदान्त में बोद्धों के विज्ञान-वाद का खण्डन मिलता है जैसा कि पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आचार्य गौड़ पाद विज्ञानवादी बौद्धों के सादृश्य बाह्य जगत् की वस्तुओं को असत् मानते हैं जो कि उन्होंने वैतथ्य प्रकरण में सिद्ध करने का प्रयास किया है, इसलिए आचार्य शंकर ने तीन प्रकार की सत्ताएं स्वीकार की है। जो प्रातिभाषिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक रूप में मानी जाती है। व्यावहारिक वस्तुओं को आचार्य शंकर ने असत् नहीं माना है।

ब्रह्मसूत्र में बाह्य जगत् को असत् न माना जाए, इसलिए कहा है कि ''न स्वप्नादिवत्'' अर्थात् जागतिक वस्तुएं स्वान के समान असत् नहीं है। इस सूत्र पर आचार्य शंकर ने भाष्य करते हुए प्रायः वही तर्क प्रस्तुत किये हैं जो तर्क द्वैतवादी दार्शनिक प्रस्तुत करते रहे हैं। शंकर ने कहा है कि संसार की वस्तुएं हमारी ही कल्पना से उत्पन्न छायामात्र है किन्तु एक आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद का समर्थन करते हैं इस अर्थ में कि प्रमेय पदार्थ भी आत्मा के रूप हैं (विषय चैतन्य) ज्ञान के वस्तु विषयों को अन्ततोगत्वा केवलमात्र प्रकृति अथवा गति या शक्ति का ही रूप तो नहीं माना जा सकता क्योंकि सब अपने-आप में विचार के सामान्य प्रत्यय हैं। प्रमेय पदार्थ अपने लिए कोई अस्तित्व नहीं रखते और यदि वे मेरे अथवा तुम्हारे चैतन्य के वस्तु विषय नहीं है तो वे दैवीय चैतन्य के वस्तु विषय है। दैवीय चैतन्य की दृष्टि में संसार की पद्धतियाँ विद्यमान हैं जो वस्तु विषयों तथा आत्माओं से भरपूर हैं और वे अपने वस्तु विषयों से अभिज्ञ है। एक शाश्वत दैवीय प्रत्यक्ष द्रष्टा के कारण संसार की व्यवस्था बनी रहती है। परिमित शक्तिवाली आत्माओं तथा प्रमेय पदार्थों से वह श्रेष्ठ है क्योंकि उसका वस्तु विषय अनन्त है और वह अपने-आप में परिपूर्ण है। वह सार्वभौम आत्मा है जो सृष्टि की रचयिता और विश्वमात्र के वस्तु विषयों से अभिज्ञ है। जिस प्रकार हम अपने निजी विषय वस्तु की व्यवस्था करते हैं उसी प्रकार ईश्वर संसार की पद्धतियों की व्यवस्था करते हैं। यह विस्तृत जगत् और दैवीय चैतन्य जिसके लिए यह अब स्थित है दोनों के अधीन केन्द्रों में संकुचित हो जाते हैं जो केवल आंशिक रूप में ही स्वतन्त्र है। समस्त विषय वस्तुओं का आधार दैवीय चैतन्य है और यदि इसे प्रगाढ़ रूप में जाना जा सकता

तो यह वास्तविक चैतन्य का अपार समुद्र होता। जब जीवात्मा प्रबुद्ध होता है तो वह उन सब संकुचित उपाधियों को तोड़ डालता है जो उसकी दृष्टि को सीमाबद्ध करती है, तब, वह अनुभव करता है कि समस्त संसार बाहर और भीतर आत्मा से परिपूर्ण है उसी प्रकार जिस प्रकार कि समुद्र का जल नमक से भरा हुआ है। वस्तुतः विश्व की कुल विषय वस्तुएं अपने स्वरूप में आध्यात्मिक है।[१६७]

इस प्रकार आत्मा परम तथ्य है जो ज्ञान प्राप्त करने वाले विषयी तथा ज्ञातविषय दोनों से अतीत है और वही परम यथार्थ सत्ता है जिसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है। किन्तु जब एक बार हमारे सम्मुख विषयी–विषय ही प्रतिद्वन्द्वता आ जाती है तो आत्मा सर्वोपरि विषय के रूप में प्रकट होती है, जिसकी दृष्टि में अन्य सब कुछ जिसका अस्तित्व विषय है और सब उसके अधीनस्थ विषयी हैं जिनके लिए ज्ञेय पदार्थों से युक्त संसार से कुछ अंश ही दिए गए हैं। शंकर के सिद्धान्त पर प्रहार करने का यह असफल उपाय है कि आत्मा ही सब कुछ है और यह कि भौतिक तथ्य तथा मानसिक आकृतियाँ हमारे लिए कि्ी अर्थ की नहीं है। वे इनका निराकरण नहीं करते। एक पारमार्थिक अध्यात्म ज्ञान सम्बन्धी समस्या का समाधान आनुभाविक तथ्यों के द्वारा नहीं हो सकता।

आचार्यशंकर का सत्यविषयक सिद्धान्त वस्तुतः आमूल परिवर्तित आदर्शवाद है। तर्क सिद्ध सत्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के ऊपर आश्रित नहीं है। मीमांसकों के विरोध में शंकर का तर्क है कि जहाँ सत्य के आदर्श का अन्वेषण अथवा मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन की प्रक्रिया व्यक्ति[१६८] के अपने स्वतन्त्र चुनाव के ऊपर निर्भर कर सकती है मूल्यांकन का विषय इन सबसे स्वतन्त्र है।[१६९] हम सत्य के अन्वेषण की क्रिया में संलग्न हो सकते हैं या नहीं भी हो सकते हैं यह हमारी इच्छा है; किन्तु यदि हम सत्यान्वेषण के कार्य को लेते हैं तो सत्य स्वरूप को हमें मानना ही होगा।[१७०] ज्ञान की कभी रचना अथवा उत्पत्ति नहीं होती किन्तु सदा उसकी अभिव्यक्ति अथवा प्रकाश होता है। यह अभिव्यक्ति तो एक अलौकिक

१६७. शांकर भाष्य–तैत्तिरीय उपनिषद् पर–२:१.
१६८. पुरुषचित्तव्यापाराधीना। शांकरभाष्य–१:२,४,१.
१६९. न वस्तुयाथात्म्य ज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्।
१७०. शांकर भाष्य–१:१,४।

प्रक्रिया हो सकती है किन्तु जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह कालातीत है। ज्ञान का कोई इतिहास नहीं है, किन्तु हमारे मानसिक जीवन का इतिहास है। प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान के प्रकाश के, आनुभाविक जीवन की परिधियों के अन्दर रहकर वाहक रूपसाधन है।

शंकर की दृष्टि में यह निष्कर्ष निकलता है कि यथार्थ सत्ता के वर्णन में बाह्य जगत् के अपेक्षाकृत स्थिर ढ़ांचे को पूर्णरूपेण निकाला नहीं गया है। वे यह नहीं स्वीकार करते हैं कि घट एवं पट का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल मानसिक प्रत्यक्ष ही है क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि हम समक्ष साक्षियों से दूर भागते हैं तथा इस मूर्त तथा भौतिक जगत् को अमूर्त एवं स्वप्नकालीन रूप में परिणत कर देते हैं हम अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष बाह्य पदार्थ के अस्तित्व को अर्थात् उपलब्धि को मानने को विवश है यह इसलिए कि व्यक्ति एक खम्बे अथवा दीवार को जानने योग्य पदार्थ को ज्ञान का एक रूप नहीं मानता किन्तु वह उनको जानने योग्य पदार्थ अवश्य मानता है।

''प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि यह इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि वे व्यक्ति जो बाह्य पदार्थों का निषेध करते हैं वे ही ऐसा भी कहते हैं कि अन्दर में जिस आकृति का ज्ञान हुआ, ऐसा प्रतीत होता है कि वही बाहर है। ''ज्ञान तथा ज्ञान का विषय एक-दूसरे से भिन्न है। ज्ञान की विविधता का निर्णय पदार्थों की विविधता से होता है। हम पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं किन्तु केवल आभास मात्र का चिन्तन नहीं करते। प्रत्यक्ष सम्बन्धी मानसिक क्रिया का कारण ही किसी वस्तु की वैयक्तिक चेतना की उपस्थिति मात्र-वस्तु का सब कुछ नहीं है यहाँ तक कि जब हम पीड़ा का अनुभव करते हैं तो यह केवल मात्र मानसिक प्रवृत्ति नहीं है। इसकी भी वैसी ही पदार्थनिष्ठ सत्ता है जैसी कि चेतनता के अन्य विषय की है। हम वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखते हैं। जिस रूप में वे हैं और वे जैसी हैं, वैसी प्रतीति होती है। अध्यात्म विज्ञान की दृष्टि से भी, जैसा कि हम देखेंगे, शंकर पदार्थ की स्थापना करने के लिए विवश है क्योंकि चैतन्य केवलमात्र जानना और अभिज्ञता है। इसके अन्दर विषय वस्तु अथवा अवस्थाएं नहीं हैं। यह विशुद्ध लक्षणरहित पारदर्शक है। रंग, प्रचुरता, गति तथा हलचल सब कुछ पदार्थ ही की अवस्था में सम्भव है। चूंकि चैतन्य के पदार्थों में परस्पर भेद है इसलिए हम इन्द्रियों द्वारा अनुभव करने, प्रत्यक्ष-स्मरण करने, कल्पना करने

चिन्तन करने, निर्णय करने, तर्क करने एवं विश्वास करने में भेद करते हैं विशुद्ध चैतन्य न देता है न लेता है भ्रान्तियुक्त प्रत्यक्ष का भी कुछ न कुद विषय (ज्ञातव्य पदार्थ) रहता है। इसीलिए शंकर की दृष्टि में ब्रैडले के समान नितान्त सत्य नाम की कोई वस्तु नहीं है और न नितान्त भ्रान्तियाँ ही हैं।[१७१]

भेद केवल इतना है कि जहाँ यथार्थ विचार हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल होते हैं और हमारे यथार्थता सम्बन्धी क्रमबद्ध पूर्ण इकाई के विचार में ठीक बैठ जाते हैं, मिथ्या विचार अनुकूल नहीं बैठते। जिस जगत् को हम देखते स्पर्श करके अनुभव करते स्वाद लेते और छूते हैं। वह ऐसा ही तात्विक है जैसा तात्विक मनुष्य का अस्तित्व है जो देखता, अनुभव करता, स्वाद लेता और स्पर्शानुभव करता है।[१७२] एक पक्ष में अपने वर्ग विभागों समेत चित्त और दूसरे पक्ष में यह जगत् जिसका यह उक्त वर्गों द्वारा निर्माण करता है, एक समान ही तात्विक है। विषयी तथा विषय के अन्दर जो सहसम्बन्ध है और जो समस्त आदर्शवाद का केन्द्रीय सत्य है उसे शंकर ने स्वीकार किया है, जिसने मनोवाद तथा यथार्थवाद दोनों ही का निराकरण किया है क्योंकि दोनों ही आनुभाविक तथ्यों की व्याख्या करने के लिए अपर्याप्त है। शंकर विषयनिष्ठ आदर्शवाद से ही अपनी स्थिति को भिन्न नहीं बतलाते बल्कि वे जागरित तथा स्वप्न की अवस्थाओं में भी भेद करते हैं स्वप्न के अनुभवों का जागरित अवस्था के अनुभवों के साथ जहाँ विरोध होता है वहाँ जागरित अवस्था के अनुभव अन्य किसी अवस्था में मिथ्या सिद्ध नहीं होते हैं।

मायावाद :–

शंकर ने अद्वैतवेदान्त में यद्यपि ब्रह्म को निमित्त एवं उपादान कारण माना है। इस दर्शन माना है। इस दर्शन के सम्मुख यह समस्या उत्पन्न हुई की, यदि ब्रह्म ही निमित्त और उपादान कारण है, तो यह दृश्य संसार कैसे उत्पन्न हआ? ब्रह्म तो दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है इसलिए अद्वैतवेदान्त में माया के सम्प्रत्यय को स्वीकार किया गया है। बिना माया के सृष्टि संरचना संभव नहीं थी। यह दृश्य संसार चाहे विवर्त ही क्यों न हो, केवल ब्रह्म से सृष्टि रचना संभव नहीं हो सकती थी, इसलिए अद्वैतवेदान्त में माया को अज्ञान, अविद्या आदि नामों से

१७१. बौद्धमत के विषयी विज्ञानवाद की शंकर द्वारा की गई समीक्षा, देखें–भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृ० ५६४–५६७.

१७२. प्रश्नोपनिषद् पर शांकर भाष्य--६:२।

कहा गया है। और इस माया को अनादि रूप में स्वीकार किया जाता है। माया अपनी विक्षेप और आवरण शक्ति से अखिल ब्रह्माण्ड की रचना करती रहती है।

माया और अविद्या को एक ही रूप में वर्णन करते हुए सर्वदर्शन संग्रह में स्पष्ट किया है कि माया और अविद्या में भेद केवल नाम मात्र भेद है वस्तुतः दोनों ही अनिर्वचनीय है। इस विषय में यह शंका की जा सकती है कि माया तो अपने आश्रय को व्यामोह (भ्रम) में नहीं डालती अर्थात् कर्ता की इच्छा का अनुसरण करती है उल्लंघन नहीं। दूसरी ओर अविद्या उससे भिन्न है। सीपी चाँदी में चाँदी का उपादान-कारण अविद्या ही है, क्योंकि चाँदी देखने वाले की भ्रांति के कारण व्यामोह तो हैं ही। द्रष्टा की इच्छा से वह नहीं चलती क्योंकि द्रष्टा की इच्छा रहे या नहीं-अविद्या से चाँदी की प्रतीति हो ही जाएगी। इसलिए आरोप्य वस्तु (चाँदी) को आप अविद्यामय कहें मायामय कहना असङ्गत है।

इसका उत्तर है कि यह प्रश्न ही असङ्गत है, माया और अविद्या दोनों समान रूप से अनिर्वचनीय है तथा तत्व की प्रतीति के प्रतिबन्धक आदि है।[१७३]

वेदान्ती आगे पूछते हैं कि आपने जो ऊपर माया को अपने आश्रय के व्यामोह का अहेतु माना है, उसमें आश्रय शब्द से क्या अर्थ लेते हैं-माया के परिणामस्वरूप वृक्ष, पशु आदि को, जो देखता है वह मायाश्रय है या जो माया का निर्माण करता है वह मायाश्रय है।

द्रष्टा तो माया का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि तान्त्रिक लोगों के द्वारा प्रयुक्त मन्त्रों का औषधियों के योग से बनी माया को देखने वाला व्यक्ति व्यामोह में पड़ जाता ही है। तब तो आपने जो पूर्व पक्ष के आसन से घोषणा की है कि माया व्यामोह उत्पन्न नहीं करती, उस उक्ति का क्या होगा?

कर्ता भी माया का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि विष्णु भगवान् जो माया के कर्ता है अपने ही आश्रय में ही रहने वाली माया के द्वारा मोहित हुए थे इसलिए अपने ऊपर आश्रित व्यामोह के अभाव में ही कोई मायावी अर्थात् माया का रचयिता होगा, ऐसी बात नहीं है, माया का निर्माता होने पर भी व्यामोह में कोई पड़ सकता है। तात्पर्य यह है कि माया के कर्ता और द्रष्टा दोनों को व्यामोह होता है; इसलिए जिस प्रकार अविद्या व्यामोह उत्पन्न करती है, माया भी व्यामोह

---

१७३. अनिर्वचनीयत्वतत्त्वा भासप्रतिबन्धकत्वादिलक्षणजातस्य मायाविद्ययोः समानत्वात्। सर्वदर्शन संग्रह-पृष्ठ ७२८.

उत्पन्न करती ही है। दोनों में इस दृष्टि से कोई भेद नहीं। तो, व्यामोह के निवारण के प्रयोजक अर्थात् कारण कौन–२ से हैं?[१७४]

व्यामोह के अभाव के प्रयोजक दो हैं–माया या अविद्या का द्रष्टा या प्रयोक्ता जो भी हो वह बाध का निश्चय कर सके तथा मन्त्र आदि का प्रतीकार जानता हो। यदि ऐसा नहीं हुआ तो अन्धे या लंगडे की तरह माया के निर्माता को भी व्यामोह हो जाएगा। अन्धा या लँगडा अपने अङ्ग से रहित होने के कारण अपना काम नहीं कर सकता–अन्धा देख नहीं सकता, लँगड़ा चल नहीं सकता। वैसे ही मायाकार भी बाध-निश्चय करने में असमर्थ होने से तथा मन्त्र–प्रतीकार से अनभिज्ञ होने से अपना कार्य–व्यामोह–निवारण–नहीं कर सकता। जैसे द्रष्टा मोहित होता है वैसे ही कर्ता भी मोहित हो जायेगा। हाँ उन दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि द्रष्टा को माया का प्रपञ्च देखकर मोहित होने वाले को, व्यामोहनाश का अवसर कभी–कभी मिलता है, कर्ता को प्राय: मिला करता है। रामावतार में व्यामोह का कारण था, प्रतिकार का ज्ञान न होना–किसी प्रकार सिद्ध कर लें। माया–प्रयोक्ता या इन्द्रजाल दिखाने वाला प्रतिकार भी जानता है अत: मोहित नहीं होता। ब्रह्म भी माया का रचयिता है–प्रतिकार ज्ञान से स्वयं प्रभावित नहीं होता। फल यह हुआ कि माया और अविद्या दोनों में व्यामोह होता है। प्रतिकार जानने वाले न तो अविद्या से मोहित होते हैं, न माया से। अत: व्यामोह के दृष्टिकोण से माया और अविद्या में भेद नहीं है, साम्य ही है।[१७५]

पूर्वपक्षी भी ऐसा नहीं कह सकते हैं कि माया और अविद्या में भेद इसलिए है कि माया कर्ता की इच्छा का अनुसरण करती है और अविद्या उसका अनुसरण नहीं करती। जिस प्रकार माया के स्थानों में मणि मन्त्र औषधि आदि का प्रयोग होता है। वैसे ही अविद्या के स्थानों में भी दो चन्द्रमा के भ्रम या केश के भ्रम या मकड़जाल होने के भ्रम के कारण रूप में, अंगुली से आँखों को स्तब्ध करना आदि हम पाते हैं जिसे कर्ता अपने इच्छापूर्वक करता है अंगुली यदि आंखों के नीचे के भाग में घुसा दी जाये तो हमें एक ही जगह दो चीजें दिखलाई देने

---

१७४. मन्त्रौषधादिनिमित्त मायादर्शिनस्तस्य व्यामोहदर्शनात्। न द्वितीय:। विष्णो: स्वाश्रितमाययवरामावतारे मोहितत्वेन तत्र मायावित्वस्याप्रयोजकत्वात्।

१७५. बाधानिश्चयमन्त्रादि प्रतीकार बोधयोरव प्रयोजकत्वात्। अपरथा षड्गबन्धवत्कतीपि व्यामुह्येत। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ७२८.

लगेंगी–यहाँ देखते हैं कि कर्ता अपनी इच्छा से ही तो अविद्या उत्पन्न कर रहा है फिर यह कैसे कहते हैं कि माया ही इच्छा से उत्पन्न की जाती है, अविद्या नहीं?

इसलिए श्रुति स्मृति तथा भाष्यग्रन्थों में जहाँ–तहाँ माया और अविद्या को अभिन्न मानते हुए व्यवहार किया गया है। कहीं–कहीं माया में माया और अविद्या के भेद को पूर्वपक्षी इसलिए ले रहा है कि माया से वह ऐन्द्रजालिकों का इन्द्रजाल समझता है और अविद्या से सीपी-चाँदी आदि का भ्रम। शंकर दोनों को एक रूप ही मानते हैं।[१७६]

विक्षेप की प्रधानता के कारण या अविद्या में आवरण की प्रमुखता देखकर माया और अविद्या में जो भेद करते हैं उससे इस व्यवहार का विरोध नहीं होता। बात यह है कि अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं–आवरण (ढ़क देना) तथा दूसरा विक्षेप (रूप परिवर्तन)। सीपी–चाँदी के दृष्टान्त में आवरण शक्ति सीपी के स्वरूप को ढ़क देती है, विक्षेप–शक्ति उसे चाँदी के रूप में विकृतकर देती है। यह तो साधारण अज्ञान की बात है। अनादि अज्ञान के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का सत् होने पर भी, आवरण कर दिया जाता है और जगत् का प्रदर्शन असत् होने पर भी किया जाता है। अविद्या आवरण–प्रधान। माया विक्षेप प्रधान। यह केवल लोक–प्रसिद्धि की बात है। वास्तव में दोनों एक हैं इसे कहा गया है–विक्षेप–शक्ति से युक्त अज्ञान जो ईश्वर की इच्छा के अधीन है वह माया है। जो अज्ञान तत्व को ढ़क दे (आवरण शक्ति से युक्त हो) अथवा स्वतन्त्रता की अपेक्षा करे वह अविद्या है।[१७७]

अविद्या की सिद्धि :–

अब यहाँ पर कोई पूछ सकता है कि इस अविद्या की सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रमाण क्या है? हम उत्तर देंगे कि इसमें तो प्रतीति ही प्रमाण है मैं अज्ञ हूँ, अपने को या दूसरे को नहीं जानता। इस वाक्य में आत्मा पर आश्रित इस अविद्या–शक्ति की अनुभूति होती है जो बाहरी–भीतरी पदार्थों में व्याप्त है और

१७६. अत एव तत्र-तत्र श्रुतिस्मृतिर्भाष्यादिषु मायाविद्ययोरभेदेन व्यवहार: सङ्गच्छते। क्वचिद्विक्षेपप्रधान्येनावरणप्रधान्येन च मायाविद्ययोर्भेदे तद्व्यवहारो न विरुध्यते। सर्वद०सं०, पृष्ठ ७२९

१७७. माया विक्षिपज्ञानमीशेच्छावशवर्ति वा। अविद्याच्छादयत्तत्वं स्वातन्त्र्यानुविधायि वा।

जड़ात्मक है। यह अज्ञान ज्ञानाभाव के रूप में नहीं है। भावात्मक कार्यों का उपादान–कारण होने से यह भावात्मक है।[१७८]

पूर्वपक्षी शंका कर सकता है कि यह तो ज्ञानाभाव का विषय है आपके अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं कर सकेगा। आशय यह है कि इस अविद्या या अज्ञान से आप संसार की सिद्धि कर सकते हैं। संसार तो प्रकृति, परमाणु आदि से बना है, परन्तु ऐसी बात नहीं है, अनुपलब्धि को प्रमाण मानने वाले भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती लोग ऐसा नहीं करेंगे, क्योंकि अनुपलब्धि तो परोक्ष की प्रतीति कराने वाली होती है, प्रत्यक्ष की नहीं। भूतल में घट नहीं है इस तरह घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। यह परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यक्ष नहीं। जो लोग अनुपलब्धि नहीं मानते वे अनुमानादि के द्वारा अभाव की प्रतीति करते हैं, प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं। किसी भी दशा में अभाव की प्रतीति प्रत्यक्ष से नहीं होती। चूंकि मैं अज्ञ हूँ, यह अनुभव है अतः इसे अभाव के शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।[१७९]

यदि अब आप कहें कि यह भी परोक्ष अनुभव ही क्यों न माना जाये? तो हम कहेंगे कि लिङ्ग (अनुमान का कारण), शब्द (आगम का कारण) या अन्यथानुपपत्ति से इस अनुभव की उत्पत्ति नहीं होती। कारण यह है कि इन सबों में (अर्थ) ज्ञात होने पर ही दूसरों का बोध होता है इसका अभिप्राय यह है कि यदि आप लोक 'अहमज्ञः' इस ज्ञान को परोक्ष मानते हैं तो यह अनुमान आदि किसी प्रमाण से उत्पन्न होगा। इस अनुभव की सिद्धि न तो अनुमान से होती है न शब्द से और न अर्थापत्ति से–अनुपलब्धि का अधिकार भी पीछे समाप्त हो जाएगा। इनमें क्रमशः लिंग, शब्द तथा अनुयपन्न होने वाला अर्थ स्वयं ज्ञात होने पर ही दूसरे अर्थ का बोधक हो सकता है। धूम (लिंग) यदि रहे भी किन्तु ज्ञात न हो तो अग्नि का अनुमान नहीं करा सकता। शब्द भी जब तक ज्ञात न हो तब तक उससे शब्दबोध नहीं होता। बहरे को शब्दबोध नहीं होता। अर्थापत्ति में भी, दिन में न खानेवाले देवदत्त की स्थूलता ज्ञात रहने पर ही उसके रात्रिभोजन का ज्ञान कराती है। 'अहमज्ञः' तो यह सब कुछ नहीं है। इसके अनुभव के समय

---

१७८. नन्वविद्यासद्भावे किं प्रमाणम्? 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामीति' सर्वद०का० ५१ प्रत्यक्षप्रतिभास एव। सर्व० दर्शन संग्रह, पृ० ७३०.

१७९. ननु ज्ञानाभाव विषयोऽयं नाभिप्रेतमथ गमयतीति चेत्–न तावदनुपलब्धिवादिनश्चोद्य–मेतत्। परोक्षप्रतिभासहेतुत्वात्तसया:। सर्व द० स०, पृष्ठ ७३०.

वैसा लिंगादि कुछ ज्ञात नहीं है और न वर्तमान काल में ही उसका अनुभव हो रहा है। अतः इन प्रमाणों कें अधीन न तो 'अहमज्ञः' नहीं ही है। अब अनुपलब्धि की खबर लेते हैं।[१८०]

यह भी कहा जा सकता है कि 'अहमज्ञः' में विद्यमान ज्ञानाभाव अनुपलब्धि से उत्पन्न होगा जैसे भूतले घटो नास्ति में घटाभाव का ज्ञान होता है। तो हम उत्तर देंगे कि यह अनुपलब्धि भी बिना ज्ञान हुए प्रमाण करण नहीं बन सकती। जब तक घट की अनुपलब्धि ज्ञात न हो तब तक घटाभाव जान लेना संभव नहीं है। स्मरणीय है कि अनुपलब्धि को जानने के लिए ही यह प्रमाण स्वीकार किया गया है।

यह नियम है कि प्रत्यक्ष से भिन्न किसी भी प्रमाण का कारण (साधन) ज्ञात ही रहना चाहिए। दूसरी ओर यह भी जान लें कि केवल ज्ञात होने से ही यह प्रमाण के रूप में नहीं आ सकती क्योंकि तब अनुपलब्धि की अवस्था हो जाएगी यदि घटानुपलब्धि ज्ञात होने पर ही घटाभाव का कारण बनती है तो कहिए कि घटानुपलब्धि का ज्ञान ही कैसे हुआ? घट की उपलब्धि का अभाव ही घटानुपलब्धि है। उस घटोपलब्धि के अभाव का ज्ञान भी अनुपलब्धि से ही होगा। अर्थात् उपलब्धि की अनुपलब्धि से उपलब्धि का अभाव ज्ञात होता है। इस क्रम से बढ़ते जाने से कहीं अन्त नहीं।[१८१]

आप ऐसी शंका नहीं कर सकते कि जैसे दूसरे (नैयायिकादि) लोग अनुपलब्धि प्रमाण नहीं मानकर अभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं तथा योग्य अनुपलब्धि को सहकारी मानते हैं उसी प्रकार हम भी अनुपलब्धि को ज्ञान का कारण (प्रमाण) मानें। नैयायिक लोग अनुपलब्धि मानते हैं पर पृथक् प्रमाण रूप में नहीं केवल प्रत्यक्ष के सहायक के रूप में। घटाभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात होता है। योग्यानुपलब्धि सहायता करती है। योग्यानुपलब्धि यदि घट होता तो अवश्य दिखलाई पड़ता। तो इनके मत से अनुपलब्धि ज्ञात रहे या अज्ञात–सहायक ही होती है, इस तरह अनवस्था से बच जाते हैं। वैसे ये भी कहते हैं कि हम

---

१८०. अयमपि परोक्ष प्रतिभास एवेति चेत्–न तावल्लिङ्गशब्दानुपपद्यमानार्थजन्यः। ज्ञातकरणत्वात्तेषाम् । न चैतत्सामग्रीकाले ज्ञातमस्ति। अनुभूयते वा।
सर्वद० संग्रह, पृष्ठ ७३१.

१८१. अनुपलब्धया जन्यत इति चेत्–न तावदियमज्ञाताकारणम्। प्रत्यक्षेतरस्य ज्ञातकरणत्वनियमात्। नापि ज्ञातैव कारणम्। अनुपलब्ध्यनस्थानात्। सर्वदर्शन सं०, पृष्ठ ७३२

अनुपलब्धि को प्रमाण (पृथक्) मानते हुए भी अनवस्था से बचा लें। ऐसा इसलिए नहीं होगा कि सहकारी होने पर ज्ञात होने का नियम नहीं है, पृथक् ज्ञान साधन (प्रमाण) होने पर तो उसे ज्ञात रहना ही पड़ेगा।[१८२]

यदि वैसा हो भी अनुपलब्धि छठा प्रमाण रहे अज्ञान या ज्ञात किसी भी दशा में प्रमाण हो तो भी वह ज्ञेय के अभाव का बोध करने के लिए प्रमाण है, ज्ञान के अभाव का बोध कराने के लिए वह प्रमाण नहीं है इसे आगे वर्णन करेंगे। इस स्थान तक यह सिद्ध किया है कि अनुपलब्धि से भी अहमज्ञः का बोध नहीं होता। फलतः अहमज्ञः प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है।

नैयायिक अविद्या की प्रत्यक्ष द्वारा सिद्धि का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'अहमज्ञः' मैं क्या ज्ञान सामान्य का भाव प्रत्यक्षकृत हो रहा है या ज्ञान विशेष का अभाव। यदि पहला विकल्प माना जाए तो, प्रत्यक्ष के द्वारा तो धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान यदि सत् के रूप में सिद्ध है तो आत्मा में ज्ञान–सामान्य का अभाव गृहीत होता है, ऐसा न कहें। कारण यह है कि जैसे घटायुक्त भूतल में घटाभाव का ग्रहण करते, उस तरह आत्मा में ज्ञान–सामान्य के अभाव का ग्रहण करना असम्भव है। भूतले घटो नास्ति में घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ भूतल घटाभाव का धर्मी है क्योंकि घटाभाव धर्म उसी का है। घटाभाव का प्रतियोगी घट है क्योंकि इसी का अभाव है। प्रत्यक्ष के द्वारा दोनों की सत्ता जानते हैं तब घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। अब इसी उदाहरण का विनियोग प्रस्तुत अहमज्ञः पर करें। दूसरे शब्दों में मयि ज्ञानं नास्ति कहें। तो ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष हो रहा है जिसका धर्मी ज्ञान–सामान्य का अर्थ ले रहे हैं। यदि धर्मी और प्रतियोगी दोनो का ज्ञान विद्यमान हो तो भी यह ग्रहण करना असम्भव है कि आत्मा में ज्ञान सामान्य का अभाव है। ज्ञान का प्रत्यक्ष हो जाने पर उसके अभाव का प्रत्यक्ष कैसे?

दूसरी ओर, यदि ये दोनों धर्मी का ज्ञान और प्रतियोगी का ज्ञान विद्यमान नहीं रहे तब तो, अहमज्ञः में ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष मानना और भी असम्भव है क्योंकि कारण का ही अभाव हो जाएगा। अभाव के ज्ञान के लिए धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान कारणरूप है। किन्तु आप पूर्वपक्षी लोग इन्हें मान नहीं रहे हैं।

---

१८२. न च यथा परेषामभावग्रहणे योग्यानुपलब्धिः सहकारिणी तथा नः करणमिति सङ्क्यम्। ज्ञानकरण इव सहकारिणिः ज्ञातव्य नियमाभावत्। ज्ञानाभावग्रहणे करणं न भवत्येवेति वक्ष्यति। सर्वदर्शन संग्रह–पृष्ठ ७३२.

अतः कारण के अभाव में कार्य उत्पन्न होगा ही नहीं, इसलिए भी योग्य अनुपलब्धि के कारण या फल के रूप में लिंग आदि का अभाव होने से आत्मा में ज्ञान–सामान्य के अभाव का ग्रहण करना असम्भव है। इसलिए दूसरे अनुपलब्धि को प्रमाण मानने वाले भाट्ट मीमांसकों के मत से भी हमारा नियम मिलता जुलता है। धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान रहे या नहीं रहे–दोनों ही अवस्थाओं मे ज्ञान सामान्य के अभाव का ग्रहण करना असम्भव है। इसलिए भी न तो अनुपलब्धि से ज्ञान सामान्य के अभाव का ग्रहण होता है और न ही अनुमान से। अनुमान की सम्भावना थी ज्ञान का सर्वत्र व्यवहार फल के रूप में होता है। यही लिङ्ग है। वह लिङ्ग यहाँ नहीं मिलता, इसलिए 'अदर्शन' हेतु के द्वारा ज्ञानाभाव का अनुमान सम्भव था।[१८४]

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रत्यक्ष से या किसी दूसरे प्रमाण से आत्मा में ज्ञानमात्र का अभाव ग्रहण करना असम्भव है। अब 'अहमज्ञः' में ज्ञान विशेष का अभाव वाला विकल्प लेते हैं।

पूर्वपक्षी शंका करते हुए कहते हैं कि यदि अहमज्ञः में प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान सामान्य का अभाव सिद्ध नहीं हुआ तो प्रत्यक्ष से ज्ञान विशेष का अभाव लीजिए अच्छा तो ज्ञान विशेष का क्या अर्थ है? क्या स्मरण नया अनुभव है? उक्त प्रत्यक्ष को स्मरण का अभाव, तो नहीं मान सकते क्योंकि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है और यहाँ प्रतियोगी है स्मरण। इसलिए स्मरण का ज्ञान होना चाहिए, ज्ञान स्मरणात्मक ही है, तो उसमें स्मरणाभाव कैसे सम्भव है?

उपर्युक्त प्रत्यक्ष अनुभव का अभाव भी नहीं क्योंकि ज्ञानाभाव से सम्बद्ध ज्ञान अनुभव के रूप में है अतः अनुभव तो अनिवार्य ही है। (उसका अभाव कैसे मानेंगे?)

यहाँ पर पुनः शंका करते हुए कहा है कि आत्मा में घट के अनुभव का

---

१८३. प्रत्यक्षाभावावादे तु प्रत्यक्षेण तावद्धर्मिप्रतियोगिज्ञानयोः सतोरात्मनि ज्ञानमात्राभावग्रहणं न ब्रूयात्। सर्व द० स०, पृ० ७३३.

१८४. अतोऽपि योग्यानुपलब्ध्या वा फललिङ्गाघभावेन वात्मनि ज्ञानमात्राभाव ग्रहणं दुर्लभमितिपरमतेऽप्ययं न्यायः समानः। सर्व० द०, पृ० ७३३.

१८५. ननु ज्ञान विशेषाभावः प्रत्यक्षेण गृह्यताम्। न तावत्स्मरणाभावः। अभावग्रहणे प्रतियोगिस्मरणस्य कारणत्वात्। नाप्यनुभवाभावः। तस्यावर्जनीयत्वात्। सर्व द० स०, पृ० ७३४

अभाव यदि प्रत्यक्ष का विषय है तो 'अहमज्ञः' ज्ञान सामान्य के वाचक ज्ञा धातु को लक्षणा शक्ति के द्वारा ज्ञान विशेष से सम्बद्ध अनुभव के अर्थ में समझना चाहिए। लक्षणावृत्ति का तब ग्रहण करते हैं जब सम्बन्ध की उपपत्ति नहीं हो रही है।[१८६]

यहाँ पर सम्बन्ध का अभिप्राय यह है कि अनुभव होना और ज्ञान होना दोनो का समावेश एक ही घट–प्रत्यक्षरूपी शक्ति में होता है तथा दोनों के बीच व्याप्य और व्यापक ज्ञान होने का सम्बन्ध भी है ही। इसमें असिद्धि की आशंका हम नहीं देखते। अर्थ यह है कि 'गंगा में घोष' कहने से गंगा–शब्द का शक्यार्थ जो गंगा है उसका सम्बन्ध लक्ष्यार्थ (तट) के साथ आश्रय के माध्यम से हैं। गंगा और तीर में संयोग विद्यमान है। यह विवरण तभी होगा जब पदार्थ को जाति मानें। यदि व्यक्ति मानेंगे तो मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सीधे ही संयोग–सम्बन्ध मानना पड़ेगा उसी प्रकार यहाँ ज्ञा धातु के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ विशेष अनुभव में सामानाधिकरण्य–सम्बन्ध है। घट प्रत्यक्ष की एक ही व्यक्ति में वे दोनों हैं। व्याप्य–व्यापक का सम्बन्ध तो हैं ही। किन्तु जिस तरह गंगा शब्द के शक्यार्थ में घोष की स्थिति असम्भव है वैसी बात यहाँ नहीं; ज्ञान और अनुभव दोनों सहयोगी है।[१८७]

अब पूर्वपक्षी ने आपत्ति उठाते हुए कहा है कि अनुभव के अभाव में प्रत्यक्ष के द्वारा कुछ भी बोधित न हो सकने के कारण प्रत्यक्ष की सफलता के लिए प्रमेय का प्रदर्शन अवश्य करें क्योंकि इसी प्रमेय से उस प्रत्यक्ष की सार्थकता सिद्ध होती है। प्रमेयं अनुभव विशेष के अभाव के रूप में कहा जा सकता है यदि लक्षणा स्वीकार कर लें। अतः लक्षणा तो आप को माननी ही पड़ेगी।

इसका उत्तर वेदान्ती देते हुए कहते हैं कि तुम सच कहते हो। पर प्रयोजन लक्षणा को अनुपपन्न होने से नहीं बचा सकता क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष हो जाएगा। प्रत्यक्ष की सफलता से लक्षणा की और लक्षणा से प्रत्यक्ष की सफलता

---

१८६. नत्वात्मनि घटानुभवाभावः प्रत्यक्षविषयस्तर्हि 'अहमज्ञ' इति ज्ञानसामान्यवचनो ज्ञानातिर्ज्ञान विंशेषऽनुभवे लक्षणया वर्तनीयः लक्षणा..............सत्यां वर्तते। सर्व द० स०, पृ० ७३

१८७. सम्बन्धस्तावदनुभवत्वज्ञानत्वयोरेकव्यक्तिसमावेशो व्याप्य व्यापकभावो वा विद्यत एव। अनुपपत्ति तु न पश्यामः। सर्व द० स०, पृ० ७३५

की सिद्धि होती है। अब लक्षणा के मूल में जो असिद्ध है; उसे दूसरे रूप में प्रकट करते हैं।[१८८]

पुनः फिर शंका होती है कि 'अहमज्ञः' इस अनुभव में नञ् अभाव आत्मा में ज्ञान-सामान्य का अभाव प्रकट नहीं करता, क्योंकि आत्मा ज्ञानयुक्त है। उसमें ज्ञानमात्र का अभाव नहीं हो सकता। न वह नञ् ज्ञान-विशेष अर्थात् अनुभव के अभाव को ही प्रकट करता है; क्योंकि जब 'ज्ञान' कहते हैं तो ज्ञान-विशेष का अर्थ प्रकट होता ही नहीं। उदाहरण के रूप में–किसी गांव में कोई व्याकरणाचार्य न हो तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह गाँव अविद्वान् है, जब कि उस गाँव में बड़े-बड़े पण्डित हो। उसी प्रकार यदि ज्ञान-विशेष न हो तो ज्ञान ही नहीं, ऐसा नहीं कहेंगे। उक्त वाक्य को निरर्थक भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उन्मत्त व्यक्ति का वाक्य है नहीं। इसलिए अनुपपत्ति होने के कारण (अहमज्ञः यह ज्ञान किस प्रकार का है; यह निर्णय न हो सकने के कारण लक्षणा वृत्ति से इसकी सिद्धि मानें।[१८९]

इसका उत्तर देते हुए कहा है कि आप नञ का अर्थ उपर्युक्त लक्षण से युक्त अविद्या ही क्यों नहीं मान लेते हैं? लक्षणा को स्वीकार करने के लिए आप चारों ओर से जो अनुपपत्ति का स्तूप खड़ा कर रहें हैं और कहते हैं कि इन ज्ञान का निरूपण करना असम्भव है–इसी अनिर्वचनीयता को तो अविद्या कहते हैं। इसे ही हम अभाव का अर्थ क्यों न मान लें? अनुपपत्ति दिखाने के बाद लक्षणा मानने का कष्ट क्यों कर रहे हैं?[१९०]

नैयायिकादि फिर शंका करते हैं कि मान लिया, अनुपपत्ति ही अविद्या है जो अनिर्वचनीय है, भाव रूप है आदि। पर नञ् का अर्थ भी वही है, यह कैसे संभव है? अभाव भी तो नञ् का अर्थ हो सकता है? इस प्रकार सन्देह बना ही रहता है।

हमारा उत्तर यह है कि सन्देह इसलिए नहीं होगा क्योंकि दोनों कोटियाँ

---

१८८. नन्वनुभवाभावे प्रत्यक्षस्य प्रमेयलाभस्तेनैव तस्यार्थवत्ता सिध्यति। प्रयोजनमेतन्नानुपपत्तिः।

१८९. नन्वहमज्ञ इत्यत्र नञ् आत्मानिज्ञान मात्राभावं न ब्रूते। ज्ञानवति तस्मिन् तदाभावात्। नाप्यनुभवाभावम्। ज्ञानोत्त्येस्तदनभिधायवृत्वात्। सर्व द० स०, पृ० ७३५

१९०. नैदर्थक्यं च न युक्त नित्यनयैवानुपपत्त्य! लक्षणेति चेत्–उक्तलक्षणैवाविद्यातदर्थो अस्तु। सर्व द० स०, पृ० ७३५

बराबर नहीं है। न्याय दर्शन में हमने देखा है कि सन्देह दोनों पक्षों के समान होने पर ही होता है–कोई प्रबल और कोई दुर्बल हो गया तो सन्देह मिट जायेगा।

इस प्रकार लक्षणा मानने का कारण अनुपपत्ति की सम्भावना न रहने से अनुभव का अभाव जिसे आप लक्षणा से सिद्ध करने जा रहे थे। वह भी प्रत्यक्ष रूप में आत्मा में गृहीत नहीं हो रहा है। अब शेष बची है अविद्या जिसका लक्षण ऊपर अनिर्वचनीय के रूप में दिया गया है। वह अविद्या ही 'अज्ञ' इस शब्द में प्रतीति का विषय है। यह सिद्ध हुआ।[१९१]

द्वितीय विधि से 'अहमज्ञः' के द्वारा अविद्या की सिद्धि करते हुए माना है कि ज्ञानाभाव का ही प्रत्यक्ष हो रहा है। लेकिन यह अभाव तो उस तत्त्व से भिन्न आधार के स्वरूप से भिन्न नहीं है। इस प्रकार अभाव को आधारात्मक सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है।[१९२]

नैयायिक लोग पुनः शंका करते हुए कहते हैं कि भूतल की अपेक्षा घटाभाव एक भाव के रूप में भिन्न भले ही न रहे किन्तु अभाव के रूप में तो भिन्न अवश्य ही है। इस प्रकार अभाव की सत्ता अधिकरण से पृथक् रूप में है, अतः अहमज्ञः में नञ् का अर्थ अभाव ही है। वे लोग कहते हैं कि यह भी तो आपके वेदान्तियों के सिद्धान्त के विरुद्ध हो गया, क्योंकि आप 'अहमज्ञः' में भाव रूप अज्ञान का प्रत्यक्ष मानते हैं और इधर अधिकरण से अभाव को पृथक् सिद्ध कर दिया गया है।

वेदान्ती परिहार करते हुए कहते हैं कि ठीक कहते हो; किन्तु अधिकरण और अभाव में भेद सिद्ध हो जाए तब तो? और भेद की सिद्धि होगी प्रमाणों से ही। वह प्रमाण भी तभी काम दे सकता है जब प्रतियोगी के अभाव के आधार से उसे भिन्न तत्त्व मानें। परन्तु यह होता नहीं। भेद सिद्धि के वाद प्रमाण भिन्न सिद्धि–विषयक होता है और वैसा होने पर ही प्रमाण भेद की सिद्धि करता है–इस प्रकार अन्योन्याश्रय–दोष से तो वह ग्रस्त है। अतः अभाव भिन्न तत्त्व के रूप में सिद्ध नहीं होता।[१९३]

---

१९१. सन्देह इति चेन्न। असमत्वात्कोटिद्वयस्य। अन्यस्य हि प्रतियोगिनिवृत्तिर्नञर्थः। अत्र तु प्रतियोगिव्याप्यनिवृत्तिरिति। सर्व द० स०, पृ० ७३५

१९२. अस्तु वा ज्ञानाभावप्रतिभासः। अयमभावश्च प्रतियोगी यत्र निषिध्यते न ततः तत्त्वान्तरमन्यदधिकरणभावात्। सर्व द० स०, पृ० ७३७

१९३. मा भूदन्यभावत्वमन्यो भावत्वं तु स्यात्। ननु तदपि विरुद्धम्। सत्यं, सति भेदे। स

पुनः शंका करते हुए कहा है कि घट से युक्त भूतल में भी घटाभाव का ज्ञान और घटाभाव का व्यवहार होने लगेगा। यदि आप अभाव को भावात्मक मानते हैं तो ये दशाएं होंगी ही। इसका उत्तर देते हुए कहा है कि प्रतियोगी के साथ जिस अधिकरण का अनुभव हो रहा है, उसमें तो ये ज्ञान और व्यवहार नहीं हो सकते। जहाँ प्रतियोगी साक्षात् रहे वहाँ ये भले ही नहीं रहें; किन्तु जब प्रतियोगी का स्मरण होने पर अधिकरण का अनुभव हो रहा हो तब तो इनका ग्रहण होगा ही।[१९४]

किन्तु प्रतियोगी का स्मरण करने पर जिस अधिकरण का अनुभव किया जाता है। उसमें तो वे दोनों हो ही सकते हैं। इस प्रकार भी अभाव का ज्ञान होने पर जो नहीं है का व्यवहार होता है उसकी सिद्धि हो जाने पर अभाव को किसी दूसरे तत्त्व में नहीं लेना चाहिए। अब यदि पूछें कि इसमें अनुपपत्ति क्या है। जो आप ऐसा कह रहे हैं? अरे! हमने तो पहले ही कह दिया है कि बाधक न होने के कारण ही ऐसा हुआ है। कल्पना का गौरव ही यहाँ पर बाधक है। बाधक से बचने के लिए ही हम अविद्या के द्वारा उक्त प्रत्यक्ष की सिद्धि करते हैं। यदि ऐसा न करें तो एक के बदले कई चीजों को मानना पड़ेगा।[१९५]

पहले तो एक भिन्न तत्त्व अभाव की कल्पना करनी पड़ेगी। उसके अपरोक्षत्व के लिए इद्रिय सन्निकर्ष की कल्पना करनी पड़ेगी।

अनुमान से अविद्या की सिद्धि :-

अनुमान के द्वारा अविद्या की सिद्धि अद्वैतवेदान्त में निम्नलिखित प्रकार से की गई है-

१. विवादास्पद प्रमाण ज्ञान ऐसे वस्त्वन्तर दूसरी वस्तु अर्थात् अविद्या के बाद होता है जो वस्त्वन्तर अपने प्रागभाव से व्यतिरिक्त हो, अपने विषय का

च प्रमाणात्। तच्च सति प्रतियोग्यभावाधिकरण तस्तत्त्वान्तरे। सर्व द० स०, पृ० ७३७

१९४. ननु घटवति भूतले घटाभावमितिव्यवहृती स्यातामिति चेत्--मा भूतामेते प्रतियोगिना सहानुभूयमानेऽधिकरणे। सर्व द० स०, पृ० ७३७

१९५. प्रतियोगिस्मरणे सत्यनुभूयमानेऽधिकरणे तु स्याताम्। एवमप्युपपत्तौ न तत्त्वान्तरविषयत्वं कल्पयम्। का ऽनुपपत्तिरिति.........बाधकं तु कल्पनागौरवमेव। सर्व द० स०, पृ० ७३८

आवरण रूप हो, अपने ही द्वारा निवृत्त हो सकता तथा अपने ही स्थान से सम्बद्ध हो। यह प्रतिज्ञा है।

२. क्योंकि वह अप्रकाशित पदार्थ का प्रकाशक है। यह हेतु है।

३. जैसे अन्धकार में पहले-पहल उत्पन्न दीपक की प्रभा होती है। (उदाहरण) प्रतिज्ञा के वाक्य में वस्त्वन्तर के चार विशेषण दिये गए होते हैं। सर्वों में 'स्व' शब्द लगा है जिससे प्रमाण ज्ञान का बोध होता है। वह वस्त्वन्तर वास्तव में अविद्या ही है। उसके बिना कोई भी वैसा नहीं बन सकता। इस अनुमान में प्रमाणज्ञान के पहले अविद्या रहती है। किन्तु, चूँकि वह भी प्रमाणज्ञान की अपेक्षा रहती है इसलिए वस्त्वन्तर कहलाती है। प्रमाणज्ञान आश्रय अर्थात् आत्मा में रहने से स्वदेशगत कहलाती है। प्रमाण ज्ञान से ही उसका विनाश होता है, इसलिए वह स्वनिवर्त्य है। प्रमाण ज्ञान का विषय अर्थात् घट का आवरण करती है इसीलिए स्वविषयावरण है। अविद्या प्रमाणज्ञान के प्रागभाव से भिन्न रूप में स्वीकृत की जाती है, इसलिए स्वप्रागभाव व्यतिरिक्त है। इन विशेषणों से विभूषित वस्त्वन्तर यदि अविद्या के अलावे कोई दूसरी हो तो बतलावें। इस साध्यांश के किसी टुकड़े को छोड़ देने पर अविद्या की सिद्धि में बाधा पहुँचेगी।[१९६] उसका वर्णन यहाँ किया जा रहा है-

१. यदि केवल वस्तु के पश्चात् इतना कहते तो आत्मा रूपी वस्तु के बाद होने के कारण वह आत्मा अविद्या से पृथक् हो जायेगी। इसलिए वस्त्वन्तर शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्त्वन्तर का प्रयोग करने से आत्मा प्रमाणज्ञान से पृथक् वस्तु सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वस्त्वन्तर अपने से या स्वाश्रय से भिन्न है।

२. अब यदि इसी प्रकार केवल वस्त्वन्तर को विषय के रूप में रखें तो प्रमाणज्ञान के विषय जो घट आदि वस्तुएं हैं वे अविद्या की अपेक्षा भिन्न पदार्थ हो जायेगी। इसलिए स्वदेशगत शब्द लगाया गया है।

३. अदृष्ट आदि पदार्थों की व्यावृत्ति के लिए स्वनिवर्त्य शब्द प्रवृत्त हुआ है। स्वदेशगत कहने से तो आत्मा के अन्दर के सारे पदार्थ-धर्म,

१९६. अनुमानं च-विवादपदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेश गतवस्त्वन्तरपूर्वकमप्रकाशितार्थ प्रकाशत्वात्। अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रभावदिति। सर्व द० स०, पृ० ७३९

अधर्म, सुख, दु:ख इच्छा आदि भी चले आयेंगे। इसीलिए स्वनिवर्त्य लगाया गया है कि अविद्या से केवल प्रमाणज्ञान के द्वारा निवर्त्य वस्तु का ही बोध हो।[१९७]

४. उत्तर क्षण के ज्ञान से पूर्वक्षण के ज्ञान की निवृत्ति होती है इस प्रकार के स्वनिवर्त्य ज्ञान की व्यावृत्ति के लिए स्वविषयावरण शब्द लगाया है; जिसमें अविद्या का लक्षण प्रकट होता है कि वह अपने विषय घट का आवरण स्वयं करती है–उसमें पूर्वापर ज्ञान का प्रश्न नहीं है।

५. उक्त प्रकार के प्रमाण ज्ञान में प्रागभाव है ही–इसीलिए प्रागभाग को दूर करने के लिए स्वप्रागभावव्यत्तिरिक्त शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार अभी तक अन्तिम विशेषण से प्रथम विशेषण की ओर जाते हुए उन सबों की सार्थकता दिखा रहे थे। अब प्रथम विशेषण से आरम्भ करके अन्तिम विशेषण की ओर आ रहे हैं। इस प्रकार विशेषणों की सार्थकता पर भली–भाँति विचार करके ही अनुमान के द्वारा अविद्या की सिद्धि की जा रही है।[१९८]

१. यदि केवल इतना कहते हैं कि प्रमाणज्ञान अपने प्रागभाव से भिन्न वस्त्वन्तर के बाद उत्पन्न होता है तो वह प्रमाणज्ञान अपने विषय से ही पृथक् पदार्थ हो जाता। इस प्रसंग को रोकने के लिए विषयावरण शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसमें प्रमाणज्ञान और विषयों का ऐक्य सिद्ध होता है। विषय का आवरण है अर्थात् स्वयं विषयों के रूप में हैं।

२. अब प्रश्न उठता है कि अन्धकार भी तो विषय का आवरण करता है तो क्या इसे ही प्रमाणज्ञान कहेंगे? नहीं ऐसे ही स्वविषयावरण करने वाले अन्धकार का निषेध करने के लिए स्वनिवर्त्य शब्द लगाया है। (अन्धकार स्वनिवर्त्य नहीं है प्रमाणज्ञान है, अन्धकार की निवृत्ति प्रकाश से होती है, प्रमाण ज्ञानसे नहीं।

---

१९७. वस्तुपूर्वकमित्युक्त आत्मवस्तुपूर्वकत्वेनार्थान्तरता। तदर्थ वस्त्वन्तरेति तथापि। विषयभूते वस्त्वन्तरेऽर्थान्तरता। तदर्थं स्वदेशगतेति। सर्व द० स०, पृ० ७३९

१९८. उत्तर ज्ञाननिवर्त्य प्रथमज्ञानं। निवर्तयितुं स्वविषयावरणेति। प्रागभावं प्रतिक्षेप्तं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तेति। स्वप्रागभाव..................विषयेणार्थान्तरता। सर्व द० स०, पृ० ७४०

३. विषयनिष्ठ अज्ञानता को दूर करने के लिए स्वदेशगत विशेषण लगा है। घटादि विषयों में अज्ञानता है, इसका निराकरण भी प्रमाण ज्ञान से ही होता है परन्तु वह अज्ञानता प्रमाणज्ञान में अवस्थित तो नहीं है।[१९९]

४. मिथ्याज्ञान का निराकरण करने के लिए वस्तवन्तर शब्द का प्रयोग किया गया है। सीपी में जो चाँदी के रूप में ज्ञान होता है वह प्रमाणज्ञान के प्रागभाव से भिन्न होता है, इस प्रमाण ज्ञान से अपने विषय सीपी का आवरण भी निवृत्त हो जाता है तथा यह ज्ञान आत्मनिष्ठ सीपी के ज्ञान के आश्रय आत्मा में स्थित भी है, फिर भी वह प्रमाणज्ञान वस्त्वन्तर नहीं है क्योंकि ज्ञान है और यहाँ ज्ञान को वस्त्वन्तर मानते हैं।

५. धारावाहिक विज्ञान में व्यभिचार रोकने के लिए अप्रकाशित का प्रयोग हुआ है। धारावाहिक विज्ञान में प्रथम ज्ञान अज्ञानपूर्वक होता है। उस प्रथम ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है और विषय का प्रकाशन होता है। अब तो प्रकाशित वस्तु का ही प्रकाशन आरम्भ होने लगता है, अप्रकाशित का नहीं। केवल इसी गुण का ही अभाव धारावाहिक विज्ञान में है, अन्यथा और सब समान है।[२००]

शब्द–प्रमाण से अविद्या की सिद्धि :–

अविद्या की सिद्धि के लिए श्रुति प्रमाण भी है। पुनः अन्त में संसार रूपी माया की निवृत्ति हो जाती है (श्वे. १/१०) इस तरह की श्रुति है। यह भी स्मृति–वाक्य के रूप में है। हृदय में जिस ब्रह्म के निविष्ट कर दिये जाने पर योगी फैली हुई अविद्या या माया के पार कर जाते हैं, वैसे अमेय (अज्ञेय) ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को नमस्कार है।[२०१]

इन तर्कों से ही भास्कराचार्य की उस उक्ति का खण्डन हो गया जिसे उन्होंने बौद्ध सम्मत प्रमाणों का विवेचन करते हुए? स्पष्ट किया है कि भेदाभेद–वादियों के यहाँ अज्ञान भावरूप नहीं है, किन्तु ज्ञानाभाव है।

१९९. तदर्थं विषयावरणेति, तादृशमन्धकारं व्यासेद्धु स्वनिवर्त्येति। विषयगतामज्ञानतां निराकर्तुं स्वदेशगतेति।

२००. मिथ्याज्ञानमपोहितुं वस्त्वन्तरेति। धारावाहिकविज्ञाने व्याभिचारं व्यासेद्धुमप्रकाशितेति। सर्व द० स०, पृ० ७४१

२०१. तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते। योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः। सर्व द० स०, पृ० ५२

यहाँ पर अद्वैतवेदान्तियों का कहना है कि भावरूप अज्ञान यदि स्वीकार नहीं करे तो जीव और ईश्वर के विभाग कि सिद्धि नहीं होगी। लेकिन आप ऐसा न समझ लें कि सचमुच जीव परमात्मा का अंश ही है क्योंकि वैसा मानने से इस श्रुत-वाक्य का विरोध होगा-वह ब्रह्म कलाओं या अंशों से रहित है; क्रिया-रहित है, शान्त है। दोषों मे शून्य है तथा अञ्जन अर्थात् धर्म-अधर्म आदि से भी भिन्न है।[२०२]

अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थों में मायावाद की कई प्रकार की व्याख्याएं मिलती हैं।[२०३] माया ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकती है क्योंकि ब्रह्म के समान दूसरी कोई सत्ता नहीं है। जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म के अन्दर किसी वास्तविक सत्ता के कुछ अंश संयुक्त होने से नहीं हुई है। जो ब्रह्म पूर्णरूपेण सर्वांगपूर्ण है, उसमें किसी अन्य वस्तु का संयोग होना सम्भव नहीं है, अतः यह अखिल ब्रह्माण्ड असत् के कारण से विद्यमान है। डॉ० राधाकृष्णन् से शंकर के मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जगत् की प्रक्रिया यथार्थ सत्ता के क्रमिक ह्रास के कारण है। माया की संज्ञा का प्रयोग विभाजक शक्ति के लिए जो प्रतिबन्ध लगाने वाला तत्व है; हुआ है। यह वह तत्व है जो अपरिमित को माप में परिमित कर देता है और रूप रहित में रूप की सृष्टि करता है।[२०४] यह माया प्रधान यथार्थसत्ता का एक विशेष लक्षण है, न उसके समान है और न उससे भिन्न है। इसको एक स्वतन्त्र स्थान प्रदान करने का तात्पर्य होगा मौलिक रूप में द्वैतवाद की मान्यता प्रदान करना। आनुभाविक जगत् में जो भेद पाया जाता है और जिसका हमें ज्ञान है उसका कारण यदि हम नित्यब्रह्म में खोजने का प्रयत्न करें तो यह अनुचित होगा। ज्यों ही हम माया का सम्बन्ध ब्रह्म से जोड़ने जाते हैं। ब्रह्म ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है और माया ईश्वर की शक्ति को प्रकट करती है। किन्तु ईश्वर के

---

२०२. यदेव पररूपादर्थनं सैवाविद्येति। भावरूपाज्ञानानभ्युपगमे जीवेश्वरादिविभागानुपपत्तेः। न च भाविकः परमात्मनोंऽशो जीव इति वाच्यम्। निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। सर्व द० स०, पृ० ७४४

२०३. नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसदभ्याम् अनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी। सांख्य प्रवचन भाव्य-१:२६/शांकर भाष्य उप० २६

२०४. एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाज्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्ति। शांकर भाष्य-१:३,१९.।

अपने ऊपर माया से किसी प्रकार का असर नहीं होता। यदि माया का अस्तित्व है तो यह ब्रह्म के प्रतिबन्ध रूप में रहती है और यदि माया का अस्तित्व नहीं है तो जगत् के आभास की भी कोई व्याख्या नहीं बनती। जगत् को उत्पन्न करने में तो इसकी यथार्थता समझ में आ सकती है किन्तु ब्रह्म के प्रतिबन्ध रूप में इसकी यथार्थता नहीं है। यह न तो ब्रह्म के समान यथार्थ ही है और न आकाश कुसुम के समान अभावात्मक ही है।[२०५]

हम इसे चाहे जो कहें, भ्रांतिमात्र अथवा यथार्थ किन्तु जीवन की समस्या के समाधान के लिए इसकी सत्ता को मानना आवश्यक है। यह ईश्वर की एक नित्य शक्ति है। संक्षेपशारीरिक के रचयिता का मत है कि ब्रह्म माया के माध्यम द्वारा विश्व का उपादान कारण है, क्योंकि माया का क्रिया के लिए होना आवश्यक है। इसे ब्रह्म की उपज समझा जाता है अर्थात् यह ब्रह्म की क्रिया-शीलता का एक परिणाम है। यह जगत् में अनिवार्य रूप से उपस्थित रहती है तथा इसके अस्तित्व की निर्णायक है। माया द्रव्य नहीं है और इसलिए इसे उपादान कारण नहीं माना जा सकता। यह केवल मात्र एक व्यापार है जो ब्रह्मरूपी उपादान कारण से उत्पन्न होने के कारण भौतिक पदार्थ अर्थात् जगत् की उत्पत्ति करता है।[२०६]

इस लेखक के मत में माया ब्रह्म से सम्बद्ध है और प्रतिबन्ध की प्रक्रिया है और इसके दो लक्षण है, आवरण अर्थात् सत्य को छिपाना, और 'विशेष' अर्थात् उसकी मिथ्या-व्याख्या करना।[२०७] इसमें से पहला तो केवलमात्र ज्ञान का निराकरण है और दूसरी निश्चित रूप से भ्रम को उत्पन्न करता है। इसके कारण केवल इतना ही नहीं कि हम परम निरपेक्ष सत्ता के दर्शन नहीं कर सकते अपितु हमें उसके स्थान में किसी अन्य वस्तु का बोध हो जाता है। माया के कारण से ही विविध प्रकार के नाम और रूप का विकास होता है और उन्ही का कुलयोग यह जगत् अथवा विश्व है। इस नाम और रूप के पुञ्ज के पीछे माया नित्यब्रह्म को भी हमारी दृष्टि से ओझल कर देती है।

माया के दो व्यापार हैं; यथार्थ सत्ता को छिपा देना तथा मिथ्या का विक्षेप करना। विविधता रूप जगत् यथार्थसत्ता। तथा हमारे मध्य पर्दे का कार्य करता है।

२०५. शांकर भाष्य-१:४,३।

२०६. तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः।

२०७. देखें-वेदान्तसार-४.

कुछ लोग सोचते हैं कि सृष्टि उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिए है। मेरा कहना है कि इसका प्रयोजन उसे छिपाना है और इसके अतिरिक्त यह और कुछ कर नहीं सकती।[२०८]

चूंकि माया इस प्रकार स्वरूप में छली है।[२०९] इसे अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यह केवल बोध का अभाव ही नहीं है। किन्तु निश्चय रूप से भ्रांति है। जब इस व्यापार का सम्बन्ध ब्रह्म के साथ होता है तो ब्रह्म ईश्वर हो जाता है। "एक अचल, निरूपाधिक तब अपनी ही मायारूप शक्ति से ऐसा बन गया जिसे कर्ता की संज्ञा दी गई।"[२१०]

माया ही ईश्वर की शक्ति है उसकी अन्तःस्थायी बल है, जिसके द्वारा वह सम्भाव्यता को वास्तविक जगत् के रूप में परिणत कर देता है। उस ईश्वर की माया, जो विचार के क्षेत्र से परे हैं अपने को दो आकारों में परिवर्तित करती है, अर्थात् काम और संकल्प में। नित्यरूप ईश्वर की यह उत्पादिका शक्ति है और इसीलिए यह भी नित्य है और इसी साधन से सर्वोपरि प्रभुब्रह्म संसार की रचना करता है। माया का कोई पृथक् निवास स्थान नहीं है। यह ईश्वर ही के अन्दर रहती है, जिस प्रकार उष्णता अग्नि में रहती है। इसकी उपस्थिति इसके कार्यों द्वारा अनुमान से जानी जाती है।[२११] माया नाम और रूप के समान है जो अपनी अविकसित अवस्था में ईश्वर के अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। एवं अपनी विकसित अवस्था में जगत् का निर्माण करते हैं। इन अर्थों में यह (माया) प्रकृति की पर्यायवाची है।[२१२] ईश्वर में परमसत् की अपेक्षा यथार्थता कुछ न्यून है और अन्य पदार्थों में यथार्थता का अभाव क्रमशः बढ़ता जाता है। क्रमिक व्यवस्था के नीचे की धरातल पर हमें ऐसा कुछ मिलता है जिसके अन्दर ऐसे निश्चयात्मक गुण है ही नहीं जिनके छिन जाने का प्रश्न उठे, अपितु जिसका अस्तित्व मात्र है, किन्तु जो असत् के रूप में है। यह एक प्रकार की शून्यता है जो ऐसे स्थान पर शून्य भित्ति के रूप में खड़ी है जहाँ यथार्थता का अन्त होता है। यह विश्व सम्बन्धी विकास का न तो कोई भाग है और न उसकी उपज ही

---

२०८. ब्राउनिंग–विशेष बयोग्राम्स–एपोलॉजी।
२०९. मायाके छली रूप के लिए देखें मिलिन्द–४:८,२३।
२१०. अप्राणं शुद्धमेकं समवद् अथ तन्मायया कर्तृसंज्ञम् शतश्लोकी पृ०-२४
२११. निस्तत्त्वा कार्यगभ्यास्य शक्तिर्मायाविनशक्तिवत्। पञ्चदशी।
२१२. ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिः शांकर भाव्य–२:१,१४.

है किन्तु अनेकत्व और अपहरण का एक अव्यक्त तत्त्व है जो समस्त विकास का आधार है।

सर्वोपरि ईश्वर सृष्टिरचना के समय रूप विहीन तथा निरूपाधिकों में ऐसे रूपों तथा गुणों का आधान करता है जिन्हें वह अपने अन्दर धारण किये हुए है। ''इस अविकसित तत्व को कभी आकाश[२१३] कभी 'अक्षर'[२१४] अर्थात् अविनाशी और कभी 'माया' के नाम से प्रकट किया जाता है।[२१५] सृष्टि रचना में यह भौतिक अधिष्ठान है। यह परिवर्तनों के द्वारा विश्व की क्रमिक रूप से प्राकृतिक व्यवस्था में ले आता है। यह ईश्वर के कारण शरीर का निर्माण करता है। सांख्य के 'प्रधान' के विपरीत यह ईश्वर से स्वतन्त्र नहीं है।[२१६] यह एक ऐसा प्रतिबन्ध है जिसे ईश्वर अपने ऊपर लगाता है। प्रकृति के अन्दर जगत् की सम्भाव्यता केन्द्रित है, जिसे भविष्य में उगने वाले वृक्ष की सम्भाव्य क्षमता बीज के अन्दर निहित रहती है। यह प्रकृति, जिसमें तीनों गुण विद्यमान हैं।[२१७] न तो ईश्वर की आत्मा है और न ईश्वर से पृथक् ही है। यह प्रलयकाल में भी सर्वोपरि प्रभु ब्रह्म के ऊपर आश्रित होकर बीज शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है। पुराणों में यही माया अथवा प्रकृति ईश्वर की पत्नी के रूप में प्रकट होती है, तथा सृष्टि रचना में यह मुख्य साधन का काम देती है।[२१८] यह माया रूप जगत् वस्तुओ की जननी व क्रीड़ाभूमि है जो सदा अपने को अनन्त रूपों में ढालने के लिए उत्सुक रहता है।[२१९] परिणाम यह निकला कि यह विश्व ईश्वर के लिए अथवा ऐसे विषयी के लिए जिसका सम्बन्ध सदा विषय के साथ रहता है, आवश्यक है। ईश्वर को विश्व की आवश्यकता है जो कि हेगल की परिभाषा में ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति का एक आवश्यक रूप है।

२१२. श्वेताश्वतरोपनिषद्–४:१०, भगवद्गीता पर शांकर भाष्य, प्रस्ताव–७:४, सांख्य प्रवचन भाष्य–१:२६.

२१३. वृहदारण्यक उननिषद्–३:८,११.

२१४. मुण्डक–२:१,२।

२१५. श्वेताश्वतर–४:१ देखें; शांकर भाष्य–१:४,३। अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्ति रव्यक्त।

२१६. शब्द निर्देश्या ततेतद् अव्यक्तं क्वचिद् आकाश शब्द निर्दिष्ट क्वचित्––सूचितम्।

२१७. तुलना करें–थॉमिस्टिक दर्शन के मैटेरिया प्राइमा के सिद्धांन्त के साथ।

२१८. न––स्वतन्त्रं तत्त्वम्। शांकर भाष्य १:२,२२।

२१९. तुलना करें–वृहदारण्यक से भी १:४,३।

आचार्यशंकर बलपूर्वक कहते हैं कि ब्रह्म तथा जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या तार्किक विभागों के द्वारा करना असम्भव है। यथार्थ का सम्बन्ध अयथार्थ के साथ किसी भी प्रकार का कभी भी नहीं देखा गया।[२२०] जगत् किसी न किसी प्रकार से अस्तित्व रखता है और ब्रह्म के साथ इसका सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। शंकर भिन्न-भिन्न व्याख्याओं को लेकर कहते हैं कि ये सब असन्तोषप्रद हैं यह कहना कि अनन्त ब्रह्म सान्त जगत् का कारण है तथा इसे बनाता है, एक प्रकार से यह स्वीकार करना है कि अनन्त काल सम्बन्धी प्रतिबन्धों के अधीन है।

कारण–कार्य के सम्बन्ध का प्रयोग ब्रह्म तथा जगत् के सम्बन्ध विषय में नहीं किया जा सकता, क्योंकि कारण का कुछ अर्थ तभी बन सकता है जब कि सत् के सीमित प्रकार ऐसे हों कि उनके मध्य एक श्रृंखला वर्तमान हो। हम ऐसा नहीं कह सकते कि ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है; क्योंकि इसका तात्पर्य होगा कि हम ब्रह्म और जगत् में भेद करते हैं और एक ऐसी वस्तु का निर्माण करते हैं जिसका सम्बन्ध अन्य वस्तु के साथ है। इसके अतिरिक्त जगत् सीमित है और सौपाधिक है तो फिर एक अनन्त, जो निरूपाधिक है, इसका कारण कैसे हो सकता है? यदि सान्त जगत् प्रतिबन्धयुक्त तथा अस्थायी है तब अनन्त सीमित जगत् के प्रतिबन्ध के रूप में स्वयं सीमित हो जाता है और तब वह अनन्त नहीं रहता। यह सोच सकना असम्भव है कि किस प्रकार अनन्त अपने से बाहर जाकर सीमित रूप धारण कर सकता है क्या अनन्त किसी विशेष क्षण में आवश्यकता वश सीमित रूप धारण करने के लिए बाहर आता है।

शंकर गौड़पाद के अजाति अथवा 'अविकास' सम्बन्धी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। यह जगत् न तो विकसित ही हुआ और न उत्पन्न ही हुआ है किन्तु ऐसा केवल प्रतीत होता है, क्योंकि हमारी अन्तर्दृष्टि परिमित है। यह जगत् ब्रह्म की अव्यतिरिक्तता से अभिन्न (अनन्य) है। "कार्य अभिव्यक्त जगत् है जो आकाश से प्रारम्भ होता है, कारण सर्वोच्च ब्रह्म है। इस कारण से सर्वोच्च यथार्थता के अर्थों में कार्य का तादाम्य सम्बन्ध है किन्तु इससे परे उसकी कोई सत्ता नहीं।[२२१]

---

२१०. तुलना करें–त्वमसि परब्रह्ममहिषी। आनन्दलहरी। न हि सदसतोः सम्बन्धः माण्डूक्योपनिषद् पर शांकर भाष्य–२:७२२

२२१. कार्यम् आकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत् कारणं परं ब्रह्म तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते। शांकर भाष्य–२:१,१४।

यह एक तादाम्य की अवस्था है अथवा लौकिक परिभाषा में नित्य स्थायी सह-अस्तित्व है किन्तु लौकिक पूर्वापर अनुक्रम नहीं है जो हो केवल कारण शक्ति के रूप में घटनाओं की व्यवस्था का निर्णायक होता है। जगत् की अन्तस्तम आत्मा ब्रह्म है। यदि यह ब्रह्म से स्वतन्त्र प्रतीत होता है, तब हमें कहना होगा, कि यह जैसा प्रतीत होता है वैसा नहीं है।[२२२] और न ही हम अनन्त के अन्दर कोई क्रिया बतला सकते हैं; क्योंकि प्रत्येक क्रिया उपलक्षित करती है कि वह किसी उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए अथवा किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए है। यदि यह कहा जाए कि निरपेक्ष परब्रह्म अपने को सीमित रूप में अभिव्यक्त करता है तो शंकर का कहना उसके उत्तर में यह है कि इस प्रकार का मत रखना कि सीमित जगत् ब्रह्म को अभिव्यक्त करता है, एक मिथ्या विचार है। सीमित जगत् हो या न हो निरपेक्ष परब्रह्म सदा ही अपनी अभिव्यक्ति करता रहता है, जैसे कि सूर्य सदा ही चमकता रहता है। यदि किसी समय हम सूर्य को नहीं देख सकते तो यह सूर्य का दोष नहीं है। निरपेक्ष पर ब्रह्म सदा अपने रूप में अवस्थित रहता है। हम उस निरपेक्ष पर ब्रह्म के सत् तथा उसकी अभिव्यक्ति के मध्य में भेद नहीं कर सकते। जो एक हो वही दूसरा है वृक्ष के रूप में प्रकट होने वाले बीज का दृष्टान्त अनुपयुक्त है, क्योंकि ऐन्द्रिक प्रगति और विकास लौकिक प्रक्रियाएं है। लौकिक वर्ग भेदों का प्रयोग नित्य के सम्बन्ध में करने का तात्पर्य होगा कि हम उस नित्य को एक लौकिक पदार्थ अथवा घटना के स्तर पर नीचे की श्रेणी का रूप देते हैं। ईश्वर के विषय में ऐसा कहना कि वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए सृष्टि के ऊपर आश्रित है, उसे सर्वथा अन्तर्यामी होने का रूप देना होगा। शंकर परिणाम सम्बन्धी विचार को नहीं मानते। क्या सम्पूर्ण ब्रह्म में अथवा उसके किसी एक भाग में परिवर्तन होकर जगत् का निर्माण होता है। यदि सम्पूर्ण में होता है तो सम्पूर्ण ब्रह्म जगत् के रूप में हमारी आँखों के सामने फैला हुआ है और ऐसी कोई अतीन्द्रिय सत्ता उस अवस्था में नहीं रहती जिसकी खोज हमें करनी पड़े और यदि उसके किसी भाग में परिवर्तन होकर जगत् का निर्माण होता है। तब ब्रह्म की अखण्डता नष्ट होती है। यदि किसी वस्तु के हिस्से अथवा अवयव उसमें भेद हो तब यह नित्य नहीं हो सकती।[२२३] श्रुति का मत है कि ब्रह्म अवयव रहित है।[२२४] यहाँ एक बार ब्रह्म चाहे आंशिक रूप से

२२२. देखें–शांकर भाष्य–२:१,१४/२:३,३०/२:३,६।

२२३. शंकर भाष्य २:१, २६.

२२४. श्वेताश्वतर उपनिषद् ६:१९, मुण्डकोपनिषद् २:१–२.

और चाहे पूर्णरूप से जगत् का द्रव्य बन जाता है। तो फिर यह जगत् का द्रव्य नहीं रहता और स्वतन्त्र भी नहीं रहता। यदि निरपेक्ष ब्रह्म परिणमन के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ-साथ बढ़ता तथा विकास को प्राप्त होता है और यदि हमारे कर्मों से निरपेक्ष ब्रह्म के जीवन अथवा विकास में कुछ अंश दान मिलता हो तो निरपेक्ष ब्रह्म सापेक्ष हो जाएगा। तो भी यदि निरपेक्ष परब्रह्म सब प्रकार के भेदों को नष्ट कर दे और परिणमन रूप जगत् को भी आत्मसात् करले तब फिर इस विश्व में गुणी और परिणाम के विषय में निर्धारण करने का जीवन के लिए कुछ अर्थ ही नहीं रहता। ब्रह्म का जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसको प्रकट करने के लिए वृक्ष का शाखाओं के साथ अथवा समुद्र का उसकी लहरों के साथ अथवा मिट्टी का सम्बन्ध जो मिट्टी से बने हुए वर्तन है, उनके साथ ये सब जो दृष्टान्त है वहाँ नहीं घटते क्योंकि उक्त सब में पूर्ण इकाई का जो उसके भाग के साथ सम्बन्ध है एवं द्रव्य के साथ गुण का जो सम्बन्ध है उस प्रकार की बौद्धिक श्रेणियों का उपयोग किया जाता है। ब्रह्म तथा जीवात्माओं में जो सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों ही विना भागों के है, वह न तो बाह्य अर्थात् संयोग और न आन्तरिक अथवा समवाय ही हो सकता है। क्या आत्माएँ ब्रह्म के अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहती हैं अथवा ब्रह्म ही समवाय सम्बन्ध से आत्माओं के अन्दर रहता है? ब्रह्म को परिणमन रूप-जगत् के साथ सम्बद्ध करने के समस्त प्रयत्न असफल रहे हैं। सीमित जगत् का अनन्त आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है यह एक ऐसा रहस्य है जो मानवीय बोध की शक्ति से परे हैं। प्रत्येक धार्मिक व्यवस्था मानती है कि सीमित का मूल अनन्त के अन्दर है और यह कि दोनों का मध्यवर्ती जो सातत्य है उसमें कहीं भी विच्छेद नहीं है और फिर भी व्यवस्था ने आज तक दोनों के बीच के सम्बन्ध का तार्किक विधि से स्पष्टीकरण नहीं किया। हम अपने को समझा नहीं सकते कि किस विधि से आभास रूप व्यावहारिक जगत् निरपेक्ष परब्रह्म के साथ बंधा हुआ है ज्ञान में उन्नति हमें इस योग्य तो कर सकती है कि हम उन घटनाओं का वर्णन कर सकें जो विषय रूप जगत् को बनाती है और अधिकतर व्योरे तथा यथार्थता के साथ भी उसका वर्णन कर सके किन्तु अनन्त के अन्दर से सान्त जगत् की उत्पत्ति अर्थात् संसार की ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्याख्या सर्वथा हमारी शक्ति से बाहर है हमारे तक की श्रृखंला भले ही कितनी ही दीर्घ क्यों न हो और भले ही इसकी कितनी कड़ियाँ क्यों न हो, हम एक ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ जाकर विवरण रुक जाता है और हमें एक तथ्य को स्वीकार करना ही होता है। जिसमे आगे किसी प्रकार

के निगमन की गुंजाइश नहीं रह जाती। माया शब्द हमारी सान्तता को मन में अंकित कर देता है और हमारे ज्ञान में जो रिक्त स्थान है उसको दर्शाता है एक जादूगर हमारे आगे शून्य से एक वृक्ष को उत्पन्न कर देता है। वृक्ष उपस्थित है, यद्यपि हम उसका समाधान नहीं कर सकते और इस प्रकार हम उसे माया कहते हैं। रस्सी और सांप के दृष्टान्त का उपयोग, जिसका बहुत दुरुपयोग हुआ है, शंकर ने संसार की समस्या को समझने के लिए किया है। रस्सी की पहेली विश्व की भी पहेली है। क्यों कर रस्सी सांप प्रतीत होती है। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे स्कूल के लड़के उठाते हैं और दार्शनिक इसका उत्तर देने में असफल रहते हैं इससे अधिक विस्तृत प्रश्न है कि ब्रह्म के जगत् के रूप में प्रतीत होना, और यह और भी अधिक कठिन है। हम केवल यह कह सकते हैं कि ब्रह्म जगत् के रूप में प्रतीत होता है, ठीक जैसे कि रस्सी सांप के समान प्रतीत होती है।[२२५] ब्रह्म तथा जगत् के मध्य सम्बन्ध की सामान्य समस्या का विशेष विनियोग है ब्रह्म तथा ईश्वर का पारस्परिक सम्बन्ध।

जीवात्मा

आचार्य शंकर के अनुसार जीवात्मा अनादि तो हैं परन्तु नित्य नहीं है शंकर मत में नित्य और अनादि केवल ब्रह्म ही हो अन्य समस्त जगत् माया आदि अनादि हो सकते हैं परन्तु नित्य नहीं है जैसा कि यह स्पष्ट किया जा चुका है कि पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की ही है ब्रह्म मायोपहित होकर जीवात्मा तथा जगत् के रूप में भाषित होता है। सर्वदर्शन संग्रह में शंकर के अनुसार जीवात्मा के विषय में स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिसकी सारी उपाधियाँ नष्ट हो गई हैं वह आत्मतत्त्व श्रुति आदि में प्रसिद्ध है। अहम् की प्रतीति से ज्ञेय जो जीवात्मा है वह सोपाधिक है, इसलिए तो 'अहम्' के रूप में प्रतीति होती है। अहंभाव आदि सभी धर्म औपाधिक है। सदैव सौम्य आदि श्रुति वाक्यों में जो प्रसिद्ध है वह निरूपाधिक आत्मतत्त्व है तथा ब्रह्म के रूप में है—जीवो ब्रह्मैव नापरः निरूपाधि जीव या आत्मा ब्रह्म ही है। इसलिए उसका निश्चय करने के लिए ब्रह्मजिज्ञासा करनी आवश्यक है। उन श्रुतिवाक्यों को उपचार के अर्थ में लेना उचित नहीं है। उपक्रम उपसंहार आदि छह प्रकार के लिंग साधन है जो तात्पर्य का निर्णय करते हैं, इसलिए उनसे जब तत्त्व का बोध करेंगे तो उन श्रुति वाक्यों में उपचार-अर्थ असिद्ध हो जाएगा।[२२६]

२२५. मायामात्रं ह्येतद् यत् परमात्मनोऽवंस्थानयात्मनावभासनं रज्जेव सर्पादिभावेन। (शांकर भाष्य २:१, २८).

२२६. उपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया तत्त्वं बोधयतामुपचरितार्थत्वानुपपत्तेः।

पूर्व के आचार्यों ने इन छह प्रकार के लिंगों का निर्देशन किया है उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, पूर्वतताफल, अर्थवाद और उपपत्ति-ये तात्पर्य का निर्णय करने के लिए लिंग साधन है। किसी प्रकरण में जिस विषय का प्रतिपादन करना है उसका उल्लेख प्रकरण के आदि में करना उपक्रम है। प्रकरण के अन्त में करना उपसंहार है। ये दोनों मिल करके तात्पर्य-निर्णय के साधन बनते हैं। उपक्रम और उपसंहार में किसी विषय का प्रतिपादन देखकर पूरे प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय समझ में आता है तथा उस प्रकरण के किसी वाक्य का तात्पर्य भी उस सन्दर्भ में लग जाता है। प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन यदि प्रकरण में ही बीच में बार-बार करें तो यह अभ्यास कहलाता है। तात्पर्य के निरूपण में इससे भी काफी सहायता मिलती है। जब प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय किसी भी दूसरे प्रमाण से ज्ञात न हो तो उसे 'अपूर्वता' कहते हैं प्रकरण में जहाँ-तहाँ सुनाई पड़ने वाला प्रयोजन फल है। प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की प्रशंसा करना अर्थवाद है। जिससे प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि हो तथा जो जहाँ-तहाँ सुनाई पड़े वह युक्ति उपपत्ति है। प्रकरण का तात्पर्य इन्हीं छह लिंगों से, निर्णीत होता है[२२७]।

छन्दोग्योपनिषद् का सन्दर्भ देते हुए उपक्रमादि लिंगों के द्वारा आत्मा की सिद्धि करते हुए कहा है कि हे सौम्य! सबसे पहले यह सत् ही था यह उपक्रम है। चूंकि छांदोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक में प्रकरण के आदि में ही है तथा निरूपाधिक केवल सत् के रूप में विद्यमान, अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। यह सब कुछ उसके रूप में ही हैं, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेत कर्ता! वह तुम ही हो यह उपसंहार है। ये दोनों लिंग ब्रह्म के विषय में होने के कारण एक रूप-एक ही प्रकार के लिंग है। वह तुम ही हो ऐसा अनेक बार कहना अभ्यास है[२२८]।

दूसरे प्रमाण से अज्ञेय होना अपूर्णता है अद्वितीय आत्मा को दूसरे प्रमाणों से भी जान सकते हैं। परन्तु उसका प्रदर्शन नहीं हुआ। मैं उस औपनिषद् पुरुष को पूछता हूँ। इत्यादि इसकी पुष्टि करते हैं कि उस पुरुष का ज्ञान उपनिषद् के अतिरिक्त किसी भी दूसरे साधन से नहीं हो सकता। उसी प्रसंग में, एक के

---

२२७. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णय।। इति।। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६५७.
२२८. ऐतदात्म्यमिदं सर्व तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो (छां०-६/८/१६).

जानने से सभी का ज्ञान होता है ऐसा कहा गया है, जैसे—येनाश्रुतं श्रुतं भवति (छां० ६/१/३) यही फल है[२२९]।

आचार्य शंकर ने पाँच प्रकार के अर्थवाद को बताया है कि—सृष्टि (Creation), स्थिति (Sustention) प्रलय (Dissalution), प्रवेश (Entrance) तथा नियमन (Control) ये ब्रह्म के विषय में दिये गए पाँच अर्थवाद हैं। यद्यपि ब्रह्म सत् निष्कल आदि है किन्तु सगुण का आरोप करके उसकी कतिपय शक्तियों की प्रशंसा उपनिषदों में हुई है। वह अर्थवाद है। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत (छां० ६/२/३) में अद्वितीय ब्रह्म से सृष्टि का वर्णन किया गया है। सन्मूला: सौम्येमा सर्वा: प्रज्ञा: सदायतना: सत्प्रतिष्ठा: (छां० ६/८/४) यहाँ स्थिति और नियमन दोनों का वर्णन है। तेज: परस्यां देवतायाम् (छां० ६/८/६) में प्रलय का निरूपण है। इमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नारूपे व्याकरणवाणीति (छां० ६/३/२) इसमें प्रवेश का वर्णन है। इस प्रकार श्रुति में निरुपित सृष्टि आदि क्रियाओं के द्वारा ब्रह्म की प्रशंसा हुई है।

मृत्तिका आदि के दृष्टान्त उपपत्ति है। अद्वितीय वस्तु की सिद्धि के लिए उक्त प्रसंग में मिट्टी का उदाहरण दिया गया है कि केवल मिट्टी का पिण्ड जान लेने से मिट्टी के बने सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। वे विकृत रूप—खिलौना, घड़ा, सुराही आदि—केवल वाणी के खेल हैं। विभिन्न नामों से पुकारे जाने के कारण ये विभिन्न पदार्थ नहीं है—सत्य तो केवल मिट्टी है[२३०]।

ठीक उसी प्रकार सादे पदार्थों के नाम और रूप भ्रम है वाणी के विकार है। सत्य केवल ब्रह्म है। उसी के अध्यस्त रूप ये पदार्थ है। यह युक्ति ही उपपत्ति है।

इस प्रकार इन लिंगों से यह निश्चय कर लेना चाहिए कि सभी उपनिषदों (वेदान्तो का तात्पर्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध, और मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म को आत्म रूप में दिखाना है। तो इस तरह उपनिषदों में प्रतिपादित जो आत्मतत्त्व है वह अहम् के अनुभव में प्रतीत नहीं होता। हमारा अहं का अनुभव आत्मा नहीं है। आत्मा शुद्ध वही है जो उपनिषदों में प्रतिपादित है। इसलिए यह सामान्य अनुभव

---

२२९. इत्युक्तिरभ्यास: सानान्तरागम्यत्वमपूर्णत्वम्। एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानं फलम्।

२३०. सृष्टि स्थितिप्रलयप्रवेशनियमनानि पञ्चार्थवादा:। मृदादिदृष्टान्ता उपपत्तय:। सर्वदर्शन सं०, पृ० ६५८.

अध्यस्त (आरोपित) आत्मा के विषय में है, यह सिद्ध हुआ। आत्मतत्व का आरोपण देहादि पर होता है। उसी से सम्बद्ध प्रतीति हमें अहम् के रूप में होती है, शुद्ध आत्मा की नहीं। यह आरोपण भ्रममूलक है। जैसे–चाँदी के रूप में सीपी प्रतीति अवभाषित होती है। उसी तरह आत्मा के रूप में देह प्रतीत होती है। कुछ लोग कह सकते हैं कि 'अहम्' के अनुभव में निर्विशेष ब्रह्म का अवभास भले ही न हो किन्तु जीवात्मा की प्रतीति तो होती होगी। वैशेषिक दर्शन में ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा स्वीकृत भी है जो प्रत्येक शरीर के लिए भिन्न-भिन्न है और विशेषणयुक्त है। इसलिए अहम् का अनुभव आरोपित आत्मतत्व से युक्त देहादि के विषय में होता है। परन्तु यह कहना युक्ति युक्त इसलिए नहीं है कि ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा के लिए कोई प्रमाण ही नहीं है[२३१]।

दृष्टान्त के द्वारा आत्मा की सिद्धि करते हुए कहा है कि जैसे–स्वप्न की अवस्था में किसी स्त्री के द्वारा माया से कल्पित बन्धन हो जाए तो उसकी निवृत्ति सोकर उठने पर जो बोध होता है उसी से सम्भव हैं इस अवस्था में बोध का विषय है : वह शरीर जो किसी कोठरी में सुख से विछावन पर लेटा हुआ है। उसी देह के विषय में सोये हुए व्यक्ति का ज्ञान निर्णय नहीं कर पा रहा है और जागने पर उसी का बोध निश्चित हो जाता है। स्वप्न की माया से उत्पन्न अनर्थ का निवारण करना ही इस बोध का प्रयोजन है। ठीक इसी तरह मननादि से उत्पन्न परोक्ष-ज्ञान के द्वारा, अध्यास से उत्पन्न कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थों का निवारण शास्त्र वेदान्त-शास्त्र से होता है। उस शास्त्र का विषय ब्रह्म है जो प्रत्यगात्मा या जीव ही है तथा जिसका एक मात्र रस सत्, चित् और आनन्द है इसी आत्मा के विषय में 'अहम्' के अनुभव के द्वारा निश्चय नहीं किया जा सकता। अध्यास की निवृत्ति ही शास्त्र का प्रयोजन है[२३२]।

इस प्रकार, पूर्वपक्षी ने जो ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए इसकी सिद्धि के लिए क्योंकि उसका कोई फल नहीं आदि हेतु दिया था वह असिद्ध है क्योंकि ब्रह्म जिज्ञासा का फल (प्रयोजन) उक्त अंकित कर चुके हैं। इसे कहा है–जो आत्मतत्व एक मात्र श्रुति के द्वारा जाना जा सकता है वह अहम् की बुद्धि

---

२३१. तदित्थमौपनिषदस्यात्मतत्त्वस्याहमनुभवेऽनवभासमानत्वात्तस्यानुभवस्याध्यस्तात्म-विषयत्वं सिद्धम्।

२३२. यथा स्वप्नावस्थायां मायापरिकल्पितयोषादिकृतबन्धनिवर्तकस्य सुप्तोत्थित बोधस्य मन्दिरमध्ये सुखेन शय्यायामवतिष्ठमानों देहो विषयः। सव०द०सं०, पृ० ६७०.

से ज्ञात नहीं हो सकता। अहम् की प्रतीति अध्यास पर आधारित है जिसमें अहंकार (Ego) और आत्मा (Soul) का तादात्म्य कर दिया गया है। आत्मा यद्यपि अप्रत्यक्ष है और भी आकाश की तरह उसमें मोह की सम्भावना होती है। आत्मा मिथ्या ज्ञान से रहित होने पर मोह से ग्रस्त नहीं होती। जिस प्रकार यदृच्छा से आकाश पर रूपादि का अध्यास करते हैं परन्तु वास्तव में वह ऐसा नहीं। विपर्यय के नष्ट हो जाने पर आत्मा में मोह नहीं होता[२३३]।

यद्यपि सभी प्राणी जीवात्मा के अस्तित्व की प्रतीति करते हैं कि मैं हूँ। किसी को भी इस तरह की विप्रतिपत्ति नहीं होगी कि मैं नहीं हूँ। जीवात्मा ही ब्रह्म है क्योंकि वह तुम हो इस वाक्य में दोनों का समानाधिकरण दिया गया है। इसलिए आत्मतत्त्व विल्कुल असन्दिग्ध है–यह सिद्ध हुआ फिर भी यह नियम है कि किसी वस्तु के धर्म को लेकर बहुत तरह के विवाद चलते रहते हैं। इस नियम से तो विशेष की प्रतिपत्ति करनी चाहिए[२३४]।

क्या आत्मा धर्मी है जिसके धर्म के विषय में नाना प्रकार के विवाद है। अब यहाँ पर आत्मा के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विचारों का संग्रह किया जा रहा है। जो इस प्रकार है–

लोकायत (चार्वाक) मत वाले मानते हैं कि चैतन्य से युक्त देह ही आत्मा है। इसमें ही कुछ लोग इन्द्रियों को और कुछ लोग मन (अन्तः करण) को आत्मा मानते हैं सन्तान से युक्त और क्षणभंगुर विज्ञान ही आत्मा है, बौद्धों का बोध इस तरह का है। जिन जैनों की प्रतिज्ञा है कि देह का परिमाण ही आत्मा है नैयायिक आदि वर्णन करते हैं कि जीवात्मा परमेश्वर से भिन्न है। तथा कर्तृत्व आदि से युक्त है[२३५]।

आचार्य कुमारिलभट्ट कहते हैं कि द्रव्य का स्वभाव और बोध का स्वभाव आत्मा है उनका कहना है कि 'आत्मानन्दमयः' में आनन्दमय शब्द से आनन्द की प्रचुरता का बोध होता है, साथ-साथ उसके विरोधी अंश का भी

---

२३३. श्रुतिगम्यात्मतत्त्वं तु नाहंबुद्धयावगम्यते। अपि खो कामतो मोहो नात्मयन्यस्तविषर्य ये। सर्व द०कारिका-५.

२३४. यद्यपि सर्वःप्राणी प्रत्यगात्मास्तित्वं प्रत्येत्यहस्मीति। नहि कश्चिदपि नाहमस्तीति विप्रतिपद्यते प्रत्यगात्मैव ब्रह्म तत्त्वमसि (छां० ६/८/७) सर्व दर्शन सं०, पृष्ठ ६७१.

२३५. चैतन्यविशिष्टं देहमात्मेति लोकायता मन्यन्ते। इन्द्रियोण्यात्मेन्यन्ते। अन्तः करणमात्मेत्य-परे। क्षणभङ्गुरं सन्तन्यमानं विज्ञानमात्मेति बोद्धा बुध्यते। सर्व द०सं०, पृं०६७९.

थोड़ा ही सही, अस्तित्व मालूम पड़ता है। सोकर उठने पर भी कितने आदमी कहते हैं कि मैं सुख से सोया रहा, कुछ स्वप्न में जान नहीं सका। यह दशा सुषुप्ति की भी है। यदि इस दशा में प्रकाश नहीं होता तो ऐसा कहना कभी सम्भव नहीं था कि सुषुप्ति में कुछ बोध नहीं रहता है। इसलिए आत्मा में प्रकाश का अंश सिद्ध होता है साथ-साथ बोध का अभाव रहता है, इसलिए अप्रकाशांश अर्थात् द्रव्यांश भी उस दशा में है, इसलिए ये लोग आत्मा को द्रव्य स्वभाव और ज्ञान स्वभाव मानते हैं।

सांख्य मत वाले कहते हैं कि आत्मा (पुरुष) केवल भोक्ता है, कर्त्ता नहीं। उपनिषदों के अध्येताओं का कथन है कि जीवात्मा चित् के रूप में कर्तृत्वादि विशेषणों से रहित तथा परमात्मा से अभिन्न है इस प्रकार धर्मी प्रसिद्ध है, परन्तु उसके विशेषणो (गुणों) को लेकर विवाद है। इसलिए आत्मा के विशेष के विषय में संशय होना युक्तिसंगत ही है और जब सन्देह होना सम्भव है तो ब्रह्म का जिज्ञासा का विषय होना भी सिद्ध है[२३६]।

शंकर ने जीवात्मा के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हुए कहा है कि वेदान्त वाक्यों में आत्मा के सम्बन्ध में दो प्रकार का प्रयोग पाया जाता है[२३७]। जीवात्मा के विषय में यह कहा जाता है कि उसके अन्दर स्मृतियाँ इच्छा अरुचियाँ, साहचर्य सम्बन्ध आदि की व्यवस्थित व्यवस्था उपलब्ध है। शंकर कहते हैं कि यद्यपि एक ही दृष्टि में हमारे लिए इस समस्त संगठित व्यवस्था को समझ लेना सम्भव नहीं हो सकता तो भी इसका सामान्य रचनाक्रम तथा प्रधान तत्त्व तो हमारे निरीक्षण के लिए खुला ही है। यह संगठित-व्यवस्था विज्ञानात्मा हैं जिसमें पविर्तन सम्भव हैं किन्तु परमात्मा सब प्रकार के परिवर्तन से युक्त है[२३८]।

तात्त्विक रूप में जीव को आत्मा के समान कहा गया है। वह तू है[२३९] और इस प्रकार की आपत्ति में कि विरुद्ध गुण रखने वाली वस्तुएं एक नहीं हो सकती कोई बल नहीं है। क्योंकि गुणों की प्रतिकूलता को असत्य सिद्ध किया जा

२३६. भोक्तैव केवलं च कर्त्तेति सांख्याः संगिरन्ते। चिद्रूपः कर्तृत्वादिरहितः परस्मादभिन्नः-प्रत्यगात्मेत्यौपनिषदा भाषन्ते। सर्व द०सं०, पृ० ६७२.

२३७. शांकर भाष्य-२: ३, २५.

२३८. शांकर भाष्य-१: ३, २४, तुलना करें-कठोपनिषद्-३:१. मुंण्डकोपनिषद्-३: १,१. श्वेताश्वतरोपनिषद्-४:६-७.

२३९. शांकर भाष्य-४:१, ३.

सकता है। शंकर सावधान पूर्वक उस आत्मा में जो समस्त अनुभव में उपलक्षित होती है तथा उस आत्मा में जो अन्तर्दृष्टि के द्वारा जाना गया एक निश्चित तथ्य है, एवं आध्यात्मिक विषयी में तथा मनोवैज्ञानिक विषयी मुझको में भेद करते हैं। अहम्प्रत्यय का विषय विशुद्ध आत्मा नहीं है, जो साक्षी है वरन् वह जो क्रियाशील कर्ता तथा फलोपभोग करने वाला जीवात्मा है, जिसमें विषयनिष्ठ गुणों का समावेश ऐसी आत्मा विषय है। जब मनोविज्ञान वेत्ता आत्मा के विषय में कथन करते हैं तब वे इसे अन्तर्दृष्टि का विषय मानकर उक्त शब्द का व्यवहार करते हैं। जबकि आत्मा विशुद्ध रूप में ज्ञान का सम्पादन करती है[२४०]। हमारी आत्मचेतना एक क्रियाशील चेतना है जो किसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करती है क्रियाशीलता का भाव हम में से प्रत्येक के लिए हमारा निकटतम अनुभव है। यह लौकिक आत्मा सब क्रियाओं का कर्त्ता है[२४१]। यदि कर्तृत्व ही आत्मा का तात्त्विक रूप होता तो उससे कभी मुक्ति न मिल सकती, ठीक जैसे कि उष्णता आग से कभी अलग नहीं हो सकती और जब तक मनुष्य अपने को कर्तृत्व से मुक्ति नहीं कर लेता, तब तक वह अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल ही रहता है, क्योंकि कर्तृत्व अनिवार्य रूप से दुःखद है। आत्मा का कर्तृत्व केवल ऐसे गुणो की उपाधियों के ही अश्रित है जो इसके साथ लगी हुई है किन्तु इसके अपने स्वरूप के ऊपर आश्रित नहीं है[२४२]। जीवात्मा तात्त्विक रूप में एक कर्ता है अन्यथा वैदिक विधि-विधान आदि सब निष्प्रयोजन हो जाएगे। उपनिषदो में ऐसे अनेक वाक्य पाए जाते हैं। जिनमें आत्मा को कर्ता बताया गया है[२४३]।

वस्तुतः कर्तृत्व विज्ञान अथवा बोध के उपाधि अथवा प्रतिबन्ध में रहता है। जीव विषयि-विषय आत्मा तथा अनात्म, यथार्थता और प्रतीति (आभास) है यह विषय के प्रतिबन्ध अथवा व्यक्तित्व से युक्त है[२४४]। यह आत्मा अज्ञान के साहचर्य से युक्त है। इमर्सन की भाषा में प्रत्येक मनुष्य ईश्वर है जो मूर्खता का अभिनय करता है[२४५]।

२४०. शांकर भाष्य–२:३, ४०.
२४१. शांकर भाष्य–१:१, ४.
२४२. शांकर भाष्य–२:३, ४०. तस्माद् उपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्व न स्वाभाविकम्। शांकर भाष्य–कठोप०–३:४.
२४३. वृहदारण्यक उपनिषद्–४:३, १२. तैत्तिरीय ३:५. और शांकर भाष्य २:३, ३३.
२४४. शांकर भाष्य–२:३, ४०.
२४५. राजसूनाः स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्तते। यथैवम् आत्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः।। (सिद्धान्तलेशसंग्रह)

अविद्या अथवा तार्किक ज्ञान लौकिक आत्मा के व्यक्तित्व का भाव उत्पन्न करता है और यह "धोखा देना तथा धोखा खाने के समान है।" जीवात्मा का विशेष लक्षण इसका सम्बन्ध बुद्धि अथवा बोधग्रहण के साथ है और यह तब बना रहता है। जब तक कि संसार की अवस्था सत्य ज्ञान के द्वारा समाप्त नहीं हो जाती।[२४६] मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का बुद्धि के साथ सम्बन्ध बना रहता है। यह केवल मुक्ति प्राप्त होने पर ही टूट सकता है। सुषुप्ति की अवस्था तथा मृत्यु में यह सम्बन्ध सम्भाव्यता की अवस्था में गुप्त रहता है एवं जागने पर तथा पुनर्जन्म की अवस्थाओं में क्रमशः यह वास्तविक अवस्था में आ जाता है। यदि हम इसका गुप्त रूप में निरन्तर बना रहना न मानें तो कारण कार्य का विधान भंग होता है। क्योंकि बिना प्रस्तुत कारण के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती।[२४७]

मनोदैहिक संगठन में ऐन्द्रिक शरीर[२४८], जो स्थूल तत्त्वों से बना है और जिसे मृत्यु के समय मनुष्य उतार फेंकता है, प्राण[२४९], और सूक्ष्मशरीर[२५०] जो ऐसे तत्त्वों के सूक्ष्म अवयवों से बने हैं जो शरीर के बीज को बनाते हैं।[२५१] ये सब सम्मिलित है। सूक्ष्म शरीर[२५२] में १७ तत्त्व है अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण मन और बुद्धि।[२५३] यह देह को छोड़कर परलोक के लिए प्रस्थान करता है तो यह दिखाई नहीं देता। किन्तु सूक्ष्म शरीर और पञ्चप्राण मोक्षप्राप्ति पर्यन्त आत्मा के स्थायी अवयवों के रूप में बने रहते हैं। कर्माश्रय रूप अवयव परिवर्तन होता रहता है। और यही जीवात्मा के संग प्रत्येक नये जीवन में जाता है तथा एकदम ऐसे नये रूप का निर्माण करता है जो पूर्वजन्म में नहीं था।[२५४] व्यक्तित्व का आधार आत्मा में अथवा उपाधि में भी नहीं है किन्तु नैतिक निर्णय में है और

---

२४६. शांकर भाष्य २:३, २०.
२४७. छान्दोग्य उप० ६:८, शांकर भाष्य २:३, ३१.
२४८. देह, स्थूल शरीर और अन्नमयकोश
२४९. शांकर भाष्य १:४, १३.
२५०. सूक्ष्म शरीर, लिंग शरीर भूताश्रय।
२५१. देहबीजानि भूतसूक्ष्मानि।
२५२. यह सांख्य के लिंगशरीर से अनुकूलता रखता है।
२५३. कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टजीवों मनोमयादिपञ्चकोशनिशिष्टः शांकर भाष्य, वृह०उप० १, ४, १७.
२५४. शांकर भाष्य २:४, ८-१२. डयूसन्स सिस्टम ऑफ दि वेदान्त, पृष्ठ ३२५-६.

यह ज्ञान, विद्या, कर्मों तथा प्रज्ञा का मिश्रण है।[२५५] जीवधारक शक्तियाँ निरन्तर बनी रहती है जैसे कि सूक्ष्म शरीर जो उन्हें अपने साथ में ले जाता है और तब तक रहती है जक तक कि संसार विद्यमान हैं और आत्मा के साथ लगी हुई जाती है। यहाँ तक कि यदि आत्मा एक पौधे में प्रवेश करे तब भी ये साथ रहती हैं यद्यपि उस अवस्था में अन्तःकरण और इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने को व्यक्त नहीं करती। चूँकि संसार अनादि है इसलिए आत्मा का अनादि काल से इन पञ्च प्राणों के यन्त्र पुञ्ज से सुसज्जित रहना अत्यन्त आवश्यक है। एक तीसरा कारण-शरीर भी कहीं-कहीं अनादि तथा अनिर्वचनीय अविद्या के समान निर्देश किया गया है। कारण-आत्मा एक अपेक्षाकृत स्थायी मानवीय आत्मा है जो एक के बाद दूसरे सब पूर्वजन्मों में कर्म विधान के निर्णय के अनुसार विद्यमान रहता है। मनोवैज्ञानिक संगठन का उक्त विवरण सर्वथा सांख्य के विवरण के समान है, भेद केवल पाँच जीवधारक शक्तियों के सम्बन्ध में हैं।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ पाँचों कर्मन्द्रियाँ और मन ये सब उत्पन्न होने वाले पदार्थ है।[२५६] एवं सूक्ष्म अथवा अणु तथा सीमित (परिच्छिन्न) है वे अणु के आकार के नही है क्योंकि उस अवस्था में उनका समस्त देह में व्याप्त रहना कठिनता से समझ में आ सकेगा। उन्हें सूक्ष्म माना गया है क्योंकि यदि वे स्थूल होते तो मृत्यु के समय निकलते हुए दिखाई दे सकते। वे आकार में परिमित है, अपरिनित नहीं क्योंकि यदि अन्न रहित होते तो उनका निकलना, गति करना अथवा वापिस लौटना सम्भव नहीं हो सकता।

इस समस्त विवरण में शंकर की दृष्टि इन्द्रियों के व्यापारों की ओर है किन्तु उनके भौतिक प्रतिरूपों की ओर नहीं है। इन्द्रियाँ सर्वव्यापी नहीं है। किन्तु समस्त देह के विस्तार क्षेत्र में उनकी पहुँच अवश्य है जिसके अन्दर वे व्यापार करती है।[२५७] अनेकों इन्द्रियाँ सदा की भाँति भिन्न-भिन्न तत्त्वों से बनी है[२५८] और कहा जाता है कि वही देवता जो तत्त्वों का नियन्त्रण करते हैं। इन इन्द्रियों का भी नियन्त्रण करते हैं। मुख्य प्राण जीवन को धारण करने वाला तथा उसमें जीवन

२५५. वृहदारण्यक उप०-४:४, २.

२५६. शांकर भाष्य २:४. १-४.

२५७. शांकर भाष्य २:४, ८, १३.

२५८. शांकर भाष्य २:४, १४, १६, वृहदारण्यक उप० १:३, ११, ३:२, १३, ऐतरेय उप० १:२, १-६.

डालने वाले तत्त्व हैं। यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक यन्त्र-पुञ्ज भी इसके आश्रित हैं इन्द्रियों को भी मुख्य प्राण से सहारा मिलता है और इस प्रकार उन्हें भी प्राण कहा गया है।[२५९] उपाधियों के द्वारा आवृत्त आत्मा जीव है, जो कर्त्ता भी है और फलों का उपयोग करने वाला भी है। किन्तु सर्वोच्च आत्मा उक्त दोनों अवस्थाओं से मुक्त है।

जीव शरीर तथा इन्द्रियों के ऊपर शासन करता है और कर्मों के फलों से भी उसी का सम्बन्ध है चूँकि इसका सार तत्त्व आत्मा है इसे विभु अथवा व्यापक कहा गया है, अणु अर्थात् परमाणु के आकार का नहीं। यदि यह अणु होता तो शरीर के सब भागों से आने वाले संवेदनों का यह अनुभव न कर सकता।[२६०]

आचार्य शंकर ने जीवात्मा की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन करते हुए माना है कि जाग्रत अवस्था में समस्त ज्ञान का सम्पादन यन्त्र की तरह करती रहती है। डॉ० राधाकृष्णन् ने शंकर की इस अवधारणा का विश्लेषण करते हुए कहाँ है कि हम पदार्थो का ज्ञान मन तथा इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करते हैं। स्वप्नावस्था में सब इन्द्रियाँ विश्राम करती हैं और केवल मन ही क्रियाशील रहता है। जाग्रतावस्था में जो प्रभाव इन्द्रियों के ऊपर रह जाते हैं उन्हीं के द्वारा यह पदार्थो का ज्ञान प्राप्त करता है। स्वप्न देखने वाला आत्मा परमात्मा नहीं है। किन्तु यह अधीन वस्तुओं से प्रतिबन्धयुक्त आत्मा है। यही कारण है कि हम स्वप्नावस्था में अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकते। यदि हम ऐसा कर सकते तो किसी को भी बुरा स्वप्न नहीं आता[२६१] सुषुप्ति अवस्था में मन तथा इन्द्रियाँ निश्चेष्ट रहती हैं एवं आत्मा एक प्रकार से अपने आप में विलीन रहकर अपने यथार्थस्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

शंकर का तर्क है कि चूँकि कर्म निरन्तर रहता है, इसलिए आत्मा का अस्तित्व भी निरन्तर रहता है फिर उसकी स्मृति भी होती है। आत्मानुसरण की चेतना सिद्ध करती है कि जो आत्मा सोई थी वही जागी है। श्रुति इसका समर्थन करती है और यदि सुषुप्ति से आत्मा के नैरन्तर्य में अन्तर आता तो श्रुति वाक्य निरर्थक हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति सोने से पूर्व 'क' हो और उठने पर 'ख' हो तो कर्मों की निरन्तरता नहीं बन सकती। यहाँ तक कि मुक्तात्मा भी जाग जा

२५९. शांकर भाष्य २:४ १-६.
२६०. शांकर भाष्य २:३, २९.
२६१. शांकर भाष्य ३:२, ६.

सकते। इसलिए यह स्पष्ट है कि सुषुप्ति अवस्था में भी मृत्यु के समान व्यक्तित्व का मूल केन्द्र बिन्दु बना रहता है। इसके विरोध में कुछेक स्वच्छन्द कथनों के रहते हुए भी यह माना गया है। कि सुषुप्ति अवस्था में भी वह उपाधि जो जीव के साथ संसार में प्रतिबन्ध के रूप में रहती हैं गुप्त रूप में विद्यमान रहती हैं। यदि सुषुप्ति अवस्था में जैसे कि मोक्ष की अवस्था में विशेष बोध का सर्वथा अभाव रहता है तो किस प्रकार और किस में सोया हुआ मनुष्य अविद्या के बीज को स्थिर रखता है जिसके कारण जागना होता है? सुषुप्ति अवस्था में सम्पन्न ब्रह्म के साथ अस्थायी संयोग तथा मोक्ष अवस्था के स्थायी संयोग में शंकर भेद करते हैं। सुषुप्ति की अवस्था में सीमित करने वाली उपाधि विद्यमान रहती है। जिससे कि जब यह फिर अस्तित्व के रूप में आती है तो जीव भी अस्तित्व के रूप में आ जाता है।[२६२] मोक्ष की अवस्था में अविद्या के सब बीज अस्त हो जाते हैं[२६३]।

मूर्छा की अवस्था को एक पृथक् स्थान दिया गया है क्योंकि यह जाग्रत अवस्था से भिन्न है। इस अवस्था में इन्द्रियाँ पदार्थो का प्रत्यक्ष नहीं करतीं विषय रूप जगत् के प्रति यह उपेक्षा भाव अन्य पदार्थों पर एकाग्रतापूर्वक ध्यान देने का परिणाम नहीं है। यह स्वप्नों की अवस्था से भिन्न यों है कि इसमें चेतना साथ नहीं रहती, मृत्यु से भिन्न इसलिए है कि शरीर में जीवन रहता है। तथा सुषुप्ति से भिन्न इसलिए है कि शरीर के अन्दर बेचैनी रहती हैं मूर्छित मनुष्य को इतनी आसानी के साथ नहीं जगाया जा सकता जैसे कि सोते हुए मनुष्य को जगाया जा सकता है। मूर्छा की अवस्था को सुषुप्ति तथा मृत्यु की मध्यवर्ती अवस्था कहा गया है। "इसका सम्बन्ध मृत्यु से इसलिए है क्योंकि यह मृत्यु का द्वार है। यदि आत्मा का कोई अपुरस्कृत कर्म शेष रहता है। तो वाणी की शक्ति तथा मन मूर्छित मनुष्य में लौट आते हैं। यदि कुछ कर्म शेष नहीं रहते तब श्वास और उष्णता भी छोड़ जाते हैं।[२६४]

तात्त्विक रूप में प्रत्येक मनुष्य सर्वोपरि यथार्थसत्ता है एवं अपरिवर्तनशील और अपरिवर्तित तथा खण्डरहित है और तो भी हम आत्मा की उत्पत्ति तथा विकास की चर्चा करते हैं क्योंकि जब आश्रित वस्तुएँ उत्पन्न होती अथवा विलय होती है कहा यह जाता है कि आत्मा उत्पन्न हुई अथवा विलीन हुई[२६५] प्रतिबन्ध

२६२. शांकर भाष्य ३:२, ९.
२६३. गौड्पाद की कारिका पर शांकर भाष्य ३:१४.
२६४. शांकर भाष्य ३:२, १०.
२६५. शांकर भाष्य २:३, १७.

करने वाली आश्रित वस्तुएँ इस जगत् में भिन्न-भिन्न आत्माओं को व्यक्तित्व प्रदान करती है।[२६६] उन्हीं देह के रूप का निर्णय होता है।, जीव की जाति तथा जीवन की अवधि का भी निर्णय होता है आदि-आदि[२६७] इन्ही आश्रित वस्तुओं के भेद से आत्माओं में भी भेद है, और इसलिए न तो कर्मों में और न कर्मफलों में ही परस्पर मिश्रण होने पाता है।[२६८] यहाँ तक कि यदि जीवात्मा को आभास अथवा प्रतिबिम्ब रूप भी मान लिया जाए जैसे कि जल के अन्दर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो भी आत्माओं के व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता।[२६९]

जीवात्मा के परिमाण के विषय में आचार्यों में मत भेद हैं यह आत्मा विभु एवं व्यापक माना जाता है। अणु अथवा परमाणु परिमाण वाला नहीं है। यदि यह अणु होता तो शरीर के सभी भागों से आने वाली संवेदनाओं का अनुभव करने में असमर्थ होता जो आचार्य आत्मा को अणु मानते हैं उनका तर्क है कि अनन्त आत्मा गति नहीं कर सकती जबकि वह एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाती हुई देखी जाती है। शंकर के अनुसार यह वाक्य आत्मा के सम्बन्ध में नहीं है किन्तु उसके प्रतिबन्धों के विषय में है।[२७०] इस प्रकार की आपत्ति का कि यदि आत्मा को अणु माना जाए तो यह शरीर में केवल एक ही स्थान पर रहेगा और इस प्रकार सारे शरीर में व्यापक न हो सकेगा इस दृष्टांत से निराकरण किया गया है कि जिस प्रकार चन्दन की लकड़ी का एक टुकड़ा सारे शरीर में नवीन चेतना उत्पन्न कर देता है यद्यपि उसका स्पर्श शरीर के केवल एक ही स्थान पर होता है इसी प्रकार आत्मा समस्त शरीर की संवेदना का ग्रहण स्पर्शेन्द्रिय द्वारा कर सकती है क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय तो सारे शरीर के ऊपर फैली हुई है। शंकर इस सुझाव का खण्डन यह कहते हुए करते हैं कि कांटा भी जिसके ऊपर कोई व्यक्ति चलता है, सारे शरीर की संवेदन शक्ति के साथ सम्बद्ध है यद्यपि दुःख केवल पैर की तली में ही अनुभव होता है। सारे शरीर में नहीं होता। अणु के विचार के समर्थकों का सुझाव है कि अणुरूप आत्मा अपने गुण अर्थात् चैतन्य के कारण सारे शरीर में व्याप्त रहती है ठीक जिस प्रकार एक दीपक का प्रकाश एक स्थान पर ही रखे जाने पर भी वहाँ से सारे कमरे में फैल जाता है।

२६६. शांकर भाष्य ३:२, ९.
२६७. सुरेश्वरकृत वार्तिक पृष्ठ ११०-११३.
२६८. शांकर भाष्य २:३, ४९.
२६९. शांकर भाष्य २:३, ५०.
२७०. शांकर भाष्य २:३, २९.

शंकर का कहना है कि गुण द्रव्य के परे नहीं जा सकता। दीपक की ज्वाला तथा इसका प्रकाश परस्पर द्रव्य तथा गुण के रूप में सम्बद्ध नहीं है दोनों ही अग्निमय द्रव्य है, केवल ज्वाला में अवयव अधिक एक-दूसरे के निकट हैं। किन्तु प्रकाश में वे अधिक विस्तृत रूप में पृथक्-पृथक् हैं। यदि चैतन्य का गुण अथवा आत्मा सारे शरीर में व्याप्त होता है तब आत्मा अणु नहीं हो सकता। उपनिषदों के ऐसे वाक्यों का लक्ष्य जो आत्मा को अणु बताते हैं।[२७१] आत्मा नहीं है। किन्तु बोध शक्ति तथा मन के गुणों के मूल केन्द्र विन्दु हैं। उनका आशय आत्मा की सूक्ष्मता को दिखाना है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं आती[२७२] यही मानी हुई बात हैं कि लौकिक आत्मा जो मन आदि से जकड़ी हुई है अनन्त नहीं है। किन्तु सर्वोपरि यथार्थ सत्ता अनन्त है।[२७३] यदि इसे अणु कहा गया है तो इस-लिए क्योंकि लौकिक दृष्टि में यह बुद्धि की सहचारी है।[२७४] आत्मा के हृदय के अन्दर निवास स्थान सम्बन्धी सब कथन इस कारण से हैं क्योंकि बुद्धि का स्थान उसमें बताया गया है। इसके विपरीत जो एक स्थान पर है, वह सर्वत्र हो ऐसा नहीं है।[२७५]

इस विधि से शंकर उपनिषदों के ऐसे समस्त वाक्यों की व्याख्या करते हैं जो आत्मा के देश सम्बन्धी प्रतिबन्ध का वर्णन करते हैं।[२७६] धार्मिक दायित्व के समस्त जीवन का आधार लौकिक आत्मा की आपेक्षिक यथार्थता के ऊपर हैं क्रियात्मक अनुभव का समूचा क्षेत्र अपनी पुण्य व पाप की योजना समेत, एवं पवित्र विधान का आधार, अपने विधि निषेधों सहित स्वर्ग में सुख तथा नरक में दुःख की भावी आशाओं सहित ये सब देह, इन्द्रियों तथा उसके साथ संलग्न अवस्थाओं और आत्मा के तादात्म्य की कल्पना कर लेते हैं। किन्तु जीवन की समस्त शृंखलाओं में यह आत्मा नहीं है अपितु उसकी छाया-मात्र है जो शोक करती है तथा असन्तोष प्रकट करती हैं एवं इस जगत् के रंगमंच के ऊपर अपने कथानक का अभिनय करती है। आत्मा जब तक उपाधियों से मुक्त नहीं होती तभी तक सुख, दुःख तथा वैयक्तिक चैतन्य के अधीन रहती है।[२७७]

२७१. मुण्ड० उप० ३:१९, श्वेताश्वतर उप० ५:८-९.
२७२. शांकर भाष्य २:३, २९.
२७३. शांकर भाष्य २:३, १९-३२.
२७४. शांकर भाष्य २:३, २९.
२७५. शांकर भाष्य २:१, ७/२:३, ४९.
२७६. शांकर भाष्य १:३, १४-१८, १, २, ११-१२.
२७७. विशेषविज्ञान.

जीवात्मा का साक्षी स्वरूप :-

जीवात्मा की अवस्थाओं में जीवात्मा किस अवस्था में साक्षी चेता माना जा सकता है? इसकी अद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने व्याख्याएं प्रस्तुत की है जीवात्मा के अन्दर संकल्प शक्ति सम्बन्धी अनुभूति तथा बोधक ग्राहक भावुकता के अतिरिक्त साक्षी रूप आत्मा भी है। विद्यारण्य मुनि के अनुसार साक्षी रूप आत्मा निर्विकार चैतन्य है और यह स्थूल तथा पदार्थों की प्रतीति का अधिष्ठान है उनके कार्यों का निरीक्षण करता है किन्तु किसी प्रकार भी उनसे प्रभावित नहीं होता।[२७८] जब फलोपभोग करने वाले अहं का कार्य समाप्त हो जाता है तब दोनों देहों का प्रकाशन इसी साक्षी रूप आत्मा के कारण होता है। यह साक्षी रूप आत्मा दोनों प्रकार की देहों से प्रत्यक्ष रूप में उनके सहचारीरूप से कुछ समय भी अभिज्ञा होती है जबकि फलोपभोक्ता आत्मा कार्य करना बन्द कर देती हैं साक्षी रूप आत्मा की निरन्तर उपस्थिति अहं रूप आत्मा से भिन्न किसी अन्य के सम्बन्ध में जो मानसिक विचार है उनकी शृंखला में दृष्टा के व्यक्तित्व को स्थिर रखने में सहायक होती हैं विद्यारण्य का मत इस विषय में स्पष्ट है कि साक्षी रूप आत्मा को जीव के समान न समझना चाहिये क्योंकि जीव जीवन तथा इसके व्यापारों में भाग लेता है उपनिषद् इसे गुणों से रहित केवल साक्षीमात्र तथा निरीक्षक प्रतिपादन करती है और यह फलों का उपभोक्ता नहीं है।[२७९]

एक अन्य स्थान पर विद्यारण्य इसकी तुलना एक ऐसे दीपक के साथ करते हैं जो मंच पर रखा जाने पर नाटक के सूत्रधार नाटक की नायिका तथा दर्शकों सबको एक समान प्रकाशित करता है और इन सबकी अनुपस्थिति में भी स्वयं प्रकाशित होता है।[२८०] उक्त दृष्टांत निर्देश करता है कि साक्षीरूप आत्मा एक समान जीव (लौकिक अहं) अन्तःकरण तथा प्रमेय पदार्थो को प्रकाशित करता है। तथा सुषुप्ति अवस्था में जब ये सब अनुपस्थित रहते हैं तब अपने-आप भी प्रकाशित रहता है।[२८१] निष्क्रियता साक्षी आत्मा को विशुद्ध ब्रह्म के नाम से कहा

२७८. पंचदशी ८, "देहद्वयाधिष्ठानभूतं कूटस्थ चैतन्यं स्वावच्छेदकस्य देहद्वयस्य साक्षादीक्षणात्रि विकारत्वात्साक्षीत्युच्यते। (सिद्धान्तलेशः अध्याय)

२७९. तुलना-करे-साक्षी केवलो निर्गुणश्च" (श्वेताश्वतर उप०)

२८०. नृत्यशालास्थितोदीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् दीपयेदविशेषण तदभावेऽपि दीप्यते।। पञ्चदशी-१०:११.

२८१. पञ्चदशी १०:१२.

गया है जो प्राणिमात्र का सार्वभौम तथा व्यापक आत्मा है, और जो प्रत्येक जीवात्मा का अधिष्ठान होने के कारण जीवों के अनेक होने से अनेक रूप प्रतीत होती है। साक्षी रूप आत्मा और सोपाधिक ब्रह्म, अर्थात् ईश्वर एक ही नहीं है। क्योंकि इसे निरपेक्ष परम तथा निर्गुण कहा गया है और न साक्षी रूप आत्मा तथा जीव ही एक है, क्योंकि जीव कर्ता तथा कर्मों और उनके फलों का भोक्ता है।[२८२] निष्क्रियता साक्षी आत्मा को विशुद्ध ब्रह्म के नाम से कहा गया है, जो प्राणिमात्र का सार्वभौम तथा व्यापक आत्मा है और जो प्रत्येक जीवात्मा का अधिष्ठान होने के कारण जीवों के अनेक होने से अनेक रूप प्रतीत होती है। साक्षी रूप आत्मा और सोपाधिक ब्रह्म, अर्थात् ईश्वर, एक ही नहीं है, क्योंकि इसे निरपेक्ष परम तथ निर्गुण कहा गया है और न साक्षी रूप आत्मा तथा जीव एक हैं, क्योंकि जीव कर्ता तथा कर्मों और उनके फलों का भोक्ता है।[२८३] पञ्चदशी तथा तत्त्व प्रदीपिका में प्रकट किये मत को शंकर का समर्थन प्राप्त है।

कौमुदी का कथन है कि साक्षीरूप आत्मा ईश्वर का एक विशेषरूप हैं इस पुस्तक का लेखक अपना आधार श्वेताश्वतर उपनिषद् के उस वाक्य को मानता है जो ईश्वर को साक्षी कहता है। वह ईश्वर जीव की क्रियाशीलता तथा कार्य से विरत होने से अभिज्ञ होते हुए भी किसी प्रकार भी उनसे विचलित नहीं होता।[२८४] वह जीव के अन्दर व्यापार करता है, उसकी अविद्या को तथा उससे सम्बद्ध अन्य सबको प्रकाशित करता है। जब सब क्रियाएं रोक दी जाती हैं, जैसे कि सुषुप्ति अवस्था में तब उसे प्रज्ञा के नाम से पुकारा जाता है।[२८५] तत्वबुद्धि का लेखक इस विचार से सहमत है। ईश्वर साक्षी है। यह प्रथम विचार को व्यक्त करने का धार्मिक अथवा लौकिक प्रकार है। हमें शंकर के लेखों में इसका समर्थन मिलता है। उपनिषद् के इस प्रसिद्ध वाक्य पर टीका करते हुए जिसमें दो पक्षियों को एक ही वृक्ष पर बैठे हुए बताया गया है।

---

२८२. तत्त्वप्रदीपिकायामपि मायाशबलिते सगुण परमेश्वरे केवलो 'निर्गुण' इति विशेषणनुपपत्तेः सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्म, जीवाद् भेदेन साक्षीति प्रतिपाद्यत इत्युदितम्।। (सिद्धान्तलेश १).

२८३. परमेश्वरस्यैव रूपभेदाः कश्चित् जीवनप्रवृत्तिनिवृत्योसुमन्ता स्वयमुदासीनः साक्षीनाम, (सिद्धान्तलेश १).

२८४. देखे वैशेषिक सूत्र १:३, ४२.

२८५. मुण्डकोपनिषद् ३:१, १.

आचार्य शंकर कहते हैं कि इन दोनों में से जो इस प्रकार वृक्ष पर बैठे हुए है, एक जो क्षेत्रज्ञ है और सूक्ष्म-शरीर धारण करता है, अज्ञान के कारण कर्मों के फलों को जो सुख तथा दुःख रूप में प्रकट होते हैं खाता है अर्थात् उनका उपयोग करता है। जो नाना प्रकार की स्थितियों में स्वादु है। दूसरा जो नित्य प्रभु हैं निर्मल तथा बुद्धि सम्पन्न और अपने स्वरूप में स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है तथा सत्त्वगुण से सम्पन्न है, वह नहीं खाता अर्थात् कर्म फल नहीं भोगता, क्योंकि वह भोक्ता तथा भोग्य दोनों का संचालक है। उसका केवल साक्षी होना ही संचालन के समान है जैसा कि किसी राजा द्वारा होता है[२८६]।

कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि अविद्यारूप उपाधि से युक्त जीव ही साक्षी रूप आत्मा है क्योंकि वस्तुतः निरीक्षक है किन्तु कर्त्ता नहीं हैं। केवल उसी अवस्था में जब कि वह अन्तःकरण के साथ अपना तादात्म्य-सम्बन्ध मान लेता है वह कर्त्ता तथा भोक्ता बनता है।[२८७] इस प्रकार जीव के दो पहलू है, एक यथार्थ तथा दूसरा अयथर्थाथ अर्थात् साक्षी निष्क्रिय रहते हुए केवल दर्शकरूप का तथा दूसरा अभिमानी रूप कर्त्ता तथा भोक्ता का। उक्त प्रकार के मत में यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि सर्वत्र व्याप्त अविद्या को साक्षी रूप जीव की उपाधि माना जाए, तो इस साक्षी रूप जीव को केवल अपने ही मन को नहीं अपितु अन्य समस्त प्राणियों के मनों को प्रकाशित करने के योग्य होना चाहिए। किन्तु अनुभव से इसकी पुष्टि नहीं होती। इस प्रकार जीव ही अन्तःकरण की उपाधि समेत साक्षीरूप आत्मा है और यह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न है। सुषुप्ति में समझा जाता है कि यह सूक्ष्म रूप में रहता है और इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में यह विद्यमान रहता है लौकिक 'अहं' तथा साक्षीरूप आत्मा में भेद यह है कि जहाँ अन्तःकरण लौकिक 'अहं' का गुण है यह साक्षी रूप आत्मा की उपाधि है जो उसमें प्रतिबन्ध लगाती है।[२८८]

वेदान्त की परिभाषा का यह मत है तथा अन्य मतों के साथ इसका विरोध भी नहीं हैं क्योंकि विषयी के अन्दर कार्य करता है तो साक्षी कहलाता है। नित्य

---

२८६. पश्यत्येव केवलं दर्शनमात्रेण हि तस्य प्रेरयितृत्वम् राजवत्।
(शांकरभाष्य मुण्डकोपनिषद् ३: १, १).

२८७. केचिद् अविद्योपाधिको जीव एव साक्षात् द्रष्ट्टत्वात् साक्षी; जीवस्यान्तः करणन्तादात्म्यांपत्त्या कर्तृत्वापद्यारोपभावत्वेऽपि स्वयमुदासीनत्वात्। (सिद्धान्तलेश १).

२८८. अन्तःकरणोपधानेन जीवः साक्षी.....अन्तःकरणविशिष्टः प्रमाता। (सिद्धान्तलेश १).

चैतन्य अथवा आत्मा को जीवसाक्षी की संज्ञा दी गई हैं उस अवस्था में जब कि यह मनुष्य के शरीर रूपी यन्त्र के अन्दर कार्य करता है तथा जब यह विश्व के अन्दर व्यापार कार्य करता है तब इसे ईश्वर साक्षी कहते हैं। दोनों अवस्थाओं में उपाधि भेद ही दो भिन्न-भिन्न संज्ञाओं का कारण है। प्रथम प्रकार के साक्षी में अन्तःकरण तथा शरीर इत्यादि उपाधियाँ है और दूसरे प्रकार के साक्षी अर्थात् ईश्वर के विषय में सत् रूप समग्र जगत् उपाधि है। ईश्वर जगत् की आत्मा है जबकि जीव मनुष्य की आत्मा है[२८९]।

जीव और आत्मा :-

ब्रह्मसूत्र में वर्णन किया गया है कि जीवात्मा तथा ब्रह्म के मध्य जो सम्बन्ध है, शंकर उसके विषय में आश्मरथ्य आडुलौमि तथा काशक्रत्स्न द्वारा प्रकट किए गए विचारों के ऊपर विचार-विमर्श करते हैं। आशमरथ्य अपना आधार ऐसे उपनिषद् वाक्यों को बनाता है जो जीवात्माओं तथा निरपेक्ष परब्रह्म के मध्यगत सम्बन्ध की तुलना आग की चिंगारियों तथा आग के परस्पर सम्बन्ध के साथ करता है। जिस प्रकार अग्नि से निकलती हुई चिन्गारियाँ अग्नि सै सर्वथा भिन्न नहीं है, क्योंकि वे रूप में अग्नि के समान है और दूसरी ओर सर्वथा अभिन्न भी नहीं है क्योंकि उस अवस्था में उन्हें न तो अग्नि से ही पृथक् रूप में पहचाना जा सकता और परस्पर भी उनमें भेद किया जा सकता: इसी प्रकार जीवात्मा न तो सर्वोपरि यथार्थसत्ता के नहीं है,और न ही सर्वथा उससे अभिन्न है, क्योंकि अवस्था में वे एक-दूसरे से भिन्न न होंगे। इस प्रकार आशमरथ्य इस परिणाम पर पहुँचता है कि जीवात्मा भिन्न भी है और ब्रह्म से भिन्न नहीं भी है[२९०]।

औडुलोमि का मत है कि जीवात्मा, जो प्रतिबन्धरूप शरीर, इन्द्रियों तथा मन आदि सहायकों के द्वारा सीमित है ब्रह्म से भिन्न है यद्यपि ज्ञान तथा ध्यान समाधि के द्वारा यह शरीर से बाहर निकलकर उच्चतम आत्मा के साथ ऐक्यभाव प्राप्त कर लेता है। वह मानता है कि उस जीवात्मा में जो मुक्ति को प्राप्त नहीं हुआ तथा ब्रह्म में सर्वथा भेद है तथा मुक्त आत्मा ब्रह्म में सर्वथा तादात्म्यभाव है[२९१]। शंकर काशकृत्स्न के साथ सहमत है[२९२]। जैसा कि रामानुज का विचार है कि

२८९. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, पृष्ठ ५२४-२६.

२९०. शांकर भाष्य १:४, २०.

२९१. शांकर भाष्य १:४, २१.

२९२. शांकर भाष्य १:४, २३.

जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्मरूप आत्मा का अंश नहीं हो सकता, क्योंकि परब्रह्म देश व काल की परिधि से परे होने के कारण अंशरहित अर्थात्-अखण्ड है। यह पर-ब्रह्म से भिन्न भी नहीं हो सकता जैसा कि मध्व कल्पना करता है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, वह एक मात्र अद्वितीय जो है[२९३] यह परब्रह्म का परिवर्तित रूप भी नहीं हो सकता जैसा कि वल्लभाचार्य का विचार है कि क्योंकि निरपेक्ष परब्रह्म निर्विकार है। हम जीवात्मा को ईश्वर की कृति भी नहीं मान सकते, क्योंकि वेदों में जहाँ अग्नि तथा अन्य तत्त्वों की रचना का वर्णन है वहाँ आत्मा की रचना का कोई वर्णन नहीं है। जीव न तो परब्रह्म से भिन्न है न उसका अंश है और न उसका परिवर्तित रूप हैं यह स्वयं आत्मा है। हम इसके स्वरूप को नहीं पहचानते, क्योंकि यह उपाधियों से आवृत्त है[२९४]। यदि यह सर्वोपरि आत्मा के समान न होता तो वे श्रुति वाक्य जो अमरता का प्रतिपादन करते हैं सब निरर्थक हो जाएंगे।

आचार्य शंकर आशमरथ्य की शिक्षाओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि: यदि जीवात्मा उच्चतम आत्मा से भिन्न होता तो उच्चतम आत्मा के ज्ञान से जीवात्मा के विषय में ज्ञान उपलक्षित न होता और इस प्रकार एक अन्यतम उपनिषद् में प्रतिज्ञात यह वचन कि एक ही यथार्थसत्ता के ज्ञान के द्वारा हर एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, पूर्ण न हो सकता[२९५]। तैत्तिरीय उपनिषद् का भाष्य करते हुए शंकर लिखते हैं "यह सम्भव नहीं है कि दो ऐसी वस्तुओं में जो सर्वथा एक-दूसरी से भिन्न है, कभी तादात्म्य नहीं हो सकता"[२९६] और जैसा कि उपनिषदों में कहा है कि ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म हो जाता है तो ज्ञाता को अवश्य ब्रह्म के साथ एकात्मरूप होना चाहिए।

सर्वोपरि आत्मा तथा जीवात्मा के मध्य आध्यात्मिक एकत्व स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु सर्वोपरि आत्मा तथा जीवात्मा के सम्बन्ध विषयक प्रश्न के ऊपर इसमें पूर्व विचार नहीं हो सकता जब तक कि यह इसके यथार्थ स्वरूप के ज्ञान तक नहीं पहुँच जाता। हमारी लौकिक अहं रूप आत्माएं गति करती हैं

---

२९३. शांकर भाष्य ४:३, १४.
२९४. देखें-मुण्डकोपनिषद् पर शांकर भाष्य २:२, १, कठोपनिषद् २:२, १.
२९५. शांकर भाष्य १:४, २०
२९६. तैत्तिरीय उपनिषद् पर शांकर भाष्य २:८, १५.

तथा उपाधियों के भार से दबी रहती है[२९७] यह अच्छी तरह जानते हुए कि निरपेक्ष परब्रह्म तथा जीवात्मा के बीच जो सम्बन्ध है उसे तर्क द्वारा स्पष्ट रूप में प्रतिपादित नहीं किया जा सकता, शंकर ने कुछ ऐसे दृष्टांत प्रस्तुत किए हैं जिन्हें अर्वाचीन वेदान्त में विशद प्रकल्पनाओं के रूप में परिष्कृत किया गया है।

जीव के सम्बन्ध में डॉ० राधाकृष्णन् ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह विशिष्ट व्यक्तिगत केन्द्र की चेतनामय अनुभूतियों की एक सुव्यवस्थित संयुक्त इकाई है जिसका अपने आप में निर्धारण प्रारम्भ में ही शरीरिक संघटन तथा अन्य अवस्थाओं के द्वारा होता है। शरीर और इन्द्रियाँ आदि इसकी अनुभूति के अन्दर प्रविष्ट होकर इसमें एक प्रकार की एकता तथा निरन्तरता का संचार करते हैं। शरीररूपी यन्त्र के साथ सम्बद्ध चैतन्य विशुद्ध सीमित है, जिसमें चैतन्य की विषय वस्तु के भाग के रूप में शारीरिक अवस्थाएँ सम्मिलित हैं जिस प्रकार शरीर का निर्माण क्रमशः होता है इसी प्रकार इसकी चैतन्य युक्त अनुभूति भी क्रमशः बढ़ती है। शान्त आत्मा अपने चैतन्य का अन्तिम कारण नहीं है। अहं रूप आत्मा लौकिक चैतन्य का अनुभव एकत्व है जो समय के अन्दर विकसित हो रहा है। यह एक विचार-सम्बन्धी रचना है अथवा भावात्मक विचार का प्रमेय विषय है[२९८]।

यह उसी व्यक्ति के अन्दर स्थान परिवर्तन करता रहता है और इसलिए निर्विकार तथा अपरिवर्तनीय सारतत्त्व के साथ इसकी एकात्मता नहीं हो सकती। यह आत्मा जो लैकिक अहं (जीवात्माओं) का अधिष्ठान रूप आधार है न परिवर्तित होता और न किसी प्रकार के मनोवेगों का अनुभव करता है।

यद्यपि वह अचिन्त्य है तो भी इसका मनुष्य जीवन के पूर्व इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसका यह भक्तिपूर्वक सहचारी भाव से अनुसरण करता है। निरन्तर साक्षी के रूप में जिसकी कल्पना की गई है वह आत्मा केवल एक चित्रपट का कार्य करती है। अथवा यह ऐसी आधार भूमि है जिसके ऊपर मानसिक तथ्य अभिनय करते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि ये इससे उत्पन्न होते हैं, क्योंकि यथार्थ के ऊपर उसका कुछ असर नहीं होता, जिसको भ्रमवश आत्मा मान लिया जाता है। केवल इसलिए कि हम उन्हें ठीक-ठीक नहीं समझ सकते, वस्तुएं अपने स्वरूप में परिवर्तन नहीं कर लेती। किसी प्रकार निर्विकार

२९७. रामानुज भाष्य १:१, १.

२९८. तुलना करें, वार्ड : साइकोनॉजिकल प्रिंसिपल्स, पृष्ठ ३६१-८२.

आत्मा सान्त रूप में प्रकट होती है, एवं किस प्रकार बुद्धि का नित्य प्रकाश किसी भी ब्रह्म-साधन के द्वारा अन्धकारावृत्त हो सकता है क्योंकि यह सब सम्बन्धों से मुक्त है।

यह पुराना प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस प्रकार यथार्थ लौकिक रूप में आ जाता है। शरीर इन्द्रियों, मन तथा इन्द्रिय विषय रूप उपाधियों का अत्मा के साथ सम्बन्ध होने से ही आत्मा को लौकिक रूप प्राप्त होता है किन्तु आत्मा तथा मनोवैज्ञानिक आत्मा के मध्य का यह सम्बन्ध अव्याख्येय है, मायारूप है अर्थात् रहस्यमय हैं यदि आत्मा नित्य स्वतन्त्र तथा विशुद्धि चैतन्य है और उसे किसी की चाह नहीं। वह करती भी कुछ नहीं है, तब यह शरीरधारी आत्मा के रूप में गति तथा इच्छा का कारण कैसे बन सकती है। उत्तर में कहा जाता है कि "एक ऐसी वस्तु है जो स्वयं में गति रहित है तो भी अन्य वस्तुओं में गति उत्पन्न कर सकती है चुम्बक अपने-आप में गति रहित है, किन्तु फिर भी यह लोहे में गति उत्पन्न करता है"[२९९] जब हम सान्त आत्माओं के अनन्त आत्माओं के साथ सम्बन्ध में कथन करते हैं तो इसे ऐसी सीमित उपाधियों का प्रयोग विवश होकर करना होता है जो ठीक-ठीक उपयुक्त नहीं बैठती है

जब जीव को सुख या दुःख का अनुभव होता है तो अन्यों पर उसका प्रभाव नहीं होता। एक देश (आकाश) विशेष को उसकी उपाधियों के कारण भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते हैं। किन्तु आकाश स्वयं अपरिवर्तित है। जब निरपेक्ष परब्रह्म इन उपाधियों के अन्दर लीन हो जाता है तो ब्रह्म का स्वरूप आवरण से छिपा रहता है। (स्वरूपतिरोभाव) और निरपेक्ष ब्रह्म की स्वाभाविक सर्वज्ञता भी उपाधि से परिच्छिन्न रहती है। उपाधियों का यह सम्पर्क उस स्फटिक के समान है जो लाल रंग के साहचर्य से लाल रंग का प्रतीत होता है[३००]।

आकाश शरीरों के साथ चलता नहीं और न पात्रों के साथ गतिमान होता है।[३०१] घट के अन्दर जो आकाश है उसे अनन्त आकाश का अंश परिवर्तित रूप नहीं कहा जा सकताः ठीक इसी प्रकार जीव आत्मा के अंश अथवा परिवर्तित रूप नहीं है। जिस प्रकार आकाश बच्चों को धूल से मैला दिखाई देता है, इसी प्रकार आत्मा अज्ञानी पुरुषों को बद्ध अथवा पाप से मलिन दिखाई देती है। जब

---

२९९. शांकर भाष्य २:२, २.

३००. शांकर भाष्य ३:२, १५, आत्मबोध, पृष्ठ १६.

३०१. शांकर भाष्य १:२-८.

घड़ा बनता है या टूटता है तब उसके अन्दर का आकाश न बनता है न बिगड़ता है। इसी प्रकार आत्मा न उत्पन्न होती है और न मरती है। वेदान्त के कुछ अर्वाचीन अनुयायी इस मत को मानते हैं और उनके मत में जीव विश्वात्मा है जिसे अन्तःकरण सीमित करता है।

डॉ० राधाकृष्णन् आत्मा के बारे में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कर्मफलों के उपभोक्ता आत्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के लिए उक्त आत्मा को शान्त बुद्धि न मानकर प्रतिविम्बित बुद्धि माना गया है। जो कि अभियुक्त रूप में प्रतिबिम्बित करने वाले मन के साथ सम्बद्ध है[३०२] वृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में शंकर प्रतिबिम्ब विषयक कल्पना का सुझाव देते हैं[३०३] जिस प्रकार जल के अन्दर सूर्य और चन्द्रमा केवल प्रतिबिम्ब मात्र है यथार्थ नहीं है अथवा जिस प्रकार एक श्वेत पूर्ण स्फटिक में लाल रंग केवल लाल फूल का प्रति बिम्ब मात्र है यथार्थ नहीं क्योंकि जल को हटा लेने से केवल सूर्य और चांद रह जाते हैं प्रतिबिम्ब नहीं रहता और लाल फूल के हटा लेने से केवल श्वेत वर्ण स्फटिकमणि अपरिवर्तित रूप में रह जाता है। इसी प्रकार सब तत्त्व तथा जीवात्माएँ एक मात्र यथार्थ सत्ता के अविद्या के अन्दर पड़े प्रतिबिम्ब मात्र है और यथार्थ कुछ नहीं है। अविद्या के नाश होने पर प्रतिबिम्बों का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है और केवल मात्र यथार्थसत्ता रह जाती है। निरपेक्ष परब्रह्म बिम्ब मौलिक सत्ता है, और जगत् प्रतिबिम्ब है। इसके अतिरिक्त यह विश्व अपनी नाना विध आकृतियों में एक समुद्र के समान हैं। जिसमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नाना प्रकार से पड़ता है और शंकर इस मत का समर्थन इसलिए करते हैं कि इसका महत्त्व एक विशेष सुझाव में हैं अर्थात् यह देखकर कि इससे इस विषय का प्रतिपादन हो जाता है कि प्रतिबिम्ब की मलीनताओं से मौलिक वस्तु अछूती बची रहती है। जिस प्रकार प्रतिबिम्बों में परस्पर भेद दर्पणों के परस्पर भेद के कारण होते हैं, इसी प्रकार निरपेक्ष परब्रह्म जो अद्वितीय है भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में प्रति-बिम्बित होकर भिन्न-भिन्न जीवात्माओं के रूप में प्रकट होता है। जब उस जल में जिसमें कि प्रतिबिम्ब पड़ते हैं हल-चल होती है तो प्रतिविम्ब भी स्वयं विक्षुब्ध प्रतीत होता है। जहाँ प्रतिबन्ध की कल्पना के समर्थक यह मानते हैं कि अविद्या जो एक सूक्ष्म वस्तु है, अन्तःकरण के रूप में अवच्छेदक अथवा

३०२. शांकर भाष्य २:३, ५०, गौडपाद की कारिका पर शांकर भाष्य १:६.
३०३. शांकर भाष्य, बृहदारण्यक उप० २:४, १२ और देखें: ब्रह्म बिन्दु उपनिषद्, पृ० १२.

प्रतिबन्ध है अथवा विशेषण अथवा जीव का एक आवश्यक भाग है जिसके बिना जीव का अस्तित्व नहीं रह सकता वहाँ प्रतिबिम्ब सम्बन्धी प्रकल्पना के समर्थक अन्तःकरण को केवल उपाधि मानते हैं और यह एक ऐसा द्रव्य है जो विशुद्ध बुद्धि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है और यह इसके लिए उपहार स्वरूप है, किन्तु जीव के वास्तविक स्वरूप के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

वेदान्त के कुछ अर्वाचीन अनुयायी इस मत को मानते हैं और जीव को विश्वात्मा का अन्तःकरण के अन्दर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब मानते हैं।[३०४] यदि जगत् छाया मात्र है तो ब्रह्म सारवान् द्रव्य है जो इस छाया का कारण है प्रतिबिम्ब विषयक प्रकल्पना की अनेक आधार पर समीक्षा की जाती है। एक आकृति विहीन वस्तु किसी प्रकार का प्रतिबिम्ब नहीं डाल सकती और विशेष करके आकृतिविहीन प्रक्षेपक दर्पण आदि में तो सर्वथा ही नहीं डाल सकती। विशुद्ध प्रज्ञा और अविद्या दोनों आकृतिविहीन है। यदि जीवात्मा एक प्रतिबिम्ब है तो वह पदार्थ जिसका प्रतिबिम्ब पड़ता है अवश्यक प्रक्षेपक के बाह्य होना चाहिए और यथार्थसत्ता को भी जो मौलिक है अथवा है विश्व तथा समस्त सृष्टि के पदार्थों से परे होना चाहिए। यह इस दर्शन के अन्तर्यामिता-सम्बन्धी विचार के प्रतिकूल हैं प्रतिबिम्ब सम्बन्धी प्रकल्पना भी प्रतिबन्धपरक विचार की समस्याओं से मुक्त नहीं है प्रत्येक मन का प्रतिबिम्ब वृद्धि के कारण है जो इसका समीपवर्ती हैं और इस प्रकार परिणाम यह निकलेगा कि उसी एक मन के प्रतिबिम्ब भिन्न स्थानों में भिन्न होंगे। इस प्रकार की समीक्षा बुद्धि के समान स्वरूप को भुला देती है। यदि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तो यह ब्रह्म से भिन्न है और इसीलिए यथार्थ नहीं है। विवरण नामक ग्रन्थ का लेखक इस समस्या का एक समाधान प्रस्तुत करता है। आँखों से निकलने वाली किरणें प्रक्षेपक से टकराती हैं। वापसी लौटती है। और वास्तविक चेहरे को देखने योग्य बनाती हैं। इस प्रकार प्रतिबिम्ब स्वयं मौलिक है। इस विचार को अर्थात् विम्ब प्रतिबिम्वाभेदवाद को, स्वीकार नहीं किया गया। यदि अलंकार की शाब्दिक व्याख्या करें तो हमें एक पृथक् ज्योतिर्मय वस्तु की आवश्यकता है, दूसरी वह वस्तु जिसके ऊपर छाया डाली जाएगी, और एक तीसरी वस्तु जो प्रकाश को बीच में रोकती हैं , प्रतिबिम्ब के लिए एक वास्तविक अस्तित्व रखने वाले माध्यम की आवश्यकता है जो विक्षेप से भिन्न हो किन्तु यह ब्रह्म के अद्वैतभाव के प्रतिकूल जाता है। ऐसे व्यक्ति जो

---

३०४. अन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बं जीव चैतन्य्। (वेदान्तपरिभाषा) १.

प्रतिबन्ध और प्रतिबिम्ब सम्बन्धी दोनों ही कल्पनाओं को अस्वीकार करते हैं।[३०५] कहते हैं कि अपने सत्य स्वरूप से अनभिज्ञ निर्विकार ब्रह्म ही जीव है। शंकर तथा सुरेश्वर दोनों का सुझाव इस मत की ओर है शरीरधारी चैतन्य ब्रह्म का एक अव्याख्येय रूप है।[३०६]

जीवात्मा और ईश्वर :-

शंकर के अनुसार पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म है जब वह ब्रह्म मायोपहित चैतन्य कहलाता है तो उसकी उच्चतम मायोपहित चैतन्य कि सत्त्व की उत्कृष्ट मायोपहित चैतन्य सत्ता ईश्वर है। सत्त्व की मलिन मायोपहित चैतन्य सत्ता जीवात्मा है, इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर, जीवात्मा और ब्रह्म में कोई तात्त्विक भेदन नहीं है। इस विषय में शंकर का यह मत स्पष्ट है कि ईश्वर सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् है वही पर जीव दुर्वल अज्ञानी, और लघु आकृति वाला है ईश्वर प्रत्येक विषय में निरतिशय उपाधि से संयुक्त है[३०७]। ईश्वर जीवात्माओं के ऊपर शासन करता है।[३०८] वह सदा अविद्या से मुक्त है[३०९] ईश्वर के ज्ञान पर उसके प्रतिबन्धों से कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, ईश्वर की माया उसके अधीन है। इसलिए ईश्वर के स्वरूप का आवरण नहीं होता है। अविद्या उस ईश्वर के गुणों को छिपा नहीं सकती है जैसे कि एक शीशा जो पदार्थों का आवरण बनकर भी उन पदार्थों के गुणों को आच्छादित नहीं करता है जो माया ईश्वर की उपाधि है वह शुद्ध तत्त्व से निर्मित हुई हैं अविद्या अन्तःकरण को उत्पन्न नहीं करती है। यह उसके अधीन है कि सृष्टिरचना तथा प्रलय करने में वह उसकी सहायता करें। यह माया की ही शक्ति है जो ईश्वर के अन्दर आत्माभिव्यक्ति की शक्ति से जगत् का अनैकत्व तथा जीवात्मा के अन्दर नाना प्रकार का भ्रम उत्पन्न करती है इससे जीवात्मा मिथ्या विश्वास तथा अज्ञान के कारण जगत् एवं उसके अन्तर्गत आत्माओं को स्वतन्त्ररूप में मानने लग जाता है। वस्तुतः अविद्या का माया से परिणाम रूपात्मक सम्बन्ध कहा जा सकता है। इसकी सरल व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है कि ब्रह्म का विशुद्ध चैतन्य

---

३०५. सांख्य प्रवचन भाष्य १:१५२ और १५३.

३०६. वृहदारण्यक उपनिषद् पर शांकर भाष्य २:१.।इति।।

३०७. शांकर भाष्य २:३, ४५.

३०८. शांकर भाष्य २:३, ४३.

३०९. नित्यनिवृत्ताविद्यात्वात्। (शांकर भाष्य ३:२.९).

माया के साहचर्य में आता है तब ही उसे ईश्वर कहते हैं। जब वह अविद्या के साहचर्य में आता है तो उसे जीव कहा जाता है। सृष्टिसंरचना के सम्बन्ध में ईश्वर की कोई स्वार्थमयी अभिलाषा नहीं है। इसलिए उसे अकर्ता कहा गया है जीव कर्ता है इसलिए ही ईश्वर की आराधना एवं पूजा होती हैं जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार सुख एवं दु:ख प्राप्त करता है। ईश्वर ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त करके परमानन्द सुख को प्राप्त करता है।

शंकरोत्तर वेदान्त में ईश्वर तथा जीव के सम्बन्ध में कई प्रकार के तर्क दिये गए हैं। जिसका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है प्रकृतार्थविवरणं में कहा गया है :-"उस माया में जो अनादि तथा अवर्णनीय है जो जड़ जगत् का उत्पत्ति-स्थान है, और जिसका सम्बन्ध केवल बुद्धि के ही साथ है, बुद्धि का प्रतिबिम्ब ही ईश्वर है। उसी माया के असंख्य लघु अंशों के अन्दर जो प्रतिबिम्ब है, जिसमें दो शक्तियाँ आवरण तथा विक्षेप की है और जिसे अविद्या कहा जाता है वह जीव है।"[३१०] इस ग्रन्थ कर्त्ता के अनुसार माया और अविद्या पूर्ण इकाई तथा अंशो का वर्णन करते हैं। माया ईश्वर के आश्रित है, अविद्या जीव के। इसी प्रकार का मत संक्षेप शारीरिक ने भी स्वीकार किया है। यद्यपि यहाँ पूर्ण इकाई तथा अंशों का भेद अविद्या तथा अन्त:करण का है। जिसमें अविद्या कारण है और अन्त:करण कार्य है।[३११] चूंकि यह ग्रन्थकार प्रतिबिम्ब की प्रकल्पना का समर्थन करता है, यह पूर्ण इकाई तथा अंशों के विभाग को स्वीकार नहीं करता। पंचदशी नामक ग्रन्थ एक प्रकार का भेद मानता है। जो इससे मिलता-जुलता है। मूल प्रकृति का आद्यजड़त्व जिसमें तीन गुण है, दो रूप का है इसका वह भाग जो सत्व, रजस् तथा तमस् के अधीन नहीं है: किन्तु उक्त दोनों पर आधिपत्य रखता है, माया कहा जाता है और ईश्वर के आश्रित है, और वह जिसमें सत्त्व अन्य दोनों गुणों के अधीन है, अविद्या कहलाता है और यह जीव के आश्रित है। यहाँ माया और अविद्या का भेद संख्या के रूप में नही अपितु गुणपरक है।

पंचदशी के एक वाक्य में भी यह आता है जहाँ पर प्रकृति को अपनी विक्षेपक शक्ति के साथ माया कहा गया है और वहीं जिसमें छिपाने की शक्ति

---

३१०. शांकर भाष्य २:३, ४३.

३११. अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्र सम्बधिनी माया; तस्यां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर:। (सिद्धान्तलेश १).

का प्राधान्य है जो अविद्या है।[३१२] पंचदशी में[३१३] विद्यारण्य आकाश के अन्दर इस प्रकार भेद करता है :–१. घट के अन्दर आबद्ध अर्थात्, घटाकाश; २. वह आकाश जो बादलों तूफानों आदि के साथ घड़े के अन्दर पड़े हुए जल में प्रतिबिम्बित होता, अर्थात् जलाकाश, ३. सीमाविहीन महदाकाश, और ४. वह आकाश जो जल के कणों में प्रतिबिम्बित होता है, जो फुहार के समान है, जिसे आकाश के बादलों में अवस्थित रूप में अनुमान के द्वारा पीछे से बरसने वाली बर्षा के द्वारा जाना जा सकता है: अर्थात्–मेघाकाश।

ठीक इसी प्रकार चित्तिशक्ति के भी चार विभाग है :–

१. कूटस्थ, अर्थात् अपरिवर्तनशील चित्तिशक्ति, जो स्थूल तथा सूक्ष्मशरीरों से प्रतिबद्ध है; २. चितिशक्ति, जिसका मन के अन्दर प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिसे भूल से अपरिवर्तनशीन चितिशक्ति के ऊपर बलात् ऊपर से आरोपित किया गया है। यह जीव है; ३. अनन्त चितिशक्ति, और ४. वह चितिशक्ति जो सब प्राणियों के मन के सूक्ष्म[३१४] प्रभावों के अन्दर प्रतिबिम्बित होती है और जो मेध रूपिणी माया के अन्दर अवस्थित है और जिसका ईश्वर रूपी ब्रह्म के ऊपर प्रभाव हैं उक्त विवरण से यह परिणाम निकलता है कि जहाँ जीव मन के अन्दर प्रतिबिम्बित चितिशक्ति का नाम है, ईश्वर वह चितिशक्ति है जो माया के अन्दर प्रतिबिम्बित है और माया प्राणिमात्र के सूक्ष्म प्रभावों से रंजित है। पंचपादिका विवरण नामक ग्रन्थ का रचयिता जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानता है।[३१५] कहीं-कहीं माया से प्रभावित जीव को ही ईश्वर कहा गया है।

शंकर ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य करते हुए तथा उपनिषदों के अपने भाष्य में जीव एवं ब्रह्म में अभेद है। इसको सिद्ध करने का प्रयास किया है। शांकरभाष्य के निम्नलिखित उदाहरण इस विषय में द्रष्टव्य है :–

१. ब्रह्म के दो रूप है, एक तो नाम रूप विकास भेद की उपाधि वाला दूसरा इसके विपरीत सब प्रकार की उपाधियों से छूटा हुआ है।[३१६]

३१२. अविद्यायां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः अन्तः करणे चित्प्रतिबिम्बो जीवः। (सिद्धान्तलेश १).

३१३. सिद्धान्तलेश ६.

३१४. धीवासना.

३१५. वृहदारण्यक उपनिषद् ६:७, "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" भगवद्गीता.

३१६. द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपविकार भेदोपाधि......शांकर १.१, १२.

२. वहाँ अविद्या की अवस्था में ब्रह्म के उपास्य और उपासक आदि लक्षण वाले सब व्यवहार होते हैं। ये सब इनमें उपाधि के भेद से भेद होता है।[३१७]

३. परमात्मा ही देह, मन, बुद्धि की उपाधियों से परिच्छन्न होकर मूर्खों के लिए शरीर अर्थात् जीव कहलाता है।[३१८]

४. जीव और ब्रह्म का भेद अविद्या के कारण है। पारमार्थिक रूप में नहीं है। आत्मा एक ही है दो नहीं हो सकते हैं।[३१९]

५. कुछ अन्य मतावलम्बी जीव के रूप में पारमार्थिक ही मानते हैं। हम में से भी कुछ लोग इस मत के हैं। हमने शारीरिक भाष्य का आरम्भ उन्ही के भ्रम को दूर करने के लिए किया है जिससे हो जाये कि आत्मा एक ही है। एक ही कूटस्थ नित्य जादूगर की तरह अनेकों प्रकार का दिखाई पड़ता है।[३२०] यहाँ आचार्य शंकर ने अस्मदीया कह कर यह प्रकट कर दिया है कि कुछ वेदान्ती विद्वान् ऐसे थे जो जीव को ब्रह्म से भिन्न पारमार्थिक रूप में मानते थे। उपाधिकृत नहीं।

अन्य और भी अनेक स्थलों पर आचार्य शंकर ने जीव और ब्रह्म में अभेद स्थापित करने का प्रयास किया है। परन्तु शंकर स्वयं कुछ सूत्रों पर भाष्य करते हुए भेद परक भी अर्थ करते हैं। उद्धरण भी उन्हीं के शब्दों में क्रमशः समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

१. आनन्दमय परमात्मा ही है जीव नहीं। इतर का अर्थ है ईश्वर-भिन्न संसारी या जीव–जीव के लिए आनन्दमय शब्द नहीं लाते; क्योंकि उत्पत्ति नहीं बैठती है।[३२१]

---

३१७. तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षण सर्वो व्यवहारः तेषां....भेदः।। शारीरिक भाष्य.

३१८. पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिःपरिच्छिद्यमानो बालः शरीर इत्युपचर्यते। (ब्रह्मसूत्र-शंकरभा० १:२, ६).

३१९. अविद्याप्रत्युपस्थापित कार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं.......सम्भवतः। ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य १,२,२०).

३२०. अपरेतु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं 'रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १.३.१९.

३२१. इतश्चानन्दमयः पर एवात्मानेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। (ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य १.१.१६).

२. यहाँ भी आनन्दमय जीव नहीं क्योंकि आनन्दमय अधिकार से उपनिषद् में कहा है कि ब्रह्म रस है। यह रस को पाकर ही आनन्दी होता है। यहाँ स्पष्ट रूप से जीव और ब्रह्म भेद द्वारा बतलाया गया है।[३२२]

३. भेद तो विजानात्मा (जीव) और परमात्मा में ही होता है। कठ उपनिषद् में आत्मा को रथी और शरीर को रथ बतलाया है इस रूप में विदित होता है कि यहाँ तात्पर्य विज्ञानात्मा अर्थात् जीव से हैं जो मोक्ष प्राप्ति के लिए संसार रूपी यात्रा कर रहा है। उसी उपनिषद् में कहा है कि वह मार्ग के पार जाकर विष्णु के परमपद को पाता है। यहाँ परमात्मा से तात्पर्य है कठोपनिषद् में इसे पहले कहा गया था कि धीर पुरुष अध्यात्म योग द्वारा हृदय के भीतर छिपे हुए देव को जानकर हर्ष और शोक से छूट जाते हैं। यहाँ जीव और ब्रह्म का स्पष्ट भेद है।[३२३]

आचार्य शंकर अनेक उपनिषदों के प्रभाणों द्वारा इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए जीव और ब्रह्म का भेद प्रतिपादिन करते हैं। जिन उपनिषदों के प्रमाणों को हमने भेद-सिद्धि में प्रस्तुत किया है। उनमें से कुछ प्रमाणों को यहाँ इस सूत्र की व्याख्या में उन्होंने प्रयुक्त किया है यद्यपि सूत्र में ही भेद का प्रतिपादन स्पष्ट था परन्तु आचार्य ने अन्य उद्धरण और युक्तियों से उसकी व्याख्या कर सोने में सुहागे का कार्य किया है।

४. आगे पुनः लिखते हैं कि यद्यपि ब्रह्म सबके हृदय में विद्यमान है तथापि उसे दुःख-सुख तथा संयोग नहीं मिलता है, क्योंकि जीव और ब्रह्म में विशेषता भेद है। जीव, कर्ता भोक्तादि गुणों से युक्त हैं ब्रह्म पापादि से मुक्त है, इसलिए भोग जीव के लिए है। ब्रह्म के लिए नहीं है।[३२४]

५. सुषुप्ति और उत्क्रान्ति दोनों में जीव और परमेश्वर का भेद बताया है। सुषुप्ति का उदाहरण-यह पुरुष प्राज्ञ आत्म से मिलकर न बाहर का कुछ देखता है, और न भीतर का। यहाँ जीव और परमेश्वर का भेद बताया गया है।[३२५] यहाँ

---

३२२. इतश्चनानन्दमयः संसारी, यस्मादानन्दमयाधिकारे-रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। (तै० २.७).

३२३. विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव सम्भवति...जीवपरमात्मानौ...एव न्यायः (ब्रह्म०, शांकर भाष्य १.२.१२).

३२४. न तावत्वसर्व प्राणि हृदयसम्बन्धाच्छारीत्वत् ब्रह्मणः सम्भोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात् विशेषो हि भवति शारीर परमेश्वरयोः। (ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य १.२.८).

३२५. सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद् भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात् (ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य १.३.४२).

पुरुष का अर्थ जीव है, आचार्य यह भेद व्यावहारिक मानते हैं परन्तु व्यवहारकाल की कहकर भेद परक श्रुतियों से वचा नहीं जा सकता। प्रश्न यह है कि वेदान्त दर्शन और उपनिषदों की मूल भाषा में कही पर भी व्यवहार काल और पारमार्थिक काल का संकेत मात्र भी उपलब्ध नहीं होता है। वेदान्तदर्शन में ऐसे बहुत से सूत्र है जिसकी अद्वैतपरक व्याख्या करना संभव प्रतीत नहीं होता । उन सूत्रों की व्याख्या कुछेक अन्तर के साथ सभी आचार्यों को मान्य है।

शंकराचार्य के अनुसार "एको देव: सर्वभूतेषु गूढः" एकोदेवो बहुधानिविष्टः आदि श्रुतियों के आधार पर अद्वैतवादियों का मत है कि स्वयं ब्रह्म ही अज्ञानावृत्त होकर जीव रूप में भासता है, अर्थात् जीव अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म ही हैं। अविद्या की निवृत्ति होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है। अद्वैतवादी जीव ब्रह्मैक्यवाद के समर्थन में "अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य" इत्यादि श्रुतियों को भी प्रस्तुत करते हैं जिनमें कहा गया है कि वह परमात्मा इन शरीरों की रचना करके पीछे से स्वयं ही इनमें प्रविष्ट हो गया। अत:परमात्मा और जीवात्मा का भेद काल्पनिक है, वास्तविक नहीं।

अद्वैतवादी कहते हैं कि अविद्या अवास्तविक है, वस्तुत: जीव ब्रह्म ही है, इसलिएं वह स्वभाव से विशुद्ध है। कृपाणादि में प्रतिबिम्बित मुख में जैसे मालिन्य आदि दोष दिखायी देते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरणावछिन्न ब्रह्म जीवगत दोष भ्रान्ति मात्र ही है।

इस प्रकार यदि यह कहा जाए कि अविद्या रूप उपाधि से दोषों की प्रतीति होती है, उनका उच्छेद होने से ही मोक्ष रूप पुरुषार्थ सिद्धि हो जाती है, तो प्रश्न उठता है कि यह औपाधिक दोष-प्रतीति विम्बस्थानीय ब्रह्म की है या प्रतिबिम्बस्थानीय जीव की या अन्य किसी की? यदि जीव की है तो यह दृष्टान्त अयुक्त है। क्योंकि मुख और उसका प्रतिबिम्ब दोनों ही अचेतन हैं अत: इन दोनों में अल्पज्ञतादि दोष की प्रतीति असम्भव है। और यदि विम्बस्थानीय ब्रह्म में दोष प्रतीति स्वीकार की जाये तो ब्रह्म ही विद्या का आश्रय बन जायेगा।[३२६] तस्मात् उसका शुद्ध विज्ञानत्व समाप्त जो जायेगा। अन्य कोई द्रष्टा न होने से ऐसी प्रतीति कोई भी नहीं कर सकता।

अद्वैतवादी आत्मा को ज्ञानस्वरूप मात्र मानते हैं। वे आत्मा को ज्ञात नहीं

---

३२६. ब्रह्मणो दोष प्रतिभासे ब्रह्मविद्याप्रसंगश्च। पूर्वोक्तैव.

मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान और ज्ञाता एक पदार्थ नहीं हो सकते क्योंकि धर्मधर्मी भाव से उनमें द्वैत अर्थात् "भेद" प्रमाणित होता है। इनके अनुसार "अहं जानामि" आदि का 'अहम्' अर्थत्व, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व अध्याय जन्य होने से मिथ्या है, पारमार्थिक नहीं। यदि सभी गुण औपाधिक है। वास्तविक अर्थ में आत्मा निर्लेप और निस्संग है, वह विशुद्ध चित्स्वरूप मात्र है

जीवात्मा का परिमाण :-

शंकराचार्य जीवात्मा के परिमाण के विषय में कहते हैं कि जीव अणु नहीं है, क्योंकि नित्य, सर्वव्यापी, तथा स्थिर रहने वाला है।[३२७] वह महान् अजन्मा आत्मा है, जो कि यह प्राणों में विज्ञानमय स्वयं ज्योति स्वरूप है।[३२८] इन श्रुति स्मृतियों के द्वारा जीव में व्यापकत्व अर्थात् विभुत्व है: यह सिद्ध होता है। श्रुतियों में जीव की व्यापकता के प्रतिपादक वाक्य बहुत है और अणुरूपता के बोधक वाक्य थोड़े हैं, अत:बहुत वाक्यों के विरोध से बचने के लिए यह आत्मा अणु है। आदि वाक्यों में 'अणु' शब्द का सूक्ष्म या दुर्विज्ञेय अर्थ करना ही उचित है। दूसरी बात यह भी है कि जो देश-व्यापी सुख-दु:खादि की उपलब्धि होती है इसका अन्यथा-दूसरा कारण सम्भव नहीं। अत: इसके आधार पर जीव व्यापक-विभु ही सिद्ध होता है, अणु नहीं।

यदि जीव में उत्क्रमणादि रूप सिद्ध होते हैं, तो यह कहना अनुचित है। क्योंकि अन्त:करणगत उत्क्रमणादि क्रिया का ही अन्त:करणोपहित चेतन में श्रुतियों ने प्रतिपादन किया है। सुख-दु:खादि अनुभव भी आत्मा में औपाधिक ही है स्वाभाविक नहीं। अत: अन्त:करणगत अनुभव और उत्क्रान्ति का जीव में औपाधिक भान होने पर भी सामानाधिकरण्य उत्पन्न हो जाता है। यदि जीव में गति रूपता से ऐसा कहेगें तो अव्यापक पदार्थ की ही अव्यापक देश में गति हुआ करती है। परन्तु व्यापकीभूत जीव का व्यापकीभूत ब्रह्म के प्रति गमन सम्भव नहीं। अत: यहाँ गमन पद का उपाधिकृत भेद के अभाव में ही तात्पर्य स्थिर किया जाता है।

उपाधि की गति से उपहित चेतन अर्थात् जीव में गति का प्रयोग औपचारिक ही माना जाता है। कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम दोष देना असंगत है, क्योंकि निरवयव वस्तु के प्रदेश नहीं माने जाते हैं।

३२७. नित्य: सर्वगत: स्थाणु १ आ०उ० १०/२.

३२८. स वा एष महानज आत्मा योऽर्थ विज्ञानमय: प्राणेषु। वृहद. उ० ४/४/२२.

वह सर्वत्र एक ही रूप है। अत: कर्म-लोक में वहीं जीव या चेतन बुद्ध्यावच्छिन्न होकर कर्ता, और भोग-लोक में वही चेतन अवच्छिन्न स्वरूप कर्ता और भोक्ता में किसी प्रकार का भेद नहीं माना जाता। क्योंकि दानों लोकों में अवच्छेदक अर्थात् बुद्धि वही और अवच्छेद्य यानी चेतन्य भी वही है जब अवच्छिन्न का भेद कैसा होगा? अर्थात् अवच्छिन्न का भेद नहीं होगा। आत्मस्वरूप तो व्यापक आत्मा में ही रहता है। एक अणु पदार्थ एक काल में अनेक व्यवहित देशों में रह नहीं सकता। अत: जीव अणु नहीं है व्यापक या विभु ही है।

जीवात्मा ज्योतिरूप, सुखरूप, नित्य, चेतन एवं स्वयं प्रकाशरूप है और सत् भी है, तथा जीवात्मा अनश्वर अर्थात् शाश्वत है।

आचार्य शंकर जीवात्मा का वास्तविक परिमाण बताते हुए कहते हैं कि—यह जीवात्मा वस्तुत: देह नहीं है, बल्कि देव है जड़ नहीं है किन्तु चेतन है। दृश्य नहीं है परन्तु द्रष्टा है। परिच्छिन्न नहीं है अपितु अपरिच्छिन्न अर्थात् विभु हैं अत:जीवात्मा की भी ब्रह्म के समान त्रिकालाबाधिक पारमार्थिक ही सत्ता है। यह स्वयं प्रकाश स्वत: सिद्ध ज्ञान स्वरूप है। कठोपनिषद् में कहा है कि उस महान् और व्यापक आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता।[३२९] गीता में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि—हे अर्जुन! उस अपने स्वरूपभूत आत्मा को तू अविनाशी जान। वह सर्व व्यापक है, उससे यह सम्पूर्ण जगत् अन्तर्बाह्य व्याप्त है।[३३०] इन श्रुति एव स्मृति द्वारा जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है यह सिद्ध होता है।

आत्मा को अणु परिमाण वाला एवं मध्यम परिमाण वाला जो लोग मानते हैं उनका मत उपर्युक्त श्रुति-स्मृति के वचनों से खण्डित हो जाता है। तथा वह आत्मा आनन्दस्वरूप है। उसकी आनन्दरूपता सुषुप्ति में एवं समाधि में अनुभूत होती है। दु:खादि तो मन के धर्म है। मन के साथ तादात्म्याध्यास होने से वे धर्म विशुद्ध आत्मा में आरोपित है जैसे-जपाकुसुम की लालिमा, स्फटिक मणि में आरोपित होती है। ललिमा के आरोप से उसकी स्वाभाविक शुक्लता तिरोहित हो जाती है, वैसे ही मन के दु:खादि धर्मों के आरोप से उस अन्तरात्मा की स्वाभाविक आनन्दरूपता अनुभूत हो जाती है।

---

३२९. महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। क०उ० २/१/४.

३३०. अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। गीता २/१७.

इसलिए 'मैं चिदात्मा' वस्तुतः सद्रूप, चिद्रूप आनन्दरूप, परिपूर्ण अविनाशी भूमा-ब्रह्म ही हूँ। ऐसी भावना मुमुक्षु सदा करता रहे। अतः आचार्य श्री नृसिंह सरस्वती ने वेदान्त डिण्डिमः में कहा है कि सत् चित् एवं आनन्दरूप होने के कारण यह जीवात्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है, यह सिद्धान्त श्रुति प्रमाणों के श्रवण द्वारा एवं प्रत्यगात्मा अभिन्न अद्वैय ब्रह्म तत्त्व के सतत् मनन एवं निदिध्यासन द्वारा स्पष्ट ही अनुभूत होता है।[३३१]

जीवात्मा ही ब्रह्म रूप से तथा ब्रह्म ही जीवात्मा रूप में स्थित है ऐसा अपरोक्षतया अनुभव करने वालों की ही मुक्ति होती है केवल्योपनिषद् में कहा है कि सर्वभूत प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में ही सर्वभूत प्राणियों को स्थित देखने वाला परमब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म प्राप्ति का और अन्य कोई साधन नहीं है।[३३२] इसी प्रकार सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से, स्थितिरूप योग से, युक्त आत्मावाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतो में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है[३३३] वेदान्तडिण्डिम में भी कहा है कि–जीव को ही ब्रह्म स्वरूप तथा ब्रह्म को ही जीव स्वरूप जानना चाहिए। इन दोनों की एकता अर्थात् अभेद ज्ञान की मुक्ति या मोक्ष है। यह वेदान्त की घोषणा है[३३४]।

यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा के अभेद का ज्ञान मुक्ति का साधन है और मुक्ति साध्य है, तथापि साध्य-साधन का औपचारिक अभेद मानकर इस प्रकार कहा गया है कि 'धर्मं सुखम्' अर्थात् धर्म ही सुख है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता अर्थात् जीवब्रह्मैक्य ही सारे वेदान्त शास्त्र या वेदान्तदर्शन का सिद्धान्त है इसे हम वेदान्तदर्शन शास्त्र का निचोड़ या सार भी कह सकते हैं अथवा तत्त्व भी कह सकते हैं।

---

३३१. सच्चिदानन्दरूपत्वाद् ब्रह्मेवात्मा न संशयः।
प्रमाणकोटिसन्धानादिति वेदान्तडिण्डिमः।। वै०डि०, श्लो० ६०.

३३२. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्ब्रह्मपरमं याति नान्येन हेतुना।। के०उ० १/१०.

३३३. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः। गीता० ६/२९.

३३४. जीवो ब्रह्मात्मना ज्ञेयो ज्ञेयं जीवात्मना परम।
मुक्तिस्तदेक्यविज्ञानमिति वेदान्तडिण्डिमः।। वे०डि०, श्लो० १६.

सृष्टि संरचना

समस्त भारतीय दर्शनों में सृष्टि संरचना को एक समस्या के रूप में निरूपित किया गया है जब सृष्टि प्रक्रिया पर विचार किया जाता है तो कार्य-कारणवाद का सिद्धान्त हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। भारतीय दर्शन में कार्य-कारणवाद चार प्रकार का माना जाता है। १. असत्कारणवाद, २. असत्कार्यवाद, ३. सद्-कार्यवाद और ४. विवर्तवाद। असत्कारणवाद बौद्धों का सिद्धान्त है। असत्कार्यवाद न्याय एवं वैशेषिक का सिद्धान्त माना जाता है। सत्कार्यवाद सांख्य दर्शन की मान्यता है। विवर्तवाद अद्वैतवाद का सिद्धान्त माना जाता है।

सृष्टि संरचना के सन्दर्भ में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सृष्टि रचना किन-किन कारणों से हुई है सामान्यत: सत्कार्यवाद का सिद्धान्त दो रूपों में माना जाता है। आचार्य शंकर भी सत्कार्यवाद के पक्ष में युक्तियाँ देते से प्रतीत होते हैं उनके अनुसार यदि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व असत् है तो उसकी उत्पत्ति अकर्तृक होगी, अर्थात् उसका कोई कर्त्ता नहीं होगा। परन्तु उत्पत्ति एक क्रिया है और क्रिया का कर्त्ता अवश्य होता है क्रिया का अकर्तृक होना विरोध है, यह सम्भव नहीं है; अत: जिस चीज की उत्पत्ति होगी उसका पहले से ही होना आवश्यक हैं। यदि नैयायिक यह कहे कि यहाँ उत्पत्ति का अर्थ किसी आश्रयक में क्रिया नहीं है अपितु कार्य का कारण से या अपनी सत्ता से सम्बन्ध होना है तो शंकर का कथन है कि जिसकी सत्ता ही नहीं है वह कारण के साथ कैसे सम्बद्ध होगा। दो सत् पदार्थों का ही सम्बन्ध हो सकता है। साथ ही पहले स्थित होना या न होना कार्य की मार्यादा है और मर्यादा सत् पदार्थो में ही होती है, असत् पदार्थों में नहीं। आचार्य शंकर की इस मान्यता में यह भ्रम है कि न्याय कार्य को केवल कारण व्यापार के पूर्व असत् मानता है, कारण व्यापार के बाद तो वह सत् है।

परिणामवाद या विवर्तवाद :-

सांख्य का सत् कार्यवाद परिमामवाद या विकारवाद कहा जाता है, इसके अनुसार कारण ही कार्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है और यह परिणति वास्तविक है। जैसे जब मिट्टी से घट बनाया जाता है तो मिट्टी ही घट के रूप में बदल जाती है या जब सोने के कुण्डल बनाये जाते हैं तो सोना ही कुन्डल के रूप में परिवर्तित है या जब दूध से दही जमाया जाता है तो दूध ही परिणाम को प्राप्त होकर के दही बन जाता है। सांख्य के इस परिणामवाद के समर्थक

योग दर्शन एवं विशिष्टाद्वैतवाद आदि अन्य वैष्णव वेदान्तिमत के अनुयायी है। आचार्य शंकर तथा अद्वैतवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि जब कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है तो यह परिवर्तन वास्तविक नहीं होता केवल प्रतीति भाव है।

जैसे कि रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, उस समय रस्सी का सर्प के रूप में परिवर्तन है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर के अनुसार कार्य से कारण की उत्पत्ति भ्रम मात्र है। इसी परिणाम या विकार और विवर्त को वेदान्त सार में समझाते हुए कहा है कि :–

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

अर्थात्–जब यथार्थ रूप में अन्य हो जाना अथवा बन जाना, वह विकार कहलाता है और वास्तव में दूसरे रूप में न होना अर्थात् न बनना केवल प्रतीति होना, यह विवर्त कहलाता है।

आचार्य शंकर के अनुसार कारण और कार्य में भेद होता है। अन्तर केवल नाम, रूप का है। नाम रूप से कोई तात्त्विक अन्तर नहीं पड़ता। देवदत्त केवल अपने हाथ पैर फैला दे अथवा समेट ले इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता अर्थात् देवदत्त में कोई परिवर्तन नहीं हो जाता। ऐसे ही लपेटा हुआ कपड़ा अथवा फैलाया हुआ कपड़ा दोनों कपड़े भिन्न नहीं हो जाते। उसी प्रकार कारण तथा कार्य अभिन्न है। वास्तव में अद्वैतवेदान्त के अनुसार सृष्टि रचना में कारण ब्रह्म कूटस्थ नित्य है उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना नहीं हैं। अतः आचार्य शंकर के मत में कारण तो सत् है परन्तु कार्य विवर्त अर्थात् भ्रम मात्र है। यहाँ विशेष दृष्टव्य यह है कि आचार्य शंकर पारमार्थिक दृष्टि से विवर्तवादी है और व्यावहारिक दृष्टि से सत् कार्यवादी है। आचार्य शंकर का यह विचार बड़ा अद्भुत है कि विश्व का कारण तो ब्रह्म सत्य है और उससे बना संसार विवर्त अर्थात् मिथ्या तथा भ्रम मात्र है।

शंकर से पूर्व आचार्य गौड़पाद तो कार्य कारण के सम्बन्ध को स्वीकार ही नहीं करते हैं। उनके मत को अजातिवाद कहा जा सकता है। इनका मत है कि कार्य कारण का सम्बन्ध तर्क ग्राह्य है ही नहीं। उन्होंने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित युक्तियाँ दी है[३३५]।

---

३३५. माण्डूक्यकारिका १११.

१. कोई भी वस्तु अपना स्वभाव परिवर्तित नहीं कर सकती है। प्रकृति स्वयं अनुत्पन्न है वह दूसरे बुद्धि आदि कार्यों को कैसे उत्पन्न कर सकती है। वास्तव में प्रकृति में कोई परिवर्तन संम्भव नहीं है।[३३६] यदि हम यह मानते हैं कि कोई वस्तु कार्य उत्पन्न करती है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि वह स्वयं उत्पन्न हुई है। किन्तु यह मान्यता हमें अनवस्था दोष की ओर से जायेगी। अतः न तो हम यह मान सकते हैं कि उत्पन्न वस्तु कार्य को उत्पन्न कर सकती है, न यह मान सकते हैं कि अनुत्पन्न वस्तु कार्य को उत्पन्न कर सकती है।

२. जहाँ कार्य कारण सम्बन्ध बीज और अंकुर की तरह अन्योन्याश्रित माना गया है। वहाँ भी हमें यह पता न लगे कि कौन सी वस्तु पहले उत्पन्न हुई है : कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता है।

३. कार्य कारण सम्बन्ध किसी भी ढंग से प्रदर्शित करना सम्भव नहीं है :-

(अ) असत् से असत् की उत्पत्ति संभव नहीं है।
(ब) असत् से सत् की उत्पत्ति संभव नहीं है।
(स) सत् से सत् की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती
(द) सत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

अतः किसी कारण से कार्य उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। गौड़पाद के इस मत ने ही आचार्य शंकर के विवर्तवाद को जन्म दिया है। शंकर के मत में कारण सत् है: परन्तु कार्य अनिर्वचीय है: उसे न सत् कहा जा सकता है न असत्। कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण के रूप में सत् है। अतः इसे सत् कार्यवाद के अन्तर्गत ही कहा जा सकता है

शंकर के जगत्-उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त के अनुसार जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण ब्रह्म हैं परन्तु इनसे उत्पन्न होने वाला जगत् रूपी कार्य विवर्त है। इस विषय में प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या जगत् एक भ्रम मात्र है शंकर बार-बार कहते हैं कि प्रतीति रूप जगत् के अनेकत्व का कारण अविद्या है जगत् का ही केवल अविद्या कारण नहीं है, अपितु ईश्वर का भी अविद्या कारण है।[३३७] ब्रह्म के स्वरूप के ऊपर अविद्या का कुछ प्रभाव नहीं होता है, यह तो केवल

---

३३६. प्रकृतेरन्यथा भावो न कथञ्चिद् भविष्यति।

३३७. एकत्वं....पारमार्थिकम्, मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्।
(शांकर भाष्य २:१, १४).

हमारे अज्ञान के कारण ही ऐसी प्रतीति होती है। डॉ० राधा कृष्णन् ने इस मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जैसे चक्षु इन्द्रिय के दोष वाले को दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं; चन्द्रमा तो वस्तुत: दो नहीं हो जाते। "सम्पूर्ण लौकिक यथार्थसत्ता अपने नामों व रूपों सहित जिसके लिए न तो हम सत् अथवा न असत् की परिभाषा का ही प्रयोग कर सकते हैं अविद्या के ऊपर आश्रित हैं किन्तु उच्चतम यथार्थ सत्ता के अर्थों में सत् बिना किसी परिवर्तन अथवा परिणमन के अपनी सत्ता को स्थिर रखता है। एक ऐसा परिवर्तन जो केवल शब्द मात्र के ऊपर ही निर्भर करता है, यथार्थ सत्ता की अविभाज्यता (अखण्डता) में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता।[३३८] सृष्टिरचना तथा ईश्वर की सीमितता सम्बन्धी समस्याओं का सामना होने पर शंकर कहते हैं कि जब तत्त्वमसि के समान वाक्यों के द्वारा अभिन्नता की शिक्षा से अभिन्नता विषयक चेतना जाग्रत हो जाती है तब आत्मा के जन्म-जन्मान्तरों में भ्रमण तथा ईश्वर का सृष्टि रचनात्मक व्यापार सब बन्द हो जाते हैं; क्योंकि विभाजन के प्रति जगत् की समस्त प्रवृत्ति मिथ्याज्ञान से ही उत्पन्न होती है और निर्दोष सत्यज्ञान से दूर हो जाती है। तब फिर सृष्टि रचना कहाँ से हुई है। और फिर केवल कल्याण ही को उत्पन्न न करने का उत्तरदायित्व कहाँ से आया? क्योंकि संसार, जिसका विशिष्ट लक्षण पुण्य तथा पापकर्मों का करना है, यह एक मिथ्या विचार है और यह अविद्या से उत्पन्न निर्णय में भेदभाव के लक्ष्य न करने से उत्पन्न होता है और नामों और रूपों से निर्मित क्रियाशीलता के साधनों के संघात से बना है। और यह मिथ्याज्ञान यहाँ तक कि जन्म तथा मृत्यु के द्वारा विभाग और पार्थक्य के प्रति आसक्ति के समान भी परमार्थ रूप में कोई अस्तित्व नहीं रखता।[३३९] इसके अतिरिक्त उस अनेकत्व के अंश से जो अविद्या से उत्पन्न होता और नामरूप जिसके विशिष्ट लक्षण है जो विकसित भी है और अविकसित भी है और जिसको हम न तो अविद्यमान ही कह सकते हैं और न अभावात्मक ही कह सकते हैं। इस सब परिवर्तनशील जगत् का आधार ब्रह्म ही है, किन्तु अपने सत्य और यथार्थ स्वरूप में यह इस व्यावहारिक जगत् से परे

३३८. तुलना करें, शांकर भाष्य २:१, ३१; २:१, १४, २:३, ४६; २:१; २७.
३३९. अविद्याकृतं कार्यप्रपञ्चम् अर्थात् कार्यरूप विश्व अविद्या की उपज है। (शांकर भाष्य १:३, १).

अखण्ड रूप में रहता है[३४०]। उक्त मत के ऊपर विशेष रूप से बल देने पर हमें यह सुझाव मिलता है कि व्यक्ति की अविद्या के अतिरिक्त अनेकत्व का नितान्त अभाव है।

सब प्रकार का परिवर्तन और गति, समस्त उत्पत्ति तथा विकास समस्त विज्ञान तथा कल्पना, केवल स्वप्नरूप और छाया मात्र ही ठहरते हैं इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। ब्रह्म को जगत् का कारण बताने का जो समाधान है उससे सन्देह की पुष्टि ही होती है यह प्रदर्शित करने की आतुरता के कारण कि जगत् में जितने भी परिवर्तन होते हैं ब्रह्म उन सबसे अछूता रहता है[३४१] शंकर कहते हैं कि ब्रह्म में जगत् का अध्यास[३४२] होता है, जैसे-कि रस्सी में सांप का। "अंधेरे में एक मनुष्य एक रस्सी के टुकड़े को भूल से सांप मान कर भय के मारे कांपता हुआ उससे दूर भागता है। इस पर दूसरा मनुष्य बतला सकता है, डरो मत यह केवल एक रस्सी है, सांप नहीं है, और तब वह काल्पनिक सांप से उत्पन्न हुए भय को त्याग देता है और भागना बन्द कर देता है। किन्तु इस समय में बराबर उस मनुष्य को भ्रान्ति से उत्पन्न रस्सी का सांप समझ लेने के भाव से तथा फिर उस भाव के दूर हो जाने से रस्सी का अपने में कुछ बनता-विगड़ता नहीं है[३४३]।

वस्तुतः तारे टिमटिमाते नहीं; यद्यपि हमें ऐसे प्रतीत होते हैं। जिस प्रकाश को वे तारे छोड़ते हैं वह बिल्कुल स्थिर है यद्यपि पृथ्वी के वायुमण्डल में जो विक्षोभ होते हैं और जिनके मध्य से होकर वह प्रकाश आता है, वे हमारी दृष्टि को इस प्रकार से प्रभावित करते हैं जिससे तारे निरन्तर टिमटिमाते हुए से प्रतीत होते हैं। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म के अन्दर अस्थिरता का सादृश्य भी मन का एक भ्रम है और यह हमारी विकृत दृष्टि के कारण होता है।[३४४]

आचार्य शंकर के दिये हुए कुछ दृष्टान्तों की जब हम शाब्दिक व्याख्या करते हैं तो हमें यह प्रतीत होता है कि सब प्रकार का भेद मानवीय कल्पना के द्वारा उत्पन्न मृगतृष्णिका मात्र है। सब प्रकार के भेद मानवीय विचार को समझाने

---

३४०. शांकर भाष्य २:१, २७.
३४१. शांकर भाष्य २:१, २८; २:१, ९.
३४२. अध्यारोपितम्.
३४३. शांकर भाष्य १:४, ६. और देखें : कठोपनिषद् पर शांकर भाष्य ३:१४, शांकर भाष्य ४:११.
३४४. शांकर भाष्य २:३, ४६.१.

के लिए है; जो एक त्रिपार्श्व कांच की भाँति विशुद्ध एकत्व को भिन्नता के रूप में विभक्त कर देता है जबकि यथार्थ में विविधता तथा उसका ज्ञान प्राप्त करने वाला मन दोनों ही अयथार्थ हैं। किन्तु इन सब रूपकालंकारपरक दृष्टान्तों पर सीमा से अधिक बल देना भूल है: और शंकर आग्रह पूर्वक कहते हैं कि इन दृष्टान्तों का प्रयोग केवल कुछ समानताओं को प्रस्तुत करने के लिए ही किया है न कि सर्वथा तादात्म्यभाव दर्शाने के लिए।[३४५]

ख्यातिवाद :-

आचार्य शंकर के अनुसार तीन प्रकार की सत्ताएं है-प्रातिभाषिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक। अद्वैतवेदान्त में पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की ही मानी जाती है। जागतिक वस्तुएँ तथा तत्त्व मूलक वस्तुओं में जो परस्पर भेद अथवा भ्रम उत्पन्न होता है, उसका कारण भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद को माना जाता है। इन ख्यातियों में असत्ख्याति शून्यवादी बौद्ध मानते हैं। आत्मख्याति को विज्ञानवादी बौद्ध स्वीकार करते हैं। अख्याति के सिद्धान्त को मीमांसक प्रभाकर मत वाले अङ्गीकार करते हैं और अन्यथाख्याति न्याय दर्शन मानता है। अनिर्वचनीयख्याति को अद्वैतवेदान्त स्वीकार करता है। जगत् की वस्तुओं को भी इस अनिवर्चनीय ख्यातिवाद के अनुसार ही अद्वैतवेदान्त जगत् की व्याख्या करने का प्रयास करता है। वेदान्त परिभाषा में अनिर्वचनीयख्याति की व्याख्या करते हुए कहा है कि अन्तःकरण वृत्ति कुल्यात्मना बहिर्देश को जाकर अन्तःकरण और विषय दोनों को सम्बन्धित करती है[३४६]। उक्त प्रकार से वृत्ति के बहिर्गमन एवं विषयाकार परिणति से ही विषय का अनावरण भंग होता है। तभी विषय ज्ञात होता है। किन्तु तब रज्जु में सर्प भ्रमस्थल में अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा बहिर्गमन करके रज्जु देश में पहुँचकर तिमिरादि दोष के कारण रज्जुगत अज्ञानावरण भ्रंश करने में समर्थ नहीं हो पाती[३४७]।

चित्सुखाचार्य ने कहा है कि सत्य और असत् रूप में जिसका विचार संभव नहीं; दोनों कोटियों को मिलाकर भी विचार जिसका संभव नहीं वह अनिर्वाच्य है।[३४८]

---

३४५. शांकर भाष्य ३:२१, १७-१९.

३४६. वेदांत परिभाषा, पृ० २३, धर्मराजध्वरीन्द्र, सर्वदर्शन संग्रह, चौ० २०११.

३४७. सिद्धांतलेशसंग्रह, पृष्ठ २१५.

३४८. प्रत्येकं सद्सत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्। गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदांतवेदिनः। (चित्सुखी, पृ० ७९).

सभी प्रकार के भ्रम ऐसे ही है।[३४९] संक्षिप्त रूप में यह देखा गया कि अनिर्वाच्य का तात्पर्य क्या है, इसके जान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि अनिर्वचनीयख्याति क्या है? ख्याति का अर्थ ज्ञान है। अनिर्वचनीयख्याति का अर्थ दो प्रकार से हैं। प्रथम अनिर्वचनीय की ख्याति अर्थात् अनिर्वचनीय वस्तु का ज्ञान।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्मातिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुएं अनिर्वचनीय है। अतः दूसरा अर्थ हुआ जो ज्ञान अनिर्वचनीय हो वही अनिर्वचनीय है। जगत् की अनिर्वचनीय व्याख्या के लिए भ्रमस्थलीय रजत की अनिर्वचनीयता की सिद्धि करनी है, क्योंकि दृष्टान्त रूप में प्रातिभाषिक वस्तु को ही लिया जा सकता है, इस मत के अनुसार भ्रस्थलीय शुक्ति रजत असत् नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतीति "इदं रजतम्" इस प्रकार होती है असंत् का अर्थ अद्वैतवेदान्त के अनुसार अलीक है। जो कि आकाश कुसुमादि है। आकाश कुसुमादि की प्रतीति 'इदं' रूप से कभी भी नहीं हो सकती है। "बन्ध्या पुत्रोऽस्ति" बन्ध्या का पुत्र, और बन्ध्या का पुत्र जाता है "बन्ध्यापुत्रः गच्छति" ये वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी तथ्यात्मक न होने के कारण तात्विक नहीं है। वाक्य या शब्द तथ्यात्मक होना चाहिए; तभी तात्त्विक होंगे। इसी प्रकार भ्रम स्थलीय रजत सत् भी नहीं है, क्योंकि सत्यत्व दूसरे शब्द में त्रिकाल बाध्यत्व हैं भ्रमस्थलीय रजत की उत्पत्ति शुक्ति विषयक अज्ञान से हुई है। और शुक्ति विषयक ज्ञान से उसका उत्तरवर्ती क्षण में 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है, करके बाध हो जाता है, अद्वैत के अनुसार जिसका बाध होता है वह सत् नहीं है। अतः सत् नहीं है, असत् नहीं है। तब तो भ्रमस्थलीय रजत अनिर्वचनीय है।[३५०]

अद्वैतवेदान्ती भ्रम या अध्यास की व्याख्या अनिर्वचनीय ख्याति से देते हैं। उनके अनुसार भ्रमस्थलीय ज्ञान एवं विषय दोनों ही अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं। भ्रमस्थलीय अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति माने बिना भ्रम की व्याख्या संगत नहीं होती। क्योंकि, यदि भ्रमकालीन वस्तु को अलीक अर्थात् असत् माने तो उसकी प्रतीति ही संभव नहीं है। उसे सत् अर्थात् व्यावहारिक सत् भी नहीं स्वीकार कर सकते, ऐसा करने पर भ्रम ही नहीं माना जा सकेगा तथा व्यवहार और भ्रम में जो अन्तर है उसकी व्याख्या नहीं हो पाएगी। आत्मख्याति से बाह्य वस्तुओं की

---

३४९. सत्वे वासत्वेन च विचार सहत्वे सति सदसत्वे च यद्विचारं न सहते तदनिर्वाच्यम्। चित्सुत्री, पृ० ७९.

३५०. भामती एवं वेदांन्त कल्पतरूपरिमल, पृ० २३-२४, इष्टसिद्धि, पृ० ३९.

व्याख्या संभव नहीं है। अतः भ्रमकालीन वस्तुओं को अन्तर वस्तुएं भी नहीं कर सकते। स्मृति और अनुभव दो ज्ञान मानकर भी व्याख्या सम्भव नहीं है, कहा जा चुका है। अन्यत्र अर्थात् देशान्तरीय वस्तु के सामने उपस्थिति संभव नहीं है। अतः भ्रमस्थलीय वस्तु को अनिर्वचनीय वस्तु ही स्वीकार कर लेना चाहिए। अनिर्वचनीय वस्तु का अर्थ है-प्रतीति कालीन सत्ता। शुक्ति रजत की सत्ता तभी तक है जब तक कि शुक्ति विषयक अज्ञान बना हुआ है। शुक्ति विषयक ज्ञान होते ही तद् विषयक अज्ञान का विलय हो जाता इसलिए अज्ञानोत्पादक रजत का भी विलय हो जाता है, इसी को बाध कहते हैं। ज्ञान से अज्ञान का बाध हो जाता है और अज्ञान कार्य भी। अनिर्वाच्य का अर्थ है सद्रूप से, असद्रूप से जो निर्वाच्य न हो। सदसद्रूप से भी जिसका निर्वचन संभव नहीं, वही अनिर्वचनीय है। जो सद्विलक्षण, असद् विलक्षण और सदसद् विलक्षण है, वही अनिर्वचनीय हैं सद् ब्रह्म को कहा जाता है, क्योंकि अद्वैतवेदान्त में त्रिकालाबाध्य को सत् कहा जाता है शुक्ति रजत का शुक्तिज्ञान से बाध होता है। इसीलिए वह सद् विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीय हैं इस पर प्रतिपक्षी शंका कर सकते है कि अनिर्वचनीय का अर्थ क्या निरुक्ति विरहिता है। या निरुक्ति निमित्त विरहिता है, इसके उत्तर में चित्सुखाचार्य ने अनिर्वचनीयत्व का एक युक्ति संगत लक्षण प्रस्तुत किया है जिसका विचार सत्वरूप से असत्वरूप से तथा दोनों का कोटियों को मिलाकर के भी संभव न हो, वहीं अनिर्वचनीय है[३५१] इस लक्षण की अतिव्याप्ति या अव्याप्ति कहीं भी नहीं है। निरुक्तिविरहिता की आपत्ति भी समीचीन नहीं है, क्योंकि निरुक्ति के निमित्त ज्ञान अर्थादि के रहने पर भी सदसत्वादि प्रकारों से निरुक्ति संभव नहीं है, अतः अनिर्वाच्यत्व तो हैं ही। अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती ने भी ऐसा ही लक्षण प्रस्तुत किया है[३५२]।

"ज्ञानबाध्यत्व"[३५३] भी अनिर्वाच्यत्व का लक्षण बनता है। क्योंकि अनिर्वचनीय अविद्या एवं तत्कार्य का ज्ञान द्वारा बाध होता है शुक्तिरजतादि भ्रमस्थल में भी शुक्ति विषयक ज्ञान से रजत का बाध होता है। अद्वैतवेदान्ती अनिर्वाच्यत्व में "मित्येवरजतमाभात्" इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। शुक्ति में रजत

---

३५१. प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्। गाहते तदनिर्वाच्यमाहुः वेदान्तवेदिनः। तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ७९.

३५२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ६२.

३५३. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ७८.

मिथ्या इसलिए है, क्योंकि रजत भ्रम काल में भी व्यावहारिक रजत का त्रैकालिक अभाव होता है। आचार्य चित्सुख ने अनिर्वाच्यत्व में अनुमान प्रमाण भी प्रस्तुत किया है। "विवादास्पदीय भूत रजत अनिर्वचनीय है, बाध्य होने से, जो बाध्य नहीं है, वह अनिर्वाच्य भी नहीं, जैसे आत्मा" आत्मा अनिर्वाच्य भी नहीं, वाध्य भी नहीं, शुक्ति रजत बाध्य है, अतः अनिर्वाच्य भी होगा[३५४]।

इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती अनिर्वचनीय ख्याति द्वारा भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु को स्वीकार करके अध्यास या भ्रम की व्याख्या देते हैं। अध्यास की सुसंगत व्याख्या इसी अनिर्वचनीयख्याति से ही संभव है। इसी से जगत् सृष्टि की व्याख्या समीचीन हो जाती है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार जगत् सृष्टि भी अनिर्वचनीय ही है।

आचार्य शंकर ने जगत् संरचना के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह दृश्यमान् जगत् एक व्यवस्था में क्रमबद्ध है। शंकर की इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने मिश्रित व्याख्या करते हुए कहा है कि" जिस प्रकार प्राणधारियों की श्रृंखला में जो ऊपर मनुष्य से लेकर नीचे घास की पत्ती तक में क्रमशः ज्ञान तथा शक्ति आदि गुण कम होते देखे जा सकते हैं, इसी प्रकार ऊपर की श्रेणी में नीचे की ओर मनुष्य से लेकर ऊपर हिरण्यगर्भ की ओर क्रमशः ज्ञान तथा शक्ति इत्यादि की बढ़ती हुई अभिव्यक्ति देखी जाती है[३५५]। हम व्यावहारिक जगत् में इस प्रकार का भेद कर सकते हैं। १. ईश्वर जो कर्मों के फल का प्रदाता है: २. प्रकृति का विस्तार, अर्थात् नाम रूप प्रपञ्च जगत् जो कर्मफल का रंगमंच है और ३. जीवात्माओं का अनेकत्व, जो व्यक्तित्व के प्रतिबन्धों में विभक्त है और जो प्रत्येक नये जन्म में विगत जन्मों में किये गए कर्मों का फल भोगता है। जगत् का अनेकत्व दो भिन्न भिन्न अवयवों से उत्पन्न होता है, अर्थात् फलों के उपभोक्ता तथा भोग्य विषयों से इनमें से एक इस जगत् रूपी नाट्यशाला में नाटक के पात्र है और दूसरा रंगमंच है। इस भौतिक जगत् की संज्ञा है: क्षेत्र क्योंकि यह एक ऐसा वायुमण्डल है जहाँ कि जीवात्माएं कर्म कर सकती हैं एवं अपनी कामनाओं की पूर्ति कर सकती है तथा अपने-अपने

---

३५४. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ८१-८२.

३५५. यथा हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादस्तिम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धाः परेण-परेण भूयान् भवन् दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याभिव्यक्तिरपि परेण-परेण भूयसी भवति। शांकर भाष्य २:३, ३०/ १:१, १.

पूर्व कर्मों के फलों का उपभोग भी कर सकती हैं।[३५६] यह जड़ अंगहीन प्रकृति है जिसमें पाँच तत्त्व है। ऐन्द्रिक प्रकृति में शरीर आते हैं जिनके अन्दर आत्माएं जो तत्त्वों में समाविष्ट होकर वनस्पति, पशु जगत्, मनुष्य तथा देवता आदि योनियों में भ्रमण करती तथा निवास करती है।[३५७] इस संसार रूप जगत् में प्राणियों के नानाविध संघ पर जिनके जीवन के भी नानाविध प्रकार है तथा भिन्न-भिन्न लोक है जो प्राणियों के अपने-अपने अनुभव के अनुकूल होने से आवश्यक हैं इन प्राणियों की एक श्रेणीबद्ध परम्परा है, जिसमें निम्नतम श्रेणी में वे प्राणी हैं जिनके पुर्वजन्म के कर्मानुभव अत्यन्त सीमित है और उन्नततम देवता है जो अतीन्द्रिय लोक के निवासी है।[३५८]

विश्व का विकास एक व्यवस्था-विशेष के अनुसार ही होता है।[३५९] प्रकृति से जो अनात्म पदार्थ निष्ठता का तत्त्व है पहले आकाश उत्पन्न होता है जो देश और प्रकृति का पूर्ववर्ती है "सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से निकला है, जिसमें आकाश सबसे पूर्व आया और उसके अनन्तर अन्य तत्त्व एक-दूसरे के पश्चात् उचित क्रम से आए है।[३६०] आकाश जो एक है, अनन्त है, लघु और सूक्ष्म है, क्रिया रहित है तथा सर्वव्यापक है सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है।[३६१] इसका प्रयोग दोनों अर्थों में होता है, अर्थात् देश और एक अत्यधिक सूक्ष्म प्रकृति के अर्थों में, जिसने समस्त देश को व्याप्त किया हुआ है आकाश चाहे कितना ही सूक्ष्म द्रव्य क्यों न हो तो भी यह है उसी श्रेणी का ज़िस श्रेणी के द्रव्य, वायु अग्नि जल तथा पृथ्वी है। इस प्रकार शंकर बौद्धमत के विरुद्ध अपना मत प्रकट करते हैं कि आकाश एक अभावात्मक वस्तु है अर्थात् केवल मात्र बाधाओं के अभाव का नाम है।[३६२]

शंकर का मत है कि अभावात्मक परिणाम उसके भावात्मक स्वरूप का

---

३५६. फलोपभोगार्थम्.....सर्वप्राणिकर्मफलाश्रय: (शांकर भाष्य, मुण्डकोष० ३:१, १).
३५७. वैदिक देवता भी विश्वसम्बन्धी प्रक्रिया में आते हैं।
(शांकर भाष्य १:२, १७, १:३).
३५८. शांकर भाष्य १:३, १०; वृहदारण्यक उपनिषद् पर शांकर भाष्य १, ४, १०.
३५९. शांकर भाष्य २:१, २४-२५.
३६०. शांकर भाष्य २:३, ७.
३६१. शांकर भाष्य १:१, २२, १:३, ४१, छान्दोग्य उपनिषद् ३:१४, ३, ३: ८, १४.
३६२. आवरणभाव (शांकर भाष्य २:२, २२).

अन्त है आकाश से अन्य सूक्ष्म भूत ऊंचे चढ़ते हुए क्रम में उत्पन्न होते हैं। उपनिषदों के विवरण का अनुसरण करते हुए शंकर कहते हैं कि आकाश से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी चूँकि ये पाँच तत्त्व अपेक्षाकृत अपने परिवर्तित रूपों में अधिक स्थायी हैं उन्हें आलंकारिक भाषा में अमर तथा अविनश्वर कहा जाता है[३६३] आकाश का गुण है शब्द, वायु का गुण है संघात तथा दबाव प्रकाश का गुण है : उज्ज्वलता तथा उष्णता जल का गुण है स्वाद अथवा रस और पृथ्वी का गुण है गन्ध। गुणों का तत्त्वों के साथ वहीं सम्बन्ध है जो बीज का पौधे के साथ है शब्द तन्मात्रा अथवा शब्द का सार, आकाश को जन्म देता है जो अपनी ओर से शब्द के बाह्य रूप को उत्पन्न करता है। तन्मात्रा अथवा सारतत्त्व के अन्दर तत्त्व तथा उसका गुण दोनों समाविष्ट रहते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि तत्त्वों के अन्दर श्रेणी बद्ध परम्परा पाई जाती है और वह सब आकाश तन्मात्रा के अन्तर्हित प्रतीत होते हैं। समस्त जगत् आकाश अथवा शब्द से उत्पन्न होता है।

स्थूल प्रकृति से निर्मित जगत् अर्थात् महाभूत इन नानाविध सूक्ष्म भूतों के संयुक्त रूपों से मिलकर बना है[३६४] आकाश रूप स्थूल द्रव्य शब्दो को व्यक्त करता है, वायु शब्द स्पर्श तथा दबाव को व्यक्त करती है, अग्नि इन दोनों को तथा इनके अतिरिक्त प्रकाश तथा उष्णता को व्यक्त करती है, जल से स्वाद (रस) के गुण है तथा साथ ही अन्य गुण भी है, इसी प्रकार पृथ्वी में अन्य द्रव्यों के भी गुण है और अपना विशेष गुण है गन्ध। प्रत्येक पदार्थ में शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध के गुण है। जहाँ एक ओर प्रकृति के सूक्ष्म मूल तत्त्व है वे आकार जो सजातीय तथा निरन्तर रहने वाले हैं तथा जिनकी रचनावृत्ति में कोई प्रामाणिवकता नहीं है वहाँ दूसरी ओर स्थूल द्रव्य मिश्रित है यद्यपि उन्हें भी निरन्तर स्थायी तथा **पारमाण्विक** रचना से विहीन कहा जाता है।[३६५] स्थूल तत्त्व परिवर्तनों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं। प्रकृति निरन्तर अवस्था के परिवर्तन में से होकर गुजर रही है। परिवर्तन बाहर से भी आ सकते हैं। शंकर ने एक विश्वात्मक स्पन्दन रूप गति का वर्णन किया है। यह सब तत्व अचेतन है और स्वयं अपना विकास नहीं कर सकते। इन सबके अन्दर

---

३६३. छान्दोग्य उपनिषद् ४:३, १; वृहदारण्यक उप० १:५, २२.

३६४. वेदान्तसार एवं वाचस्पति मिश्र का मत देखें.

३६५. सर्वलोक परिस्पन्दनम्.

ईश्वर की अन्तर्यामिता कल्पित है।[३६६] यदि भिन्न-भिन्न तत्त्वों की क्रियाओं का कारण भिन्न-भिन्न वैदिक देवता कहे जाते हैं तो उससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि देवता भी ईश्वर ही के व्यापारों के प्रतीक रूप है।

प्रलय में सृष्टिरचना की व्यवस्था सर्वथा विपरीत दिशा में होती है।[३६७] अर्थात्, प्रलयावस्था में पृथ्वी पुनः जल में परिणत हो जाती है, जल अग्नि में, अग्नि वायु में तथा वायु आकाश में और आकाश पुनः ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है

मानसिक इन्द्रियों जैसे मन (अन्तःकरण) आदि की कल्पना शंकर ने भौतिक तत्त्वों के स्वभाव के सदृश ही की है। मानव देह का संगठन अन्य वस्तुओं के समान पृथ्वी जल तथा अग्नि इन तीन तत्त्वों से मिल कर बना है[३६८] मन अथवा अन्तःकरण प्राण अथवा जीवनप्रद वायु तथा वाणी क्रमशः पृथ्वी जल और अग्नि की अनुकूलता में है।[३६९] शंकर इस विषय से अभिज्ञ है कि वे कभी-कभी भौतिक तत्त्वों से प्रकार में भिन्न माने जाते हैं। तथा एक-दूसरे के आगे और पीछे उत्पन्न होते हैं हर हालत में वे तथा तत्त्व भी अपने-आप में निर्जीव है और लक्ष्य के प्रति साधनमात्र के रूप में ही उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय विहीन प्रकृति परार्थ है, अर्थात् एक ऐसे प्रयोजन को सिद्ध करती है जो इससे परे हैं।[३७०] इन्द्रियविहीन जगत् में स्वभाव की समानता है।[३७१]

सृष्टि की विचित्रता का कारण केवल ब्रह्म नहीं अथवा माया भी नहीं। अनन्त प्राणियों के कर्मसंस्कार ही उत्पाद्यमान संस्कार ही विचित्रता में हेतु है। जिस ब्रह्मशक्ति का कोई पारावार नहीं है और कोई भी निरूपण नहीं कर सकता। ऐसी शक्ति-विशेष अर्थात् माया की परमात्मा के जगत् रचना में सहायक होती है। अतः "निर्विशेष चैतन्य" जगत् जन्मादि का कारण नहीं है, किन्तु "माया विशिष्ट चैतन्य" जगत् जन्मादि का कारण है। उन दोनों सहकृत हो, परमेश्वर नाम

---

३६६. परमेश्वर एव तेन तेनात्मनाऽवतिष्ठमानोऽभिध्यायन्, स तं तं विकारं सृजति (शांकर भाष्य २:३, १३).
३६७. शांकर भाष्य २:३, १४.
३६८. छान्दोग्य उप० ६:२, २-३.
३६९. शांकर भाष्य २:४, २०, ३:१, २.१.
३७०. भगवद्गीता पर शांकर भाष्य १३:२२.
३७१. शांकर भाष्य, तैत्तिरीय उप० २:८.

रूपात्मक सम्पूर्ण प्रपंच से पहले बुद्धि में आकलन करता है। उस सत्य ने ईक्षण अर्थात् इच्छा की, कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक रूप से उत्पन्न होऊँ इस प्रकार इच्छापूर्वक उस सत् ने तेज की सृष्टि की उस तेज ने इच्छा की मैं बहुत रूप होऊँ नाना प्रकार से उत्पन्न होऊँ, इस प्रकार इच्छा पूर्वक उस तेज ने जल की सृष्टि की इसलिए तो आज भी जहाँ वहीं पुरुष शोक सन्ताप करता है, तो उसे पसीना आ जाता है उस समय वह उस तेज से ही जल की उत्पत्ति होती है[३७२] इसी प्रकार पुनः उस जल के रूप में स्थित सत् ने इच्छा की, कि "हम बहुत हो जायें, अनेक रूप से उत्पन्न हो जायें। इस प्रकार इच्छा पूर्वक उस जल ने अन्न की सृष्टि की। इसी से आज भी कहीं वर्षा होती है—वहाँ ही बहुत-सा अन्न उत्पन्न होता है। वह अन्न आदि जल से ही उत्पन्न होता है[३७३] इसी प्रकार उस परमेश्वर ने कामना की कि "मैं बहुत होऊँ और प्रजा उत्पन्न करूँ" इसलिए उसने विवेक रूपी तप किया और तप करने के बाद ही यह जो कुछ जगत् है, इन सबकी रचना उसने की। इसे रचकर वह परमेश्वर इसी में जीव भाव से प्रविष्ट हो गया। इस शरीर में अनुप्रवेश कर वह अबाधित स्वरूप परमेश्वर पृथिव्यादि मूर्त, आकाशादि अभूर्त, देश-काल से वस्तु परिच्छिन्न कहने योग्य और ऐसा न कहने योग्य आश्रय, अनाश्रय, चेतन अचेतन एवं व्यावहारिक दृष्टि से सत्य तथा असत्य रूप में यह जो कुछ, ये सब परमेश्वर ने अपनी कामना से ही उत्पन्न किया। आदि श्रुतियों में भी 'संकल्प' एवं 'कामना' के विषय में प्रमाण है

श्रुति में कहा है कि-उस परमेश्वर से प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई[३७४] इस प्रकार अपंचीकृत पंचमहाभूत उत्पन्न हुए, जिन्हें तन्मात्रा भी कहते हैं, इन पंचमहाभूतों में आकाश का गुण शब्द है। वायु के गुण-शब्द और स्पर्श है। तेज के गुण शब्द, स्पर्श और रूप है। जल के गुण शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस है एवं पृथिवी के गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध है ये पंचमहाभूत त्रिगुणात्मक माया के कार्य होने से त्रिगुण स्वरूप ही है। सत्त्व, रज तथा तम ये तीन गुण है।

---

३७२. तदेक्षत् बहुस्यां प्रयायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रयायेयेति तदपोऽसृजत्। (छा०उप० ६/२/३).

३७३. ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्यामप्रजायेमहीति। ता अन्नं असृजन्त तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठभन्नं भवत्यद्भ्य एवं तदध्यन्नाद्यं जायते। (छा०उप० ६/२/४).

३७४. सो कामयत बहुस्यां प्रजायेयेति, स तपोऽतप्यत, इदं सर्वमसृजम, यदिदं किंचतत् सृष्ट्वा। (तै० उ० २/१६).

सत्त्व गुण से युक्त अपंचीकृत पंचमहाभूतो के पृथक्-पृथक् अंश से क्रमश: श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, तथा घ्राण की उत्पत्ति होती है। अत: इन्हें पंचज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। इन्हीं अपंचीकृत पंच महाभूतों के मिले हुए सत्त्व, अंश से मन, बुद्धि चित्त तथा अहंकार उत्पन्न होते हैं। श्रोत्रादि पंचज्ञानेन्द्रियों के पाँच देवता है श्रोत्र के दिशा, त्वक् के वायु, चक्षु के सूर्य, जिह्वा के वरुण तथा घ्राण के अश्विनी कुमार देवता माने जाते हैं। सुबालोपनिषद् में नासिका की अभिमानिनी देवी पृथ्वी कही गयी है। फिर यहाँ अश्विनी कुमार कैसे कहा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है, परन्तु पृथिवी का अभिमानी देव ही अश्विनी रूप से अधिष्ठाता होने के कारण यहाँ कोई विरोध नहीं है।

वैसे मन आदि अन्त:करण की वृत्तियों में भी मन के चन्द्रमा, बुद्धि के ब्रह्मा चित्त के विष्णु तथा अहंकार के शंकर अभिमानी देव माने जाते हैं।

रजोगुण से युक्त अपंचीकृत पंचमहाभूतों के पृथक्-पृथक् अंश से वाक् हस्त (पाणि), पाद, वायु तथा उपस्थ अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई। इनके भी पाँच अभिमानी देवता है। वाक् के वह्नि हस्त के इन्द्र, गुदा के मृत्यु, पाद के वामन तथा उपस्थ के प्रजापति अभिमानी देवता है।[३७५]

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ सत्त्व गुण से उत्पन्न होने के कारण उनमें विषय प्रकाशन का सामर्थ्य रहता है। इनके द्वारा केवल कर्म ही होता है, किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। इसलिए इन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं। यदि कोई कहे कि हस्त और पाद से भी उष्णता और शीतलता का अनुभव तो होता है। उन्हीं का ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस अनुभव में त्वगिन्द्रिय उष्णता तथा शीतलता की ग्राहक है, न कि हस्त और पाद हस्तादि तो केवल ग्रहणादि व्यापार मात्र करते हैं।

रजोगुण युक्त अपंचीकृत पंचमहाभूतो के मिले हुए अंश से प्राण उत्पन्न हुआ। जिसके व्यापार भेद से पाँच नाम पड़ गये। १. प्राण, २. अपान, ३. व्यान, ४. समान और ५. उदान।

पाँच प्राणों में "प्राण" नासिका से लेकर नाभि पर्यन्त रहकर श्वास-प्रश्वास का कार्य करता है। वायु ने प्राण होकर नासिका छिद्र में प्रवेश किया।[३७६]

---

३७५. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश५ सम्भूत: आकाशाद्वायु: वायोरग्नि: अग्नेराप: अद्भ्य: पृथिवी। तै०उप० २/१.

३७६. वायु: प्राणोभृत्वा नासिके प्राविशत्। ऐ०उ० १/२/४.

ऊर्ध्वगामी होकर उत्क्रमण करने वाले वायु को 'उदान' कहते हैं। यह वायु कण्ठ स्थान में रहता है। अशित्, पीत, आदि अन्नादि का उर्ध्वगमन द्वारा बाहर निकालने का कार्य उदान वायु करता है। जिसे वमन कहते हैं। तथा उन एक सौ एक नाड़ियों में से सुषुम्ना की ऊर्ध्वगामिनी एक नाड़ी द्वारा ऊपर की ओर जाने वाला उदान वायु शास्त्रोक्त कर्म में देवादि पुण्यलोक को प्राप्त करता है। और शास्त्रनिषिद्ध पाप कर्म से तिर्यगादि पापमय लोक को ले जाता है, एवं पुण्य-पाप दोनों प्रकार के मिश्रित कर्मों द्वारा उसे मनुष्य लोक में ले जाता है।[३७७] यह श्रुति उदान के ऊर्ध्वगमन में प्रमाण है।

सारे शरीर में व्याप्त होकर शरीर के सम्पूर्ण अवयवों को प्रेरणा एवं बल देना "व्यान" वायु का कार्य है।

यह श्रुति प्राण के नासिका स्थान, प्रवेश में प्रमाण है। नाभि गुदा स्थान पर्यन्त "अपान" का स्थान है और अधोगमन अर्थात् मल-मूत्र का त्याग करना इसका कार्य है। मृत्यु अपान वायु होकर, नाभि में प्रविष्ट हुई[३७८] यह श्रुति इस विषय में प्रमाण है।

नाभिस्थान में रहकर यह "समान" वायु ही खाये-पीये हुए अन्न जल को शरीर में सर्वत्र समभाव से ले जाता है।[३७९] इस प्रकार "समान" वायु के कार्य में यह श्रुति प्रमाण है।

तमोगुण से युक्त अपंचीकृत पंचमहाभूतों से पंचीकृत पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है अग्नि, जल तथा पृथिवी इन तीनों देवताओं में से एक-एक देवता को त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ।[३८०] त्रिवृत्करण में एक-एक की प्रधानता और दो-दो की गौणता रहती है। यह त्रिवृत् करण पंचीकरण का उपलक्षण है

पंचीकरण करण प्रक्रिया इस प्रकार है। आकाशादि हर एक भूतों को समान दो-दो भाग कर के, फिर हर एक के प्रथम-प्रथम भाग को चार-चार समान भाग करके, अपने-अपने से भिन्न चारों भूतों के जो दूसरे भाग है, उनके साथ चतुर्थांश

---

३७७. अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्। प्र०उ० ३/७.

३७८. मृत्युरपानोभूत्वा नाभिं प्राविशत्। ऐ०उ० १/२/४.

३७९. मध्ये तु समान एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति। प्र०उ० ३/५.

३८०. तासां त्रिवृत्तं त्रिवृत्तमेकैकं करवाणीति। छा०उ० ६/३/२.

भाग को मिला देने से वे आकाशादि हर एक पंचीकृत हो जाते हैं।[३८१] इसी प्रकार आकाश के दो विभाग कर आधे भाग को सुरक्षित रखा और दूसरे आधे भाग का चार भाग कर वायु आदि में एक-एक भाग मिला दिया गया। वैसे ही वायु के भी अर्धभाग सुरक्षित रखकर आधे के चार भाग कर आकाशादि इतर भूतों में मिला दिया। इसी प्रकार अग्नि, जल तथा पृथिवी के भी दो-दो भाग करके एक भाग को सुरक्षित रखा और शेष दूसरे भागों के चार भाग कर अपने से भिन्न भूतों में एक-एक भाग मिला दिया। इस प्रकार सभी भूतों में आधे-आधे भाग अपने हैं और आधे आधे भाग स्वात्मक दूसरे-दूसरे भूतों के है। सभी में सभी भूतों के अंश होने से इन्हें पंचीकरण कहते हैं।

शब्द शंकित दोष की निवृत्ति करता है। पृथिवी आदि का त्रिवृत्करणत्व समान होने पर भी पृथिवी आदि के आधिक्य से यह पृथिवी है, यह जल है इत्यादि व्यवहार होता है[३८२]।

सूक्ष्म शरीर को माने बिना परलोक का निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा व्यापक है। उसमें गमनागमन संभव नहीं है। स्थूल शरीर तो मरने के बाद यहीं पड़ा रहता है अतः परलोक में उसका गमनागमन मान नहीं सकते। इसलिए परलोक यात्रा निर्वाहक सूक्ष्म-शरीर को माना है। पहले अन्तः करण के चार भेद बतलाये गये हैं, उनमें अलंकार तथा चित्त का मन बुद्धि में अन्तर्भाव कर देने से उसके दो ही भेद मानकर सूक्ष्म शरीर सत्रह (१७) तत्त्वों का कहा गया है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच प्राण इनके तथा मन, बुद्धि के सहित सत्रह अवयवों से युक्त सूक्ष्मशरीर होता है। उसी को लिंगशरीर भी कहते हैं[३८३]। सूक्ष्मशरीर दो प्रकार का माना गया है एक समष्टि और दूसरा व्यष्टि रूप। ईश्वर समष्टिरूप है और जीव व्यष्टिरूप है। स्वामी विद्यारण्य 'पंचदशी' में कहते हैं कि "हिरण्यगर्भ रूप ईश्वर सम्पूर्ण तेजसों को अपने स्वरूप से अभिन्न करके जानने के कारण "समष्टि" रूप है, और उस-उस ईश्वर से भिन्न जीव तो

---

३८१. द्विधा विधाय चैकेकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। सर्वस्वेतरद्वितीयांशेर्योजनात्पंच-पंच ते। पं० २/१.

३८२. वैशेष्यात्तुतद्धादस्तद्वादः। ब्र०सू० २+३/२२.

३८३. समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मवादात्म्यवेदनात्। तदभावोत्ततो न्ये तु वध्यन्ते कथ्यन्ते व्यष्टि संज्ञया। पं०द० १/२५.

तदात्म्यभाव के आभास से "व्यष्टि" नाम से कहे जाते हैं ब्रह्माण्ड व्यापी होने के कारण हिरण्यर्भ का महत्तत्त्व रूप सूक्ष्मशरीर बड़ा माना जाता है। एक-एक देहव्यापी होने से हम लोगों का छोटा माना जाता है। अतः हम लोगों का सूक्ष्म शरीर अलंकार रूप है।

अपंचीकृत पंचमहाभूतों से सूक्ष्म जगत् की सृष्टि बताई गयी है। अब पंचीकृत पंचमहाभूतों से स्थूल जगत् की उत्पत्ति बतायी जाती है। स्थूल जगत् में एक-एक ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चौदह भुवन है।

तमोगुण से युक्त पंचीकृत पंचमहाभूतों से भूमि, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, महः, जनः, तपः और सत्यं इन सात ऊर्ध्वलोकों की तथा अतल वितल, सुतल, तलातल रसातल, महातल और पाताल इन सात अधोलोको की। इनके समुदायरूप ब्रह्माण्ड की तथा उस ब्रह्माण्ड में जरायुज, अण्डज, स्वेदज आदि उद्भिज ऐसे चार प्रकार के स्थूल शरीरों की उत्पत्ति हुई है।

इनमें से उदरस्थ झिल्ली को जरायुज कहते हैं, और उससे उत्पन्न मनुष्य पश्वादि शरीर "जरायुज" कहे जाते हैं। अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्पादि शरीर को 'अण्डज' कहते हैं। स्वेद अर्थात् पसीना आदि से उत्पन्न होने वाले यूका, मच्छर आदि को 'स्वेदज' कहते हैं भूमि को फोड़ कर या दुर्भयकर उत्पन्न होने वाले वृक्षादि को उद्भिज शरीर कहते हैं। इनमें चौरासी लाख (८४०००००) योनियाँ हैं।

वृक्षादि २० लाख, जलचर ९ लाख, कृमि ११ लाख, पक्षी १० लाख, पशु ३० लाख, बानर ४ लाख, इन चौरासी ८४ लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद-मानव शरीर प्राप्त करके (आत्म कल्याणार्थ) कर्म करे।

ये सभी प्राणियों के कर्मफल भोगने के लिए आयतन है। वृक्षादि शरीर पाप कर्मों के फल भोगने के लिए आयतन है।[३८४]

उसमें परमेश्वर पंचतन्मात्रादि के सप्तदश अर्थात् १७ अवयवों से यानि तत्त्वों से युक्त सूक्ष्मशरीर की और हिरण्यगर्भ के स्थूलशरीर उत्पत्ति में साक्षात् कर्ता कहा गया है। अन्य सम्पूर्ण प्रपंच की उत्पत्ति में हिरण्यगर्भ द्वारा परमेश्वर को कारण कहा गया है। अब मैं इन तीनों देवताओं में इस जीवात्मा रूप से

३८४. स्थावरं विंशतिर्लक्षं, जलजं नव लक्षकम्, कृमेश्चरुद्रलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणः। वै० प०भा०, पृ० ३६.

अनुप्रवेश कर नाम रूप को व्यक्त करूँगा[३८५] यह श्रुति परमेश्वर के कारणता में प्रमाण है। ब्रह्मा, विष्णु महेश इन तीनों मूर्तियों से भिन्न हिरण्यगर्भ नामक प्रधान जीव है। इस विषय में भी "वह हिरण्यगर्भ ही प्रथमशरीरी और वहीं प्रथमपुरुष कहा जाता है। भूतों का आदि कर्ता ब्रह्म प्रथम उत्पन्न हुआ। हिरण्यगर्भ भूतों से पूर्व उत्पन्न हुआ।[३८५] यह श्रुति हिरण्यगर्भ के प्रधानता में प्रमाण है।

शंकर द्वारा विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान :–

विज्ञानवादी योगाचार के मत में क्षणिक विज्ञान से भिन्न बाहर के पदार्थ नहीं है, घट, पट, आदि विज्ञान के आकार विशेष है और आन्तरी है बाहर भ्रम से प्रतीत होते हैं। बुद्ध को केवल विज्ञान स्कन्धवाद ही अभिप्रेत था। इस विषय में धर्म कीर्ति ने भी कहा है–"देशाना लोकानाथना सत्त्वाशयवशानुगाः"। यद्यपि बाह्यार्थ के न होने से प्रमाण प्रमेय आदि व्यवहार अनुपपन्न है, तो भी विज्ञान ही कल्पित घट, पट आदि आकार रूप से प्रमेय है। वस्तु के आभास रूप से प्रमाण पल प्रमिति शक्ति स्वरूप से प्रमाण और शक्ति के आश्रय स्वरूप से प्रमाण और शक्ति के आश्रय रूप से प्रमाता है इस प्रकार भेद की कल्पना से व्यवहार हो जायेगा। बाह्यार्थ के अभाव में यह अनुमान है–"ज्ञेय ज्ञान से भिन्न नहीं है, क्योंकि उससे भिन्न उसका असम्भव है: जैसे नरशृङ्ग।[३८६] विज्ञानवादी=बाह्यार्थवादी बौद्ध मत का खण्डन करते हुए बाह्यार्थ के असम्भव का विवरण करते हैं।

यदि बाह्यार्थ परमाणु रूप हो तो उनके अतीन्द्रिय होने से एक स्थूल स्तम्भ है ऐसा ज्ञान नहीं होगा और परमाणुओं का समूह स्तम्भ तो बाहर असत् है उसकी प्रतीति कैसे होगी। परन्तु बाह्यार्थ परमाणु अथवा अवयवी न होने पर भी जाति आदि होगे। बाह्यार्थ-जाति, गुण और कर्म भी नहीं है, क्योंकि ये धर्म से अभिन्न है अथवा अत्यन्त भिन्न? यदि अभिन्न हैं तो धर्मी के समान धर्म-धर्मीभाव नहीं होगा। उसी प्रकार अत्यन्त भिन्न होने पर अन्यधर्मी के समान धर्म-धर्मी-भाव नहीं होगा। इसमें भेदाभेद मानना भी युक्त नहीं है। क्योंकि परस्पर विरुद्ध है। इसलिए जाति आदि बाह्यार्थ नहीं है। सहोपलम्भ के नियम से नील और उसके ज्ञान का

३८५. हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणि।। छा०उ० ६/३/२.

३८६. स वे शरीरी प्रथमः स वे पुरुष उच्यते। आदि कर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत।। हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे............भूतस्य।। यजु० १३/४; ऋग्वे० १०/१२०/१.

अभेद है और भेद भ्रान्ति विज्ञानों से देखा जाता है, जैसा एक चन्द्रमा में[३८७]। जाग्रत विज्ञान बाह्य अर्थ के आलम्बन से नहीं होता, क्योंकि यह विज्ञान है जैसे स्वप्नादि विज्ञान[३८८] इसमें भी वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत में स्वीकृत बाह्यअर्थ का अभाव है।

यदि बाह्यार्थ अत्यन्त असत् हो तो उसकी नरविषाण के समान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से कदापि उपलब्धि नहीं होगी, और दृष्टान्त के अभाव होने से 'बहिर्वत्' शब्द का प्रयोग भी नहीं होगा। इसलिए ज्ञान और ज्ञेय के अबाधित भेद के अनुभव से बहिर्वत् (बाहर के समान) ऐसा प्रयोग न कर 'बहिरेव' बाहर ही पदार्थ है ऐसा प्रयोग करना चाहिए।

उपालम्भ नियम भी ज्ञान और विषय के अभेद का साधक नहीं है, क्योंकि नेत्र से रूप प्रत्यक्ष के साथ प्रकाश भी उपलब्ध होता है। इससे रूप और आलोक के सहोपलम्भ से दोनों का अभेद नहीं हो जाता है, इसलिए प्रकरण में निमित्त-नैमित्तिक भाव से सहोपलम्भ समझना चाहिए। अतःज्ञान और अर्थ का स्पष्ट भेद है।

विज्ञानवादी ने विज्ञान को क्षणिक और चैतन्य मानकर यह भी स्वीकार किया है कि ज्ञान अपने को विषयी करता है। परन्तु एक में विषय विषयी भाव विरुद्ध है। पूर्व विज्ञान अपनी उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाता है। दूसरे विज्ञान के उत्पत्ति क्षण में पूर्व नहीं हैं, तो वह विषय कैसे, और विषय में विना द्वितीय विज्ञान विषयी कैसे होगा। यदि पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञान का विषय होने के लिए एक क्षण अधिक ठहरेगा तो क्षणिकत्व की हानि होगी। इस प्रकार विज्ञान भेद की प्रतिज्ञा भी युक्त नहीं है। क्योंकि भेद के अनुयोगी और प्रतियोगी एक का दूसरे से ग्रहण न होने के कारण भेद का ग्रहण कैसे होगा? इसलिए अनेक भेद का ग्राहक उनसे भिन्न स्थायी आत्मा मानना चाहिए।

इस प्रकार पक्ष, साध्य हेतु और दृष्टान्त में भेद न होने से "यह क्षणिक असत् है" यह प्रतिज्ञा उचित नहीं है। अन्य से व्यावृत्त व्यक्तिमात्र स्वलक्षण,

---

३८७. ज़ेयं ज्ञानातिरेकेणासत् तदतिरेकेणाऽसम्भवात् नरशृङ्गवत्।
ब्र०सू०, शां०भा०, पृ० ४४६.

३८८. सहोपलम्भ नियमादभेदो नलितद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानेर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।।
ब्र०सू०, शां०भा०, पृ० ४४६.

अनेकों में अनुगत अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य, यथा गोत्व, यह भी अनेक ज्ञान साध्य है। पूर्वविज्ञान अपने संस्कारों को उत्तरज्ञान में संक्रमण करता है।, जैसे-कस्तूरी की गन्ध कपड़े की एक सतह से दूसरी सतह में जाती है। पूर्व नीलज्ञान वासक और उत्तरनीलज्ञान वास्य हैं यह प्रतिज्ञा उचित नहीं है, क्योंकि उनके भेद का ज्ञाता नहीं हैं। अविद्या संसर्ग से घट आदि सत् और शशविषाण अर्थात् शशशृंग आदि असत्। यह सदसद् धर्म प्रतिज्ञा और अज्ञान से बन्ध और ज्ञान से मोक्ष इत्यादि तुम्हारे शास्त्र में प्रतिपादित प्रतिज्ञा बाधित हो जायेगी क्योंकि प्रत्येक प्रतिज्ञा अनेक ज्ञान साध्य हैं अनेक ज्ञान अनेक बाह्यअर्थ के बिना नहीं हो सकते। अतः प्रतिज्ञासिद्धि के लिए भेद पूर्वक ग्राह्यग्राहक भाव स्वीकार करना चाहिए, और विज्ञान के समान बाह्यार्थ को भी मानना चाहिए।

साक्षी तो स्वयं सिद्ध है, उसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। अतः अनवस्थादोष नहीं है। वृत्तिज्ञान जड़ और साक्षी चेतन होने से दोनों में वैषम्य होने के कारण समता दोष भी नहीं है। सिद्धान्ती के कहने का अभिप्राय यह है-बौद्धों से अभीप्सित विज्ञान अन्तः करण की वृत्ति विशेष ही है। अतः वह जड़ और विनाशशील है।

यद्यपि सिद्धान्ती भी विज्ञान (आत्मा) से अतिरिक्त किसी बाह्यपदार्थ की पृथक् सत्ता नहीं मानते तो भी प्रत्यगभिन्न ब्रह्म साक्षात्कार के पूर्व व्यवहार दशा में उसकी व्यावहारिक सत्ता मानते हैं। इस प्रकार दोनों पक्षों में अन्तर है। स्वप्न और जाग्रत प्रत्ययों में यही वैधर्म्य है कि स्वप्न प्रत्यय बाधित होता है और जाग्रत-प्रत्यय बाधित नहीं होता। ऐसा तो तुम को भी स्वीकार करना होगा, अन्यथा स्वप्न-प्रत्यय में मिथ्यात्व निश्चय नहीं होगा। यदि जाग्रत-प्रत्यय भी स्वप्न-प्रत्यय के समान हो तो वह स्वप्न प्रत्यय का बाधक नहीं होगा। इसलिए बाध और अबाध रूप वैधर्म्य से स्वप्न-प्रत्यय के समान जाग्रत-प्रत्यय बाह्यार्थ के बिना नहीं हो सकता। यदि दोनों प्रत्यय बाह्य अर्थ के बिना है। यह स्वप्न है, यह जाग्रत" इस भेद का हेतु कौन हैं इससे तुम्हारे मत में बाध्य बाधक आदि सब व्यवहार लुप्त हो जायेगे। जैसे-अग्नि जल के द्रव्यत्व साधर्म्य से शीतल नहीं होती, वैसे प्रत्यक्षत्व के साधर्म्य से जाग्रत-प्रत्यय स्वप्न-प्रत्यय के समान निरालम्बन नहीं हो सकते।

बाह्यार्थ के विना भी ज्ञान वैचित्र्य वासना के वैचित्र्य से हो सकता है, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इस विषय पर कहा जाता है

वासनाओं का अस्तित्व उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि तुम्हारे मत में बाह्य अर्थ की उपलब्धि नहीं है। अर्थ की उपलब्धि से ही प्रत्येक अर्थ में अनेक प्रकार की वासनाएं उत्पन्न होती है। अर्थों के अनुपलभ्यमान होने पर विचित्र वासनाएँ किसी निमित्त से होगी। वासनाओं को अनादि मानने पर भी अन्धपरम्परा न्याय से व्यवहार लोपनीय अप्रतिष्ठा रूप अनवस्था ही होगी। इससे अभिप्राय की सिद्धि नहीं होगी। वासना निमित्तक ही यह ज्ञान समूह है अर्थ निमित्तक नहीं है। इस प्रकार बाह्य अर्थ का निषेध करने वाले ने जो अन्वयव्यतिरेक का उपन्यास किया है। ऐसा होने पर अर्थात् अर्थहीन निमित्तक वासना होने पर वे दोनों भी निरावृत्त हुए समझने चाहिए। कारण कि अर्थ की उपलब्धि के विना वासना नहीं हो सकती। परन्तु वासनाएं बिना अर्थ की भी उपलब्धि स्वीकार करती है, और अर्थ की उपलब्धि के बिना वासना स्वीकार नहीं की जाती। इससे यह अन्वयव्यतिरेक भी अर्थ का सद्‌भाव ही प्रतिष्ठापित करते हैं। अन्य भी वासनायें संस्कार विशेष है और संस्कार आश्रय के बिना नहीं हो सकते, क्योंकि व्यवहार में ऐसा देखा गया है। तुम्हारे मत में वासना का कोई आश्रय नहीं है, क्योंकि उसकी प्रमाण से उपलिब्ध नहीं है।

जो आलयविज्ञान की वासनाओं के आश्रय रूप से कल्पना की गयी है वह भी क्षणिक तत्व के स्वीकार से अनवस्थित स्वरूप होता हुआ प्रवृत्ति विज्ञान के समान वासनाओं का आश्रय नहीं हो सकता। तीनों काल से सम्बन्ध रखने वाला एक अन्वयी कूटस्थ अथवा सर्वार्थदर्शी के न होने पर देश, काल और निमित्त की अपेक्षा से वासना के अधीन स्मृति और प्रत्यभिज्ञा आदि व्यवहार नहीं हो सकता।

यदि आलयविज्ञान स्थिर स्वरूप हो तो क्षणिकत्व सिद्धान्त की हानि होगी और विज्ञानवाद में भी क्षणिकत्व सिद्धान्त समान होने से बाह्य अर्थवाद में क्षणिकत्व के अधीन ''उत्तरोत्पादे च पूर्व निरोधात्'' इत्यादि जो दोष उत्पन्न किये गए हैं उनका यहाँ भी अनुसन्धान करना चाहिए। इस प्रकार बाह्यार्थवादी पक्ष और विज्ञानवादी पक्ष ये दोनों वैज्ञानिक पक्ष भी निरावृत्त किये गए। शून्यवादी तो सर्व प्रमाण विरुद्ध है। इससे उसके निराकरण में आदर नहीं किया जाता है। सर्वप्रमाण सिद्ध इस लोक व्यवहार का कोई भिन्न तत्त्व स्वीकार बिना निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अपवाद के अभाव में उत्सर्ग प्रसिद्ध है।

बौद्ध के विज्ञानवाद में वेद को प्रमाण रूप से न मानने वाली प्रज्ञा समझनी

चाहिए। इस प्रकार बौद्ध का सिद्धान्त लोक और वेद के विरुद्ध होने के कारण भ्रान्ति मूलक है। इसलिए बौद्धों के सिद्धान्त का वेदान्त सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है।

भ्रमस्थल में विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए अद्वैतवेदान्त में स्पष्ट किया है कि जिसका जैसा अनुभव होता है वह पदार्थ वैसा ही है। उसका दूसरे रूप से होना तो किसी बलवान् बाधक के उपादान से ही सिद्ध होता है, यह बात दोनों वादियों को मान्य हैं किसी को पानी गर्म लगा तो यह उष्णता जल की नहीं है, अग्नि की ही है–यह सिद्ध होता है अन्वयव्यतिरेक से जल में शीतलता और अग्नि में उष्णता की सिद्धि होती है। जहाँ इस तरह का कोई बाधक न हो वहाँ तो अनुभव के अनुसार ही वस्तु का निर्णय करना चाहिए[३८९]।

'नेदं रजतम्' में जो रजत शब्द है उसे 'इदम्' के अर्थ से निषिद्ध कर दिया गया है। नञ् का अर्थ है निषेध। उसका सम्बन्ध इदं के साथ है रजत के साथ नहीं अर्थात् रजत का इदं भाव से कोई मतलब नहीं रहा। रजत है ही, परन्तु 'नेदम्' कहने से उसके बाहर दिखाने देने की बात रुक गई। इस तरह अर्थ से ही सिद्ध हुआ कि वह (रजत) आन्तरिक ज्ञान (विज्ञान) के रूप में अवस्थित है। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि 'इदम्' के रूप में निषेध हो जाने से 'नेदम्' के रूप में बहिर्जगत् से भी तो रजत के होने की व्यवस्था सिद्ध की जा सकती है, फिर आप इसे केवल संविद् या विज्ञान के आकार में ही कैसे मानते हैं।[३९०]

ऐसा इसलिए नहीं कहें क्योंकि 'नेदं' कहने से रजत को बाह्य–जगत् में व्यवस्थित करने के समय आपत्ति होगी कि रजत तो व्यवहित या दूर हो गया, वह अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) के रूप में नहीं माना जा सकता इसलिए उसे प्रत्यक्ष आन्तर रूप से विज्ञान ही मानना पड़ेगा। इसके लिए अनुमान का प्रयोग भी है:–

(१) विवादास्पद (प्रस्तुत रजत) विज्ञान के आकार में है (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि बाह्येन्द्रियों के सन्निकर्ष से रहित होकर यह प्रत्यक्ष है। (हेतु)

(३) जैसे विज्ञान होता है। (उदाहरण)

---

३८९. जाग्रद्विज्ञानं न बाह्यालम्बनं विज्ञानत्वात् स्वप्नादिविज्ञानवत्। ब्र०सू०, शां०भा०, पृ० ४४७.

३९०. यद्यथानुभूयते तत्तथा। अन्यथात्वं तु बलबद्बाधकोपनिपातादास्थीयत इत्युभय वादिसम्मत्मेऽर्थे:। सर्व दर्शन सं०, पृ० ७१८.

वेदान्ती इसका उत्तर देते हैं कि उक्त कथन असिद्ध है कारण यह है कि निम्न विकल्पों को यह सह नहीं सकता। यह जो बाधक ज्ञान है वह क्या सीधे ही ज्ञान के आकार का बोध कराता है या तात्पर्य के द्वारा। पहला विकल्प तो ग्राह्य नहीं हो सकता; क्योंकि 'यह रजत नहीं है। यह बाधक प्रतीति केवल रजत के भेद से ही सम्बन्ध रखती है। यदि उसे रजत के ज्ञान के अभेद (स्वरूप) के विषय में मानेंगे तो हमारे अनुभव के विरुद्ध होगा।[३९१]

यदि विज्ञानवादी कहे कि यह रजत नहीं है यह वाक्य जो रजत के पुरोवर्ती होने का निषेध करता है, वहीं ज्ञान के आकार का बोध कराता है तो हम कहेंगे कि यह व्यर्थ हैं बाधकज्ञान प्राप्त वस्तु का निषेध करता है। बाधकज्ञान की सत्ता वहीं सामने के स्थान पर है अत: प्रतिषेध की सिद्धि हो जाती है। यहाँ पर दोष के कारण कल्पित प्रतीयमान रजत प्राप्त है। उसका प्रतिषेध समक्ष ही है। अत: इस प्रतिषेध के वास्तविक होने के कारण आन्तर रजत की सिद्धि तात्पर्य से नहीं होती। सन्निहित न होने पर भी नहीं होती है।[३९२]

रजत को आप विज्ञानवादियों ने बहिरिन्द्रिय के सन्निकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष है ऐसा हेतु देकर विज्ञानाकार सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह सव्यभिचार हेतु है, क्योंकि इसकी वृत्ति व्यभिचार पूर्वक उस भावात्मक अज्ञान में है जो विज्ञानाकार नहीं है, संसार का मूलकारण होने से बाहर अवस्थित है तथा बाह्येन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना भी "मैं अज्ञ हूँ" के रूप में जिसका प्रत्यक्ष होता है। ऊपर के विज्ञानवादियों के अनुमान के साध्य-विज्ञानाकारत्व था उसका अभाव भावात्मक अज्ञान में है। उक्त अनुमान के हेतु की वृत्ति इसमें भी है। साध्याभाव में वृत्ति रहने से हेतु सव्यभिचार है।[३९३]

अद्वैतवेदान्त में माध्यमिक बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि रजत आदि के विभ्रम का आधार शुक्तिका ही असत् है क्योंकि माध्यमिक के

---

३९१. नेदं रजतमिति निषिद्धेदं भावं रजतमर्थादान्तरज्ञानरूपमवतिष्ठते। न चेदन्तया निषेधे सति अनिदन्तया च बहिरपि व्यवस्थोपपत्ते कुतः संविदाकारतेति वाच्यम्।। वही, पृ० ७१८.

३९२. नेदं रजतमिति प्रत्ययस्य रजतविवेकमात्रगोचरस्य ज्ञानाभेदगोचरतायामनुभवविरोधात्। सर्व द० सं०, पृ० ७७९.

३९३. नेदं रजतमिति रजतस्य पुरोवर्तित्वप्रतिषेधो ज्ञानाकारतां कल्पयतीति चेत् तदेतद्वार्तम् सर्व दर्शनसं०, पृ० ७१९.

अनुसार समस्त पदार्थ शून्य है इसलिए शुक्तिका भी असत् ही है इसका उत्तर देते हुए अद्वैतवेदान्त में कहा है कि एक तो असत् अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) में प्रतीत नहीं हो सकता है। जबकि शुक्तिका में रजत का भ्रम प्रतीत होता है। दूसरी उक्ति यह है कि शून्यवादियों के भ्रम के आधार पर जो रजत ग्रहण प्रवृत्ति होती है वह नहीं हो सकेंगी। यदि माध्यमिक यह कहें कि वासना असत् के प्रकाशन की शक्ति रखती है तो उनका यह कहना अनुचित होगा। क्योंकि असत् वस्तु घटादि रूप शक्य कार्य का कारण नहीं बन सकता है। दूसरी बात यह है कि शक्यपदार्थ को कारण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। सत् का ही किसी पर आरोप होता है। असत् का नहीं।[३९४]

आचार निरूपण

शंकराचार्य के अनुसार जीवात्मा का अन्तिम उद्देश्य अपने अज्ञान एवं अन्धकार को दूर करके अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है। जैसा कि अद्वैतवेदान्त में सत्ता के मुख्य दो स्तर माने जाते हैं। पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक स्तर पर तो केवल ब्रह्म की सत्ता है जो अपने आप में सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह स्वयं मोक्ष स्वरूप है, यही परमज्ञान है। यही मनुष्य का चरम लक्ष्य हैं अत: यह शुभ ही शुभ है इस स्तर पर तो कहीं अशुभ है ही नहीं, अत: उसके स्रोत का भी प्रश्न नहीं उठता। व्यावहारिक स्तर पर यह सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् आता है। इसी स्तर पर मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म करता है। यह जगत् ही मनुष्य का बन्धन है अद्वैतवेदान्त में यह सम्पूर्ण विश्व एक भ्रम है तथा मिथ्या प्रतीति है। जिसका कारण माया अविद्या या अज्ञान है और अज्ञान ही बन्धन का कारण है, अत: इसे अशुभ का मूल स्रोत कहा जा सकता है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि माया अथवा अज्ञान कहाँ से आया इस विषय में अद्वैतवेदान्त का कहना है कि यह अनादि है। यह तत्त्व ज्ञान द्वारा समाप्त किया जा सकता है। अत: इनकी दृष्टि में ज्ञान ही शुभ है। ज्ञान स्वयं मोक्ष स्वरूप या ब्रह्म रूप है अत: इससे पृथक् इस का कोई स्रोत नहीं माना जा सकता। पारमार्थिक दृष्टि से यद्यपि अज्ञान ही सम्पूर्ण बुराई का स्रोत हैं परन्तु व्यावहारिक स्तर पर भवचक्र में फंसे हुए मनुष्य के लिए उसका कर्म भी उसके शुभ-अशुभ का स्रोत माना जा सकता है। क्योंकि उसको जो कुछ लौकिक सुख प्राप्त होता है। वह उसके

३९४. प्रसक्तप्रतिषेधात्मनो बाधकावबोधस्य तत्रैव सत्त्वात्प्रतिषेधोपपत्तेः। विज्ञानाकारत्व-साधनमप्यविज्ञानाकारे बहिष्ठे साक्षिप्रत्यक्षे भाव रूपा ज्ञाने वर्तत इति सव्यभिचारः। सर्वदर्शन सं०, पृ० ७१९.

अपने कर्मों के कारण ही प्राप्त होता है। अद्वैतवेदान्त में जीवात्मा को कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है। अन्ततः वह स्वयं अपने शुभ-अशुभ कर्मों का निर्माता है। इसकी अपनी इच्छा ही उसके अपने शुभ और अशुभ का मूल स्रोत कही जा सकती है।

आधुनिक युग में नीतिशास्त्र की समस्या को लेकर अनेकवादों का विकास हुआ है। उन नीति सम्बन्धी समस्याओं के समाधान को ढूंढने का प्रयास करते हुए इस पर विचार किया जाता है कि मनुष्य किसी भी संकल्प को चुनने में स्वतन्त्र है या नहीं अर्थात् शुभ-अशुभ कर्म करने में मनुष्य स्वतन्त्र है तो वह अपना विकास भी कर सकता है यदि यह उक्त कर्म करने में परतन्त्र है तो उसका विकास उस पर आधारित नहीं होता। आचार्य रामानुज और पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा आदि इस सिद्धान्त के पक्षपाती हैं कि जीव कर्म में पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है, जो कुछ है वह ईश्वर की कृपा पर अवलम्बित है।

आचार्य शंकर यहाँ पर भी यथार्थवादी दृष्टि कोण अपनाते हैं, उनका कथन है कि जीव शुभ और अशुभ कार्यों के करने में स्वतन्त्र है[३९५] क्योंकि बिना स्वतन्त्रता के उसका विकास कैसे संभव हो सकता है। यही मत उपनिषदों का भी है क्योंकि जीवात्मा अविद्या आदि को छोड़कर अपना विकास कर लेता है। अतः संकल्पस्वातन्त्र्य पर उपनिषदों में अलग से तो विचार नहीं किया परन्तु यह भी कही नहीं कहा है कि वह परतन्त्र है। कुछ उपनिषदों के ऐसे स्थल हैं जो उसके संकल्प स्वातन्त्र्य को सिद्ध करते हैं जैसे वृहदारष्यक उपनिषद् में आया है कि मानव कामसंकल्प और सभीकरण मात्र है, जैसी उसकी कामना होगी, वैसे ही उसके संकल्प होंगे, जैसे उसके संकल्प होंगे वैसे ही उसके कर्म होंगे। ये कामसंकल्पं और कर्मफल के सम्बन्ध का बड़ा समीचीन विवेचन है।

कठोपनिषद् में नचिकेता को यमाचार्य दो मार्ग श्रेय और प्रेय बताता है। उनमें से नचिकेता श्रेय मार्ग का अनुसरण करता है, जबकि वह श्रेय को अपनाये या प्रेय को अपनाये। इसी प्रकार ईशोपनिषद् में विद्या और अविद्या एवं सम्भूति इन सभी विकल्पों में से उसे चुनने की स्वतन्त्रता है[३९६]। कुछ विद्वान् संकल्प स्वातन्त्र्य का अभिप्राय यह समझते हैं कि कामचारी होना, इसलिए वह[३९७] कहते

३९५. असतोऽपरोक्षप्रतिभासायोग्यत्वात् तदुपादित्सया प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च। सर्व दर्शन सं०-७१५.
३९६. कर्तुं न कर्तुमन्यथा कर्तुम्। शंकर०.
३९७. कठोपनिषद् २:१, २.

हैं कि कामचारी सभी उपनिषदों में माना है, जबकि वह आत्मतत्त्व को समझ लेता है[३९८]। सभी संकल्पों की स्वतन्त्रता उसे उपलब्ध होती है, परन्तु यह मत उनका इसलिए समीचीन प्रतीत नहीं होता कि नीतिशास्त्र की यह एक बहुत बड़ी ज्वलन्त समस्या है कि वह जीवात्मा किसी ईश्वर या प्रारब्ध आदि में जकड़ा हुआ या, वह करने, न करने, शुभ करने एवं अशुभ करने में स्वतन्त्र है।

यदि कर्मस्वातन्त्र्य सिद्धान्त को न माना जाये तो हमारे सम्मुख नियतिवादी का ही सिद्धान्त शेष रह जाता है। जिसके मानने से मनुष्यों में पुरुषार्थहीनता का आना स्वाभाविक ही है। जबकि सांख्यदर्शन में मोक्ष की प्राप्ति पुरुषार्थ से ही मानी गई हैं उपनिषदों में जो तप का वर्णन हुआ है वह पुरुषार्थ का ही दूसरा नाम है। इसलिए केनोपनिषद् ब्रह्मज्ञान की प्रतिष्ठा का आधार या स्तम्भ उसकी नीव तीन अर्थात् तप, दम और कर्म मानते हैं[३९९] शारीरिक नियन्त्रण को तप कहते हैं। तपरूपी कर्मों के द्वारा हम अपनी इन्द्रियों के मल को दूर करते हैं मानसिक नियन्त्रण को दम कहा जाता है। इन दोनों का क्रियात्मक रूप हम कर्म के द्वारा ही दे सकते हैं। यहाँ स्पष्ट कहा है कि यदि मनुष्य चाहता है कि वह अपना विकास करके ब्रह्म को प्राप्त करना चाहे तो उसे आलसी-प्रमादी की तरह अपनी नियति पर या योग्यता पर अवलम्बित नहीं रहना चाहिए अपितु उसकी प्राप्ति के लिए उसे तप, दम कर्म करना आरम्भ कर देना चाहिए। इसलिए ही उपनिषदों का सिद्धान्त प्रसिद्ध रूप में माना जाता है कि हमें चरैवेति-चरैवेति अर्थात् चलते रहना है। कर्म और ज्ञान को प्राप्त करने के लिए कर्म करते रहने का आदेश दिया था।[४००] भाग्यवाद या नियतिवाद की उपनिषदों में गंध भी प्रतीत नहीं होती हैं। दर्शनों में भी कर्म स्वातन्त्र्य के आचारशास्त्र के चिन्तकों के सम्मुख यह एक समस्या आती है कि आचारशास्त्र के सिद्धान्तों का आधार क्या हो? क्योंकि रूढ़ियाँ, सामाजिक परम्पराये और राजनैतिक नियम आदि, उसके आधार माने जाते हैं। अब यह विचारना अपेक्षित है कि उपनिषद् किसको अपना आधार मानती है। उपनिषदों में उपर्युक्त आधारों का वर्णन प्राय: मिलता है, उपनिषद के नीतिशास्त्र का आधार निम्नलिखित प्रतीत होता है-

३९८. ईशोपनिषद् ९:१०, ११, १२.
३९९. किन्तु उसकी स्वतन्त्रता डोरी में बधे हुए पक्षी की स्वतन्त्रता से अधिक नहीं। उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण। लेखक रामचन्द्र रानाडे, पृ० २०८, हिन्दी संस्करण.
४००. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टि:। केन० उप० २.५.

१. आत्मा अभौतिक है, असृष्ट और अमर है।

२: यह आत्मा चेतन है इसमें ज्ञान संवेदन और प्रयत्न होते हैं।

३. आत्मा स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता इसकी मौलिक सम्पत्ति है।[४०१] परन्तु इसकी स्वतन्त्रता कर्म करने में है फल भोगने में नहीं है।

४. आत्मा असीमित नहीं है, इसका कार्य ज्ञानकार्य सब सीमित है इसकी उन्नति और अवनति दोनों सम्भव है। इसका उन्नति के लिए प्रयास ब्रह्म की प्राप्ति है। यह उस को कर पाता है तो ठीक है नहीं तो इसकी सबसे बड़ी हानि है।

५. मनुष्य को उच्चतम उद्देश्य तक जाना है अत: उसके उत्तरदायित्व का क्षेत्र बहुत बड़ा है। अनेक विकल्पों में किसी एक को चुनना है। चुनाव के लिए आचार शास्त्र सहायक है।

६. आत्मा सक्रिय तथा विकास शील है। इसी प्रकार संसार भी विकासशील है, संसार के साथ अपनी गति का मिलना यही नैतिकता सिखाती है।

उपनिषदों में स्वन्त्रवाद और उद्देश्यवाद दोनों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। उद्देश्यवादी सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर सम्पूर्ण संसार का केन्द्र बिन्दु है। वह अपने लिए संसार रचता है। इसे उद्देश्यवाद के अनुसार आत्मा सर्वथा परतन्त्र हो जाती है। अथवा बन्धन में रहता है। पूर्ण परतन्त्रतावाद भी उचित नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार ईश्वर जीव को रचता है और कृपा करके जीवों को स्वतन्त्रता प्रदान करता है प्रथम सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा को अपना मार्ग निर्वाचन के लिए स्वतन्त्रता नहीं रहती है। जब जीव कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है, कर्मों का फल भोगने में बाध्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो जैसा करता है वैसा भोगता है यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। यदि जीवात्मा अपने कार्यों के चुनने में स्वतन्त्र नहीं अर्थात् उससे दूसरा ही कर्म कराता है। तो वह फल भी करने वाला भोगेगा। अत: इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर स्वतन्त्रता प्रदान करता है, इससे स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं रह जाता। उपनिषदों का सिद्धान्त दोनों उक्त मतों से भिन्न प्रतीत होता है पीछे ब्रह्म विषयक अध्याय में हम देख चुके हैं कि ईश्वर संसार का निमित्त कारण अवश्य है, परन्तु वह अपने स्वार्थ के लिए सृष्टि नहीं रचता है यदि वह अपने स्वार्थ के लिए सृष्टि रचता है तो ऐसे ईश्वर का होना व्यर्थ हो जायेगा। भौतिकवाद और पूर्ण परतन्त्रतावाद जिसे अध्यात्मवाद भी कहा जाता है, दोनों ही अतिमत है। अत: उपनिषदों में केवल एक वर्ग उपलब्ध नहीं होता है।

---

४०१. स्वतन्त्र: कर्त्ता। अष्टाध्यायी.

नीतिशास्त्र का आदर्श है अपने आपको जानना अर्थात् हम अशुभ से शुभ की ओर शुभ से शुभतर की ओर अग्रसर होते हैं। उपनिषद् यही कहती हैं कि हमें अपने काम को पहचानना चाहिए। वास्तव में हमारे अन्दर जो पाश्विक वृत्तियाँ, अहं की अभिलाषायें और महत्वाकांक्षी होना आदि है। ये हमारे जीवन के निम्न स्तर हैं। आत्मा के विकास के लिए एवं परम सत्ता प्राप्त करने के लिए जो रुकावटें और विरोधी प्रभाव है उन्हें दबाना होगा। उपनिषदों का नैतिक जीवन तर्क संगत एवं विचारशील है नैतिक जीवन केवल विषय उपभोग का जीवन नहीं है। आत्मा को रथ में बैठने वाला स्वामी करके जानो तथा मन रास (लगाम) की जगह है। इन्द्रियाँ घोड़ों की जगह है और सांसारिक पदार्थ मार्ग हैं। बुद्धिमान् लोग इन्द्रियो एवं मन से संयुक्त आत्मा को ही भोक्ता कहकर पुकारते हैं। किन्तु जो व्यक्ति दुर्बल और अज्ञानी हैं, उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में न रहकर नटखट घोड़ो की तरह रथी के वश से बाहर होकर इधर-उधर निरुद्देश्य रूप में भटकती हैं इसके विरोध में जो ज्ञानी है और जो मानसिक बल से युक्त है, उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती है।[४०२] जो अज्ञानी एवं अपवित्र व्यक्ति है वह परमशुभ अर्थात् अमरता को प्राप्त नहीं कर सकता है। मनु ने भी तो यही कहा था कि आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं।[४०३] उपनिषद् यह मानती है कि मनुष्य जन्म मृत्यु को प्राप्त कर जन्म मृत्यु के चक्र से विपरीत हो जाता है वह मृत्यु को पारकर जन्म मृत्यु के चक्र से छूटकर मुक्ति से अर्थात् परम शुभ को प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है अर्थात् जैसा उसका आचरण है वह वैसा ही होता है क्योंकि कर्मफल का सिद्धान्त यह बतलाता है कि अच्छा आचरण करने वाला अच्छा होता है। पाप करने वाला पापात्मा होगा। उपनिषद् इसी कर्म फल के अनुसार आत्मा की अच्छी और बुरी गति भी मानती है। मैं तुम्हे सनातन ज्ञान देता हूँ कि तुम यह जान पाओगें, मरने के बाद आत्मा की गति होती है।[४०४] कोई ये शरीरधारी लोग अपने कर्म के अनुसार दूसरा शरीर प्राप्त करने हेतु दूसरी योनि में प्रवेश करते हैं और अन्य दूसरा कोई अखण्ड ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।[४०५] पुण्य कर्मों से उत्तम लोक मिलते हैं

४०२. कठोपनिषद् ३.३, ४, ५, ६, ७, ८.
४०३. आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः। मनु०
४०४. कठोपनिषद् २.५, ६.
४०५. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः। कठ० २.५.
न साम्परायः प्रतिभातिबालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। कठ० २.६.
एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। वही, २.८.

पाप कर्मों से नीच लोक मिलते हैं[४०६] जो तपस्वी और पवित्र आचारण वाले हैं, जो सत्य पर आरूढ़ है उन्हीं के लिए शुद्ध लोक है। जिसमें कुटिलता, असत्य और धोखा नहीं है।[४०७] परन्तु जिनका जीवन पवित्र हो चुका है वे विकसित होकर जिस-जिस लोक की प्राप्ति का मन से संकल्प करते हैं और जिन-जिन पदार्थों की वाञ्च्छा करते हैं उन-उन लोकों एवं उन-उन पदार्थों को उपलब्ध कर लेते है।[४०८] यहाँ स्पष्ट रूप में उपनिषद् कर्मस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रही है। इसलिए मुण्डक उपनिषद् में बतलाया गया है जो जिन वस्तुओं को शुभतम एवं पवित्रतम मानता हुआ अभिलाषा करता है वह उन अभिलाषाओं के अनुसार वहाँ-वहाँ जन्म लेता है। जहाँ-जहाँ वस्तुयें उपलब्ध हो सकती है।[४०९] इसी का छान्दोग्य उपनिषद् में समर्थन उपलब्ध होता है। वहाँ कथन किया गया है कि जो इस लोकं में उत्तम कर्म वाले होते हैं वे निश्चय ही उत्तम योनियों को प्राप्त कर लेते हैं। ब्रह्मदेव आदि योनियों को प्राप्त करते हैं। जो लोग निन्दित कर्म वाले हैं वे निन्दित योनियों को प्राप्त होते हैं, जैसे-कुत्ता, सूअर और चाण्डालादि, योनियाँ उन्हे मिलती है।[४१०] ये उपरोक्त योनियाँ तो लक्षण मात्र है असंख्य प्रकार की योनियाँ कही जा सकती है, उनमें से जीवात्मा उसी प्रकार की योनि को प्राप्त करेगा, जैसे उसके कर्म होंगे। उन योनियों को प्राप्त कर नाना प्रकार के सुख दुःखों को भोगता है।[४११] आत्मा की इस प्रकार की विविध गतियों को जानते हुए ऋषियों और मुनियों ने उपनिषदों के माध्यम से मनुष्यों को शुभ कर्म करने और अशुभ कर्म त्यागने का उपदेश दिया है। शुभ कार्यों के करने से शरीर को कष्ट अनुभव होता है। पाप का पथ स्वार्थमय और भोगमय जीवन हैं।

एक को ऋषियों ने प्रिय लगने वाला और दूसरे को श्रेष्ठ मार्ग, परन्तु दुर्गम्य रूप कहा है। हे पूषन् सत्य का द्वार सुवर्ण के ढक्कन से ढका हुआ है, आप उसको हमारे सामने से हटाइये ताकि मैं सत्य और धर्म को देखूँ।[४१२]

---

४०६. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्। प्रश्न० ३.७.
४०७. प्रश्नोपनिषद् १.१५.१६.
४०८. मुण्डकोपनिषद् १.१०.
४०९. कामान् यः कामयते मन्यमानः स काममभिजायते तत्र-तत्र। मु०उ०.
४१०. तद्य इह रमणीय चरणा योनिमापद्येरन्। छान्दो० ५.१०.७.
४११. वृहद्० उप० ४.४.४.११.
४१२. बृहदारण्यक० ५.१५.१.

उपनिषदों में यद्यपि ज्ञान काण्ड की व्याख्या या आध्यात्मिकमार्ग जिसे मुक्ति या अमृतमय जीवन का अधिक रूप में प्रतिपादन उपलब्ध है तथापि हम साधारण मनुष्य को क्या कर्म करने चाहिए, इसका भी उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है। यह इस प्रकार का वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् में नीति बोध का यह रूप अधिक स्पष्ट रूप में उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रकृति सचेतन और शिक्षात्मक है। इसमें अनेक सद्गुणों का उपदेश प्राप्त हैं हमें धर्म का आदर करने, सत्य बोलने, तप, संयम और शान्ति की साधनां करने, नित्य और नैमित्तिक हवन (यज्ञ) करने, अतिथि सत्कार करने, मनुष्यता का पालन करने एवं सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया है।[४१३] तीन नीतिकारों के मत को एक विषय में भी कथन किया गया है, जिनमें वह प्रत्येक प्रधान सद्गुण को श्रेष्ठ मानता था।[४१४] सत्य वचन राथीतर सत्य गुण का उपदेश देते हैं तपोनिष्ठ पौरुशिष्टि तपोगुण को प्रधान रूप में महत्त्व देते हैं। नाक मौद्गल्य वेदों के अध्ययन और अध्यापन को सर्वश्रेष्ठ रूप में मानते थे क्योंकि उनका मत है कि यही सर्वोत्तम तप है। जब स्नातक बनकर विश्व विद्यालय में दीक्षान्त किया जाता था, उस समय आचार्य द्वारा पुनः नैतिकशिक्षा का सागर्भित उपदेश दिया जाता था, ऐसा इस उपनिषद् से प्रतीत होता है, उपर्युक्त उपदेश के अतिरिक्त आचार्य शिष्य को देव और पितृ कार्य में से विमुख न होने तथा माता-पिता गुरु और अतिथि को पितृ तुल्य मानने को कहता है। सामान्यरूप में स्नातक को वहीं कर्म करने को कहा जाता है जो समाज की दृष्टि में निर्दोष हो। आचार्य कहता है कि जो अपने से ज्ञान में श्रेष्ठ है उन्हें आसन देकर सम्मान करना चाहिए। अन्त में आचार्य कुछ विकल्प प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् प्रत्येक अवस्था में श्रेष्ठ करना चाहिए चाहे आस्था हो अथवा न हो दान श्रद्धा से और अश्रद्धा से, भय से, लज्जा से और उदारता से देना चाहिए अर्थात् लेने की प्रवृत्ति की अपेक्षा हमेशा देने का ही उपदेश दिया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपनिषद् में साधारण गुणों का भी उल्लेख प्राप्त है। सद्गुणों का उल्लेख छान्दोग्य

---

४१३. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति-सत्यं वद, धर्मंचर, स्वाध्यायान्माप्रमदः आचार्याय प्रियं धन-माहृतय........सत्यान्न प्रमदितव्यम्। तै०शिक्षा०व०, ११ अनुवाक्.

४१४. सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्याय प्रवचने एंवेति नाकोमौद्गल्यः। तै०शि०व० ९. अनुवाक्.

उपनिषद् में भी मिलता है। घोरअगिंरस के पुत्र कृष्ण के संवाद में सद्गुणों का एक सूची के रूप में वर्णन प्राप्त है।

मनुष्य के प्रधान सद्गुण तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और मर्त्य है। घोर अंगिरस के अनुसार मनुष्य के प्रधान गुण है[४१५] भगवत् गीता में सद्गुणों की उपलब्ध सूची का प्रायः इससे साम्य है[४१६] जिसमें अहिंसा , सत्य, त्याग, तेज आदि सम्मिलित हैं छान्दोग्य में ही मनुष्य के पाँच महापातको का उल्लेख उपलब्ध है वहाँ बतलाया गया है कि जो वित्त की चोरी करता है, सुरापान करता है, गुरु पत्नी के साथ गमन करता है, या ब्राह्मण की हत्या करता है, वह नरक में जाता है। उसके साथी सहयोगी वैसी ही अवस्था को प्राप्त होंगे। चोर, मद्यपी, व्यभिचारी, ब्रह्मघाती और उनके सहकारी सब मृत्यु दण्ड के अधिकारी है। यह मनु और याज्ञवल्क्य की परवर्ती स्मृतियों के अनुकूल हैं।[४१७] वहाँ पर भी पाँच महापातकों का उल्लेख उपलब्ध है।

वृहदारण्यक में भी सद्गुणों का उल्लेख उपलब्ध है। कथा के द्वारा समझाया गया है कि देव, मनुष्य और असुर सब अपने सम्मान्य पिता प्रजापति के समीप गए वहाँ जाकर उन्होंने आत्माधिगत ज्ञान का उपदेश देने की प्रार्थना की। प्रजापति ने देवों के लिए दअक्षर दिया और पूछा क्या वे उसका अर्थ समझ गये। उत्तर पाया कि उन्हे इन्द्रियों का दमन करना चाहिए। जिससे प्रजापति सन्तुष्ट हो गये। मनुष्य को भी उसने द अक्षर का ही उपदेश दिया। उनसे भी उसी प्रकार पूछा क्या समझ गये। उत्तर मिला उन्हें दान (दत्त) का पालन करना चाहिए। असुरों को भी प्रजापति ने द का ही उपदेश दिया, उनसे भी पूछने पर उत्तर मिला की उन्हे दया का पालन करना चाहिए।[४१८] यहाँ उपनिषद्कार हमें बतलाते हैं कि आकाश में मेघ गर्जन के रूप में भी द-द-द की ध्वनि होती है, उसका अभिप्राय

---

४१५. द्रष्टव्य छान्दोग्य का अंगिरस-कृष्ण संवाद.

४१६. अंहिसा सत्यमक्रोधः त्यागः शान्तिरपैशुनम् १६.२.
तेजः क्षमा मतिः शौचं अद्रोहीनातिमानिताम् १६.३.

४१७. आपस्तम्ब १०.४.

४१८. तेभ्यो द्वैतदक्षरमुवाचद्....होचुर्दाम्यततेति। हैनं मनुष्या...होचुर्दत्तेति।
हैनमसुराऊचुः.....वदतिस्तनयित्नुर्ददद इति दाम्यत, दत्त, दयध्वनिमिति। वृ०अव ५.
ब्रा०द्वि० १, २, ३.

हमारे लिए दमन, दान और दया करना है। इन्हीं को सात्त्विक राजसिक और तामसिक रूप कहा जा सकता है, अर्थात् जो देबों के समान उच्चअवस्था को प्राप्त है, उनके लिए इस दिव्य वाणी का आदेश दमन करो नहीं तो अभिमान से युक्त होकर गर्व वाले बन जाओगे, ऐसे लोग सामर्थ्यवान् होने के कारण क्रूर कर्मों में प्रवृत्त हो सकते हैं। जो सामान्य मनुष्य की अवस्था में है, उनके लिए इस दिव्य वाणी का उपदेश समझना चाहिए कि दानशील बनना है, अर्थात् हमें दान की प्रवृत्ति के द्वारा अपने समाज को समृद्धिशाली बनाना है जो दानव प्रवृत्ति वाले अर्थात् अनर्थकारी प्रवृत्ति वाले हैं और अपरिमित शक्ति रखते हैं, उनके लिए आदेश है दयावान् अर्थात् दयालु बनो। इस विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि द-दमन, दया और दान तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति-प्रधान मनुष्यों के लिए तीन अलग-अलग मुख्य गुण है।

आचार सम्बन्धी मान्यताओं का दार्शनिक विवेचन करते समय उपनिषदों पर प्रायः आरोप लगाया जाता है कि ये, निराशावाद को प्रोत्साहन देती है। परन्तु यह आरोप इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि उपनिषदों का ऋषि भिन्न-भिन्न अवस्था वाले व्यक्तियों को भिन्न उपदेश देता है, जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद् में हम उपर्युक्त सन्दर्भ में विवेचन कर आये हैं। रामचन्द्रदत्रात्रेय रानाडे का विचार है कि यह संभाव्य है कि यह सुखनिरपेक्षवाद से होकर परमनिराशावाद के स्वरूप में परिणत हो गया वे आगे पुनः पूछते हैं एक अजर और अमर जीवन के शाश्वत आनन्द का अनुभव कर लेने के बाद कौन क्षमाशील मनुष्य सौन्दर्य और वासना (प्रेम) के क्षणिक सुखों के चिन्तन में आनन्द पा सकेगा[४१९]? मेरे विचार में निराशावाद नहीं है जिसमें साधक उच्च स्थिति को प्राप्त कर लेता है क्योंकि सामान्य व्यक्ति के लिए आचार्य कठोपनिषद् में स्वयं संसार के पदार्थों के संग्रह का वर्णन करते हैं, परन्तु नचिकेता आत्मतत्त्व को जानना चाहता है। इसलिए, उसे संसार सुख और शाश्वत ब्रह्मानन्द के सुख विशेष की तुलना उपनिषद्कार ने की है। मैत्री उपनिषद् में भी वासनाओं की दृष्टि से ऊपर उठने को कहा गया है काम क्रोध, लोभादि से ऊपर उठने का उपदेश स्पष्ट रूप में दिया गया है। शोपेन हावर उपनिषदों से अत्यन्त प्रभावित हैं उनका भी यही मत है कि मनुष्य के लिए सबसे अच्छी बात यही हो सकती थी कि वह यहाँ जन्म

४१९. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० सं० ११३, लेखक-रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, अनुवादक रामानन्द तिवारी, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर.

ही न लेता और उसके बाद दूसरी सर्वोत्तम बात यौवन में ही मरण है[४२०] इनका मन्तव्य भी यही प्रतीत होता है कि यौवन में केवल भौतिकसुख को ही प्रधानता नहीं देनी चाहिए, अपितु उससे परे जो आत्मतत्त्व है उसे जानने का प्रयास करना चाहिए।

उपनिषद् ऐसा मानती प्रतीत नहीं होती है कि संसार को छोड़कर कही भाग जाओ। अपितु वे तो यहाँ रहते हुए सौ वर्ष तक कर्म करने का उपदेश देती है।[४२१] जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में आया है कि श्रद्धा ही तपस्या है।[४२२]

डॉ० राधाकृष्णन् की मान्यता है कि बाह्य पदार्थों के बन्धन से मुक्त होने के लिए हमें वन में एकान्त में जाने की आवश्यकता नहीं, न एकान्तवास को बढ़ाने की आवश्यकता है।[४२३] और न तपस्या की जिससे कि सांसारिक पदार्थों का सम्बन्ध एक साथ ही छूट जाए।[४२४] उपनिषद् के उत्तरवर्ती काल में जो अन्धाधुन्ध संन्यासवाद का प्राबल्य रहा उसका उपनिषद् काल में समर्थन प्राप्त नहीं होता। यद्यपि जीवन को अमृतमय बनाने की समस्या का समाधान उपनिषदों में क्रान्तिकारी रूप में उपलब्ध होता है तो भी संसार रहते हुए ही त्याग पूर्वक भोग का उपदेश उपलब्ध होता है।

डॉ० राधाकृष्णन् का विचार यह है कि उपनिषद्काल में इन्द्रियों के अत्याचार के विरोध में प्रबल आवाज सुनाई दी। शरीर को दागना आदि ऐसी ही अत्यन्त भ्रामक क्रियाये प्रचलित हो गई थी। यूकन के अनुसार उपनिषदों का लक्ष्य अधिकतर संसार में घुसकर उस पर विजय पाना इतना नहीं है जितना कि उससे अनासक्ति एवं मुक्ति पाना है। कठोर से कठोर बाधा के विरुद्ध भी स्थिर रखने के लिए जीवन को दीर्घ बनाना नहीं है, वरन् प्रत्येक प्रकार की कठोरता को कम करना एवं नरम करना है। तथा एक प्रकार की विहीनता, धीरे-धीरे तिरोधान हो जाना एवं गंभीर चिन्तन है।[४२५] 'गफ' के अनुसार उपनिषदों की

---

४२०. वही, पृ० १९२.
४२१. ईशोपनिषद् २.
४२२. छान्दोग्य ५.१०.
४२३. इण्डियन आर्फ फिलॉसफी, लेखक डॉ० राधाकृष्णन्, अनु० नन्दकिशोर, गोमिर्ष उपनिषदों का दर्शन, पृ० १९७.
४२४. वही, पृ० १९९.
४२५. मेन करेंट्स, पृ० १३.

व्याख्या के अनुसार भारतीय ऋषि-मुनि दैवीय जीवन में भाग लेने का प्रयत्न केबल पवित्र भावना, उच्च विचार एवं घोर परिश्रम द्वारा नहीं और न ही सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा सत्य कर्म द्वारा अपितु एकान्तवास अनासक्ति निष्क्रियता एवं समाधि द्वारा भी करते हैं[४२६] उपर्युक्त मतों का प्रत्याख्यान करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् की मान्यता समीचीन प्रतीत होती है कि नैतिकजीवन का सार इच्छा को मिथ्सर वैराग्य जो जीवन को स्वप्न व भ्रान्तिमात्र समझाता है और जो कुछ भारतीय विचार को एवं यूरोपीय विचारकों के मन में भी बार-बार आता है और उन्हे परेशान करता है उपनिषदों के व्यापक भाव से सर्वथा विपरीत है[४२७]।

इनका यह मत हमारे उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करता है कि उपनिषद् एकदम संसार को छोड़कर भाग जाने का उपदेश नहीं है। जहाँ ऐसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता वहाँ, विरक्त हो जाने का तात्पर्य मनुष्य जाति के निराशा एवं ईश्वर का प्रभाव है।

संसार को त्यागने का एकमात्र आदेश नहीं है, अपितु केवल ऐन्द्रियक सुख ही सुख कुछ नहीं इससे परे भी कुछ है। हमें उपनिषदों के रहस्यवादी परदे के पीछे अवलोकन करके भौतिक संसार एवं मनुष्य के अन्दर व्यापक ब्रह्म को जानने एवं साक्षात्कार करने का उपदेश उपनिषदों में उपलब्ध होता है।[४२८] भगवद्गीता में भी स्पष्ट इसी प्रकार की मान्यता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को संन्यास लेने का उपदेश नहीं देते अपितु युद्धस्व अर्थात् कर्म कर अपने कर्त्तव्य पालन पर जोर देते हैं। प्रायः सभी विद्वानों की यह मान्यता है कि गीता उपनिषद् का एक सरल संस्करण मात्र है, अर्थात् उपनिषदों का प्रभाव गीता पर समुचित रूप से दृष्टिगोचर होता है।

वास्तव में उपनिषद् की यह उद्घोषणा प्रतीत होती है, कि जैसा कि उत्तरवर्ती अन्य भारतीय दार्शनिक और नीतिकार सहमत है, मन को निर्मल बनाने के लिए भोजन की शुद्धि का होना आवश्यक है[४२९] इन वासनाओं पर नियन्त्रण अपनी इच्छा से किया जाना चाहिए। जहाँ ऐसा सम्भव न हो वहाँ मन को शमन करने अर्थात् मन को ज्ञान पूर्वक परिवर्तन करने का आदेश है। तपस्या अथवा वासनाओं का वशीकरण बलपूर्वक बाह्य साधनों द्वारा किये जाने एवं संन्यास

४२६. फिलासफी आफॅ द उपनिषद्, पृ० २६६-२६७.
४२७. भारतीय दर्शन, डॉ० राधकृष्णन् (हिन्दी), पृ० २०१.
४२८. आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। मनु०.
४२९. अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसश्च पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा.....कठ० ३.१०.

अथवा धार्मिक भावनाओं के द्वारा वासनाओं के त्याग में भेद किया जाता है। तपस्या का विधान भारतीय नीतिशास्त्रवेत्ता मनु आदि ने वानप्रस्थ के लिए किया है संन्यास संन्यासी के समर्पित करना चाहिए। समाधि एवं ध्यान की अवस्था का विधान मन की शुद्धि के लिए किया गया है। उपनिषदों में जीवात्मा को निर्देश है कि अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके केवल ईश्वर का ध्यान करे। इससे जीवात्मा अपना साक्षात्कार करता हुआ ब्रह्म का सानिध्य प्राप्त कर लेता है।

उपनिषदों में जहाँ आध्यात्मिकता का सूक्ष्म रूप में वर्णन उपलब्ध होता है, वहाँ सामाजिक ज्ञान और परिवार सम्बन्धी समाजशास्त्र का वर्णन भी आता है। जैसे कठोपनिषद् में नचिकेता सर्वप्रथम अपने पिता को शान्त करना ही अपेक्षित समझता है।[४३०] इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसी प्रकार की प्रार्थना का उल्लेख है जैसा कि वेदों में अपने परिवार की सुरक्षा की चिन्ता पूर्वक प्रार्थना हमें यत्र-तत्र प्राप्त होती है।[४३१]

जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में आया है कि हमे अपने वच्चों और पुत्रो के वियोग से पीड़ित न करो, हमारे बलवान् वीरों को मतमारो[४३२] जब तक पूर्ण रूपेण हम अन्तर्मुखी नहीं होते या हमारे मन की सामान्य स्थिति होती है तो हमें अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों को कदापि विस्मरण नहीं करना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर उपनिषदों में आध्यात्मिक श्रेय की ओर जाने का उपदेश एवं आदेश सर्वत्र ही कथन किया गया है। सम्भवतः आधिभौतिक श्रेय और आध्यात्मिक श्रेय में कोई जातिभेद नहीं है। हम दोनों को सानुपातिक समझ सकते हैं महान् आदर्शवादी तत्त्वज्ञ याज्ञवल्क्य से भी जनक की सभा में उनसे प्रश्न किया गया कि वे सम्पत्ति और गोधन अथवा विजय और विवाद तो उन्होंने उत्तर दिया था कि वे दोनों चाहते थे वे गायों को उनके सुवर्णातसीगों सहित चाहते थे तथा जनक की सभा में अन्य तत्त्वज्ञानियों के साथ विवाद में विजय भी चाहते थे। अतः वे आधिभौतिक और आध्यात्मिक वाद दोनों प्रकार का श्रेय चाहते थे।[४३३] परन्तु उपनिषदों में आधिभौतिक सुख और आत्मानुभूति या मोक्ष के आनन्द का सानुपातिक भेद अवश्य उल्लेख किया गया है जैसे पूर्ण स्वस्थ सभी साधन सम्पन्न युवक को

---

४३०. कठोपनिषद् / यजुर्वेद अ० १२, ७५, ७९, १०२, १०८.

४३१. मा नस्तोके तनये-वीरान्मा नो रुद्र-वधीर्हविप्मन्तः। श्वेताश्वतर, अ० ४.२२.

४३२. द्रष्टव्य छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म के आनन्द का वर्णन.

४३३. वृहदारण्यक ३, १, ४, ५.

इकाई मानकर भेद का उल्लेख किया जाता है। उस युवक से बढ़कर सौगुना आनन्द गन्धर्व का माना गया है यह तुलना आगे क्रमशः बढ़ते-बढ़ते देव, गन्धर्व पितर, देवताओं, कर्म सिद्ध श्रेष्ठ देवता, इन्द्र, वृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मानन्द की कल्पना की गई हैं। ब्रह्म के आनन्द की प्राप्ति विकास की चरम सीमा मानी गई है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में भी ब्रह्मानन्द के क्रमशः अनुभव को दर्शाया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में आत्मानुभूति के नैतिक तथा रहस्यात्मक पक्षों का उत्तम समन्वय मिलता है[४३४] यह भी बतलाया गया है कि मनुष्य को अपना विकास करते समय भूमा को प्राप्त करना चाहिए।

उपनिषदों में आत्मा को पाप एवं पुण्य से परे कहा है। जैसा कि आचार्य शंकर ने भी स्वीकार किया है कि आत्मा वस्तुतः ब्रह्म का विवर्त है। वास्तव में ज्ञान और अविद्यादि के कारण उस पर मल विच्क्षेप और आवरण की परते आ जाती है। इन परतों को धर्म और अधर्म कृत, अकृत से परे बतलाया गया है इसी प्रकार आत्मा के विषय में भी छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि आत्मा अदेह आत्मप्रिय और अप्रिय से परे हैं। मुण्डकोपनिषद् में बतलाया है कि जब नैतिक कर्त्ता आत्मा एक परनिरञ्जन प्रभु के दर्शन कर लेता है तो समस्त पाप-पुण्य की कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है।

शंकर ने अपने मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उचित कर्म वह है, जो सत्य का बोधक है। अनुचित कर्म वह है जो असत्य से परिपूर्ण है।[४३५] जो कोई भी कर्म हमें उत्तम भविष्य जीवन की ओर ले जाते हैं वे कल्याणकारी कर्म कहे जा सकते हैं जो कर्म हमें अधम प्रकृति भविष्य जीवन की ओर ले जाते हैं वे ही पाप कर्म है। डॉ० राधाकृष्णन् ने शंकर के आचार सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते कहा है कि ईश्वर में विश्वास रखने वाले पुरुष को चाहिए कि वह समस्त विश्व से प्रेम करे क्योंकि यह ईश्वर की कृति है सच्ची शान्ति तथा श्रेष्ठता स्वाधिकार के प्रति आग्रह करने में नहीं है। न व्यक्ति के निजी कल्याण के लिए प्रयत्न करने में ही है, अपितु अपने को विश्व के यथार्थ सत् के प्रति भेंट रूप में समर्पण कर देने में है अहंकार का भाव सबसे अधिक अशुभ कर्म है। तथा

४३४. श्वेताश्वतरोपनिषद्.

४३५. ऐसा प्रत्येक व्यक्ति, जो कुकर्म करता है, प्रकाश से घृणा करता है। (सेंट जॉन ३:१९).

प्रेम और दया सबसे अधिक कल्याणकारी कर्म हैं। समाज-कल्याण के साथ अपनी एकता स्थापित करके हम यथार्थ में अपने वास्तविक उद्देश्यों की प्राप्ति करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों का, जो अहंकार उत्पन्न करती हैं, दमन करना चाहिए, अभिमान का स्थान नम्रता को देना चाहिए, क्रोध का स्थान क्षमा को, परिवार के प्रति संकीर्ण आसक्ति के भाव का स्थान जीव मात्र के प्रति उपकार के भाव को लेना चाहिए। कर्म-मात्र को ही इतना महत्त्व नहीं है, जितना कि उस इच्छा का है जो अपने स्वार्थमय हित का दमन करके सामाजिक हित की इच्छा को प्रधानता देती है। कर्तव्य के रूप में मनुष्य को इस प्रकार के अवसर दिये गए हैं कि वह अपने पृथक् आत्म-भाव को छोड़कर सारे जगत् की उन्नति में अपनी उन्नति समझे।

शंकर अपने समय की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए हमें उपदेश देते हैं कि शास्त्र द्वारा निषिद्ध पाप-कर्मों से हमे बचना चाहिए। वेद का स्वाध्याय यज्ञ, दान, तपश्चर्या और उपवास, ये सब ज्ञान-प्राप्ति के साधन है।[४३६] ये सदाचार के पोषक है, आत्मा को पवित्र करते हैं और अन्तर्दृष्टि को सूक्ष्म बनाते हैं। यद्यपि कुछेक अपवाद-स्वरूप आत्माएँ सत्य को तुरंत ग्रहण कर ले सकती है तो भी एक साधारण मनुष्य के लिए समय और पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। जीवन के दैनिक कर्त्तव्यों की पूर्ति तथा गृहस्थ-सम्बन्धी पवित्रता की माँग[४३७] मन को ब्रह्म-साक्षात्कार के योग्य बना देती है[४३८] वैदिक-कर्मकाण्ड, यदि उसका नियम-पूर्वक पालन किया जाए तो, अभ्युदय का कारण है, किन्तु निश्रेयस अर्थात्-मोक्ष का कारण नहीं है।[४३९]

जहाँ परम यथार्थसत्ता के स्वरूप-ज्ञान के लिए आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान का परिणाम मोक्ष होता है। वहाँ ईश्वर की पूजा किसी भी रूप में नानाविध कार्यों की ओर हमें ले जाती है। यद्यपि ये सब सांसारिक जगत् तक ही सीमित है[४४०]. वे हमें स्वार्थपरक इच्छा, घृणा तथा आलस्य से बचने में एवं दुःख के समय धर्य, शान्ति तथा स्थिरता प्राप्त करने में सहायक होते हैं। भक्तिपूर्वक ध्यान लगाने से

४३६. बृहदारण्यक् उपनिषद् ४:४, २२.
४३७. शांकर भाष्य ३:४, २६.
४३८. शांकर भाष्य ४:१, ४.
४३९. मुण्डकोपनिषद् पर शांकर भाष्य, प्रस्तावना.
४४०. शांकर भाष्य १:१, २४; और भी देखें ३:२, २१.

ज्ञान-प्राप्ति होती है। भक्ति ज्ञान में सहायक होती है। यथार्थ ज्ञान केवल ऐसे ही पुरुष प्राप्त कर सकते हैं जिनके मन कठोर नियन्त्रण द्वारा इसके लिए सज्जित है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मन के अन्दर एक इस प्रकार के ज्ञान को डालना है, जिसमें वह वञ्चित है सत्य आत्मा के मध्य में विद्यमान है वह अपना प्रकाश दे सके, इसके लिए मन को नश्वर जगत् की ओर से हटाना चाहिए। हमें अपनी बोधग्रहण की शक्ति को ऐसा पारदर्शक बनाना चाहिए-जैसा कि लैम्प का शीशा होता है। जिसमें से अन्दर का प्रकाश अपनी चमक देता है। "यद्यपि आत्मा सब कालों में विद्यमान है और सब वस्तुओं में हैं किन्तु वह सब वस्तुओं में प्रकाशित नहीं होती। इसका प्रकाश केवल बोधशक्ति अथवा मेधा के द्वारा ही होता है, जिस प्रकार. प्रतिबिम्ब केवल चिकने धरातलों पर ही पड़ सकता है"[४४१]

आचार्य शंकर ने दार्शनिक ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया है और यह धार्मिक जीवन व्यतीत करने से ही प्राप्त हो सकता है। ज्ञान ही एकमात्र मोक्ष की ओर ले जाता है। अन्य साधन परोक्षरूप में उसकी प्राप्ति के लिए साधन बनते हैं।[४४२] ब्रह्म को जानने की अभिलाषा ऐसे ही पुरुष के अन्दर उठती है जिनका मन पवित्र हो, जो कामनाओं के वश में न हो और जो इस जन्म में अथवा पूर्व-जन्मों में किए कर्मों से स्वतन्त्र होकर लक्ष्यों तथा उनके साधनों के बाह्य एवं अल्पकालिक मिश्रण से निराश हो चुका हो।[४४३] शंकर योगाभ्यास के सिद्धान्त को मानते हैं, जिसका मुख्य लक्ष्य है समाधि, जिसे उन्होंनें सराधन अथवा पूर्ण सन्तोष का नाम दिया है और जिसका अर्थ है इन्द्रियों को प्रत्येक बाह्य वस्तु से हटाकर अपने ही स्वरूप के अन्दर केन्द्रित करना। अद्वैतवादी यम-नियम आदि बहिरंग साधनों तथा धारणा और ध्यान-रूपी अन्तरंग साधनों में भेद मानता है[४४४] अभ्यन्तर की मांग है कि नित्य और अनित्य के अन्दर भेद करना चाहिए लौकिक अथवा पारमार्थिक कल्याण के लिए सब प्रकार के स्वार्थपरक प्रयत्नों से अनासक्ति तथा साम, दाम, उपरति (त्याग) तितिक्षा, समाधि तथा मानसिक श्रद्धा और अन्त में

४४१. सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते बुद्धया वेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिविम्बवत्। (आत्म बोध पृ० १७).

४४२. शांकर भाष्य ४:१, १. तैत्तिरीय उप० पर शांकर भाष्य १:३.

४४३. केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य, प्रस्तावना, छान्दोग्य पर शांकर भाष्य १:२: १५. वृक्ष्दारण्यके ४:४, २२, कठोपनिषद पा-भाष्य १:२:१५.

४४४. वेदान्त प्रतिपादित श्रवण और मनन, धारणा इनके उपायों के अनुकूल है तथा निदिध्यासन ध्यान के और दर्शन समाधि के अनुकूल है.

मोक्ष-प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा की आवश्यकता है इन सबसे सत्यज्ञान का उदय होता है[४४५]।

एक ऐसा विचारक, जो सत्य के एक विस्तृत विचार की ओर पग बढ़ा रहा है, अपने समय की सामान्य मान्यताओं की सर्वथा उपेक्षा नहीं करता। यद्यपि जन्म के ऊपर आश्रित वर्ण की व्यवस्था का प्रभाव शंकर की दृष्टि में शक्तिशाली नहीं रह गया था, तो भी उन्होंने इसके अन्दर विश्वास के लिए गुंजाइश रखी है। इस प्रकार की परम्परागत प्रकल्पना के आधार पर कि किसी वर्ण-विशेष में जन्म लेना आकस्मिक घटना नहीं है, वरन् किसी पूर्व जन्म में किए गए आचरण का आवश्यक परिणाम है, शंकर का झुकाव उच्च वर्णों के मनुष्यों देवताओं तथा ऋषियों के लिए ही वेदाध्ययन का अधिकार मानने की ओर है[४४६]।

यद्यपि शंकर का यह मत है कि किसी भी वर्ण का कोई भी मनुष्य उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर सकता है[४४७] उनका आदेश है कि ऐसे मनुष्यों को जो ब्राह्मणधर्म में प्रतिपादित जीवन के नियमों का पालन करते हैं, वर्णो तथा आश्रमों के लिए निर्दिष्ट कर्त्तव्यों पर आचरण करना चाहिए। यद्यपि ब्राह्मण का कार्य वेदाध्ययन करना तथा ज्ञान-सम्पादन करना है, अन्यों को पूजा इत्यादि करनी चाहिए तथा ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के उसी सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करना चाहिए।[४४८] शंकर के विचारों में इस प्रकार के दावे के लिए कि केवल वेदाध्ययन ही से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, समर्थन ढूंढना कठिन है। दर्शन शास्त्र तथा हिन्दू धर्म-सम्बन्धी अपने विचारों में भी शंकर ने परस्पर-विरोधी दावों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। सर्वोच्च ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के मार्ग को बिना किसी जाति तथा सम्प्रदाय के भेदभाव के पुरुष-मात्र के लिए खुला बताकर शंकर ने अपनी मौलिक मानवीयता का परिचय दिया है[४४९] इसी से अपने वेदान्तदर्शन के तार्किक संकेतों के प्रति उनकी दृढ़ भक्ति का भी परिचय मिलता है। किन्तु वे ब्राह्मणधर्म के इस प्रकार के विश्वास को भी मानते हैं कि विदुर के समान शूद्र,

४४५. शांकर भाष्य ३:४, २७.
४४६. छान्दोग्य उप० ४:१, २.
४४७. शांकर भाष्य ३:४, ३८.
४४८. पुरुष मात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाःसम्भवति।
४४९. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२. (डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ५३७-५४०).

जिन्होंने उच्चतम ज्ञान प्राप्त किया, अपने पूर्ण जन्म के आचरण के बल पर ही किया था। यदि किसी शूद्र के अन्दर इस समय सत्य को ग्रहण करने की योग्यता पाई जाती है तो हमें मानना चाहिए कि उसने पूर्व जन्म में वेद का अध्ययन किया है इस प्रकार' शंकर इस विश्वास का कि केवल द्वि जाति के पुरुषों को ही मोक्ष-प्राप्ति का एकाधिकार प्राप्त है उच्छेदन कर देते हैं। वे ऐसे सब व्यक्तियों को, जिन्हें आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त है, अपना गुरु मानने को उद्यत थे, भले ही वे ब्राह्मण हो अथवा अस्पृश्य शूद्र हों। "ऐसा व्यक्ति, जो इस लौकिक जगत् को अद्वैत के रूप में देखता है, मेरा सच्चा गुरु है, चाहे वह चाण्डाल हो अथवा द्विज हो। यह मेरा दृढ़ विश्वास है।"[४५०]

आश्रम सम्बन्धी नियमों के ऊपर बल दिया गया है मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्य को संन्यासी बनना आवश्क नहीं है। वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषदों में गृहस्थी ने ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की तथा उसकी शिक्षा भी दी, तथापि संन्यासियों का अधिकार उक्त कार्य के लिए सर्वोपरि है, उनके लिए अन्यों की अपेक्षा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति आसान है, क्योंकि उनके लिए क्रियात्मक पूजा करना, गृहस्थ के कर्त्तव्य: आवश्यक कर्त्तव्य नहीं है। शंकर ने इस विषय पर बल दिया है कि जो आश्रम धर्म का पालन करते हैं उन्हें मोक्ष-प्राप्ति से पूर्व अवश्य संन्यास ग्रहण करना चाहिए यद्यपि ऐसे व्यक्तियों के लिए जो आश्रम धर्म का पालन नहीं करते, यह आवश्यक कर्त्तव्य नहीं है। संन्यासियों की स्थिति ब्रह्म में हैं "अन्य तीनों आश्रमों में अवस्थित पुरुषों के लिए इस प्रकार की अवस्था प्राप्त करना असम्भव है, क्योंकि श्रुति कहती है कि यदि वे अपने-अपने आश्रमों के कर्त्तव्य-कर्मों तथा नियमों का पालन न करेंगे तो उनकी हानि होगी: किन्तु उक्त कर्त्तव्य कर्मों के करने से संन्यासी की कोई हानि नहीं होती"[४५१]। इसके अतिरिक्त" यद्यपि ज्ञान-सम्पादन का आदेश सब किसी के लिए है वह चाहे जीवन के किसी भी संघ में क्यों न हो तो भी केवल संन्यासी का प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही मोक्ष-प्राप्ति की ओर ले जाता है, ऐसा ज्ञान नहीं जो कर्म से संयुक्त हो।[४५२] शंकर ने हिन्दुओं के क्रियात्मक धर्म में नियन्त्रण के अभाव का अनुभव

४५०. मनीषापञ्चक और भी देखें कौपीनपञ्चक, पृ० ३ और ५.
४५१. शांकरभाष्य ३:४, २०.
४५२. शांकरभाष्य मुण्डकोपनिषद् की प्रस्तावना संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं न कर्मसहितेति।

किया और यह भी अनुभव किया कि उसका कोई सामान्य मान दण्ड भी नहीं है अतएव उन्होंने इस प्रकार संन्यासी संघ की एक ऐसी संस्था फिर से बनाई तथा हिन्दू धर्म के बौद्धसंघ के समान नियन्त्रण के लाभ भी प्राप्त किए।[४५३] संन्यासव्रत की दीक्षा से दीक्षित संस्था में स्त्रियों को प्रविष्ट करने के जो कुपरिणाम शंकर के समक्ष थे उनसे उद्विग्न होकर शंकर ने अपने मठों में से स्त्रियों का बहिष्कार किया, क्योंकि उक्त मठ मुख्य रूप में ज्ञान-प्राप्ति के पीठ थे और ऐसे व्यक्तियों के लिए आश्रम का कार्य करते थे जो स्वेच्छा से निर्धनता जीवन की कठोर पवित्रता तथा जगत् की दासता से मुक्ति को स्वीकार किए हुए थे। शंकर ने अपने स्थापित मठों में जन्मगत जाति भेद की सर्वथा उपेक्षा की।

वर्णाश्रम धर्म के नियम हिन्दुओं के लिए आवश्यक है। क्योंकि वे मनुष्य समाज के उच्चतर मस्तिष्क के प्रवक्ता है। ऐसे व्यक्तियों के ऊपर जिनका जीवन केवल मनुष्य समाज के लिए ही नहीं है, उक्त नियमो को बाहर से हठात् आरोपित किया गया है, ऐसा न समझना चाहिए। किसी भी व्यक्ति का नैतिक मूल्य पूर्णरूप से उसी के आधार पर नहीं आंका जाना चाहिए। जो कुछ वह मनुष्य-समाज को देता है। मनुष्य एक मिट्टी का ऐसा ढेला नहीं है जिसका बाहर से रूपान्तर किया जा सके। उसको अन्दर की प्रेरणा की आवश्यकता है। शास्त्र किसी मनुष्य को विशेष प्रकार का कार्य करने के लिए विवश नहीं करते हैं, किन्तु एक जाति-विशेष के सामुहिक अनुभव रखने वाले मनुष्यों को केवल प्रेरणा देते हैं[४५४] सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त परम्पराएं भी स्थान भेद से परिवर्तित होती रहती है।[४५५] ज्यों ज्यों हम ऊपर की ओर उन्नति करते जाते हैं, नैतिक जीवन गहन होता जाता है।[४५६] प्रथा के अनुसार प्रचलित नैतिकता एक ऐसी वस्तु है जो सदा उन्नति करती रहती है। जीवन की वैदिक व्यवस्थां ज्ञान के लिए अनिवार्य सहायक नहीं है। यहाँ तक कि ऐसे व्यक्तियों ने भी जिनका उक्त व्यवस्था में अधिकार नहीं था उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त किया है। निर्धन लोग तथा जाति-बहिष्कृत भी प्रार्थना एवं पूजा तथा उपवास और स्वार्थ त्याग के द्वारा ईश्वर की दया से उद्देश्य तक पहुँच जाते हैं।[४५७]

---

४५३. शंकर के अनुसार विद्यारण्य देखें ऐतरेयोपनिषद् पर भाष्य की प्रस्तावना।
४५४. ज्ञापकं हि शास्त्र न कारकम् ७. और भी देखें वृहदारण्यक उपनिषद् पर शांकर भा० २:१, २०.
४५५. शांकर भाष्य १:१, ४.
४५६. शांकर भाष्य १:१, ४.
४५७. शांकर भाष्य ३:४, ३६-३९.

ऐसा पुरुष जो उद्देश्य तक पहुँच गया है, सच्चा ब्राह्मण है, अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला है। जिस प्रकार से वह जीवन-निर्वाह करता है, शंकर ने उसका वर्णन किया है और निम्नलिखित वाक्यों को उद्धृत किया है।

"जिसे उच्च वर्ण अथवा नीच वर्ण में जन्म लेने वाला कोई भी नहीं जानता, कोई शिक्षित विद्वान् अथवा अशिक्षित की कोटि में जानता है, न कोई जिसे पुण्य कर्मों को करने वाला और न पाप कर्मों के कर्त्ता-रूप में जानता है, वही यथार्थ में ब्राह्मण है जो कर्त्तव्यों में छिपे-छिपे रत रहता है और सर्वथा पूर्ण है उसका समस्त जीवन गुप्त रूप से ही वीतना चाहिए, मानो कि वह दृष्टिहीन बधिर तथा इन्द्रियों से विहीन है, इस प्रकार यथार्थ ज्ञानी को संसार में से गुजरना चाहिए।"[४५८]

यह एक ऐसा जीवन है जिसके अन्दर नम्रता तथा शान्ति का पवित्रता तथा आनन्द का भाव है किन्तु केवल चिन्तनशील निष्क्रियता में निमग्न रहना नहीं है। उसके कर्म उसके बन्धन का कारण नहीं बनते। उसका कर्म सामान्य अर्थों में कर्म नहीं है[४५९] जहाँ कुछेक मुक्तात्मा केवल जीवन-धारा लिए ही न्यून से न्यून कर्म करने का व्रत करने का व्रत लेते हैं, अन्य व्यक्ति सांसारिक कर्मों में लिप्त हो जाते हैं (लोक संग्रहार्थम्)[४६०] मुक्तात्माओं की इस प्रकार की क्रियाशीलता वैयक्तिक दृष्टिकोण में केन्द्रित नहीं होती[४६१] और इस प्रकार जीवात्मा को संसार चक्र में बांधने वाली नहीं मानी जाती।[४६२] मुक्तात्मा जो अपने पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त करते हैं, संसार-मात्र को अपने दृष्टान्त से मोक्ष का मार्ग निर्देश करते हैं।

वैदिक निषेधाज्ञाओं और नैतिक नियमों की आवश्यकता ऐसे व्यक्तियों के लिए जो संसार चक्र में बंधे हुए है किन्तु ऐसे पुरुष के जो इच्छा के समस्त वातावरण को पीछे छोड़ देता तथा संसार के भेदों की ओर से मुंह मोड़ लेता है। उनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है।[४६३]

---

४५८. यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं केद् कश्चित् स ब्राह्मणः।।

४५९. विदुषः क्रियमाणमपि कर्मपरमार्थतोऽकर्मैव, (भगवद्गीता पर शांकर भा०-४:२०).

४६०. भगवद्गीता पर शांकर भाष्य ४:१९.

४६१. शांकर भाष्य ४:१, १३.

४६२. योगशिष्ठ; जीवन्मुक्तिविवेक में उद्धृत, १. और ४.

४६३. तुलना करें निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः?

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या मुक्तात्मा पुरुष जो चाहे वह कर सकता है? आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि स्वार्थ पूर्ण आसक्ति, जो कर्म प्रेरक है, मुक्तात्मा में विद्यमान नहीं रहती, इसलिए वह सर्वथा कोई कर्म नहीं करती।[४६४] कर्म की उत्पत्ति अविद्या से होती है। इसलिए आत्मा के सत्यज्ञान के साथ कर्म नहीं रह सकता।[४६५] जहाँ एक ओर इस प्रकार के समाधान मुक्तात्मा के सम्बन्ध में सब प्रकार के कर्मों का निषेध करते प्रतीत होते हैं वहाँ शंकर के साहित्य में अन्य भी कितने ही वाक्य है जो प्रतिपादन करते हैं कि मुक्तात्मा जो सब प्रकार की स्वार्थपरक इच्छा से परे हैं, अनासक्ति के भाव से कर्म करता है।[४६६] उसके लिए कुकर्म करना असम्भव है नैतिक विधान से मुक्ति मोक्ष की अवस्था में एक प्रकार के गौरव का विषय तथा अलंकार (आभूषण) है, ऐसा कहा गया है, किन्तु उक्त अवस्था नैतिक विधान के नियमों का उल्लंघन करने के लिए कोई आमन्त्रण नहीं है। किसी भी अवस्था में उक्त मोक्ष की दशा को नैतिकता की उपेक्षा के लिए प्रोत्साहन न मानना चाहिए। मुक्तात्मा ऊपर उठकर निरपेक्ष परमब्रह्म के साथ एक इस प्रकार के निकट-सम्बन्ध में आ जाता है कि उसको पापकर्म करना असम्भव हो जाता है। यथार्थ में पाप कर्म करने के यह सर्वथा अयोग्य हो जाता है।

शंकर के उक्त विचार का ईसाई धर्म के स्वेच्छाचारी सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित विचार के साथ मिश्रण न करना चाहिए। यह निश्चित सत्य है कि "मुक्तात्मा के सम्मुख कोई उद्देश्य पूर्ति के लिए शेष नहीं रहता, क्योंकि वह सब कुछ प्राप्त कर चुका होता है।[४६७] तो भी वह संसार के कल्याण के लिए कर्म करता है। इसके अतिरिक्त जहाँ एक ओर शंकर का यह मत है कि मुक्तात्मा के लिए नैतिक बन्धन का कुछ अर्थ नहीं है, वे यह नहीं कहते कि वह नैतिक गुणों का परित्याग कर देता है[४६८] नैतिक पूर्णता नैतिकता का अन्त नहीं, अपितु नैतिक व्यक्तित्व का ही अन्त करती है। सदाचार के नियमों का महत्त्व उसी

---

४६४. न च नियोगाभावात् सम्यग्दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसंग....सर्वत्राभिमानस्यैवप्रवर्तकत्वात् अभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः। शांकर भाष्य २:३, ४८.

४६५. देखें शांकर भाष्य तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रस्तावना.

४६६. भगवद्गीता पर शांकर भाष्य ४:२१.

४६७. भगवद्गीता पर शांकर भाष्य ५.

४६८. नैष्कर्म्यसिद्धि ४:६९.

समय तक रहता है जब तक हम अपने अन्तःस्थ पशुभाव के साथ ऊपर उठने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। जब कभी बुरे मार्ग पर जाने का भय हो तो वे हमें यथोचित मार्ग पर चलाने में सहायक होते हैं। जिस प्रकार हत्या तथा चोरी आदि के समान अपराधों के सम्बन्ध में बनाए गए नियमो का विधान का सभ्य सुशिक्षित पुरुष के लिए नहीं है, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष परम्परागत नैतिकता के नियमों से बंधा हुआ नहीं है।[४६९]

आचार्य शंकर के नीतिशास्त्र को बुद्धिपरक कहा जा सकता है, क्योंकि अविद्या अथवा अभेद ही बन्धन का कारण है।[४७०] जीवन का मिथ्याज्ञान ही समस्त अनुभव तथा क्रियाशीलता का आधार है, सम्यक् ज्ञान अथवा एकत्व का ज्ञान ही हमें मोक्ष की ओर ले जाता है।[४७१]

चूँकि सर्वोच्च आत्मा तथा जीवात्मा के अन्दर भेद मिथ्या ज्ञान से है[४७२] हम सत्यज्ञान के द्वारा ही इससे मुक्त हो सकते हैं। इस सबसे एक व्यक्ति यह विश्वांस करने लगता है कि मोक्ष केवल आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का ही परिणाम है नैतिक पूर्णता का परिणाम नहीं। ड्यूसन अद्वैतवेदान्त की इस विशिष्टता का इसके मूलभूत अभाव का नाम देता है। वह कहता है वेदान्त ठीक ही सत् के अपने अन्दर के सत्य ज्ञान को, अर्थात् हमारी अपनी ही आत्मा को एकमात्र स्रोत मानता है जिसके द्वारा हम सत्य ज्ञान तक पहुँच सकते हैं, किन्तु यह भूल से ऐसी आकृति में आकर ठहर जाता है, जिसमें यह साक्षात् हमारे चैतन्य को एक ज्ञाता के रूप में रुचिकर हो सकता है, यहाँ तक कि चाहे हम समस्त बौद्धिक सामग्री को पृथक् कर देने पर भी अर्थात् लौकिक जगत् इसे अनात्मा के साथ सम्बद्ध कर दे, ठीक वैसे कि यह सर्वथा उचित रूप में सर्वोच्च आत्मा का निवास, डेकार्ट की भाँति, मस्तिष्क को नहीं अपितु हृदय देश को संकेत करता है[४७३] यदि एकाकी तथा एकमात्र सत्ता, अर्थात् ब्रह्म, पहले से ही पूर्ण तथा निर्दोष है और हमे इसके अतिरिक्त और कुछ करने को नहीं है कि इसकी यथार्थता

४६९. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, (डॉ० राधाकृष्णन, पृ० ५४१-५४३).
४७०. शांकर भाष्य १:२-८. और भी देखे ३:२, २५, और ४:२, ८, शांकर भा० १:३, १९.
४७१. शांकर भाष्य २:३, ४८.
४७२. मिथ्याज्ञानकृत एवं जीवपरमेश्वरयोर्भेदो नैवस्तुकृत। शांकर भाष्य १:३, १९.
४७३. ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ दि वेदान्त, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ५९.

को स्वीकार करें तथा अन्य सब वस्तुओं की यथार्थता का निषेध करें तो फिर नैतिक कर्म के लिए किसी प्रकार की भी प्रेरणा नहीं रह जाती। यदि अनित्यता के दोषों से बचने का एकमात्र उपाय उनका निषेध कर देना ही है तब फिर किसी गम्भीर नीतिशास्त्र के लिए कोई स्थान नहीं रहता। हमें द्वेष-भाव को दमन करने अथवा अपने स्वभाव में परिवर्तन करने के लिए तत्पर होने की आवश्यकता नहीं। किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि अविद्या, यद्यपि यह प्रधानतः एक तार्किक विचार है तो भीं संसार की अध्यात्मविद्या में जीवन की सम्पूर्ण मनस् स्थिति का द्योतक है। अविद्या एक प्रकार का अभिमान है कि" मैं शरीर रूपी हूँ। इसलिए शरीर की पूजा उंपजती है, जो 'राग' है और इसको तुच्छ समझना ही द्वेष है, इसको चोट लगने के विचार भय-आदि को उत्पन्न करते हैं आदि-आदि[४७४] मिथ्या ज्ञान समस्त स्वार्थपरक इच्छा तथा क्रियाशीलता का आधार है[४७५] अविद्या सीमित जीवात्मा का प्रतिबन्ध है जो इच्छा और संघर्ष का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करती है और जो इस कारण से हैं कि वह ब्रह्म के साथ एकत्व के विषय में अज्ञान रखता है। चरित्र के दोष न केवल मूर्खता तथा भूल है वरन् इच्छा शक्ति का विपर्यास भी हैं तथा ईश्वर की वाणी का उल्लंघन हैं शंकर बार-बार एक समस्त पद अविद्याकामकर्म का प्रयोग करते हैं।[४७६] जिसमें अविद्या से अभिप्राय है बोध-सम्बन्ध भूल जिसके कारण जीवात्माओं की विविधता को यथार्थ मान लिया जाता है[४७७], काम से अभिप्राय है प्रमेय विषय के प्रति भावुकता पूर्ण प्रतिक्रिया और कर्म से अभिप्राय है, इसे प्राप्त करने अथवा छोड़ने के लिए क्रियात्मक चेष्टा। यही समूचा विचार क्रम व्यक्तित्वभाव पूर्ण कर्म का है जो यथार्थ और अयथार्थ के असमंजस में जड़ जमाए हुए है और इसी से संसार की नींव पड़ती है[४७८] कर्म की उत्पत्ति अविद्या से हैं: और कर्म काम का परिणाम

---

४७४. देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तत्पूजनादौ रागः, तत्परिभवादौ द्वेषः, (शांकर भा० १:३, २).

४७५. शांकर भाष्य, केनोपनिषद् पर प्रस्तावना, संसार बीजम् अज्ञान् कामं-कर्म-प्रवृत्तिकारणम्। आगे कहा है "अविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजम्" (केन उप०पर० शांकर भा०४:९).

४७६. मुण्डकोपनिषद् पर शांकर भाष्य ३:१.१.

४७७. अविद्याकल्पितं लोकप्रसिद्धं जीवभेदम्। (शांकर भाष्य २:१, १४/१:३, १९).

४७८. अनात्मदर्शिनो ह्यनात्मविषयः कामः कामयमानश्च करोति कर्माणि; ततस्तत्फलोपभोगाय शरीराद् उपादानलक्षणः संसारः। (शांकर भाष्य-तैत्तिरीय उप० १:११).

है। मोक्ष की अवस्था में भूल का निवारण सत्य संकल्पों की फिर से प्राप्ति तथा सब प्रकार के स्वार्थमय प्रयत्नों का दमन रहता है।[४७९]

नैतिक जीवन के अनुशासन में स्वार्थपरक कार्यकलाप का दमन सत्य कामनाओं का विकास और लौकिक व्यक्तित्व के भाव पर विजय सम्मिलित है। जब तक अन्तिम कार्य सम्पन्न नहीं होता तब तक हमारे स्वरूप में पूर्णता नहीं आ सकती। हम अपने काम का दमन कर सकते हैं, हम जगत् के कल्याण के लिए भी कर्म कर सकते हैं, किन्तु फिर भी इसकी ओर सर्वथा निश्चिन्त नहीं हो सकते कि जीवन के किसी अन्य क्षण में हम असत्य इच्छा अथवा स्वार्थ पूर्ण कर्म करने के प्रलोभन का कभी शिकार न होंगे; निश्चय ही जब जक हम उत्सुकता पूर्ण इच्छा तथा अहंकार के मूल का सर्वथा ही उच्छेदन तथा अविद्या का लोप नहीं कर देंगे हम निश्चिन्त नहीं हो सकते कि हम कभी सत्यप्रकाश के व्यक्तित्व हीन मनोभाव को प्राप्त कर सकेंगे। नैतिक पुरुष संयोगवश उदासीन होता है, किन्तु सन्तपुरुष सदा अपने सत्य-प्रकाश के बल पर उदासीन है।[४८०]

मोक्ष निरूपण

अद्वैतवेदान्त में जीव का ब्रह्म से सर्वथा अभेद सम्बन्ध है। दोनों के भेद सम्बन्ध को-एकमेवाद्वितीयम्-इत्यादि श्रुतियों के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। उन दोनों के मध्य उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा कि घटाकाश और महाकाश के मध्य है। घट के अन्दर का आकाश और घट के बाहर का आकाश एक ही है किन्तु घट की उपाधि के कारण वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म एक ही हैं। किन्तु शरीर, मन और ज्ञानेन्द्रियों की उपाधि के कारण वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। आत्मा का कर्तृत्व भी मात्र अविद्यावशात् है। उसका कर्तृत्व तब तक ही उद्‌भासित होता है जब तक कि अविद्या के कारण द्वैत से सम्बन्ध रहता है। आत्मा का कर्तृत्व केवल व्यावहारिक रूप से ही सत्य हैं। प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म और जीव अभिन्न है तो जागतिक बन्धन क्यों होता है?

अद्वैतवादी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि अविद्या जीव अपने स्वरूप को भूल बैठता है। जीव यद्यपि स्वयं ब्रह्म है किन्तु अनादि अविद्या के कारण

---

४७९. सर्ववासनाक्षयं सर्वकामविनाशनं सर्वकर्मप्रविलयम्.
४८०. भारतीयदर्शन का इतिहास भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन् भाष्य, पृ० ५४५-५४६.

वह उस परम सत्य को विस्मृत कर बैठता है और स्वयं को मन शरीर इन्द्रियाँ समझने लगता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीव के बन्धन का कारण स्वयं उसके मन में ही है कही बाहर नहीं। बन्धन मानसिक है, सत्तागत नहीं, अतएव बन्धन केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है। पारमार्थिकरूपेण तो जीव ब्रह्म ही है। इसी कारण अद्वैतमत में इस बात पर बल दिया गया है कि मुक्ति की प्राप्ति बाह्य जगत् के किन्ही पदार्थो के रूपान्तरण का परिणाम नहीं, अपितु अपने पारमार्थिक स्वरूप को और अविद्याजनित बाह्य जगत् के मिथ्यात्व को समझ लेना ही है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्तान्तर्गत मोक्ष का साधन एकमात्र ज्ञान ही है। अर्थात् इस बात के ज्ञान का उद्भव होना ही है कि वह नितान्त रूपेण ब्रह्म ही है। जिस प्रकार रज्जु-सर्प भ्रम के निराकृत हो जाने से ज्ञाता को किसी नवीन पदार्थ या बात की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार जगत्-भ्रम के निराकृत होने से किसी नवीन पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती, मात्र अपने पारमार्थिक स्वरूप की ही उपलब्धि होती हैं इस प्रकार अद्वैतमत में मोक्ष किसी नवीन वस्तु की उपलब्धि का पर्याय नहीं है।

शंकर के मत में ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। इतना ही नहीं प्रत्युत सर्वोच्च ज्ञान स्वयं में मोक्ष ही है। ज्ञान और कर्म में वैसा ही विरोध है, जैसा कि प्रकाश और अन्धकार में। पुण्य और पाप कर्मो का फल क्रमशः सुख व दुःख है किन्तु आत्मज्ञान का फल मोक्ष है। यद्यपि कर्म और भक्ति उस ज्ञान की पृष्ट भूमि का निर्माण करते हैं। किन्तु उनमें भी अज्ञान का समावेश होता है। अतः एकमात्र ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। क्योंकि ब्रह्म जगत् भ्रम कर्म या भक्ति द्वारा दूर नहीं किया जा सकता है। वह तो एक मात्र ज्ञान से ही निराकरणीय है, जैसा कि पहले कहा जो चुका है कि अद्वैतमत में मोक्ष किसी नवीन पदार्थ या सत्ता की उपलब्धि नहीं है, प्रत्युत अपने यथार्थ स्वरूप का उद्बोधनमात्र है। अतएव ज्ञान के द्वारा अज्ञान का उच्छेदन ही मोक्ष है क्योंकि जीव इव अज्ञान से पूर्व ब्रह्म ही था, किन्तु माया के कारण वह अपने इस यथार्थ में लगा। ऐसे अज्ञान की निवृत्ति के अन्तर जो स्वरूपोद्बोधन होता है, वही मोक्ष है।

शंकर का विचार है कि कर्म से मोक्ष का कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म का फल किसी वस्तु की उत्पत्ति होता है या अपने परिणाम के द्वारा किसी वस्तु में विकार उत्पन्न करना होता है। शंकर इस बात का निषेध करते हैं कि नित्य मोक्ष कर्म एक अनित्य कारण से उत्पन्न नहीं हो सकता। मोक्ष किसी पदार्थ का विकार

ही नहीं है, क्योंकि विकार होने से वह नित्य नहीं हो सकता फिर भी जगत् में देखा जाता है कि वैज्ञानिक पदार्थ नित्य नहीं हुआ करते जिस प्रकार दूध का विकार दही नित्य नहीं हुआ करता। शंकर के अनुसार भक्ति और कर्म के द्वारा सगुण ब्रह्म ही प्राप्त हो सकता है परमतत्व उपलब्ध कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि वे मिथ्या जगत् के ही एक अंग है, जो सर्वाधिक विपाक मात्र रखते हैं। तत्परिणामी में अक्षुण्णता का सर्वथा अभाव होता है परमतत्त्व ज्ञानस्वरूप मात्र है।[४८१] तस्मात्......ज्ञानान् न मुक्ति।

नैष्कर्म्य सिद्धिकार ने कहा है कि जब जीव शारीरिक साधनों के प्रति अजग एवं अहं रहित जो कि शारीरिक बन्धनों के कारण है, हो जाता है तो ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि सिंह और मेष की भाँति ज्ञान और कर्म एकत्रैव नहीं रह सकते।[४८२]

उपनिषदों में मोक्ष के स्वरूप को बताते हुए कहा है कि ज्ञान से ही अमृत को प्राप्त किया जा सकता है।[४८३] जब वह ज्ञान की अवस्था प्राप्त कर लेता है तो वह उसकी पराकाष्ठा ही है। दो प्रकार की भावना वैयक्तिक और समष्टिगत की तुलना करते हुए कहा है कि जो वैयक्तिक भावना से ऊपर उठकर समाज को प्रमुखता देता है अर्थात् उस परमेश्वर को जानने तथा मोक्ष को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि सम्भूति अर्थात् इदं न मम की भावना से ओत-प्रोत होता हुआ समाज के लिए अपना जीवन समर्पित कर देता है तो तभी उस समाष्टिगत ज्ञान से अमृत अर्थात् मोक्ष को उपलब्ध कर लेता है।[४८४] ज्ञान की इस उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मुनष्य का अपने पराये का भेद नहीं रहता।

इसे उपर्युक्त उपनिषद् में मोक्ष के स्वरूप को अमृतमय बतलाया है जिसका अभिप्राय है कि वह अमृत को प्राप्त कर उस कल्याणतम ईश्वर के दर्शन कर लेता है अर्थात् उसके आनन्द में रहता है। जब जीवन मुक्तावस्था में उस ब्रह्म के तेज को देखता "सोऽहमस्मि" पद का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ स्थूल रूप में देखने से ज्ञात होता है कि वह परमात्मा में हूँ यही अर्थ आचार्य शंकर आदि को अभीष्ट है। वह ब्रह्म था, बस यह ज्ञान हो जाता हैं कि "मैं ब्रह्म हूँ।

४८१. तस्मात्....ऋते ज्ञानात् न मुक्ति.
४८२. बाध्याबाधकभावाच्च पञ्चास्योरणयोरिव।
एक देशानवस्थान्ते स्यात् समुच्चयता तयोः।। १/५५ नैत्कर्म्यसिद्ध.
४८३. विद्यया अमृतमनुश्ते। ई०उ०.
४८४. सम्भूत्या अमृतमश्नुते। ई०उ० पं० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार भाष्य द्रष्टव्य, पृ०२४.

परन्तु इस पर आपत्ति यह है कि जब यहाँ वह ब्रह्म है इसका ज्ञान हो गया तो यह क्यों कहता है कि मैं उस "कल्याणतमं" पुरुष को देखता हूँ।[४८५] देखना तो पृथक् सत्ता रखने पर ही हो सकता है।

वस्तुतः यहाँ अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जब मनुष्य अज्ञान आदि के कारण शरीर, इन्द्रियाँ मन, बुद्धि आदि को मैं रूप में जानता है। तो अज्ञान के दूर हो जाने पर अपने तेज और परमेश्वर के तेज को देखकर कहता है कि जैसे ईश्वर जड़ रहित चेतन स्वरूप है, ऐसे ही मैं भी चेतन स्वरूप हूँ। उसे तादात्म्य-सा प्रतीत होने लगता है, यह अवस्था तभी सम्भव है, जब वह परमात्मा के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण कर लेता है। लोक में भी यह व्यवहार प्रसिद्ध है कि अति प्रेम होने पर अभेद सा प्रतीत होने लगता है। यदि उपनिषद्कार को यह अद्वैतवादी सिद्धान्त अभीष्ट होता तो यह प्रार्थना जीवात्मा से न करवाता। हे ज्ञान स्वरूप परमात्मा! मुझे सुपथ पर ले चल।[४८६] 'ओ३म्' को स्मरण करने का उपदेश न दिया जाता।[४८७] जब वह स्वयं ब्रह्म है तो स्मरण किसका?

केनोपनिपद् में मोक्ष को अमृत स्वरूप में ही माना है। धीर विद्वान् ज्ञानी लोग समस्त पदार्थों को छोड़कर जो श्रोत का श्रोत, मन का मन, परमेश्वर है उसको जानकर अमृतावस्था को प्राप्त हो जाते हैं[४८८] उस मोक्ष अवस्था में चक्षु आदि का ज्ञान नहीं होता है। अर्थात् ये इन्द्रियाँ स्थूल रूप में वहाँ नहीं जाती है।[४८९] कुछ विद्वान् अमृत का अर्थ मोक्ष मानकर अन्यथा अर्थ करते हैं। उनका खण्डन स्वयं उपनिषद्कार यह कहकर करता है कि वहाँ चक्षु आदि का भी गमन नहीं है केनोपनिषद् में मोक्षावस्था के लिए स्वर्ग शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[४९०] स्वर्ग

---

४८५. कल्याणतमंतत्ते पश्यामि। ई० १६.

४८६. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। ईशोप०-१८, ऋग्वेद, यजु०.

४८७. ओ३म् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।। ईशोपनिषद् १७.

४८८. श्रोतस्य श्रोतं मनसो मनो यद्वाचो हवाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।। केनोपनिषद् १.२.

४८९. न तत्र चक्षुर्गच्छति नवागच्छतिनो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। केनोपनिषद् १.३.

४९०. यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति।। केन उप० ४.९.

पद का प्रयोग होना इस ओर संकेत करता है। कि उस अवस्था में सदा रहने वालों को आनन्द प्राप्त होता है। यह कठोपनिषद् में भी कहा है कि वहाँ स्वर्ग लोक में जरा और मृत्यु को कभी नहीं प्राप्त करता है।[४९१] अपितु एकरस रहने वाला आनन्द प्राप्त होता है[४९२] इस मन्त्र में 'शोकातिगो' कहकर दु:खों की निवृत्ति का संकेत भी मिलता है। मोदते से आनन्द का संकेत मिलता है। स्वर्ग लोक से सुख विशेष की अवस्था का अभिप्राय जीवन्मुक्तावस्था से हैं। जीवन्मुक्तावस्था से जीवात्मा मोक्ष में चला जाता है। भूख प्यास से रहित और पूर्णत: भय से रहित होना मोक्ष के विना संभव नहीं है हमारे इस विचार की पुष्टि उपनिषद्कार स्वयं करता है कि वह आगे से मृत्यु के पाशों को काटकर शोक से पार होकर स्वर्ग लोक में आनन्द मय रहता है।[४९३]

यहाँ पर उपनिषद्कार ने द्वितीय वर के द्वारा यज्ञाग्नि, जिसे हम अध्यात्मिक यज्ञाग्नि भी कह सकते हैं, उस द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति वतलाया है। जब जीवात्मा पूर्णत: शुद्ध हो जाता है, तो उस मोक्ष पद को प्राप्त कर जो मृत्यु के बाद जन्म लेता था, वह जन्म ग्रहण नहीं करता है।[४९४] यहाँ तत्पदं मोक्ष का विशेषण है। उस मार्ग को निर्देश करते हुए कहा है कि उस मोक्ष के मार्ग को पार कर उस विष्णु (व्यापक) परमेश्वर के धाम अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यह "परमंपदम्" पद मोक्ष के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् जीवात्मा का सर्वोच्च पद मोक्ष ही हैं वही उसकी सर्वोच्च अवस्था पराकाष्ठा या परागति नाम से घोषित की गई है।[४९५] उस परमधाम के अन्य विशेषणों के अतिरिक्त कठोपनिषद् में ध्रुव पद भी आया है जो इस बात का संकेत देता है कि मोक्ष धाम चिरस्थायी है। यद्यपि मोक्ष या मुक्ति शब्द उपनिषदों में प्रांय: प्राप्त नहीं होता तो

---

४९१. स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया विभेति। उभे तीर्त्वाशनायापिसासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके। (कठ उप० १.१.१२).

४९२. स मृत्युपाशान् पुरत:प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।। कठोपनिषद् १.१.१८.

४९३. यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्क: सदा शूचि: सतु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते। क०उप० १.३.८.

४९४. विज्ञानसारथिर्यस्तु मन:प्रग्रहवान् नर:। सोऽध्वन: पारमाप्नोति तद्विष्णो: परमं पदम्।। क०उप० १.३.९.

४९५. महत: परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष: पर:। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गति:।। क०उप० १.३.११.

भी शोक से छूट जाता है इत्यादि अर्थों में विमुक्तः विमुच्यते, परिमुच्यते आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये सभी शब्द 'मुच्' धातु से ही निष्पन्न होते हैं। मोक्ष भी इसी धातु से निष्पन्न होता है। परन्तु छूटना अर्थ यहाँ मुख्य रूप में प्रतीत होता है। मोक्ष के लिए 'अमृत' पद का प्रयोग उपनिषदों में अनेकों स्थलों पर उपलब्ध है।[४९६]

मुण्डकोपनिषद् में मुक्ति और विमुक्त शब्द का प्रयोग मोक्ष के अर्थ में हुआ है इस उपनिषद् में जीवात्मा और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन स्पष्ट रूप में किया है परन्तु आगे चलकर अद्वैतवादी श्रुति भी उपलब्ध होती है। प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार रहस्यवादी भाषा का प्रयोग कर पाठक को आश्चर्य में डाल देता है। इस विरोधाभास का परिहार यथार्थवादी दार्शनिक करने का प्रयास करते हैं। मोक्ष का वर्णन करते हुए उपनिषद् में कहा है कि "जब मनुष्य पुण्य प्राप्त करके मोहजाल को समाप्त कर लेता है तब वह निरंजन परमात्मा परम साम्यता को प्राप्त कर लेता है।[४९७] यहाँ 'साम्य' पद इसका द्योतक है कि वह जीवात्मा ब्रह्म नहीं हो जाता अपितु उसके अन्दर अपहतपाप्मादि ब्रह्म के धर्मों की साम्यता उपलब्ध हो जाती है। जीव में सबसे अधिक ब्रह्म से न्यूनता है, वह है, आनन्द का न होना। वह उस ब्रह्म को जानकर आनन्द को प्राप्त कर उसकी समता कर लेता है न कि अपनी सत्ता समाप्त कर प्रलय को प्राप्त होता है। जैसा कि अद्वैतवादी कहते हैं।

ब्रह्मधाम शब्द का प्रयोग मुक्ति के लिए किया गया है[४९८] मुक्ति के स्वरूप और सीमा निर्धारण करते हुए बतलाया गया है वे ब्रह्मनिष्ठ लोग मोक्ष में अर्थात् ब्रह्मलोक में परान्तकाल तक रहते हैं।[४९९] यहाँ परान्तकाल तक कहकर स्पष्ट रूप में यह बताया है कि जीव ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता हुआ ब्रह्म में विचरता रहता है और ब्रह्मानन्द का अनुभव करता रहता है। जब वह आत्मा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है तब वह सभी प्रकार के अपने नामों से रहित हो जाता है अर्थात् लोक

---

४९६. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावाद्धचनुशासनम्।। म०उप० २.३.१४.

४९७. यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।। मुण्डकोपनिषद् ३.१.३.

४९८. छां० ८.३.४. तेषां सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति। छां० ७.२५.२. ८.१.६.

४९९. य एवं वेद पद ९, १०, ११, मा०उ० पर द्रष्टव्य.

में जो नाम है उनसे मुक्त होकर परमपुरुष को प्राप्त कर लेता है। जैसे-गंगा, यमुना आदि नदियाँ समुद्र में जाकर यमुना आदि नामों से नहीं कही जाती, इसी प्रकार यज्ञदत्त, राम आदि नाम उसके नहीं रहते।[५००] मोक्ष में जीवात्मा ब्रह्म हो जाता है ऐसा अद्वैतवादी मानते हैं इस मन्त्र का प्रमाण उसके लिए अन्तिम है। अर्थात् इसे वे अकाट्य समझते हैं। परन्तु भाष्यकारों के विवाद में न जा कर यदि मूल उपनिषद् के मन्त्र को देखा जाये तो उनका यह मानना भ्रम प्रतीत होता है। क्योंकि नदियों का दृष्टान्त देकर यह माना है कि नदियाँ नाम-रूप छोड़कर समुद्र में लय होकर समाप्ति को प्राप्त हो जाती हैं। परन्तु पुरुष के लिए यह नहीं कहा "लयं प्राप्नोति" ऐसा पद नहीं है परमं पुरुषमुपैति दिव्यम् "दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है, न कि ब्रह्म हो जाता है। इससे आगे भी कहा है कि वह परम महान् को जान शोको को पारकर ग्रन्थियों से छूटकर अमृत हो जाता है।

छान्दोग्योपनिषद् में भी इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है कि "उस परमज्योति को प्राप्त कर वह अपने स्वरूप को पहचान लेता है।"[५०१]

माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार का वर्णन दिया है। अनेकों स्थलों पर उसको जानने का विधान किया गया है।[५०२] परन्तु आश्चर्य यह है कि आचार्य गौडपाद ने कह दिया कि न कोई मुमुक्षु है और न ही मुक्त अर्थात् मोक्ष आदि कुछ भी नहीं है। जबकि प्रायः सभी उपनिषदें एक स्वर से मुक्त का वर्णन कर रही है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया है कि जब ब्रह्म-ज्ञानी महा आकाश रूप गुहा में स्थित उस ब्रह्म को जान लेता है तब वह सब कुछ प्राप्त कर मोक्ष अवस्था में चला जाता है।[५०३] यहाँ स्पष्ट कहा है कि ब्रह्मविद् उस परम पद को प्राप्त करता है न कि ब्रह्म हो जाता है। यदि ऐसा होता तो यहाँ इस स्थल पर "सर्वान् कामान् अश्नुते" वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, यह पद नहीं आना चाहिए था। उस मोक्ष अवस्था में वाणी वहाँ से लौट आती है, मन की मति भी नहीं है, वहाँ मोक्ष में किसी प्रकार भय भी नहीं है। इसी उपनिषद् में आगे कहा गया

---

५००. न मुमुक्षर्नवैमुक्त इत्येषा परमार्थता। गो०क० २.

५०१. जुष्टस्ततस्तेनाम् त्वमेति। श्वेता० १.६.

५०२. श्वेताश्व्रतर उप० ३.१, ७/८.४.१६, २०/५.१/६.६.६, १८.

५०३. य आत्मा अपहहपाप्मा......सत्यंकामं सत्यसंकल्यः.....सर्वांश्चकामान्।। छा० प्राव. ८-७ मं०.

है कि मोक्ष होने पर जीवात्मा पूर्ण अभय हो जाता है[५०४] वह अभय कब हो जाता है। तभी जबकि वह उस आनन्दमय इस रूप ब्रह्म को प्राप्त कर मुक्तावस्था में चला जाता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है कि जीवात्मा परमेश्वर को जानकर उस अमृत रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस उपनिषद् में मोक्ष के लिए "अमृत" शब्द अनेकों बार आया है। कहीं पर यह "अमृत" शब्द परमात्मा का भी वाचक है। परन्तु प्रायः करके "अमृत" जितनी बार भी आया है, वह मुक्ति के अर्थ में ही है। मुमुक्षु अमृत को प्राप्त कर सभी प्रकार के शोकों से तर जाता है अध्यात्म मार्ग का यही एक पथ है जो कि मोक्ष को प्राप्त करा सकता है। अन्य कोई पथ नहीं है। इनमें कई स्थलों पर पाशों से छूटने का भी उल्लेख है पाशों से छूट जाना और अमृत हो जाना इस बात की ओर संकेत करता है कि मोक्षावस्था में जीवात्मा सर्व दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जो परमात्मा अपहत पाप्मा, सब पाप, जरा, मृत्यु, शोक,क्षुधा पिपासा से रहित है, उसे जानना चाहिए जो ऐसे परमात्मा को जान लेता है। उस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है।[५०५]

जो परमात्मा को ज्ञान कर मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है, सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्य नेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता प्राप्त होता हुआ रमण करता है। ज़ो ये ब्रह्म लोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित हो के मोक्ष सुख को भोगते हैं और इसी प्रकार परमात्मा का जो सबका अन्तर्यामी आत्मा है, उसकी उपासना, मुक्ति की प्राप्ति करने वाले विद्वान् लोग करते हैं, उससे उन सबको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं। जो-जो संकल्प करते हैं वह-वह लोक, वह-वह काम प्राप्त होता है।[५०६] छांदोग्य में कहा गया है कि ये मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़कर संकल्प मात्र शरीर से

---

५०४. स एष एतेन......सर्वें च लोका आप्ता, सर्वें च कामाः.....विजानाति इति। छा०प्र०-८, खं० १२, मं० ५,६.

५०५. सर्वानकामान् सहब्राह्मणा विपश्चितेति। तै०ब्रा० ब० २,१०.

५०६. यतो वाचो निवर्तन्ते......आनन्दब्रह्मणो विद्वान्नविभेति।
अथ सो अभयं गतो भवति। (तै०ब्रा० व-३.१५).

आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं क्योंकि जो शरीर वाले होते हैं वे सांसारिक दु:ख से रहित नहीं हो सकते हैं, जैसे-इन्द्र से प्रजापति ने कहा है कि हे धनयुक्त पुरुष! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे, वेसे यह शरीर मृत्यु के बीच में है। मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है उसको सांसारिक सुख-दु:ख का स्पर्श ही नहीं रहता किन्तु सदा आनन्द में रहता है।[५०७]

वृहदारण्यक उपनिषद् में भी इस प्रकार जीवात्मा स्वच्छन्द होकर सब कामों को पूर्ण करता सर्वत्र ब्रह्म में विचरता, ऐसे जीवात्मा का उल्लेख मिलता है।

शंकर ने अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट किया है कि मुक्ति का स्वरूप ब्रह्म के साथ एकत्व का है।[५०८] तथा यहाँ तक कि ब्रह्म अनुभव के सब प्रकार के विभागों से ऊपर उठा हुआ है। इस प्रकार मोक्ष की अवस्था का वर्णन हमारे ज्ञान के शब्दों में नहीं किया जा सकता। चूँकि हमारा ज्ञान देश, काल कारण और कार्य, व्यक्तियों तथा वस्तुओं एवं कर्मों तथा दु:खों से सम्बन्ध रखने वाले भेदों का प्रतिपादन करता है, इसलिए यह कहा जाता है कि इनमें से कोई भेद मोक्ष की अवस्था में लागू नहीं होता। यह नहीं कहा जा सकता कि मुक्तात्मा पुरुष किसी एक भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं। जिसका नाम स्वर्ग अथवा ब्रह्मलोक है, और न यही कहा जा सकता है कि वे अनन्त काल तक रहते हैं। क्योंकि शंकर अरस्तु के साथ इस विचार से सहमत है कि अनन्त काल की अवधि न तो उत्तम को उत्तमतर बना सकती है और न श्वेत को अधिक श्वेत ही बना सकती है।[५०९]

हम मोक्ष की अवस्था को निरन्तर क्रियाशीलता की अवस्था के रूप में नहीं मान सकते। यह सर्वोन्नत अनुभव है जो सब प्रकार की क्रियाशीलता से अतीत है। यहाँ तक कि इस अवस्था में आत्मचैतन्य भी मिटा दिया जाता है। आत्मा संसार चक्र से ऊपर उठकर, जिसके साथ विकास और क्षय, जन्म औंर पुनर्जन्म को सदा चलते रहने वाला प्रवाह लगा हुआ है, ऐसे नित्यत्व के अनुभव को प्राप्त कर लेती है। जिसका लक्षण करते हुए बौथियम ने कहा है कि यह

---

५०७. मधुवन् मत्यंवाइदं शरीरमात्तं मृत्युना.....तदस्यामृतस्याशरीर....वावसन्तं न प्रियोप्रिये स्पृशत:। छा०प्रा० ८, खं०म०-१२, पं० १.

५०८. ब्रह्मैव हि मुक्त्यावस्था.

५०९. निकोमैकियन एथिक्स १:६.

अनन्तजीवन को सम्पूर्ण रूप में तथा क्षणमात्र के अन्दर प्राप्ति है।[५१०] मोक्ष की अवस्था विश्वात्मा के साथ सर्वात्मभाव प्राप्त करना है, अर्थात् उस ब्रह्म के साथ जो कि व्यावहारिक जगत् के समस्त भेदों से ऊपर उठा हुआ है।[५११] मोक्ष की अवस्था अपने निजी ब्रह्मरूपी आन्तरिक रूप के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है और स्वर्ग की भाँति कोई उपार्जित अवस्था भी नहीं है। शास्त्रो (श्रुति) में शिक्षा दी गई है, और यही तर्क सम्मत भी है कि ब्रह्म का एक ही रूप है और इसलिए मोक्ष भी एक ही प्रकार का है, चाहे उसे ब्रह्म प्राप्त करे चाहे मनुष्य। सालोक्य और अन्य प्रकार के विशिष्ट मोक्ष जिनका वर्णन आता है चूँकि अर्जित परिणाम हैं इसलिए भिन्न-भिन्न कोटियों की पूजा के कारण उनमें श्रेष्ठता आदि का भेद हो सकता है, किन्तु मुक्ति उस स्वरूप की नहीं है।[५१२] चूँकि ब्रह्म "सब स्थानों में उपस्थित है, हर एक वस्तु के अन्दर है, और सब वस्तुओं की आत्मा है, यह सर्वथा असंभव है कि यह गति की प्रक्रिया का लक्ष्य बन सके। क्योंकि जिस पर हम पहले से ही पहुँच गए है उसके प्रति चलने का कुछ अर्थ नहीं है। अनुभव हमें बताता है कि मनुष्य अपने से पृथक् की ओर जाता है।[५१३]

शरीरधारी ईश्वर के उपासक तो ब्रह्मलोक को जा सकते हैं। किन्तु उन्हें नहीं जाना होता, जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है।[५१४]

मोक्ष का वर्णन निषेधात्मक रूप में ऐसी स्वतन्त्रता की अवस्था कें रूप में किया गया है कि जहाँ न दिन है न रात है, जहाँ काल की धारा का प्रवाह रुक गया है, और जहाँ सूर्य तथा तारे आकाश से दूर कर दिए गए है। ज्ञान के भेद इसके अन्दर कोई शक्ति नहीं रखते।[५१५] यह ईसाइयों-के स्वर्ग के समान है, जो भ्रष्टाचार से शून्य है, अकलुषित है और कभी क्षीण नहीं होता। किन्तु इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए, कि यह नितान्त अभाव की अवस्था है।

मुक्तात्मा किसी अन्य को नहीं देखता, वरन् अपने को सबके अन्दर देखता

---

५१०. एवेलिन अण्डरहिल कृत जेकोपोन डी टोडी के पृष्ठ-२४५ पर उद्धृत.

५११. स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीत ब्रह्मस्वरूपत्वम् एव। (शांकर भाष्य तैत्तिरीय उप० -२:१).

५१२. शांकर भाष्य ३:४, ५२.

५१३. शांकर भाष्य ४:३, १४ और ३:३१.

५१४. शांकर भाष्य ४: ३, ७-८.

५१५. दर्शनादिव्यवहाराभावः। (शांकर भाष्य १: ३, ९).

है।[५१६] ठीक जिस प्रकार ब्रह्म हमारे लौकिक दृष्टिकोण से केवल शून्य मात्र प्रतीत होता है। इसी प्रकार मोक्ष की अवस्था सर्वथा हानि रूप ही प्रतीत होती है, अर्थात् विलुप्त होते-होते विस्मृति में परिणत हो जाती है। यह एक प्रकार से प्रकाश का बुझ़ जाना एवं क्षीण हो-होकर अभावरूप में परिणत हो जाना है, जैसा कि जार्ज इलियट ने अपने दि लीजेंड ऑफ जुबल में प्रस्तुत किया है, "एक बुझी हुई सूर्य की लहर जो मर्त्यभाव को छोड़ते हुए अपने अन्तिम विश्राम-स्थान उस सर्वस्रष्टा के सान्निध्य में रहने को प्रस्थान करती है।" चूँकि जिस प्रकार शंकर इस विचार का विरोध करते हैं कि ब्रह्म केवल दुर्बलात्माओं को असद् रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार वे तर्क करते हैं कि हमारे लौकिक दृष्टिकोण से यह महान् सर्वात्मा के साथ एकत्व की प्राप्ति भी ऐसी प्रतीत तो होती है मानों अन्त में मृत्यु-मुख में चली गई और फिर जीवित न होगी, किन्तु यथार्थ में यह ऐसा नहीं है। ऐसे वाक्य भी आए है जिनमें यह प्रतिपादन किया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति पर चैतन्य रहता है।

इस प्रकार के वाक्य को लेकर आचार्य शंकर तर्क प्रस्तुत करते हैं कि इस अवस्था में वैयक्तिक चेतना (विशेष-विज्ञान) लुप्त होती है, समस्त चैतन्य नहीं। आत्मा का विशुद्ध सारतत्त्व विद्यमान रहता है[५१७] इसी प्रकार उनका मत है कि मोक्ष में केवल प्रतिबन्ध उत्पन्न करने वाले सहायक नष्ट हो जाते हैं। किन्तु स्वयं आत्मा, नष्ट नहीं होती।[५१८] मोक्ष निर्जन प्रदेश में विलुप्त हो जाना नहीं है। हमारे लिए अपने सीमित दृष्टि कोण से जीवात्मा अपने शरीर, इन्द्रियों, चित्त तथा बोधशक्ति तक ही सीमित दृष्टि कोण से यथार्थ है, और यह मुक्तात्मा, जिसने विश्वात्मा के साथ अपने एकत्व को साक्षात् कर लिया है, काल पर विजय प्राप्त कर ली है, और नित्य जीवन को प्राप्त कर लिया है, यथार्थ प्रतीत होती है। हम शारीरिक जीवन के अर्थो में एक निरन्तर रहने वाले अमरत्व के जीवन की अभिलाषा करते हैं। शंकर ऐसी आत्मा को उक्त प्रकार का जीवन प्रदान करते हैं जिसका दृष्टि कोण शरीर, इन्द्रियों तथा चित से परे नहीं जाता। शंकर केवल ऐसी आत्मा को एक विशिष्ट एवं प्रतीतिमय वस्तुओं में से एक आभासमात्र मानते

---

५१६. मुक्तस्यापि सर्वैकत्वात् समानो द्वितीयाभावः। (शांकर भाष्य, छांदोग्य उप० ८:१२, ३).
५१७. शांकर भाष्य १:४, २२. वृहदा०उप० ४:३,३० पर शांकर भाष्य १:३, १९ में उद्धृत किया है विशेष विज्ञानं विनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्।
५१८. उपाधिप्रलयमेवायं नात्मप्रलयम् २:१, १४.

हैं। जो उत्पन्न होती तथा नष्ट हो जाती है। किन्तु...जब ये सब वस्तुएं जो सीमित को सीमित बना देने वाली है नष्ट हो जाती है और जब यह शरीर जो सीमितता का प्रतीक है, विनष्ट हो जाता है, अर्थात् जब सीमित अनन्त के स्तर तक ऊँचा उठा दिया जाता है, तब हम यथार्थ निःक्षेयस् की अवस्था को यहीं और वर्तमान काल में प्राप्त कर लेते हैं। इसकी ठीक-ठीक विषय-वस्तु क्या है, यह वर्णन करना कठिन है। यह सत्य है कि इसको आंखो ने नहीं देखा न कानों ने सुना और नहीं इसने मनुष्य के हृदय में प्रवेश पाया और न कभी उस दिव्य ज्योति के भाव मात्र का भी विचार किया जिसकी अभिव्यक्ति अवश्य कभी न कभी होकर रहेगी। तो भी यदि मोक्ष का हमारे लिए कोई महत्व है तो हमें अमरत्व के विचार को काल-सम्बन्धी भाषा में रहकर इसे 'सर्वात्मभाव' के नाम से पुकारना चाहिए।[५१९]

इस प्रकार ऐसे भी वाक्य है जिनमें शंकर ने बलपूर्वक कहा है कि जीवात्मा का सत्य स्वरूप वही है जो सर्वोपरि प्रभु का है, "सर्वोच्च प्रभु की आत्मा शरीरधारी जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप है; और शरीर रूप बन्धन की अवस्था प्रतिबन्ध करने बाले सहायको के कारण है।[५२०] जैसे कि काल्पनिक सांप अविद्या के दूर हो जाने पर रस्सी के वास्तविक रूप में आ जाता है, इसी प्रकार भासमान् जीवात्मा का, जो कर्तृत्व और अनुभव, राग, और द्वेष तथा अन्य त्रुटियों के कारण दूषित है और अधिकतर पाप के अधीन है, ज्ञान के द्वारा उस सर्वोच्च ईश्वर के निष्पाप सारतत्त्व में रूपान्तरण हो जाता है जो इन सब अपूर्णताओं के प्रतिकूल है।"[५२१] अप्पयदीक्षित इस वाक्य को उद्धृत करते हुए कहता है कि शंकर स्पष्ट रूप में मोक्ष के ईश्वर के साथ एकत्व सम्बन्धी विचार का समर्थन करते हैं।[५२२] और स्वयं भी वह इसे मानते हैं।[५२३]

ऐसा कहा गया है कि मुक्तात्मा को सर्वोच्च सत्ता से भिन्न किया जा सकता है।

---

५१९. सर्वात्मभावो मोक्ष उक्तः। (शांकर भाष्य. वृहदा०उप० ४:४, ६).

५२०. पारमेश्वरम् एव हि शरीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, उपाधिकृतं तु शारीरत्वम्। (३:४.८). (शांकर भाष्य १:३, १९).

५२१. यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादिदोष कलुषितम्। (शांकर भा० १:३, १९).

५२२. भाष्यकारोऽप्यतिस्पष्टं मुक्तस्य सगुणेश्वरभावात्तिम् आह।

५२३. देखें सिद्धान्तलेश ४.

इस प्रकार के अभेद की व्याख्या नाना प्रकार से की जाती है। जैमिनी[५२४] के अनुसार मुक्तात्मा में अनेक गुण विद्यमान रहते हैं, यथा पाप से निर्लिप्तता, विचार की सत्यता एवं सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमान्। औडुलोमि को इसमें" आपत्ति है और अपना मत वह इस प्रकार प्रकट करता है कि मुक्तात्मा में केवल एक विध्यात्मक गुण, अर्थात् आध्यात्मिक चैतन्य और निषेधात्मक गुण, अर्थात् पाप से निर्लिप्तता, रहता है।[५२५]

अन्य गुण, जो जैमिनी ने मुक्तात्मा में बताएं है, उपाधियों के कारण है। आचार्य बादरायण इन दोनों मतो में किसी प्रकार का परस्पर विरोध नहीं पाता है[५२६]। शंकर भी वादरायण से सहमत है। औडुलोमि ने हमारे आगे आध्यात्मिक सत्य को प्रस्तुत किया है जिसे निचोड़कर लौकिक विभागों में नहीं रखा जा सकता; किन्तु यदि हमारा आग्रह लौकिक विवरण के ही ऊपर हो तो हमें अवश्य ही जैमिनी का विचार स्वीकार करना होगा। इस प्रकार जैमिनी और औडुलोमि मोक्ष की एक अवस्था का बौद्धिक तथा अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करते हैं। बादरायण यह कहते हुए कि लगभग अनन्त शक्ति और ज्ञान, जो मुक्तात्मा को मोक्ष अवस्था में प्राप्त हो जाते हैं, यह भी कहता है कि चाहे जो कुछ भी क्यों न हो सृष्टिरचना, शासन करने तथा विश्व के नाश करने की शक्ति ईश्वर के अतिरिक्त किसी मुक्तात्मा को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि ये शक्तियाँ केवल ईश्वर को ही प्राप्त है।[५२७] मध्व के साथ इस विचार की संगति है, जिसका मत है कि निम्नपदस्थ आत्माओं के लिए ईश्वर जैसी अनन्तशक्ति तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त करना असम्भव है। रामानुज के सामने अपने ब्रह्म के आन्तरिक भेदों तथा मुक्तात्मा एवं ईश्वर के बीच के शाश्वत भेदों के कारण कोई समस्या नहीं है। शंकर इस विचार को उपनिषदों के बार-बार दोहराए गए विचारों जैसे "मुक्तात्मा विशुद्ध सत्ता के साथ अत्यन्त समानता प्राप्त कर लेता है", वह जगत् का स्रष्टा हो जाता है", आदि के साथ असंगत पाते हैं। तो भी बादरायण कहता है कि वह संसार का शासक नहीं हों सकता। शंकर स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि परममुक्ति की दशा में न तो विषयी रहता है और न विषय रहता है, न आत्मा रहती है और न जगत्

---

५२४. शांकर भाष्य ४:४, ५; छान्दोग्य उप० भी देखें ८:१, ६,/८: ७,१.
५२५. शांकर भाष्य ४:४, ६, वृहदारण्यक उप० भी देखें ४:५, १३.
५२६. शांकर भाष्य ४:४, ७.
५२७. वैशेषिक सूत्र ४:४, १७.

रहता है और इस प्रकार शासन अथवा सृष्टिरचना का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता; किन्तु जब तक हम ईश्वर के तथा आत्माओं और संसार के स्तर पर हैं तब तक परमार्थभाव से मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ और इस प्रकार, उस अवस्था में यह सत्य है कि मुक्तात्मा में सृजन शक्ति आदि को छोड़कर ईश्वर के सब गुण है।[५२८]

शंकर के अनुसार ऐसा पुरुष जिसमें आध्यात्मिक अन्तदृष्टि है, ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है, यद्यपि इस दशा को हम केवल ईश्वर के सादृश्य के रूप में ही वर्णन कर सकते हैं किन्तु ऐसे पुरुष जिनके अन्दर आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि तो नहीं किन्तु शरीरधारी ईश्वर की वे पूजा करते हैं, सर्वथा अविद्या से मुक्त नहीं है और इस प्रकार ब्रह्मलोक में सृष्टि रचना तथा संसार की शासन सम्बन्धी शक्तियों के अतिरिक्त अन्य सब शक्तियों को प्राप्त कर लेते हैं। वे ईश्वर से पृथक् अपना व्यक्तित्व रखते हैं। यद्यपि वे ईश्वर के भाव से युक्त है।

उपनिषदों में मोक्ष के साधनों के वर्णन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–विधेयात्मक और निषेधात्मक। विधेयात्मक वे साधन है जिनका साधक को अनुष्ठान करना पड़ता है। निषेधात्मक साधनों से मल-विक्षेप आवरण की परतें क्षीण करनी पड़ती है। न करने योग्य कर्मों को छोड़ना यही निषेधात्मक साधन है[५२९]। दोनों प्रकार के साधनों को करने के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार जिसको श्रवण चतुष्ट्य कहते हैं, इनका पालन ध्यान पूर्वक करना चाहिए। अर्थात् यह किसी भी ज्ञान या साक्षात्कार की प्रक्रिया है। ध्यानपूर्वक गुरु-उपदेश को सुनना, सुनकर उस पर मनन करना, मनन के पश्चात् जिसे सत्य समझो, उसके अनुसार आचरण करना प्रारम्भ करना। इस प्रक्रिया से साधक तत्वज्ञान तक पहुँचकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

ईशोपनिषद् में विद्या और अविद्या का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि विद्या से साधक मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यहाँ आचार्य शंकर ने विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ कर्म किया है। अर्थात् कर्मों (यज्ञों) के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर विद्या अर्थात् ज्ञान से मुक्ति को प्राप्त करता है।[५३०] सांख्य में भी इसी ज्ञान को विवेक कहा है। योगदर्शन भी उसका समर्थन करता है। अर्थात् प्रकृति और पुरुष के भेद का विवेक हो जाने पर ही आत्मा मुक्ति को

---

५२८. वादरायण तथा उपनिषद् (४:२, १३, १६/४. ४, १७ और २१).

५२९. निगेटिव पॉजिटिव.

५३०. आत्माबारे द्रष्टव्य.........। श्रोतव्यमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। वृ० ४:५.६.

प्राप्त करता है।[५३१] परन्तु ईशोपनिषद् विद्या और अविद्या का समन्वय भी करता है। क्योंकि केवल कर्मों के अनुष्ठान से तो तमोयुक्त अन्धकार को प्राप्त करता है, परन्तु यदि केवल ज्ञानी हो और उसका क्रियात्मक जीवन आचरण शून्य हो तो वह उससे भी अधः पतित्व अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए उचित ही कहा है कि धर्म ज्ञान के लिए है और ज्ञान धर्म के लिए है।[५३२] ज्ञान और कर्म का समन्वय उपनिषदों के अनेक स्थलों पर उपलब्ध है। सम्भूति और असम्भूति पद कार्य और कारण के सम्बन्ध को घोषित करते हैं। यही व्यष्टिवाद और समष्टिवाद की ओर संकेत करते हैं। असम्भूति व्यष्टि है, सम्भूति समष्टि है असम्भूति सुखवाद का संकेत करता है तो सम्भूति समष्टिवाद की ओर संकेत करती है।

कुछ मोड़ के अन्तर से कठोपनिषद् में इनको श्रेय और प्रेय मार्ग के रूप में प्रख्यापित किया है परन्तु जैसे यहाँ पर विद्या और सम्भूति को श्रेष्ठ बतलाया है ऐसे ही वहाँ पर श्रेय मार्ग को श्रेष्ठ बतलाकर, श्रेय से आत्मा का साक्षात्कार बतलाया है।[५३३] कठ में ही कहा है कि वह आत्म-तत्व बहुत सुनने, तर्कादि से प्राप्त नहीं होता है।[५३४] ब्रह्मचर्यादि का व्रत धारण करने और योग विद्या का अनुष्ठान करने से हृदयरूपी गुफा में उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।[५३५]

मुण्डक उपनिषद् में पराविद्या और अपराविद्या नाम से कहा है। अपरा विद्या के द्वारा नाम-रूप अर्थात् विश्व अखिल शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की विद्या का नाम है। इसमें जो चौंसठ प्रकार की विद्या कही जाती है, वही समस्त इसके अन्तर्भूत है।[५३६] पराविद्या परोक्ष के आत्मादि द्रव्यों का साक्षात्कार करती हैं वह परमात्मा जो इन्द्रियों से अग्राह्य है, अवर्ण, अचक्षु, अपाणिपाद नित्य विभु आदि विशेषणों से युक्त है, इस परमेश्वर का साक्षात्कार पराविद्या द्वारा होता है।

ज्ञान और कर्म की तुलना में ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाया है। परन्तु वह योगी की अन्तिम पराकाष्ठा की अवस्था है, क्योंकि उपनिषदों में निष्क्रिय होने का उपदेश नहीं है। ईशोपनिषद् में तो सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीवित रहने का उपदेश है।[५३७]

---

५३१. यजुर्वेद भाष्य अ० ४०, ई०उ०शं० द्रष्टवा.
५३२. ईशोपनिषद् ९, १०, ११.
५३३. तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। (सां०का०-२).
५३४. वरचू फार नॉलिज, फार वरचू.
५३५. कठ०-२ व २: ५, ६.
५३६. कठ० २.१५, श्रुतं पिबन्ती सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ। (३.१) मु०-१.५.
५३७. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

वस्तुत: वैदिक साहित्य में जिसमें उपनिषदें भी सम्मिलित है ज्ञान, उपासना और कर्म का समन्वय प्राप्त होता है। जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मिलकर समाज को चलाते हैं, प्रत्येक का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। इसी प्रकार मुक्ति को प्राप्त करने के लिए भी इन तीनों का होना आवश्यक है। उपनिषदों ने निर्विवाद रूप से तीनों को स्वीकार किया है। उपनिषदों में तीनों प्रकार की श्रुतियाँ उपलब्ध है :-

(क) उपासना परक श्रुतियाँ :-

१. यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।
२. ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।
३. विद्याया देवलोक:।
४. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।

(ख) ज्ञान परक श्रुतियाँ :-

१. विद्यया विन्दतेऽमृतम्।
२. त्यागेनैके अमृततत्त्वमानश।
३. नान्य पन्थाविद्यतेऽअयनाय।
४. ब्रह्मविदाप्नोति परम्।
५. नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:।
६. ब्रह्मामृतो अमृतम्।
७. ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।
८. तरति शोकमात्मवित्।

(ग) कर्मपरक श्रुतियाँ :-

१. पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति।
२. कर्मणा पितृ लोक:। विद्यया देवलोक:।
३. अथ कर्म कुर्वीयेत्।
४. सर्व ऐते पुण्य लोका भवन्ति।
५. तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।
६. कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।

उपर्युक्त बचनों को निष्पक्ष रूप से देखा जाए तो प्रतीत होता है कि उपनिषदों में तीनों भागों की उपादेयता का उल्लेख है। परन्तु इनके बारे में विचारकों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण है। आचार्य शंकर ज्ञान को प्रमुखता देते हैं। आचार्य रामानुज भक्ति के अनुष्ठान को प्रधानता देते है। ऋषि दयानन्द ज्ञान-कर्म और उपासना तीनों से मुक्ति प्राप्त होना स्वीकार करते हैं। इन तीन प्रकार की श्रुतियों के अतिरिक्त ज्ञान कर्म समुच्चयपरक श्रुतियाँ भी उपलब्ध है आचार्य भास्कर भी यहीं अभिमत रखते हैं। इस समुच्चयवाद में उपासना को कर्म से अतिरिक्त नहीं माना है। अपितु उसका कर्म में ही अन्तर्भाव कर लिया जाता है। कर्म और ज्ञान का समुच्चय करने वाली श्रुतियाँ स्पष्ट रूप में यही मानती है कि दोनों ही ब्रह्म प्राप्ति में सहायक है।[५३८] उपनिषदों ने केवल ज्ञान और कर्म की निन्दा की है।[५३९] मुण्डकोपनिषद् में इसलिए यज्ञों की खूब प्रशंसा की है, जो यज्ञ नहीं करते उनके पुण्य क्षीण होकर सप्तलोक नष्ट हो जाते हैं। परन्तु उससे अगली श्रुति में ही यज्ञों की एकदम निन्दा की है।[५४०] वास्तव में यदि गहराई तक जाया जाए तो यह उपनिषदों का रहस्यवाद समझा जा सकता है। प्राप्त प्रसंग में जो लोग केवल यज्ञों को ही अन्तिम समझते हैं, उनकी निन्दा है विवेक के द्वारा जब साधक को सात्त्विक ज्ञान हो जाता है तभी वह निष्काम कर्म करने की क्षमता को प्राप्त कर सकता है। अन्यथा नहीं, बिना तत्त्व ज्ञान के निरासक्त कर्म करने का वह सामर्थ्य नहीं आ सकता, जिससे मनुष्य कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता है।[५४१]

---

५३८. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।। ईशोपनिषद्-११.

५३९. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः। ईश० उप० ९.

५४०. यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिबर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिनां हुतमासप्तमास्तस्य लोकान् हिनस्ति।। मुण्डक उप० १.२.३. तथा ४-६ तक.

५४१. (१) अविद्यायामन्तरे वर्तमाना.......
(२) न कर्म लिप्यते नरे.
(३) अविद्यायां बहुधा वर्तमाना.............।
(४) इष्टापूत मन्यमाना वरिष्ठं...........विशन्ति।
मुण्डकोप० १.२.७. से १० तक ईशोपनिषद-२.

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है। कि कर्मों का अनुष्ठान करते-करते जब योगी को विवेकज्ञान की अवस्था प्राप्त हो जाती है, जब वह धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा विवेक की अवस्था को प्राप्त होकर अमृत को प्राप्त हो जाता है। याज्ञ-वल्क्य और श्वेतकेतु संवाद में भी तत्त्व ज्ञान तक पहुँचने की एक प्रक्रिया है।

वस्तुत: जब हम यह समझ जाते हैं कि ये मिट्टी का ढोल ही संसार के सब पदार्थों का कारण है, इससे निर्मित जो प्रासाद आदि है, वे इसके विकार मात्र है। एक दिन सभी मिट्टी में अपने कारण में लीन हो जाएगें। ऐसी विवेचना से मनुष्य शब्दादि विषयों में नहीं फंसता और वह इन्द्रियों, मन, बुद्धि से अपने को पृथक् समझता हुआ चेतन तत्त्व के रूप में अपने स्वरूप को साक्षात्कार कर लेता है।[५४२]

उपनिषदें भूमा या महान् अथवा विशालता की भावना में ही सुख मानती हैं। भूमा उस अवस्था का नाम है, जहाँ पर समस्त ब्राह्माण्ड में केवल उसी तत्त्व या ब्रह्म को देखा जाता है, सुना जाता है अथवा जाना जाता है। जहाँ 'मेरा और तेरा' का भाव समाप्त प्राय: हो जाता है। इस प्रकार विशाल और समष्टि की उच्च भावना की अक्षयनिधि उपनिषदों में सर्वत्र उपलब्ध होती है।[५४३]

जब कर्म और ज्ञान, भक्ति और उपासना, व्यष्टि और समष्टि और यज्ञमय, की पराकाष्ठा हो जाती है, तब साधक अन्तर्मुख हो जाता है। ध्यान की पराकाष्ठा हो जाने पर आत्मा पूर्णत: शुद्ध और निर्मल अन्त: करण होने पर वह अपने लक्ष्य ब्रह्म को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि प्रणव धनुष है, आत्मा शर है: ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर उसका बेधन करे फिर जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है, वैसे आत्मा भी उस अपने लक्ष्य का साक्षात्कार कर ब्रह्ममय हो जाता है।[५४४]

इन उपायों के अतिरिक्त भी शास्त्रों में मुक्ति के अन्य साधन बतलाये हैं

---

५४२. यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं/सयाद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्ति केत्येव सत्यम्। (छां०उप० ६.१.४).

५४३. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। छां०उप० ७.२३, १.

५४४. कठोपनिषद् २.२.९-१०.
वृहदारण्यकोपनिषद् ३.८.९.
श्वेताश्वतरोपनिषद् २.१७/३.३.७.८.९/६.११/६.१६/.

जो सभी उपयोगी हैं। पाँच कोष है अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय। हमारी त्वचा से लेकर समस्त स्थूल का भाग अन्नमय कोश हैं। प्राणादि पाँच और कर्मेन्द्रिय सहित यह प्राणमय कोश कहलाता है। बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रिय सहित विज्ञानमय कोश है। ज्ञानेन्द्रिय और मन मिलकर मनोमय कोश कहलाता है। ये तीनों मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। आनन्दमय कोश वह कहलाता है, जो सबसे आधार रूप प्रकृति है। इन पाँचों अवस्थाओं के रहस्य को जानकर सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करना होता है।

अद्वैतवेदान्त में "तत्त्वमसि" महावाक्य का अर्थ निर्विशेष ब्रह्म और अन्तः-करणावच्छिन्न तद्रूप जीवात्मा के मध्य पूर्ण भेद ज्ञान करता है। इस पूर्णभेदार्थ की सिद्धि के लिए विभिन्न अर्थावबोधक साधनों का आश्रय लेता है—जिसमें जहदजहल्लक्षणा का प्रमुख स्थान है।

अद्वैत वेदान्तियों का मत है कि जिस प्रकार "सोऽयं देवदत्तः" वाक्य में 'स' पद का अर्थ पूर्णकाल में द्रष्टव्य है और 'अयं' पद का अर्थ वर्तमानकाल में द्रष्टव्य है। इन परस्पर विरुद्ध दोनों अर्थों का त्याग करके केवल एक देवदत्तत्व व्यक्ति ही लक्ष्य होता है। अतः 'सः' और 'अयं' ये दोनों पद लक्ष्य हैं। और पारस्परिक एकार्थवबोधता लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार तत्त्वमसि वाक्य में भी "तत्" पद का अर्थ अप्रत्यक्षत्व और 'त्वम्' पद का अर्थ प्रत्यक्षत्व है। इन परस्पर विरुद्ध दोनों अर्थों का त्याग करके केवल एक अविरुद्ध चैतन्य लक्ष्य होता है और 'तत् ...त्वम्' दोनों पद लक्ष्य होते हैं। इसी को जहदजहल्लक्षणा" या "भागलक्षणा" कहते हैं।[५४५]

अर्थात् जहाँ लक्षक शब्द अपने कुछ अर्थ का त्याग कर देते हैं और कुछ अर्थ का ग्रहण कर ले वहाँ "जहदजहल्लक्षणा" होता है। उक्त व्याख्या में "सः" और 'अयम्' दोनों शब्दों में देवदत्तत्व में तथा "तत्" और "त्वम्" के चैतन्य में कोई विरोध नहीं है। अतः इन अंशों का त्याग नहीं किया जाता। किन्तु "सः" के भूतकालिकत्व और 'अयम्' के वर्तमानकालिकत्व का लक्ष्य तत् के परोक्षत्व विशिष्टत्व और त्वम् के अपरोक्षत्व विशिष्ट रूप विरुद्धांशों का परित्याग कर देने से दोनों में अभेद की सिद्धि होती है। यही अद्वैतवादियों का अभिप्राय है।

---

५४५. लक्ष्य लक्षण भावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव स शब्दार्थ शब्दायोस्तदर्थयोर्वाविरुद्ध तत्कालेतत्कालविशिष्टत्व.........लक्ष्य लक्षण भावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते।। वेदान्त०, पृ० ६६.

आचार्य शंकर क्रममुक्ति को स्वीकार करते हैं। प्रश्नोपनिषद् के एक वाक्य के ऊपर भाष्य करते हुए 'ओ३म्' के ध्यान के विषय में वे कहते हैं कि इस प्रकार का ध्यान ब्रह्मलोक की ओर से ले जाता है जहाँ हम क्रम से पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं।[५४६] एक अन्य स्थान पर वे तर्क करते हैं कि शरीरधारी ईश्वर की उपासना का उद्देश्य पापकर्मों से मुक्ति, ऐश्वर्य-प्राप्ति अथवा क्रमिक मुक्ति है।[५४७] ब्रह्मलोक में आत्मा अपना पृथक् अस्तित्व स्थिर रखती है। शंकर की दृष्टि में अन्य सब रहस्यवादियों की भाँति एक ऐसे स्वर्ग का विचार कि जहाँ पर आत्मा ईश्वर और केवल ईश्वर ही के ऊपर एकनिष्ठ रहती है, आदर्श से न्यून है। यह हो सकता है कि आत्मा ईश्वर के साक्षात् दर्शन करती है और उसकी उपस्थिति से प्लावित हो जाती है। किन्तु तो भी आत्मा तथा उसके विषय में परस्पर भेद अवश्य है। आत्मा दर्शन का विषय नहीं है और इसका सीमित उत्पत्तियुक्त रूप इसके विषय बनने में बाधा देता है।

शंकर ने जो जीवमुक्ति का वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक मृत्यु के पश्चात् शाश्वत जीवन की कोई जीवन की अवस्था नहीं है। जब अन्तर्ज्ञान का सूर्योदय इसी लोक में हो जाता है तो मोक्ष प्राप्ति हो गई। ऐसी अवस्था में मृत्युपर्यन्त शरीर की विद्यमानता प्रवंचना का कारण नहीं बन सकती है। जिस प्रकार मिट्टी का पात्र बन जाने पर भी कुम्हार का चक्र कुछ समय तक चलता ही रहता है। ठीक इसी प्रकार मोक्ष के बाद भी जीवन बना रहता है। क्योंकि पहले से जो गति इसने प्राप्त कर ली है, उसे रोकने का कोई कारण उसके अन्दर नहीं है।[५४८] शंकर एक ऐसे मनुष्य का भी दृष्टांत देते हैं, जो चन्द्रमा को उसके द्विगुण रूप में देखता है क्योंकि उसकी आँख में कुछ दोष है और यह जानते हुए भी कि वस्तुतः चन्द्रमा एक है वह अपने को इस प्रकार देखने से रोक नहीं सकता।[५४९] मुक्तात्मा अपने समस्त कर्मों को ब्रह्मार्पण समझकर करता है।[५५०]

धर्म

यह माना जाता है कि शंकर का निरपेक्ष परब्रह्म जीवात्मा के अन्दर उत्कृष्ट

---

५४६. शांकर भाष्य १:३, १३.
५४७. शांकर भाष्य ३: २, २१.
५४८. शांकर भाष्य ४: १, १५.
५४९. शांकर भाष्य ४:१, १६.
५५०. सिद्धान्तलेश ४.

प्रेम तथा भक्ति की आस्था को उज्ज्वलित करने में असमर्थ है। शंकर के इस मत को राधाकृष्णन् ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि ऐसे निरपेक्ष परब्रह्म की हम पूजा नहीं कर सकते जिसे किसी ने नहीं देखा, अथवा न कोई देख सकता है और जो ऐसे प्रकाश में निवास करता है जिसके समीप कोई पहुँच नहीं सकता। इसलिए निराकार परब्रह्म का चिन्तन 'साकार' रूप में किया जाता है। जिससे कि उसकी पूजा की जा सके। ईश्वर की पूजा का मिथ्यात्व के साथ जान बूझकर सहयोग नहीं है, क्योंकि ईश्वर ही एक ऐसा रूप है। जिस रूप में सीमित मानवीय मन निरपेक्ष परब्रह्म का चित्रण कर सकता है। सर्वोच्च यथार्थसत्ता ऐसे जीवात्मा के समक्ष जिसने ब्रह्म की अपने रूप के साथ एकता का अनुभव नहीं किया है, अनेकों पूर्णताएं लिए हुए प्रकट होती है[१] शरीरधारी ईश्वर का भाव उच्चतम तार्किक सत्य का अगाध धार्मिक श्रद्धा के साथ सम्मिश्रण है। यह शरीरधारी ईश्वर यथार्थ पूजा तथा आदरभाव का विषय है। किन्तु ऐसा कोई नैतिक आचारविहीन देवता नहीं है जो मनुष्य की आवश्यकताओं तथा भय की आशंकाओं के प्रति सर्वथा उदासीन हों उसे विश्व के स्रष्टा, शासक और न्यायाधीश के रूप में माना गया है, जिसके अंदर शक्ति तथा न्याय, न्यायनिष्ठता, दया सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता के गुण है। शंकर द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के मुख्य लक्षणों में आचार की पवित्रता तथा नैतिक सौन्दर्य है। मानवीय जीवात्मा के साथ उसका सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि प्रेमी का अपनी प्रेमिका के प्रति, स्वामी का भृत्य के प्रति, पिता का अपने पुत्र के प्रति तथा मित्र का अन्य मित्र के प्रति होता है। आध्यात्मिक अमूर्त भावों की कठोरता वहाँ शिथिल पड़ जाती है, जहाँ शंकर दैवीय गुणों की विविधता के विषय में प्रतिपादन करते हैं। जिसके द्वारा अनन्त ब्रह्म अपने अन्दर उन बच्चों की भावना को भरता है। जिन्हें उसने बनाया है।

शंकर की दृष्टि में धर्म कोई सिद्धान्त अथवा अनुष्ठान नहीं है, अपितु जीवन तथा अनुभव हैं। इसका प्रारम्भ आत्मा की अनन्त-सम्बन्धी भावना से होता है। और इसके अनन्त बन जाने में जाकर अन्त होता है। जीवन का लक्ष्य है साक्षात्कार अथवा यथार्थ सत्ता का अन्तर्ज्ञान। यथार्थ भक्ति अपने सत्य स्वरूप को खोज निकालना ही है।[५५२]

ऐसी अनेक विद्याएं अथवा चिन्तन की विधियाँ है जिनका उपनिषदों में

५५१. शांकर भाष्य ३:३, १२.

५५२. स्वरूपानुसन्धानं भक्तिरिति अभिधीयते। (विवेक चूड़ामणि पृ० ३१).

समर्थन किया गया है।[५५३] और प्रत्येक व्यक्ति को इनमें से अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल किसी एक का चुनाव करना होता है।[५५४] जहाँ तक प्रमेय विषय का सम्बन्ध है वह सबके लिए एक ही है यद्यपि उस तक पहुँचने के मार्गों में नाना विविधता है। धार्मिक पूजा के साधारणतः दो प्रकार है अर्थात् शरीरधारी ईश्वर की सगुण ब्रह्म के रूप में पूजा और दूसरी प्रतीक की पूजा।[५५५] जब उपासक ईश्वर की अपने से बाह्य समझकर पूजा करता है तो यह पूजा प्रतीक की पूजा है।

उपासना करने वाले व्यक्ति तथा, उपास्य विषय के मध्य जो सम्बन्ध है यह इस विषय का संकेत करता है कि दोनों में भेद है।[५५६] सर्वश्रेष्ठ पूजा हमें ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराती है। जहाँ कि जीवात्मा तथा सर्वोपरि ब्रह्म का भेद अभी भी विद्यमान रहता है। और उस अवस्था से केवल क्रमिक रूप में मुक्ति प्राप्त होती है। प्रचलित विचार के अनुसार धर्म एक ऐसी वस्तु है जिसे अतीन्द्रिय होना चाहिए। यह एक अपूर्ण अनुभव है जो तभी तक रहता है जब तक हम यथार्थसत्ता के यथार्थबोध के ग्रहण में असफल रहते हैं। इसका विलय निश्चित है, क्योंकि "जब वह जो पूर्ण है प्राप्त हो गया तब वह जो केवल अंशरूप है अवश्य ही समाप्त हो जाएगा। शंकर धर्मपरायण ऋषियों के वाक्यों का उद्धरण देते हैं जो जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता का व्याख्यान करते हैं: यथा यथार्थ में तू मैं हूँ, हे पवित्र ईश्वर और जो मैं हूँ वह तू है।[५५७]

धर्म का प्रतिपादन करने वाले प्रत्येक दर्शन को इस प्रकार के कथनों का कुछ न कुछ समाधान देना ही होता है, यथा 'मै' ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि, 'वह तू है') (तत् त्वमसि), जिनके अन्दर स्रष्टा तथा निर्मित जीव के भेद को पृथक् कर दिया गया है। आचार्य शंकर इन सब का समाधान यह कहकर करते हैं कि धार्मिक चैतन्य अपने समस्त भेदों के साथ लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर स्वतः समाप्त हो जाता है। एक 'साकार ईश्वर' का कुछ अर्थ क्रियात्मक धार्मिक चैतन्य के लिए तो हो सकता है। किन्तु उच्चतम साक्षात्कार के लिए

---

५५३. ब्रह्मसूत्र ३:३, ५.
५५४. शांकर भाष्य ३:३, ५९.
५५५. शांकर भाष्य ४:१, ३.
५५६. उपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान् एव (शांकर भाष्य, १:२, ४).
५५७. त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि भगवो देवते (शांकर भा० ४:१, ३).

नहीं।[५५८] सीमित जीवात्मा को जिसके आगे परदा पड़ा हुआ है, निरपेक्ष परब्रह्म व्यवस्थित तथा अपने से पृथक् प्रतीत होता है।

बन्धन और मुक्ति का कुछ अर्थ सीमित जीव के लिए हो सकता है। जिसका चैतन्य श्रृंखलाबद्ध है और जिसका दमन निम्नतर प्रकृति ने कर रखा है। यदि शरीरधारी ईश्वर जीवात्मा से व्यतिरिक्त ही सबसे ऊंचा होता तो योग विद्या के अनुभवो का तात्पर्य ही समझ में नहीं आ सकता और हमें एक सीमित ईश्वर तक ही सन्तोष रखना होता। ईश्वर यदि सर्वात्मा नहीं तो वह ईश्वर ही नहीं, किन्तु यदि वही सर्वात्मा है तब धार्मिक जीवन सबसे ऊंचा नहीं ठहरता।[५५९] यदि ईश्वर का रूप पूर्ण है तो यह ऐसा हो नहीं सकता जब कि मनुष्य का अपूर्ण रूप उसके अतिरिक्त अपना अस्तित्व रखता है और यदि यह पूर्ण नहीं है तब यह ईश्वर का स्वरूप नहीं। इस प्रकार धार्मिक जीवन में एक मौलिक मतभेद है और यह स्पष्ट संकेत करता है कि इसका सम्बन्ध अविद्या के क्षेत्र में है।

कर्मकाण्ड की स्वीकृति के साथ-साथ वैदिक देवताओं के अस्तित्व को भी मानना आवश्यक है। शंकर ने, जो इस सम्बन्ध में परम्परागत विचार को ही मान लेते हैं: उन्हें केवल प्राकृतिक तत्त्वों के ही नहीं अपितु प्राकृतिक शक्तियों के भी चेतनामय प्रतिरूप माना है। "देवताओं के आदित्य इत्यादि नाम, यदि यह भी मान लिया जाए कि प्रकाश इत्यादि का संकेत करते हैं, श्रुतियों के अनुसार हमें उनकी ऐसे आध्यात्मिक प्राणियों के रूप में कल्पना करने के लिए बाध्य करते हैं जो तत्त्वों के अनुकूल है और जिन्हें ऐश्वर्य का वरदान मिला हुआ है, क्योंकि उनका प्रयोग वैदिक ऋचाओं और ब्राह्मणों में हुआ है।"[५६०] ये देवता जीवन के भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों में अधिष्ठता के रूप में अध्यक्ष होते हैं।[५६१] कहा गया है कि अग्नि वाणी का सहायक है, वायु श्वास और आदित्य चक्षु का जीवात्माओं के अनुभवों का देवताओं के ऊपर कोई असर नहीं होता।[५६२] मृत्यु के

---

५५८. ब्रैडले : मेरी दृष्टि में निरपेक्ष परमब्रह्म ईश्वर नहीं है। मेरे लिए धार्मिक चैतन्य के बाह्य ईश्वर का कुछ अर्थ नहीं है। और वह तात्विक रूप से क्रियात्मक़ है। आदि (ट्रुथ एण्ड रियलिटि, पृ० ४२८).

५५९. देखें ब्रैडले : ट्रुथ एण्ड रियलिटी पृष्ठ ४३६ और आगे.

५६०. देखें ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ दि वेदान्त, पृष्ठ ६५-६६.

५६१. ऐतरेय उपनिषद् १:२, ४.

५६२. जो ही एकमात्र भोक्ता है जबकि देवता 'भोगोपकारणभूत' है।

समय ये देवता जीवित इन्द्रियों के साथ भटकते नहीं फिरते, वरन् केवल अपनी सहायक शक्ति को हटा लेते हैं। सर्वोपरि ब्रह्म देवताओं मनुष्यों तथा पशुओं की सृष्टि उनके पुण्य व पाप के अनुसार करता है। देवताओं का अमरत्व तो अपेक्षाकृत है, किन्तु वे संसार में लिप्त होने के कारण क्षणिकता के भी वश में रहते हैं।[५६३] उन्हें भी मोक्षप्राप्ति सम्बन्धी ज्ञान की आवश्यकता होती है और वे सर्वोपरि प्रभु के आश्रित है। हमें धर्मशास्त्रों में ब्रह्मविद्या सीखते हुए देवताओं के दृष्टान्त मिलते हैं। इस प्रकार की आपत्ति का कि यदि ये देवता व्यक्तिरूप हैं तो वे जीवन तथा मरण के भी वशीभूत है और यह तत्त्व वेदों के नित्यस्थायी रूप पर भी असर डालेगा, इस आधार पर निराकरण किया जाता है कि वेद के शब्द व्यक्तियों का संकेत नहीं करते, सामान्य भावनाओं में विभक्त प्राणियों की संस्था की एक विशेष उपाधि से हैं। उस स्थान पर जो भी अधिष्ठित होता है वह उक्त नाम धारण करता है। आपत्ति की जाती है कि उनका व्यक्तित्व न तो यथार्थ है, क्योंकि यज्ञों में उनके दर्शन नहीं होते और न ही संभव है क्योंकि एक व्यक्ति एक ही समय में अनेक स्थानों में विद्यमान नहीं हो सकता जैसा कि यज्ञाहुतियों को ग्रहण करने के लिए होना चाहिए। शंकर उक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए कहते हैं कि देवता इसलिए नहीं दिखाई देते क्योंकि उनके अन्दर अपने को अदृश्य बनाने की शक्ति रहती है और योगियों की भाँति वे अपने शरीरों को सहस्रगुण कर सकते हैं।

यद्यपि शंकर के धार्मिकमत की किन्हीं मन्दिरों अथवा मठों की आवश्यकता नहीं है और न किसी क्रिया-कलाप की ही आवश्यकता है, तो भी उन्हें एक इतिहासज्ञ के समान पर्याप्त अनुभव था, जिसके आधार पर उन्होंने व्यक्तियों के लिए जिन्हे इनकी आवश्यकता है, इनका भी विधान किया। वेदान्त के अन्य कितनें ही व्याख्याकारों के विपरीत शंकर धर्मसम्बन्धी विषयों में ईश्वर ज्ञान-सम्बन्धी प्रवृत्तियों से भिन्न दार्शनिक प्रवृत्ति को ही अंगीकार करते हैं। एक अध्यात्मवादी सामान्यत: एक विशेष साम्प्रदायिक आधार का आश्रय लेता है एक विशेष धार्मिक समुदाय का सदस्य होने के कारण वह अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को क्रमबद्ध करने, विस्तृत रूप देने तथा उनका समर्थन करने में तत्पर रहता है। वह अपने मन को सत्य समझ लेता है और उसके साथ ही उसका धर्म स्थिर रहता अथवा नष्ट होता है। किन्तु दूसरी ओर एक दार्शनिक होने के नाते

---

५६३. शांकर भाष्य १:३, २८.

अपने को किसी एक धर्मविशेष के क्षेत्र में सीमित नहीं रखता वरन् धर्म को धर्म के स्वतन्त्र रूप में अपना क्षेत्र बताता है एवं उसका आग्रह यह भी नहीं होता कि जिस धर्म में वह उत्पन्न हुआ अथवा जिस धर्म को वह अंगीकार किए हुए है वही एकमात्र 'सत्य धर्म' है।[५६४]

शंकर ने अपने शांकरभाष्य में धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि जीवात्मा अपने अन्दर धारण करने वाले धर्म एवं गुण को धारण किए बिना आत्मा-आत्मा नहीं कहला सकता है। जैसे कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्स्टीन से पूछा कि क्या मनुष्य का भी धर्म होता है। आइन्स्टीन ने उत्तर दिया कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका कोई धर्म नहीं हो। फिर मनुष्य का धर्म क्यों नहीं होगा? इसी प्रसंग में आचार्य शंकर कहते हैं कि आत्मा को जाने बिना जीवात्मा परमगति को प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे कि उपास्य धर्मों से भिन्न ज्ञान प्रयोजन आनन्द आदि धर्मों का सर्वोत्तम संहार होता है। क्योंकि प्रतिपाद्य ब्रह्म की एकता है।[५६५]

ऐसा मानने पर पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए शंकर ने कहा है कि ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए कथित आनन्द आदि सब धर्म अर्थ के सामान्य से धर्मीरूप प्रतिपाद्य ब्रह्म के एक होने से सर्वत्र प्रतीत हो: यह वैषम्य है, क्योंकि उनका प्रयोजन ब्रह्म की प्रतिपत्तिमात्र है।

इसका उत्तर देते हुए कहा है[५६६] कि आत्मज्ञान पुरुषार्थ है उसमें महान् यत्न श्रुति में वर्णित इष्ट ही है, अत: अक्षादिपरम्परा भी उसी पुरुष के ज्ञान के लिए श्रुतियों में निविष्ट है अत: केवल पुरुष ही ज्ञेयरूप से श्रुतियों से प्रतिपाद्य है: इन्द्रियादि परम्परा नहीं।

'इन्द्रियेभ्य: परा ह्यर्था:' इस काठक वाक्य के अन्त में ध्यानजन्य साक्षात्कार के लिए पुरुष ही अर्थ आदि सभी से पर है ऐसा प्रतिपादन करना चाहिए। इन्द्रियों से पर अर्थ आदि हैं, ऐसा प्रतिपादन नहीं करना चाहिए, क्योंकि

---

५६४. भारतीय दर्शन, भाग-२, (डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ५७१-७९).

५६५. इतरे त्वर्थसामान्यात् १११३११ ब्रह्मसूत्र १३, भाग ३.

५६६. आनन्दादयो धर्मा: ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना अर्थ सामान्यात् प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो धर्मिण हकत्वात् सर्वें सर्वत्र प्रतीयेरन्निति वैषम्यम् ११. शांकर भाष्य ३:३, १३.

इन्द्रिय से अर्थ आदि पर हैं वह ज्ञान स्वतः किसी फल का उत्पादक नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि उक्त काठक वाक्य एक ही है, प्रतिपाद्य का भेद न होने से वाक्य नहीं है।[५६७]

काठक में कहा गया है कि इन्द्रियों से अर्थ पर है, अर्थ से मन पर है और मन से बुद्धि पर है। इसका आरम्भ करके 'पुरुषान्न परमः' पुरुष से पर कुछ नहीं है, वह पर्यवसान है और प्रकृष्टगति है। यहाँ पर संशय होता है कि क्या ये सब अर्थ आदि उस इन्द्रिय आदि से श्रेष्ठत्वेन प्रतिपादित हैं या पुरुष ही उन सबसे श्रेष्ठरूप से प्रतिपादित होता है।

पूर्वपक्षी ने सभी अर्थ आदि का परत्वरूप से प्रतिपादन किया है ऐसी मति हो सकती है। क्योंकि 'इदमस्मात्' (यह इससे पर है, यह इससे पर है) यह सुना जाता है परन्तु अनेक अर्थों का पररूप से प्रतिपादन करना आदि अभीष्ट हो तो वाक्य भेद होगा, यह दोष नहीं है,क्योंकि वाक्य के बहुत्व की उत्पत्ति होती हैं। परत्व से युक्त अनेक विषयों के प्रतिपादन के लिए ये अनेक वाक्य समर्थ होते हैं। इससे प्रत्येक का पररूप से प्रतिपादन है।[५६८]

सिद्धान्ती इस मत का परिहार करते हुए कहते हैं कि इन सभी से पुरुष का ही पररूप से प्रतिपादन होता है: यह कहना युक्त है न कि इनमें प्रत्येक अर्थ आदि का परत्वरूप से प्रतिपादन होता है, यह कहना युक्त है। किससे? प्रयोजन के अभाव से। अन्यों के पररूप से ज्ञात होने पर कोई प्रयोजन देखा या सुना नहीं जाता है।

इन्द्रियों से पर सम्पूर्ण अनर्थ समूह से रहित पुरुष के ज्ञात होने पर तो मोक्ष सिद्धि रूप प्रयोजन देखा जाता है क्योंकि इस प्रकार के ब्रह्मात्म को जानकर मृत्यु के मुख से छुटकारा पा जाता है और पर के प्रतिषेध से एवं काष्ठा शब्द के प्रयोग से पुरुष में आदर दिखलाते हुए पुरुष की प्रतिपत्ति के लिए ही पूर्वापर प्रवाह की उक्ति है, ऐसा दिखलाते हैं, आध्यानाय इति। आध्यान, पूर्वक तत्व ज्ञान के लिए ऐसा अर्थ है। तत्त्व ज्ञान के लिए ही यहाँ आध्यान का उपदेश है, आध्यान ही स्वप्रधान है, ऐसा उपदेश नहीं है।[५६९]

५६७. आध्यानाय प्रयोजनाभावात्।। ब्रह्मसूत्र ३:३, १४.

५६८. तत्र तावत् सर्वेषामेवैषां परत्वेन प्रतिपादनमिति भवति मतिः। तथा हि श्रूयते 'इस्मादमात् परिमिदमस्मात् परम्' ।। इति ।। शांकर भाष्य ३:३, १४.

५६९. पुरुष एवं ह्येभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति न युक्तं प्रत्येकमेषां परत्वप्रति पादनम्। (शांकर भाष्य-३:३, १५). तथा च श्रुतिः निचाय्यतं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। (क० ३/१५).

एव सर्वेषु इत्यादि श्रुति से प्रकृत पुरुष में आत्म शब्द का श्रवण होने से यह वाक्य आत्मपरक ही है क्योंकि श्रुति से उस आत्मा में मानान्तरावेद्यत्य रूप अपूर्व का प्रतिपादन होता है।[५७०] शंकर ने स्पष्ट किया है कि इससे इन्द्रियादि के प्रवाह की उक्ति केवल पुरुष की प्रतिपत्ति के लिए ही है, क्योंकि "एष सर्वेषु भूतेषु यह पुरुष सब भूतों 'में' गूढ़ है यह आत्मा रूप से किसी को प्रकाशित नहीं होता है, परन्तु एकाग्रता से युक्त सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्म-दर्शियों को इसका ज्ञान होता है। इस प्रकार श्रुति प्रकृत पुरुष को आत्मरूप से कहती है। अतः इतरों के अनामत्व की विवक्षा है, ऐसा ज्ञात होता है और उसी को दुर्विज्ञेय और संस्कृत-मतिगम्य दिखलाती है। उसके विज्ञान के लिए ही यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (विवेकी वाणी का मन में उपसंहार करे) इस प्रकार आध्यान का विधान करती है। उसका आनुमानिकम् इत्यादि सूत्र में व्याख्यान किया गया है।[५७१]

इस प्रकार श्रुति से अनेक प्रकार का आशयातिशय पुरुष में लक्षित होता है, अन्य में वह नहीं होता। और 'सोऽध्वनः परं' मार्ग का संसारगति का-पार पाता है वह विष्णु का परमपद प्राप्त करता है, ऐसा कहा है, इसलिए मार्ग से पार विष्णु का परमपद क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर इन्द्रिय आदि के अनुक्रमण से परम पद की प्राप्ति के लिए ही यह प्रयास है, इस प्रकार निश्चय होता है।

सृष्टि के पूर्व में यह जगत् अद्वितीय आत्मा ही था, इत्यादि श्रुति वाक्य में परमात्मा का ही ग्रहण होता है, हिरण्यगर्भ आदि का ग्रहण नहीं होता जैसे-आत्मन आकाशः' (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि अन्य श्रुति वाक्यों में आत्मशब्द से परमात्मा का ही ग्रहण होता है: वैसे यहाँ पर भी समझना चाहिए, क्योंकि 'स ईक्षत्' इत्यादि श्रुति में मैं लोकों की सृष्टि; 'स इमाम' कहकर श्रुति ने कहा कि उसने सृष्टि की, इससे वह विशेषण अन्य श्रुतियों में भी परमात्मा का ही ग्रहण किया जाता है।[५७२]

उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना तभी सम्भव हो सकता है, जब कि उस आत्मा में धर्मत्व उत्पन्न हो सके। धर्मतत्व को उत्पन्न करने के लिए याज्ञिक मनोवृत्ति का उत्पन्न होना आवश्यक है। यज्ञाग्नि से उस धर्म तत्त्व में आलम्बन

---

५७०. आत्मशब्दाच्च॥१५॥ ब्रह्मसूत्र ३:३, १५.

५७१. एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते दृश्यते तवग्न्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ (क०. ३/१२).

५७२. आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्॥१६॥ ब्रह्मसू० ३.३.१६.

क्रिया के द्वारा मन आदि के व्यापारों में सम्बद्ध उन अग्नियों का मन से आधान करे। यज्ञविद्या का आख्यान करते हुए शंकर ने कहा है कि मन से ईटें रखी जाती हैं, मन से उद्‌गाता आदि ऋत्विक् उनका स्तवन करते हैं, मनसे ही होता कहते हैं, और यज्ञों में जो कोई कर्म-पुरुषार्थ किया जाता है और यज्ञ के योग्य जो कर्म किया जाता है वह मन से ही किया जाता है। और यज्ञ के योग्य जो कर्म किया जाता है वह मन से ही किया जाता है, उससे वह मनोमय मनश्चित्-अग्नियों में मनोमय ही किया जाता है इत्यादि से। क्योंकि वह अनुबन्ध सम्पत् फल है उस-उस अवयवों का सम्पादन इस अनुबन्ध का फल है और क्रियावयवों के प्रत्यक्ष होने पर उनका सम्पत्ति से संकल्प से प्राप्त करने की इच्छा करना उचित नहीं है। और यहाँ पर उद्‌गीथादि उपासना के समान क्रिया के अंग के साथ संबन्ध होने से क्रियानुप्रवेशित्व है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि श्रुतियाँ विरूप है–असमान है, क्योंकि यहाँ किसी क्रियाङ्ग को लेकर उसमें इसका अध्यवसाय करना चाहिए, ऐसा श्रुति नहीं कहती। परन्तु छत्तीस हजार मनोवृत्ति भेद का ग्रहण उनमें अग्नित्व और ग्रह आदि की कल्पना करती है, पुरुष यज्ञ के समान और छत्तीस हजार यह संख्या पुरुष के आयुष्य के दिनों में प्रत्यक्ष अनुभूत होती हुई उसके सम्बन्धी मनोवृत्तियों में उसका आरोप किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए।[५७३]

इस प्रकार अनुबन्ध से मनश्चित् आदि अग्नियाँ स्वतन्त्र है। सूत्रस्थ आदि शब्द से अतिदेश आदि की यथासम्भव योजना करनी चाहिए। जैसे कि–'तेषामेकैक एव.' उन अग्नियों में से एक-एक उतना है, जितनी कि यह पूर्व अग्नि है; ऐसे क्रियामय अग्नि के माहात्म्य का ज्ञानमय अग्नियों से एक-एक में अतिदेश करके क्रिया में अनादर दिखलाती है, इसी प्रकार क्रियासम्बन्ध के होने पर ही उत्तर अग्नियों का पूर्व अग्नि के साथ विकल्प है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस आहवनीय हविष् के धारण आदि व्यापार से पूर्व अग्नि क्रिया में उपकारक होती है, उस व्यापार से उत्तर अग्नियाँ उपकारक नहीं हो सकती है।[५७४]

इस विषय को स्पष्ट करते हुए वेदान्तदर्शन में कहा है कि यद्यपि मनश्चित् प्रभृति मानसत्वरूप धर्म से समान है, तो भी उनको क्रिया का अङ्ग नहीं मानना

५७३. मनसैवाधीयन्त मनसाचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवन्मनसाऽशंसनयत्किश्च यज्ञे कर्म क्रियते। शांकर भाष्य ३.३, १६.

५७४. तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः 'इति क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञानमयानामेके-कस्याऽति दिशत् क्रियायामनादरं दर्शयति। न च सत्येव क्रियासम्बन्धे विकल्पः पूर्वेणोत्तरेषामिति शक्यं वक्तुम्। शांकर भाष्य ३.३, १६,

चाहिए, किससे? इससे कि पूर्व कथित श्रुति आदि प्रमाणों से मनश्चित् आदि की स्वतन्त्ररूप से उपलब्धि होती है। उसमें दृष्टान्त है 'स वा एष' और अग्निर्वै मृत्युः इत्यादि। अग्नि और आदित्य पुरुष में मृत्यु शब्द का प्रयोग समान है, तथापि उनकी अत्यन्त समानता नहीं है। अथवा–असौ वाव लोको "इत्यादि में समित् आदि के समान होने पर भी द्युलोक में अग्नित्व की प्राप्ति नहीं होती है, परन्तु परस्पर वैजात्य ही है, वैसे ही मनस् और मानसिक अग्नि का मानसिकत्व समान होने पर भी मिथः–विजातीयता ही है।[५७५]

आचार्य शंकर इसका भाष्य करते हुए कहते हैं कि मानस पात्र के साथ सादृश्य से भी मनश्चित् आदि क्रिया के अंग है, ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति आदि हेतुओं से मनश्चित् आदि केवल पुरुषार्थ है, ऐसा उपलब्ध होता है। किसी को किसी के साथ कुछ सादृश्य न हो यह सम्भव नहीं है, परन्तु इतने प्रत्येक वस्तुका स्वाभाविक वैषम्य निवृत्त नहीं होता, मृत्यु के समान-जैसे 'स वा एष एव', (वह यही मृत्यु है जो इस मण्डल में पुरुष है) इसमें और 'अग्निर्वैमृत्यु' (अग्नि ही मृत्यु है) इसमें अग्नि और आदित्य पुरुष यद्यपि मृत्यु शब्द का प्रयोग समान है, तो भी अत्यन्त समानता की प्राप्ति नहीं होती। और जैसे–असौ वाव लोको हे गौतम, यही लोक अग्नि है और द्युलोकाख्य इस अग्नि का आदित्य समिध है, इसमें समिध आदि के सादृश्य से लोक अग्निभाव प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार मानस और मानसाग्नि की वैषम्य सिद्धि होती है।[५७६]

ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए एक ही विद्या प्रसिद्ध है इसलिए अन्य की उपासना करने की क्या आवश्यकता? यदि ऐसा कहा जाये तो इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि सगुण विद्याओं का विकल्प ही युक्त है, क्योंकि वेद्य वस्तु के साक्षात्कार रूप फल अभिन्न है[५७७]।

शंकर ने इस मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस तरह विद्याभेद के सिद्ध होने पर इन विद्याओं का उपासक की इच्छा से समुच्चय है या विकल्प है या नियम से विकल्प ही है? ऐसा विचार प्राप्त होने पर–पूर्वपक्षी ने कहा है

५७५. सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः॥५१॥ ब्रह्मसूत्र ३.३–५१.
५७६. न मानसग्रहसामान्यादपि मनश्चिदादीनां क्रियाशेषत्वं कल्प्यम्। पूर्वोक्तेभ्यःश्रुत्यादिहेतुभ्यः केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धेः। न हि किंचित् कस्यचित् केनचित्।
सामान्यं न संभवति। न च तावता यथास्वं वैषम्यं निवर्तते। (शांकर भा० ३.३.५).
५७७. विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥५९॥ ब्रह्मसूत्र ३.३. ५९.

कि विद्याभेद के सिद्ध होने से समुच्चय नियम में कोई कारण नहीं है। परन्तु अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास आदि के भिन्न होने पर भी उनके समुच्चय का नियम दिखाई देता है यह दोष नहीं है, क्योंकि दर्श आदि नित्य है, ऐसी श्रुति उनके समुच्चय में हेतु है, विद्या नित्य है, ऐसी कोई श्रुति नहीं है, अतः विद्याओं का समुच्चय नहीं है। उसी प्रकार विकल्प का नियम भी नियम नहीं है, क्योंकि एक विद्या में जिसे अधिकार प्राप्त है उसके लिए अन्य विद्या का प्रतिषेध नहीं किया गया है। परिशेष से स्वेच्छापक्ष होता है। परन्तु इनका (विद्याओं का) का फल समान है, अतः इनका विकल्प ही उचित है, क्योंकि 'मनोमयः प्राण शरीरः' ही 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है, सत्यकामः सत्य संकल्पः–जिसका कामना सत्य है, जिसका संकल्प सत्य है; इत्यादि उपासनाएं तुल्य रीति से ईश्वर प्राप्ति जिनका फल है, ऐसी दीखती हैं। नहींः यह दोष नहीं है, क्योंकि जिनका फल समान है, ऐसे स्वर्गादि के साधनीभूत कर्मों में भी यथाकाम्य का इच्छा का समुच्चय दिखाई देता है।[५७८]

सिद्धान्तपक्ष की ओर से इसका परिहार करते हुए कहते हैं कि यथाकाम्य पक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं–इन विद्याओं का विकल्प ही होना युक्त है–समुच्चय युक्त नहीं है। किससे इससे कि उनका समान फल है, क्योंकि इन उपासनाओं का उपास्य का साक्षात्कार करना ही एक फल है, और एक ही उपासना से उपास्य ईश्वर का साक्षात्कार होने पर अन्य उपासनानिरर्थक हैं। समुच्चय पक्ष में साक्षात्कार का असम्भव होगा, क्योंकि वह चित्तविक्षेप का हेतु है। और श्रुतियाँ विद्याफल साक्षात्कार से साध्य है, ऐसा दिखलाती है। 'यस्य स्यादद्धा०' जिस उपासक को उपास्य का साक्षात्कार होने पर सन्देह नहीं होता, देवो भूत्वा देवानप्येति'–देव होकर शरीरपात होने पर देवताओं को प्राप्त होता है, इत्यादि श्रुतियाँ और सदा तद्भाव भावितः (सदा उसके भाव से भावित इत्यादि स्मृतियाँ भी साक्षात्कार साध्य विद्याफल दिखलाती हैं। इससे जिनका फल समान है, ऐसी विद्याओं में से एक को लेकर जब तक उपास्य विषय के साक्षात्कार से उसका फल प्राप्त हो, तब तक उसमें तत्पर रहें।[५७९]

---

५७८. नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारणं नैवं विद्यानां काचिन्नित्यताश्रुतिरस्ति, तस्मान्न समुच्चयनियमः। नापि विकल्पनियमः, विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तराप्रतिषेधात्। परिशेष्याद्याथा काम्यमापद्यते।

५७९. अविशिष्टं ह्यासां फलमुपास्य विषयसाक्षात्करणम्, एकेन चोपासनेन साक्षात्कृत उपास्ये विषय ईश्वरादौ द्वितीयमनर्थकम् साक्षात्करणसाध्यं च विद्याफलं दर्शयन्ति श्रुतयः 'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति'। (छा० ३/१४/४) शांकर भा० ३.३.५९.

सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि "ब्रह्म आत्मा" है, इसलिए ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। क्योंकि जाबाल त्वं वा अहमस्मि' इत्यादि श्रुति से आत्मरूप से ब्रह्म का अङ्गीकार करते हैं और इसी प्रकार 'तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों का ज्ञान कराते हैं और' मनो ब्रह्म इत्यादि वाक्यों के समान उन्हे गौणार्थक नहीं समझना चाहिए, क्योंकि मुख्यार्थ के रहते गौणार्थ मानना उचित नहीं है। प्रत्यक्ष के साथ विरोध भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष मिथ्यागोचर होने से पारमार्थिक अभेद का अवगाहन नहीं करता है।[५८०]

आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में कहा है कि शास्त्रों में कहे गये विशेषणों से विशिष्ट जो परमात्मा है, उसका क्या मैं ही परमात्मा हूँ इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए या वह मुझसे अन्य है इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए, इसका विचार करते हैं। परन्तु प्रत्यक् आत्मारूप अर्थ में आत्मशब्द के श्रुत होने में संशय कैसे? कहते हैं–यह आत्मशब्द मुख्य हैं, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है, यदि जीव और ईश्वर का अभेद सम्भव हो, अन्यथा यह आत्मशब्द गौण है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए, ऐसा सूत्रकार मानते हैं।[५८१]

पूर्वपक्षी कहता है कि ब्रह्म मैं हूँ इस प्रकार ग्रहण करना योग्य नहीं है, क्योंकि पाप्मत्व आदि गुण जिसके नष्ट हो गये हैं, ऐसे उस परमात्मा का विपरीतगुणत्वेन ग्रहण नहीं किया जा सकता। और विपरीत गुणों से-पाप, जरा, मरण आदि से युक्त का अपहतपाप्मत्वादि गुणों से ग्रहण नहीं किया जा सकता। परमेश्वर अपहतपाप्मत्वादि गुण से युक्त है किन्तु जीव उससे विपरीत गुण वाला है और ईश्वर सांसारिक स्वरूप हो, तो ईश्वर के अभाव का प्रसंग आवेगा और उससे शास्त्र की निरर्थकता प्राप्त होगी। इसी प्रकार संसारी जीव भी ईश्वर रूप माना जाए, तो, अधिकारी के अभाव से शास्त्र अनर्थक ही होगा, और इस अभेद पक्ष में प्रत्यक्ष आदि का विरोध भी प्राप्त होता है। यदि जीव और ईश्वर का भेद माना जाए तो भी प्रतिमा आदि में विष्णु आदि के दर्शन की नाई शास्त्र प्रामाण्य से तादातत्म्यदर्शन करना चाहिए, ऐसा यदि कहो, तो भले ऐसा हो, परन्तु संसारी का मुख्य आत्मा ईश्वर है, ऐसा हम को प्राप्त कराना युक्त नहीं है।[५८२]

---

५८०. आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह्यन्ति च ।।३।। ब्रह्मसूत्र ४.१.१.

५८१. अयमात्मशब्दो मुख्यः शक्यतेऽभ्युपगन्तु सति जीवेश्वरयोरभेदसंभवे, इतरथा तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते। शांकरभाष्य ४.१.१. पृ० २३२०.

५८२. अपहतपाप्मत्वादिगुणश्च परमेश्वरस्तद्विपरीतगुणस्तु शारीरः। ईश्वरस्य च संसार्यात्मत्वे ईश्वराभाव प्रसङ्गः, ततः शास्त्रानर्थक्यम्। शांकर भा० ४.१.१. पृ० २३२१.

सिद्धान्ती इसका परिहार करते हुए कहते हैं कि-आत्मरूप से परमेश्वर का ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि परमेश्वर के प्रकरण में त्वं वा अहमस्मि हे भगवति। देवते, तू ही मैं हूँ, और मैं ही तू है इस प्रकार जावाल आत्म रूप से इसका स्वीकार करते हैं।

वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि और भी आत्मत्व का स्वीकार जानना चाहिए और वेदान्तवाक्य ईश्वर का आत्मरूप से ही ग्रहण कराते हैं।[५८३]

शंकर का दर्शन उस काल में विकसित हुआ, जिस समय वैष्णव मत, शैव मत, शाक्यमत आदि के अनुयायी परस्पर लड़ रहे थे। शंकर ने इन मतों के अन्दर जो एक-दूसरे का विरोध कर रहे थे, उनके मतवादी सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान करके नित्य सत्य के पवित्र वातावरण में स्थापित कर दिया। धर्म को पूजा-पाठ आदि मतवादी अवधारणाओं से निकालकर आध्यात्मिक एवं समन्वयात्मक, मूलाधार प्रत्ययों को समवेत करके सत्यात्मा का साक्षात्कार करना ही सब धर्मों का ध्येय होना चहिए, इस अवधारणा पर बल दिया।

शंकर ने अपने काल में यद्यपि मूर्ति पूजा का खण्डन किया था, परन्तु शंकर उत्तरवर्ती आचार्यों ने जो शंकर के नाम से ही माने जाते थे, शंकर के नाम पर भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति में श्लोकों की रचना करके मूर्ति पूजा का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार निराकारवादी एवं अद्वैतवादी दर्शन साकारवादी दर्शन के रूप में परिणत हुआ। मूर्तिपूजा को ईश्वर भक्ति का प्रथम सोपान मानकर अद्वैतवेदान्त के बड़े-बड़े विद्वान् मूर्तिपूजा को निष्ठा पूर्वक करते हैं।

शास्त्रार्थकाल के क्षोभ तथा हलचल के पश्चात् शंकर का अद्वैत आया जिसमें मौलिक स्थिरता थी, तथा जनसाधारण में युक्तिपूर्ण दृढ़-विश्वास उत्पन्न कराने की समर्थता भी थी। यह न तो अधिकारपूर्ण रूप में आज्ञा ही देता है और न किसी रूढ़ि की ही स्थापना करता है, फिर भी इसकी प्रभावशाली तथा पूर्ण निश्चयात्मक घोषणाओं में नैष्ठिक प्रयत्न तथा परिपक्व चिन्तन का गुरुत्व पाया जाता है। यह धार्मिक यथार्थता को मनुष्य के चैतन्य केन्द्र के अन्दर दृढ़तापूर्वक जमा देता है। जहाँ से इसका उच्छेद नहीं किया जा सकता। मुनष्य का एक मात्र

---

५८३. आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः। तथा हि परमेश्वर प्रक्रियायां जावाला आत्मत्वे नैवैतमुपगच्छन्ति........। ग्राह्यन्ति चाऽऽत्मत्वेनैवेश्वरं वेदान्तवाक्यानि। (शांकर ४.१. १, पृ० २३२३).

आध्यात्मिक व्यापार यथार्थ सत्ता की खोज में निहित है, न कि उसमें जो हमारे लौकिक उद्देश्यों की पूर्ति करना।[५८४]

कर्मविधान के विषय में शंकर ने कहा है कि जिस जगत् में हम उत्पन्न हुए है, केवल मात्र कर्ता के पूर्व कर्मों का प्रतिफल के रूप में परिणाम है, ये कर्म उसके फलों के रूप में दुःख-एवं सुख उत्पन्न करते हैं। कभी-कभी किसी एक जीवन के कर्मों का फल अनेक जन्मों के पश्चात् भी मिलता है। शंकर ने कहा है कि "क्रिया कारकफलम्" इस का अभिप्राय यह है कि मनुष्य का शारीरिक संगठन एक यन्त्रसमुच्चय है।[५८५] जब पूर्व कर्मों का फल परिशोधन होकर पूर्ण होता है तो नये कर्म एकत्रित हो जाते हैं। इस प्रकार यह अनादि काल से परिचक्र चलता रहता है। इसमें कोई भी विश्राम नहीं है। जो कर्म फल की आकांक्षा से किये जाते हैं। वे अपने फल देते हैं। ऐसे कर्म जो निःस्वार्थ भाव तथा कर्त्तव्य बुद्धि एवं ईश्वरार्पण भाव से किये जाते हैं, वे मन को तो पवित्र करते ही है कर्म बन्धन से भी मुक्त करते हैं।

आचार्य शंकर यह स्पष्ट करते हैं कि जीवात्मा कठपुतलियों की तरह कर्मों की रस्सियों से नहीं बंधा हुआ है। व्यक्ति अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। ईश्वर सहायक के रूप में मध्यस्थ का कार्य करता है। एवं उसके कर्मफलों को सुरक्षित बनाए रखता है।[५८६] ईश्वर किसी को विवश नहीं करता कि तुम ऐसा नहीं ऐसा कर्म करो, यहाँ तक कि ऐसी प्रवृत्तियों के ऊपर भी जिनसे हम बद्ध हैं, हम इच्छाशक्ति के द्वारा विजय पा सकते हैं।[५८७] योग वासिष्ठ में वसिष्ठ राम को स्वतन्त्र पुरुषार्थ के द्वारा उस शृंखला को तोड़ फेंकने का आदेश देते हैं जो हमें बन्धन में जकड़े हुए है।[५८८] मनुष्य का स्वभाव प्रेरणापरक है, जिसके कारण उसमें राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं।[५८९] मनुष्य, यदि प्राकृतिक स्वभाव के अनुसार चले जिसे लेकर उसने जन्म ग्रहण किया है तो सर्वथा अपनी अन्तःप्रेरणाओं के अधीन रहता है, और जब तक उसकी क्रियाएं इन अन्तःप्रेरणाओं से संचालित

---

५८४. वही.

५८५. कार्य कारणसंघात.

५८६. ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ दि वेदान्त अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ-३५४.

५८७. शांकर भाष्य २:३, ४२.

५८८. भगवद्गीता पर शांकर भाष्य ३:३, ४.

५८९. देखें जीवन्मुक्तिविवेक, अध्याय १.

होती है। वे क्रियाएं स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु मनुष्य केवल मात्र अपनी अन्तः प्रेरणाओं का ही पुंज नहीं है।

उसके अन्दर अनन्त का निवास है। आत्मा कारण कार्य भावरूपी शक्ति के रूप में व्यावहारिक श्रृंखलाओं के बाहर विद्यमान रहती है और उनका निर्धारण करती है। मनुष्य का इतिहास केवल मात्र कठपुतली का तमाशा नहीं है। यह एक रचनात्मक विकास है।

शंकर ने परलोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि जब तक कि शाश्वत जीवन प्राप्त नहीं होता, तब तक जीवन संसार के साथ अन्तर्विहीन चक्र के साथ बंधा रहता है। शंकर ने भौतिक वादी मत का खण्डन करते हुए कहा कि जीवात्मा शरीर नहीं है। यह तथ्य विहीन है[५९०] कि शरीर के समाप्त हो जाने पर आत्मा भी नष्ट हो जाती है। आत्मा शरीर के आश्रित नहीं है, आत्मा विभिन्न योनियों में जाकर के पुनः-पुनः जन्म लेता रहता है। यद्यपि हमारा शरीर छिन्न भिन्न होकर राख में परिणत हो जाता है। तो भी हमारे अन्दर ऐसी वस्तु है जो मृत्यु के पश्चात् भी शेष रहती है। वही वस्तु भविष्य के जीवन का निर्णय भी करती है। नैतिक तथा धर्मात्मा मनुष्य तराजू के पलड़े पर ऊँचे उठ जाते हैं। अनैतिक एवं पापी नीचे आ जाते हैं।

शंकर के अनुसार वैदिक देवता भी अमर नहीं है। देवताओं के अमरत्व का अभिप्राय यही है कि वह दीर्घ काल तक जीवित रहते हैं। वे वास्तव में ईश्वर के उपहार है।[५९१] डॉ० राधाकृष्णम् ने शंकर के इस सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि शंकर मृत्यु के उपरान्त शरीर से आत्मा के प्रस्थान करने का विस्तृत रेखा चित्र प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वेद में बताया गया है कि सत्पुरुषों की आत्माएं यम के प्रकाशमय स्वर्ग में चली जाती हैं, जहाँ वे पितरों के मध्य एक आनन्दमय जीवन व्यतीत करती है।[५९२] और दुरात्मा पुरुषों की आत्माएं, जिनके लिए स्वर्ग का द्वार बन्द है, निम्नतर श्रेयणी के अन्धकार में गिरती है।[५९३] उपनिषदों में हम अध्ययन करते हैं कि प्रज्ञावान् देवायान मार्ग से ऊपर ब्रह्म तक

---

५९०. भगवद्गीता पर शांकर भाष्य ८:१८/३:३३.

५९१. शांकर भाष्य १:२, १७.

५९२. ब्रह्मसूत्र १०:१४, १०.

५९३. ब्रह्मसूत्र १०:१५२, ४.

ले जाए जाते हैं जहाँ पहुँचकर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्म करने वाले पुरुषों की आत्माएं पितृयान मार्ग से ऊपर की ओर ज्योतिर्मय चन्द्रलोक में जाती है। तथा वहाँ अपने कर्मों के फलों का उपभोग करती हैं और तब एक नये जीवन में आने के लिए नीचे उतरती है।, जिसका निर्णय भूतकाल के जन्म के द्वारा होता है और वे, जो न ज्ञान और न कर्म में निरत रहे होते हैं। एक तीसरा स्थान पाते हैं और निम्नतर श्रेणी के पशुओं तथा वनस्पति के अन्दर जन्म लेते हैं, जिन्हें चन्द्रलोक के आनन्द का रस नहीं प्राप्त होता।[५९४]

आचार्य शंकर उक्त तीनों को संसार के चक्र में तीन भिन्न पड़ावों के रूप में मानते हैं, किन्तु मोक्ष का अपना ही सबसे पृथक् रूप है और उक्त तीनों से भिन्न है। जहाँ एक ओर पितृयान फिर से लौकिक अस्तित्व की ओर ले जाता है, वहाँ दूसरी ओर देवयान ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है, जहाँ से फिर इस संसार में लौटना नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषद्[५९५] के विवरण में केवल दो ही मार्ग बताए गए है। अर्थात् देवयान और पितृयान और ये सब जो ज्ञान से रहित है सज्जन हो अथवा दुर्जन हो, उन्हे पितृयान से जाना होता है। शंकर अतीत तथा नये जन्म में द्विगुण प्रतिशोध के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जिससे कि वेद तथा उपनिषदों के विचारों में समन्वय किया जा सके।[५९६] एक प्रयास इस विषय में भी किया गया था कि वैदिक कर्मकाण्ड जिसका पुरस्कार परलोक में कर्त्ता को मिलता है, तथा नैतिक जीवन में परस्पर भेद किया जाए, क्योंकि नैतिक जीवन का फलोपभोग इसी लोक में होता है।[५९७] वे आत्माएं, जो परम्परागत नैतिक आधार का पालन करती है तथा यज्ञयागादि करती हैं, बिना किसी सत्य ज्ञान के पितरों के मार्ग का अनुसरण करती हैं और धूम्रमय क्षेत्र से गुजरते हुए चन्द्रलोक में पहुँचती है और वहाँ अपने कुछ कर्मों का फलोपभोग करने के पश्चात् एक नये जीवन में प्रवेश करने के लिए इस लोक में वापिस लौट आती है। जब कि अन्य जो शरीरधारी ईश्वर की उपासना करते हैं, और ज्ञानपूर्वक कर्म करते हैं, देवयान मार्ग में ऊंचे-ऊंचे सूर्य लोक के मध्य से गुजरते हुए ब्रह्म लोक में पहुँचते हैं।[५९८] शरीरधारी ईश्वर की पूजा करने वाला अपनी शक्तियों और प्रभुत्व का भाग प्राप्त

५९४. वृहदारण्यक, उप० ६:२, कठोपनिषद्.
५९५. ब्रह्मसूत्र ५:३, १० देखें शांकर भा० ३:१, १२-२१.
५९६. शांकर भाष्य ३:१, ८.
५९७. शांकर भाष्य ३:१, ९-११.
५९८. शांकर भाष्य ४:३, १-६.

करता है, यद्यपि" उसका अंधकार अभी तक दूर नहीं हुआ" और उसकी अविद्या भी अभी तक नष्ट नहीं हुई। वे जो निम्न श्रेणी के देवताओं की पूजा करते हैं वे भी अपना पुरस्कार पाते हैं, यद्यपि इस प्रकार की पूजा उन्हें मोक्ष के उच्चतम मार्ग पर नहीं ले जा सकती है।[५९९] वे जो अनैतिक जीवन व्यतीत करते हैं, नीचे गिरते हैं।[६००] किन्तु इनमें से कोई भी ईश्वर के प्रेम से वंचित नहीं रहता एवं निर्जन शून्यता में नहीं उतारा में लीन हो जाता है। यह मुख्यप्राण अपने क्रम में आत्मा के नैतिक यान क्षरा सूक्ष्म शरीर में समा जाता है। आत्मा, जिसके प्रतिबन्धक तथा सहायको में अविद्या, धर्म तथा पूर्वजन्म के अनुभव है, अपने सूक्ष्म शरीर के साथ शरीर को छोड़ जाती है।[६०१] इस सूक्ष्म शरीर को सूक्ष्म इसलिए कहा जाता है क्योंकि कहा गया है कि यह नाड़ियों के मार्ग से शरीर को छोड़ता है। इस सूक्ष्म शरीर में विस्तार (तनुत्व) है जिससे संचार तथा पारदर्शिता (स्वच्छत्व) सम्भव होते हैं। जिसके कारण इसे मार्ग में कोई बाधा नहीं रोक सकती और कोई इसे देख भी नहीं सकती।[६०२] यह सूक्ष्म शरीर मोक्ष से पूर्व कभी विलय को प्राप्त नहीं होता।[६०३]

---

५९९. शांकर भाष्य ४:१, ४:/४:३, १५-१६.

६००. शांकर भाष्य छान्दोग्य उप० पर, प्रस्तावना और भी देखें ३:१, १-७. १८.

६०१. शांकर भाष्य ४: ४, ८-१२.

६०२. ब्रह्म सूत्र २:२, १-५. और देखें ४:२, ९-११.

६०३. भारतीय दर्शन भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्.

चतुर्थ अध्याय

शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त

अद्वैतवेदान्त के इतिहास क्रम पर दृष्टिपात करें, तो गौड़पाद आचार्य, प्रथम आचार्य माने जाते हैं, जिन्होंने माण्डूक्य उपनिषद् के भाष्य के रूप में माण्डूक्य कारिका नामक ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त की मूलभूत अवधारणाओं को स्थापित किया है। बौद्ध दार्शनिकों ने जहाँ चेतनसत्ता को नकार दिया था। गौड़पाद ने जड़सत्ता को पूर्ण रूपेण अस्वीकृत कर दिया था। गौड़पाद ने जागतिक पदार्थों की सत्ता को वैतथ्य कहकर पूर्णरूपेण स्वप्नकालिक वस्तु के रूप में निरूपित किया। गौड़ पाद के आलोचकों ने उसके द्वारा प्रतिपादित वैतथ्य की तात्त्विक सत्ता की परिभाषा को प्रच्छन्न बौद्ध के रूप में मान्यता प्रदान की।

आचार्य शंकर ने अपने दादागुरु गौड़पाद के विसंगति मूलक दर्शन की विसंगतियों को दूर करते हुए, तीन प्रकार की सत्ताओं को, जिनमें प्रातिभाषिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता के रूप में एक नये अद्वैतवाददर्शन की संरचना की।

शंकर के उत्तरवर्ती आचार्यों जो कि अद्वैतवेदान्त के भाष्यकार, टीकाकार और स्वतन्त्र अद्वैतवेदान्त दर्शन के प्रणेता भी हैं। उनके दर्शन को भी प्रतिपादित करना अपेक्षित है।

आचार्य मण्डनमिश्र–

मण्डन मिश्र कृत ब्रह्म-सिद्धि एवं उस पर शंखपाणि कृत टीका की पांडुलिपियाँ उपलब्ध है, मद्रास के महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री शीघ्र ही इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का आलोचनात्मक संस्करण निकालने वाले हैं। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री के सौजन्य से वर्तमान लेखक को ब्रह्म-सिद्धि को अवलोकित करने का अवसर प्राप्त हुआ।

ब्रह्मकाण्ड में मण्डन ने द्रष्टा एवं दृश्य की समस्या को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि द्रष्टा दृश्य के प्रतीयमान द्वैत को हटाकर के ही अनुभव की व्याख्या की जा सकती है। क्योंकि यदि द्रष्टा और दृश्य का कोई वास्तविक द्वैत हो, तो उस द्वैत को हटाया नहीं जा सकता एवं दोनों के मध्य किसी प्रकार का भी सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, दूसरी ओर यदि केवल द्रष्टा की ही सत्ता हो तो प्रत्यक्षीकृत समस्त वस्तुओं का वर्णन एकमात्र परमसत्ता आत्मा पर आरोपित भ्रमात्मक रचनाओं के रूप में की जा सकती है।[६०४] इस युक्ति को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि इस द्रष्टा-दृश्य संबंध को स्थापित करने के लिए मध्यस्थ अन्तःकरण की क्रिया के सिद्धान्त द्वारा प्रयत्न किये हैं, परन्तु इस माध्यम का कैसा ही स्वरूप क्यों न हो, शुद्ध अविकारी चिदात्मा अथवा द्रष्टा विभिन्न दृश्यों के साथ अपने सम्बन्ध के अनुसार अपने परिवर्तनशील विकारों के साथ विकृत नहीं हो सकता; यदि यह कहा जाए कि आत्मा अविकारी है एवं अन्तःकरण में उसके प्रतिबिम्ब द्वारा विकार की प्रतीतिमात्र होती है, तो यह स्पष्टतया स्वीकार करना पड़ेगा कि विषयों का वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण न होकर प्रत्यक्षीकरण का अवभास मात्र होता है। यदि विषयों का यथार्थ प्रत्यक्षीकरण नहीं होता तो उनकी सत्ता को आत्मा से स्वतंत्र एवं पृथक् मानना दोषयुक्त है।

जिस प्रकार दर्पण में देखी गई स्वयं अपनी आकृति को कोई व्यक्ति अपने से भिन्न मानता है और उसे अपने से पृथक् सत्ता वाला मानता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा का अपने से भिन्न नाना विषयों के रूप में अवभास होता है। यह सोचना कठिन है कि किस प्रकार कोई व्यक्ति शुद्ध चैतन्य से पृथक् बाह्य विषयों की सत्ता को स्वीकार करता है, क्योंकि उस स्थिति में दोनों में सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव होगा।[६०५]

मण्डन के अनुसार अविद्या को माया अथवा मिथ्या-प्रतीति कहा गया है, क्योंकि न तो यह ब्रह्म का स्वभाव है और न यह उससे भिन्न, न सत् और न असत्। यदि यह किसी का स्वभाव होती तो, उससे एकरूप अथवा उससे भिन्न होने पर भी असत् होती तो आकाश-कुसुम के समान उसका अनुभव से कोई

६०४.एकत्वे एवायं द्रष्ट दृश्य भावोऽवकल्पते, 'द्रष्टुऐव चिदात्मनः तथा विपरिणामाद् विवर्त्तनाद्वाः नानात्वेतु निविक्तस्वभावयोः असंसृष्ट परस्पर स्वरूपयोः असम्बद्धयोः कीदृशो द्रष्ट्-दृश्यभावः।

६०५.तथा हि दर्पण-तल-स्थ आत्मानंविभक्तम् इवात्मनः प्रत्येति, चितेस्तु विभक्तम् असंसृष्टतया चैत्यत इति दुरवगम्यम्।। ब्रह्मसिद्धिः।

व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं होता जैसा अविद्या का इस प्रकार यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अविद्या अनिर्वचनीय है।[६०६]

मण्डन अविद्या का अधिष्ठान जीव को मानते हैं, वे स्वीकार करते हैं कि इस दृष्टिकोण में असंगति है, परन्तु उनके विचार में स्वयं अविद्या के असंगत पदार्थ होने के कारण इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जीव के साथ इसका सम्बन्ध भी असंगत एवं अनिर्वचनीय हो। जीवों के साथ अविद्या के सम्बन्ध की असंगति निम्न प्रकार से उत्पन्न होती है–

जीवों का आवश्यक रूप से ब्रह्म के साथ तादात्म्य है, एवं जीवों के नानात्व का कारण कल्पना है, परन्तु ब्रह्म के कल्पनाशून्य होने के कारण यह कल्पना ब्रह्म की नहीं हो सकती (तस्याविद्यात्मनः कल्पना शून्यत्वात्) यह कल्पना जीवों की भी नहीं हो सकती, क्योंकि जीव तो स्वयं कल्पना के ही आश्रित है।[६०७] इस कठिनाई के दो हल प्रस्तुत किये जा सकते हैं–

प्रथम–माया शब्द का अर्थ ही असंगत पदार्थ है यदि यह संगत एवं वचनीय प्रत्यय होता तो यह यथार्थ होता, माया नहीं।[६०८] द्वितीय–यह कहा जा सकता है कि जीव अविद्या पर एवं अविद्या जीवों पर आश्रित है और यह चक्र अनादि है तथा इसलिए जीवों का अथवा अविद्या का प्रथम, आदि नहीं है।[६०९] यह मत उन लोगों का है जो अविद्या को जगत् का उपादान कारण नहीं मानते हैं; पारिभाषिक शब्दावली में ये अविद्योत्पादान–भेदवादी कहलाते हैं। इसी अविद्या के द्वारा जीव आवागमन के चक्र में पड़ते हैं और यह अविद्या जीवों में नैसर्गिक है क्योंकि स्वयं जीव अविद्या के उत्पाद्य है।[६१०] एवं वेदान्ती वचनों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि से यथार्थ ज्ञान का उदय होता है एवं अविद्या का नाश होता है, इसी अविद्या के कारण ही ब्रह्म से जीव विभक्त हुआ; उसकी निवृत्ति अथवा नाश से ही वे ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होते हैं।[६११]

६०६.ब्रह्मसिद्धि, पृ० ९।

६०७.इतरेतराश्रय प्रसंगात् कल्पनाधीनोहि जीवविभागः, जीवाश्रया कल्पना। वही, पृ० १०

६०८.अनुपपद्यमानार्थैव हि माया; उपपद्यमानार्थत्वे यथार्थभावान्न मायास्यात्। ब्रह्मसिद्धि, पृ० १०

६०९.अनादित्वान्नेतरेतराश्रयत्व दोषः। ब्रह्मसिद्धि।

६१०.न हि जीवेषुनिसर्गजा विद्यास्ति, अविद्यैव हि नैसर्गिकी, आगन्तुक्या अविद्यायाः, प्रविलयः। ब्रह्मसिद्धि, पृ० ११-१२

६११.अविद्ययैव ब्रह्मणो जीवो विभक्तः तन्निवृत्तौब्रह्म-स्वरूपमेव भवति, वही, पृ० ११-१२

ब्रह्म के स्वरूप की शुद्ध आनन्द के रूप में परिभाषा देते हुए टीकाकार शंखपाणि कुछेक अत्यंत रुचिकर विचार-विमर्श करते हैं। वे प्रारम्भ में दुःख निवृत्ति के रूप में अथवा इस प्रकार की अभावात्मक स्थिति द्वारा विशिष्ट विद्यात्मक आत्मोपलब्धि के रूप में सुख की अभावात्मक परिभाषा की आलोचना करते हैं।[६१२] वे कहते हैं कि सचमुच कई अभावात्मक सुख है जिनका अभावात्मक सुखों के रूप में अनुभव किया जाता है, परन्तु उनके मत में कई ऐसी अवस्थएं हैं जहाँ सुख और दुःख का अनुभव एकसाथ होता है, न कि एक दूसरे के निषेध रूप में। किसी मनुष्य को अपने शरीर के ऊपरी भाग में दुःखदायक उष्णता का अनुभव हो सकता है और उसके शरीर के निचले भाग में आनन्ददायक शीतलता का अनुभव हो सकता है और इस प्रकार सुख-दुःख युगपत् उत्पन्न हो सकता है। (सुख-दुःखे युगपज्जन्येते)। पुनः शास्त्रों के अनुसार नरक में असंश्लिष्ट दुःख है और इससे स्पष्ट है कि दुःख आवश्यक रूप से सापेक्ष नहीं होता। पुनः ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है–(यथा-कपूर की आनन्ददायक गंध को सूंघना) जहाँ हमें आत्मोपलब्धि का अनुभव होता है।[६१३] शंखपाणि कहते हैं कि विषय-प्राप्ति के बिना काम ही को दुःख और उससे निवृत्ति को ही सुख मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन यह बताकर करते हैं कि सुख की आत्मोपलब्धि किसी व्यक्ति के सुख की कामना किये बिना भी सम्भव है।[६१४]

ब्रह्मसूत्र एवं कुछ उपनिषदों के भाष्य तथा माण्डूक्यकारिका में शंकर ने तार्किक आलोचना के कुछ तत्त्वों का प्रयोग किया था, जिनके सिद्धान्त बहुत समय पूर्व ही बौद्धों द्वारा सुविकसित रूप में प्रचलित किए गए थे। शांकर शाखा तीन महान् तार्किक श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान और चित्सुख के नाम सुविज्ञात हैं और इस अध्याय में उनका सम्यक् ध्यान रखा गया है। परन्तु शंकर के शिष्यों में मण्डन ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने तार्किकयुक्तिप्रणाली का प्रारम्भ किया और जो तार्किक शक्तियों में अद्वितीय थे और जिन्होंने शांकर शाखा के अन्य सब तर्कशास्त्रियों यथा आनन्दबोध, श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान, चित्सुख, नृसिंहाश्रम एवं अन्यों को प्रभावित किया। मण्डन की महान् तार्किक उपलब्धि ब्रह्मसिद्धि के

---

६१२. दुःखनिवृत्तिर्वातद्–विशिष्टात्मोपलब्धिर्वा सुखमस्त सर्वथा सुखं नाम न धर्मान्तरमस्ति। (शंखपाणि टीका १ अधार पांडुलिपि, पृ०१८)

६१३. ब्रह्मसिद्धि, पृ० २०-२१।

६१४. ब्रह्मसिद्धि, पृ० २२।

तर्क-काण्ड अध्याय में भेद के प्रत्यक्षीकरण का खण्डन करने में पाई जाती है। युक्ति निम्न प्रकार से दी गई है–भेद पदार्थ की अभिव्यक्ति प्रत्यक्षीकरण में होती है और यदि यह सत्य है तो भेद की वास्तविकता प्रत्यक्षीकरण में होती है और यदि यह सत्य है तो भेद की वास्तविकता का निषेध नहीं किया जा सकता और इसलिए वचन की व्याख्या इस प्रकार नहीं करनी चाहिए कि भेद की वास्तविकता ही समाप्त हो जाए।

इस प्रकार के दृष्टिकोण के विरुद्ध यह सिद्ध करते हैं कि भेद का अनुभव प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता चाहे वह वस्तुधर्म के रूप में हो, चाहे इकाई के रूप में हो।[६१५] वे प्रारम्भ में कहते हैं कि प्रत्यक्ष हमें तीन सम्भव विकल्प देता है–१. वस्तु स्वरूप सिद्धि, २. अन्य वस्तुओं से इसका व्यवच्छेद, ३. दोनों।[६१६] तृतीय विकल्प भी पुनः त्रिविध हो सकता है–यथा–१. युगपद्भाव, २. व्यवच्छेदपूर्वक विधि, ३. विधिपूर्वक व्यवच्छेद।[६१७]

बौद्ध मत में यह भी एक दृष्टिकोण है कि वस्तुएं प्रकृति से ही भिन्न स्वरूप होती है और इस प्रकार जब प्रत्यक्ष द्वारा कोई विषयानुभव होता है तब उसी प्रक्रिया द्वारा इस विषय की अन्य विषयों से भिन्नता का भी ग्रहण होता है। इस आपत्ति के उत्तर में मण्डन कहते हैं कि वस्तुएं भेद-स्वरूप नहीं होती क्योंकि प्रथमतः उस अवस्था में समस्त विषय भेद-स्वरूप वाले होंगे, और इसलिए उनमें कोई भेद नहीं रहेगा। द्वितीय, चूंकि भेद का कोई रूप नहीं होता अतः स्वयं विषय भी अरूप होंगे, तृतीय, भेद के तत्वतः रूप से अभाव स्वरूप होने के कारण स्वयं विषय भी अभावस्वरूप होंगे, चूंकि, भेद के प्रत्यय में द्वैत अथवा बहुत्व निहित होने के कारण किसी भी विषय को एक नहीं माना जा सकता, कोई भी वस्तु दोनों एक और अनेक नहीं मानी जा सकती है। इसका उत्तर देते हुए विपक्षी कहते हैं कि वस्तु का भेद स्वभावतः परापेक्षी होता है, आत्मापेक्षी नहीं, इसके उत्तर में मण्डन का कथन है कि सम्पूर्ण संबंध मानसिक होने के क.रण उन लोगों पर आश्रित है जो वस्तुओं के बारे में विचार करते हैं, अतः अपेक्षा नामक कोई वस्तुधर्म नहीं है।

६१५.यह विवेचना ब्रह्मसिद्धि के, पृ० ४४ से द्वितीय अध्याय के अन्त तक की गई है।
६१६.तत्र प्रत्यक्षे त्रयःकल्पाः वस्तुस्वरूप सिद्धि, वस्त्वन्तरस्य व्यवच्छेदः उभयंवा। (ब्रह्मसिद्धि)
६१७.उभयस्मिन्नपि त्रैविध्यमयौगपद्यम्, व्यवच्छेद पूर्वको विधि, विधि-पूर्वको व्यवच्छेदः। (ब्रह्मसिद्धि)

ब्रह्मसिद्धि के न्यायकाण्ड नामक तृतीय अध्याय में मण्डन मीमांसकों के इस मत का खण्डन करते हैं कि वेदान्त वाक्यों की मीमांसक व्याख्या पद्धति के अनुसार ही व्याख्या की जानी चाहिए, अर्थात् वैदिक वचनों का अर्थ आदेश है या निषेध है। परन्तु, क्योंकि उस परिचर्चा का अधिक दार्शनिक महत्त्व नहीं, अतः इसमें पड़ना वांछनीय नहीं है। सिद्धि-काण्ड नामक चतुर्थ अध्याय में मण्डन इस मत का पुनः समर्थन करते हैं कि उपनिषद् ग्रन्थों का मुख्य विषय यह प्रदर्शित करता है कि नानाप्रपंचात्मक जगत् असद् है एवं उसका प्रकाशन जीवों की अविद्या के कारण होता है। जिस प्रकार के परमार्थ का उल्लेख उपनिषदों में है यह हमारे चारों ओर दृश्यमाण यथार्थ से बिल्कुल भिन्न है और साधारण अनुभव द्वारा अगम्य। इसी सत्य को प्रतिपादित करने के हेतु ही उपनिषदों को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का एक मात्र स्रोत माना गया है।

दूसरे लोग पुनः यह युक्ति देते हैं कि यह जगत् अवश्य ही नानात्मक है, क्योंकि हमारे अनुभूत विविध विषय उद्देश्यों की पूर्ति असम्भव है। परन्तु यह आपत्ति न्याय संगत नहीं है, क्योंकि ठीक वही वस्तु भी विविध उद्देश्यों की पूर्ति कर सकती है; वही अग्नि जला सकती है, प्रकाशित कर सकती है और पका सकती है। एक ही वस्तु में विविध अवच्छिन्न गुणों के होने में कोई आपत्ति नहीं है। कभी-कभी यह आग्रह किया जाता है कि वस्तुओं के पारस्परिक वैभिन्य का कारण उनकी विविध शक्तियाँ है, (यथा दूध तिल से भिन्न इसलिए है कि दूध से दही उत्पन्न होता है, तिल से नहीं) परन्तु शक्तिवैभिन्य गुणवैभिन्य के समान है, और जैसे एक ही आग की दो विविध शक्तियाँ अथवा गुण यथा जलाना अथवा पकाना, हो सकती है, उसी प्रकार एक ही तत्त्व विभिन्न कालों में शक्तियुक्त, अथवा शक्तिसंयुक्त हो सकता है और इसमें किंचित् मात्र भी तत्त्व वैभिन्य का अर्थ निहित नहीं है। यह एक महान् रहस्य है कि एक ही वस्तु का ऐसा अतिशय सामर्थ्य हो कि वह असंख्य विविध प्रतीतियों का आधार बन सकता हो। जैसे कि एक ही तत्त्व में कई विविध शक्तियाँ रहती हैं उसी प्रकार ठीक वहीं तत्त्व उसी आधार पर विविध प्रतीतियों का कारण माना जा सकता है।[६१८] कुछ लोग यह मानते हैं कि एक तत्त्व का दूसरे में अभाव होने में भेद निहित है। इस पर यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है ऐसे अभाव अपने स्वरूप में अनिश्चित नहीं हो सकते; क्योंकि तब सब स्थानों पर समस्त वस्तुओं का अभाव

६१८. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, डॉ० एस० एन० दासगुप्ता, पृ० ९२-९३।

उन्हें रिक्त बना देगा। तथापि, यदि विशिष्ट अभाव निश्चित तत्त्वों के स्वरूप निहित अभावों पर आश्रित हो और चूंकि इन विभिन्न तत्वों के सम्बन्ध में निहित है, तो चूंकि इन तत्त्वों के एक-दूसरे से भिन्न रूप में इन तत्त्वों के होने पर ही निहित अभाव क्रियाशील हो सकते हैं, अत: इतरेतर आश्रित है, अत: स्वयं डटे नहीं रह सकते। पुन: यह नहीं कहा जा सकता कि 'भेद का प्रत्यय, प्रत्यक्ष प्रक्रियाएं यथा सविकल्पक प्रत्यक्ष की क्रियाशीलता द्वारा उत्पन्न होता है क्योंकि ऐसा कुछ भी प्रमाण नहीं है कि पारस्परिक अभाव के अतिरिक्त भेद का निश्चित रूप से अनुभव किया जा सकता है।' वस्तु एक ही है, जो अज्ञान द्वारा भेद के विविध प्रत्यय देती है।

पुन: यदि सत् के रूप में समस्त वस्तुओं के एकत्व का अनुभवगम्य नहीं किया जाए, तो यह समझना कठिन होगा कि किस प्रकार वस्तुओं की एकरूपता की पहचान की जा सकती है। वस्तुओं की यह एक रूपता सर्वाधिक मूलभूत अनुभव है एवं यह प्रथमत: निर्विकल्पक अनुभव के रूप में प्रकट होता है, जो बाद में अपने आपको भेद के विविध प्रत्ययों में परिवर्तित करता है।[६१९] इस सम्बन्ध में मण्डन वस्तुओं के स्वरूप को द्विविध अर्थात् दोनों भेद एवं अभेद बताने वाली विचारधारा का तथा भेद एवं अभेद को स्वयं अपने में निजी तरीकों में सत्य बताने वाली जैन विचारधारा का खण्डन करते हैं, परन्तु यहाँ इनका विस्तृत विवरण देना आवश्यक नहीं है। भेद पदार्थ का खण्डन करने में मुख्य बात उन्होंने यह कही है और यह सिद्ध किया है कि भेद-पदार्थ को प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत समझना और यह समझना कि दार्शनिक दृष्टि से इस बात को मानने से कि वस्तुत: भेद और अभेद असंख्य है जैसा कि उनका प्रत्यक्षीकरण होता है, यह मानना सरल है कि वस्तु एक ही है जो अज्ञान द्वारा भेद के विविध प्रत्यय देती है।

ब्रह्मसिद्धि के नियोगकाण्ड नामक तृतीय अध्याय में मण्डन मीमांसक दर्शन का खण्डन करते हैं कि वेदान्ती अंशों की व्याख्या के मीमांसा-नियमों के अनुसार की जानी चाहिए अर्थात् वैदिक अंशों में या तो विधि अथवा निषेध निहित है, परन्तु इस चर्चा का अधिक दार्शनिक महत्त्व नहीं होने के कारण इसमें पड़ना वांछनीय नहीं है। सिद्धिकाण्ड नामक चौथे अध्याय में मण्डन इस दृष्टिकोण को पुन: दोहराते हैं कि उपनिषद् अंशों की मुख्य शिक्षा यह प्रदर्शित

६१९.प्रत्येकं अनुविछत्वाद् भेदन मृषामत:।
भेदो यथा तरङ्गानां भेदादभेद: कलावत:।। ब्रह्मसिद्धिकारिका-३१

करने में है कि प्रतीतियों के नानारूपात्मक जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है और जीवों की अविद्या के कारण इसकी अभिव्यक्ति होती है। उपनिषद् ग्रन्थों में वर्णित परमसत्ता उससे पूर्णतया भिन्न है जो हम अपने चारों ओर देखते हैं और मानो साधारण अनुभव द्वारा एक महान् सत्य को अज्ञात करना ही होगा। हो सकता है कि उपनिषदों को ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का एक मात्र स्रोत माना गया है।

आचार्य सुरेश्वर–

सुरेश्वर कृत नैष्कर्म्य सिद्धि चार अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में वेदान्तीज्ञान प्राप्त करने के लिए वैदिक कर्मों के सम्बन्ध के बारे में विवेचना की गई है। यहाँ अविद्या की परिभाषा अपने अनुभव में आत्मा के परम एकत्व के अप्रत्यक्षीकरण के रूप में दी गई है; इसके कारण पुनर्जन्म होता है और इस अविद्या का नाश ही आत्मा की मुक्ति है। मीमांसकों का विचार है कि यदि कोई व्यक्ति काम्य-कर्म एवं निषिद्ध-कर्मों का त्याग कर दे तो फल प्राप्ति के बाद समय पर उन संचित कर्मों का स्वभावत: नाश हो जायेगा और इसलिए नित्य-नैमित्तिक कर्मों द्वारा नए कर्म अनुत्पन्न होने के कारण अन्य नये कर्म संचित नहीं होंगे, अत: वह व्यक्ति स्वभावत: कर्म से मुक्ति प्राप्त कर लेगा। किन्तु यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदों में विधि निषेध का उल्लेख नहीं है। अत: केवल वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा ही मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करना चाहिए। इस मीमांसक दर्शन के विरुद्ध सुरेश्वर की मान्यता है कि मुक्ति का कर्म सम्पादन से कोई सरोकार नहीं। वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा चित्त शुद्धि के रूप में कोई परोक्ष एवं दूरगामी परिणाम निकल सकता है, परन्तु निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्ति पर इसका कोई अपरोक्ष परिणाम प्रभाव नहीं पड़ता।

सुरेश्वर विद्या-सुरभि-भाष्य में वर्णित ब्रह्मदत्त की विचारधारा का इस रूप में कथन करते हैं कि निरन्तर लम्बे समय तक ब्रह्मोपासना अथवा ब्रह्मध्यान ही, न कि केवल आत्मा एवं ब्रह्म के तादात्म्य ज्ञान द्वारा अविद्या का नाश होता है जैसाकि वेदान्त ग्रन्थों में प्रतिपादित है। अत: ब्रह्म जीव के तादात्म्य के सम्बन्ध में उपनिषदीय अंशों का यथार्थ ज्ञान तत्काल मुक्ति उत्पन्न नहीं करता, तादात्म्य के ऐसे विचारों पर जिज्ञासु को दीर्घ समय तक ध्यान करना पड़ता है, और प्रत्येक समय सब नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करना पड़ता है, क्योंकि यदि कोई उनका त्याग कर दे तो यह कर्त्तव्योल्लंघन होगा और स्वभावत: पापों की उत्पत्ति होगी, तथा व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। अत: ज्ञान-कर्म-

समुच्चय आवश्यक है जिसका शंकर ने घोर विरोध किया है। एक अन्य दृष्टिकोण भी वार्त्तिक में उल्लिखित है और जिसको भास्करआनन्दज्ञान ने मण्डन द्वारा प्रतिपादित बताया है कि-वह यह है कि वेदान्ती ग्रन्थों द्वारा प्राप्त ज्ञान मौखिक एवं प्रत्यात्मक होने के कारण अपने आप ब्रह्मज्ञान की ओर नहीं ले जाता, परन्तु जब ये अंश निरन्तर दोहराए जाते हैं, तो अन्य वैदिक कर्मों के अथवा यज्ञ, दान आदि कर्मों द्वारा विचित्र प्रभाव उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया की तरह विचित्र प्रभाव के रूप में ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न करते हैं। वार्त्तिक में ज्ञान-कर्म समुच्चय के समर्थकों के विविध सम्प्रदायों का वर्णन है—कुछ लोग ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं, अन्य कर्म को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं और कई ऐसे हैं जिनकी दृष्टि में ज्ञान कर्म दोनों समान रूप में महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार ज्ञान कर्म-समुच्चय के तीन सम्प्रदाय उद्भूत होते हैं।

आचार्य सुरेश्वर इन तीनों विचारधाराओं का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यथार्थ-ज्ञान एवं मुक्ति एक ही वस्तु है और इसमें किंचित् मात्र भी वैदिक कर्मों के सम्पादन की अपेक्षा नहीं है। सुरेश्वर ज्ञान-कर्म समुच्चय के सिद्धान्त का भी खण्डन भूत्प्रपंच जैसे—अपरिवर्तित द्वैतवादियों की तरह करते हैं जिनके अनुसार परमसत्ता भेदाभेद है, जिससे भेद का सिद्धान्त उतना ही सत्य है जितना अभेद का, एवं मुक्ति की अवस्था में भी कर्म सम्पादन आवश्यक है, क्योंकि भेदों के भी सत्य होने के कारण विकास की किसी भी अवस्था में और मोक्ष की अवस्था में भी, कर्मों की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि अभेद के सत्य का अनुभव करने के लिए यथार्थज्ञान भी है। सुरेश्वर द्वारा इस दृष्टिकोण का खण्डन दो तथ्यों पर आधारित है तथा परमसत्ता का भेदाभेद प्रत्यय परस्पर विरोधी है और जब यथार्थज्ञान द्वारा एकत्व का अनुभव होता है तथा परत्व का भाव और नानात्व दूर हो जाता है तब यह सम्भव नहीं है कि उस अवस्था में कोई कर्म किए जा सकते हैं, क्योंकि कर्मों के पालन में द्वैत एवं भेद के अनुभव की आवश्यकता निहित है।[६२०]

नैष्कर्म्यसिद्धि के द्वितीय अध्याय में योग्य आचार्य द्वारा की गई उपनिषदों के एकत्व सम्बन्धी अंशों की व्याख्या द्वारा अपरोक्षानुभूति के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। एकत्व के यथार्थ आत्म-ज्ञान के उदय के साथ ही अहं भाव तथा उससे सम्बद्ध राग-द्वेष इत्यादि के अनुभवों का नाश हो जाता है।

६२०. प्रो० हिरियन्न कृत नैष्कर्म्य सिद्धि के अपने संस्करण में देखिए।

अहं-प्रत्यय विकारी एवं बाह्य तत्त्व है अतः शुद्ध चैतन्य तत्त्व के बाहर है। द्वैत के समस्त व्यक्त स्वरूप अन्तःकरण के भ्रान्त परिणामों के कारण है। जब यथार्थ ज्ञान का उदय होता है, तब ज्ञान में विषय रूप आत्मा का लोप हो जाता है। समस्त भ्रमात्मक प्रतीतियाँ शुद्ध आत्मा पर अज्ञान के आरोपण के कारण है; किन्तु जो इस शुद्ध आत्मा के अविकल एकत्व को विचलित क्षुब्ध नहीं कर सकते। इन ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में अन्तःकरण विकार ग्रसित होता है; अन्तर्निहित शुद्ध चैतन्य पूर्णरूप से अविचलित रहता है। फिर भी मनस्, बुद्धि, एवं उसके विषय के रूप में प्रतीत होने वाला अनात्मा सांख्य प्रकृति के समान अनाक्षित तत्त्व नहीं है; क्योंकि उसकी प्रतीति केवल अविद्या एवं भ्रम के कारण है। यह जगत् प्रपंच अज्ञान अथवा मिथ्या और अनिर्वचनीय आत्म भ्रम की ही उत्पत्ति है तथा सांख्य-सिद्धान्त के समान किसी यथार्थ द्रव्य की यथार्थ उत्पत्ति नहीं है। इस प्रकार ज्यों ही परमसत्य की अनुभूति होती है, त्यों ही शुक्ति में भ्रमात्मक शुक्ति की तरह जगत्-प्रपंच का नाश हो जाता है।

तृतीय अध्याय में सुरेश्वर अज्ञान के स्वरूप, आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध एवं उसकी प्रबल-विधि की विवचेना करते हैं। तत्त्व दो हैं; आत्मा एवं अनात्मा। अब स्वयं अज्ञान (माया अथवा अविद्या) की उत्पत्ति होने के कारण अनात्मा उसका आश्रय नहीं कहा जा सकता; अतः अज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा अथवा ब्रह्म है। आत्मा का अज्ञान भी स्वयं अपने बारे में ही है चूंकि विषयात्मक प्रपंच के सम्पूर्ण क्षेत्र को स्वयं अज्ञान की उत्पत्ति के रूप में समझने के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अज्ञान अपने-आपको सम्पूर्ण आत्मा-परक एवं वस्तु-परक बुद्धि एवं उसके विषय में विकृत करता है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र एवं मण्डन के विपरीत सुरेश्वर के मतानुसार अविद्या जीव पर आधारित नहीं होकर स्वयं शुद्ध चैतन्य पर आधारित है। यह अविद्या ही है जो शुद्ध आत्मा से सम्बन्धित तथा उस पर आधारित होने के कारण जीवों की प्रतीतियाँ एवं उनके आत्मपरक तथा विषयपरक अनुभवों को उत्पन्न करती है। इस अज्ञान का अनुभव अविद्या मात्र के रूप में, सुषुप्ति में होता है, जब उसके समस्त परिणाम एवं प्रतीतियाँ उसके अन्दर ही संकुचित हो जाती हैं, और उसकी अनुभूति स्वयं में शुद्ध अविद्या के रूप में होती हैं, जो पुनः जागृतावस्था में अनुभवों की समस्त श्रृंखलाओं में अपने आपको प्रकट करता है। यह देखना आसान है कि शुद्ध चैतन्य के साथ अज्ञान के सम्बन्ध का यह दृष्टिकोण मण्डन द्वारा उपदिष्ट विज्ञानवाद से भिन्न है, जैसा कि पूर्व विभाग में बताया गया है।

यहाँ पर यह शंका उठाई जाती है कि यदि अहं भी तथाकथित बाह्य विषयों के समान अज्ञान की बाह्य उत्पत्ति है तो अहं की प्रतीति अन्य बाह्य अथवा आन्तरिक विषयों के समान ज्ञाता के रूप में नहीं बल्कि ज्ञेय के रूप में होनी चाहिए। सुरेश्वर इसका परिहार करते हुए उत्तर देते हैं कि जब अन्तःकरण अथवा मनस् बाह्य विषयों के आकार में विकृत होते हैं तब उसे आत्मपरकत्व देने के लिए वस्तुपरक अनुभवों को आत्मपरक विशिष्ट केन्द्रों के साथ सम्बद्ध करने के लिए अहंकार का तत्त्व उत्पन्न होता है। अहंकार के तत्त्व के शुद्ध चैतन्य के साथ अपरोक्ष और घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के कारण स्वयं ज्ञाता के रूप में वह अवभासित होता है और अहंकार की विषयात्मकता का भास नहीं होता, जिस प्रकार जलती हुई लकड़ी में भाग एवं जलने वाले विषय को अलग नहीं किया जा सकता। अहंकार के तत्त्व अज्ञानोत्पत्ति द्वारा जब शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, केवल तब ही आत्मपरकता का प्रलय इस पर लागू होता है। और इसके साथ जो कुछ सम्बद्ध होता है, वह यह विषय के रूप में अनुभूत होता है; यद्यपि वस्तुतः अहंकार भी उतना ही विषय है, जितने स्वयं विषय है। तथापि सम्पूर्ण मिथ्यानुभव ब्रह्मानुभूति में नष्ट होता है; जब एकत्व के वेदान्ती अंशों की अनुभूति होती है।[६२१]

आचार्य पद्मपाद–

पद्मपाद ने अपने ग्रन्थ निरूपण विधि में अद्वैतवेदान्त की व्याख्या करते हुए माना है कि माया, अव्याकृत, प्रकृति, अग्रहण, अव्यक्त तमः, कारण, लय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, क्षर और आकाश के पद है, जो अविद्या के पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त किए गए हैं। यह वह तत्त्व है जो शुद्ध और स्वतन्त्र स्वतः प्रकाश्य ब्रह्म के स्वरूप में बाधा डालता है और इस प्रकार अविद्या, कर्म एवं पूर्व-प्रज्ञा संस्कारों की चित्र-भित्ति के रूप में खड़े हुए जीवात्वोपादिका को उत्पन्न करते हैं। ईश्वर के साथ आश्रय के रूप में विशिष्ट परिणामों को भोगते हुए वह विज्ञान एवं क्रिया की दो आश्रय शक्तियों के रूप में अपने आप को प्रकट करती हैं और सर्व-कर्म-कर्त्ता तथा सर्वानुभवभोक्ता के रूप में कार्य करती है। शुद्ध, अविकारी, ब्रह्मप्रकाश से सम्बद्ध वह इन परिणामों की ग्रन्थि है जो अहंकार के रूप में प्रतीत होता है। इसी अहंकार के साथ सम्बन्ध द्वारा आत्मा मिथ्या रूप में अनुभवों का भोक्ता समझा जाता है। यह परिणाम अपनी ज्ञानात्मक क्रिया के अर्थ में अन्तःकरण मनस्, बुद्धि और अहंकार अथवा

६२१. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, डॉ० एस० एन० दासगुप्ता, पृ० ९५-९८।

अहं-प्रत्यायन् कहलाता है; जबकि स्पन्द शक्ति के अर्थ में यह प्राण कहलाती है। अहंकार का शुद्ध आत्मा के साथ सम्बन्ध जपापुष्प की रक्तता का शीशे के साथ सम्बन्ध की तरह एक ग्रन्थि है जो अविद्या उपादान क्रिया के दो लक्षणों को तथा शुद्ध आत्मा के चैतन्य को प्रकट करती है।

इस प्रश्न पर कि अविद्या का आश्रय एवं विषय ब्रह्म है या नहीं, स्वयं पद्मपाद का विचार अधिक स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। वे केवल यही कहते हैं कि अविद्या स्वतः प्रकाश्य रूप ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप में बाधा डालकर अपने आपको जीव में प्रकट करती है और ब्रह्म अपने अवच्छेद से अनादि अविद्या द्वारा अनन्त जीवों के अवभास का कारण है। परन्तु प्रकाशात्मन् एक लम्बे विवाद का प्रारम्भ कहते हैं, और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ब्रह्म अविद्या का आश्रय एवं विषय दोनों है। यह सिद्धान्त वाचस्पति मिश्र के उस दृष्टिकोण के विरुद्ध है, जहाँ उन्होंने अविद्या का विषय ब्रह्म को एवं आश्रय जीव को माना है। इस प्रकार विवरण पक्ष की व्याख्या और वाचस्पति पक्ष की व्याख्या में मूलभूत अन्तर इसी तथ्य पर है।

पद्मपाद मिथ्या के दो अर्थों में भेद स्थापित करते हैं यथा अपह्नववचन और अनिर्वचनीयतावचन। सम्भवतः समस्त भाष्यकारों में ये प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने अज्ञान अथवा अविद्या का जड़ात्मिका तथा अजड़ात्मिका-अविद्या-शक्ति कहकर वर्णन किया और शंकर की मुहावरेदार उक्ति मिथ्या-ज्ञान-निमित्त की व्याख्या इस अर्थ में की है–

यह वही अज्ञान की जड़ात्मिका शक्ति जो जगत्प्रपंच के उपादान कारण का सारभूत अंश है। फिर भी प्रकाशात्मन् अविद्या को भाव रूप मानने के मत के पक्ष में प्रमाण देने का प्रयत्न करते हैं तथा उसकी विस्तृत विवेचना करते हैं। ये प्रमाण बार-बार कई अन्य परवर्ती लेखकों ने दिए हैं।

पद्मपाद भी सम्भवतः प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने वेदान्ती-प्रत्यक्ष की प्रक्रिया की व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि अहंकार की ज्ञानात्मक क्रिया के फलस्वरूप वे विषय उससे जुड़ जाते हैं जिनके साथ उसका सम्बन्ध है, जिसके परिणामस्वरूप उसमें कई परिवर्तन होते हैं और ये वे ही परिवर्तन है जो ज्ञान के ज्ञाता-ज्ञेय-सम्बन्ध का निर्माण करते हैं। अन्तःकरण शुद्धचैतन्य की सीमित अभिव्यक्ति का पथ प्रदर्शन उसी सीमा तक कर सकता है, जितना उस विषय के साथ उसका सम्बन्ध है। विषयों के अपरोक्ष प्रत्यक्ष

अनुभव का अर्थ अन्त:करण की परिवर्तनशील अवस्थाओं द्वारा शुद्धचैतन्य की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार अहंकार अपने अन्तर्निहित चैतन्य के साथ सम्बन्ध द्वारा प्रभाता बनता है। किन्तु प्रकाशात्मन् यह मानकर इसका विस्तृत निरूपण करते हैं कि अन्त:करण बाहर विषयात्मक शून्य स्थान की ओर जाता है और प्रत्यक्षीकृत विषय के स्थान सम्बन्धी आकार को ग्रहण करता है। अत: पद्मपाद ने जिसे अन्त:करण का विषयों के साथ परिवर्तनशील सम्बन्ध द्वारा अन्त:करण की अवस्थाओं में विकार माना था, उसकी व्याख्या अन्त:करण की विषयों पर स्थान सम्बन्धी अध्यारोपण के रूप में निश्चित अर्थ देते हुए की है तथापि अनुमान में अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता क्योंकि यह लिंग सम्बन्ध द्वारा मध्यस्थित होता है। ज्ञान का अर्थ परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों हैं, क्योंकि अर्थप्रकाश के रूप में इसकी परिभाषा दी गई है।

ब्रह्म के कारणत्व के विषय पर पद्मपाद ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस ब्रह्म पर जगत्-प्रपंच की अभिव्यक्ति होती है वह जगत् का कारण है। इस विषय पर प्रकाशात्मन् तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं, यथा-१. रज्जु में गुथे हुए दो धागों की तरह माया एवं ब्रह्म संयुक्त रूप से जगत् के कारण है। २. माया जिसकी शक्ति के रूप में है वह कारण है। ३. माया का आश्रय ब्रह्म जगत् का कारण है, परन्तु उपरोक्त सब में परम कारण तो ब्रह्म को ही माना गया है, क्योंकि माया उस पर आधारित है। ब्रह्म सर्वज्ञ इस अर्थ में है कि जो कुछ इससे सम्बन्धित है उसको वह प्रकट करता है और वह ब्रह्म ही है जो माया के द्वारा दृश्य जगत् के रूप में प्रतीत होता है। वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में विवेचित अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त कम से कम पद्मपाद कृत पंचपादिका के समान प्राचीन है और पद्मपाद तथा प्रकाशात्मन् जीव को ब्रह्म का केवल प्रतिबिम्बित आकार मानने वाले प्रतिबिम्बिवाद के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।

वाचस्पति मिश्र–

शांकरभाष्य पर भामती नामक टीका के यशस्वी लेखक वाचस्पति मिश्र, मण्डनकृत ब्रह्मसिद्धि पर तत्त्व समीक्षा नामक भाष्य के लेखक है, उन्होंने सांख्य कारिका, विधि-विवेक, न्यायवार्तिक के भी भाष्य लिखे एवं वे कई अन्य ग्रन्थों के लेखक थे।

वाचस्पति मिश्र सत् एवं परम सत्ता की परिभाषा अपरोक्ष स्वप्रकाशता के

रूप में देते हैं जो कदापि अबाधित नहीं होती। इस अर्थ में केवल शुद्ध आत्मा ही परम सत्ता कहीं जा सकती है। इस प्रकार यह निश्चित रूप से नैयायिकों को मान्य सत् के वर्ग प्रत्यय के भाग-ग्रहण के रूप में परम सत्ता की परिभाषा का खण्डन करते हैं अथवा अर्थ क्रिया-कारित्व का जो कि बौद्धों का है। वे दो प्रकार का अज्ञान मानते हैं, यथा मनोवैज्ञानिक एवं मनस् के उपादान कारण के रूप में तथा मानव के आन्तरिक स्वरूप अथवा भौतिक बाह्य जगत् के रूप में।

इस प्रकार शांकर भाष्य (१:३, ३०) पर अपनी टीका में वे कहते हैं, कि महाप्रलय के समय अविद्या की समस्त उत्पत्तियाँ यथा अन्त:करण स्वयं अपनी क्रियायें करना बन्द कर देते है परन्तु उसके कारण उनका नाश नहीं होता, उस समय वे अपने मूलकारण अनिर्वचनीय अविद्या में विलीन हो जाते हैं और भ्रम के मिथ्या संस्कारों एवं मनोवैज्ञानिक वृत्तियों के साथ सूक्ष्म शक्ति रूप से उसमें रहते हैं। जब ईश्वर के संकल्प द्वारा चलित महाप्रलय की अवस्था का अन्त होता है, तब वे कछुएं के अंगों की तरह बाहर निकल आते हें अथवा मेंढकों के शरीर की तरह जो सम्पूर्ण वर्ष तक निर्जीव एवं निश्चल अवस्था में रहते हैं तथा वर्षा काल में पुनर्जीवित हो जाते हैं और तब अपनी युक्त वृत्तियों और संस्कारों के कारण महाप्रलय के पूर्व पुरातन रूप में विशिष्ट नाम रूप धारण कर लेते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण सृष्टि की रचना ईश्वर के संकल्प द्वारा ही होती है फिर भी ईश्वर का संकल्प भी उसके द्वारा उत्पन्न संस्कार एवं कर्म की अवस्थाओं द्वारा निश्चित होता है। यह कथन सिद्ध करता है कि उनका अनिर्वाच्य स्वरूप वस्तुपरक तत्त्व के रूप में अविद्या में विश्वास था जिसमें सम्पूर्ण जगत् उत्पत्ति महाप्रलय के समय विलीन हो जाती हैं एवं जिसके अन्दर से अन्त में वे पुन: प्रकट होती है और मनोवैज्ञानिक अविद्या एवं मिथ्या संस्कारों से सम्बद्ध होती हैं जो महाप्रलय के काल में उसके अन्दर विलीन हो गए थे। इस प्रकार वर्णित अविद्या का योग की प्रकृति से अधिक सादृश्य है जिसके अन्दर पंचविध अविद्या तथा उनके संस्कारों के साथ महाप्रलय के काल में सम्पूर्ण जगत् उत्पत्तियाँ विलीन हो जाती हैं जो सृष्टि के समय स्वयं अपनी युक्त बुद्धि से संयुक्त होती है।[६२२]

भामती के अर्चना मन्त्र में ही वाचस्पति ने अविद्या को अद्वितीय बताते हुए कहा है कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् की उत्पत्ति द्वितीय अविद्या के सहकारी कारण से संयुक्त ब्रह्म से होती है। इस गद्यांश की व्याख्या करते हुए अमलानन्द बताते

६२२.भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, डॉ० एस० एन० दासगुप्ता, पृ० १०२-१०४।

हैं कि यह दो अविद्याओं से संबन्धित है—एक अनादि भावरूपतत्त्व और अन्य पूर्वापूर्व अनिादि भ्रम-संस्कार। इस प्रकार अविद्या का एक रूप तो वह है जो प्रतीतियों का उपादान कारण है; परन्तु प्रतीतियाँ वास्तव में प्रतीतियाँ नहीं होती यदि भ्रमात्मक रूप से उनका तादात्म्य अपरोक्ष चित्स्व-प्रकाशता के साथ नहीं होता। प्रत्येक जीव अपने अन्तःकरण एवं मानसिक अनुभवों को स्वयं अपने में चित् के रूप में सम्भ्रमित एवं मिथ्या ग्रहण करता है और इसी प्रकार की भ्रमात्मक अवस्था द्वारा ही ये मानसिक अवस्थाएं प्रतीतियों के रूप में सार्थक बनती है, क्योंकि इसके बिना इन प्रतीतियों की व्याख्या तक नहीं की जा सकती थी। परन्तु व्यक्ति का आगमन किस प्रकार होता है, जबकि व्यक्ति का प्रत्यय स्वयं उसी परिभ्रान्ति की पूर्व धारणा करता है?

वाचस्पति इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि व्यक्तित्व की प्रतीति पूर्व मिथ्या सम्भ्रान्ति के कारण होती है, और वह अन्य पूर्व मिथ्या सम्भ्रान्ति के कारण होती है। अतः प्रत्येक मिथ्या परिभ्रान्ति का कारण कोई पूर्व मिथ्या सम्भ्रान्ति होती है और वह उस पूर्व की कोई अन्य मिथ्या भ्रान्ति और इस प्रकार एक अनादिश्रृंखला है। केवल परिभ्रान्ति की इस अनादि श्रृंखला के द्वारा ही सम्पूर्ण बाद में आने वाली सम्भ्रान्ति की अवस्थाओं की व्याख्या की जानी चाहिए। इस प्रकार, एक ओर अविद्या जीव में उसके आश्रय के रूप में क्रिया उत्पन्न करती है और दूसरी ओर ब्रह्म अथवा शुद्ध स्वतः प्रकाश्य चिदात्मा उसका विषय रूप है, जिसको वह आच्छादित कर देता है और जिसके द्वारा वह अपनी मिथ्या प्रतीतियों को प्रकट करके उन्हें सत्ता का मिथ्या रूप देता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् प्रतीतियाँ परम सत्ता का स्वरूप भासित होती है।[६२३] यह देखना सुलभ है कि यह दृष्टिकोण सर्वज्ञात्ममुनि के संक्षेप शारीरिक के दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न हैं, क्योंकि सर्वज्ञात्ममुनि के मत में ब्रह्म अज्ञान का आश्रय एवं विषय है, जिसका अर्थ यह होता है कि भ्रम जीव में नहीं रहता, परन्तु उसकी स्थिति विषयातीत है। वह जीव इस प्रकार नहीं है, परन्तु प्रत्येक चित्त में है जो उस प्रत्येक जीव द्वारा प्रकाशित होता है, जिस पर आवरण आया हुआ है और विश्वातीत रूप से नानारूपात्मक प्रतीतियों में भिन्न-भिन्न लगता है। तथापि वाचस्पति के मत में भ्रम मनोवैज्ञानिक है जिसके लिए जीव उत्तरदायी है, और उसका कारण भ्रम अथवा परिभ्रान्ति की अनादि श्रृंखला है।

६२३. ऊपरी दृष्टिकोण में ही वाचस्पति का मण्डन से मतभेद है जिसकी ब्रह्म सिद्धि पर उन्होंने अपनी तत्त्व समीक्षा लिखी।

जहाँ प्रत्येक अनुवर्ती भ्रमात्मक अनुभव की व्याख्या पूर्ववर्ती भ्रमात्मक अनुभव के प्रकार द्वारा होती है और वह पुनः किसी अन्य द्वारा एवं इससे ऊपर भ्रमात्मक अनुभव की सामग्री भी अनिर्वाच्य माया से व्युत्पन्न हुई है जो परम सत्य स्वतः प्रकाश्य सत् ब्रह्म के साथ अपने भ्रमात्मक प्रागभाव के कारण सत्य के रूप में भासित की जाती है। भ्रमात्मक प्रतीतियाँ अपने इस रूप में, न तो सत् और न असत् ही कही जा सकती है; क्योंकि यद्यपि उनका व्यक्तिगत अस्तित्व प्रतीत होता है, फिर भी उनका अन्य अस्तित्वों द्वारा सदैव अभाव होता है और उनमें से किसी एक की भी उस प्रकार की सत्ता नहीं है जो सम्पूर्ण अभाव एवं पारस्परिक विरोध अथवा बोध की उपेक्षा करती है; और वह केवल इस प्रकार का अबाधित स्वतः प्रकाश्य है जिसे परम सत् कहा जा सकता है। जगत्-प्रतीतियों का मिथ्यात्व इस तथ्य में है कि उसका अभाव एवं बाध होता है; और फिर भी वे निरपेक्ष रूप में शश-शृंग की तरह असत् नहीं होता, क्योंकि यदि वे ऐसी होती तो उनका किंचित् मात्र भी अनुभव नहीं होता। अतः प्रतीतियों के अविद्या द्वारा उत्पन्न होने पर भी; यहाँ तक उनकी विकृत सत्ता को मानने का प्रश्न है, उनका अन्तर्निहित आधार ब्रह्म है और इसी कारण ब्रह्म को जगत् का परम कारण माना जाएगा। ज्यों ही इस ब्रह्म की अनुभूति होती है, प्रतीतियाँ नष्ट हो जाती है; क्योंकि सम्पूर्ण प्रतीतियों का मूल उनकी परम सत्ता ब्रह्म के साथ भ्रमात्मक परिभ्रान्ति शांकर वेदान्त के अनुसार ज्ञान के विषय स्वयं स्वरूपतः अनिर्वचनीय हैं और न कि मानसिक प्रत्ययमात्र (न हि ब्रह्म वादिनो नीलाद्याकारां वृत्ति अभ्युपगच्छन्ति किन्तु अनिर्वचनीयं नीलादि) अतः बाह्य विषय पूर्णतः प्रत्यक्षीकर्त्ता के बाहर विद्यमान है, केवल उनका स्वरूप और उपादान, अनिर्वचनीय और युक्तिहीन है। अतः हमारे प्रत्यक्षीकरणों का सम्बन्ध उनके ऐसे विषयों से हैं, जो उनके उत्तेजक अथवा उत्पादक हैं और उनका स्वरूप बाह्य विषयों की सहायता के बिना अन्दर से उत्पन्न शुद्ध संवेदनाएं अथवा प्रत्यय नहीं है।[६२४]

सर्वज्ञात्म मुनि–

सर्वज्ञात्म मुनि अपने संक्षेप शारीरिक में शंकर द्वारा स्पष्टीकृत वेदान्त दर्शन की मूलभूत समस्याओं का वर्णन करते हैं, उनके इस ग्रन्थ में चार अध्याय

---

६२४. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, डॉ० एस० एन० दासगुप्ता, पृ० १०५-६।

है–प्रथम अध्याय में उन्होंने स्पष्ट किया है कि शुद्धब्रह्म अज्ञान के द्वारा समस्त-वस्तुओं का परमकारण है। चिदात्मा पर आश्रित एवं उसके विषय के रूप में उस पर क्रिया करने वाला अज्ञान उसके यथार्थ स्वरूप को आच्छादित करके भ्रमात्मक प्रतीतियों का विक्षेप करता है तथा उसके द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् की त्रिविध प्रतीतियाँ उत्पन्न करता है। अज्ञान की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, और उसके प्रभाव केवल चिदात्मा के द्वारा ही उसके आश्रय एवं विषय के रूप में दिखाई देते हैं तथा उसकी सम्पूर्ण सृष्टि मिथ्या है। सुषुप्ति अवस्था में चिदात्मा किंचित् मात्र भी शोक अस्पष्ट तथा चिदानन्द और चित्सुख के स्वरूप में अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्षीकृत होता है और चिदानन्द की परिभाषा परमलक्ष्य एवं किसी भी परिस्थिति में किसी वस्तु के असाधन के रूप में ही दी जा सकती है; चिदात्मा वही है जो किसी भी अन्य का साधन नहीं माना जा सकता; इसके अतिरिक्त यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपनी आत्म प्राप्ति के परम विषय के रूप में अभीष्ट है जो उसे सर्वाधिक प्रिय है। ऐसा अनन्त प्रेय एवं परम लक्ष्य सीमित आत्मा नहीं हो सकता जो हमारे साधारण कार्यों के कर्त्ता के रूप में और जीवन की दैनिक क्रियाओं में भोक्ता के रूप में वर्णित है।

उपनिषद् के दृष्टाओं की अपरोक्षानुभूति भी अनन्त एवं चिदानन्द के रूप में आत्मा के सत्य की पुष्टि करती है। दूसरी ओर भ्रमात्मक अध्यास विषय एवं विषयी की सीमित प्रतीतियाँ हैं जो केवल मिथ्या आरोपण की सम्भावना में योगदान करते हैं अत: वे वास्तविक नहीं हो सकते। जब ब्रह्म अज्ञानसंबद्ध होता है तब दो मिथ्या तत्त्व होते हैं यथा अज्ञान एवं अज्ञान से संबद्ध ब्रह्म; परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन समस्त मिथ्या संबन्धों में अन्तर्निहित ब्रह्म स्वयं मिथ्या है क्योंकि इसके कारण इस आलोचना को समर्थन प्राप्त होगा कि बौद्धों की तरह सब कुछ मिथ्या होने के कारण परम सत्य जैसा कोई तत्त्व ही नहीं है। यहाँ आधार एवं अधिष्ठान के बीच भेद का निर्देश किया गया है। समस्त प्रतीतियों में अन्तर्निहित चिदात्मा यथार्थ अधिष्ठान है, जबकि मिथ्याअज्ञान द्वारा विकृत रूप में ब्रह्म मिथ्याआधार अथवा मिथ्याविषय है, जिसके साथ प्रतीतियाँ अपरोक्ष रूप से सम्बन्धित है। समस्त भ्रमात्मक प्रतीतियों की अनुभूति इसी प्रकार होती है। इस प्रकार इस अनुभव में कि 'मैं यह रजत का टुकड़ा देखता हूँ' (शुक्ति की रजत के रूप में मिथ्या प्रतीति होने की अवस्था में) राजत लक्षण अथवा

रजत की मिथ्या प्रतीति प्रत्यक्षीकर्त्ता के समक्ष 'यह' तत्त्व के साथ रजत सम्बन्धित है और यह तत्त्व मिथ्या विषय के रूप में अपनी पारी में 'यह रजत' के रूप में मिथ्या रजत से सम्बद्ध होता है। परन्तु, यद्यपि मिथ्या रजत की विषयपरकता प्रत्यक्षकर्त्ता के समक्ष 'यह' के रूप में मिथ्या है, शुक्ति का वास्तविक विषय 'यह' मिथ्या नहीं है। यह उपरोक्त प्रकार का मिथ्या प्रतीति का विषय पर एवं मिथ्या विषय का मिथ्या प्रतीति पर द्विविध आरोपण परस्पराध्यास कहलाता है। केवल मिथ्या विषय ही भ्रमात्मक प्रतीति से होता है एवं यथार्थ विषय अस्पष्ट रहता है। अन्त:करण का पराभासी स्थिति के कारण कुछ सीमा तक चिदात्मा के साथ सादृश्य है और इस सादृश्य के कारण प्राय: इसे चिदात्मा समझा जाता है।

यह कहा जा सकता है कि बिना भ्रमात्मक आरोपण के अन्त:करण नहीं हो सकता, अत: यह स्वयं भ्रम के स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकता। ऐसी आपत्ति का परिहार करते हुए कहा है कि भ्रमात्मक आरोपण एवं उसके परिणाम अनादि है और ऐसा कोई विशिष्ट काल केन्द्र नहीं है जिसे उसका प्रारम्भ कहा जा सकता है। अत: यद्यपि वर्तमान भ्रम का प्रारम्भ अन्त:करण के साथ हुआ है फिर भी स्वयं अन्त:करण पूर्वारोपण का परिणाम है और वह पूर्वान्त:करण का तथा इस प्रकार अनादि है। जिस प्रकार यद्यपि शुक्ति रजत भ्रम में शुक्ति के वस्तुत: विद्यमान होते हुए भी उसे भिन्न नहीं देखा जाता और जो कुछ विद्यमान प्रत्यक्षीकृत होता है वह असत्य रजत है अत: यथार्थ ब्रह्म अधिष्ठान के रूप में विद्यमान है, यद्यपि प्रतीति काल में केवल जगत् का ही अस्तित्व प्रतीत होता है और ब्रह्म उससे अनुभूत नहीं होता। फिर भी यह इस अज्ञान का वास्तविक अस्तित्व नहीं है और अज्ञानियों के लिए ही यह विद्यमान है।

ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर ही इनका निराकरण हो सकता है, और उपनिषदों के शब्दों द्वारा ही इस यथार्थ ज्ञान का उदय हो सकता है; क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति करने का कोई अन्य साधन नहीं है। पुन: सत्य की परिभाषा प्रमाण द्वारा परीक्षणीय के रूप में नहीं दी गई है बल्कि सत्य वह है जिसकी स्वतन्त्र एवं अपरोक्षानुभूति हो सकती है। अज्ञान की परिभाषा भावरूप कह कर दी गई है और इसके चिदात्मा ब्रह्म पर आश्रित होने पर भी, नवनीत-वह्नि सम्पर्क के समान वह भी कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में स्पर्श होने पर द्रवीभूत हो जाता है। अज्ञान के भाव-रूप का भान जगत् के जड़त्व में तथा हमारे अन्दर अविद्या के रूप में होता है। तथापि उपनिषदों के शब्द के अनुसार चिदात्मा

वास्तविक अधिष्ठान कारण है और अज्ञान वह उपकरण अथवा साधन है जिसके द्वारा वह समस्त प्रतीतियों का कारण हो सकता है, परन्तु स्वयं अज्ञान किसी भी प्रकार से जगत् का उपादान कारण नहीं होने से सर्वज्ञात्मन् की यह निश्चित धारणा है कि अज्ञान से सम्बद्ध ब्रह्म अथवा दोनों एक साथ मिलकर जगत् का उपादान कारण नहीं कहे जा सकते। अज्ञान केवल गौण साधन है, जिसके बिना प्रतीतियों का विकार सचमुच सम्भव नहीं है, परन्तु उनसे अन्तर्निहित परम कारण में जिसका कोई सम्भाग नहीं है, वह निश्चित रूप से इसका निषेध करते हैं कि ब्रह्म किसी अनुमान द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप ब्रह्म जगत् जन्म स्थिति एवं भंग का कारण है क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान केवल शास्त्रीय वचनों द्वारा ही हो सकता है। इस बात की पुष्टि के लिए किसी प्रकार उपनिषदों द्वारा परमतत्त्व ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति द्वारा सम्भव हो सकती है।

उस पुस्तक के द्वितीय अध्याय में मुख्यतया इन्हीं सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। उस अध्याय में सर्वज्ञात्म मुनि वेदान्त दर्शन का बौद्ध दर्शन से भेद प्रदर्शित करते हैं जो मुख्यतया इसी तथ्य में है कि भ्रम के सिद्धान्त के होते हुए भी वेदान्त ब्रह्म को ही परमसत्य मानता है जो बौद्धों को मान्य नहीं है। उनका यह भी कथन है कि किसी प्रकार जाग्रतावस्था की तुलना स्वप्नों से की जा सकती है। तथा वे यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि जगत् प्रतीति की सत्यता न तो प्रत्यक्ष और न अन्य प्रमाणों द्वारा ही सिद्ध की जा सकती हैं। ब्रह्म-अज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अज्ञान का संबंध एक चिदात्मा तथा जीवों से नहीं होकर ब्रह्म के चित्प्रकाश से हैं जो जीवों के आधार एवं अधिष्ठान के रूप में प्रकाशित होता है, क्योंकि केवल इसी के सम्बन्ध में अज्ञान की प्रतीति होती है, और उसका प्रत्यक्ष होता है। जब यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर चिदात्मा अद्वितीय ब्रह्म की अनुभूति होती है, तब अज्ञान का अनुष्ठान नहीं होता। जीवों में अन्तर्निहित रूप में केवल ब्रह्म के प्रकाश में अज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, जब कोई कहता है कि 'जो तुम कहते हो, वह मैं नहीं जानता; अतः वह ब्रह्म न तो जीव है और न एक चित्त है, परन्तु चित् प्रकाश है, जैसाकि स्वयं अपने-आपको प्रत्येक जीव द्वारा अभिव्यक्त करता है।[६२५] ब्रह्म का यथार्थ प्रकाश सदैव वहाँ है और मोक्ष का अर्थ अज्ञान के नाश के अतिरिक्त

६२५.नाज्ञानां अद्वयसमाश्रयं इष्टं एवम् नाद्वैत-वस्तु-विषयं निशितेक्षणानाम्।
नानन्द-नित्य विषयाश्रयं इष्टमेतत्, प्रत्ययक्त्व मात्र-विषयाश्रयतानुभूतेः।।
संक्षेप शारीरिक-२११, ८.२

कुछ नहीं है। तृतीय अध्याय में सर्वज्ञात्म उन साधनों का वणंन करते है जिनके द्वारा इस अज्ञान का नाश करना चाहिए और इस परिणाम तथा अन्तिम ब्रह्मज्ञान के लिए अपने आपको तैयार करना चाहिए। अन्तिम अध्याय में वे मोक्ष के स्वरूप एवं ब्रह्मत्व की प्राप्ति का वर्णन करते है।[६२६]

आनन्दबोध यति–

शांकरवेदान्त के सम्प्रदाय में आनन्दबोध का महान् नाम है। संभवत: वे एकादश अथवा द्वादश शतक में रहे।[६२७] वाचस्पति कृत तत्त्व समीक्षा का वे उल्लेख करते हैं और चिदानन्द रूप में आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करने वाले सर्वज्ञात्मन् कृत् दर्शन में उनका नाम लिए बिना उल्लेख है। उन्होंने शांकर वेदान्त पर कम से कम तीन ग्रन्थ लिखे। यथा–न्यायमकरन्द, न्यायदीपावली एवं प्रमाण-माला। इनमें से चित्सुख एवं उनके शिष्य सुखप्रकाश ने न्यायमकरन्द पर न्यायमकरन्दटीका एवं न्यायमकरन्दविवेचनी नामक भाष्य लिखे। सुखप्रकाश ने भी न्यायदीपावली पर न्यायदीपावली-तात्पर्य-टीका नामक भाष्य ग्रन्थ लिखा।

आनन्दज्ञान के आचार्य अनुभूति स्वरूप आचार्य ने भी आनन्द बोध के तीनों ग्रन्थों पर भाष्य लिखे। आनन्द बोध मौलिक योगदान का बहाना नहीं करते एवं कहते हैं कि उन्होंने अपनी सामग्री अन्य ग्रन्थों से इकट्ठी की जो उनके काल में विद्यमान थे। वे अपना न्यायमकरन्द इसी प्रतिपाद्य विषय के साथ प्रारम्भ करते हैं कि विभिन्न जीवात्माओं का भासित भेद मिथ्या है, क्योंकि यह सिद्धान्त केवल उपनिषदों को ही मान्य नहीं है, बल्कि यह तर्क के आधार पर भी बुद्धिगम्य है कि जीवात्माओं के प्रतीत होने वाले नानात्व की व्याख्या नानात्व के काल्पनिक पुरुष भेद के आधार पर की जा सकती है, यद्यपि वस्तुतः आत्मा एक ही है। इस तथ्य पर तर्क करना कि काल्पनिक नानात्व की भ्रमात्मक मान्यता भी नानात्व की प्रतीतियों की व्याख्या कर सकती है, आनन्दबोध सांख्य कारिका के तर्क का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं कि जीवात्माओं का नानात्व इस तथ्य से सिद्ध होता है कि कुछ लोगों के जन्म-मृत्यु के साथ अन्य लोगों की जन्म-मृत्यु नहीं होती। जीवात्माओं के नानात्व का अपने ही ढंग से खण्डन करने

६२६.भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, एस० एन० दासगुप्ता, पृ० १०९-१०।

६२७.श्री त्रिपाठी आनन्द ज्ञान-कृत तर्कसंग्रह की भूमिका में आनन्दबोध का काल १२०० ई०पू० देते हैं।

के बाद वे विषयों के नानात्व का खण्डन करते हैं। उनकी धारणा है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा भेद का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, क्योंकि भेद का प्रत्यक्ष विषय एवं उन सबसे भेद स्थापित करने वाली अन्य सब वस्तुओं के प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रथम विषय का प्रत्यक्ष होता है और तदनन्तर भेद। क्योंकि विषय के ज्ञान के साथ प्रत्यक्ष की स्वभावत: निवृत्ति हो जाएगी; और ऐसा कोई ढंग नहीं है, जिससे भेद का बोध किसी भी प्रकार से इन्द्रिय प्रत्यक्ष के साथ होता है; न यह संभव है कि जब दो इन्द्रिय विषयों का प्रत्यक्ष दो विभिन्न कालों में होता है तो कोई अन्य तरीका भी हो सकता है जिसके द्वारा उनके भेद का प्रत्यक्ष संभव हो, क्योंकि दो इन्द्रिय विषयों का प्रत्यक्ष एक ही काल में नहीं हो सकता। पुन: यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी भी इन्द्रिय विषय के प्रत्यक्ष के यथा नील के साथ समस्त अ-नील, पीत, श्वेत, रक्त इत्यादि अन्तर्निहित है, क्योंकि उस अवस्था में किसी भी इन्द्रिय विषय के प्रत्यक्ष में जगत् के अन्य सब विषय अन्तर्निहित हैं। किसी तत्त्व के भेद के निषेध का अर्थ उसकी वास्तविक विध्यात्मकता से कुछ भी अधिक नहीं है। परन्तु यह धारणा सही नहीं है कि समस्त विध्यात्मक तत्त्व भेद स्वरूप है; क्योंकि यह सम्पूर्ण अनुभवों के विपरीत है। यदि भेद विध्यात्मक तत्त्वों के रूप में प्रत्यक्षीकृत होते हैं तो उन्हें समझने के लिए अन्य भेदों की आवश्यकता होगी, इस प्रकार अनवस्था प्रसंग का दोष उत्पन्न होगा। इसके अतिरिक्त भेद अपने स्वरूप में निषेधात्मक होने के कारण विध्यात्मक इन्द्रिय विषयों के रूप में प्रत्यक्षीकृत ही हो सकते। उद्देश्य अथवा विधेय के रूप में चाहे ''घट का स्तम्भ से भेद'' अथवा ''घट स्तम्भ से भिन्न है'' के रूप में दोनों अवस्थाओं में दोनों विषयों के बीच पूर्वतर एवं अधिक पुरातन भेद की अवधारणा है जिसके आधार पर भेद के तत्त्व की अनुभूति होती है।

आनन्दबोध न्याय-मीमांसा और बौद्धदर्शन द्वारा प्रतिपादित ख्याति के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना करते हैं और अनिर्वचनीय ख्याति का समर्थन करते हैं।[६२८] इसी सम्बन्ध में अपने मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अविद्या को जगत् प्रतीति की विविधता और नानात्व की उसके द्रव्यभूत कारण में विश्वास किए बिना व्याख्या नहीं की जा सकती। चूंकि जगत् प्रतीति मिथ्या है अत: वह सत्य द्रव्य में से उत्पन्न नहीं हो सकती, और न इसकी उत्पत्ति निरपेक्ष रूप से असत् और असत्य में से हो सकती है, क्योंकि ऐसी वस्तु स्पष्टतया किसी

६२८. वर्तमान ग्रन्थ का प्रथम खण्ड, अध्याय-१०, पृ० ४८५ देखिए।

का भी कारण नहीं हो सकती, अत: जगत् प्रतीति का कारण न तो सत् अथवा न असत् ही हो सकता, अत: इसका कारण ऐसा होना चाहिए, जो न तो सत्य है और न असत्य और न सत् तथा न असत् तत्त्व अविद्या है।[६२९]

इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि आत्मा संविद् रूप है अर्थात् शुद्धचैतन्य है। प्रथमत: वे इसका प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं कि विज्ञप्ति अपने-अपने प्रकट करने के साथ अपने विषयों को भी तत्काल प्रकट करती है; और द्वितीय विज्ञप्ति विषय के विकारशील होते हुए भी एक अविकारी चैतन्य है जो विषय के नहीं होने पर भी वैसा ही स्थाई रहता है। यदि केवल विज्ञप्तियों की शृंखलाएं उत्पन्न एवं समाप्त होती है। और यदि प्रत्येक समय निरन्तर स्थाई रहने वाली विज्ञप्ति है तो किस प्रकार एक विज्ञप्ति तथा अन्य विज्ञप्ति में, नीले और पीले में भेद स्थापित किया जाए?

अविद्या के सन्दर्भ में वे इसके ब्रह्माश्रित होने के मत की पुष्टि करते हैं, क्योंकि अविद्या का स्वरूप अनिर्वचनीय होने के कारण अर्थात् न अभाव और न भाव होने के कारण, इसे ब्रह्माश्रित मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त केवल अविद्या-युक्त ब्रह्म ही सर्वज्ञ माना जा सकता है, क्योंकि सब सापेक्ष वस्तुएं अविद्या स्वरूप है और सापेक्ष वस्तुओं के ज्ञान के बिना कोई सर्वज्ञता नहीं हो सकती। अपने न्यायदीपवली में भ्रमात्मक रजत के मिथ्यात्व के दृष्टान्त पर जगत् प्रतीति के मिथ्यात्व को वे अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उसके निरूपण की विधि न्यूनाधिक वही है जो निरूपण मधुसूदन सरस्वतीकृत अद्वैत-सिद्धि में अत्यन्त अपरकाल में है। उनकी प्रमाण माला में देखा जाये तो कुछ भी नई बात नहीं है।

प्रायौगिक पच्चीस पृष्ठ का यह एक छोटा-सा ग्रन्थ है, और इसमें न्याय मकरन्द की युक्तियों को कुछ भिन्न रूप में और भिन्न रूप बल के साथ पहचाना जा सकता है। आनन्दबोध की सर्वाधिक युक्तियाँ वेदान्त सम्प्रदाय के बाद के लेखकों ने अपनाई। वेदान्त के मध्वसम्प्रदाय के व्यासतीर्थ ने खण्डन करने के लिए अपने न्यायामृत में बहुत से वेदान्तप्रमाण आनन्दबोध एवं प्रकाशात्मन् से इकट्ठे किए और उनका खण्डन मधुसूदन की महान् कृति अद्वैत-सिद्धि में किया गया तथा फिर जिनका खण्डन रामतीर्थ कृत न्यायामृत-तरङ्गिणी में किया गया। इस विवाद के इतिहास का वर्णमान-ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में किया गया है।

६२९. न्यायमकरन्द, पृ० १२२-१२३।

श्रीहर्ष–

श्रीहर्ष के द्वन्द्ववाद की प्रमुख विधा इस धारणा पर आधारित है कि परिभाषित की जाने वाली वस्तुओं की यथार्थता परिभाषाओं के दोषविहीन स्वभाव पर निर्भर करती है; किन्तु एक में तर्क के मिथ्यात्व को सन्निविष्ट करने के कारण सभी परिभाषाएं दोषपूर्ण होती हैं और इस कारण वस्तुओं के यथार्थ स्वभाव को प्रदर्शित अथवा परिभाषित करने का कोई उपाय नहीं है। हमारे अनुभव का जगत् ज्ञात तथा ज्ञान में निहित होता है; ज्ञाता के ज्ञान के स्वामी के रूप में परिभाषित करने पर ज्ञान का बोध ज्ञाता के उद्धरण से ही संभव है; पुन: ज्ञात का बोध ज्ञान तथा ज्ञाता के उद्धरण से ही संभव है; और इस प्रकार आपेक्षिकता का एक चक्र है जिसके कारण इनमें से किसी वस्तु की स्वतन्त्र परिभाषा प्रदान करने का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। मुख्यत: यह आपेक्षिकता ही विशिष्ट रूपों में सभी कोटियों की परिभाषा के सभी प्रयास व्यर्थ कर देती है।

श्री हर्ष अपनी आलोचना के लिए सर्वप्रथम सम्यक्संज्ञान की परिभाषाओं को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सम्यक्संज्ञान की परिभाषा को वस्तुओं के यथार्थ स्वभाव का प्रत्यक्ष बोध मानते हैं और वे सर्वप्रथम आग्रह करते हैं कि इस प्रकार की परिभाषा दोषपूर्ण है, क्योंकि यदि कोई आवरण के पीछे छिपी तथा अदृष्ट किन्हीं वस्तुओं को संयोग से ठीक अनुमान कर लेता है, अथवा दोषपूर्ण आधार-सामग्री के आधार पर अथवा दोषपूर्ण विद्याओं के द्वारा सही अनुमान कर लेता है तो इसे सम्यक् संज्ञान नहीं कहा जा सकता।[६३०] यह आग्रह किया गया है कि प्रामाणिक होने के लिए संज्ञान का दोष विहीन उपकरणों द्वारा उत्पन्न होना आवश्यक है, किन्तु यहाँ पर संयोगात्मक अनुमानों का दृष्टान्त है जो इन्द्रियों के दोषविहीन उपकरणों द्वारा उत्पन्न न होने पर भी कभी-कभी ठीक हो सकते हैं। न ही बोध की अपने विषय के साथ संगति ही सम्यक् संज्ञान की सही परिभाषा मानी जा सकती है। इस प्रकार की संगति को या तो इस अर्थ में परिभाषित किया जा सकता है कि वह स्वयं विषय की यथार्थता का प्रतिनिधित्व करती है अथवा इस अर्थ में कि यह विषय की सदृश्यता का प्रतिनिधित्व करती है। किसी भी विषय का यथार्थ स्वभाव अनिर्वचनीय है; और इस कारण विषय के साथ ज्ञान की संगति को प्रथम की अपर के साथ सदृश्यता के रूप में व्याख्यायित करना अधिक उपयुक्त होगा।

६३०. न वयं भेदस्य सर्वथैवासत्त्वम् अभ्युपगच्छाम: किं नाम न पारमार्थिकं सत्वं अविद्याविद्यामानत्वं तु तदीयमिष्यत एव। खण्डनखण्डखाद्य, पृ० २१४।

यदि इस सादृश्यता का यह है कि ज्ञान में विषय द्वारा अधिगत स्वभाव विद्यमान है, तो यह स्पष्टतः असंभव है; क्योंकि विषय के गुण ज्ञान में नहीं हो सकते–दो सफेद तथा कड़ी गोलियों का ज्ञान हो सकता है किन्तु ज्ञान न तो दो हैं, न सफेद और न कड़ा।[६३१] यह कहा जा सकता है कि संगति इसमें निहित होती है; कि सफेदपन इत्यादि विषय में इसके द्वारा अधिगम गुणों के रूप में होते हैं जबकि ज्ञान में ये इसके द्वारा प्रकाशित गुणों के रूप में होते हैं।[६३२] किन्तु यह शुक्तिका में रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष के दृष्टांत में ठीक नहीं बैठेगा। मेरे सामने रजत के प्रत्यक्ष में मेरे सामने के ज्ञान को सम्यक्संज्ञान के रूप में स्वीकार करना होगा। यदि इसे सम्यक्संज्ञान स्वीकार किया जाता है तो सम्यक्संज्ञान को यथार्थ आनुरूप्य के रूप में व्याख्यायित करना अर्थहीन था; इसे केवल संज्ञान के रूप में ही परिभाषित किया जा सकता था, क्योंकि सभी संज्ञान का कोई न कोई विषय होगा, और जहाँ तक केवल इसका संबंध है, सभी संज्ञान प्रामाणिक होंगे। किन्तु, यदि विचार तथा विषय की सम्पूर्ण संगति का आग्रह किया जाये तब ऊपर के समान आंशिक संगति को सन्तोषपूर्ण नहीं माना जा सकता। किन्तु यदि सम्पूर्ण संगति को अपरिहार्य माना जाये तब आंशिक संगति की शुद्धता का ध्यान छोड़ देना होगा, जबकि नैयायिक यह स्वीकार करते हैं कि जहाँ तक किसी विषय के उद्धरण का प्रश्न है, सभी संज्ञान प्रामाणिक है; जब हम विषय के स्वभाव की संगति तथा विषय के ज्ञान द्वारा विशेषित स्वभाव पर विचार कर रहे हैं, उस समय संज्ञान के स्वभाव के ऊपर विवाद हो सकता है कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध। यदि विषय के साथ सम्पूर्ण संगति नहीं सुनिश्चित होती तब, बाधक परिस्थितियों के कारण, अशुद्ध अथवा आंशिक असंगति के साथ किसी विषय के संज्ञान को मिथ्या मानकर तिरस्कृत कर देना होगा।

सम्यक्संज्ञान की उदयन की परिभाषा को सम्यक् परिच्छित्ति अथवा उचित अवबोध के रूप में उल्लेख करते हुए, श्री हर्ष कहते हैं कि–सम्यक्शब्द अर्थहीन है; क्योंकि यदि सम्यक् का अर्थ सम्पूर्ण है तो परिभाषा का कोई

---

६३१. द्वौ घटौ शुक्लवित्यत्र रूपसंख्यादिसमवायित्वं। न ज्ञानस्य गुणत्वाद् अतः प्रकाशमानरूपेण अर्थ सादृश्यं ज्ञानस्य नास्ति-अस्ति च तस्य ज्ञानस्य तत्र घटयोः प्रभात्वम्। खण्डन पर विद्यासागरी, पृ० ३९८

६३२. अर्थस्य हि यथा समवायाद् रूपं विशेषणीभवति तथा विषयभावाज्जानस्यापि तद्विशेषणान् भवत्येव। खण्डन०, पृ० ३९९

प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि किसी वस्तु के सभी दृष्ट तथा अदृष्ट घटक अंशों को देखना असंभव है एवं एक सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई भी किसी वस्तु को अपने सभी स्वभावों, तत्त्वों तथा गुणों के साथ नहीं देख सकता।

यदि सम्यक् बोध का अर्थ किसी विषय का अपने सभी विभेदक विशेषताओं के साथ बोध है तो यह भी अबोधगम्य है, क्योंकि अशुद्ध संज्ञान उदाहरणार्थ शुक्तिका को रजत समझना देखने वाला शुक्तिका में रजत के विभेदक गुणों को देखता है। सारी बात निर्णय की इस कठिनाई में निहित है कि दृश्यमान् विभेदक लक्षण यथार्थ है अथवा नहीं और इसे निश्चित करने का कोई उपाय नहीं है। पुनः यदि विभेदक लक्षणों का उन विशेषताओं के रूप में वर्णन किया जाये, जिनके प्रत्यक्ष के बिना निश्चित ज्ञान संभव ही नहीं है तथा जिन का प्रत्यक्ष सम्यक्संज्ञान को सुनिश्चित बनाता है, तब यह कहा जा सकता है कि किसी ऐसे संज्ञान, जिसकी शुद्धता के विषय में कोई पूर्ण निश्चित हो सकता है कि किसी लक्षण की खोज असंभव है। एक स्वप्न देखने वाला सभी प्रकार के स्वभावों तथा प्रकटों में भ्रान्तमति होता है तथा सभी को यथार्थ मानता हो यह आग्रह किया जा सकता है कि शुद्ध प्रत्यक्ष में जैसा कि रजत के शुद्ध प्रत्यक्ष में विषय को अपने विशेष विभेदक लक्षणों के साथ देखा जाता है, जबकि शुक्तिका में रजत के अशुद्ध प्रत्यक्ष में इस प्रकार के विभेदक लक्षण नहीं देखे जाते हैं। इन सबकी प्रामाणिकता को प्रतिष्ठित कर सकने में समर्थ, विशिष्ट विभेदक लक्षणों के स्वभाव को सम्यक् ज्ञान की किसी परिभाषा द्वारा नहीं प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

यह प्रदर्शित करने के बाद कि सम्यक् संज्ञान (प्रमा) को परिभाषित करना असंभव है, श्रीहर्ष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि संज्ञान के उपकरणों (प्रमाण) की अवधारणा में सन्निविष्ट के रूप में उपकरणों (करनी की अवधारणा अथवा उनके व्यापार) को परिभाषित करना असंभव है। श्री हर्ष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि कर्त्ता के रूप में कारणत्व को अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाले के रूप में पृथक् रूप से नहीं उपकल्पित किया जा सकता, क्योंकि इसके पृथक् अस्तित्व को निर्धारित करना कठिन है। श्री हर्ष ने इस विवेचन को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसकी सूक्ष्मताओं में जाना एक लम्बी कथा होगी एवं हमारे वर्तमान प्रयोजनों के लिए केवल यह जानना पर्याप्त है कि श्री हर्ष ने एक पृथक् कर्त्ता के रूप में 'कारणत्व' के प्रत्यय का इसके लोकप्रिय रूप तथा जिस रूप में यह संस्कृत व्याकरण में उपकल्पित हुआ है,

दोनों में प्रत्याख्यान किया है। उन्होंने 'करण' के प्रत्यय के प्रति संलग्न किए जा सकने वाले विभिन्न वैकल्पिक अर्थों की भी चर्चा की है, और यह दिखाया है कि इनमें से किसी भी अर्थ का सन्तोषपूर्ण ढंग से औचित्य स्थापन नहीं किया जा सकता।[६३३]

प्रत्यक्ष की परिभाषा का प्रत्याख्यान करने में यह प्रत्यक्ष की सम्यक् ज्ञान के उपादान के रूप में परिभाषा करने की निरर्थकता का प्रदर्शन करने वाली एक विस्तृत चर्चा प्रस्तुत करते हैं। न्याय में प्रत्यक्ष को एक ऐसे संज्ञान के रूप में परिभाषित किया गया है जो किसी इन्द्रिय विशेष के अपने विषय के साथ संसर्ग के कारण उत्पन्न होता है; किन्तु यह जानना असम्भव है कि क्या कोई संज्ञान इन्द्रिय-संसर्ग से उत्पन्न हुआ है, क्योंकि इन्द्रिय-संसर्ग के ज्ञान की उत्पत्ति का तथ्य किसी अन्य उपाय द्वारा नहीं देखा अथवा जाना जा सकता। चूंकि प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ एक ओर आत्मा के संसर्ग में और दूसरी ओर बाह्य विषयों के संसर्ग में रहती हैं, श्री हर्ष विविध तर्कों द्वारा यह आग्रह करते हैं जब तक कि प्रत्येक दृष्टान्त में उस विषय विशेष, जिसके संसर्ग में इन्द्रिय का उल्लेख नहीं किया जाता, प्रत्यक्ष की कोई ऐसी परिभाषा प्रदान कर सकना कठिन होगा कि यह केवल बाह्य विषय के प्रकाशन को ही उपलक्षित करे, आत्मा को नहीं जो कि इन्द्रिय के उतने ही संसर्ग में है जितना कि विषय। पुनः, प्रत्येक प्रत्यक्ष में विषय का सविशेष उल्लेख उसे विशिष्ट बना देगा, और इससे परिभाषा, जिसका कि केवल सम्बन्ध प्रत्ययों के प्रति व्यवहार होता है, के प्रयोजन का ही निरास होगा।

तात्कालिकता के रूप में प्रत्यक्ष की संभव परिभाषा के विरुद्ध तर्क करते हुए श्रीहर्ष यह उपकल्पित करते हैं कि यदि प्रत्यक्ष विषय के इसके नित्य लक्ष्य के रूप में, किसी विशेष गुण का प्रकाशन करता है तब, ताकि इस गुण का अभिज्ञान हो सके, वहाँ एक अन्य लक्षण की आवश्यकता होगी और यह एक अन्य लक्षण को अग्रकल्पित करेगा, और इस प्रकार एक असमाप्य श्रृंखला चलेगी; और यदि इस असामप्य श्रृंखला की किसी अवस्था में यह मान लिया जाता है कि अब आगे किसी लक्षण की आवश्यकता नहीं है, तब, जब तक कि प्रत्यक्ष की संभावना का भी निरासन कर दिया जाये, इसमें पूर्ववर्ती निर्धारक लक्षणों की उपेक्षा समाविष्ट होती है। यदि इस तात्कालिकता को इन्द्रियों के

६३३. कई अन्य परिभाषाओं में श्री हर्ष ने उद्योतकर द्वारा दी गई 'करण' की परिभाषा का भी प्रत्याख्यान किया है-'यद्वानेव करोति तत् करणम्'। (खण्डन०, पृ० ५०६)

कारणत्व द्वारा उत्पादित संज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाए, तो पुनः यह अबोधगम्य है; क्योंकि इन्द्रियों का कारणत्व अबोध्य है। श्री हर्ष प्रत्यक्ष के विभिन्न वैकल्पिक परिभाषाओं को लेते हैं एवं सभी का न्यूनाधिक समान रूप में मुख्यतः परिभाषाओं के निर्माण में शाब्दिक त्रुटियों को प्रदर्शित करते हुए खण्डन करने का प्रयास करते हैं।

श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य के टीकाकार चित्सुख आचार्य प्रत्यक्ष की परिभाषा का अपेक्षाकृत अत्यधिक संक्षिप्त रूप में प्रत्याख्यान-प्रस्तुत किया हैं, उनका कहना है कि अक्षपाद द्वारा विषय के साथ इन्द्रिय-संसर्ग से उत्पन्न होने वाले अखण्डित संज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष की परिभाषा अबोध्य है। हम यह कैसे जान सकते हैं कि संज्ञान का खण्डन नहीं होगा।

इसे संस्थित परिस्थितियों की त्रुटिविहीनता के ज्ञान से नहीं जाना जा सकता क्योंकि त्रुटि विहीनता को तभी जाना जा सकता है जब कि कोई असंगति न हो और इस कारण त्रुटिविहीनता को पहले से अथवा स्वतंत्रतः नहीं जाना जा सकता तथा संस्थित परिस्थितियों में बहुतेरे अदृश्य तत्त्व होंगे। यह कहना भी असम्भव है कि कोई अनुभव सर्वदा के लिए अखण्डित रहेगा। न ही आग्रह किया जा सकता है कि सम्यक् संज्ञान वह है जो द्रष्टा द्वारा कोई प्रयास उत्पन्न कर सके; क्योंकि भ्रामक ज्ञान भी, इसके द्वारा भ्रमित, व द्रष्टा में एक प्रयास की उत्पत्ति कर सकता है। परिणाम की उपलब्धि मात्र संज्ञान की शुद्धता की कसौटी नहीं है, क्योंकि कोई व्यक्ति मणि की प्रभा को देख सकता है और इसे मणि सोच सकता है और वस्तुतः मणि को पा सकता है, तथापि इनमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि मणि की किरण का मणि के रूप में उसका बोध त्रुटिपूर्ण था। तारकों तथा ग्रहों के प्रत्यक्ष के दृष्टान्त में इन वस्तुओं की किसी वास्तविक उपलब्धि की कोई संभावना नहीं होती, तथापि संज्ञानों की प्रामाणिकता के अस्वीकरण का कोई कारण नहीं है।

लिङ्गपरामर्श अथवा 'पक्ष' उदाहरण के लिए पर्वत, लिंग-उदाहरण के लिए धूम, जो कि साध्य के साथ सदैव सदास्तित्वमान होता है, के अस्तित्व की सिद्धि के रूप में, अथवा लिंग के साध्य के साथ नित्य सहास्तित्व के रूप में श्रीहर्ष के अनुमान की परिभाषाओं के प्रत्याख्यान में प्रयुक्त न्यूनाधिक शाब्दिक तर्कों तथा इसके अन्य थोड़े संशोधित प्रकारों पर ध्यान न देते हुए, उनकी सहास्तित्व (व्याप्ति) के स्वभाव की आलोचना पर आता हूँ, जो कि अनुमान

की अवधारणा का मूल है। वह आग्रह किया जाता है कि व्याप्ति में अपेक्षित नित्य सहास्तित्व के सार्वभौमिक संबंध को तब तक प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता, जब तक कि किसी जाति में सन्निविष्ट सभी व्यष्टियों के नित्य सहास्तित्व को न जाना जाये, जो कि असंभव है। नैयायिकों का कहना है कि मन, सामान्य प्रत्यासत्ति संज्ञा वाले जाति-प्रत्ययों अथवा सामान्यों के साथ एक प्रकार के मानसिक संसर्ग वाले जाति-प्रत्ययों अथवा सामान्यों के साथ एक प्रकार के मानसिक संसर्ग द्वारा वस्तुतः उसके सभी व्यष्टियों के अनुभव के बिना, किसी जाति के सभी व्यष्टियों का प्रतिज्ञान कर सकता है। वस्तुतः इसी रूप में बहुतेरे दृष्टान्तों में धूम तथा अग्नि के नित्य सहास्तित्व को देखकर, हम दूरवर्ती पर्वत पर धूम देख कर, 'धूम' के जाति प्रत्यय के साथ एक प्रकार मानसिक संसर्ग के अनुभव द्वारा अग्नि के साथ धूम के नित्य सहास्तित्व को समझते हैं। इस प्रकार की व्याख्या का प्रत्याख्यान करते हुए श्री हर्ष तर्क करते हैं कि यदि सभी विशिष्ट धूमों को इस प्रकार जाति-प्रत्ययों के साथ मानसिक संसर्ग द्वारा जाना जा सके तब 'ज्ञेय' जाति-प्रत्यय के साथ मानसिक संसर्ग द्वारा हम सभी विशिष्ट ज्ञेयों को जान सकेंगे और सर्वज्ञ हो जाएंगे। कोई वस्तु, अपने विशिष्ट गुणों के साथ, एक व्यष्टि के रूप में ही ज्ञेय है, और इस कारण किसी वस्तु को एक ज्ञेय के रूप में जानना इस प्रकार के सभी विशिष्ट गुणों का ज्ञान सन्निविष्ट करेगा, क्योंकि 'ज्ञेय' जाति-प्रत्यय उन सभी व्यष्टियों को सन्निविष्ट करेगा, जिनका एक विशिष्टज्ञेय स्वभाव है। यह आग्रह किया जा सकता है कि ज्ञेयत्व एक ऐकान्तिक स्वभाव है तथा यह कि वस्तुएं अन्यथा पूर्ण भिन्न हो सकती है तथापि, जहाँ तक ज्ञेयता का सम्बन्ध है, वे एक हो सकते हैं, और इस प्रकार वस्तुएं, स्वभाव की भिन्नता में, सम्पूर्णतः अज्ञात रह सकती है और फिर भी, जहाँ तक वे केवल ज्ञेय हैं, ज्ञात हो सकती हैं। इसके प्रति श्रीहर्ष का उत्तर यह है कि 'ज्ञेय' जाति-प्रत्यय सभी ज्ञातों को सन्निविष्ट करेगा और इस प्रकार 'ज्ञेय' शब्द के अर्थ में स्वभावों की भिन्नता भी सन्निविष्ट होगी।

श्रीहर्ष द्वारा न्याय की कोटियों के प्रत्याख्यान पर ध्यान देने पर हम पाते हैं कि वह 'सत्' अथवा 'भावत्व' के प्रत्याख्यान से प्रारम्भ करते हैं। उनका कहना है कि भाव को स्वयं अस्तित्वमान के रूप में नहीं परिभाषित किया जा सकता, क्योंकि अभाव भी स्वयं अस्तित्वमान है, हम भाव को उतने ही अधिकारपूर्वक अस्तित्वमान कह सकते हैं, जितना कि अभाव को अस्तित्वमान कह सकते हैं; अभाव तथा भाव दोनों अस्तित्वमान है इस क्रिया के व्याकरणीय कर्तृकारक-बोधकों

के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। पुन: प्रत्येक अस्तित्वमान वस्तु के स्वयं विलक्षण होने के कारण, 'अस्तित्व' अथवा ''भाव'' के समान कोई ऐसा समान गुण नहीं है, जो सब में विद्यमान हो। पुन: उतना ही भाव का निरसन है, जितना कि 'अभाव' 'भाव' का इस कारण भाव को किसी ऐसी वस्तु के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता, जो कि किसी वस्तु का निरसन नहीं है। निरसन वाणी का एक प्रकार है तथा भाव एवं अभाव दोनों को निरसनकारी के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है।[६३४]

आचार्य चित्सुख–

आचार्य चित्सुख वेदान्त के सर्वाधिक आधारभूत प्रत्यय, अर्थात् स्व-प्रकाश के प्रत्यय की औपचारिक परिभाषा से प्रारम्भ करते हैं। पंचपादिका तथा पंचपादिक विवरण में पद्मपाद तथा प्रकाशात्मन् दोनों ने आत्मा को अहंकार से स्व-प्रकाश के रूप में विभेदित किया था। इस प्रकार प्रकाशात्मन् का कहना है संविद् स्व-प्रकाशी है तथा इसका स्व-प्रकाश किसी अन्य स्व-प्रकाशी कारण से उत्पन्न नहीं है।[६३५] संविद् के स्वाभाविक स्व-प्रकाश के कारण ही इसके विषय स्व-प्रकाशी रूप में प्रकट होते हैं।[६३६] यह कहते हैं कि आत्मा बुद्ध स्व-प्रकाशी संविद् के स्वभाव का है। आचार्य पद्मपाद इसी बात को दुहराते हैं; जबकि संविद् अन्य विषयों के सम्बन्ध में प्रकट होता है तथा इन्हें प्रकाशित करता है, तब इसे अनुभव करते हैं, तथा जब यह सर्वथा एकाकी होता है, तब इसे आत्मन् कहते हैं।[६३७] किन्तु, चित्सुख संभवत: प्रथम व्यक्ति है जिन्होंने इस स्वप्रकाश स्वभाव की औपचारिक परिभाषा प्रदान की है।

चित्सुख ने इसे ऐसी वस्तु के रूप में परिभाषित किया है, जो तात्कालिक अपरोक्ष-व्यवहार-योग्य कहलाने का अधिकारी है, यद्यपि यह किसी संज्ञान अथवा किसी संज्ञानात्मक कर्म का विषय नहीं होती है।[६३८] यह आपत्ति की जा

---

६३४. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, एस० एन० दासगुप्ता, पृ० १३२-१३४, १३६।

६३५. संवेदनं तु स्वयं प्रकाश एव न प्रकाशान्तरहेतु:। पंचपादिका-विवरण, पृ० ५२

६३६. तस्माद् अनुभव: सजातीय प्रकाशान्तर निरपेक्ष: प्रकाशमान एव विषये प्रकाशादिव्यहारनिमित्तं भवितुम् अर्हति। वही, पृ० ५२

६३७. तस्माद् चित्स्वभाव एवात्मा तेन प्रमेयभेदेन उपधीयमानोऽनुभावाभिवानीयकं लभते। (पंचपारिका, पृ० १०)

६३८. अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहार योग्यत्वं स्वयम्प्रकाशलक्षणम्। –चित्सुखी, पृ० ९।

सकती है कि इच्छाएं अनुभूतियाँ इत्यादि भी किसी संज्ञान का विषय नहीं होती और फिर भी तात्कालिक कहलाने का अधिकारी होती हैं, और इस कारण यह परिभाषा उन पर भी लागू हो सकती है; क्योंकि संज्ञान के विषय का एक पृथक् वस्तुनिष्ठ अस्तित्व होता है, तथा एक मन-विषय संसर्ग के द्वारा मन विषय के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है और इसके द्वारा मन विषय के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है और इसके द्वारा उस एक संविद् को जो प्रत्यक्षतः दो रूपों भौतिक पदार्थों के रूप में प्रकट होने वाले विषयसंविद् के रूप में तथा प्रज्ञाता के रूप में प्रकट होने वाले विषयसंविद् के रूप में विभक्त हैं, विषय रूप पर विषयी-रूप के अध्यारोपण द्वारा पुनः इसकी एकता में प्रतिष्ठित किया जाता है, एवं विषयरूपसंविद् में एक जलपात्र अथवा पुस्तक के रूप में प्रकाशित होता है। किन्तु, हमारी इच्छा अथवा हमारी अनुभूतियों के अनुभव के दृष्टान्त में इनका हमारे मन से पृथक् अस्तित्व नहीं होता और इस प्रकार इनका संज्ञान उस रूप में नहीं होता, जिस प्रकार की बाह्य विषयों का होता है।

वेदान्तज्ञान-मीमांसा के अनुसार, इच्छा, संवेदनाओं इत्यादि के विषयीगत अनुभव मानसिक घटकों, स्वरूप अथवा अवस्थाओं से भिन्न होते हैं, जो कि प्रत्यक्ष तथा भ्रामक ढंग से स्व-प्रकाशी संविद् के ऊपर आरोपित होते हुए अनुभूत होते हैं। इस कारण विषयीगत अवस्थाओं का उस रूप में संज्ञान नहीं होता, जिस रूप में बाह्य पदार्थों का होता है। किन्तु, चूंकि इन अवस्थाओं का अनुभव भ्रान्तिपूर्ण आरोपण की एक प्रक्रिया के माध्यम से संभव है, वे तात्कालिक कहलाने के अधिकारी नहीं है।[६३९]

चित्सुख दूसरी बात का आग्रह करते हुए कहते हैं कि आत्मा शुद्ध स्व-प्रकाश संविद् के स्वभाव का होता है। यह निश्चित ही चित्सुख का नया योगदान नहीं है, क्योंकि यह विचार उपनिषदों में प्रतिष्ठित हुआ था और शंकर पद्मपाद, प्रकाशात्मन् तथा अन्यों द्वारा पुनरावृत्त हुआ था। आचार्य चित्सुख का कहना है कि ज्ञान के समान, आत्मा भी, किसी संज्ञानात्मक कार्य व्यापार अथवा संज्ञान का विषय बने बिना, तात्कालिक रूपेण प्रकाशित अथवा अनुभूत होता है, और इस कारण आत्मा भी ज्ञान के स्वभाव का है। कोई भी अपनी आत्मा के विषय में शंकालु नहीं होता; क्योंकि आत्मा सदैव प्रत्यक्षतः तथा तात्कालिक

६३९.अवेद्यत्वेऽपि नापरोक्ष व्यवहार योग्यता तेषाम्, अध्यस्ततयैव तेषां सिद्धेः।
—चित्सुखी, पृ० १०

रूपेण अवस्थित होता है। आत्मा तथा ज्ञान के अभिन्न होने के कारण, उनके बीच अभिन्नता को छोड़कर कोई अन्य सम्बन्ध नहीं होता (ज्ञानात्मनोः सम्बन्धस्यैव अभावात्) है।

चित्सुख मिथ्यात्व, जिसे इसका कारण माना जाता है, को उसमें उस वस्तु के अभाव के रूप में परिभाषित करते हैं।[६४०] वह इसे यह बताते हुए प्रदर्शित करते हैं कि सम्पूर्ण को, यदि इसका अस्तित्व कही होना है तो, उन घटकों में होना चाहिए जिनसे कि यह बना है, और यदि इस का अस्तित्व वहाँ भी नहीं है तो इसका अस्तित्व कहीं नहीं होता तथा यह मिथ्या है। किन्तु यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण का अस्तित्व घटकों में नहीं हो सकता क्योंकि, सम्पूर्ण होने के कारण यह घटकों में नहीं हो सकता।[६४१] जागतिक आभास के मिथ्यात्व के लिए चित्सुख द्वारा प्रयुक्त एक अन्य तर्क यह है कि स्व-प्रकाशी संविद्, जो कि ज्ञाता (दृक्) है तथा संज्ञान किए जाने वाले विषयों (दृश्य) के बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध का होना असम्भव है। ज्ञान को इन्द्रिय-संसर्ग से उत्पन्न हुआ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रजत के भ्रान्तिपूर्ण प्रत्यक्ष में रजत का मिथ्या प्रत्यक्ष होता है। विषयी तथा विषय के सम्बन्ध में उल्लेख इसे नहीं व्याख्यायित कर सकता, क्योंकि स्वयं विषयी तथा विषय का सम्बन्ध अस्पष्ट तथा अख्यायेय होता है।

आचार्य चित्सुख अज्ञान के विषय में स्पष्ट करते हुए कहतें हैं कि यह एक अनादि सकारात्मक सत्ता है, जो यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति के साथ विलुप्त हो जाता है।[६४२] अज्ञान सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों से भिन्न है, तथापि इस तथ्य विशेष, कि यह नकारात्मक नहीं है, कि कारण इसे केवल सकारात्मक कहा जाता है।[६४३] अज्ञान को एक सकारात्मक स्थिति के रूप में कहा जाता है, इसे केवल ज्ञान का निरास नहीं कहा जाता है, और इस प्रकार यह कहा जाता है कि किसी व्यक्ति में किसी विषय के शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति उस विषय के प्रसंग

---

६४०. सर्वेषामपि भावानाम् आश्रयत्वेन सम्मते।
प्रतियोगित्वम् अत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता।। --चित्सुखी, पृ० ३९

६४१. अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः अंशित्वाद् इतरांशीव.....विमतः पटः एतत् तन्तु निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी अवयवित्वात् पटान्तरत्वात्।।
--चित्सुखी, पृ० ४००-४१

६४२. अनादि भावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते तद् अज्ञानमिति प्रज्ञालक्षणम् संप्रचक्षते, अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञाननिरास्यम् अज्ञानमिति लक्षणं इह विवक्षितम्।
--चित्सुखी, पृ० ५७

६४३. भावाभावविलक्षणस्य अज्ञानस्य अभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारात्।
वही, पृ० ५७

में अज्ञान की सकारात्मक सत्ता को विनष्ट कर देती है, तथा यह है कि यह अज्ञान शुद्धज्ञान के निरास से कोई व्यक्ति जो समझेगा उससे भिन्न वस्तु हैं।[६४४] चित्सुख का कहना है कि अज्ञान का सकारात्मक स्वरूप उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम यह कहते हैं कि हम नहीं जानते कि तुम जो कह रहे हो वह सत्य है। यहाँ इस तथ्य विशेष का शुद्धज्ञान है कि जो कहा गया है वह ज्ञात है, किन्तु यह नहीं ज्ञात है कि जो कहा गया है कि वह सत्य है।[६४५] यहाँ भी तथ्य के अज्ञान का सकारात्मक ज्ञान है, जो कि केवल ज्ञान का अभाव नहीं हैं। किन्तु, इस प्रकार का अज्ञान इन्द्रिय-संसर्ग अथवा इन्द्रिय-प्रक्रिया के माध्यम से नहीं अपितु, सीधे स्वी-प्रकाशी संविद्-साक्षिन् द्वारा अनुभूत होता है। किसी विषय के बारे में शुद्धज्ञान की उत्पत्ति के ठीक पूर्व अज्ञात रहता है, तथा इस प्रकाश के अज्ञान द्वारा विशेषित के रूप में विषय का अज्ञात के रूप में अनुभव किया जाता है। सभी वस्तुएं ज्ञात अथवा अज्ञात के रूप में आन्तरिक स्थिर आशुज्ञानीय संविद् की विषय होती हैं।[६४६] ऐसी अवस्था जिसमें हमें कुछ नहीं ज्ञात हुआ (न किंचिदवेदिषम्) के रूप में गंभीर स्वप्नविहीन निद्रा के हमारे अभिकथन को भी स्वप्न विहीन अवस्था में अज्ञान के सकारात्मक अनुभव के रूप में वर्णित किया जाता है-

वेदान्त ज्ञान-मीमांसा का एक प्रमुख सिद्धान्त इस मान्यता में निहित है कि मिथ्या का प्रस्तुतिकरण अनुभव का एक तथ्य है। इससे विपरीत यह मत प्रभाकर का है जो कि मिथ्या का कभी-भी अनुभव में प्रस्तुतिकरण नहीं होता तथा मिथ्यात्व मन द्वारा अनुभव के ऊपर आरोपित त्रुटिपूर्ण रचनावृत्ति में निहित होता है, जो, मिथ्या रूपेण एक के रूप में संलग्न दो वस्तुओं के बीच में सम्बन्ध के वास्तविक अभाव को नहीं देख पाती।

वेदान्त ज्ञान सिद्धान्त का एक मुख्य सिद्धान्त इस परिकल्पना में है-कि मिथ्यावस्तु की अभिव्यक्ति अनुभूत तथ्य में आती है। प्रभाकर का इससे विपरीत मत है। उनके अनुसार मिथ्या का दर्शन अनुभव में नहीं होता और दो वस्तुओं

६४४.विगीतं देवदत्तनिष्ठा प्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठ.....अनुमानम्।। -वही, पृ० ५८

६४५.त्वदुक्तेऽर्थे प्रमाणज्ञानं मम नास्ति इत्यस्य विशिष्टविषयज्ञानस्य प्रभात्वात्।। -वही, पृ० ५९

६४६.अस्मन्मते अज्ञानस्य साक्षि सिद्धतया प्रमाणाबोध्यत्वात् प्रमाणज्ञानोदयात् प्रागकाले अज्ञानं तद्विशेषितोऽर्थः साक्षिसिद्ध अज्ञात् इत्यनुवाद....। -चित्सुखी, पृ० ६०

को मिथ्या रूप से एक मानकर उनके परस्पर सम्बन्ध के वास्तविक अभाव को मन देख नहीं पाता है, और इससे मन द्वारा अनुभव पर जो अयथार्थ कल्पना का अध्यास होता है उससे ही मिथ्यात्व होता है। इस मत के अनुसार सारी भ्रान्ति उन दो वस्तुओं के मिथ्यासंसर्ग अथवा मिथ्यासम्बन्ध के कारण होती है, जो अनुभव में संबद्ध नहीं देखती। यह मिथ्या संसर्ग मानस के सक्रियव्यापार के कारण नहीं होता, अपितु इस कारण कि मन यह नहीं देख पाता कि ऐसा कोई संसर्ग अनुभव में वस्तुतः आया ही नहीं था। महान् मीमांसाचार्य प्रभाकर के अनुसार मिथ्या का कभी अनुभव नहीं होता और मिथ्याअनुभव का कारण मन की असत् कल्पना की स्वच्छन्द भावपरक क्रिया ही नहीं अपितु अनुभव में प्रस्तुत कुछ भेदों को केवल देख पाना भी है। इसे न देख पाने के कारण ही पृथक् विषयों को पृथक्रूप में नहीं देखा जाता और इसलिए जो वस्तुएं पृथक् एवं भिन्न है उन्हें मिथ्यारूप से एक ही समझा जाता है, तथा शुक्ति को रजत माना जाता है। परन्तु इसमें अनुभव में वही मिथ्यादर्शन नहीं है। जो ज्ञात है वह सत्य है और मिथ्यात्व ज्ञान की त्रुटियों एवं भेदों को न देख पाने के कारण होता है।

चित्सुख इस मत के प्रति आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि मिथ्याज्ञान की समस्त अवस्थाओं का इससे स्पष्टीकरण नहीं होता। उदाहरणार्थ इस वाक्य को लेते हैं–मिथ्याज्ञान एवं मिथ्यादर्शन होते हैं; यदि इस वाक्य को सत्य स्वीकार किया जाये तो प्रभाकर का कथन असत्य हो जाएगा; यदि इसको असत्य माना जाए तो यह वाक्य मिथ्या हो जाएगा, जिसके मिथ्यात्व का कारण अन्तर को न देख पाना नहीं है। यदि यह कहा जाये कि समस्त प्रतिज्ञाओं के मिथ्यात्व का कारण अन्तर का न देख पाना है तो किसी एक भी सत्यप्रतिज्ञा अथवा सत्य अनुभव को ढूंढ पाना कठिन होगा। सदा परिवर्तनशील दीपशिखा को एक ही मानने हमारे मिथ्याअनुभव की उपमा के आधार पर समस्त सत्य प्रत्यभिज्ञाओं को भी मिथ्या माना जा सकता है, और इस हेतु सारे अनुमान शंकास्पद हो जायेंगे। समस्त यथार्थ एवं सत्य संसर्गों का होना भेदों को न देख पाने के कारण बताया जा सकता है। ऐसा कोई भी संसर्ग नहीं जिसमें कोई यह निश्चय कर सके कि वास्तविक संसर्ग का ही प्रयोग कर रहा है न कि केवल संसर्ग के अभाव की अग्राह्यता को (असंसर्गाग्रह)। अतः चित्सुख का तर्क है कि सारे मिथ्याज्ञान का कारण भेदों की अग्राह्यता है, ऐसी व्याख्या कर सकना आवश्यकता से अधिक आशा करना है, क्योंकि यह मानना बिल्कुल युक्ति-युक्त है कि मिथ्याज्ञान दोष-युक्त इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता है। क्योंकि यथार्थज्ञान के उदय में बाधक

होकर निश्चित रूप से अथार्थ ज्ञान की जनक होती है।[६४७] अतः शुक्ति में रजत का मिथ्या प्रत्यक्ष होने से शुक्ति ही रजत का टुकड़ा प्रतीत होती है। परन्तु जो मिथ्याप्रत्यक्ष के आलम्बन को प्रस्तुत करता है उसका स्वरूप क्या है? वह पूर्णतः असत् नहीं माना जा सकता। क्योंकि जो पूर्णतः असत् वह अयथार्थज्ञान का आलम्बन भी नहीं हो सकता। इसके उपरान्त यह ऐसे (यथा केवल शुक्ति के अयथार्थ ज्ञानवश उसको रजत मानकर उठाने की प्रवृत्ति) द्वारा द्रष्टा में भी भौतिक क्रिया व्यापार प्रवृत्त नहीं कर सकता। अतः वह सत् ही माना जा सकता है क्योंकि परवर्ती अनुभव से पूर्व के अयथार्थ ज्ञान का बोध होता है, और उनका कहना है कि रजत का टुकड़ा इस क्षण में नहीं है, और भूतकाल में भी रजत का टुकड़ा नहीं था, केवल शुक्ति ही रजतवत् प्रतीत थी। अतएव मिथ्यादर्शन को वास्तविक प्रतीत होते हुए भी सत् अथवा असत् नहीं कहा जा सकता और समस्त माया की अनिर्वचनीयता का ठीक वही लक्षण है।[६४८] काल के खण्डन में चित्सुख लिखते हैं कि काल का प्रत्यय न तो चक्षु द्वारा ही हो सकता है और न यह मन द्वारा ही ग्राह्य है, क्योंकि मन का व्यापार केवल बाह्य इन्द्रियों के संसर्ग से ही संभव है। इसके अतिरिक्त किसी प्रत्यक्षगम्य सामग्री के अभाव में इसका अनुमान भी नहीं हो सकता। पूर्व एवं पश्चात् क्रम एवं युगपद्भाव, शीघ्रता एवं अवधि, स्वतः ही काल के स्वरूप को नहीं प्रदर्शित कर सकते जो स्वरूप स्वयं काल का है। यह कहा जा सकता है कि क्योंकि सूर्य के स्पंदन मानवशरीर अथवा जगत् की वस्तुओं के सम्बन्ध में ही हो सकते हैं जिससे कि वे केवल किसी अन्य कर्तृत्व, यथा दिन, मास इत्यादि के द्वारा ही युवा अथवा वृद्ध प्रतीत होते हैं, अतः सूर्य के स्पन्दन को विश्व की वस्तुओं के साथ सम्बन्ध करने वाला वह कर्तृत्वकाल कहलाता है।

इस शंका का समाधान करते हुए चित्सुख कहते हैं, क्योंकि घटनाओं और वस्तुओं के प्रकट होने की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार उन घटनाओं एवं वस्तुओं में काल के प्रकाशन का कारण स्वयं आत्मा को माना जा सकता है इसलिए 'काल' संज्ञक किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना करना अनावश्यक

६४७.तथा दोषानामपि यथार्थ ज्ञान प्रतिबाधकत्वम् अयथार्थ ज्ञानजनकत्वं न किं न स्यात्।
—चित्सुखी, पृ० ६६

६४८.प्रत्येकं सदसद्भ्यां विचारपदवीं न यद्गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः।
—चित्सुखी, पृ० ७९

है। पुन: यह भी नहीं कहा जा सकता है कि पूर्व एवं पश्चात् की धारणा का उपादानकारण काल है, क्योंकि इन धारणाओं की यथार्थता वेदान्ती नहीं मानते। उनको सूर्य के परिस्पन्दन की अधिक अथवा कम मात्रा द्वारा उत्पन्न संस्कार नहीं माना जा सकता है। अत: काल को पृथक् पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसके ज्ञान की व्याख्या हमारे अनुभव के ज्ञात तथ्यों के आधार पर ही की जा सकती है। कुछ तथ्यों के विचार से दिक् भी त्याज्य है, क्योंकि दिक् का प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता अथवा अनुभूत तथ्यों के न होने के कारण उसका अनुभव भी नहीं हो सकता। काल और दिक् दोनों का कारण अपेक्षा बुद्धि है ओर उस अपेक्षा बुद्धि के कारण शारीरिकस्पंदन के हमारे अनुभव के संसर्ग से मन दिक् की धारणा का निर्माण करता है। अत: दिक् को पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक है।

वस्तुओं के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इसको दो परस्पर असंयुक्त वस्तुओं की प्राप्ति भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब तक कोई संयोग का अर्थ ही न समझे तब तक वह 'असंयोग' का अर्थ नहीं समझ सकता। यदि इसकी परिभाषा दो परस्पर असंबन्धित वस्तुओं की प्राप्ति की जाए तो संयोग में समवाय सम्बन्ध भी सम्मिलित हो जाएगा जैसा कि सूत एवं वस्त्र में होता है। यदि उसको कालजनित अनित्य सम्बन्ध माना जाए (अनित्य: सम्बन्ध: जन्मत्व विशेषितो वा) तो अनादि संयोग इनमें सम्मिलित नहीं हो सकेंगे और क्रीत वस्तुओं के स्वामित्व को भी संयोग में सम्मिलित करना पड़ेगा, क्योंकि स्वामित्व का सम्बन्ध भी काल जनित है। 'स्वामित्व' के सम्बन्ध होने के विषय में आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि सम्बन्ध के लिए यह आवश्यक है कि वह दो वस्तुओं के बीच हो। यह आपत्ति उचित हो तो वस्तु एवं गुण के बीच का सम्बन्ध, सम्बन्ध नहीं रहेगा; क्योंकि वस्तु एवं गुण का अस्तित्व एक साथ ही होता है और कोई दो पृथक् वस्तुएं परस्पर संबन्धित नहीं हो सकती, यदि आपत्तिकर्ता का अर्थ यह हो कि सम्बन्ध दो पदों के मध्य हो तो स्वामित्व में भी दो पद हैं, एक अधिगत वस्तु और दूसरा अधिगन्ता। इसके उपरान्त यदि संयोग की परिभाषा ऐसे सम्बन्ध के रूप में की जाए जो दो वस्तुओं का पूर्णरूपेण संयोग न करे तो वह भी अनुचित ही होगा, क्योंकि संयोग सम्बन्ध अंशभूत निरवयव तत्त्वों को संयुंक्त नहीं कर सकता, क्योंकि उनके अंश होते ही नहीं। चित्सुख 'विभाग' के प्रत्यय का भी इसी प्रकार से खण्डन करते हैं, और दो-तीन-चार आदि संख्या के खण्डन पर अग्रसर होते हैं।

चित्सुख का मानना है कि दो-तीन इत्यादि को पृथक् संख्याएं मानना आवश्यक नहीं, क्योंकि हमें केवल एक वस्तु का ही प्रत्यक्ष होता है और पुन: अपेक्षा बुद्धि से हम उनको सम्बद्ध करते हैं और दो-तीन इत्यादि का रूप देते हैं। इन संख्याओं की कोई पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अपितु वे एकाकी विषयों की अपेक्षा बुद्धि द्वारा काल्पनिक सृष्टिमात्र ही है। अतएव यह मानना आवश्यक नहीं कि दो, तीन इत्यादि संख्याओं की सृष्टि यथार्थ है।

विमुक्तात्मा–

विमुक्तात्मा अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ इष्टसिद्धि में व्याख्या करते हुए कहते हैं कि शुद्धचैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी अनादि तथा नित्य नहीं हो सकता। परमाणुओं को प्राय: अनादि माना जाता है, परन्तु उनके वर्ण एवं इन्द्रिय गुण होने के कारण वे प्रकृति के अन्य विषयों के सदृश ही है, तथा उनके अवयव भी है, क्योंकि उनके अभाव में परमाणुओं का संयोग असंभव होगा। केवल वही अविभाज्य हो सकता है जो निरवय एवं अनादि हो, और केवल अनुभूति ही को ऐसा कहा जा सकता है। अनुभूति और अन्य विषयों में यह भेद है कि जबकि विषयों का 'यह' अथवा 'विषय' कहकर वर्णन किया जा सकता है, वहाँ अनुभूति स्पष्ट ऐसी नहीं है। परन्तु, यद्यपि यह भेद सामान्यत: स्वीकृत है, तथापि तत्त्व-विवेचन सम्बन्धी तर्क यह प्रदर्शित करते हैं कि दोनों अभ्यन्तर दृष्टि से भिन्न नहीं है। तार्किक-दृष्टि से प्रत्यक्षकर्ता तत्त्व और प्रत्यक्ष (दृश्य) में कोई भेद नहीं हो सकता, क्योंकि दृक् अप्रत्यक्ष है। दृश्य और अदृश्य के मध्य किसी भेद को ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि समस्त भेद को ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि समस्त भेद दो ज्ञात तत्त्वों का वर्णन करता है परन्तु यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि दृक् का ज्ञान नहीं होता तथापि यह स्व-प्रकाश है और इसीलिए भेद का भाव प्रकट होना आवश्यक है। इस आपत्ति के उत्तर के लिए भेद के स्वरूप के विषय में विचार विमर्श अनावश्यक है। यदि भेद तत्त्वों के स्वभाव का होता तो भेद तत्त्वों के संदर्भ पर आश्रित नहीं होता। अत: भेद को भिन्न तत्त्व के स्वरूप से भिन्न तथा पृथक् ज्ञान-प्रक्रिया यथा रूप रसादि के द्वारा ग्राह्य मानना पड़ेगा।[६४९] परन्तु यह मत भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि 'भेद' को भिन्न तत्त्वों से भिन्न स्वीकार करना कठिन है।

६४९.तस्मात् कथंचिद्भिन्नो ज्ञानान्तरगम्यो रूपरस दिवद्भेदोऽम्युपेय:। आधार 'इष्ट सिद्धि' पाडु०, पृ० ५

इसका कारण यह है कि ऐसे भेद को अपने ज्ञेय होने के लिए अन्य भेद की अपेक्षा होगी, उसके किसी अन्य की, इस प्रकार अनावश्यक प्रसंग की प्राप्ति होगी, तथा यही आपत्ति पृथक् तत्त्व के रूप में 'अन्योन्याभाव के लिए भी प्रयुक्त होती है। ऐसी अवस्था में यह कल्पना करना कठिन है कि दृक् एवं दृश्य के मध्य भेद अथवा अन्योन्याभाव कैसे अभिगम्य है? क्योंकि यह असंभव है कि ऐसा कोई अन्य ज्ञान हो जिसके द्वारा दृक् को एक एकान्तर प्रतियोगी के रूप में रखने वाले इस 'भेद' अथवा अन्योन्याभाव का दर्शन हो सके।[६५०] इसके अतिरिक्त स्व-प्रकाश दृष्टि सामर्थ्य सदा विद्यमान रहता है, और उसका अभाव होना असम्भव है-इस अवस्था के बिना भेद अथवा अभाव किसी का भी होना असम्भव है। इसके उपरान्त ऐसे भेद को गम्य स्वीकार करना भी यह सिद्ध करता है कि यह दृक् आत्मा का धर्म नहीं है। भेद को स्व-प्रकाश मानने पर वह परापेक्षी नहीं रहेगा, तथा भेद एवं अन्योन्याभाव की समस्त धारणाओं के लिए वह अवस्था आवश्यक है। अतः भेद एवं 'अन्योन्याभाव' न तो दृक् आत्मा के रूप में और न उसके धर्म के रूप में ही सिद्ध होते हैं, और किसी अन्य प्रकार के भेद अग्राह्य होने के कारण यह स्पष्ट है कि दृक्आत्मा एवं उसके धर्मों में भेद नहीं है।

पुनः अभाव की परिभाषा दृश्य के अदर्शन के रूप में की जाती है, परन्तु दृक्दृष्टि स्वभावी है और उनकी अदृष्टि असंभव होगी। यदि तर्क के लिए यह स्वीकार भी कर लिया जाये की दृक् का अभाव शक्य है तो ऐसे अभाव का ज्ञान कैसे होगा? क्योंकि स्वयं दृक् के दृष्टिस्वभावी होने के कारण दृक् के अभाव में दृष्टि का होना असम्भव है। अतः दृक् का भाव भ्रान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। अतः दृक् और दृश्य परस्पर भिन्न नहीं हो सकता। तथापि यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि यदि दृक् और दृश्य अभिन्न है तो दृश्य के धर्म अवच्छेद और भेद, दृक् के भी धर्म हो जाएंगे। ऐसी सामान्य लोकव्यवहार और अनुभव के विपरीत होने जैसे कल्पनाओं के विरुद्ध अन्य आपत्तियाँ की जा सकती है। उन दोनों के युगपद् अनुभव के कारण दोनों के अभिन्न होने तक तर्क दिया जा सकता है परन्तु उत्तर में यह कहा जा सकता है कि दोनों का न कि

६५०.एवं च सति न दृक्दृश्ययोर्भेदो द्रष्टुं शक्यः, नाटयन्योन्याभावः, न हि दृश स्वयं दृष्टैः प्रतियोग्यपेक्षदृष्ट्यन्तर दृश्यरूपान्तरं स्व समस्ति स्वयं दृष्टित्वाहानात्।
—पाण्डु०, पृ० ६

एक का अनुभव होने के कारण उनको अभिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन दोनों के अनुभव में ही उनके भेद की अभिव्यक्ति हो जाती है।[६५१]

यह पहले भी प्रदर्शित किया जा चुका है कि दृक् और दृश्य को भिन्न नहीं माना जा सकता, और अब यह प्रदर्शित किया गया है कि उसको अभिन्न भी नहीं माना जा सकता। एक अन्य विकल्प यह है कि वे भिन्न और अभिन्न दोनों हो सकते हैं (जो कि भास्कर तथा रामानुज तथा अन्यों का भेदाभेद मत है) और विमुक्तात्मा इस विकल्प के भी असम्भव होने तथा दृक् एवं दृश्य के भिन्न तथा अभिन्न दोनों ही न हो सकने को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं। भेदाभेद मत के मानने वाले शायद यह कहें कि यद्यपि दृक् एवं दृश्य को अपनी वर्तमान अवस्था में अभिन्न नहीं माना जा सकता है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि वे दोनों बाह्य के साथ एक और अभिन्न हैं तो उनमें भेद नहीं हो सकता। यदि यह तर्क दिया जाए कि उनका ब्रह्म के साथ तादात्म्य एक अन्य रूप में है तो भी यह प्रश्न उठता है कि दृक् एवं दृश्य के रूप में उनके रूपों का उस रूप से तादात्म्य है, जिस रूप में उनका ब्रह्म से तादात्म्य है; तथा किसी को भी दृक् एवं दृश्य के प्रत्यक्ष रूपों के अतिरिक्त अन्य किसी रूप का ज्ञान नहीं है, अतः यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अपने भेदों के उपरान्त भी वे किसी रूप में एक और अभिन्न हैं।

पुनः आपत्ति करते हुए कहा है कि यह बिल्कुल सम्भव है कि एक तादात्म्य-युक्त तत्त्व के दो भिन्न रूप होने चाहिए, तब भी यह प्रश्न उठता है कि क्या ये रूप एक, भिन्न अथवा उस तत्त्व से अभिन्न एवं भिन्न दोनों ही है। **प्रथम विकल्प** में रूप भिन्न नहीं होंगे, **द्वितीय विकल्प** में वे उस तत्त्व के साथ एक नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त यदि तत्त्व के किसी भाग का किसी रूप विशेष से तादात्म्य हो तो उसका अन्य रूपों से तादात्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में से भिन्न-भिन्न रूप एक दूसरे से भिन्न नहीं होंगे, तथा पुनः यदि रूप तत्त्व से अभिन्न हो तो रूप का तत्त्व (रूपी) से अन्तर कैसे किया जा सकता है। **तृतीय विकल्प** में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या रूपी का उसके एक रूप विशेष से तादात्म्य है और अन्य रूपों से भेद है, अथवा उसका एक ही रूप से तादात्म्य तथा भेद दोनों है?

६५१.अभेदे सहमानायोगाद् द्वयोर्हि सह भान न एकस्यैव न हि दृशैव दृक् सहभातीति भवताप्युच्यते नापि दृश्येणैव दृश्यं सह भातीति.....। --पाण्ड०, पृ० २५

प्रथम अवस्था में प्रत्येक रूप के दो रूप होने चाहिए, और उनके भी दो अन्य रूप जिनमें वे अभिन्न और भिन्न हों, और उनके दो भी रूप, इस प्रकार अनवस्थादोष की प्राप्ति होगी तथा इसी प्रकार का अनवस्थादोष रूपी एवं रूपों के मध्य सम्बन्ध में भी प्रकट होगा। इन तथ्यों से ऐसे ही अन्य कारणों से यह मानना असम्भव है कि दृक् एवं दृश्य अपने प्रत्यक्ष रूप में अभिन्न होने पर भी ब्रह्मरूप में एक और अभिन्न है।

यदि नानाविध जगत् दृक् से न तो भिन्न, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न हैं, तो उसकी स्थिति क्या है। मानसिक दृक् शुद्धप्रत्यक्ष एवं शुद्धआनन्द के सदृश ही है, तथा यदि वह नानाविध जगत् से अभिन्न अथवा भिन्न, दोनों भिन्नाभिन्न नहीं है तो नानाविध जगत् को अवश्य ही अवस्तु होना चाहिए, क्योंकि यदि उसमें कोई वस्तुत्व होता तो वह उपर्युक्त तीन सम्बन्ध प्रकारों में से किसी एक प्रकार से सम्बद्ध होता। परन्तु यदि यह अवस्तु है तो उपर्युक्त आपत्तियों में से कोई भी उस पर नहीं लग सकती। पुनः यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि जगत् अवस्तु होता तो हमारे सामान्य अनुभव एवं इस जगत् के साथ व्यावहारिक बर्ताव दोनों में व्याघात होता।

इसके प्रत्युत्तर में विमुक्तात्मा का कथन है कि जगत् को मायानिर्मित स्वीकार करने के कारण तथा माया के कार्य वस्तु अथवा अवस्तु न माने जा सकने के कारण, इस दृष्टिकोण पर कोई भी उपर्युक्त आपत्ति प्रयुक्त नहीं होगी। जगत्प्रपंच के अवस्तु होने के कारण उसको स्वीकार करना अद्वैत दृष्टिकोण व्याघात उत्पन्न नहीं कर सकता, तथा उसके अवस्तु होने के कारण अनुभव के तथ्य को भी न्यायसंगत बताया जा सकता है।[६५२] जो प्रतीति न तो वस्तु हो और न अवस्तु ही, उसके उदाहरण के रूप में स्व-प्रतीतियों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनको इस कारण से अयथार्थ नहीं माना जा सकता कि वे न तो वस्तुस्वभावी है, और न अवस्तु स्वभावी ही, अपितु इसलिए कि व्यावहारिक अनुभव में उनका व्याघात होता है। जिस प्रकार कोई पट अपने पर चित्रित चित्र का न तो उपादान होता है और न चित्र का घटक ही और जिस प्रकार चित्र को पट का विकार नहीं माना जा सकता, जैसे कि घट मिट्टी का विकार है, अथवा गुण का विकार नहीं माना जा सकता, यथा पके आम की लालिमा को माना

६५२. प्रपंचस्य वस्तुत्वाभावान्नाद्वैतहानिः अवस्तुत्वाभावाच्च प्रत्यक्षाद्यप्रामाण्यमप्युक्त-दोषाभावात्। –पाण्डु०, पृ० ६४

जाता है, तथा जिस प्रकार पट चित्र से पहले भी था एवं जिस प्रकार चित्र नहीं रह सकेगा, ठीक उसी प्रकार चिदात्मा भी इस जगत्प्रपंच से संबद्ध है जो चिदात्मा पर माया का चित्रमात्र है।[६५३]

माया भाव एवं अभाव दोनों से भिन्न रूप नहीं अपितु भाव एवं अभाव के धर्मों से युक्त के रूप में अकथ्य एवं अनिर्वचनीय है। अत: इसे अविद्या-शक्ति माना जाता है जो प्रत्यक्ष के समस्त विषयों का उपादान कारण है, तथा इसे अन्यथा जड़तत्त्व कहा जाता है। परन्तु बांसों से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार स्वयं बांसों के मूल तक का दहन कर देती है उसी प्रकार अविद्या और उसकी प्रक्रिया का परिणाम ब्रह्मज्ञान स्वयं उस अविद्या का नाश कर देता है, जिससे वह उत्पन्न हुआ था तथा उसकी प्रक्रिया एवं अन्तत: वह स्वयं निरस्त होकर ब्रह्म को स्वयं अपने प्रकाश में प्रकाशित होने देता है।[६५४] जिस प्रकार कूपखनन का अर्थ सर्वव्यापी आकाश की अवरोधक मिट्टी का हटाना है, उसी प्रकार अज्ञान अथवा अविद्या के प्रक्रियामात्र प्रमाण का कार्य स्वप्रकाश संविद् के प्रकाश को आवृत्त करने वाले अवरोध का हटाना है। अत: प्रमाणों का कार्य स्वप्रकाश संविद् की अभिव्यक्ति नहीं है वे तो आवरक अज्ञान का निराकरण ही करते हैं।[६५५] अत: ब्रह्मज्ञान का भी अर्थ अज्ञान के अन्तिम अवशेषों को दूर करना है, जिसके पश्चात् अज्ञान का अन्तिम चिह्न होने के कारण प्रत्ययात्मक ज्ञान के रूप में स्वयं ब्रह्मज्ञान भी विरत हो जाता है। अज्ञान का यह विराम स्वयं अज्ञान के सदृश ही अनिर्वचनीय है। मण्डन के असदृश, विमुक्तात्मा अविद्या को विषयीपरक मात्र नहीं मानते हैं, अपितु उसे विषयीपरक एवं विषयपरक दोनों ही मानते हैं। जिसमें न केवल दृश्यजगत् अपितु उनके सब पारस्परिक सम्बन्ध तथा यथार्थ में सम्बन्ध रहित चिदात्मा को अविद्या से सम्बद्ध मानने वाला सम्बन्ध भी सम्मिलित है।

आचार्य रामाद्वय–

आचार्य रामाद्वय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेदान्त कौमुदी' में ब्रह्मसूत्र के चार

६५३.यथा चित्रस्य भित्तिः साक्षात् नोपादानं नापिसहजं चित्रं तस्याः नाप्यवस्थान्तरं मृदिव घटादिः नापि गुणान्तरागमः आम्रस्येव रक्ततादिः न चास्या जन्मादिश्चित्रात्प्रागूर्ध्वं च भावात्....। –पाण्डु०, पृ० ७३

६५४.पाण्डु०, पृ० १३७।

६५५.पाण्डु०, पृ० १४३।

विषयों पर शांकरभाष्य की विषय वस्तु को प्रस्तुत करते हुए वेदान्ती समस्याओं का समालोचनात्मक ढंग से निरूपण किया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार निर्मेघ आकाश मेघाच्छन्न होकर नानारूपों को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार शुद्धचैतन्य, अनिर्वचनीय अविद्या से आवृत्त होकर विविध अविच्छन्न रूपों में प्रकट होता है। यही संविद् सर्वज्ञात् विषयों का तात्त्विक आधार है। जिस प्रकार उपाधिरूप ईंधन के अभाव में अग्नि-स्फुलिंग की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार समस्त विषयों का आधार भूत तत्त्व शुद्ध संविद् अपने कार्य के सहयोग के लिए उचित अवस्थाओं के अभाव में उन विषयों को प्रकाशित नहीं कर सकता।[६५६] ऐसी उपाधि शुद्ध सत्वात्मक मनस् में विद्यमान है; इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अवसर पर यह मनस् अदृष्ट से क्षुब्ध होकर स्वयं अर्थ तक पहुँचने वाली ज्योति के रूप में स्वयं को परिणत कर देता है।[६५७] शुद्धचैतन्य अन्तःकरण से उपाधियुक्त अथवा अवच्छिन्न होकर, इस प्रकार की वृत्ति द्वारा अविद्या के आवरण को हटा देता है। यद्यपि जीवात्मा के रूप में अपनी अवछिन्न अवस्था में इस अविद्या ने स्वयं अपने देह का निर्माण किया। तथा उसी वृत्ति द्वारा उसके सन्निकर्ष में आया हुआ विषय भी प्रकाशित हो जाता है। विषयी एवं विषय की दो अभिव्यक्तियाँ वहाँ एक ही वृत्ति में घटित होकर एक ही प्रत्यय यथा मुझे यह विषय विदित हुआ है 'संयुक्त हो जाते हैं, तथा उसके अन्य कार्य के रूप में, चैतन्य अन्तःकरण से अवच्छिन्न एवं प्रमा की वृत्ति के रूप में परिणत होकर प्रमाता के रूप में प्रतीत होता है।[६५८] विषय भी अभिव्यक्त होने पर एक नवीन स्थिति को ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार विषयरूप में जाना जाता है।[६५९]

रामाद्वय के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञान-प्रक्रिया के क्षणों का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से अदृष्ट अन्तःकरण को क्षुब्ध करने का अवसर प्राप्त करता है तथा उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण वृत्तिसंज्ञक एक विशिष्ट अवस्था में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण के मूल में स्थित शुद्ध चैतन्य

६५६. अपरे तु वादिनः पारमार्थिकभेव जैवं रूपमिति मन्यन्ते अस्मदीयाश्चकेचित्। रामाद्वय ब्रह्मसूत्र-शांकार भाष्य १.३.१९

६५७. वेदान्त कौमुदी और पंचपादिका-विवरण से उद्धृत।

६५८. वृत्ति लक्षणप्रभाश्रयान्तः करणावच्छिन्नस्तत्प्रभातेत्यपि व्यपदियते। वेदान्त कौ०.... पाण्डु०, पृ० ३६

६५९. 'कर्म कारकाभिव्यक्तं च तत्प्रकाशात्मना फलव्यापदेशभाक्''। वेदान्त कौमुदी-पाण्डुलिपि की लिप्यन्तरित प्रतिलिपि, पृ० २८

मानो मलिन एवं आवृत्त अवस्था में स्थित था, तथा अन्तःकरण के वृत्ति में परिणत होते ही चैतन्य उज्ज्वल होकर अपने आवरक-आवरण को क्षणभर के लिए भेद डालता है। अतः वृत्ति मूलगत चैतन्य को और अधिक आवृत्त नहीं रख पाती, अपितु जिस विषय पर वृत्ति का अध्यास है उस विषय पर वह चैतन्य के प्रकाश के पारदर्शक वाहक का कार्य करती है और उसके परिणामस्वरूप विषय की विषयपरक अभिव्यक्ति होती है। अब, चैतन्य की विषयपरक उज्ज्वलता एवं विषय के विषयपरक प्रकाश का वृत्ति द्वारा संश्लेष होने के कारण इन दोनों का संश्लेष हो जाता है। तथा उसका परिणाम होता है, 'यह विषय मुझे विदित है', इस ज्ञान के कारण वृत्ति में परिणत अहंकार द्वारा अवच्छिन्न मूलगत चैतन्य के रूप में ज्ञाता एवं विषयपरक रूप से प्रकाशित ज्ञेय का भेद करना सम्भव है।

वेदान्त परिभाषा में **प्रमातृ चैतन्य** (अन्तःकरण का उपाधियुक्त चैतन्य) **प्रमाण चैतन्य** (अन्तःकरण की वृत्ति की उपाधि से युक्त वही चैतन्य) तथा **विषय चैतन्य** (विषय की उपाधि से युक्त वही चैतन्य) इन तीन चैतन्यों का अवलोकन किया गया है।

''वेदान्त कौमुदी'' की मान्यताओं को किसी भी अर्थ में मौलिक नहीं माना जा सकता क्योंकि वे पद्मपाद कृत 'पंचपादिका' तथा प्रकाशात्मा कृत 'पंचपादिका विवरण' में वर्णित विषयों की व्याख्या मात्र है। प्रत्यक्ष के सम्पूर्ण सिद्धान्त के विकास का श्रेय 'पंचपादिका विवरण' को दिया जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्धान्त के समस्त सारभूत विषयों का अवलोकन उस कृति में किया जा सकता है। अतः इसके अनुसार समस्त सांसारिक विषय अविद्या से आवृत्त है, जैसे-जैसे विषयों पर अध्यास के कारण अन्तःकरण की अवस्थाओं में परिणति होती है, वैसे-वैसे मूलगत चैतन्य द्वारा वह प्रकाशित होता जाता है, तथा विषयों के साथ देशीय सम्पर्क के द्वारा ये अन्तःकरण परिणितियाँ विषयों के आवरण को हटा देती हैं, अतः दो प्रकाशन होते हैं; अन्तःकरण परिणितियों का तथा शुद्धचैतन्य का, विषय के मूलगत चैतन्य और अन्तःकरण के मूलगत चैतन्य के ऐक्य होने पर प्रत्यक्षगत द्वैत (यथाः मैं पुस्तक का प्रत्यक्ष करता हूँ और मैं पुस्तक हूँ और केवल 'मैं पुस्तक हूँ रूप की ही तीनों चैतन्यों' के ऐक्य से अपेक्षा की जा सकती है, कि व्याख्या की आवश्यकता नहीं रहने के प्रश्न के उत्तर में प्रकाशात्मा का कथन है कि अन्तःकरण चैतन्य के साथ विषय-चैतन्य का ऐक्य

अन्तःकरण की वृत्ति अथवा विकार द्वारा प्रतिपादित होने के कारण तथा अन्तःकरण का उसकी वृत्ति के साथ ऐक्य होने के कारण, वृत्ति के व्यापार को अन्तःकरण का कारक मानना उचित है।[६६०]

समालोचना

'अद्वैतवेदान्त' दर्शन की परम्परा को दो भागों में विभाजित करके अवलोकित किया जा सकता है। जिसमें वेदान्त दर्शन, वेद एवं उपनिषदों को सम्मिलित किया जा सकता है, यह परम्परा वेदों से लेकर षड्दर्शन तक मानी जाती है। वस्तुतः भारतीय दर्शन परम्परा में जगत् के मूल कारणों को लेकर निम्नलिखित रूप में माना गया है–

१. जड़कारणवाद, २. चेतनकारणवाद, ३. यथास्थितिवाद, ४. उभयकारणवाद।

१. जड़कारणवाद के अनुसार अखिल ब्रह्माण्ड का अन्तिम कारण जड़ तत्त्व एवं प्रकृति को माना जाता है। यूरोप के मैटीरियलिस्ट अर्थात् प्रकृतिवादी इसी मत को मानते हैं। भारत में चार्वाक इसी अवधारणा को मान्यता देते हैं। इस विचारधारा के अनुसार विश्व की समस्त रचना का मूल कारण एक मात्र प्रकृति या मैटर ही है। प्रकृति के परमाणुओं में स्वाभाविक गति, संयोग और विभाग विद्यमान है। इन संयोग एवं विभाग तथा गति के कारण विश्व के समस्त पदार्थ स्वयं निर्मित होते रहते हैं और ध्वंसता को प्राप्त होते रहते हैं। इन जड़परमाणुओं के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड का कोई चेतन कारण नहीं है। इस दार्शनिक मान्यता के अनुसार विश्वसंरचना में ईश्वर और जीवात्मा चेतन प्रत्ययों को मानने की आवश्यकता नहीं है। जिसे जीव माना जाता है।

२. केवल चेतनकारणवादी दार्शनिक आचार्य इस समस्त ब्रह्माण्ड की व्याख्या केवल चेतनतत्त्व को विश्व का मूलकारण मानकर करने का प्रयास करते हैं। इस सम्प्रदाय के अनेक भेद माने जा सकते हैं। ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती विद्वान् केवल ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं। यह दार्शनिक सम्प्रदाय प्राकृतिक पदार्थों पारमार्थिक अथवा वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। इनको वे केवल व्यावहारिक सत्ता मानते हैं। इनकी मान्यता है कि जीव की भी पृथक् पारमार्थिक एवं वास्तविक सत्ता नहीं है। वह भी भ्रमजनित और अविद्यायुक्त सत्ता

६६०. देखिए–पंचपादिका विवरण पृ०, ७०, तथा तत्त्वदीपन, पृ० २५६–५९, बनारस १९०२।

है। इनका कहना है कि समस्त विश्व प्रपञ्च यथार्थ में है ही नहीं, यह सब कुछ भ्रम है या स्वप्न है। पारमार्थिक या वास्तविक सत्ता पर बल नहीं है। चेतन कारणवादियों का एक सम्प्रदाय ब्रह्म की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करता और उसके साथ प्रकृति से निर्मित प्राकृतिक पदार्थों की सत्ता को भी नहीं मानता है। यह सम्प्रदाय केवल मन और उसको सतत प्रकट मान चेतनाधारा को स्वीकार करता है। ये मानते हैं कि कोई स्थिर मन या शरीर या जीव भी नहीं है। ये मानते हैं कि किसी क्षण का हमारा जो विचार है वही हमारा मन या जीव है, क्षण-क्षण में नये मन बनते रहते हैं। क्षण-क्षण में नये मन बनते रहने पर भी इनमें एक प्रकार की वासना के कारण एकता की प्रतीति होती है। जिनके कारण हम वही हैं, ऐसा हमें अनुभव होता रहता है। इसी प्रकार क्षण-क्षण में उत्पन्न अन्य पदार्थों की स्थिति को भी समझना चाहिए। ये पदार्थ भी समता के कारण एक प्रतीत होते हैं इनका भी वास्तविक रूप में अस्तित्व नहीं है। भारत में बौद्ध दार्शनिकों की ऐसी ही अवधारणा है। पाश्चात्य दार्शनिकों में ह्यूम आदि दार्शनिकों की भी इस प्रकार की मान्यता है।

३. यथास्थितिवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि यह समस्त विश्व जैसा दृष्टिगोचर हो रहा है, वैसा ही सदा से चला आ रहा है। इसका न कभी निर्माण होता है और न कभी विनाश होता है। इनके अनुसार सृष्टिकर्ता कोई ईश्वर नहीं है। ये दार्शनिक जगत् के पदार्थों और जीवात्माओं के अस्तित्व को मान्यता देते हैं।

४. उभयकारणवादी दार्शनिकों की मान्यता उक्त तीनों प्रकार के दार्शनिकों से भिन्न प्रकार की है। ये लोग किसी एक पदार्थ को जगत् का मूल कारण स्वीकार करने से जगत् की पहेली सुलझ सकती है ऐसा नहीं मानते। इनके अनुसार तीन मूल तत्त्वों को जगत् का कारण मानकर ही जगत्प्रपंच की पहेली का समाधान हो सकता है। जगत् में जितने स्थूल भौतिक पदार्थ दिखाई देते हैं उनका उपादान कारण या सामग्री प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं के विभिन्न संयोग विभागों द्वारा परमात्मा इन स्थूल भौतिक पदार्थों का निर्माण करता है, परमात्मा निमित्तकारण है। निमित्तकारण परमात्माउपादान कारण प्रकृति के परमाणुओं से जगत् के पदार्थों की रचना करते हैं। और जगत् की रचना परमात्मा द्वारा जीवात्माओं को उनके शुभाशुभ कर्मों का फल भोग कराने के लिए ही की जाती है। अतः निमित्तकारण ब्रह्म, उपादानकारण प्रकृति और साधारणकारण जीवात्मा है।

इस उभय कारणवाद को मानने वाले दार्शनिक विश्व के भौतिक पदार्थों को सत्य और वास्तविक मानते हैं। इन्हें मिथ्या और अविद्या एवं भ्रम से जनित स्वप्नरूप नहीं मानते हैं वे उनकी पारमार्थिक रूप में सत्ता स्वीकार करते हैं।

यह निर्विवाद माना जाता है कि दार्शनिक ऐतिहासिक क्रम वेद, उपनिषद् एवं ब्राह्मण और षड्दर्शन। इस परम्परा में द्वैतवाद को माना गया है। इस का अभिप्राय यह है कि नित्य एवं अनादि सत्ताएं एक से अधिक हैं। द्वैतवाद का अर्थ दो और दो से अधिक भी सत्ताएं मानी जाती हैं, जैसे न्यायदर्शन ईश्वर, जीव और परमाणु की सत्ता को नित्य एवं अनादि मानता है। यदि हम सत्य के आलोक में अनवेषण करें तो सहज रूप में इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अद्वैतवेदान्त की अवधारणा बौद्धदर्शन के पश्चात् प्रारम्भ हुई सी प्रतीत होती है। बौद्धदर्शन में चेतन सत्ता को अस्वीकार किया, उसके पश्चात् गौड़पाद आचार्य ने वैतथ्य कहकर जड़ की सत्ता को पूर्ण रूपेण नकार दिया।

जागतिक प्रपंच की व्याख्या जो बौद्धदर्शन के आचार्यों ने की है, अद्वैत-वेदान्त के आचार्य भी उनका प्रत्याख्यान करते हुए लगभग बौद्धदर्शन के समीप पहुँच गये थे। भेद केवल चेतन और जड़ का रह गया था। यद्यपि आचार्य शंकर ने अपने दादा गुरु गौड़पाद के दर्शन को यथार्थ रूप देने के लिए तीन प्रकार की सत्ताओं को स्वीकार किया। इन सत्ताओं को अनादि तो माना परन्तु जीवात्मा और प्रकृति को नित्य नहीं माना है, यहाँ पर यह स्पष्ट करना अपेक्षित है कि अद्वैतवेदान्त में प्रायः करके जागतिक प्रपंच को सिद्ध अथवा असिद्ध करने के लिए प्रातिभाषिक वस्तुओं का तर्क प्रस्तुत किया है। जैसे रज्जु में सर्प की उत्पत्ति के दृष्टान्त से जागतिक वस्तुओं की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। वस्तुतः रज्जु से कभी भी सर्प की उत्पत्ति होती ही नहीं है। यह केवल सादृश्य मूलक अज्ञान होता है। जब कि आचार्य शंकर जागतिक वस्तुओं को व्यावहारिक सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः वे प्रकृति को अर्थात् माया को अनादि तो मानते हैं नित्य नहीं मानते। जब कि कोई भी भावात्मक वस्तु यदि अनादि है तो वह नित्य भी होती है। इसलिए भावात्मक वस्तुओं की सिद्धि तथा प्रत्याख्यान अभावात्मक वस्तुओं के दृष्टान्त से नहीं करना चाहिए। जैसे-अपने मत को सिद्ध करते हुए अद्वैतवेदान्त के आचार्य अनादि हो और नित्य नहीं हो। इसको प्रागभाव से सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, जबकि माया अभावात्मक नहीं है।

अतः प्रस्तुत प्रसंग में बौद्धदर्शन और अद्वैतवेदान्त के कुछ दार्शनिक तत्त्वों

की तुलना करना आवश्यक है—वसुबन्धु के इस विज्ञानवाद के अनुसार अखिल प्रपंच अपनी अन्तर्निहित गतिशीलता के कारण चैतन्य के मूल तत्त्व के विकार हैं एवं हमारे कोई भी ज्ञान के विषय ऐसे किसी बाह्यविषय द्वारा उत्पाद्य नहीं है जिनका अस्तित्व हमसे बाह्य प्रतीत होकर हमारे विचारों की उत्पत्ति का कारण हो। जिस प्रकार स्वप्न में बाह्य विषय के अभाव में स्वप्न द्रष्टा विभिन्न स्थानों एवं देशों में विभिन्न विषयों का अनुभव करता है, अथवा जिस प्रकार स्वप्न में कई लोग इकट्ठा होकर कई प्रकार के कार्य किया करते हैं, उसी प्रकार जो तथ्यात्मक एवं बाह्य विषयात्मक वास्तविक जगत् प्रतीत होता है वह बिना किसी विषयात्मक आधार के चैतन्य के तत्त्व की सृष्टि मात्र है। जो कुछ हम वस्तुपरक अथवा आत्मपरक के रूप में जानते हैं वह केवल विज्ञप्ति मात्र है एवं उसके अनुरूप कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सन्तों द्वारा अनुभूत शुद्ध अनिर्देश्य विज्ञान भी मिथ्या है।[६६१]

सम्भवत: एक पदार्थ की प्रतीति किसी अन्य पदार्थ की प्रतीति का कारण हो एवं वह आगे चलकर पुन: किसी अन्य का कारण हो, परन्तु ऐसी सब अवस्थाओं में जहाँ प्रतीतियाँ अर्थवती होती हैं वहाँ उनके द्वारा सत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं होता, परन्तु इसका अर्थ स्वयं शुद्ध ज्ञान अथवा चैतन्य के अभाव के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए।

वसुबन्धु ने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि वस्तुपरक जगत् के अस्तित्व का प्रत्यक्षात्मक अनुभव पर विश्वास नहीं किया जा सकता। वे कहते हैं कि दृष्टिजन्य प्रत्यक्षीकरण के उदाहरण को लेकर हम अपने आप से पूछे कि क्या दृष्टिजन्य प्रत्यक्षीकरण के विषयपूर्ण इकाई के रूप में एक हैं अथवा परमाणुओं के रूप में अनेक है, वे केवल पूर्ण इकाइयाँ मात्र नहीं हो सकते, क्योंकि पूर्ण इकाइयों में अवयव अन्तर्निहित हैं, उनका स्वरूप अणु के सदृश भी नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार के परमाणु का पृथक् प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता, उनका स्वरूप परमाणुसंहति के रूप में भी नहीं है, क्योंकि परमाणुओं का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता[६६२] क्योंकि यदि छ: परमाणुओं का समुच्चय

६६१.यो बालै: धर्माणां स्वभावो ग्राह्य-ग्राहकादि परिकल्पित, तेन कल्पितेन आत्मा तेषां नैरात्म्यं न तु अनभिलप्येन आत्मना यो बुद्धानां विषय इति।

—विशंतिकाभाष्य, पृ० ६

६६२.नापि ते संहता विषयीभवन्ति, यस्मात् परमाणुरेकम् द्रव्यं न सिद्ध्यति।

—विशंतिक पर टीका, पृ० ७

छः ओर से हो तो उसका अर्थ है कि परमाणुओं के खण्ड है, अब यदि छः परमाणु एक दूसरे से एक ही बिन्दु पर संहत होते हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि संहत समूह का आकार एक परमाणु के आकार से बड़ा नहीं होगा, अतः वह अदृश्य होगा। पुनः यदि प्रत्येतव्य एवं प्रत्यक्षीकरण के विषय केवल पूर्ण ही होते तो अनुक्रम एवं तारतम्य अवर्णनीय होता तथा पृथक् एवं असम्बद्ध पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण दुर्ज्ञेय रहता। अतः प्रत्यक्षीकरण द्वारा उनकी वस्तुपरक सत्ता का विश्वास दिलाने पर भी उनका वास्तविक विषयात्मक अस्तित्व नहीं है।[६६३]

लोग वितथ विकल्पाभ्यास-वासना रूपी निद्रा द्वारा प्रपंचात्मक जगत् के स्वप्न का अनुभव करते हैं एवं अपने स्वप्न में ही वे विषयात्मक जगत् की सृष्टि करते हैं, जब वे लोकोत्तर निर्विकल्प ज्ञान के लाभ से प्रबुद्ध होते हैं तभी उन्हें जगत् रचना नाना-रूपात्मक प्रतीतियों की स्वप्न-सृष्टि की तरह मिथ्या लगती है। इस प्रकार के मत में विषयात्मक जड़ जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है एवं हमारे ज्ञान बाह्य विषयों द्वारा प्रभावित नहीं होते, तब हमारे मन शुभ उपदेशों एवं सम्पर्क से कैसे प्रभावित होते हैं।[६६४] किसी भी वास्तविक भौतिक शरीर की अनुपस्थिति में किस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे की हत्या कर सकता है? वसुबन्धु इसकी व्याख्या इस सिद्धान्त द्वारा करते हैं कि एक व्यक्ति की विचारतरंगें कभी-कभी दूसरे व्यक्ति की विचार-तरंगों को निर्धारित करती हैं। अतः आघातविशेष की विज्ञप्ति दूसरे की जीवितेन्द्रिय के विरोध द्वारा ऐसा विकार उत्पन्न कर सकती हैं कि उससे विचार-प्रक्रिया का सातत्य विच्छिन्न हो जाए, इसे ही मरण कहते हैं। इसी प्रकार एक व्यक्ति के शुभ विचार दूसरे व्यक्ति के विचारों को शुभ कार्य के लिए प्रभावित करते हैं।

वसुबन्धु ने इस विज्ञानवाद को अधिक स्पष्टता से समझाया है तथा कहा है कि आत्मा (ज्ञाता) एवं आत्मपरक विचारों के रूप में अथवा बाह्य जगत् में विद्यमान विषयों के रूप में इसके ज्ञेय पदार्थ विज्ञान-परिणाम मात्र है। विज्ञान-परिणाम का अर्थ कारण क्षण के विरोध के साथ-साथ कारण-क्षण से विलक्षण कार्य का आत्मलाभ है।[६६५] विज्ञान में न तो ब्रह्मत्व है और न आत्मत्व, अपितु ये

---

६६३. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, एस० एन० दासगुप्ता, पृ० १९-२०।

६६४. पर-विज्ञप्ति-विशेषाधिपत्यात् परेषां जीवतेन्द्रिय-विरोधिनी काचित् विक्रिया उत्पद्यते यया सभाग संतति-विच्छेदाख्यं मरणं भवति। विंशति पर टीका, पृ० १०।

६६५. कारण-क्षण-निरोध-सम-कालः कारण-क्षण-विलक्षण-कार्यस्य आत्मलाभः परिणामः। (त्रिंशिका पर स्थिरयति की टीका, पृ० १६)

धर्म और आत्मपरकता तो उसमें परिकल्पित हैं। समस्त दोषपूर्ण परि- कल्पनाओं में एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व आवश्यक है, जिसमें किसी अन्य वस्तु का भ्रम हो। केवल निराधार शून्य में दोषपूर्ण परिकल्पना असम्भव है, अतः यह मानना ही पड़ेगा कि ये आत्मा इत्यादि विविध प्रकार के धर्म दोषपूर्ण परिकल्पनाएं विज्ञान पर आधारित हैं।[६६६] वसुबन्धु एवं स्थिरमति दोनों ही उन अति-विज्ञानवादियों के मत का खण्डन करते हैं।[६६७]

वस्तुबन्धु के मन में विज्ञप्तिमात्रता ही परम सत्य है। यह विज्ञप्तिमात्रता स्थाई सत्ता है जो अपनी स्वाभाविक शक्ति द्वारा अनिर्णय आन्तरिक विपाक के रूप में तीन प्रकार के परिणामों में परिणत होती है, जो आगे चलकर पुनः मनन एवं विषय-विज्ञप्ति के रूप में परिणत होती है। द्रष्ट-दृश्य के द्वैत में ज्ञाता एवं ज्ञेय के रूप में समस्त प्रपंचों अथवा धर्मों का ज्ञान विपाक, मनन एवं विषय-विज्ञप्ति, इन तीनों परिणामों के कारण होता है। इन सब विकारों के वशीभूत यह विज्ञप्ति मात्र अपने विकृत परिणामों में 'आलय विज्ञान' कहलाता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण अनुभवों का भण्डार है। विज्ञप्ति का चरम तत्त्व अक्षय एवं नित्यत्व के कारण नित्य माना जाता है, जिसका फल सुख है, क्योंकि जो अनित्य है, वह दुःख है एवं यह नित्य होने के कारण सुख है।[६६८] जब बुद्ध का मन इस विज्ञप्ति मात्र में प्रतिष्ठित हो जाता है तब ग्राह्य-ग्राहकानुराग के द्वैत की प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है तथा शुद्ध निर्विकल्प एवं लोकोत्तर विज्ञप्ति का उदय होता है। यह वह स्थिति है जहाँ चरम विज्ञप्तिमात्रता अपने परिणामों से लौट आती है एवं स्वयं में स्थित रहती है। यह सम्पूर्ण क्लेश अथवा दुष्प्रवृत्तियों के स्पर्श से मुक्त हो जाती है; अतः इसे अनास्रव कहते हैं। यह अनिवार्य एवं अनिर्देश्य है, क्योंकि एक ओर यह आवरण-रहित होने के कारण प्रत्यात्म-वेद्य एवं सर्वज्ञाता है तथा दूसरी ओर यह स्वयं में अलौकिक है।[६६९] यह विज्ञप्तिमात्रता सर्व-बीज का धारक

६६६.उपचारस्य च निराधारस्यासम्भवाद् अवश्यं विज्ञान-परिणामो.....प्रवर्त्तते। 'न निरास्पदा मृगतृष्णिकादयः' (शंकर द्वारा-गौड़पाद कारि० टीका से तुलना) (वही, पृ० १६)

६६७.इस प्रकार बौद्ध विज्ञानवाद पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'लंकावतार' आलय विज्ञान के वास्तविक परिणाम का निषेध करता है। ''लंकावतार'' देखिए-पृ०४६

६६८.ध्रुवो नित्यत्वाद् क्षयतया सुखो नित्यत्वादेवं यदनित्यम् तद् दुःखं अयं च नित्य इति अस्मात् सुखः। (त्रिंशि० पर स्थिरमति की टीका, पृ० ४४)

६६९.महामुनिः भूमि-पारमितादिभावनया क्लेश ज्ञेयावरण-प्रहाणात्.....काल इत्युच्येत्। (वही, पृ० ४४)

कहलाती हैं एवं जब इसके प्रथम निर्विकल्प तथा अनिर्वचनीय परिणाम मानस प्रक्रियाएं एवं उसके परिणामस्वरूप इन्द्रिय प्रत्यक्षीकरण को उत्पन्न करते हैं तब ये एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया एवं प्रतिक्रिया करते हैं तथा इस प्रकार शृंखलाएं बार-बार उत्पन्न होती हैं और एक दूसरे का निर्धारण करती है। ये परिणाम सागर की उन तरंगों के समान है, जहाँ एक तरंग दूसरी तरंगों का कारण और फल दोनों ही है।[६७०]

इस मत के अनुसार विज्ञान को सत्द्रव्य समझा जाता है, एवं उसके परिणामों को भी सत् ही माना गया है, ये परिणाम ही आत्मा और धर्मोपचार के रूप में प्रकाशित होते हैं।[६७१] एक प्रकार से विपाक संज्ञक प्रथम प्रकार के परिणाम अन्य उन दो परिणामों के अधिष्ठान है, जिनमें निर्विकल्प द्रव्य वर्तमान है और जिसके द्वारा अन्य दो परिणाम प्रकाशित होते हैं, परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपरोक्त तीन प्रकार के परिणाम पुनः परस्पर एक दूसरे का निर्धारण करते हैं, विपाक परिणामों में ज्ञाताओं के रूप में आत्माओं के विकल्प-वासनाओं के रूप, शब्द इत्यादि विकल्प-वासनाओं के इन द्विविध विकल्प-वासनाओं के मूल आश्रय के तथा स्थान विज्ञप्ति अथवा भाजन-लोक-सन्निवेश-विज्ञप्ति के बीज होते हैं। वे एक अन्य प्रकार से इन्द्रिय विकारों से भी सम्बद्ध हैं, जिनमें इन्द्रिय, विषय और ज्ञान का त्रिक पुनः इन त्रिकों में से प्रत्येक त्रिक अन्य दो संघटकों के प्रभाव रूप के अनुरूप एक विशिष्ट क्रियात्मक रूप से व्यक्तिशः अनुरूप्य सम्बन्ध से सम्बद्ध है। मनस्कार, संज्ञा, चेतना और वेदना होते हैं।

विपाकपरिणाम अपरिच्छन्नालम्बनाकार है और इनमें रागद्वेष इत्यादि की कार्यरूपा संवेगात्मक अवस्थाएं नहीं होती हैं जो वास्तविक सुखमय अथवा दुःखमय वेदनाओं से युक्त हैं। अतः विपाक परिणामों से हम अविकल्प ग्राह्य-ग्राहकता की चेतना उसकी प्रक्रियाओं की समस्त संभाव्यताओं संहित मन एवं उसके मुख्य कार्यों की मूल भूत धारणाओं को प्राप्त करते हैं। इनमें ही द्रष्टा के रूप में आत्माओं की सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ, शब्दरूप आदि की विषयगत सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ इन्द्रिय सामर्थ्य, इत्यादि, मनस्कार वेदना, संज्ञा चेतना और इन्द्रिय व्यापार हैं। परन्तु इनमें किसी का भी निश्चित एवं वास्तविक आकार नहीं है। मननसंज्ञक द्वितीय प्रकार के परिणाम नैतिक और अनैतिक संवेगों के

---

६७०. सच्चा वर्त्तते स्रोतसौधवत्। (त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० २१)

६७१. अवश्यं विज्ञानपरिणामो वस्तुतोऽस्ति उपगन्तव्यो यत्रात्मधर्मोपचारः प्रवर्त्तते। (वही, पृ० २१)

वास्तविक विकास को प्रस्तुत करते हैं। इन्हीं परिणामों में मानसिक तत्त्वों के अविद्यापूर्ण सन्दर्भों के द्वारा मन आत्मा के रूप में गतिशील होता है और आत्मा के विषय में इस अज्ञता के कारण आत्मस्नेह और आत्ममान का उदय होता है। पुनः ये सन्दर्भ इन्द्रिय-व्यापार, वेदना, मनस्कार, चेतना एवं संज्ञा की विश्वजनीन पंचविध जातियों से सम्बद्ध है। तत्पश्चात् परिणामों की तीसरी श्रेणी आती है जो ठोस इन्द्रिय प्रत्यक्षों की विशेष वृत्तियों एवं विभिन्न प्रकार की बौद्धिक चैतन्य अवस्थाओं तथा नैतिक और अनैतिक मानसिक अवस्थाओं, यथा विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय-अनुभवों की इच्छा प्रत्यक्ष एवं तर्क आदि द्वारा दृढ़ता से स्थापित निष्कर्षों में अभिमोक्ष, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, श्रद्धा ही आदि के साथ-साथ पंचविध विश्वजनीन जातियों से सम्बद्ध है। इन तीनों प्रकार के परिणामों को 'आलयविज्ञान' की संज्ञा दी गई है, परन्तु इनके नीचे ग्राहक आधार के रूप में शाश्वत और अविकारी विज्ञप्तिमात्रता विद्यमान है।

आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान करते हुए कहा हे कि अवयव रहित अणुओं द्वारा निर्मित बाह्य-जगत् की असम्भावना के विरुद्ध विध्यात्मक युक्तियाँ एक सी है।[६७२] परन्तु विज्ञानवादियों की ओर से पुनः यह युक्ति दी जाती है कि स्तम्भ, भित्ति अथवा घट या वस्त्र के प्रतीति-ज्ञान का तात्पर्य यह है कि ये व्यक्तिगत प्रतीतियाँ स्वरूपतः परस्पर एक दूसरे से भिन्न है, जिसके परिणामस्वरूप विषयों का स्वरूप उन्हीं विशिष्ट प्रत्ययों का होता है, जिनके द्वारा हमें उनका ज्ञान होता है एवं ऐसी अवस्था में बाह्य विषयात्मक जगत् की कल्पना अनावश्यक हो जाती है। इसके अतिरिक्त विषय एवं विषयप्रत्यय को एक ही क्षण में ग्रहण करने का तथ्य यह सिद्ध करता है कि विषय एवं प्रत्यय दोनों उसी प्रकार एकरूप होते हैं, जैसे चन्द्रमा के साथ उसी समय में प्रत्यक्षीकृत मिथ्या चंद्र एक रूप हो।[६७३]

उन दोनों में से एक का प्रत्यक्षीकरण न होने की अवस्था में दूसरे का भी प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। यदि वे स्वरूपतः अलग-अलग एवं भिन्न है तो उन दोनों में इस प्रकार के एक से एवं अपरिवर्तन सम्बन्ध होने का क्या कारण है? हमारे प्रत्यय वैविध्य का कारण उन बाह्य विषयों की विविधता नहीं है जिन्हें

६७२.ब्रह्मसूत्र-२८ पर भामती टीका।

६७३.सहोपलम्भनियमादभेदो नील-तद्धयो भेदश्च भ्रान्ति विज्ञानैः दृश्येतेन्दाविवाद्वये। यह उपमा वाचस्पति द्वारा संभवतः दिङ्नाग के उद्धरण से दी गई है।

साधारणतया उनका उत्पादक माना जाता है बल्कि उनका कारण मूल प्रवृत्यात्मक अवचेतन आधारों (वासना) की अनादि अनेकता है जो निद्रा के समय स्वप्नों की उत्पत्ति के समान ही जाग्रतावस्था में हमारे सब प्रत्ययों को उत्पन्न करती है, जिस प्रकार स्वप्न को उत्पन्न करने के लिए बाह्य विषयों की अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार बिना किसी बाह्य वास्तविक विषय के सब प्रत्यय उत्पन्न होते हैं क्योंकि प्रत्ययों के रूप में स्वप्नप्रत्यय एवं जाग्रतप्रत्यय उत्पन्न होते हैं क्योंकि प्रत्ययों के रूप में स्वप्नप्रत्यय एवं जाग्रतप्रत्यय में कोई भेद नहीं हैं। परन्तु दोनों अवस्थाओं में वासना रहती है जिसके बिना जाग्रतावस्था अथवा स्वप्नावस्था में उत्पन्न नहीं हो सकते; अतः प्रत्ययों के उत्पन्न होने की ये सब अवस्थाएं उनके सर्वदा उपस्थित होने के कारण सब प्रत्ययों के कारण है।

उक्त स्थिति का खण्डन करते हुए शंकर कहते हैं कि इस प्रकार का मत अमान्य है, क्योंकि यह विषय एवं विषयी को विज्ञान से भिन्न बताने वाले हमारे अनुभव अपरोक्ष अवगति होती है, तथा अवगति एवं ज्ञान-विषय अभिन्न नहीं हैं। हमारा ज्ञान स्वयं यह बताता है कि वह ज्ञेय से भिन्न है। स्तम्भ ज्ञान और स्तम्भ एक नहीं है बल्कि स्तम्भ तो केवल स्तम्भ ज्ञान का विषय है। बाह्य विषयों के निषेध में बौद्ध अध्यात्मवादियों का कथन है कि जो केवल अन्तर्ज्ञेय है उसका वहिर्वद् अवभास होता है,[६७४] इस पर शंकर इस प्रकार की युक्ति देते हैं।

यदि बाह्यत्व निरपेक्ष रूप से असत् है तो किस प्रकार कोई इन्द्रियज्ञान बाह्यरूप में भासित हो सकता है? विष्णुमित्र बंध्यापुत्र नहीं हो सकता।

पुनः प्रत्यय एवं उसके विषय का एक ही आकार होने के तथ्य का अर्थ यह नहीं है कि विषय की कोई सत्ता नहीं, बल्कि यदि विषय का अस्तित्व नहीं होता तो प्रत्यय का आकार तदनुरूप विषय का ही कैसे होता? पुनः यह उक्ति मिथ्या है कि कोई दो वस्तुएं एकरूप होती हैं, क्योंकि यदि विषय एवं उसके ज्ञान को युगपत-ग्रहण किया जाए तो एक का ग्रहण दूसरे के साथ-साथ होने का तथ्य ही यह बताता है कि दोनों एकरूप नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त

६७४.शंकर का कथन है–यदन्तर ज्ञेय-रूपं तद् बहिर्वदवभासते' दिङ्नाग से उद्धृत किया गया दिङ्नाग का श्लोक जैसा कमलशील ने तत्त्व संग्रह के अपने भाष्य में उद्धृत–

यदन्तर-ज्ञेय रूपं तु वहिर्वदवभासते,
सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात्, तत् प्रत्ययत्यापि च॥

हमारे नील, पीत, घट अथवा भित्ति के समस्त ज्ञान में ज्ञेय विषयों के विशेषक अथवा निरूपक तत्त्वों में भेद होता है; ज्ञान स्वयं तो एकसा ही रहता है।

जिस प्रकार शुभ्रत्व एवं कृष्णत्व किसी गाय का गुण हो सकता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञेय के विषय भी ज्ञान में आरोपित बाह्य गुणों के सदृश होते हैं, अतः किसी व्यक्ति के नील, रक्त अथवा पीत को देखने का यह अर्थ है कि प्रत्यक्षीकरण का भेद विषय-भेद के कारण होता है—स्वयं स्वयं विज्ञान के कारण कोई भेद नहीं। अतः ज्ञान होने के कारण स्वभावतः विषयों से भिन्न हैं जो अनेक हैं, विषयों की अनेकता के कारण वे उस ज्ञान से भिन्न है जो एक है। विज्ञान एक है एवं वह विषयों से भिन्न है जो अनेक है।[६७५] इसके अतिरिक्त जगत् प्रपंच की स्वप्न के साम्य से व्याख्या करने का तर्क भी अयुक्त है, क्योंकि सांसारिक विषयों एवं स्वप्न से व्याख्या के हमारे ज्ञान में महान् भेद हैं—जाग्रतअनुभव द्वारा स्वप्नानुभवों का बांध होता है, परन्तु जाग्रत अनुभवों का कदापि बाध नहीं होता।

यहाँ पर शंकर के कथनों में परस्पर विरोधी बातों का संकेत मिलता है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि उन्होंने गौड़पाद कारिका पर लिखे गए अपने भाष्य में स्वप्नानुभव के विषयों की अविद्यमानता के सादृश्य पर जागदानुभव के विषयों के अनस्तित्व पर अत्यन्त शक्तिशाली प्रमाण दिया था। शान्तरक्षित एवं कमलशील शांकर मत के समान ही इस मत (अर्थात् चैतन्य एवं अविकारी है तथा सब विषय परिवर्तनशील है; परन्तु विषय-परिवर्तन का अर्थ स्वयं चैतन्य में किसी प्रकार का विकार नहीं होता) का खण्डन करते हुए यह प्रमाण देते हैं कि यदि ऐसा होता तो विषयों को प्रकट करने वाले चैतन्य के स्थाई एवं अविकारी होने के कारण वर्ण, ध्वनि इत्यादि विभिन्न प्रकार के इन्द्रियगम्य विषयों का ज्ञान एक ही तथा उसी समय होता है।[६७६]

अतः कमलशील के मतानुसार चैतन्य अविकारी एवं एक नहीं है, अपितु इन्द्रिय गम्य विषयों के केवल विकारी प्रत्यय होते हैं एवं प्रत्येक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय से भिन्न होता है जो उसका यथा समय अनुसरण करता है। चैतन्य को एक बताने तथा केवल विषयों की ही अनेकता बताने का शांकरमत स्वच्छन्द

---

६७५. द्वाभ्यां च भेद एकस्य सिद्धो भवति एकस्माच्च द्वयोः, तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः। शांकर भाष्य-२.२.२६, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई, १९०४।

६७६. तद्यदि नित्यैक ज्ञान-प्रतिभासात्मिका अभी शब्दायः। तत्त्व संग्रह श्लोक-३३१, पर कमलशील का भाष्य।

अपकर्षण के कारण पार्थक्य पर आधारित है। यदि गौड़पादकारिका पर लिखे गए भाष्य को शंकर की कृति माना जाए तो यह कहा जा सकता है कि जब शंकर ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिख रहे थे तब उनके मत में कुछ परिवर्तन हो चुका था, क्योंकि गौड़पाद-कारिका के भाष्य में वह बार-बार इस दृष्टिकोण पर बल देते हुए प्रतीत होते हैं कि जाग्रतावस्था के प्रत्यक्षीकृत विषय स्वप्नानुभव के विषयों के सदृश असत् एवं मिथ्या है। उनका यथार्थवाद इसी निश्चयात्मक कथन में है कि जाग्रत यथार्थ ब्रह्म पर मिथ्या भ्रमात्मक आरोपण का परिणाम है, क्योंकि मृगतृष्णा आदि भ्रमों के लिए किसी अधिष्ठान की आवश्यकता होनी चाहिए, जिन पर वे आरोपित किए जाएं। परन्तु ब्रह्मसूत्र पर लिखे गये महाभाष्य में इन्द्रिय-विषयात्मक जगत् का एक ऐसे प्रकार का अस्तित्व है जो व्यक्ति के विचार के परे हैं। वाचस्पति ने अपनी भामती टीका में शांकरसिद्धान्त को बौद्ध विज्ञानवाद से भिन्न बताते हुए कहा है कि वेदान्त के मत के अनुसार 'नील' नील के आकार का प्रत्यय नहीं है किन्तु 'नील' केवल अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय विषय है।[६७७]

पद्मपाद का कथन है कि बौद्धों का मुख्य विषय अर्थक्रियाकारित्व का सिद्धान्त यह उक्ति है कि केवल उसी का अस्तित्व है जो अपने अस्तित्व को किसी हेतु अथवा क्रिया के संपादन द्वारा सिद्ध कर सके। बौद्धों का यह भी मत है कि यदि सब सत्ताएं एवं वस्तुएं क्षणिक हो तब ही केवल अस्तित्व के इस मापदण्ड को पूरा किया जा सकता है। ज्ञान एवं विषय का अभेद ही एकमात्र युक्तियुक्त स्वीकार्य मीमांसा संबंधी दृष्टिकोण है। केवल क्षणिकसत्ता ही अर्थक्रियाकारित्व के मापदण्डों को क्यों पूरा कर सकती है? इसका मुख्य कारण यह है कि यदि विद्यमान को क्षणिक नहीं माना जाये तो वे किसी भी हेतु अथवा क्रिया के उत्पादक नहीं हो सकते।[६७८]

पद्मपाद इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि अर्थक्रियाकारित्व का अर्थ स्वविषय-ज्ञान का उत्पन्न होना है तो ज्ञान अथवा प्रत्यय का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यह अपने स्वयं के किसी अन्य ज्ञान का जनक नहीं है– "संविदांस्वविषयज्ञानाजननादसल्लक्षणत्वम्" एवं किसी व्यक्ति के ज्ञान को

६७७. न हि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारां वृत्तिम् अभ्युपगच्छन्ति, किन्तु अनिर्वचनीय नीलादीति। (भगमती-२.२.२८)

६७८. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग प्रथम, एस० एन० दास गुप्ता, पृ० १६३-६४।

अन्य व्यक्तियों द्वारा अनुमान के अतिरिक्त नहीं माना जा सकता, जो पुनः अपरोक्ष ज्ञान नहीं होगा। यदि अर्थक्रियाकारित्व का तात्पर्य अन्य क्षण की उत्पत्ति है तो अन्तिम क्षण किसी अन्य क्षण का उत्पादक नहीं होने के कारण स्वयं असत् हो जाएगा और यदि अन्तिम क्षण को असत् समझ लिया जाए तो क्रमशः अन्य सब क्षण असत् हो जाएंगे। सत्ता वस्तुओं का स्वरूप है और जब कोई वस्तु कार्य करने के पश्चात् भी मूक रहती हैं तो भी वह उस कारण से असत् नहीं हो जाता।[६७९]

शंकर अद्वैतवेदान्त में यद्यपि तीन प्रकार की सत्ताएं मानी गयी है, जिसमें जागतिक वस्तुओं को व्यावहारिक सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु यहाँ मूल प्रश्न यह है कि जागतिक वस्तुओं का मूल कारण क्या है? यदि मूलकारण ब्रह्म को माना जाये तो ब्रह्म में विकार स्वीकार करना होगा, यदि इन वस्तुओं का मूलकारण एवं उपादानकारण माया है, तो माया का स्वरूप यथार्थरूप में मानना होगा, जो शंकर को अभीष्ट नहीं है। संसार की वस्तुओं का निर्माण विवर्तवाद के अनुसार नहीं हो सकता है। इन वस्तुओं का निर्माण तो जैसे-मिट्टी का घट का निर्माण होता है। ऐसे ही माया को प्रकृति एवं परमाणु रूप में मानना होगा। शंकर ने जगत् की रचना में ब्रह्म को निमित्त एवं उपादानकारण के रूप में माना है। ब्रह्म की सत्ता यथार्थ है, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि उसके द्वारा निर्मित जगत् यथार्थरूप में न हो।

शंकर के दर्शन का आधार उपनिषदों को माना जाता है। उन्होंने अपने पक्ष में अधिकतर उपनिषदों के ही प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर यथार्थवादी दर्शन का भी प्रतिपादन मिलता है। जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि–'माया को प्रकृति जानो, और महेश्वर को मायावी समझो।

उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का वर्णन मिलता है। सविशेष सगुण रूप का एवं निर्विशेष निर्गुण स्वरूप का। निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म में किसी गुण का सन्निधान नहीं किया जा सकता है। इसलिए शंकराद्वैत में उसे निरूपाधिक, निर्विकल्प और निर्गुण प्रभृति नामों से कहा गया है। दूसरे स्वरूप में जिसको शंकराद्वैत में सगुण, सविशेष, सविरूप आदि नामों से कहा गया है। उसमें अनेक गुणों का सन्निधान किया गया है।

आचार्य शंकर ने निर्विशेष और सविशेष ब्रह्म को क्रमशः पारमार्थिक और

---

६७९. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, एस० एन० दास गुप्ता, पृ० २६-२८, ३२।

व्यावहारिक स्तर पर रख कर देखा है। उनके मतानुसार ये जो लक्ष्यपरक शब्द पुल्लिंग में प्रयुक्त हुए हैं, वे सगुणब्रह्म अर्थात् ईश्वर के द्योतक हैं और जो नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुए हैं वे परमनिर्गुण के अभिधायक हैं।

निर्गुण परब्रह्म को निष्प्रपंच भी कहा गया है। उसे अजन्मा, अजर, अमर, अमृत और अभय बताया गया है। इसके स्वरूप का निषेधात्मक शैली में निरूपण किया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् भी आगे कहता है वह अमर है, वह न मोटा है न पतला है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रष्ट्या है, न छाया है, न तम है, न शत्रु है, न आकाश है, न झूठ है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न काल है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है और न भक्षक है तथा न भक्ष्य है।[६८०] इसलिए उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, रसहीन, तेज और गन्ध रहित अनादि, अनन्त, महत्वातीत और अटल बताया गया है।[६८१] जब वह विषय नहीं हैं तो इन्द्रियों, मन, बुद्धि के लिए अग्राह्य और निर्विकार है।[६८२] वृहदारण्यक कहता है कि वह आत्मतत्ववत् असीम अग्राह्य और निर्विकार है।[६८३] माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है कि वह न अन्त:प्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, और न उभयात्मक है, न प्रज्ञानधन है, न प्रज्ञ है न अज्ञ है। वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिंत्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्यसार प्रपंचोपशम शान्त, शिव और अद्वैत रूप है।[६८४] वृहादरण्य यद्यपि उसकी सर्वत्र व्याप्ति सिद्ध कर चुका है, तथापि ईशावास्योपनिषद् कहता है कि वह सब के अन्दर है और सबके बाहर है।[६८५] श्वेताश्वतर तथा मुण्डकोपनिषद् उसे स्वरूपेण निष्कल, निष्क्रिय प्रशान्त निरवयव और निरंजन बताते हैं।[६८६]

दूसरी ओर सविशेष और सगुणब्रह्म की धारणा की अभिव्यक्ति देते हुए ये ही उपनिषद् कहते हैं कि यह समस्त जगत् तत्प्रसूत है। प्रलयावस्था में सारा विश्व उसी में समाविष्ट हो जाता है और सारा विश्व उसी में अवस्थित तथा उसके

६८०.बृहदारण्यक उप०-३.३.८।
६८२.कठोपनिषद्-१.३.१५।
६८३.कठोपनिषद्-२.१.१२ तथा बृहदारण्यकोपनिषद्-३.८.१।
६८४.बृहदारण्यक उप०-३.४.२२।
६८५.माण्डूक्योपनिषद्-७।
६८६.बृहदारण्यक:-पूर्वोक्तैव तथा ईशावास्योपनिषद्-५।६८७.श्वेताश्वतर उप०-६.१७ तथा मुण्डकोपनिषद्-२.२.९।

द्वारा पालित है।[६८७] इस विचार का अनुमोदन माण्डूक्योपनिषद् भी करता है।[६८८] श्वेताश्वतरोपनिषद् उसे विश्वकृत, विश्ववित्, आत्मयोनि, काल का भी काल, गुण, सर्ववित्, प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी तथा संसार के मोक्ष एवं बन्ध का हेतु बताता है।[६८९]

वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जीव के पापपुण्यादिकों के परिणाम उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं करते। वह सर्वरूपेण आप्तकाम और निरतिशय है। वह विधाता है, जीवात्माओं को उनके धर्माधर्मानुसार फल देता है।[६९०] ईशावास्योपनिषद् भी कहता है कि जो कुछ भी स्थावर जङ्गम है, वह सब उसके द्वारा आच्छादित है।[६९१] छान्दोग्योपनिषद् उसे भारूप सत्य संकल्प, आकाश व निराकारात्मा, सर्वकर्मा सर्वकाम, सर्वरस, सर्वतः सर्वव्यापक, वाक् रहित एवं सम्भ्रम शून्य बताता है।[६९२] मुण्डक भी कहता है कि वह नित्य विभु, सर्वगत, अत्यन्तसूक्ष्म, अव्यय तथा इस जगत् का आदिकारण है।[६९३] इस प्रकार ब्रह्म के विषय में निर्गुण और सगुण विधायक दोनों प्रकार के विचार उपनिषदों में मिलते हैं। शंकराचार्य इन दोनों रूपों को ब्रह्म की दो अवस्थाएं विशेष बताकर उनके अर्थ को अनुकूल कर लेते हैं। उनके मतानुसार परब्रह्म जो अखण्डैकरस है, वह स्वरूपतः शुद्ध ज्ञान मात्र है। उसमें अन्येतर किसी भी प्रकार के गुणों की समुपस्थिति नहीं है किन्तु जो अवर कोटि का ब्रह्म है जिसकी संज्ञा ईश्वर है जो उसे ब्रह्म का वह स्वरूप है जो अविद्या से उपहित है, वह परम सत्य नहीं है। उसकी समष्टि भी जीव की व्यष्टिवत् ही अज्ञानाच्छादित है। इस प्रकार आचार्य शंकर दोनों कोटियों के गुण कथनों का समन्वय अपनी तीव्र मनीषा से ब्रह्म और तदैव ईश्वर में करते हैं। प्रतीत होता है कि श्रुतियों के ऐसे विरोधाभासी वचनों

६८७.छान्दोग्य उप०-३.१४.१।

६८८.माण्डूक्योपनिषद्-६।

६८९.स० विश्व कृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः............बन्ध हेतुः।। श्वेताश्वतर० उप० अ० ६, मन्त्र १६.

६९०.बृहदारण्यक उप०-४.४.२२।

६९१.ईशोपनिषद्-१।

६९२.छान्दोग्य उप०-३.१४.२।

६९३.नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।। मुण्डकोपनिषद्-१.१.१६

को दृष्टिपथ में रख कर ही वे ब्रह्म को सगुण-निर्गुण इन दो स्वरूपों में अभिहित कर सगुण को जीव से परिष्कृत रूप वाला उद्घाटित करते हैं।

रामानुज अपनी समग्र दर्शन सामग्री के लिए उपनिषदों के वैचारिक कानन में भ्रमण करते हैं, किन्तु आचार्य शंकर से एक कदम आगे बढ़कर औपनिषदिक विचारों की यथार्थपरक और तमकृतिपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वे इन अर्थों को किसी वाद (प्रतिबिम्बवाद, अध्यासवाद, अद्वैतवाद) के साथ नहीं बांधते। उन्होंने शंकर के ब्रह्म की उस विभेदरूपता को अस्वीकार किया है जिसमें वे ब्रह्म को पर और अवर कोटियों में रखकर एक को ब्रह्म की संज्ञा और अन्येतर को ईश्वर की संज्ञा से भूषित करते हैं और उनके विरोध को परा-अपरा विद्या के भेद के द्वारा प्रशमित करते हुए उनमें परस्पर समन्वय करते हैं।

आचार्य रामानुज ब्रह्म और ईश्वर की दूरी को निरस्त कर सम्पूर्ण ब्रह्म की ही मान्यता पर बल देते हैं। सगुण और निर्गुण ब्रह्म के तादृशभेद को रामानुज स्वीकार नहीं करते हैं और पूर्वोक्त स्वरूपों के सन्दर्भ में रामानुज की मान्यता एक नवीन दृष्टिकोण देती है। उनके अनुसार निर्गुण का तात्पर्य गुणों के सर्वथा अभाव से न होकर हेय गुणों के अभाव से हैं। ब्रह्म का निर्गुणत्व उसके गुणराहित्य के कारण नहीं है, प्रत्युत रामानुज के अनुसार शुद्ध गुणों से सम्पन्न ब्रह्म में अन्येतर जीव और प्रकृति में पाए जाने वाले अल्पज्ञत्वादि तथा जड़त्वादि भौतिक गुणों का अभाव है। इस प्रकार रामानुज जहाँ ब्रह्म और ईश्वर को एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व मानते हैं, वहाँ वे उसे एकांगी निर्गुण और सगुण भी स्वीकार करते हैं। रामानुज शंकर की उस पारिभाषिक सीमारेखा को अस्वीकार करते हैं, जिनमें निर्गुणत्व व सगुणत्व परस्पर विरोधी विशेषण है। ईशोपनिषद् में ब्रह्म के साथ परस्पर विरोधी विषयों का सम्बन्ध बताया गया है, यथा वह गति शून्य है तथापि वह मन से अधिक वेगवान् है।[६९४]

शंकराचार्य के अनुसार यदि हम उसका विचार निरूपाधिक और सौपाधिक रूप से करें तो उसमें परस्पर कोई भेद नहीं है। उपनिषदों में जीव और ब्रह्म के द्वैत्र का कथन करने वाली उक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती है।[६९५] ऐसे स्थलों पर

६९४. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।। —ईशोपनिषद् ४

६९५. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां.......त्रिणाचिकेत:।। —कठोपनषिद् १.३.१

अर्थात् द्वैतपरक उक्तियों को आचार्य शंकर व्यावहारिक जगत् को मानते हैं। और उनकी उपशमिति परामर्श रूप में अद्वैतात्मकता में कराते हैं। शंकराचार्य के अनुसार यह समस्त जगत् ब्रह्म का अतात्त्विक विवर्त है। अत: मिथ्या है। यह परिदृश्यमान् द्वैतत्व व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। एकमेवाद्वितीयम्, नेहानानास्तिकिञ्चन आदि औपनिषदिक उक्तियों की पृष्ठभूमि में आचार्य शंकर का क्रमश: कथन है कि वह परम ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है तथा अन्य यह प्रतीयमान वैभिन्न्य कुछ भी नहीं है, अर्थात् पूर्णत: मिथ्या है।

आचार्य शंकर के पश्चात् आने वाले आचार्यों द्वारा शंकर के दर्शन की समालोचना की गई है, उन आचार्यों में चाहे रामानुज, मध्वाचार्य, और समस्त वैष्णव आचार्यों ने अद्वैतवेदान्त दर्शन की समीक्षा ही नहीं की, अपितु प्रत्याख्यान भी किया है।

सृष्टिरचना सम्बन्धी प्रत्ययवादी व्याख्या का प्रत्याख्यान करते हुए आलोचकों ने कहा है कि मूल प्रकृति की सिद्धि उपनिषदों के प्रमाणों से भी होती है। हमारे विचार में उनका यह मत समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट माना गया है कि यह माया तो प्रकृति ही है, और मायावी परमेश्वर है।[६९६] वस्तुत: उपनिषदों में जो माया शब्द प्रकृति के लिए प्रयुक्त हुआ है ऐसा प्रतीत होता है कि इसी से भ्रमवादी विचारधारा का जन्म हुआ है उपनिषद् काल में माया शब्द का अर्थ प्रकृति ही था। इसमें उपनिषद् स्वयं साक्षी है। परन्तु कालान्तर में भाषाविज्ञान के सिद्धान्तानुसार माया शब्द का वास्तविक रूप बदल-सा गया और अर्थ में अपकर्ष हुआ प्रतीत होता है। वह जादू या इस प्रकार की विचित्र शक्ति सी व्यवहार में प्रयुक्त होने लगी। जबकि माया शब्द का वास्तविक अर्थ यह किया जा सकता है–''मीयते व्याक्रियते अनया इति माया''। जिस उपादान प्रकृति से जगत् कायाकार होता है उसका नाम माया है। सांख्य, योग, वेदान्त में इसे प्रकृति नाम से कहा है। इसी को न्याय वैशेषिक तथा मीमांसा में परमाणु नाम से कहा है। यह वास्तविक में प्रक्रिया का भेद प्रतीत होता है। क्योंकि प्रकृति

(ख) ज्ञाज्ञौ द्वावजीशानीशावजाह्येका भोक्तृ भोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्।।
–श्वेताश्वतर उप० १.९

(ग) मुण्डकोपनिषद्-३.१.१।

६९६.मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। –श्वेताश्वतर उपनिषद्-४.१०

'परमाणु' रूप में ही अवस्थित रह सकती है। परम सूक्ष्म कारण का नाम 'परमाणु' है। वास्तविक रूप में इसी परमाणु रूप सूक्ष्म प्रकृति को वेद में स्वधा नाम से वर्णन किया है। स्वधा नाम इसलिए प्रतीत होता है कि ''स्व'' परमात्मा ही इसका आधार है। उपनिषदों में इसे माया के साथ अजा भी कहा है।[६९७] वह अजा रूप प्रकृति सत्त्व, रज और तम गुणों वाली है[६९८] और नाना प्रकार के पदार्थों को परिणाम को प्राप्त होकर उत्पन्न करती है, जैसे-मिट्टी आदि से विकृति होकर घटादि का निर्माण होता है।

उपनिषदों की इस यथार्थवादी व्याख्या में अनेक श्रुतियाँ उपस्थित की जा सकती है। जैसा कि छान्दोग्य में कहा है कि–हे श्वेतकेतु! अन्न रूप पृथ्वी कार्य से जलरूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजो रूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है, उसको जान। यही सत्यरूप प्रकृति सब जगत् का मूलगृह और अवस्थित होने का स्थान है।[६९९]

यह प्रकृति समस्त जड़ जगत् का आदि कारण है। सृष्टि से पूर्व समस्त जगत् असत् के समान प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था।[७००] हे सोम्य! सत् रूप प्रकृति पूर्व ही विद्यमान थी।[७०१] जिससे वह ब्रह्म सृष्टि की रचना कर देता है, जिसमें एक अन्य (जीव) सत्त्व, रज और तम इन गुणों के चक्र में बंधा है।[७०२]

वेदान्त दर्शन में अद्वैत आचार्यों ने मायावाद को प्रतिष्ठापित किया है, परन्तु ब्रह्मसूत्रों में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक 'माया' शब्द केवल एक स्थान पर आया है। वह माया शब्द शंकराचार्य के मायावाद को सिद्ध करता प्रतीत नहीं होता है, अपितु विश्व की सत्यता को स्वप्नवत् बताने वाले मायावादियों के विरुद्ध आया है, क्योंकि स्वप्नवादी का कथन है कि स्वप्न में जगत् के समान ही समस्त

६९७.न जायते इति अजा।

६९८.अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
–श्वेताश्वतर उप० ४.५.।

६९९.एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापि मूलमन्विच्छाद्भि सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्यप्रतिष्ठाः। (छान्दोग्य उप०-६.८.४)

७००.असदेवेदमग्र आसीत्। –छान्दोग्य उप०-६.२.१।

७०१.सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। –छान्दोग्य उप०-६.२.१।

७०२.तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः। –श्वेताश्वतद उप०-४.९।

पदार्थ होते हैं जैसे रथ को स्वप्न में रथकार एवं उनके निर्माता आदि वर्तमान होते हैं। इस प्रकार स्वप्न की भांति जगत्मिथ्या है।[७०३] यह बौद्धों का सिद्धान्त है। इसका उत्तर देते हुए महर्षि वादरायण कहते हैं कि यह तो सब मायामात्र है, क्योंकि स्वरूप से इनकी अभिव्यक्ति नहीं होती है।[७०४] इससे पूर्व दर्शनकार सिद्ध कर चुके हैं कि वैधर्म्य के होने से स्वप्न व जाग्रत के पदार्थ एक नहीं हो सकते।[७०५] यहाँ मायाशब्द का अर्थ अज्ञानरूप में ही ग्रहण किया है।

आचार्य शंकर की जीवात्मा सम्बन्धी मान्यता के विषय में अन्य आचार्यों ने, खण्डन करते हुए कहा है कि श्रुति अर्थात् वेद और उपनिषद् में ब्रह्म एवं जीवात्मा दोनों ही अपनी यथार्थसत्ता रखते हैं। प्रत्ययवादी दार्शनिक जीव की सत्ता के यथार्थ रूप में स्वीकार नहीं करते। गौड़पाद आचार्य तो जन्म, मृत्यु, मोक्ष आदि सब को भ्रम मानते हैं। आचार्य शंकर के मत में अज्ञान दूर हो जाने पर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। वस्तुतः ब्रह्म ही अज्ञान के कारण जीव बनता है। इस दार्शनिक वाद-विवाद को प्रस्तुत करने से पूर्व उपनिषदों का मत प्रमाण रूप में क्या है? यह अवलोकन करना अपेक्षित है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, श्वेताश्वतर, उपनिषद् और मुण्डक उपनिषद् में (एक ही मन्त्र चारों जगह आता है) स्पष्ट रूप में कहा है कि दो सहवासी सत्ता जीवात्मा और परमात्मा अपने समान अनादि प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठकर उनमें से एक वृक्ष के स्वादु फलों का उपभोग करता है, दूसरा उन फलों का उपभोग नहीं करता अपितु अपने सखा का साक्षीमात्र है। जो सखा फलों को खाता है वह उसके परिणामों को भोगता है, दूसरा जो साक्षी है वह कभी भी किसी भी प्रकार के बन्धन में नहीं आता है।[७०६] इससे अगले मन्त्र में ही मुण्डक उपनिषद् तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में और स्पष्ट रूप में कहा है कि "इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है। प्रकृति की नाना प्रकार की मोहात्मक शक्ति से मोह अर्थात् राग को प्राप्त हो रहा है। जो वीतराग

---

७०३. सन्ध्ये सृष्टिराह हि।। —वेदान्त दर्शन-३.२.१।

७०४. मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानाभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। —वेदान्त दर्शन-३.२.३

७०५. वैधमर्याच्च न स्वप्नादिवत्। —वेदान्त दर्शन-२.२.२९।

७०६. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।।
—ऋग्वेद-१.१६४.२० (मुण्डक उप० ३.१.१)

योगी अपने आत्मा को निर्मल कर परमात्मा को अपने से भिन्न साक्षात्कार करता है, वह जीवात्मा शोक रहित हो जाता है।[७०७]

नचिकेता को यमाचार्य उपदेश देते हैं कि मानवशरीर के परमोत्कृष्ट निवास स्थान हृदयाकाश में प्रविष्ट हुए जीवात्मा और परमात्मा छाया और धूप की भांति वर्तमान रहते हुए सत्य ज्ञान का पान कर रहे हैं।[७०८] इनमें एक ज्ञाता है दूसरा ज्ञेय है। वृहदारण्यकोपनिषद् में जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो आदित्य (सूर्य) में और जो दायें नेत्र में पुरुष है वह एक दूसरे में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने से सूर्य में भी और जीवात्मा में भी स्थित है।[७०९] श्वेताश्वतरोपनिषद् में स्पष्टरूपेण व्याख्यान किया है कि ये ईश्वर और जीव क्रमशः सर्वज्ञ और अल्पज्ञ हैं, अर्थात् ईश और अनीश है। वे दोनों ही अजन्मा है। अर्थात् किसी से विकृत होकर उत्पन्न नहीं हुए हैं। इन दोनों से भी पृथक् एक अजा अर्थात् प्रकृति ही पुरुष के उपभोग का साधन बनती हैं।[७१०] यहाँ स्पष्ट रूप में ज्ञाज्ञौ द्विवचन पद देकर जीव और ईश्वर में भेद प्रतिपादन किया है।

उपनिषदों में जीव तथा ब्रह्म का भेद हमें अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। अनेकों स्थानों पर जीवात्मा को ब्रह्म के दर्शन करने के लिए उपासना करने का कथन है। उपासना तभी संभव है जबकि जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हो। उपनिषदों में यह वर्णन अवश्य उपलब्ध होता है कि परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर जीवात्मा भी महान् हो जाता है। महान् ही नहीं अपितु महत्तर भी हो जाता है, परन्तु महत्तम नहीं होता। इसी को मुण्डक उपनिषद् में इस प्रकार कहा है कि परमब्रह्म में जानने वाला (महान्) हो जाता है।[७११] परन्तु सूक्ष्मता से पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है कि यहाँ भी जीव और ब्रह्म में भेद ही प्रतिपादन किया गया है। यदि अभेद प्रतिपादन करने का उद्देश्य होता तो ''परमब्रह्मवेद'', ''परमब्रह्मैवभवति'' पद होना चाहिए था। क्योंकि आचार्य शंकर ब्रह्मशब्द का अर्थ स्वयं 'महान्' करते हैं, जैसा कि पूर्व बता चुके हैं। जीव महान् तो हो जाता

---

७०७. समाने वृक्षे पुरुषो......वीतशोकः।। –श्वेता०उ० ४७/मुण्डक उ० ३.७.२

७०८. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य......त्रिणाचिकेताः। –कठोपनिषद्-१.३.१

७०९. तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतान्योऽन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ।। –वृहादयक उप० ५.५.१।

७१०. ज्ञाज्ञौ द्वावजानीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता। श्वेता०उप० १.९

७११. स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। –मुण्डकोपनिषद्-३.२.९।

है, परन्तु परम महान् नहीं। जो परमात्मा आत्म अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है। जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है जैसे शरीर में जीवात्मा रहता है ऐसे ही परमेश्वर जीवात्मा से सूक्ष्म होकर इसमें रहता है।[७१२]

शंकर के आलोचक जीवात्मा और ब्रह्म में भेद स्थापित करते हुए ब्रह्मसूत्र के अनुसार, जिसमें शंकर भी लगभग वही अर्थ करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म से अन्य जीवात्मा आनन्दमय नहीं है, क्योंकि उपपत्ति युक्ति द्वारा इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।[७१३] भेद का कथन होने से जीवात्मा और ब्रह्म में भेद यह कह कर बतलाया गया है कि जीवात्मा आनन्दमय नहीं है।[७१४]

जीवात्मा व ब्रह्म में भेद हैं क्योंकि जीवात्मा ज्ञाता है और 'द्यौ' आदि आदि का आयतन नहीं माना जा सकता है। क्योंकि ज्ञेय और ज्ञाता दोनों भिन्न होते हैं।[७१५] प्राणधारी जीवात्मा ''द्यु'' आदि का आयतन नहीं हो सकता है क्योंकि वह प्राणवान है। अतः इससे सिद्ध हो जाता है कि ''द्यौ' आदि का आयतन ब्रह्म है। जीव नहीं।[७१६]

जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि वह नित्य है। न कि श्रुति में उसके उत्पन्न होने का प्रमाण उपलब्ध होता है। यहाँ श्रुति को आप्त मान कर ब्रह्म की तरह जीवात्मा को भी नित्य बतलाया है। अत: जीवात्मा को ब्रह्म से ही मायोपहित चैतन्य निर्मित मानना या आगे ब्रह्म हो जायेगा इन दो रूपों का खण्डन इस सूत्र से हो जाता है।[७१७]

आत्मा चेतनस्वरूप है वह नित्य तथा एकस्वरूप रहता है।[७१८]

जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करने पर भी जगत् आदि का निर्माण नहीं कर सकता है। वह जगत् रचना, स्थिति और प्रलय तथा जीवात्माओं को कर्मफल की व्यवस्था नहीं कर सकता है। यह कार्य केवल ब्रह्म ही कर सकता है।[७१९]

---

७१२. य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यभात्मा.....आत्मान्तर्याम्यमृतः। —शतपथब्रा० १४.६.७.३२

७१३. नेतरोऽनुपपत्तेः। —वेदान्तदर्शन १.१.१६

७१४. भेदव्यपदेशाच्च। —वेदान्तदर्शन-१.१.१७

७१५. भेदव्यपदेशात्। वही-१.३.५

७१६. प्राणभृच्च। वही, १.३.४।

७१७. नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः। —वेदानृद० २.३.१७

७१८. ज्ञोऽत एव-वेदान्त दर्शन-२.३.१८

७१९. जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च। —वेदान्त दर्शन-४.४.१७

मस्तिष्क गत हृदयदेश रूप गुहा में निश्चित रूप में दो आत्माएं है अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा है, वहाँ उन दोनों के दर्शन होते हैं।[७२०] यहाँ सूत्रकार स्पष्ट रूप में जीवात्मा और ब्रह्म में भेद स्वीकार करते हैं। सूत्रकार एक प्रकार से उपनिषद् (कठ०) के इस मत का समर्थन करते हैं कि ''गुहां प्रविष्टौ'' अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य और व्यापक रूप में हृदयरूपी गुफा में वास करते हैं।[७२१]

उस ब्रह्म और जीवात्मा में विशेषण भेद होने से दोनों भिन्न-भिन्न सत्तायें रखते हैं और दोनों में पर्याप्त अन्तर है।[७२२] इस सूत्र पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर उपनिषदों के बहुत से उन मन्त्रों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं जो भेद का प्रतिपादन करते हैं। इस सूत्र को प्रतिपादन करते हुए वे अविद्याकृत भेद का प्रत्याख्यान करना भी विस्मृत हो गया है। यहाँ पर आचार्य की अपनी लेखनी से भेद का प्रतिपादन करने में पर्याप्त उदारता प्रदर्शिता की प्रतीति होती है।

इसलिए यह उचित प्रतीत होता है कि जीवात्मा और ब्रह्म का भेद अनादि एवं नित्य है। मोक्ष में जीवात्मा को आनन्द की प्राप्ति होती है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने अद्वैतवेदान्त दर्शन का उपसंहार करते हुए कहा है कि उपनिषदों की भाषा दर्शन तथा विज्ञान दोनों से ही मिश्रित है। उपनिषदें उच्चतम यथार्थ सत्ता को निरपेक्ष और ईश्वर, ब्रह्म तथा परमेश्वर के रूप में प्रस्तुत करती है। वे मोक्ष का प्रतिपादन करते समय ब्रह्म के साथ सारूप्य हो जाना एवं ईश्वर की नगरी में निवास करना भी मान लेती है। ब्रह्म का 'नेति नेति' के रूप में वर्णन तथा उसके सकारात्मक चरित्रचित्रण, जो उपनिषदों में पाए जाते हैं प्रत्येक महान् धार्मिकसाहित्य में भी ऐसे ही मिलेंगे। रहस्यवादी, यहूदी, ईसाई और मुस्लिम, हमें एक अन्धकार का समाचार देते हैं, जो वाणी के क्षेत्र से परे हैं, अन्य लोग ईश्वर की पूर्णता का हमारे आगे वर्णन करते हैं। जहाँ एक ओर विचारक वर रहस्यवादी ईश्वर के प्रतिबिम्ब विहीन स्वरूप के ऊपर बल देते हैं, वहाँ धार्मिक भक्त लोग ईश्वर को मित्र, सहायक तथा मोक्षदाता की दृष्टि से देखते हैं। प्रत्येक धर्म के दर्शनशास्त्र को सब प्रकार के धार्मिक अनुभव के दो प्रकार के रूप को ध्यान में रखना होता है और उसके औचित्य पर भी ध्यान

---

७२०. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। -वेदान्त दर्शन १.२.११।

७२१. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।-कठोपनिषद्-१.३.१

७२२. विशेषणच्च। -वेदान्त द० १.२.१२ पर भाष्य-आचार्य शंकर का।

देना होता है। जिस समस्या को शंकर ने अपने ऊपर लिया है, यद्यपि यह उस धार्मिक अनुभव के सीमित प्रकरण से जिसे उपनिषदों में अभिलिखित किया गया है, उत्पन्न होती है, वह सार्वभौम हित की है और इसके जिस समाधान पर वे पहुंचे है वह भी सन्तोषप्रद है, बशर्ते कि सभी अंश अपने सन्तुलन को स्थिर रख सकें। तात्त्विक रूप में यह एक दार्शनिक समाधान है क्योंकि शंकर हमें उठाकर सुख व शान्ति के आदर्श में पहुँचा देते हैं और इस कार्य के लिए वे विचारशक्ति का उपयोग करते हैं, क्योंकि यही एकमात्र साधन है जो जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षों का परस्पर समन्वय कराता तथा उन्हें उत्तम बनाता है। यह सत्य है कि वे स्वीकार करते हैं कि विचार सब समस्याओं को हल नहीं कर सकता एवं उसे यथार्थसत्ता के साक्षात् ज्ञान ग्रहण करने के लिए अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है। यद्यपि शंकर प्रसन्नता पूर्वक जीवन के रहस्यों के आगे सिर झुकाते हैं तो भी वे इन रहस्यों के लिए ही लालायित नहीं है। शंकर के दर्शन के आधार में सृष्टि-रचना का शाश्वत रहस्य है और यह एक ऐसा रहस्य है जिसके अन्दर जीवन की प्रत्येक गति तथा संसार का प्रत्येक अणु उलझा हुआ है।

यदि इस जगत् को एक ऐसी वस्तु समझने की अपेक्षा, कि जिसकी उत्पत्ति के विषय में हम ठीक-ठीक कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकते, हम साथ ही साथ कतिपय अर्वाचीन अद्वैतवादियों के मार्ग का अनुसरण करते हुए, इसे यह कहकर कि यह विश्वज्ञान सम्बन्धी भ्रान्ति है, जो न जाने किस प्रकार उत्पन्न हो गई है एवं इसका उद्देश्य भ्रम में पड़े हुए हम मरणधर्मा मनुष्यों को एक दुःस्वप्न की भांति दुख देना है, इसे अन्यथा सिद्ध कर देते हैं, तो शंकर का दर्शन असन्तोषजनक सिद्ध होता है। किन्तु इस प्रकार का विचार रखना शंकर के साथ अन्याय करना होगा।

आध्यात्मिक गहराई तथा तार्किक शक्ति में शंकर का दर्शन अद्वितीय है। स्वभावतः विचार के पश्चात् विचार रहता आता है जब तक कि अद्वैतवाद सबका शिरोमणि स्थान लेकर इस भवन को पूरा नहीं कर देता। यह एकेश्वरवाद-सम्बन्धी आदर्श का एक महान् दृष्टान्त है जिसका खण्डन उसके सदृश अन्य किसी नितान्त निश्चयात्मक आध्यात्मिक विचार द्वारा नहीं हो सकता। शंकर जीवन की एक ऐसी कल्पना को स्वीकार करते हैं जिसे कविता तथा धर्म के उच्चतम क्षणों में भी स्वीकार किया जा सकता है, जबकि हमारा झुकाव उसके बोधग्रहण के

प्रकाश की अपेक्षा अन्तदृर्ष्टि को अधिक महत्त्व देने के विचार के साथ सहमति प्रकट करने की ओर होता है और जब तक वे ऊँचे धरातल पर खड़े हैं उन्हें किसी को उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। किन्तु बराबर स्थिर रहने वाला संशय अधिकांश मनुष्यों को दबाता रहता है, क्योंकि वे बहुत ही कम इतनी उच्चताओं तक पहुँच सकते हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि जिस जगत् को जिसके अन्दर वे रहते, चलते-फिरते, और अपना अस्तित्व स्थिर रखते हैं, इतने अधिक उच्च कोटि के उपेक्षा भाव में छोड़ देना अनुचित होगा और इसलिए इसका कारण अज्ञान अथवा अन्धकार को बताते हैं और अपने को केवल यह कहकर शान्ति दे देते हैं कि समस्त अरुचिकर आभासरूप पदार्थ शीघ्र ही नष्ट होकर अनन्त प्रकाश के अन्दर विलीन हो जाएंगे। उनकी दृष्टि में सब परिवर्तनों का कारण आकाशस्थ सूर्य का प्रकाश कृत्रिम है और वे यह भी कहते हैं कि शंकर का दर्शन तथ्य के प्रति एक रहस्यपूर्ण उपेक्षा का भाव रखता है। यह कि मानवीय दुःख दूर हो जाएगा एवं समस्त संसार एक दयनीय मृगतृष्णिका की भांति लुप्त हो जाएगा, और यह कि हमारी सारी कठिनाई हमारी अपनी ही बनाई हुई है और यह कि संसार के अन्तिम यवनिकापतन में सब लोगों को मालूम होगा कि निरपेक्ष एकत्व जो सब हृदयों के लिए पर्याप्त है, सम्पूर्ण क्रोध को शान्त करता है और सब पापों का प्रायश्चित करता है—यह सब अनेक व्यक्तियों को केवलमात्र कल्पनाएं प्रतीत होती है। मूर्च्छारूप आत्मविलय में, जो अपने को पवित्र घोषित करता है, क्रियात्मक जीवन के प्रति एक क्रूर उपेक्षा का भाव रहता है, जो कि एक मध्यम वृत्ति के बुद्धिमान् व्यक्ति को अभिमत नहीं हो सकता। शंकर इस सबका ज्ञान रखते हुए हमारे समक्ष एक ऐसे तर्कसम्मत अस्तित्ववाद को प्रस्तुत करते हैं जो तुच्छ समझ कर बुद्धि की उपेक्षा नहीं करता, युगों के प्राचीन ज्ञान का उपहास नहीं करता, और अपने-आप में भी सत्य का उच्चतम बौद्धिक विवरण है।

शंकर हमें इस विषय में कुछ नहीं बताते हैं कि अन्तर्ज्ञान के निरपेक्षवाद और तर्कशास्त्र के व्यावहारिक ईश्वरवाद के अन्दर क्या भेद हैं, क्योंकि जैसा कि गेटे ने विवेकपूर्ण कथन किया है, "मनुष्य की उत्पत्ति विश्व की समस्या का समाधान करने को नहीं हुई, वरन् यह जानने के लिए हुई है कि समस्या प्रारम्भ कहाँ से होती है, और उसके पश्चात् वह अपने को बोधगम्य सीमाओं के अन्दर नियंत्रित करता है।" शंकर ने यह अनुभव किया कि एक क्षेत्र ऐसा भी है जिसके अन्दर हम प्रवेश नहीं कर सकते और इसलिए एक ज्ञान-सम्पन्न अज्ञेयवाद ही

एकमात्र विवेकपूर्ण मन्तव्य है। शंकर की सफलता की महत्ता का आधार विचार की विशिष्ट घनता और उज्ज्वलता है, जिसे लेकर वे यथार्थसत्ता की खोज का कार्य सम्पादित करते हैं और इसके लिए आत्म के उस उच्च आदर्श का आश्रय लेते हैं, जो जीवन की कठिन समस्याओं से भी जूझ सकता है, भले ही इसका आध्यात्मिक परिणाम कुछ भी हो। इसके अतिरिक्त शंकर सिद्धि के एक ऐसे दर्शन का आश्रय लेते हैं, जो मानवीय जीवन में एक दैवीय ऐश्वर्य का आधान करती हैं।[७२३]

पाश्चात्य दार्शनिक और शंकर–

आचार्य शंकर के दर्शन की तुलना स्पनोजा तथा काण्ट के दर्शन से की जाती है। तत्त्व मीमांसीय दृष्टि से स्पनोजा और काण्ट के दार्शनिक सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य मिलता है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से शंकर की तुलना काण्ट से की जाती है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि काण्ट और शंकर सिद्धान्त एक ही है। दोनों में बहुत कुछ भेद भी है। डॉ० राधाकृष्णन् ने दोनों की तुलना करते हुए स्पष्ट किया है कि काण्ट के समान शंकर भी ज्ञान की सम्भावनात्मक समस्या को व्यवस्थित बनाते हैं, यहाँ तक कि आत्मविषयक ज्ञान के लिए भी व्यवस्था का निर्माण करते हैं और दार्शनिक जिज्ञासा में इसे प्रमुख स्थान देते हैं। ये दोनों विचारक आनुभविक जगत् को प्रतीतिरूप मानते हैं और मानवीय मस्तिष्क की रचना को इस सीमितता का कारण बताते हैं। मनुष्य के बोधात्मक यन्त्र की परीक्षा करने के बाद काण्ट इस परिणाम पर पहुँचता है कि मनुष्य के लिए अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है, क्योंकि जो कुछ भी ज्ञान का विषय बनता है, वह देश, काल की आकृतियों तथा बोधग्रहण की श्रेणियों के अन्दर आबद्ध है जिनमें प्रधान है, कारण कार्यभाव। यथार्थसत्ता के सत्त्व को हम नहीं जानते, हमें जिसका ज्ञान प्राप्त होता है वह उसका केवल आभासमात्र है।

शंकर के अनुसार यह हमारी दृष्टि का एक बहुत बड़ा दोष है, जिसके कारण जो वस्तुतः एक है उसको हम अनेक के रूप में देखते हैं। पर्याप्त मात्रा में असद्भासता के कारण हमारी तार्किक क्रियाशीलता हमें प्रतीति रूप जगत् की ओर बलात् ठेलती हैं जो सदा के लिए हमारे तथा यथार्थसत्ता के मध्य में अपना

---

७२३. भारतीय दर्शन, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ५७५-५७७।

स्थान बनाए हुए है। शंकर और काण्ट दोनों ही ज्ञान की उपाधियों के प्रश्न को आनुभाविक विधि की अपेक्षा समीक्षात्मक विधि से हल करते हैं। शंकर ने काण्ट की भूल से अपने को बचा लिया, जिसके अनुभव के तार्किक संकेतों को अनुभव की पूर्वरूप उपाधियाँ न मानकर यह घोषणा की है कि व्यवहारातीत जगत् के पदार्थ अपने आप में यथार्थ है। शंकर का लक्ष्य यह था कि वे अनुभव के क्षेत्र में अन्तर्निहित सिद्धान्त को खोज निकाले न कि उससे परे के जगत् को। किन्तु इस विषय में दोनों एकमत है कि यदि तार्किक बुद्धि अपने को यथार्थता का निर्माण करने वाली समझती है तो यह सत्य की प्राप्ति के अधिकार से वंचित हो जाती है, और जैसाकि काण्ट का कहना है, यह भ्रान्ति की एक अन्तर्निहित शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। शंकर और काण्ट मनोवाद का खण्डन करते हुये कहते हैं कि डेकार्ट के विपरीत, जो हमारे अपने अस्तित्व सम्बन्धी ज्ञान, जो साक्षात् तथा संशयरहित है, तथा बाह्य विषयों के ज्ञान के मध्य भेद करता है, जो अनुमानजन्य तथा समस्यापूर्ण है, काण्ट का तर्क है कि बाह्य जगत् का ज्ञान भी हमारे लिए उतना ही प्रत्यक्ष तथा निश्चित है, जितना कि हमारा आत्मविषयक ज्ञान है। काण्ट बर्कले के विषय विज्ञानवाद का अपने 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' नामकग्रन्थ के दूसरे संस्करण के आदर्शवाद का खण्डन नाम के प्रसिद्ध अध्याय में खण्डन करता है। सरल किन्तु आंनुभाविक रूप से निर्णीत मेरे अपने अस्तित्व की चेतनता यह सिद्ध करती है कि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व देश के अन्दर है। ''किन्तु यदि यथार्थसत्ता से हमारा तात्पर्य ऐसी सत्ता से हैं कि जिसका विचार चेतनता से स्वतन्त्र रूप में विद्यमान समझकर किया जा सके और जिसका सम्बन्ध किसी ज्ञान से न हो तब शंकर के अनुसार न तो यह व्यावहारिक आत्मा, जिससे हम परिचित है, न ही यह बाह्य जगत्, जिसका हमें ज्ञान है; यथार्थ है और काण्ट का कहना है कि अनुभव गम्य सब पदार्थ प्रतीतिमात्र है, तात्त्विक नहीं हैं।''[७२४]

दूसरी ओर यदि यथार्थसत्ता से हमारा तात्पर्य अनुभव की ऐसी सामग्री से हो जिस पर निर्भर किया जा सके, तब व्यावहारिक आत्मा तथा बाह्यजगत् दोनों ही यथार्थ हैं और दोनों एक ही श्रेणी के हैं। परिमित शक्तिशाली आत्मा तथा यह जगत् यथार्थ अथवा अयथार्थ है और यह इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि हम यथार्थ का क्या तात्पर्य समझते हैं। जहाँ काण्ट वस्तुओं के अपने आप

---

७२४. देखें-काण्ट : 'प्रोलेगोमना' देखें-१३, रिमार्क २.१।

में अनेकत्व में विश्वास करता है, शंकर बलपूर्वक कहते हैं कि आधारभूत यथार्थता एक ही है, इस विषय में शंकर का विचार काण्ट की अपेक्षा अधिक दार्शनिक है, जो अनुचितरूप में जगत् के भेदों को वस्तुओं की निजी सत्ता के क्षेत्र में ले आता है।

शंकर काण्ट की भांति भाव (आशय) तथा बोधग्रहण के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींचते और न वे यह विश्वास ही करते हैं कि हमारी बुद्धि के तत्त्वों में ठोस तथ्यों को प्रस्तुत करने की शक्ति नहीं है। काण्ट के अनुसार प्रत्यक्ष का असम्बद्ध वाक्यविन्यास ही, जिसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता, हमारे सामने प्रस्तुत होता है, इसमें से जिस वस्तु का हम अपने वर्ग विभाग के द्वारा निर्माण करते हैं और जिससे आवश्यकता तथा व्याप्ति बाहर से आकर जुड़ जाती है, वही ज्ञान है। शंकर के दर्शन में मानसिक रचना तथा प्रस्तुत तथ्य में कोई विरोध नहीं है। ये दोनों ही एक दूसरे के अनुकूल हैं। यही भेद शंकर तथा ब्रैडले में भी है।[७२५]

शंकर यह नहीं कहते हैं कि वास्तविक शारीरिक संवेदना में हमें 'वह' का अनुभव होता है, और यह कि विचार का आधार 'क्या' को 'वह' से पृथक् करने की दोषपूर्ण कल्पना है। इसका परिणाम यह होता है कि हम फिर से 'वह' को केवल विचार रूप उपस्थिति के द्वारा अपने ध्यान में नहीं ला सकते। और न प्लेटो के विरुद्ध अरस्तु द्वारा किए गए इस आक्षेप के साथ ही शंकर अपनी सहमति प्रकट कर सकते हैं कि यदि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य ज्ञान बुद्धिगम्य नहीं है तब विचार हमें इन्द्रियग्राह्य जगत् को समझने में सहायक नहीं हो सकते। शंकर शंकर की दृष्टि में इन्द्रियग्राह्य बुद्धिग्राह्य से न्यूनतम है और बुद्धिगम्य से न्यूनतम है और बुद्धिगम्य इन्द्रियगक् का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने में हमें सहायता प्रदान करता है, यद्यपि उनके मन में बुद्धिगम्य की यथार्थ से न्यूनतम कोटि का है। वे यथार्थ को इन्द्रियग्राह्य से और बुद्धिग्राह्य से भी पृथक् करते हैं और उनका मत है कि इन्द्रियगम्य की अपेक्षा बुद्धिगम्य यथार्थसत्ता के अधिक सन्निकट है।

कुछ विचारकों का मानना है कि ब्रैडले आचार्य शंकर के निकट है, यह सही है कि सिद्धान्त के सम्बन्ध में दोनों में मौलिक भेद हैं। जैसे कि ब्रैडले अपने

---

७२५. भारतीय दर्शन, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ४५०-५१।

ग्रन्थ 'अपीयरेन्स एण्ड रियेलिटी' में मानवीय ज्ञान की अवधियों के सिद्धान्त का मुख्य और गौण गुणों, द्रव्य तथा गुण, गुणों सम्बन्धों में परस्पर भिन्नता तथा सूक्ष्म समालोचना के द्वारा तिरस्कार करता है। डॉ० राधाकृष्णन् ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि विचार के द्वारा कभी भी यथार्थसत्ता का ग्रहण नहीं हो सकता। 'क्या' और 'वह' को पृथक्-पृथक् करके यह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता अर्थात् यथार्थसत्ता के रहस्य को पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रैडले के अनुसार उदाहरण के रूप में, जब हमें नीले रंग की संवेदना होती है तब 'वह' का भी ज्ञान होता है, जो वस्तुतः उपस्थित है और एक, 'क्या' का भी अनुभव होता है, जो यह विशेष गुण है, जिससे इसकी पहचान होती है। साक्षात् अव्यवहित बोध ग्रहण में हमें दोनों पक्षों में परस्पर भेद से अभिज्ञ नहीं होते। यह एक 'यह-क्या' है जो प्रक्रिया का वस्तुविषय है जहाँ पर 'यह' का भेद 'क्या' से चैतन्य के अन्दर प्रविष्ट नहीं होता। किसी विषय के निर्णय में हम दोनों में भेद करते हैं अर्थात् विधेय का विषयी से भेद और विधेय को विषयी (ज्ञाता) का गुण बताते हैं, यह समस्त निर्णयों के विषय में सत्य है। जीवन अथवा यथार्थसत्ता एक ऐसी संवेदना है जिसमें 'वह' और 'क्या' पृथक् नहीं किए जा सकते, किन्तु तार्किक चिन्तन सदा भावात्मक होता है, इन अर्थों में कि इसका वास्तविक तत्त्वसार वस्तु विषय की प्रक्रिया से मानसिक पार्थक्य में है। शंकर के मत में 'वह' का 'क्या' से पार्थक्य तर्कशास्त्र का अनिवार्य दूषण नहीं है उन अर्थों में जिनमें ब्रैडले इसे लेता है और न वह यही कहता है कि यथार्थसत्ता जो परामर्श का विषय है स्वयं संवेदनारूप तथ्य में हमारे सम्मुख प्रस्तुत की जाती है। यह मान भी लिया जाए कि ज्ञान में विचार मनोवैज्ञानिक प्रतिकृति नहीं है किन्तु आदर्शवस्तु विषयक है, और यह भी मान लिया जाए कि विचार सम्बन्धी वस्तु विषयक परामर्श यथार्थ-जगत् से सम्बन्ध रखता है तो भी शंकर का कथन यह है कि यथार्थ, जिसको विचार सम्बन्धी वस्तु विषय रूप से निर्देश करने में प्रवृत्त होता है, व्यक्ति विशेष का संवेदनापरक अनुभव नहीं वरन् स्वतन्त्र यथार्थसत्ता है। ज्ञान विषयनिष्ठ गुणों के द्वारा किसी संवेदना अथवा उसके विस्तार की विशिष्टता का वर्णन नहीं करता है किन्तु उसकी विशिष्टता का वर्णन करता है जो यथार्थसत्ता वहाँ प्रकट है, मेरा अथवा मेरी मनोभावनाओं का चाहे जो कुछ भी हो। जब तक हम किसी व्यक्ति अनुभवं के स्वरूप के अनुसंधान में रत हैं, हम एक मनोवैज्ञानिक खोज में निरत हैं, किन्तु यह तार्किक प्रयास नहीं है। संवेदना शब्द के उपयोग के कारण ब्रैडले के यहाँ जो सन्दिग्धता है, शंकर के यहाँ उसका अभाव

है। तो भी उसे यह स्वीकार करना ही होगा कि समस्त परामर्श का यथार्थरूप में ज्ञाता (विषयी) अपने यथार्थरूप करना ही होगा कि समस्त परामर्श का यथार्थ रूप में ज्ञाता अपने यथार्थरूप में यथार्थसत्ता ही है और विधेय एक ऐसा गुण है जिसे हम इसके साथ सम्बद्ध करते हैं यद्यपि यह इससे कहीं निम्नकोटि का है।

इस प्रकार उद्देश्य और विधेय यथार्थसत्ता तथा प्रतीति के अनुकूल है। "प्रत्येक परामर्श में असली उद्देश्य यथार्थसत्ता है जो विधेय से भी अतीत है और विधेय जिसका एक विशेषण है। जब तक 'क्या' 'वह' के साथ मिलकर दोनों एक नहीं हो जाते तब तक हम सत्य तक नहीं पहुँचते और जब ये दोनों मिलकर एक हो जाते हैं तो हमें विचार नहीं मिलता। जैसा कि ब्रैडले ने कहा है "यदि तुम ऐसे पदार्थ का विधेय बनाते हो जो भिन्न है तो तुम उद्देश्य का ऐसा वर्णन करते हो जैसाकि वह नहीं है, और यदि तुम्हारा विधेय ऐसा है जो भिन्न नहीं है तो तुमने मानो कुछ कहा ही नहीं" जब तक हम सोचते हैं कि विधेय उद्देश्य से न्यूनतम है तो प्रतीति भी यथार्थता से न्यून है।

आचार्य शंकर के मतानुसार समस्त परामर्श दोषपूर्ण है, इसलिए नहीं कि यह 'वह' को 'क्या' से पृथक् करते हैं किन्तु इसीलिए कि विधेय उद्देश्य से भिन्न है और उद्देश्य यथार्थसत्ता है। भेद के बिना विचार सम्भव नहीं है, और भेद के साथ यथार्थसत्ता सम्भव नहीं।

ब्रैडले का मानना यह है कि यथार्थसत्ता सामञ्जस्यपूर्ण (संगत) है और इसलिए सत्य को भी सामञ्जस्य पूर्ण होना चाहिए। स्वात्मपूर्णता और संगीत संगत यथार्थसत्ता के लक्षण है। शंकर इन्हें सम्भाव्य विधेयों के मूल्यांकन में स्वीकार करते हैं। देश, काल और कारण आदि न तो स्वतः पूर्ण है और न संगत ही है। वे स्वात्मविरोधी है और अपने से दूर तक भी विस्तृत होते हैं। शंकर के निश्चित दृष्टिकोण से सामञ्जस्यपूर्ण सत्य की यथार्थसत्ता नहीं है। हम यथार्थसत्ता को भी सामञ्जस्य पूर्ण नहीं मान सकते, क्योंकि सामञ्जस्य का अर्थ है कि अनेक भाग एक पूर्ण इकाई में परस्पर सम्बद्ध है। हिस्सों तथा पूर्ण इकाई का यह भेद व्यावहारिक है जिसका हम इन्द्रियातीत यथार्थ सत्ता में आधान कर रहे हैं। सामञ्जस्य के रूप में सत्य की मांग है कि हम ईश्वर के निरपेक्ष अनुभव की पूर्वकल्पना करें, जिसके अन्दर समस्त सीमित विषयी तथा विषय एक क्रमबद्ध एकत्व में समाविष्ट हो। शंकर का मत है कि चूंकि जिस एकत्व की हम कल्पना करते हैं वह बुद्धिगम्य नहीं हैं, इसमें भी प्रतीति अथवा अयथार्थता का लक्षण पाया जाता है।

इस विषय में ब्रैडले का स्पष्ट मत है कि हमारे समस्त विचार में 'वह' और 'क्या' परस्पर प्रतिद्वन्द्वी है तथा एक दूसरे के विरोध में काम करते हैं। एकत्व का फिर से स्थापन करना असम्भव है। तर्कशास्त्र नेकनीयती के साथ इस प्रकार की पूर्वधारणा बना लेता है कि इस जगत् के समस्त पार्श्व एक पूर्ण इकाई से सम्बद्ध हैं, और यह है कि परस्पर के भेद केवल प्रतीतिरूप हैं तथा विधेय और साध्यपक्ष एक ही है एवं प्रतीतिरूप पदार्थ यथार्थसत्ता के साथ एकता रखते हैं। ब्रैडले की यह धारणा है कि तार्किक जगत् में ऐसा कोई पदार्थ अपूर्व नहीं है, जिससे पर्याप्त परिवर्तनों के साथ यथार्थसत्ता के रूप में न माना जा सके। किन्तु वह हमें यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाता कि उस परिवर्तन की अवधि क्या है। जब वह इस प्रकार का कथन करता है कि कोई भी परामर्श सम्भवत: सत्य नहीं हो सकता, जब तक कि परामर्श करने वाले की यथार्थसत्ता नहीं है तो उसका यह कथन पूर्ण रूप में तर्कसम्मत है और शंकर भी उसके इस मत से सहमत होंगे।[७२६]

ब्रैडले का कहना है कि "मैं जिस परिणाम पर पहुँचा हूँ वह यह है कि सम्बन्धों के आधार पर विचार करने की विधि अर्थात् ऐसी कोई भी विधि जो परिभाषाओं तथा सम्बन्धों को लेकर चलती है-प्रतीति की तो प्राप्ति करा सकती है किन्तु सत्य की नहीं। यह कामचलाऊ है, एक योजना है, केवल एक क्रियात्मक समझौता है जो अत्यावश्यक तो हैं किन्तु अन्त में जाकर अत्यन्त निर्बल सिद्ध होता है।" इससे यह परिणाम निकलता है कि यथार्थ का सामञ्जस्यपूर्ण रूप में निरूपण करना भी 'एक' योजना है जो अत्यावश्यक क्रियात्मक समझौता है, किन्तु अन्त में अत्यन्त दुर्बल सिद्ध होती है।" ब्रैडले की ही भांति शंकर की दृष्टि में भी तर्कशास्त्र की अशक्तता इसमें है कि वह ज्ञाता तथा ज्ञात के मध्य भेद की कल्पना कर लेता है। समस्त द्वैतभाव केवल मानसिक है।[७२७]

आचार्य के दर्शन की समालोचना उत्तरवर्ती दार्शनिक आचार्यों ने की है, जितनी अधिक आलोचना आचार्य शंकर के अद्वैतवेदान्तदर्शन की हुई है उतनी आलोचना सम्भवत: अन्य किसी दर्शन की नहीं हुई है। तर्क की उच्चतम अवस्था आचार्य शंकर के दर्शन में प्राप्त होती है। यद्यपि शंकर ने स्वयं माना है

---

७२६. भारतीय दर्शन, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ०५२-५४।
७२७. द्वैतं सर्वं मानसम्।।

कि तर्क से परमसत्ता को जानना सम्भव नहीं है। इसलिए उनके दर्शन को अज्ञेयवाद के नाम से जाना जाता है। शंकर केवल दार्शनिक ही नहीं थे, अपितु वे एक समाज सुधारवादी भी थे। उन्होंने रूढ़ियों का साहसपूर्वक विरोध ही नहीं किया, लेकिन क्रियात्मक रूप में क्रान्ति भी की है। इस विषय में उनके जीवन का एक उदाहरण पर्याप्त है शंकर के काल को बुद्ध के काल के पश्चात् लगभग २५० वर्ष के पश्चात् का काल मानना चाहिए। यद्यपि उनके अनुयायियों को ही उनके काल के विषय में अत्यधिक भ्रान्ति है, क्योंकि वे आचार्य शंकर के काल को १२ सौ पुराना ही मानते हैं। शंकर ने सबसे अधिक खण्डन अवैदिक बौद्ध दर्शन का किया है, वह युग बौद्धों की आंधी का युग था। समस्त भारत (जनता) बौद्धधर्म को अपना रही थी, तथा वैदिक मान्यताएं ध्वस्त हो रही थी, उस समय शंकर ने. आकर तर्क के तीर एवं श्रुतियों के प्रमाण से बौद्ध मान्यताओं का खण्डन किया। १२ सौ वर्ष के पूर्व तो बौद्धों का नाम केवल साहित्य तक सीमित रह गया था।

उस समय वह रूढ़ि परम्परा थी कि कोई संन्यासी अपने माता पिता की अन्त्येष्टि नहीं कर सकता था, शंकर ने संन्यास ग्रहण करते समय अपनी माता को यह वचन दिया था कि मैं आप का अन्तिमसंस्कार अवश्य करने आऊँगा। जब शंकर को यह समाचार मिला कि मेरी माता का स्वर्गवास हो गया है तो आचार्य शंकर अपने घर आये, तो समस्त ग्राम ने शंकर का बहिष्कार किया, उनके माता के शव के नीचे कन्धा देने से इन्कार कर दिया। शंकर ने इसकी परवाह नहीं की, अपनी माता के शरीर के टुकड़े करके उनको अपने सिर पर बांध श्मशान ले गये और अन्त्येष्टि संस्कार किया।

पंचम-अध्याय

रामानुज दर्शन

रामानुज दर्शन का प्रादुर्भाव अद्वैतवेदान्त के प्रत्याख्यान के लिए हुआ है।

अज्ञान का प्रत्याख्यान–

अद्वैतवेदान्त की मान्यता है कि अज्ञान भाव रूप है। इसका खण्डन करते हुए रामानुज कहते हैं कि मायावादियों के द्वारा अज्ञान को भाव रूप मानने के लिए तर्क देना ठीक वैसा ही असम्भव है जैसा कोई पशु आकाश का पागुर, जुगाली, चर्वितचर्वण करे, भाव के रूप में अज्ञान को मानना ज्ञानाभाव के रूप में मानने के ही बराबर है । इसमें दो विकल्प हो सकते हैं–अज्ञान के विषय आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तथा आश्रय अर्थात् आत्मा के रूप में, अज्ञान की व्यावर्तक बनकर, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है कि नहीं ? (मैं अज्ञ हूँ, 'इस अज्ञान की प्रतीति के समय उस ज्ञान स्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है कि नहीं ? यदि प्रतीति होती है तो स्वरूप के ज्ञान से निवृत्त होने वाला (ज्ञान का विरोधी) वह अज्ञान है'–इसलिए उस (ज्ञान) की प्रतीति होने पर ज्ञान किसी प्रकार नहीं रह सकता। क्योंकि अज्ञान आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जान लेने पर हट जाता है इसलिए स्वरूप के ज्ञान के बाद अज्ञान ठहरेगा ही नहीं। 'अज्ञान', में अज्ञान की प्रतीति के समय ज्ञान यदि रहे तो अज्ञान की प्रतीति कैसे हो सकेगी, अज्ञान कहाँ से रहेगा ? दूसरी ओर यदि आत्मा की प्रतीति नहीं होती, तो व्यावर्तक (अज्ञान का व्यावर्तक है आत्मा, प्रतीति बोध), आश्रय तथा विषय से शून्य होने से अज्ञान का अनुभव ही कैसे होगा?[१]

---

१. भावरूपस्याज्ञानस्य ज्ञानाभवेन समानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि–विषयत्वेनाश्रयत्वेन चाज्ञानस्य व्यावर्तकतया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो न वा?–सर्व दर्शन संग्रह, पृ० १६६

मायावादी यह कह सकते हैं कि आत्मा की जो प्रतीति स्फुट है वही अज्ञान (माया) का विरोध करती है। वह विशद आत्मप्रतीति अज्ञान के साथ नहीं होता तात्पर्य यही है कि अविशद आत्मप्रतीति अज्ञान का व्यावर्तक नहीं है, विशद से ही ऐसी आशा की जाए। रामानुज उत्तर में कहते हैं कि तब तो जो बात भाव-रूप अज्ञान मानकर आप कह रहे हैं, वही बात ज्ञानाभाव का विषय मानने पर होगी कि आधार और विरोधी–इन दोनों में विशद स्वरूपाबभास या आत्मप्रतीति विरोधी हो सकेगी, अविशद स्वरूपावभास नहीं, हाँ, यदि आप पक्षपात न करें तभी ऐसा कहेंगे, मायावादी लोग भावरूप मानने में जो पक्षपात करते हैं वह हम लोगों में नहीं है। इस प्रकार दोनों पक्षों से सिद्ध ज्ञानाभाव ही–'मैं अज्ञ हूँ, अपने आपको और दूसरे को भी नहीं जानता। इस वाक्य में अनुभूत होता है–ऐसा मानना चाहिए।[२]

शांकर वेदान्ती कह सकते हैं कि प्रस्तुत विवाद से ग्रस्त ज्ञान को अनुमान से सिद्ध क्यों नहीं मानते ? अनुमान इस प्रकार हो सकता है–(१) अविद्या को प्रमाणित करने वाला ज्ञान (पक्ष) किसी दूसरी वस्तु के बाद में होता है, जो वस्तु ज्ञान के प्राग्भाव से बिल्कुल भिन्न, ज्ञान के विषयों को ढँकने वाली, ज्ञान के द्वारा हट जाने वाली, तथा जो ज्ञान के स्थान में अवस्थित रहती है। (साध्य) (२) कारण यह है–प्रमाण ज्ञान अप्रकाशित वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, (हेतु) (३) जिस प्रकार अन्धकार में पहले-पहल उत्पन्न होने वाली दीप की प्रभा होती है (उदाहरण)[३]।

रामानुज का कहना है कि उपर्युक्त उक्ति भी तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकती। कारण यह है कि आप ज्ञान को दूसरी वस्तु अज्ञान के बाद सिद्ध करते हैं तो यह अज्ञान भी उसी हेतु से अप्रकाशित प्रपञ्च को प्रकाशित करने के कारण एक दूसरे अज्ञान की अपेक्षा रखेगा जो सिद्ध करना आपको अभीष्ट नहीं क्योंकि ऐसा करने पर दूसरे अज्ञान से प्रपञ्च का आवरण हो जाने पर संसार की ही संभावना मिट जायेगी जो आपके सिद्धांत के भी विरुद्ध है।

२. अथ विशदः स्वरूपावभास एवाज्ञानविरोधी, नाज्ञानेन सह भासत इत्याश्रयविषयज्ञाने सत्यपि नाज्ञानानुभवविरोध इति–हन्त, तर्हि ज्ञानाभावेऽपि समानमेतदन्यत्राभिनिवेशात्। –स०द०सं०, पृ० १६७

३. अस्तु तर्ह्यनुमानं मानं विवादास्पदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावस्यतिरिक्त स्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशगत-वस्त्वन्तर-पूर्वकम् अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वादन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत् इति। सर्व दर्शन संग्रह, पृ० १६८

अथवा इस दूसरे अज्ञान से आपके प्रस्तुत अनुमान का विषय–भावरूप अज्ञान का भी आवरण हो जायेगा और संसार की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

यदि आप भावरूप अज्ञान को या उसके साधक अनुमान को तथाकथित विशेषणों से युक्त किसी दूसरी वस्तु के पश्चात् सिद्ध नहीं करेंगे तो हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा। यहाँ हेतु है अप्रकाशितार्थ को प्रकाशित करने के कारण, यह हेतु साध्य के विरोधी स्थानों में भी रहता है इसलिए अनैकान्तिक अर्थात् अनिश्चित है। दूसरे उपर्युक्त अनुमान में दृष्टांत (साध्य को) सिद्ध करने की सामर्थ्य नहीं रखता क्योंकि वस्तुत: दीपक की प्रभा अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित नहीं करती, ज्ञान ही किसी वस्तु का प्रकाशन कर सकता है। दीपक के रहने पर भी ज्ञान से ही विषयों का प्रकाशन सम्भव है। दर्शनेन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न करती है, उसी समय प्रदीप तथा सहायक के रूप में प्रकाश के विरोधी निबीड़ अन्धकार को दूर करके थोड़ा सा उपकार ही भर करती है।[४]

आचार्य रामानुज ने अज्ञान का खण्डन करते हुए श्री भाष्य में निम्नलिखित रूप में अपना पक्ष प्रस्तुत किया है–

(१) **आश्रयानुपपत्ति**–आचार्य रामानुज के अनुसार अविद्या का आश्रय अनुपपन्न है। जीव और ब्रह्म दोनों ही अविद्या के आश्रय नहीं हो सकते हैं जीव को तो अविद्या का आश्रय इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि वह स्वयं अविद्या-कल्पित है[५]। जिसके कारण जो आभासित होता है वह अपने कारण का आश्रय नहीं हो सकता है। अविद्या की सिद्धि भी जीव के द्वारा ही होती है। इसलिए दोनों अन्योन्याश्रय हो जाते हैं। जीव की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। क्योंकि वह स्वयं अविद्या कल्पित ब्रह्म ही है। अत: अविद्या का आश्रय जीव नहीं हो सकता। ब्रह्म को भी अविद्या का आश्रय स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश ज्ञानस्वरूप होने से अविद्या विरोधी है।[६] यदि उसे

---

४. तदपि न क्षोदक्षमम्। अज्ञानेऽप्यनभिमताज्ञानान्तर साधनेऽपसिद्धान्तापातात्। तदसाधनेऽनैकान्तिकत्वात्। दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच्च। न हि प्रदीपप्रभाया अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वं सम्भवति। ज्ञानस्यैव प्रकाशत्वात्। सत्यपि प्रदीपे ज्ञानेन विषय प्रकाशसम्भवात्, प्रदीपप्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानं समुत्पादयतो विरोधिसत्तमंसनिरसनद्वारेणोपकारकत्वमात्रमेवेत्यलमति विस्तरेण।

–सं०द० सं०, पृ० १६८

५. न तावत् जीवमाश्रित्य, अविद्यापरिकल्पितत्वाज्जीवभावस्य। –श्रीभाष्य, अविद्याभंग।

६. नापिब्रह्माश्रित्य, तस्य स्वयंप्रकाशज्ञानस्वरूपत्वेनाविद्याविरोधत्वात्। –श्रीभाष्य।

अविद्या का आश्रय माना जायेगा तो वह सत्य और शुद्ध रूप नहीं रह सकता, क्योंकि अविद्या ज्ञान विरोधी है और ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है।

(२) **ब्रह्मावरणानुपपत्ति**–अद्वैतवादी मायावाद के सिद्धान्त के अनुसार आवरण शक्ति आच्छन्न रहने के कारण ही जीव अपने ब्रह्मस्वरूप का बोध करने में असमर्थ रहता है। उसकी प्रतिक्रिया में रामानुज कहते हैं कि प्रथम तो अविद्या के द्वारा ब्रह्म का आवरण करना ही असम्भव है, क्योंकि स्वयं प्रकाश चैतन्य किसी आवरण का विषय नहीं हो सकता, और यदि प्रकाशैकस्वरूपब्रह्म को अविद्यावृत्त मान ले तो इसका स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा, क्योंकि अविद्या के द्वारा उस प्रकाशैकरूपब्रह्म के प्रकाशतिरोधान का तात्पर्य होगा की वर्तमान प्रकाश का विनाश और भावी प्रकाशोत्पत्ति पर प्रतिबन्ध[७]। जबकि शुद्ध ज्ञान स्वरूप, नित्य और सत् परमात्मा कदापि आवरणीय नहीं है और यदि आपके सिद्धान्त द्वारा ऐसे वह अविद्यायुक्त हो जाता है तो उसका (अविद्या का) भी तिरोधान नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में व्यापक मिथ्यात्व (अविद्या; हो केवल मात्र यथार्थता रह जायेगी।

(३) **स्वरूपानुपपत्ति**–आचार्य रामानुज अविद्या की सत्ता के विषय में तीसरा बोध बताते हैं कि अविद्या का स्वरूप ही उपपन्न नहीं होता, क्योंकि उसको न तो सत् माना जा सकता है और न असत्। सत् मानने पर तो शंकर का अद्वैत का सिद्धान्त ही समाप्त हो जायेगा। क्योंकि अद्वैतवादी एक भाव ब्रह्म को ही सत् पदार्थ मानते हैं। अविद्या को असत्य भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि यदि हम उसको असत् मानते हैं तो उसका कारण भी अविद्या का असत् हेतु मानते, मानने पर अनवस्था दोष हो जायेगा। यदि अविद्या के नित्य होने पर उसका परिहार का परित्याग कथमपि सम्भव न होगा और इस प्रकार मोक्षादि का प्रश्न भी नहीं उठेगा।[८]

(४) **अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति**–शंकराचार्य ने अविद्या को अनिर्वचनीय बताया है। उसका खंडन करते हुए रामानुज कहते हैं कि संसार में दो ही प्रकार

---

७. अविद्याप्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्मतिरोहितमिति वदता स्वरूपनाश एवोक्तस्यात्। प्रकाशतिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्ति प्रतिबन्धः। विद्यमानस्य विनाशो वा।
–श्री भाष्य, अविद्याभंग।

८. ब्रह्मणो दोषत्वे सति तस्यानित्यत्वेनानिर्मोक्षश्च स्यात्।–श्री भाष्य, अविद्याभंग। प्रतीतेः सदसद्विलक्षण विषय सत्यमुपगम्यमाने सर्व सर्वप्रतीते विषयस्य।

के पदार्थ होते हैं–सत् और असत्। इन दोनों पदार्थों के अतिरिक्त कोई भी ज्ञान का विषय नहीं बनता। अर्थात् सदसद् विलक्षण वस्तु की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए अविद्या की अनिर्वचनीयता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कहने का अभिप्राय है कि संसार की सहमत वस्तुओं की प्रतीति उनकी सदसदाहारा है। यदि हम सदसद् वस्तु को भी सदसद्हारा प्रतीति का विषय मान लें तो सम्पूर्ण वस्तु जगत् की प्रतीति समस्त जीवों का विषय बन जायेंगी।[९] इस प्रकार पर्याप्त विरोध आ जायेगा। अतः सदसद्विलक्षण वस्तु की कल्पना ही असम्भव है।[१०] गीता में भी कहा गया हैं कि सत् का कभी अभाव नहीं होता और असत् की कभी प्रतीति नहीं होती।[११]

(५) **प्रमाणानुपपत्ति**–आचार्य रामानुज के अनुसार अविद्या की असिद्धि में पाँचवाँ हेतु उसकी सत्ता का किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध न होना है । सदसद् विलक्षण अविद्या की सत्ता या असत्ता का साक्षात्कार हमें कभी भी प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता और न ही किसी भी अनिर्वचनीय पदार्थ का प्रत्यक्ष किया जाता है। अविद्या का कोई लिंग या धर्म भी नहीं है जिससे उसका अनुमान किया जाता है। अविद्या अनुमान प्रमाण के द्वारा भी श्रेय नहीं और न ही शास्त्रादि शब्द प्रमाण के द्वारा ऐसी सदसद्विलक्षण अविद्या का बन्धन किया गया है। धर्मशास्त्रों में माया शब्द का प्रयोग तो अवश्य हुआ है, किन्तु उसका तात्पर्य वहाँ नित्य स्थायी अविद्या न होकर ईश्वर की अद्भुत शक्ति से हैं।[१२]

(६) **निवर्तकानुपपत्ति**–अद्वैतवेदान्त का यह सिद्धान्त की सृष्टि के अनुसार निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान से अविद्या की त्रिवृत्ति होती है। सर्वथा असंगत है। निर्गुण या निर्विशेष का ज्ञान रामानुज के अनुसार सर्वथा सम्भव है। अमूर्त भाषात्मक ज्ञान के द्वारा अविद्या रूपी जो एक ठोस यथार्थता है, उसका विनाश नहीं हो सकता। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव........... नाऽन्य, पन्था विद्यतेऽयनाय विप्रासदिविशिटा विषयज्ञान के ही मोक्ष का उपाय बताने वाली इस निर्विशेष ज्ञानं को ये तथा अन्य श्रुतिवाक्य विरोधी है। ब्रह्म के

---

९. सर्वं हि वस्तुजात प्रतीति व्यवस्थापरम्। सर्वा न प्रतीतिः सदसदाकारा। सदसदाकारो-ऽथस्तु प्रतीतेः सदसद्विलक्षण विषय सत्यमुपगम्यमाने सर्व सर्वप्रतीते विषयस्य।

१०. सदसद्विलक्षणं च व्याप्ति विरोधाद्नुपपन्न।–श्री भाष्य, अविद्याभंग।

११. गीता–२.१६

१२. श्री भाष्य, अवद्याभंग।

सगुण या सविशेष होने के कारण समस्त श्रुति वाक्य सगुण ब्रह्म ज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि का प्रतिपादन करती है।[१३] अत: निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान से कथमपि अविद्यानिवृत्ति आचार्य रामानुज के मतानुसार सम्भव नहीं है।

(७) **निवृत्त्यनुपपत्ति**—जीवात्मा को ब्रह्म का अभेद ज्ञान (निवर्तक ज्ञान) होने पर अविद्या की निवृत्ति हो जाती है और इस निवर्तक ज्ञान से मोक्ष हो जाता है। ऐसा अद्वैतवादियों का मत है। रामानुज के मतानुसार यह भ्रामक बात है। क्योंकि बन्धन पारमार्थिक है इसलिए उसकी निवृत्ति इस तथाकथित निवर्तक ज्ञान के द्वारा सम्भव नहीं है।[१४] पुण्यापुण्य कर्मों के स्वरूप देवादि के शरीर में प्रवेश करने से होने वाले छुआछूतानुभव रूप बन्धन को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के बन्धन से निवृत्ति तो रामानुज के मतानुसार भक्ति सम्बद्धधिक उपासना के द्वारा प्रसन्न परम पुरुष के अनुग्रह से ही उपलब्ध है। अविद्या मात्र की निवृत्ति से नहीं।

इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्मातिरिक्त सब मिथ्या है। अत: अविद्या निवृत्ति रूप ज्ञान भी ब्रह्मातिरिक्त होने से अविद्या रूप मिथ्या ही होगा। अद्वैतवादी तर्क करते हैं कि यह निवर्तक ज्ञान अग्नि, पिण्ड की भाँति अज्ञ को (अर्थात् अज्ञान) को जलाकर तथा स्वयं को भी जलाकर समाप्त कर देता है अर्थात् जीवात्मा द्वारा ब्रह्मैक्यज्ञान अविद्या को समाप्त कर उसके जीवभाव को भी समाप्त कर देता है और इसका परमब्रह्म में नित्य हो जाता है। किन्तु रामानुज इस बात को नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि जिस प्रकार वन के जल जाने पर अग्नि-पिण्ड की राख उस वन व अग्नि-पिण्ड की द्योतक रह जाती है। उसी प्रकार इस अविद्या रूप राख के कारण मोक्ष फिर भी अप्राप्त रह जाता है। अत: अविद्या निवृत्ति रूप ब्रह्मैक्य ज्ञान मात्र से मोक्ष कथमपि सम्भव नहीं है। फलस्वरूप अविद्या की निवृत्ति भी नहीं हो सकती।

प्रमाण—रामानुज प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण को स्वीकार करते हैं। रामानुज के उत्तरवर्ती आचार्य एक तथा दो प्रमाण जोड़ देते हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष का विषय वह है जो वस्तुओं में भेद के द्वारा प्राप्त होता है। इसी में उसकी आकृति का निर्माण होता है, वहीं विद्यमान है। वेदान्त कारिकावली में भी तीन

---

१३. ब्राह्मण: सविशेषत्वादेव सर्वाण्यपि वाक्यानि सविशेषाज्ज्ञानादेव मोक्षं वदन्ति।
—श्री भाष्य, अविद्या भंग

१४. बन्धस्य पारसपार्थिकत्वेन ज्ञाननिर्वृत्यत्वाभावात्। —वही।

प्रकार के ही प्रमाण माने गये हैं। न्याय परिशुद्धि में भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों को ही गिनाया गया है।[१५] आचार्य रामानुज ज्ञानप्राप्ति के स्रोतों में, उन्हीं स्रोतों को स्वीकार करते हैं जो यतीन्द्रमत दीपिका में बतलाए गए हैं। इन्द्रिय, वस्तु, मन आदि ही ज्ञान प्राप्ति के स्रोत हैं।

रामानुज प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद करते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु का जाति आदि सहित परिपूर्ण ज्ञान नहीं होता। वास्तव में इसके द्वारा सोपाधिक ज्ञान नहीं होता है। यह तो विशुद्ध सत् है। यह ज्ञान परस्पर सम्बद्ध होता है। यह पूर्व श्रेणी का नहीं है क्योंकि पदार्थों का बोध सब प्रकार के भेद-भाव के तत्वों से सर्वथा शून्य रूप में करना असम्भव है। चेतनता का अनिवार्य स्वरूप भेद करना है और हम बिना उसके विशेष लक्षणों को जाने बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकते। समस्त पदार्थों का ज्ञान पदार्थ के किसी न किसी विशेष गुण से मिश्रित ही होता है।[१६] क्योंकि सविकल्प प्रत्यक्ष में भी केवल वे गुण ही जिनका बोध निर्विकल्प प्रत्यक्ष में हुआ था, स्मरण होते हैं दोनों के बीच में भेद इसका ही है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष में हम एक व्यक्ति को सबसे पहले देखते हैं और यद्यपि हम उसके वर्गगत स्वरूप का बोध करते हैं, हमें इस विषय का निश्चय नहीं होता कि अमुक लक्षण उक्त वर्ग के अन्य व्यक्तियों में भी सामान्य रूप में पाया जाता है या नहीं।[१७] किन्तु जब हम उसी व्यक्ति को दूसरी तथा तीसरी बार देखते हैं तो हम उस जातिगत लक्षण के समस्त वर्ग के अन्दर समान रूप से विद्यमान होने का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।[१८]

रामानुज की दृष्टि में केवल व्यक्ति ही यथार्थ सत्ता रखते हैं, वर्ग अथवा श्रेणीगत तत्व नाम की कोई वस्तु उनके अन्दर विद्यमान नहीं होती, यद्यपि व्यक्ति के अन्दर सादृश्य रूपी तथ्य से अपना एक सामान्य प्रत्यय बना लेते है। वह सादृश्य ही होता है किन्तु वह उसके अंशों की व्यवस्था अर्थात् संस्थान है। हम उस सादृश्य रूपी तथ्य से अपना एक सामान्य प्रत्यय बना लेते हैं। वह सादृश्य ही है जो किस उसी शब्द के प्रयोग का आधार है। वेदान्तिक तर्क करता है कि

१५. तत्त्वमुक्ताकलाप, ३:२८।

१६. ब्राह्म गुणों का तो प्रत्यक्ष हो जाता है। जब हम किसी शब्द को सुनते हैं तो कानों की वृत्ति बाहर की ओर होती है। वायु इन्द्रियों का विषय है। प्रकाश का ज्ञान स्पर्श तथा चक्षु इन्द्रिय के द्वारा हो सकता है, भले ही वह ज्ञान गन्धविहीन हो।

१७. सविशेषवस्तु विषयत्वात् सर्वप्रमाणानाम् (१:१)

१८. तत्वमुक्ताकलाप, ४:३२ ।

भेद अपने आप में किसी भाँति भी उस तथ्य से सम्बद्ध नहीं है जिसे यह भिन्न करता है। तदनुसार हमें तथ्य का ज्ञान भी कराता है और भेद भी बताता है[१९]। वे दोनों एक दूसरे का निर्णय करते हुए प्रतीत होते हैं जब उन्हें परस्पर संयुक्त करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। किन्तु यदि हम इन सबको मान भी लें तो भी किसी प्रकार कोई भेद कुछ भी भिन्नता प्रकट नहीं कर सकता, यह समझना कठिन है।

रामानुज के अनुयायी योग द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष को ज्ञान का निरपेक्ष साधन स्वीकार नहीं करते, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का विशेष क्षेत्र रखती है, और वह चाहे कितनी ही प्रशिक्षित क्यों न हो, अन्य इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। कान देखने का कार्य नहीं कर सकता और न आँख सुन सकती है। यदि योग द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा कार्य करे तब यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है, और यदि यह सब प्रकार के अनुभव से स्वतंत्र है तब वह अप्रामाणिक है।

स्मृति को प्रामाणिक माना गया है और इसे पृथक् स्थान दिया गया है। हम इसे प्रत्यक्ष ज्ञान की श्रेणी में नहीं रख सकते, केवल इसलिये कि समस्त स्मरण विषयक ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान की पूर्व कल्पना कर लेता है, क्योंकि उस अवस्था में अनुमान के भी जो प्रत्यक्ष ज्ञान को पूर्व से मान लेता है, प्रत्यक्ष की कोटि में रखना पड़ेगा।

अनुमान ऐसा ज्ञान है जो एक सामान्य सिद्धान्त से निकाला जाता है। वस्तुतः एक ही घटना सामान्य सिद्धान्त को सुझाने वाली हो सकती है। एक से अधिक बार की घटनाएँ हमें संदेह के निवारण में सहायता करती है। तर्क के द्वारा अथवा परोक्षप्रमाण के द्वारा तथा विधि और निषेधात्मक दोनों प्रकार की घटनाओं से हम गौण विषयों को हटाकर सामान्य नियम की स्थापना करते हैं। अवयव घटित वाक्य में तीन अवयव होते हैं अर्थात् न्याय के पंचावयव-घटित वाक्य के या तो पहले तीन या पिछले तीन अवयव, उपमान प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है क्योंकि यह मानो स्मृति की अवस्था है अथवा अनुमान की अवस्था है। अर्थापत्ति और सम्भव को भी अनुमान की कोटि में ही ले लिया गया है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार व्याप्ति–

व्याप्त साध्य की अपेक्षा अधिक देश तथा अधिक काल में नहीं रहता है,

१९. सर्वार्थसिद्धि ५:१४

व्यापक की अपेक्षा न्यूनदेश अथवा न्यूनकाल में नहीं रहता है। व्याप्य व्यापक का अविनाभूत है। अर्थात् व्यापक के बिना व्याप्य नहीं रहता है। व्यापक व्याप्य का प्रति सम्बन्धी होता है। व्याप्य से व्यापक का उपाधि रहित सम्बन्ध व्याप्ति कहलाती है। उस व्याप्ति का ग्रहण, जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि रहती है। इस प्रकार बार-बार देखने से होता है। व्याप्ति दो प्रकार की होती है—अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। साधन का सद्भाव बतलाकर साध्य का सदभावप्रति पदानुपरस्पर गृहीत हो जाने वाली व्याप्ति अन्वयव्याप्ति है, जैसे जो धूमवाला होता है वह अग्निवाला होता है। साध्य का निषेध करके साधन का निषेध पूर्वक गृहीत की जाने वाली व्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति कहलाती है। जैसे जो-जो अग्नि रहित रहता है वह निर्धूम होता है। यह दोनों प्रकार की व्याप्ति उपाधि के रहने पर दूषित हो जाती है।[२०]

जो साध्य में व्यापक रहते हुए साधन में व्यापक न हो उसे उपाधि कहते हैं, जैसे वह्निरूपी साधन के द्वारा धूम रूपी साध्य की सिद्धि में आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है जैसे जो मैत्री का पुत्र होता है वह श्याम वर्ण का होता है। ''यहाँ पर शकपाक-जत्व उपाधि है। वह उपाधि दो प्रकार की होती है—निश्चित एवं शंकित। निश्चित उपाधि का उदाहरण है—विवादास्पद सेवा दुःखद होती है, क्योंकि वह सेवा राजा की सेवा के समान है। यहाँ पर पापारब्धत्व उपाधि है। किन्तु दुःख प्रदत्त ईश्वर की सेवा में नहीं है, यह निश्चय हो जाने से निश्चितोपाधि है। शंकितोपाधि ईश्वर की सेवा में नहीं है, यह निश्चय हो जाने से निश्चितोपाधि है, शंकितोपाधि का उदाहरण है—विवादास्पद जीव इस शरीर की समाप्ति पर मुक्ति प्राप्त कर लेगा, क्योंकि उसकी समाधि शुक आदि के समान निष्पन्न हो गई है। यहाँ पर कर्मों का अत्यन्त विनाश ही उपाधि है। यह कर्मों का आत्यन्तिक विनाश इस निष्पन्न समाधि वाले जीव का हो चुका है कि नहीं? यह सन्दिग्ध है, अतएव यह शंकितोपाधि का उदाहरण है। अतः सिद्ध हुआ कि उपाधि रहित

२०. अनधिगतदेशकालनियमं व्याप्यम्। अन्यूनदेशकालवृत्तिर्व्यापकम्। तद्दिमबिनाभूतं व्याप्यम् तत्प्रतिसम्बन्धि व्याप्यमिति। तेन निरूपाधिकतया नियतसम्बधो व्याप्तिरित्युक्तं भवति। यत्र धूमस्तत्रवह्निरिति व्याप्तिर्भूयो दर्शनेन गृह्यते। व्याप्तिर्द्विधाअन्वयव्यतिरेक भेदात्। साधनविधौ साध्यविधिरूपेण प्रदत्ता व्याप्तिरन्वव्याप्तिः यथा यो धूमवान् सोऽग्निमानिति। साध्यनिषेधे साधननिषेधरूपेण प्रवृत्ता व्याप्तिर्व्यतिरेक व्याप्ति। यथा योऽनग्निः सनिर्धूम इति। सेममुभयविधा व्याप्तिरूपाधिसम्भवे दुष्टा।
—यतीन्द्रमतदीपिका, अनु० प्र०

सम्बन्ध वाला ही व्याप्त होता है। दोनों के अनुसार लिंग-लिंगी साहचर्यों का ज्ञान, सपक्ष विपक्ष परामर्श ज्ञान, पक्ष-पक्षतादि पर विचार।[२१]

रामानुज सिद्धान्त के अनुसार अनुमान के भेद–

विशिष्टाद्वैत दर्शन में यह स्वीकार किया जाता है कि व्याप्ति एवं पक्ष धर्मता से विशिष्ट हेतु के द्वारा ज्ञाता का जो ज्ञान होता है वह अपने लिए ही होता है अतएव सभी अनुमानों को स्वार्थ और परार्थ दो भागों में विभक्त करके कुछ लोगों ने उसके दो भाग किये हैं–स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। किन्तु सिद्धान्त में सभी अनुमानों को स्वार्थ ही माना है। सिद्धान्तों का कहना है कि सभी अनुमान अपने ही प्रति संधानार्थ प्रवृत्त होते हैं। अतएव सभी स्वार्थानुमान ही होते हैं परार्थ नहीं।[२२] आचार्य वेंकटनाथ ने भी अपने ग्रन्थ न्यायपरिशुद्धि में ऐसा ही लिखा है कि कुछ अनुमान के स्वार्थ और परमार्थ भेद से दो प्रकार का विभाजन करते हैं। जबकि स्वप्रतिसन्धानादि बल से या स्वव्यवहार मात्र हेतु से अनुमान स्वार्थ ही है।[२३] इस प्रकार निष्कर्ष निकला कि विशिष्टाद्वैत में एक ही प्रकार का अनुमान ग्रहीत है और यह है स्वार्थानुमान। परार्थानुमान का ग्रहण भी स्वार्थानुमान में ही हो जाता है।

शब्द प्रमाण–

श्री निवासाचार्य ने यतीन्द्रमत दीपिका में शब्द प्रमाण का निरूपण किया है। जो वेंकटनाथ की न्याय परिशुद्धि में वर्णित शब्द प्रमाण के अनुरूप है। उनके अनुसार जो अनाप्त व्यक्ति के द्वारा नहीं कहा गया हो। उस वाक्य से उत्पन्न अर्थ का ज्ञान ही शब्द ज्ञान है। उस शब्द ज्ञान के साधकतम को शब्द प्रमाण कहते हैं। लक्षण में अनाप्तयुक्त पद का सन्निर्देश करके वेदों को पौरुषेय मानने वाले

---

२१. साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। यथा वह्नि धूमोसाध्यमाने आद्रेन्धनसंयोग उपाधिः। मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वे साध्यमाने शाकपाकजत्वमुपाधिः। स सोपाधिर्द्विविधः निश्चितः शंकितश्चेति।....। अतो निरूपाधिकसम्बन्धवद्व्याप्यमिति सिद्धम्। –यतीन्द्रमतदीपिका, अनु० प्र०

२२. तदेतदनुमानं स्वार्थ परार्थ-इति द्विधा विभज्य केचिदाहुः। सर्वेषामेवानुमानानां स्वप्रति संधानादिबलेन प्रवृत्ततया स्वव्यवहारमात्रहेतुत्वमिति स्वार्थानुमानमेवेत्यपरे–अ० प्र०

२३. तदिदमनुमानं स्वार्थ परार्थ चेतिकेचिद्विभजन्ते तदयुक्तम्। सर्वेषामप्युप्मानानां स्वप्रति-सन्धानादिबलेन प्रवृत्ततया स्वव्यहारमात्रहेतुत्वेन च स्वार्थत्वात्।

–न्या० परि० अनु०, पृ० १५४

नैयायिकों के मत का निरास किया गया है। अथवा ऐसे वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं, जो कारण दोष तथा बाधक ज्ञान से रहित है। सृष्टि के आरम्भ में श्री भगवान् विशिष्ट वेदों को स्मरण करके ब्रह्मा को उनका उपदेश देते हैं, इस उक्ति के अनुसार वेदों की नित्यता तथा अपौरुषेयता सिद्ध होती है। अतः वेदों में कारण दोष तथा बाधक प्रत्यय का अभाव है।[२४]

शब्द प्रमा के साधकतम को शब्दप्रमाण कहते हैं। ऐसा वाक्य अनाप्त पुरुष के द्वारा नहीं कहा गया हो, उस वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थ बतलाकर कहा गया है कि शब्द ज्ञान के जनक वाक्य का किसी पुरुष के द्वारा उक्त होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वेद जो अपौरुषेय है, उनका प्रवक्ता कोई पुरुष नहीं है। ईश्वर भी उन वाक्यों के स्वतन्त्र वक्ता नहीं है। ईश्वर तो सृष्टि के आरम्भ में पूर्वकल्प में विद्यमान यथा यथा आनुपूर्वी सहित वेदों का स्मरण करके उनका उपदेश ब्रह्मा को दे देते हैं। एतावता स्पष्ट है कि ईश्वर भी वेदों के वक्ता नहीं है। अतएव वेद किसी पुरुष विशेष द्वारा उक्त नहीं हैं। अपितु वे अपौरुषेय हैं तथा नित्य है। सर्वदा एक समान आनुपूर्वी से युक्त रहना ही वेदों की नित्यता है। जिसकी रचना किसी पुरुष की बुद्धि के अधीन नहीं हुई है। विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार वाक्य का मुक्त होना आवश्यक नहीं किन्तु यदि वाक्य किसी स्वतन्त्र वक्ता द्वारा उक्त है तो उसका वक्ता अनाप्त नहीं होना चाहिए, आपितु उसे आप्त होना चाहिए। आप्त उसे कहते हैं जो किसी भी कारणवश अयथार्थ न कहे, अपितु जो सदा यथार्थ ही कहे उसे आप्त कहते हैं।

शब्दप्रमाण का दूसरा लक्षण करते हुए यतीन्द्रमत दीपिकाकार कहते हैं–अथवा जो कारणदोष एवं बाधक प्रत्यय से रहित होता है वही वाक्य शब्द प्रमा का जनक होता है, क्योंकि वेद नित्य है, अतएव पौरुषेय वाक्यों में होने वाले भ्रम प्रमाण करणपाटव विप्रलिप्सा रूपी कारण दोषों का अभाव है। वेद वाक्य यथार्थज्ञान का प्रतिपादन करते हैं। अतएव उन ज्ञानों का कोई भी बाधक ज्ञान नहीं है। इस प्रकार वेद वाक्य शब्द प्रमा के जनक हैं। लोक में भी आप्त पुरुषों द्वारा प्रोक्त वाक्य कारण दोष एवं बाधक प्रत्यय से रहित होते हैं। अतएव वे भी शब्द प्रमाण के जनक होते हैं।

---

२४. अनाप्तानुक्तवाक्यजनितदर्थविज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं शब्द प्रमाणम्। अनाप्तानुक्तेत्युक्तत्वादेरस्य पौरुषेयत्वमतनिरासः। कारणदोषबाधक प्रत्ययायथावद्वाक्यं वा। सर्गादौ भगवान् चतुर्मुखाय पूर्वपूर्वक्रमविशिष्टान्वेदान् स्मृत्वाउपदिशतीत्युक्त्यावेदस्य नित्यत्वमपौरुषेयत्वं च सिद्धिमिति कारण दोषाभावो बाधक प्रत्याभावश्च।

–य० म० दी० तृ० अ०

बल्लभमत में शब्दप्रमाण–

बल्लभ सम्प्रदाय ने वेदों को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना गया है। जो वेदमूलक नहीं है वे सब अप्रामाणिक है। वेद ही आप्तोपदिष्ट होने से प्रामाणिक है। परमेश्वर ही परमआप्त है। उनके द्वारा प्रोक्त वेद भी आप्त माने जाते हैं। आप्त का अर्थ है यथा स्थिति अर्थ का प्रतिपादक पुरुष। आप्तपुरुष दो प्रकार के हैं लौकिक और अलौकिक। लौकिक आप्तपुरुष हम लोगों में से कोई-कोई होता है। अलौकिक आप्तपुरुष ऋषियों से आरम्भ होकर ईश्वर तक माने जाते हैं। ये आप्त वाक्य उत्तरोत्तर प्रवृद्ध होते हुए परमआप्त ईश्वर में पर्यवसित होते हैं। अतएव ईश्वर के उपदेश रूप वेद ही श्रेष्ठ प्रमाण है तथा शब्द में भी अलौकिक अर्थ के ज्ञापक शब्दो को प्रमाण माना है इन्हीं को बल्लभाचार्य ने स्वतः सिद्ध प्रमाण माना है अर्थात् शब्द की प्रमाणिकता स्वतः सिद्ध निरपेक्ष व नित्य है।

वेद अन्तर्यामी संकल्प से सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ के पूर्व स्वप्न पदार्थ के समान केवल प्रतिभा मात्र से अनुभव किये गए हैं। ईश्वर सर्वज्ञ होने से उसी के समान निर्माण करता है। अपने तत्वार्थदीपनिबन्ध नामक ग्रंथ में वल्लभाचार्य ने कहा है कि वेद श्री कृष्ण के वचन (गीता), व्यास की समाधि भाषा से चार ही प्रमाण है।[२६] उसमें वेदाः पद बहुवचनान्त होने के कारण वेद के कर्म और ज्ञान दोनों काण्डों में प्रयुक्त समस्त वाक्य, पद, अर्थवाद आदि रूप वाक्य सभी का समावेश हो जाता है अर्थात् वेदों के प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप में बल्लभाचार्य ने स्वीकार किया है। प्रस्थान रत्नाकर में पुरुषोत्तम ने भी वेद के वाक्य, इनके अर्थ अर्थवाद, आदि का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया है। उन्होंने वेदों के समस्त प्रकार के अर्थों, पदों वाक्यों आदि को प्रामाणिक माना है। अर्थ ज्ञान पर्यन्त वेद का अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि केवल वेदों के पठन मात्र से सन्देह उत्पन्न नहीं होता सन्देह की उत्पत्ति नहीं होने पर ब्रह्मसूत्र द्वारा निर्णीत अर्थ प्रयोजनहीन हो जायेंगे।

श्रीमद्भगवद् गीता को भी बल्लभाचार्य ने प्रमाण स्वीकार किया है। यद्यपि श्रीमद्भगवद् गीता श्रीकृष्ण के वाक्य होने से वेदों में ही परिगणित है तथापि

---

२५. शब्द एव प्रमाणम् तत्राप्यलौकिकज्ञापकमेव। तस्मात् सिद्धप्रमाणभावे प्रमाणम्। –तत्वार्थदीनिबन्ध, शास्त्रार्थ प्र०, पृ० २७

२६. वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्यासूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्यप्रमाणं तच्चतुष्टयम्।। –तत्व० मि० शा० प्र० कारिका-७

भगवान् श्रीकृष्ण ने उसका उपदेश अर्जुन को उसके अधिकार के अनुरूप स्मृतिरूप में दिया था। स्मृति के रूप में उपदिष्ट होने के कारण श्रीमद्भगवद् गीता को वेदों से अलग माना गया है। स्मृति का मूल अनुभव है। अतः स्मृति भी प्रमाण है। वेदों का उपवृंहण इतिहास तथा पुराण से होता है। अतः रामायण, महाभारत तथा पुराण भी प्रमाण माने जाते हैं। ये सब वेदों के व्याख्या ग्रंथ है। श्रुति, स्मृति तथा पुराणों में जहाँ परस्पर विरोध प्रतीत होता है वहाँ श्रुतिएँ ही वलवती मानी जाती है। जहाँ स्मृति तथा प्रमाणों में विरोध प्रतीत हो वहाँ श्रुति ही बलवती मानी जाती है।[२७] इसी प्रकार सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, योगवासिष्ठ रामायणादि ग्रंथों के सम्बन्धांश ही प्रामाणिक माने गये हैं। तन्त्रों को भी श्रुति के अविरोध से प्रमाण की गणना में किया जाता है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण शब्द प्रमाण की तुलना में निर्धन माने जाते हैं क्योंकि ईश्वर की अपेक्षा लौकिक पुरुषों में अविद्या अन्धकार के कारण अल्पज्ञता होती है। भ्रम, प्रमाद तथा विप्रलिप्सा आदि लौकिक पुरुषों के अविद्याजन्य दोष के कारण उससे भी हीन प्रमाण माने जाते हैं। प्रसिद्ध लौकिक अर्थ के ज्ञापक शब्द गौण रूप में ही प्रमाण होते हैं। इस प्रकार अदृष्टार्थवादी वक्ता के वाक्यों के अप्रामाणिक होने पर भी प्रमेय बल द्वारा वे प्रामाणिक माने जाते हैं। अतः वेद ही स्वतःप्रमाण है। वेदों का अर्थ निर्णय करने के लिए तथा सन्देह का निवारण करने के लिए स्मृति, पुराण, मीमांसा आदि भी प्रमाण माने गये हैं। श्रीमद्भगवद् गीता में सन्देह उत्पन्न होने पर, व्यास सूत्रों और जैमिनी सूत्रों से निर्णय करना चाहिए। जैमिनी सूत्रों में भी सन्देह उत्पन्न होने पर श्रीमद्महापुराण द्वारा सन्देह का निवारण करना चाहिए।[२८] यही भाव बल्लभाचार्य ने तत्वदीपनिबन्ध नामक ग्रंथ में प्रकट किया है कि वेद श्रीमद्भगवद् गीता, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भागवत इन चारों प्रमाणों में से प्रत्येक उत्तरावर्ती प्रमाण अपने पूर्ववर्ती प्रमाणों में उत्पन्न होने वाले सन्देह का विशेष रूप से निराकरण करने वाला होता है।[२९] इस प्रकार एक के पश्चात् दूसरे का विरोध उत्पन्न होने पर जो अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार भासित होता है वही

---

२७. श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यदि दृश्यते।
तत्र श्रुतिर्बलिष्ठः स्यात् तयोर्दैधे समृतिर्वरा।। —प्रस्थान रत्नाकर, पृ० १०५

२८. अतौ गौण मुख्य भावस्य सत्वाद् वेदे सन्देहे भगवद्गीतावाक्यनिर्णयः तत्र सन्देहे व्याससूत्रैः जैमिनीयैश्च। तत्रापि सन्देहे श्री भागवतेन समानुभूय भगवदवतारेण व्यासेनोक्तत्वात्।—प्र० र०, पृ० १०५

२९. उत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वस्य सन्देहवारकं प्रकर्षेण कीर्तितम्।—तत्व: नि० प्र०

अर्थाभास कहलाता है। अर्थाभास होने पर चारों में जहाँ एक वाक्यता (वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र, भागवत) हो वहीं जिज्ञासा दशा में प्रामाणिक होता है। इन चारों प्रमाणों में अविरोध प्रमाण भी अप्रामाणिक नहीं है। इनके विरोधी अर्थ या अनर्थ वाक्य किसी भी अवस्था में प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं। वेदादि से कहीं विरोध नहीं माना जा सकता। बल्लभाचार्य ने धर्म के विषय में श्रुति व स्मृति दोनों का प्रमाण माना है, परन्तु भगवान् रूप के विषय में मनुस्मृति आदि तत्काल आदि तदनुकूल होने पर ही प्रमाण है। विरुद्ध दशा में समस्त वाङ्मय ही वेद के तुल्य ही हैं। अतएव शब्द ज्ञान अर्थात् शब्द द्वारा शब्द से उत्पन्न होने के कारण परोक्ष का निश्चायक ज्ञान होता है।

इस प्रकार वेद, श्रीमद्भगवद् गीता, व्यास सूत्र और श्रीमद्भागवत एक ही अर्थ के बोधक होने पर प्रामाणिक ज्ञान की उत्पत्ति करते हैं। पूर्वज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् नाम एवं लीला भेद से समस्त वाक्यों के रूप में भगवान् के ही प्रकाशित होने के कारण समस्त वाक्य अर्थात् वाङ्मय ही प्रमाण होते हैं अर्थात् भगवान् एकमात्र तत्व हैं जो नियत रूप से सर्वत्र अंश में ही प्रकट होते हैं। अतः समस्त वाक्य वाङ्मय प्रमाण है।[३०] वहाँ उसी पदार्थ की प्रतीति होती है। जिस प्रकार सर्प कभी रज्जु कभी कुण्डलाकार और कभी भिन्न आकारों वाला हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप भी सब प्रकार का होते हुए भी भक्त की इच्छा के अनुरूप विशेष रूपों में प्रगट होता है।[३१] इसी प्रकार समस्त शब्द सारे अर्थों की प्रतीति कराते हैं क्योंकि समस्त शब्द भगवान् के ही वाचक हैं किन्तु भगवदिच्छा से एक शब्द में एक ही अर्थ प्रकट होने के कारण शब्द विशेष अर्थ विशेष का वाचक हो जाता है। अतः शब्द को ही पुरुषोत्तम ने सबसे बलवान् प्रमाण है।

रामानुज मत में उपमान प्रमाण–

उत्तर मीमांसीय विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय ज्ञान के मात्र तीन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ही स्रोत स्वीकार करते हैं। अन्य ज्ञान के साधनों का प्रत्यक्षादि में अन्तर्भाव करते हैं। अतः उपमान का भी अनुमान आदि में अन्तर्भाव हो जाता है।

---

३०. अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदतः। –शा० प्र० का० ९
विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि ।।–तत्व० ४

३१. यथा सर्पः ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वप्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति।–ब्र० सू० अणु० भा० ३/२/२७

जैसे अतिदेश वाक्य के स्मरण के अर्थ की सहायता से सादृश्य विशिष्ट पिण्ड का ज्ञान उपमान कहलाता है। गवय को नहीं जानने वाला व्यक्ति जैसी गौ होती है वैसा ही गवय होता है, ऐसा सुनकर वन में जाने पर अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मण करते हुए जब गौ के सादृश्य विशिष्ट पिण्ड को देखता है तो उस वाक्य के अर्थ के स्मरण की सहायता से उसे गौ सादृश्य विशिष्ट पिण्ड का ज्ञान होता है। इसी को उपमान कहते हैं। उसका व्याप्तिग्रह सापेक्ष होने से उपामन में अन्तर्भाव होता है। किन्तु वह ज्ञान वाक्य जन्य होता है। अतएव उसका शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव होता है।[३२] इस प्रकार उपमान ज्ञान का सर्वात्मना प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः उपमान को एक अतिरिक्त प्रमाण मानना उचित नहीं है।

वल्लभाचार्य दर्शन में उपमान–

वल्लभवेदान्ती भी उपमान प्रमाण को पृथक् प्रमाण स्वीकार नहीं करते हैं। इसके खण्डन के लिए वल्लभ वेदान्ती का कथन है कि सादृश्य तथा अतिदेश वाक्यार्थ के स्मरण के साथ नेत्रेन्द्रिय से ही संज्ञा तथा संज्ञी के ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, सादृश्यज्ञान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना युक्ति संगत नहीं है अन्यथा योग्यानुपलब्धि को भी प्रमाणान्तर मानना पड़ेगा। इस प्रकार उपमान का प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव करने से तो उपमान की परोक्षता नष्ट होती है तो वल्लभ वेदान्ती को इष्टापत्ति है। अथवा उपमान का मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए क्योंकि अतिदेश वाक्य के लक्षण से पूर्ण जाना हुआ और पदार्थ के स्फुरण मात्र से स्फुरित सादृश्य के संस्कार द्वारा शब्दाभिव्यक्ति होने पर वाक्य के सहकार से ही मानसिक गवय पद वाक्य पदार्थ का संज्ञा संज्ञी सम्बन्धी है। घोड़ा खड़ा है, व्यक्ति देखता है। आदि वाक्यों से श्रोताओं की आकांक्षा को पूरा कर देने से यह वाक्य बन जाता है।

ख्यातिवाद–भ्रम स्थल में, जिसको कि ख्यातिवाद कहते हैं निम्नलिखित प्रकार की ख्याति स्वीकार की जाती है–आत्मख्याति, असत् ख्याति, अनिर्वचनीय ख्याति, अख्याति, सदसद् ख्याति और सत् ख्याति के रूप में मानी जाती है।

३२. एवमनुमानं निरूपिते उपमानादेरनुमानादावन्तर्भावः। यथा–अतिदेशवाक्यार्थ–स्मरण–सहकृतसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमनुमानम्। गवयाज्ञानमपि यथा गौस्तथा गवय इति कुतश्चिदारण्यकाच्छ्रुत्वा वनं अतिदेशवाक्यार्थ स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्ट पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतगोसादृश्यविशिष्ट पिण्डज्ञानं जायते तदुपमान–मित्युच्यते। तस्य स्मरणरूपत्वात्प्रत्यक्षेऽन्र्भावः व्याप्ति–ग्रहापेक्षत्वादनुमानेन्तर्भावः वाक्यजन्यत्वाच्छब्दे चान्तर्भावः।–य० म० दी० दि० अ०, पृ० ४८

सत्ख्याति–विशिष्टाद्वैत में सत्ख्याति स्वीकार की है। रामानुज यथार्थवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं और उसके प्रवर्तक बोधायन थे। उन्होंने सत्ख्यातिवाद की व्याख्या की है। उनके अनुसार सारा संसार सत् है और उसकी सत्ता यथार्थ है। उसके मत में कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं होता। ज्ञान सदैव सत्य होता है और ज्ञान का विषय भी सत्य होता है। यह उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतिफल है। रामानुज सत्ख्यातिवाद के प्रवर्तक कहे जाते हैं। उनका कहना है कि त्रिवृत्करण और पंचीकरण के सिद्धान्त के अनुसार यह सत्य है कि समस्त पदार्थों में मिश्रण है। यथा–मानो हम पृथ्वी ही लें, उसमें जल, वायु अग्नि और आकाश महाभूत के अंश भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार आकाश के विषय में कहा जा सकता है। जो हमारे दैनिक प्रत्यक्ष का विषय भी है। आकाश जो आवरण रूप शून्य है वह हमें नीला दिखाई देता है। यह उस पंचीकरण प्रक्रिया का परिमाण भी है जिसमें प्रक्रिया के अन्तर्गत पाँच महाभूतों में इतरेतर रूप से एक विशेष आनुपातिक समुपस्थिति स्वीकार की गई है। इनमें आनुपातिक रूपेण तत्तत् महाभूत का आधिक्य तत् तत् नाम हेतु है। पृथ्वी कहे जाने वाले महाभूत में पृथिव्यांश: का प्राचुर्य है। अत: उसे पृथिवी कहा जाता है। इसी प्रकार जल, वायु आदि है। इसी प्रकार यदि हम शुक्ति रजत के उदाहरणों को लें तो रामानुज के अनुसार यह विदित होता है कि पंचीकरण प्रक्रिया के फलस्वरूप शुक्ति में रजत का अंश भी विद्यमान है।[३३] परन्तु शुक्ति में रजतांश की अपेक्षा तद्देश का प्राचुर्य अधिक है। अत: लोकव्यवहार में उसे शुक्ति ही कहा जाता है और देखा जाता है।[३४] किन्तु शुक्ति में रजत की सादृश्यता के कारण शुक्ति में रजतांश की समुपस्थिति है। रामानुज कहते हैं कि वह सदृश पदार्थ के किसी न किसी भाग में रहता है।[३५] इसी कारण यदि शुक्ति में रजत की प्रतीति या धारणा होती है तो वह भ्रम न होकर सत्य है, क्योंकि शुक्ति में रजत भी विद्यमान है। शुक्लांश यदि किसी पीलिया के रोगी को अपने नेत्रगत दोष के कारण पीत दिखाई देता है। वह पीत शेष रूप ज्ञान भी आचार्य रामानुज के अनुसार क्योंकि यह सत् का ही ज्ञान है। इसका कारण देते हुए वैज्ञानिक से रामानुज कहते हैं कि पीलिया के

---

३३. शुक्त्यादौ रजतादेश्चभाव: शुक्तैव बोधित:।–श्री भाष्य अविद्या भंग, पृ० ३१
३४. यथार्थसर्वविज्ञानमिति वेदविदांमतम्।
३५. त्रीवृत्करणत्वेन हि प्रत्यक्षेणोभयभूते।
गुणविधिनियमपंचीकरण तत्त्वत्रयम् अचित्प्रकरणम्।–पूर्वोक्तैव, पृ० २९-३०

रोगी की आँखों का पीतत्व नयनरश्मियों के द्वारा आकर दृष्टि निपातन के साथ ही शेष के शुक्लत्व को आच्छदित कर देता है।[३६] तत्वपरिणाम स्वरूप ही पीतत्व की प्रतीति होती है। अतः वह पीतत्व सत् या वास्तविक ही है, भ्रम नहीं। यदि कोई कहे कि वह पीलिया रोगी की आँखों से निष्क्रान्त शुक्लत्व पर अरोपित पीतत्व तात्कालिक अन्य द्रष्टा को क्यों परिलक्षित नहीं होता? तो रामानुज एक कुशल तार्किक की भाँति उत्तर देते हैं कि वह आरोपित पीतिमा इतनी सूक्ष्म या मायावी होती है कि अन्य व्यक्ति उसे देखने में सक्षम नहीं होता।[३७] किन्तु पीलिया रोगी के द्वारा अपने नेत्रों के निष्क्रान्त को सूक्ष्म रश्मियों को अति समीपता के वशीभूत कर लेती है।

जहाँ तक मरीचिका में जल की प्रतीति होने का विषय है। रामानुज उसे भी सत् की प्रतीति मानते हैं क्योंकि मरीचिका के रेत में पृथ्वी के अंश के बाहुल्य के साथ अन्य भूतों की भ्रान्ति अल्पांश के प्रति अधिक बुद्धि है। बालू में जल सत् है। अतः तत्प्रतीति भी सत् है।

रामानुज निर्विशेष की प्रतीति स्वीकार नहीं करते । इसी कारण उनके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान में भी सविशेष की ही प्रतीति मानी गई है। और अधिक क्या रामानुज स्वविप्लव पदार्थों की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं उनके अनुसार वे पदार्थ स्वप्नद्रष्टा जीवात्मा के तत्-तत् कर्मानुरूप परमात्मा प्रदत फल ही है।[३८] इसी प्रकार विशिष्टताद्वैव का मत है कि ज्ञान सर्वथा यथार्थ वस्तु का ही होता है।[३९] यदि कोई कहे या प्रश्न करे कि शुक्ति में रजत है तो वह तदर्थ, प्रवृत्त व्यक्ति रजत नहीं है—ऐसी अवस्था में उसे पूर्व ज्ञान का बोध हो जाता है। इसमें रामानुज का मत है कि यह प्रवृत्ति बाध इस रजत रूप सत्यज्ञान को बाधित नहीं करती प्रत्युत उसे ज्ञान के फल की बाधा कहा जायेगा या माना जायेगा।[४०] ज्ञान और ज्ञान के फल में सर्वथा भिन्नता मानी गई है।

३६. विभ्रमाविवेक, पृ० ४६
३७. पीतत्व द्रव्यसंभिन्नाः नयनरश्मयः शंखादिभिः सुयुञ्जन्ते। पूर्वोक्तैव तदैव सदृशं तस्ययत् तद्द्रव्येक। —देशभाष।
३८. शुक्लादौ रजतादेश्च भावः शुक्तैवबोधितः।
३९. शुक्त्यादि निर्देश भेदाभूयस्तव हेतुकः। —श्रीभाष्य अविद्याभंग, पृ० ३१
४०. स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापामुगणं भगवतैव तत् पुरुषमात्रानुभाव्यस्तत्वालवासावस्तभूताश्चार्याः सृज्यन्ते सर्ववीजज्ञानजातं यथायथम्। ज्ञानफ़लप्रवत्तैः वाध्यत्वम्।
—श्री भाष्य अविद्याभंग पृ० ३१ से ३४।

ब्रह्म (ईश्वर)–जीवन की जटिलताओं में नाना दुखों से परिकलान्त जीवात्मा आदि युग से किसी ऐसी सत्ता की तलाश में भटक रहा है जो उसके दुखों का एकमात्र समाधान हो। विभिन्न चिन्तकों ने ऋषियों ने वेदों के माध्यम से इस सत्ता का स्वरूप खोजने का प्रयास किया है एवं सफलता प्राप्त की है। रामानुज एक लम्बी परम्परा के पर्याय हैं जो वेदों से लेकर आलवार सन्तों तक फैली हुई है। अनेक ऋषि, मुनि और दार्शनिकों ने यथा सामर्थ्य उस परम सत्ता का संधान किया है। उनका निष्कर्ष विभिन्न रूपों में उनके विचारों के माध्यम से हमारे समक्ष आता है, किन्तु रामानुज का भक्ति परिपूरित हृदय उससे सम्भवतः सन्तुष्ट नहीं हो पाता। वह ऐसी सत्ता के अनुसन्धान में व्यस्त होता है और उसे खोजता है जो समस्त विचारों से दूर, सभी आदर्शतम गुणों का आकार एवं सभी जनों को सुलभ हो, इन सभी आदर्श भावनाओं की पूर्ति वे विष्णु भगवान् में देखते हैं। वही ईश्वर है, वही परमात्मा, वही परमब्रह्म है। विष्णु किं वा परमात्मा को विशिष्टाद्वैत में कहीं वासुदेव कहा गया है, और कहीं नारायण। जगत् के सभी पदार्थ उसी परमात्मा का नाम अभिधान करते हैं, क्योंकि वह सबमें परिव्याप्त है।

लोकाचार्य ने ईश्वर के स्वरूप का कथन करते हुए कहा है–"ईश्वर समस्त क्षुद्रताओं से रहित, अनन्त, ज्ञानानन्दमात्र स्वरूप, ज्ञानशक्त्याया कल्याणकारी गुणों से अलंकृत, समस्त जगत् के सृष्टि पालन, प्रलय के संयोजक, आप्त जिज्ञासु, अपापी और ज्ञानी, जीवों के समाश्रय रूप, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों प्रकार के फलों के प्रदाता, विलक्षण शरीरवान् हैं।"

वेदान्तदेशिक ने अवान्तर रूप से ईश्वर के विषय में कहा है–सर्वेश्वर या सर्वव्यापक होते हुए चेतन, सब पदार्थों के शेष रूप, सारे कर्मों के समाराध्य, सर्वफलप्रदाता, सर्वाधार और सब कार्यों के उत्पादक अपने अर्थभूत ज्ञान तथा स्वयं के स्वरूप के अतिरिक्त सभी द्रव्य रूपी शरीरों में आत्मरूपेण भी समान तथा स्वतः जो सत्य संकल्प करते हैं, वे ईश्वर हैं।[४१]

ईश्वर सबका स्वामी और सबका शेषी अर्थात् पूरक है। जीव और जगत् उसके शरीर या प्रकार रूप है। वह उन सभी में आत्मभाव से रहता हुआ उनका

---

४१. सर्वेश्वरत्वं व्यापकत्वे सति चेतनत्वं सर्वशेषित्वं, पूर्वकर्मसमाराध्यत्वं सर्वफलप्रदत्वं सर्वाधारत्वं सर्वकार्योत्पादकत्वं स्वज्ञानंस्वेतर समस्त द्रव्य शरीरकत्वं स्वतः सत्य संकल्प त्वादिकं वेश्वर लक्षणम्।–न्याय सिद्धा०, ईश्वर परिच्छेद।

नियन्त्रण करता है।[४२] आचार्य रामानुज के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि सभी जड़-जगत् उसके द्वारा व्याप्त हैं। जीवात्मा भी उससे व्याप्त है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार एकमात्र ब्रह्म है, जो सबमें आत्मभाव से रहता हुआ, सबका नियामक है, यदि वह प्रकृति में व्याप्त, होकर उसका नियामक न हो तो सृष्टि क्रम में अनवस्था दोष दिखाई देने लगे।

आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म जीवात्मा को कर्मों की प्रेरणा देता है, कर्म करने का सामर्थ्य देता है और अनन्तर अपने ईश्वरत्व के द्वारा उसके कर्मफलों का वितरण या नियमन करता है। अन्तर्यामी होने से भी उनको जीव के शरीरगत बाल-यौवनादि, जागृति-सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि तथा प्रकृति के विकार नहीं बाँधते। वह सभी प्रकार के विकारों से रहित है । सर्वत्र व्याप्त परमात्मा सुख-दु:ख का आश्रय भी नहीं बनता क्योंकि पाप-पुण्य की परिभाषाओं में लिपटे कर्मों से वह सर्वथा असम्पृक्त है। मुण्डकोपनिषद् भी कहता है कि एक ही शाखा पर रहते हुए (जीवात्मा रूपी) पक्षी मधुर फलों का उपभोग करता है, जबकि दूसरा बिना खाये ही देखता रहता है।[४३] वह सत्य-काम और सत्यसंकल्प है। वह सबका नियमन करने से ही सर्वेश्वर है।[४४] वह सर्वज्ञ है, उसका धर्मभूत ज्ञान त्रिकालाबाधित अपरिवर्तनशील है। वह सबको तत्तत्कर्मानुसारी फल प्रदान करता है, जो उसकी अपरिच्छिन्नज्ञानता किंवा सर्वज्ञता का ही सूचक है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर का स्वरूप सर्वसद्गुणों से सम्पन्न है। वह सभी परिणामों से रहित, पूर्ण और सर्वोत्कृष्ट सत्ता है। यह परिवर्तनशील संसार उसी अपरिवर्तनशील आश्रयरूप ईश्वर में स्थित होकर रहता है। इसीलिए इस संसार को सत् कहा जाता है। उसमें और उसके आश्रयभूत जीव में किसी भी प्रकार के धर्मभूत-ज्ञानानुप्राणित कर्मों का संक्रमण नहीं होता। इसीलिए वह सत्यों का सत्य भी कहा गया है।[४५]

---

४२. परस्यैव ब्रह्मण: सर्वात्मकं सर्वशरीरकत्वं सर्वनियन्तृत्वं च प्रतिपद्यते।
—श्रीभाष्य १/२/१९

४३. अपि चैके शाखिन एकस्मिन्नेव देह-संयोग बोधस्यापुरुषार्थे परस्य तु तद् भावम् अधीयते।—श्रीभाष्य—३/२/१३

४४. यतीन्द्र मत:, पृ० ८४

४५. (क) तस्य च ब्रह्मण: सत्यस्य सत्यमिति नामधेयम्।
(ख) जीवानां कर्मानुगुण्येन ज्ञानसंकोच त्वसौ विद्यते।
परमपुरुषस्यत्वपहतपाप्मस्तौ न विद्यते। अत: तेभ्योप्येव सत्यम्।—श्रीभाष्य

आचार्य रामानुज के अनुसार ज्ञानमात्र ही उसका स्वरूप नहीं है, उसमें अन्य अनेक गुणों का भी सन्निवेश है। वह सभी प्रकार के ज्ञानशक्त्यादि कल्याण गुणों का आश्रय है। आनन्द इसका सारभूत गुण है।[४६] उसमें लेशमात्र भी दुख का अंश नहीं है। तैन्तिरीय उसे रस बताता है।[४७] वह सर्वज्ञ है। उसका धर्मभूतज्ञान अविछिन्न है, क्योंकि वह चेतन है और चेतन स्वयं प्रकाश होता है। वह ज्ञान का आश्रय है, ज्ञानमात्र नहीं। रामानुजीय दर्शन में धर्मभूतज्ञान चित्तत्व का अपृथक् सिद्ध विशेषण होता है। उसके ज्ञान के परमशुद्ध होने के कारण वह नित्य और विभु है। उसके ज्ञान में कर्मों के साहचर्य से होने वाली संकोच विकासावस्थाएँ नहीं है। श्रुतियाँ भी उसे सत्य, ज्ञान और अनन्त बताती है।[४८]

वह देशगत, कालगत और वस्तुगत तीनों परिच्छेदों से रहित होने के कारण अनन्त है। सत्यत्व, ज्ञानत्व और आनन्दत्व परमात्मा के स्वरूप निर्देशक गुण है। ज्ञान शक्त्यादि से सभी उसके स्वरूप धर्म निरूपित किये जाते हैं। सर्वज्ञत्व, सर्वशक्ति आदि कार्योपयोगी धर्म है। वात्सल्य, सौशील्य सौभ्यत्वादि उसके गुण उसे जीवात्मा के परमाश्रयत्व के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं। करुणादि धर्म उसके रक्षक रूप को अभिव्यंजित करते हैं।

सर्वोपरि परमात्मा ही इह लोक और परलोक में नानाबिध सुखों का प्रदाता है। आचार्य रामानुज के अनुसार प्रकृति और जीवात्मा भी परमात्मा की तात्विक एकता में अन्तर्भूत है। उनका परमात्मा के साथ गुण और द्रव्य का सा सम्बन्ध है। जिस प्रकार शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध है जैसे शरीर के अंग भंग होने पर आत्मा को कोई विकार या हानि नहीं होती उसी प्रकार परमात्मा को भी जीव और जगत् की अनेकविध विकृतियाँ प्रभावित नहीं करती, वह सृष्टि का उपादान कारण होकर भी सभी प्रकार के गुण-दोषों से अछूता है-यही परमात्मा का शुद्धत्व है। वह जहाँ जगत् का प्रकृति रूप कारणावस्था रूप में आधार है, वही कार्यावस्थित रूप में अन्तर्यामित्व रूप से आधार है। उसकी यथार्थता और उसका यह अविच्छिन्न सम्बन्ध जगत् और जीव के भी यथार्थ्य का हेतु है।

---

४६. प्राज्ञस्यानन्दः सारभूतो गुणः इति प्राज्ञ आनन्द शब्देन व्यपदिश्यते।
—पूर्वोक्त, २.३.२

४७. आनन्दप्राचुर्यमल्पदुःखाभावमवगमयतीति तदसत् प्रमाणान्तरेण तद्भावोपगम्यः।
—पूर्वोक्तः १.१.१४

४८. रसो वै सः। —तैत्तिरीयोपनिषद्, २.७

रामानुज जीवात्मा और जगत् को परमात्मा के विशेषण मानते हैं । परमात्मा उन दोनों का विशेष्य है। जिस प्रकार विशेषण और विशेष्य कदापि एक नहीं हो सकते उसी प्रकार जीवात्मा और जगत् परमात्मा के सदृश नहीं है। जिस प्रकार विशेष्य के अभाव में विशेषण की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार परमात्मा के अभाव में जीवात्मा और जगत् की सत्ता भी संभव नहीं है। सर्वदर्शनकार रामानुज के इस विचार को तीन रूपों वाला बताते हैं–भेदात्मक, अभेदात्मक और उभयात्मक। भेदात्मक इस दृष्टि से कि सबका शरीर बनकर, सब प्रकार से केवल ब्रह्म ही अवस्थित है। अभेदात्मक, उभयात्मक या भेदाभेदात्मक इस प्रकार से कि ब्रह्म एक ही है, नाना प्रकार के चित् और अचित् पदार्थों के भेद के कारण नाना रूप में अवस्थित है। और चित् तथा अचित् ईश्वर में स्वरूप और स्वभाव को लेकर विलक्षणता है अर्थात् भेद है, इसलिए भेदात्मक की सिद्धि होती है।[४९] चित् का धर्म है ज्ञानस्वरूप होना, इसलिए वह अचित् के सदृश नहीं भिन्न है। चिद् रूप परमात्मा और जीवात्मा परस्पर भिन्न है। परमात्मा विभु सर्वव्यापक और सर्वज्ञत्वादि गुणों से संवलित हैं, किन्तु जीवात्मा अणु, परिच्छिन्न और अल्पज्ञत्वादि गुणान्वित है, इसलिए वे सभी परस्पर भिन्न है।

आचार्य रामानुज अद्वैतवादी दर्शन की भाँति परमात्मा के सजातीय विजातीय और स्वगतरूपेण तीन भेद स्वीकार नहीं करते हैं। वे मात्र स्वगतभेद मानते हैं।

विशिष्टाद्वैत में ज्ञान, बल, ऐश्वर्य वीर्य, शक्ति तथा तेज रूप षड्गुणों से परिपूर्ण परमात्मा षाडगुणविग्रह कहलाता है। यह परमात्मा आत्मसमर्पण के द्वारा तैलधारावद्-अविच्छिन्न-स्नेहिल-स्मरण परम्परा रूप भक्ति से लभ्य है। वह आर्त और विभ्रान्त जीवात्माओं पर स्वयं अपनी कृपा पुण्यों की वृष्टि कर उनके ताप को दूर करने में भी समुत्सुक रहता है।

जीव जगत् एवं परमात्मा का प्रकार प्रकारी या शरीर-शरीरी भाव से अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध है।[५०] अतः वे भी परमात्मा से भिन्न माने जाते हैं। इस प्रकार जगत् परमात्मा का शरीर है। जगत् की हेतुभूत प्रकृति अपनी कारणावस्था में अभिव्यक्तरूपेण परमात्मा के साथ ही रहती है। अतः उसमें होने वाला विकार

---

४९. तत्र सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमित्यभेदोऽभ्युपेयते। एकमेव ब्रह्म नानाभूत-चिदचित्प्रकारात् नानात्वेनावस्थितमिति भेदा भेदौ। चिदचिदीश्वराणां स्वरूपस्वभाव-वैलक्षण्यादसंकराच्छ भेदः।–सर्वदर्शन संग्रह (रामानुजदर्शन)

५०. सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवस्थितमित्यभेदः अर्थितः। –वै०सं० पृ० १३९

का परिणाम वस्तुतः परमात्मा के शरीर रूप का परिणाम है। इस रूप में परमात्मा जगत् का उपादान कारण है।[५१] क्योंकि सृष्टि-उपादान परमार्थक उसका स्वगत शरीर ही है। यहाँ पर ध्यातव्य है कि यह परिणाम परमात्मा का प्रकार या विशेषण या शरीरभूता प्रकृति में ही होता है, विशेष्यभूत परमात्मा अपने परमार्थस्वरूप से निर्विकार है। अतः उससे किसी भी परिणाम की अपेक्षा नहीं की जा सकती।[५२] जिस प्रकार से मकड़ी अपने में बिना किसी विकार का आश्रय बने अपने शरीर भूत विशेषण के द्वारा कार्यरूप में परिणत होना प्रारम्भ हो जाती है। इस अवस्था में परमात्मा का उक्त संकल्प सृष्टि का निमित्त कारण बनता है। स्वयं गीता में श्री कृष्ण कहते हैं कि यह समस्त चराचर जगत् प्रकृति मेरे सत्य-संकल्प के द्वारा लक्षणाधीन होकर रचा जाता है।[५३] परमात्मा के ज्ञान शक्त्यादि गुण सहकारी बनते हैं।[५४] परमात्मा को सृष्टि रूप कार्य सम्पन्न करने के लिए सोमवत् किन्हीं विशेष (चक्रदण्डादि) की अपेक्षा नहीं होती है। परमात्मा सत्यसंकल्प है, वह सारे जगत् की संकल्प मात्र से ही रचना कर देता है।[५५]

किन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि सत्यसंकल्प और सर्वेश्वर परमात्मा का सृष्टिरूप कार्य आचार्य रामानुज के अनुसार स्वतंत्र या निरपेक्ष कदापि नहीं है। प्रत्युत आत्माएँ अपने कर्म फलों का उपभोग कर सके, इसीलिए परमात्मा सृष्टि करता है।[५६] परमात्मा जीवात्माओं के लिए तत्तत्कर्मानुरूप ही तत्तत्पदार्थों का सृजन करता है। इसी से यह सृष्टि विषम या असमान है।[५७]

अवाप्त समस्त काम परमात्मा का सृष्टि प्रयोजन, जहाँ जीवात्माओं को उनके तत्कर्मानुरूप फल प्रदान करता है। वहीं वैयक्तिक रूप में यह सृष्टि, आचार्य रामानुज के अनुसार उसकी लीला मात्र है।[५८]

---

५१. एकमेवेति सदापन्नस्य जगतस्तदानीमविभक्ततद्रूपतां प्रतिपादनेनैव ततो जगदुपादानत्वं प्रतिपादितम्।—वै०सं० पृ० २६

५२. अतः प्रकृतिप्रकारसंस्थिते परमात्मनिप्रकारभूतप्रकृत्यंशे विकारः। प्रकारांशेचाविकारः। —वै०सं०

५३. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।—गीता, ९, १०

५४. ज्ञानशक्तयादिविशिष्टः सहाकरी। —यतीन्द्र मत० प्रकाशटीका

५५. असौ पुरुषोत्तमः कृत्स्नं जगत् संकल्पमात्रेण सृजति।—श्रीभाष्य २.१.१५

५६. क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येन विचित्र सृष्टियोगात् बह्मैव जगत्कारणम्।—श्रीभाष्य २.१.१५

५७. सृज्यमानदेवादिक्षेत्रज्ञकर्मसापेक्षत्वाद्द्विविधम् सृष्टे, पूर्वोक्तैव

५८. विविध विचित्र विध विभिन्न प्रकारात्सर्गे लीलैव केवलाप्रयोजनम्
—पूर्वोक्तैव २.१.३१

परमात्मा के विभिन्न रूप–

परमात्मा दयालु एवं अपने भक्तों पर वात्सल्य प्रेम रखने वाले हैं। आचार्य रामानुज के अनुसार वे अपने उपासकों के गुणों के अनुसार विभिन्न फल देने के लिए अपनी लीला दिखाते हुए पाँच रूपों में अवस्थित रहते हैं।[५९] ईश्वर के स्वरूप पाँच प्रकार के हैं–पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामित्व तथा अर्चावतार।[६०]

पर–यह परमोत्कृष्ट रूप वासुदेव भी कहलाता है। विशिष्टाद्वैत में इसे सूक्ष्म भी कहा गया है। परमात्मा का यह स्वरूप षड्गुणसम्पन्न है। इसलिए इसे षाड्गुण्यविग्रह भी कहा जाता है।[६१] विशिष्टाद्वैत के अनुसार यह कभी परिणाम को प्राप्त नहीं होता है। श्रुति भी इसको पाप रहित, जरारहित, मृत्यु-रहित, शोकरहित और भूख प्यास रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प कहती है।[६२] पररूप में परमात्मा नारायण है। बैकुण्ठ में मणिमय सिंहासन पर शेषनाग का पलंग बनाकर लक्ष्मी के साथ रहते हैं। दिव्य कल्याणकारी विग्रह धारण करते हैं। देवता और मुक्तात्माओं द्वारा ये देखे और ज्ञानलभ्य बताए गए हैं।

व्यूह–आचार्य रामानुज के मत में व्यूह रूप संसार की सृष्टि, स्थिति और संसार का निमित्त है।[६३] वस्तुतः यह परमात्मा के गुणात्मक रूपेण समस्त रूपों का एकत्रैव कथन प्रतीत होता है। चार प्रकार के व्यूह–वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध माने गये हैं।[६४] वासुदेव रूप व्यूह का पररूप में कथन किया जा चुका है।

संकर्षण–ज्ञान और बल–इन दो गुणों से विशिष्ट संकर्षण के स्वरूप के द्वारा प्रद्युम्न की अवस्था को प्राप्त कर परमात्मा शास्त्र प्रवर्तन एवं जगत् का संहारकर्ता है। यहीं जीवों में व्याप्त है। उसकी स्थिति भी जीव को, प्रकृति से अविच्छिन्न करती है।[६५] यही जीव पर शासन करता है।

---

५९. स एव वासुदेवः परमकारुणिको भक्तवत्सलः परमपुरुषस्तदुपासकानुगुण तत्तत्फल-प्रदानाय स्वलीलावशादर्चा-विभव-व्यूह-सूक्ष्मान्तर्यामिभेदेन पञ्चधावतिष्ठते।
–सर्व दर्शन संग्रह (रामानुज दर्शन)

६०. ईश्वरस्यस्वरूपं परव्यूहविभवान्तर्यामि त्वार्चावतारभेदेनपंचप्रकारम्–तत्वत्रय, पृ० १२१

६१. परं ब्रह्म सम्पूर्णषाड्गुण्य वपुः।–श्रीभाष्य, २.२.४१

६२. छान्दोग्योपनिषद्–७.१.५

६३. व्यूहोनामसृष्टिस्थितिसंहारार्थम्-तत्वत्रय, पृ० १२३

६४. व्यूहोवासुदेवसंकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्ध रूप–चतुर्व्यूहः–श्रीभाष्य, २.२.४१

६५. तत्र संकर्षणज्ञाननृताभ्यांयुक्तोजीवतुल्यनर्थाय तत्प्रकृतेर्विविध्य प्रद्युम्नाकल्पां प्राप्य शास्त्रप्रवर्तनं जगत्संहारं च करोति।–तत्वत्रय, पृ० १२५

प्रद्युम्न—विशिष्टाद्वैत के अनुसार प्रद्युम्न नाम का व्यूह रूप, ऐश्वर्य तथा वीर्य गुणों से संवलित है। इस स्वरूप के द्वारा परमात्मा धर्मोपदेश, मनु चारों वर्णादि शुद्र वर्गों की सृष्टि करता है। यह जीव के मन को अधिष्ठान बनाकर रहता है।[६६]

अनिरुद्ध—विशिष्टाद्वैत के अनुसार परमात्मा का अनिरुद्ध व्यूह रूप, शक्ति और तेज गुणों से युक्त होकर रक्षादि कार्य, तत्वज्ञान प्रदान, काल, सृष्टि एवं मित्र सृष्टि के निर्वहण का कार्य करता है। यह व्यूह रूप, आनन्द के अहं तत्व रूप से सम्बद्ध होता है।[६७]

परमात्माका के संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध तीनों व्यूह रूप क्रमशः जीवात्मा मन और अहं भाव को अधिष्ठान बनाकर रहते हैं। अतः इन तीनों को उक्त अधिष्ठान नामों से भी कहा जाता है।[६८] परमात्मा इन रूपों के द्वारा जीवात्मा और उसके मन और अहंभाव पर शासन करता है।[६९]

३. विभव—आचार्य रामानुज के अनुसार रामादि के रूप अवतार को विभव कहते हैं।[७०] यह मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार का बताया गया है। विभवरूप में परमात्मा अपने विशेष भक्तों पर स्वेच्छा से अनुग्रह करने के लिए प्रकट होते हैं। मुमुक्षुओं के द्वारा यही उपास्य बताया गया है। आवेश के रूप में विभव दो प्रकार का है। जीवाधिष्ठित शरीर में कोई विशेष कार्य करने के लिए परमात्मा उक्त दो रूपों से प्रविष्ट होता है। परशुरामादि में स्वरूप से ही आवेश होता है। विधि, शिव आदि में शक्ति के द्वारा आवेश होता है।

मत्स्य, कूर्म, वराहादि दश अवतार विभव ही माने गये हैं[७१] परमात्मा के अवतार रूप कार्य का हेतु कर्म नहीं बताया गया है। अर्थात् जीववत् कर्मवशात्

---

६६. प्रद्युम्न ऐश्वर्यवीर्याभ्यां युक्तो मलच्छध्वमधिष्ठाय धर्मोपदेशं मुमुक्षुतुष्टप्रकृति शुद्ध वर्गमृष्टिं च करोति।—पूर्वोक्तैव पृ० १२६

६७. अनिरुद्धः शक्तितेजोभ्यां पुण्यरक्षस्य तत्वज्ञानप्रदानस्य कालसृष्टेर्मित्रसृष्टेश्च निर्वाहिंके।—पूर्वोक्तैव १२७

६८. एष जीवमनोऽहंकार सत्वानामधिष्ठातारः संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धाः इति तेषामेव जीवादि शब्दैरभिन्मविस्तवन।—श्रीभाष्य, २.२.४१

६९. भा०द०, भाग–२, पृ० ६९१, डॉ० राधाकृष्णन्।

७०. विभवो हि नाम रामकृष्णदि प्रादुर्भावः।—श्रीभाष्य, २.२.४१

७१. स दशधा ते च मत्स्यादयो, अवताराः।—यतीन्द्रमत, पृ० ८६

परमात्मा का अवतरण नहीं होता है। प्रत्युत इच्छा मात्र के कारण होता है। गीता में भी कहा गया है–

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। –गीता ४-८

४. अन्तर्यामी–परमात्मा का अन्तर्यामी रूप जीवात्मा के अन्दर प्रविष्ट होकर उसका नियमन करता है।[७२] श्रुति भी कहती है कि जो आत्मा में स्थित होकर भीतर से ही आत्मा को नियन्त्रित करता है, वह परमात्मा है (बृहदारण्यक) परमात्मा का यह रूप जो योगियों द्वारा गम्य है, मित्र की तरह स्वर्गनरकादि की दशा में भी जीवात्मा के हृदय में स्थित रहता है।[७३] जीव के साथ रहने पर भी यह अनासक्त ही रहता है। यही परमात्मा का रूप उसे अच्छे बुरे कर्मों के प्रति प्रवृत्त और निवृत्त करता है।

५. अर्चावतार–अर्चा-प्रतिमादि को कहते हैं।[७४] यह परमात्मा का वह स्वरूप है, जिसमें ईश्वर अपने को भक्तों की भावनाओं के अनुरूप उनकी सन्तुष्टि के लिए अभिमत रूपों में अपने विग्रह के द्वारा प्रकट करता है। देवालयों, घरों आदि में देवता के रूप में पूजित मूर्तियों को सूक्ष्म और दिव्य शरीर युक्त परमात्मा अपना शरीर बना देता है। यहाँ ईश्वर सर्वसहिष्णु होकर अर्चक के अधीन स्नान, भोजन, शयनादि भी करता है। परमात्मा का अर्चावतरण कहीं स्वयं होता है, कहीं देवताओं, कहीं सिद्धों और कहीं मनुष्यों द्वारा संस्थापित प्रतिमाओं में होता है। इस प्रकार अर्चावतार रूप चार प्रकार होता है।[७५]

ईश्वर की सिद्धि–आचार्य रामानुज के अनुसार परमात्मा की सिद्धि एक मात्र आगम अर्थात् शब्दप्रमाण के द्वारा ही संभव है।[७६]

रामानुज के अनुसार परमात्मा प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा साध्य नहीं हो सकता। क्योंकि इन्द्रिय सापेक्ष होने वाला प्रत्यक्ष मात्र दो प्रकार से होता है–इन्द्रियों से अथवा मन से। इन्द्रियाँ केवल उसी विषय का प्रत्यक्ष करती है, जो विषय उनके समक्ष उपस्थित होता है। परमात्मा के साथ कभी भी हमारा इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं

७२. अन्तर्यामित्वमन्तः प्रविश्य नियन्तृत्वम्।–तत्वत्रय, पृ० १३९
७३. यतीन्द्रमत, पृ० ८८
७४. अर्चानाम् प्रतिमादयः।–सर्वदर्शन संग्रह
७५. स च स्वयं व्यक्त देव, सैद्ध मानुष भेदाच्चतुर्विधः।–यतीन्द्रमत, पृ० ८८
७६. शास्त्रैकप्रमाणकत्वात् स्वयं ब्रह्म।–श्रीभाष्य १.१.३

होता। अतः इन्द्रियाँ सत्यप्रमिति में अक्षम ही है।[७७] मन से केवल अनुभूत्यात्मक सुख-दुःख का प्रत्यक्ष (किं वा ज्ञान) होता है या फिर मन बाह्य अज्ञानेन्द्रियों के द्वारा नीत विषय का ज्ञान कराता है। क्योंकि परमात्मा न तो हमारे सुख-दुख का विषय है और न इन्द्रियों का, एतस्मात् वह मन के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है।[७८]

रामानुज के अनुसार इन्द्रियानपेक्ष यौगिक प्रत्यक्ष के द्वारा परमात्मा ज्ञेय नहीं है।[७९] क्योंकि भावना या चिन्तन के चरम उत्कर्ष से ही उत्पन्न विशद अवभास वाला वह पूर्वानुभूत विषय की अनुभूति मात्र वाला ही होता है। अतः उसे तो प्रमाण भी नहीं कह सकते। पूर्वानुभूत विषय से अतिरिक्त किसी विषय का कभी योग द्वारा साक्षात् हो सके, ऐसा कोई कारण नहीं मिला और यदि ऐसा अवभास सम्भव हो तो उसे भ्रम ही मानना चाहिए। इस प्रकार परमात्मा रामानुज के अनुसार किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता।

रामानुज के अनुसार परमात्मा अनुमान द्वारा भी ज्ञेय नहीं है। क्योंकि सामान्यतः अनुमान मूलक ज्ञान व्याप्ति के आधार पर होता है, और इस व्याप्ति का पूर्व प्रत्यक्षीकृत होना भी अनिवार्य है, किन्तु परमात्मा के विषय में इस प्रकार की कोई व्याप्ति का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है।

अतीन्द्रिय वस्तु में सम्बन्धावधारण न हो सकने के कारण विशेषतोदृष्ट अनुमान भी सम्भव नहीं है।[८०] और साथ ही समस्त वस्तुओं के साक्षात्कार और निर्माण में समर्थ सर्वोत्तम पुरुष विशेष के विषय में कोई चिह्न दिखाई न देने के कारण सामान्यतोदृष्टानुमान भी घटित नहीं हो सकता।[८१]

न्यायवैशेषिकादि दर्शन परमात्मा को अनुमानगम्य मानते हैं। उनका मत है कि जिस प्रकार कार्य रूप घट को देखकर उसके निमित्त कारण भूत निर्माता का अर्थात् कुम्भकारादि का अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार कार्यरूप

---

७७. ब्रह्मेन्द्रिययाणि विद्यमानसन्निकर्ष योग्यत्वविभव बोधजननानीति,
न सर्वार्थसाक्षात्कार सन्निर्माणे–समर्थ पुरुषविशेष–बोध जननानि।

७८. नाप्यान्तरम्।–पूर्वोक्तैव।

७९. नापियोगजन्यम्।–पूर्वोक्तैव।

८०. अतीन्द्रियेवस्तुनि संबंधावधारणविरहात् न विशेषतोदृष्टम्। पूर्वोक्तैव।

८१. समस्तवस्तुसाक्षात्कार निर्माणसमर्थपुरुषविशेषनियतं।
सामान्यतोदृष्टमपि न लिंगमुपलभ्यते ।–पूर्वोक्तैव।

सम्पूर्ण साकार जगत् को देखकर उसके किसी ऐसे चतुर, उपकरणादि को भाँति-भाँति जानता है। कोई भी कार्य किसी कर्ता विशेष के द्वारा ही सम्पन्न होता है। अतः इस आधार पर परमात्मा का अनुमान किया जा सकता है।

रामानुज इस कुम्भकारादि दृष्टान्त को उचित नहीं मानते और न ही परमात्मा का इस प्रकार अनुमान स्वीकार करते हैं। अतः उक्त अनुमान का खण्डन करते हुए कहते हैं कि विशाल पृथ्वी, विस्तृत समुद्रादि एक ही समय में एक ही निर्माता द्वारा निर्मित हुए हों ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। घट की तरह सारे पदार्थ एक ही उपादान के कार्य हों अथवा एक समय में एक ही कर्ता के कार्य हों ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। विभिन्न कार्यों में कालभेद, कर्ताभेद देखा जाता है। कर्ता और काल की एकता भी निश्चित नहीं होती।[८२] इसलिए अखिल विश्व के वैविध्यपूरित कार्यों को देखकर तत्तत्कार्य हेतु और तत्कालों में अनेक कर्ताओं की कल्पना अपघातक ही सिद्ध होती है।

इसी प्रकार जागतिक प्रपंच को देखकर तत्कर्ता रूप में परमात्मा का अनुमान करने में अनेक प्रश्न सामने आते हैं, जिनका समाधान नहीं हो पाता। यदि ईश्वर जगत् बनाता है तो क्या वह शरीर धारण करता है या नहीं ? यदि नहीं, तो बिना शरीर वाला होकर तो वह सृष्टि कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि बिना शरीर वाले का कोई निर्माण कार्य नहीं देखा जाता।[८३] मानस कार्य भी शरीर धारी के ही होते हैं। मन के नित्य होते हुए भी मुक्तात्माओं में स्थूल मानस कार्य का अभाव होता है।[८४] अशरीरेण सृष्टि निष्पत्ति न देखकर यदि कोई यह कहे कि ईश्वर शरीर धारण करके सृष्टि करता है तो वह भी निरापद नहीं क्योंकि पुनः प्रश्न उठता है कि उसका शरीर नित्य है अथवा नित्य, मानने पर उसको नित्य जगत् के उपादान में ईश्वर की उपयोगिता भी कुछ नहीं रह जायेगी।[८५] यदि यह कहा जाये कि अनित्य शरीर धारण करता है तो यह भी युक्ति युक्त नहीं। वह स्वयं ही अपने शरीर का निर्माता नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी अशरीरी अपने शरीर का निर्माता नहीं होता।

इसके अतिरिक्त अन्य और प्रश्न सामने आते हैं कि क्या सृष्टिकर्ता

८२. पृथग्भूतेषु–कार्येषु–कालभेदकतृभेददर्शनकर्तृकालेभ्य नियमादर्शनात्।–पूर्वोक्तैव
८३. न तावदशरीरः अशरीरस्य कर्तृत्वानुपलब्धेः।–पूर्वोक्तैव
८४. मनसो नित्यत्वेप्यशरीरेण, मुक्तेषु तत्कार्यादर्शनात्।–पूर्वोक्तैव
८५. सावयवस्य तस्य नित्यत्वे जगतोऽपि नित्यवाचिरोपाद् ईश्वरासिद्धे।–पूर्वोक्तैव।

परमात्मा सचेत है या निश्चेष्ट? अशरीरधारी होने से सचेष्ट नहीं कहा जा सकता। दूसरा निश्चेष्ट भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निश्चेष्ट में इच्छामात्रिक कर्त्तव्य नहीं देखा जाता, स्वयं दृष्टान्त के कुम्भकारादि द्वारा इच्छामात्रादि से घटादि कार्यों की रचना होती नहीं देखी गयी। इस प्रकार प्रत्यक्ष के आधार पर परमात्मा सम्बन्धी अनुमान असिद्ध हो जाता है।[८६] आचार्य रामानुज के अनुसार अन्ततः परमात्मा शास्त्रेणगम्य मात्र है।[८७]

आचार्य ़ामानुज के अनुसार अद्वैतवाद के ब्रह्मवाद का खण्डन–

अद्वैतवादियों के अनुसार परमब्रह्म निर्विशेष ज्ञानस्वरूप मात्र है। वह स्वतन्त्र और स्वयं प्रकाशक होकर भी वह बन्धनों में आभासित होता है। जीवात्मा वस्तुतः अविद्यानिमित्तक ब्रह्म ही है, जो तत्वज्ञान के अभ्युदयानन्तर ब्रह्मरूप ही हो जाता है[८८]। जगत् का यह प्रतीयमान विविधत्व या अनेकात्मकता उसकी कल्पनामात्र है। पूर्णात्मा और पूर्ण शरीर एक ही है।[८९] उपदेशक श्रुतियाँ विद्वान् और शास्त्र या श्रुतिविहित ज्ञान भ्रान्ति या मिथ्यामात्र है।[९०] एकमात्र निर्विशेष ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही उनके मत में सत्य है।

रामानुज ने अपने ग्रन्थ ''वेदार्थ संग्रह'' में अद्वैतवाद के उक्त मत का पूर्वपक्ष रूप में अवतरण करते हुए उसका विशद रूप से खण्डन किया है। उपनिषद् कहता है कि इसने अनेक होने की प्रकल्पना की।[९१] और संसृष्ट वस्तुएँ इस सद् से ही अपनी उत्पत्ति पाती है, इसी में समाविष्ट होती है तथा इसीसे अपना अस्तित्व प्राप्त करती है। रामानुज के अनुसार इसका अर्थ ब्रह्म है, उक्त

---

८६. अतो दर्शनानगुण्येन ईश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहतमिति।–पूर्वोक्तैव

८७. स०प्र० प्रथम समुल्लास, पृ० २०-२१

८८. (क) पूर्वं ब्रह्मैबांशं भ्रमपरिगतं संसरितं तत्–वेदार्थ संग्रह, पृ० ३
(ख) निर्विशेष ज्ञानमात्रमेव ब्रह्म। तच्चनित्यमुक्तप्रकाशस्वरूपमृकिमपितत्वम स्यादिसामानादि करणस्यजगतबोधैक्यं ब्रह्मैवांश बेध्यते मेध्यते च।
–पूर्वोक्तैव, पृ० १३

८९. आचार्यों ज्ञानोपदेष्टा मिथ्या, शास्त्रं च मिथ्या, शास्त्रप्रमाता च मिथ्या, शास्त्रजन्यं ज्ञानं च मिथ्याः–पूर्वोक्तैव

९०. तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति।–छान्दोग्य उपनिषद् ६.२.३

९१. सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्यप्रतिष्ठाः।
–छान्दोग्य उपनिषद, ६.८.४

श्रुतियों के आधार पर ज्ञात होता है कि ब्रह्म संसार की सृष्टि, पालन तथा विनाश करता है। श्रुतियाँ ही इस बात का कथन करती है कि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वेश्वर है। सभी पदार्थ उसके प्रसार है। कोई अन्येतर पदार्थ न तो इसके तुल्य है और न इससे महान् हैं कि यदि ब्रह्म को निर्विशेष ज्ञान-स्वरूप मात्र ही स्वीकार किया जाता है तो उक्त गुणों की, जो श्रुति उक्त होने से सर्वथा निर्विशेष ज्ञान स्वरूप मात्र ब्रह्म नहीं स्वीकार किया जा सकता।

अद्वैत के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है और यह दृष्टिगोचर समस्त जगत् तत्प्रसूत होकर भी मिथ्या है।[९२] अर्थात् जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है, वह सत्य नहीं है। रामानुज इस पर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि यदि ब्रह्म सत्य है और उसका परिणाम मिथ्या माना जाये तो औपनिषदिक आगम–"एकेन विज्ञातेन सर्व विज्ञातम्"–अर्थात् एक को जानने पर सबका ज्ञान हो जाता है, की निरर्थकता होगी। क्योंकि इस स्थिति में अर्थात् परिणामभूत जगत् को मिथ्या मानने की अवस्था कुछ भी ज्ञेय नहीं रह जायेगा और सत्य तथा मिथ्या में विभेद करना विवादास्पद हो जायेगा।[९३] उक्त आगम की उपयोगिता तभी सिद्ध हो सकती है जबकिं हम (सर्व) सबको सत्य मानें। क्योंकि यहाँ यह भी विचारणीय है कि कारणभूत सत्य ब्रह्म का कार्यभूत परिणाम जगत् मिथ्या क्योंकर हो सकता है? कार्य और कारण की अभिन्नता तो तभी मानी जा सकती है जब सत्कारण का कार्य भी सत् हो यदि दोनों में से किसी एक को मिथ्या माना जायेगा तो कारण कार्य की अनन्यता की व्यवस्था नहीं बनेगी। अतः उस अवस्था को बनाये रखने के लिए या तो ब्रह्म को मिथ्या मानना पड़ेगा या सत्कार्यभूत जगत् को सत्य।[९४] अतः अद्वैतवाद का उक्त मत तर्कसंगत नहीं की ब्रह्म सत्य है और उसके द्वारा संसृष्ट जगत् मिथ्या।

अब यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि उन श्रुतियों का सगुणब्रह्म से किस प्रकार निर्वाह किया जायेगा जिनमें ब्रह्म को निर्विशेष कहा गया है। यथा

---

९२. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। कारणभूतस्यैव सत्यतां विभुरजातस्य चासत्यतां यद्दृष्टान्तेन दर्शयित्वा सत्वभूततस्यैव ब्रह्मणः निर्विशेषता प्रतिपादिताः।–वै० सं० ७

९३. एक विज्ञानेनसर्वविज्ञानम् सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्य ज्ञातव्यस्थाभावान्न सेत्स्यति, सत्यमिथ्यात्वयोत्वयोरेकता प्रसक्ति वा।–वे०सं०, पृ० १८

९४. ये तु कार्य कारणयोरनन्यत्वं कार्यस्यमिथ्यात्वाभक्षणेन वर्णयन्ति न तेषां कार्यकरण-योरन्यत्वं सिध्यति, सत्यमिथ्यार्थयोः एवमानपपत्तिः? तथा इति ब्रह्मणोमिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वं वा स्यात्।–श्रीभाष्य २.१.१५

छान्दोग्य कहता है कि "यह सबसे पूर्व एकमात्र सद् ही था।[९५] अनन्य अकेला ही था।[९६] तैत्तिरीय कहता है कि सत्य, ज्ञान तथा अनन्त ही ब्रह्म है[९७]। श्वेता श्वेतरोपनिषद् कहता है कि वह अविभक्त, निष्क्रिय और गुण रहित है।[९८]

रामानुज इसका समाधान करते हुए कहते हैं, यह (इदम्) शब्द ब्रह्म का नहीं प्रत्युत संसार का बोधक है। "अग्र" शब्द से सृष्टि की पूर्वावस्था का अभिधान किया गया है। जब श्रुति यह कहती है कि संसार सृष्टि से पूर्व भी सद् था तो इसका वहाँ तात्पर्य होता है कि वह सदात्मक था। अर्थात् जिसकी आत्मा सद् रूप ही था। रामानुज कहते हैं कि नाम रूपविहीन यह जगत् सृष्टि के पूर्व सदात्मक स्थिति में था। जहाँ पर यह कहा गया है कि वह अकेला ही अनन्यभाव से प्रतिष्ठित था तो वहाँ "एक" से उस अवस्था का कथन है जिसमें नामरूपविहीन अविभक्त जगत् सृष्टि-पूर्वावस्था में अपृथक्-सिद्ध होकर संस्थित था। इसी से उस एक मात्र के लिए जगत् से उसकी कारणावस्था और प्रपंचात्मक कार्यावस्था रूप दोनों ही स्थितियों में अन्तः नियामक और तदुपादानत्व रूप से जुड़ा हुआ है। रामानुज का विचार है कि परिणाम या कार्य अपने कारण से किसी भी अवस्था में व्यतिरिक्त नहीं है। इसी प्रकार "अद्वितीय शब्द भी शंकराभिमत अद्वैत का प्रतिपादक न होकर ब्रह्माण्ड के ब्रह्मातिरिक्त किसी दूसरे नियन्ता की अन्य सत्ता के निषेध का ही वाचक है।[१००] वह अद्वितीय है। उसके समान कोई दूसरी शक्ति या विभूति विद्यमान नहीं है।

रामानुज का मत है कि यह अनेकान्तमक ब्रह्माण्ड और परमात्मा उसी प्रकार परस्पर सम्बद्ध है जिस प्रकार शरीर आत्मा से सम्बद्ध है। इसी कारण उनमें परस्पर तादात्म्य है। अपने इस विचार के समर्थन में श्रुतियाँ भी प्रस्तुत करते हैं जिसमें कहा गया है कि जो आत्मा में निवास करता है।[१०१] आत्मा जिसका शरीर

---

९५. सदैव सौम्येदमग्र आसीत्।-छान्दो० ६.२.१
९६. एकमेवाद्वितीयम्।-छान्दो० ६.२.१
९७. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।-तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथम अनुवाक्
९८. निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्।।-श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.१९
९९. एकमेवेति सदापन्नस्य जगत्स्तुदानोमविभवतनुमहतां प्रतिपाद्य तत्प्रतिपालनेनैव सतो जगदुपादानत्वं प्रतिपादितम्।-१ वै०सं०, पृ० २६
१००. स्वव्यतिरिक्त निमित्तकारणम्। अद्वितीयपदेन प्रतिबद्धम्।-पूर्वोक्तैव, पृ० २१६
१०१. य आत्मनितिष्ठन्।-बृहदा०

है।[१०२] जो अपनी शरीरभूता पृथ्वी में प्रतिष्ठित है।[१०३] इसलिए रामानुज कहते हैं कि जीवात्मा और ब्रह्माण्ड सब ब्रह्म का ही शरीर है। तस्मात् विभिन्न वस्तु वाचक नाम[१०४] अन्ततोगत्वा उसी परमसत्ता और अन्तर्यामी परमात्मा का ही अभिधान करते हैं।[१०५] इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'त्वम्' शब्द का अर्थ ईश्वर के उस अन्तर्यामित्व से हैं, जो जीवात्मा को शरीर बनाकर संस्थित है और 'तत्' शब्द से तात्पर्य ईश्वर के उस रूप से हैं जो विश्व का आदिकारणभूत है एवं सभी कल्याणकारी गुणों का आगार है।[१०६] उपनिषद् भी कहता है कि परमात्मा स्वरूपतः परिणाम और दोषरहित है और यह समस्त विश्व उसकी शरीरभूता प्रकृति की विकृति है।

पहले कहा जा चुका है कि अद्वैतमत में ब्रह्म को श्रुत्याधार पर निर्विशेष ज्ञानमात्र स्वरूप वाला (प्रज्ञानधन) कहा गया है।[१०७] रामानुज इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रथम तो कोई भी पदार्थ एकान्ततः ज्ञानमात्र नहीं हो सकता और यदि मान भी ले तो ज्ञान उसका गुण होने के कारण निर्विशेष नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान रूप धर्म के द्वारा उसके स्वरूप को कहा गया है, केवल उसके ज्ञानमात्रत्व को नहीं।[१०८] क्योंकि उसका ज्ञानात्व ही सविशेषत्व है। दूसरे ज्ञान की शाखा के व्यतिरिक्त सत्ता भी असम्भव है। अतः ब्रह्म ज्ञान और ज्ञाता दोनों हैं

---

१०२. यस्यात्मा शरीरम्।

१०३. यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथ्वी शरीरम्।—पूर्वोक्तैव।

१०४. जीवं देवादिशब्दो वदति तदपृथक्सिद्धभावाभिधानान्निष्कर्षाभावयुक्ताद्बहुरिह च दृढो लोकवेदप्रयोगः।
आत्मा सम्बन्धकाले स्थितिरनवगता देवमर्त्यादिमूर्तेर्जीवात्मानुप्रवेशाज्जगति विभुरपि ब्याकरोन्नामरूपे।। ४.६२ वेदान्तदेशिक स्वामीकृत तत्व-मुक्ताकलाप

१०५. सर्वस्य विदधिदवस्तुनो ब्रह्मशरीरत्वाद सर्वशरीरं सर्वप्रकारं सर्वप्रकारं सर्वशब्दैर्ब्रह्मैवाभिधीयते।—वै०सं०, पृ० ३४

१०६. तत्पदं जगत्कारणभूतसकलकल्याणगुणगणाकरं निखद्यं निर्विकारमाचष्टेत्वमिति तदैव ब्रह्मजीवान्तर्यामीरूपेण स्वशरीरजीवप्रकारविशिष्टमवचष्टै। ब्रह्मण्येव तत्वमिर्तिद्वियो। पद्योवृत्तिस्वता।—वै०सं०, पृ० ३५

१०७. सयथा सैन्धवधनोऽनन्तरोऽब्राह्यः कृत्स्नो रसधन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाधाः कृत्स्नः प्रज्ञानधन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविश्यति न प्रेत्य संज्ञा—ऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः।।—बृहदराण्यक उपनिषद् ४.५.१३

१०८. ज्ञानेन धर्मेण स्वरूपमपि निरूपितं न तु ज्ञानमात्रं ब्रह्म।—वै०सं०, पृ० ४१

इसके अतिरिक्त ज्ञानमात्र से परमात्मा का अभिज्ञान भी नहीं हो सकता। प्रत्युत ज्ञान उसके अन्येतर धर्मों के साथ एक धर्म ही है। श्रुतियों में इस विषय में पर्याप्त प्रमाण है। जिनमें परमात्मा को सविशिष्ट कहा गया है। कहीं उसे सर्वज्ञ और सर्वव्यापी कहा गया है।[१०९] उसकी स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रियात्मक विविध शक्तियाँ हैं।[११०] इसलिए ज्ञान उसके अनेक गुणों में से एक गुण है। रामानुज के अनुसार यह कदापि सम्भव नहीं है कि उन गुणों में से कोई एक ही गुण उसके स्वरूप का पूर्णाभिधान कर सके। सत्यज्ञानादि गुण भी वस्तुतः उसको सविशेष ही प्रतिपादित करते हैं। निर्गुणत्व की ओर संकेत करने वाली श्रुतियों का अर्थ यही है कि वह परमात्मा उन हेय गुणों से सर्वथा रहित है, जो उसके अतिरिक्त पदार्थों (जीव और जगत्) से सम्बद्ध हैं।[१११] अद्वैतवादी ब्रह्म के गुण निषेध प्रतिपादक मत का प्रत्याख्यान करते हुए "प्रकृतैतावत्वे हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः"[११२] सूत्र के भाष्य में आचार्य रामानुज ने कहा है कि ब्रह्म में इसके द्वारा भी (नेति-नेति) उन गुणों का निषेध किया गया है, जो उसे प्रकृति आदि की भाँति ससीम करते हैं। श्रुतिनिर्दिष्ट नानात्व का निषेध जो उस परमात्मा के यथार्थ से सम्बद्ध है–का तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वर से स्वतन्त्र किसी भी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है। समस्त जागतिक पदार्थ और जीवात्मा तदाश्रित हैं। जो उसके शरीरवत् हैं।

शांकरमत में ब्रह्म को यद्यपि ज्ञानमात्र स्वरूप माना गया है, किन्तु कहा गया है कि उसका स्वरूप अविद्या से तिरोहित होता है, और उस अवस्था में वह नानारूप में भासता है। रामानुज ने इसका खण्डन करते हुए तर्क दिया है– अविद्यावशात् स्वयं प्रकाश के स्वरूप के तिरोहित हो जाने का निम्न रूपों में से कोई एक रूप हो सकता है–प्रथम, प्रकाशमत्ता की उत्पत्ति में बाधा या दूसरे, प्रकाशमत्ता का पूर्ण रूप से विनाश[११३] किन्तु अद्वैतवादियों के अनुसार प्रकाशमत्ता

१०९. यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिज्ञातृत्वश्रुतैः।–पूर्वोक्तैव।

११०. परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

–श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.८

१११. निर्गुणवादाश्च प्राकृत हेयगुणनिषेधपरतया व्यवस्थिताः।–वै०सं०, पृ० १३८

११२. ३.२.२२ सूत्र पर श्रीभाष्य–

यतश्च निषेधान्तरं ब्रह्मणोभयो गुणजातं ब्रवीति अतश्च प्रकृतिविशेषणप्रतियोगिता-मात्रम् ब्रह्मणः। प्रतिषेधति-ब्रह्मणः सविशेषत्वं न प्रतिषिध्यते अपितु पूर्वप्रकृतेः सत्तामात्रम्।

कोई उत्पत्ति नहीं होती है। अतः इसका अर्थ हुआ है कि दूसरी स्थिति ही स्वीकरणीय होगी, जिसमें प्रकाशमत्ता का पूर्ण विनाश माना गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रकाशमत्ता रूप ब्रह्म के स्वरूप का ही निर्वाण हो जाता है।[११४] इस प्रकार अद्वैतवादी अविद्या का सिद्धान्त ब्रह्म को ही ग्रस लेता है।

अद्वैतवादी एक ओर तो कहते हैं कि ब्रह्म की स्वयं प्रकाशमत्ता पर अविद्या कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, मगर दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि अविद्योपहित होने के कारण ब्रह्म, जो वस्तुतः एक ही है नानात्व की भाँति प्रतीत होता है। दोनों ही बातें परस्पर विरोधी है। क्योंकि प्रथम विचार इस बात का खण्डन करता है कि अविद्या का ब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, जबकि दूसरा विचार प्रथम विचार का खण्डन करते हुए यह पुष्ट करता है कि अविद्या का ब्रह्म पर प्रभाव पड़ता है। तस्मादैव वह नानारूपों से भासित होता है।

अद्वैतवाद की अविद्या भंग के प्रसंग में आचार्य रामानुज ने श्रीभाष्य में स्पष्ट रूप से यह कथन किया है कि ब्रह्म को जीव रूप में भासित करने वाली अज्ञानरूपा अविद्या या माया का आश्रय ब्रह्म नहीं है क्योंकि अखण्डैकरस विशुद्ध परमात्मा में किसी क्षेत्र का आश्रयत्व प्रमाणित ही नहीं हो सकता। दूसरे इस विशुद्ध ब्रह्म का अविद्या आवरण भी नहीं कर सकती।

निर्वर्तकानुपपत्ति में यह दिखाया गया है कि अविद्या ब्रह्म का ही एक अंश है तो उससे निवृत्ति कथमपि सम्भव नहीं होगी। इसी बात को अद्वैतमत के खण्डन में कहते हैं कि जीव और ब्रह्म का तादात्म्यज्ञान जीवात्मापरक अविद्या को हटा देता है। अद्वैतवादियों का ऐसा कहना भ्रामक है। यदि अविद्या ब्रह्म के स्वरूप का एक भाग है तब सम्भव नहीं कि उस अविद्या से निवृत्ति हो सके। सभी प्रयास व्यर्थ होंगे। क्योंकि सद्–ब्रह्म का स्वरूपांश होने के कारण वह भी सदात्मक ही होगी। अतः मोक्ष की व्यवस्था भी बन सकेगी।[११५] ब्रह्म से भिन्न यदि अविद्या को माना जाये तो भी उसकी ब्रह्म से अलग सत्ता होगी, और उस स्थिति में भी वह अबाधित होगी। क्योंकि जिस ज्ञान द्वारा अद्वैतवादी सन्निवृत्ति बताते हैं,

---

११३. अविद्या प्रकाशस्तिरोहित इति। प्रकाशेप्रतिबन्धो वा विद्यमानस्य विनाशो वा प्रकाशस्यानुत्पादकत्वाद्विनाश एवं स्यात्।–वै०सं० ६६

११४. तिरोधानं नाम प्रकाशनिवारणं स्वरूपातिरेक प्रकाशधर्मानभ्यपानेन प्रकाशस्येव–स्वरूपत्वात् स्वरूपनाश एव स्यात्।–पूर्वोक्तैव

११५. ब्रह्मणे दोषत्वेसति तस्य नित्यत्वेन निर्मोक्षश्चस्यात्।–श्रीभाष्य १.१.१

वह ज्ञान स्वयं अविद्या की प्रकृति है। अतः वह किस अविद्या का निर्वातक हो सकता है।

आचार्य रामानुज के अनुसार प्रश्न यह भी उठता है कि वह कौन है जो इस जगत् को मिथ्या मानता है? यह या तो ब्रह्म है या इस पर किसी प्रकार का किया गया अध्यास है? यदि ब्रह्म को माना जाये तो उसका ज्ञातृत्व प्रमाणित होता है और इस दशा में अद्वैतवादियों को उसे सगुण स्वीकार करना पड़ेगा और यदि ब्रह्म ज्ञाता नहीं है एवं कोई अन्य अध्यास जगत् को मिथ्या बताता है तो रामानुज के मतानुसार उस अध्यास और उनकी हेतुभूता अविद्या का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा।[११६] ऐसा स्वीकार करने पर ब्रह्म की सत्ता के लिए अपघातक है। अतः किसी भी प्रकार ब्रह्म और अविद्या का तादात्म्य या सम्बन्ध नहीं बैठता।

सर्वदर्शन संग्रह में रामानुज के ईश्वर सम्बन्धी मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव और परमात्मा के मध्य शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है। इसलिए इन दोनों में तादात्म्य है। जीवात्मा ब्रह्म का शरीर है।[११७] इसलिए वह ब्रह्म का एक ही प्रकार है। अर्थात् ब्रह्मात्मक है। इस सम्बन्ध में वेद का दूसरा प्रमाण भी है जो आत्मा में रहता है, आत्मा से भिन्न दूसरी आत्मा जिस परमात्मा को नहीं जान पाती, आत्मा जिसका शरीर हैं।

रामानुज आगे इस विषय में लिखते हैं कि यह सभी शब्द ईश्वरवाची ही हैं। वास्तव में संसार में जितने भी (घट, पट, मनुष्य आदि) शब्द हैं सभी परमात्मा के वाचक है। ऐसी दशा में यह बात नहीं है कि वे (शब्द) एक दूसरे के पर्याय हो जायें, क्योंकि सभी शब्दों में द्वारा के भेद की सम्भावना है। (घट शब्द घट-पदार्थ की अभिव्यक्ति के द्वारा अपने अन्दर के परमात्मा का बोधक होगा, इस प्रकार सभी शब्द अपने निश्चित पदार्थों के द्वारा परमात्मा का बोध कराते हैं—जिस विधि से बोध होता है उसी के द्वारा में अन्तर है), जैसे देवताओं, मनुष्यों और अन्य योनियों के शरीर के अवयव उनमें निवास करने वाले जीव के शरीर के विभिन्न प्रकार हैं, उसी प्रकार सारी वस्तुएँ ब्रह्मात्मक हैं। (मनुष्यों के शरीर के विविध अवयव उस शरीर के विभिन्न रूप हैं। उन अवयवों को हम

---

११६. अध्यस्तं वेदमध्यासस्तन्मूलाविद्यान्तरं च निवर्तक ज्ञानाविधयतया तिष्ठत्यैव।
—वै०सं०, पृ० ८२

११७. जीवात्मा हि ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वाद् ब्रह्मात्मकः। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।' (बृ० ३/७/२२)

मनुष्यात्मक कहते हैं, क्योंकि सब मनुष्यों के ही हैं। ब्रह्म के शरीर के विविध अवयवों के रूप में ये सारी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती है अतः ये ब्रह्मात्मक हैं। इसीलिए देव, मनुष्य, यक्ष, पिशाच, सर्प, राक्षस, पक्षी, वृक्ष, लता, काष्ठ, शिला घट, पट आदि सभी शब्द प्रकृति और प्रत्यय के जोड़ने से किसी न किसी अर्थ के बोधक होने पर लोक--व्यवहार में प्रसिद्ध हैं। अपने उसी बाह्यार्थ से वे अपने-अपने शरीरावयवों को धारण करने वाली वस्तुओं का बोध कराते हैं तथा इसी प्रकार उनका नियन्त्रण करने वाले जीव का (सजीव वस्तुओं में) तथा उसके बाद उसके अन्तर में नियामक के रूप में रहने वाले परमात्मा तक के सारे समूहों (अर्थों) का बोध भी ये शब्द ही करा देते हैं। हम लोग शब्दों की महत्ता केवल बाह्य वस्तुओं का बोध कराने में ही समझते हैं। लेकिन शब्द न केवल बाह्यार्थ का, प्रत्युत अन्तर्यामी परमात्मा तक का बोध कराने में समर्थ हैं। शब्द से वस्तु का बोध होता है, वस्तु से उसके भीतर रहने वाले जीव का फिर जीव से परमात्मा का–इस प्रकार से बहुत से संघात बीच में पड़ते हैं।[११८]

देवादि शब्द परमात्मा तक का बोध करा देते हैं, यह तत्वमुक्तावाली के चतुर्थ सर (अध्याय) में कहा गया है–'देव आदि शब्द जीव का बोध कराते हैं, क्योंकि उस (जीव) से पृथक् न रहने वाले सिद्ध-भाव (देवादि या शरीर) का उल्लेख किया जाता है।[११९] जीव के बिना शरीर का स्वरूप नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए शरीर जीव से अपृथक् है, यह सिद्ध है। इस अर्थ में लोक और वेद दोनों में (देवादि शब्दों का) प्रयोग बहुत दृढता से होता है, क्योंकि निष्कर्ष का अभाव है। लोक में देव, मनुष्य, पशु आदि शब्दों का वेद में भी जहाँ-जहाँ देवत्वं प्राप्नोति गच्छति का प्रयोग है वहाँ-वहाँ देवत्व का अर्थ है देवता के शरीर की विशेषता। इस प्रकार दोनों स्थानों में विशिष्ट अर्थ में ही इन शब्दों का प्रयोग होता है। इसमें कारण यही है कि शरीरी (जीव) अपृथक् रूप से सिद्ध है।

'आत्मा से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर देव, मनुष्य आदि के शरीर (मूर्ति) की स्थिति पहले जैसी नहीं जानी जाती। मर जाने पर शरीर क्षण भर भी

---

११८. देवो मनुष्यो यक्षो वा पिशाचोरगराक्षसाः।
पक्षी वृक्षो लता काष्ठं शिला तृणं घटः पटः।।
इत्यादयः सर्वे शब्दाः प्रकृतिप्रत्यययोगेनाभिधायकतया प्रसिद्धाः लोके

पहले जैसा नहीं रहता जबकि उस शरीर में आत्मा या जीव का वास था। यहाँ तक परमात्मा ने भी वस्तुओं में जीवात्मा का प्रवेश होने के कारण संसार में नाम और रूप की सृष्टि की।'

डॉ० राधाकृष्णन् ने रामानुज के मत को स्पष्ट कते हुए कहा है कि शंकर के ब्रह्म और रामानुज के ब्रह्म ईश्वर का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म को शंकर शून्य की ओर ले जाते हैं, जिसे वह भावों के एक निरर्थक नाटक के द्वारा छिपाने का प्रयास करता है। उनका निर्गुणब्रह्म एक ऐसी शून्य सत्ता है जो हमें ऑरलैंडों की उस प्रसिद्ध घोड़ी की याद दिलाता है जो सब प्रकार से पूर्ण थी, किन्तु केवल एक ही छोटा-सा दोष उसमें था, अर्थात् वह मरी हुई थी। इस प्रकार के ब्रह्म को किसी भी साधन से अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा धर्मशास्त्र द्वारा नहीं जाना जा सकता।[१२०] यदि ज्ञान के सब साधन सापेक्ष है तो वह हमें ऐसी सत्ता के विषय में जो अनुभवातीत है कुछ नहीं बता सकते, यदि धर्मशास्त्र अयथार्थ हैं तो वह ब्रह्म भी अपथार्थ हुआ जिसका प्रतिपादन ये धर्मशास्त्र करते हैं। उस परम यथार्थ सत्ता में जिसे ईश्वर कहते हैं। निश्चय सीमितता, भेद अन्यथा जो साथ-साथ विलीन हो जाती है। ये सब अन्तर्निहित हैं और उस एक में एकत्रित हैं। सान्तता स्वयं अनन्त के ही अन्दर है ब्रह्म में अपने अन्दर ही स्वगत भेद है और वह एक संश्लिष्ट पूर्ण इकाई है जिसमें आत्माएँ तथा प्रकृति उसके लिए महत्व की सत्ताएँ है (चिदचिद्विशिष्ट)।[१२१] सत् चित् तथा आनन्द ये तीनों ब्रह्म को एक विशेष स्वरूप तथा व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। ब्रह्म का ज्ञान साक्षात् है और इन्द्रियों के ऊपर निर्भर नहीं है।[१२२] वह सर्वज्ञ है और उसे सब कुछ का प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान होता है। ब्रह्म का व्यक्तित्व सर्वोपरि है जबकि जीवात्माएँ शरीरधारी है और उनके साधन भी अपूर्ण है। व्यक्तित्व के अन्दर योजना बनाने की शक्ति और अपने उद्देश्य को प्राप्त करने

---

११९. जीवं देवादिशब्दो वदति तदपृथक्सिद्धभावाभिधाना न्निष्कर्षाभावयुक्ताद्बहुरिह च दृढो लोकवेदप्रयोग:।
आत्मासम्बन्धकाले स्थितिरनवगता देवमर्त्यादिमूर्तेर्जीवात्मानुप्रवेशाज्जगति विभुरपि व्याकरोन्नामरूपे (तत्वमुक्ताकलाप: ४/८२)

१२०. १.१.२

१२१. १.१.२ सर्वदशनसंग्रह, ४१

१२२. १.२.१९

की शक्ति उपलक्षित हैं। ईश्वर का व्यक्तित्व पूर्ण है क्योंकि वह समस्त अनुभव को अपने अन्दर धारण करता है और अपने को बाह्य किसी वस्तु के ऊपर निर्भर नहीं करता। ऐसे भेद जो व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है सब उसके अन्दर है। ईश्वर के सबसे प्रधान गुण है ज्ञान, शक्ति तथा करुणा। करुणा के कारण ही ईश्वर ने जगत् की रचना की, धार्मिक विधान का निर्माण किया और वह उन सब व्यक्तियों की जो पूर्णता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं बराबर सहायता करता है[१२३] यद्यपि प्रत्येक गुण अपने आप में अन्यों से भिन्न है तो भी वे सब एक ही सत्ता से सम्बद्ध हैं और इसकी अखण्डता में विभाग उत्पन्न नहीं करते। उस प्रभु का इन सबके साथ सम्बन्ध स्वाभाविक तथा सनातन है।[१२४] यह गुण भाववाचक कहे जाते हैं एवं प्रकृति तथा जीवात्माओं से भिन्न है, यद्यपि वे भी ईश्वर के गुण है। ईश्वर अपने तात्विक गुणों का आधार हैं और उन पदार्थों का भी आधार है जो उसके ऊपर निर्भर है।[१२५] उस सर्वोपरि सत्ता की ''एक दैवीय आकृति है और अद्वितीय है जो प्रकृति की सामग्री से नहीं बनी और न कर्म के ही कारण उसका निर्माण हुआ है।[१२६] शरीर केवल मात्र तत्वों का सम्मिश्रण नहीं है न ऐसा ही पदार्थ है जिसका प्राण के द्वारा धारण होता है। यह इन्द्रियों का अधिष्ठान नहीं है अथवा सुख-दुख का कारण नहीं है। रामानुज के अनुसार ''यह एक ऐसा द्रव्य है जिसे चेतना सम्पन्न आत्मा पूर्णतया नियन्त्रण में रख सकती है तथा अपने स्वार्थ साधन के लिए धारण करती है और जो आत्मा की सर्वथा अधीनता में है।[१२७] शरीरधारी होने पर भी ईश्वर दुख नहीं पाता क्योंकि वह जानता है कि दुःख का कारण कर्म है शरीरधारी होना मात्र नहीं।[१२८] वह कर्म का प्रभु है, क्योंकि कर्म स्वयं फल प्रदान नहीं कर सकता। कर्म जो ज्ञानरहित और क्षणिक है-ऐसे किसी भी फल को उत्पन्न करने के अयोग्य है जिसका सम्बन्ध भविष्यत् से हो।[१२९] यह सर्वोपरि प्रभु ही है जो इस लोक में तथा परलोक (स्वर्ग) में भी नानाविध सुखों को प्रदान करता है। हम यह भी कह सकते हैं कि ब्रह्म

---

१२३. रहस्यत्रयसार, २३

१२४. ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य २:१,१५

१२५. रहस्यत्रयसार, ३

१२६. १:२:१:१

१२७. २: १, ९

१२८. १:१, २१

१२९. ३:२, ३७

आकृति रहित है।[१३०] यद्यपि विविध प्रकार की आकृतियों से उसका सम्बन्ध है, क्योंकि ''जीवात्मा उस शरीर की आकृति से सम्बद्ध है जिसके अन्दर यह रहता है, यह उन सुखों और दुःखों में भाग लेता है जो शरीर के कारण उत्पन्न होते हैं, किन्तु क्योंकि ब्रह्म इन सुखों में तथा दुःखों में भागीदार नहीं बनता इसलिए उसकी कोई आकृति नहीं है।[१३१] ब्रह्म जीवात्माओं के दुःखों अथवा प्रकृति के विकारों से अछूता रहता है। जितना भी पाप है, वह भूतकाल की भूल का परिणाम है और जीवात्माओं के सांसारिक जीवन की उपज है। ईश्वर इसके लिए बिल्कुल जिम्मेदार नहीं है। जन्म-जन्मान्तरों की अन्तविहीन श्रृंखला के ऊपर वह प्रकाश में रहता है जहाँ कि कोई भी छाया उसके गौरव को मलिन नहीं कर सकती है।[१३२] इस प्रकार का जीवन मुक्तात्माओं के लिए भी सम्भव है, इसलिए ईश्वर के लिए तो उससे भी अधिक सम्भव है।[१३३]

जीवात्माएँ तथा प्रकृति प्रभु के तत्व की एकता में समाविष्ट हैं, और सर्वोपरि ब्रह्म के साथ उनका सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि गुणों का सम्बन्ध द्रव्यों के साथ है, या जैसे सम्पूर्ण इकाई के साथ उसके हिस्सों का होता है, अथवा शरीर का सम्बन्ध उसमें जीवन डालने वाली आत्मा के साथ है।[१३४]

तत्व मीमांसा–

आचार्य रामानुज के मत में तत्व का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है कि उसका तत्व भेदात्मक, अभेदात्मक और उभयात्मक में से कौन सा है? उसका तत्व समस्त का शरीर बनकर, सर्वप्रकारेण एकमात्र ब्रह्म ही स्थित है, इसलिए अभेदवाद की उपपत्ति होती है।[१३५] ब्रह्म एक ही है, अनेक प्रकार के चित्

---

१३०. ब्रह्मरूपरहिततुल्यमेव।

१३१. ३:२, १४

१३२. १:१, २१

१३३. ३:३, २७

१३४. तुलना कीजिए–जगत् सर्वं शरीरं ते। रामायण, युद्धकांड, १:२०, २६, तिरुवायमोयीः १:१, ८ बृहदा० उ० ५:७

१३५. किमत्र तत्वं भेदोऽभेद उभयात्मकं वा? सर्वं तत्वम्। तत्र सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमित्यभेदोऽभ्युपेयते। (रामानुज)

और अचित् पदार्थों के भेद के कारण नाना रूप से अवस्थित है–इसलिए भेदाभेदवाद की सिद्धि होती है। चित् अचित् और ईश्वर में स्वरूप और स्वभाव को लेकर भेद सिद्धि होती है। चित् अचित् और ईश्वर में स्वरूप और स्वभाव को लेकर भिन्नता है, उन्हें मिलाकर नहीं रख सकते, इसलिए भेदवाद की भी सिद्धि होती है।[१३६]

अर्थात् चित् का स्वरूप है ज्ञानस्वरूप होना, इससे अचित् भिन्न है। चित् और ईश्वर में यद्यपि ज्ञानात्मकता समान है पर चित् का स्वरूप अणु है, ईश्वर का विभु–यही भेद होता है। तीनों पदार्थों के स्वभाव को अपनी अलंकृत शैली में रामानुज उपस्थित करते हैं।

१. इनमें चित् के रूप में जीवात्माएँ हैं, वे संकोचरहित, सीमाहीन, निर्मल ज्ञान के स्वरूप हैं, अनादि कर्मरूपी अविद्या से आच्छदित है, इसलिए अपने अपने कर्म के अनुसार ज्ञान का संकोच और विकास होना भोगने योग्य, अचित् वस्तुओं के संसर्ग में आना, उसके गुण के अनुसार ही सुख और दुःख इन दोनों का उपभोग करने से भोक्ता बनना, भगवान् के स्वरूप का ज्ञान, भगवान् के चरणों की प्राप्ति आदि उस जीवात्मा के स्वभाव है।[१३७]

२. अचित् वस्तुएँ भोग्य हैं इनके स्वभाव हैं–अचेतन होना, पुरुषार्थों की प्राप्ति न करना, विकार प्राप्त करना इत्यादि।[१३८]

३. परमेश्वर के स्वभाव हैं–भोक्ता (जीव) और भोग्य (जड़) दोनों के आन्तरिक नियन्ता के रूप में अवस्थित रहना, असीम (अपरिच्छेद्य) ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य शक्ति, तेज इत्यादि अनन्त अतिशयों से युक्त तथा असंख्य कल्याणकारी गुणों का समूह होना, अपने संकल्प से ही प्रवृत्त होकर अपने से भिन्न सारी चित् और अचित् वस्तुओं को उत्पन्न करना, अपने अभीष्ट तथा अपने अनुरूप, एक रूप से तथा दिव्य रूप से निरतिशय विविध और अनन्त भूषणों

---

१३६. एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकारात् नानात्वेनावस्थितमिति भेदाभेदौ। चिदचिदीश्वराणां स्वरूपस्वभाववैलक्षण्यादसङ्कराच्च भेदः।

१३७. तत्र चिद्रूपाणां जीवात्मनामसंकुचितापरिच्छिन्न निर्मलज्ञानरूपाणाम् अनादिकर्मरूपा-विद्यावेष्टितानां तत्तत्कर्मानुरूपज्ञानसङ्कोचविकाशौ भोग्यभूताचित्संसर्गस्तदनुगुणसुख-दुःखोपभोग द्वयरूप भोक्तृता भगवत्प्रतिपत्तिर्भगवत्पदप्राप्तिरित्यादयः स्वभावः।

१३८. अचिद्वस्तूनां तु भोग्यभूतानामचेतनत्वसमपुरुषार्थत्वं विकारास्पदत्वमित्यादयः।

की धारणा करना इत्यादि[१३९] अर्थात् ईश्वर के अतिशयों में ज्ञान वह गुण है जो सदा सभी विषयों का प्रकाशन करते हुए अपना प्रकाशन भी करता है। ऐश्वर्य अर्थात् स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना, सभी जीवों और जड़ों पर नियन्त्रण का सामर्थ्य रखना, वीर्य अर्थात् संसार का उपादान कारण होने पर भी विकृति न होना। शक्ति-संसार का मूल कारण होना, न घटी हुई घटना उत्पन्न करना। तेज-सहकारियों की आवश्यकता न होना, दूसरों से अभिभूत नहीं होना। इस प्रकार सभी पदार्थों की विशेषताएँ बतलाई गई हैं। अब वेंकटनाथ के तत्वमुक्ताकलाप के आधार पर पदार्थों का वर्णन होगा।

वेंकटनाथ ने पदार्थों का विभाजन करते हुए लिखा है-द्रव्य और अद्रव्य के भेद से दो प्रकार का तत्व जाना जाता है-उसके ज्ञाता लोग ऐसा कहते हैं। द्रव्य भी दो प्रकार का है जड़ और अजड़। उनमें पहला (जड़) भी दो भेदों का है-अव्यक्त तथा काल। दूसरा (अजड़) भी दो भेदों का है-प्रत्यक् (निकट) और पराक् (दूर) (अपने लिए प्रकाशित होने वाला प्रत्यक् है, दूसरों के लिए प्रकाशित अजड़ पराक् है) इनमें भी प्रथम (प्रत्यक्), जीव और ईश्वर के भेद से दो प्रकार का है। दूसरे (पराक्) के भी दो भेद हैं-नित्यविभूति तथा मति। पहली (नित्यविभूति को कुछ विद्वान् जड़ा भी कहते हैं।[१४०]

उनमें द्रव्य अवस्था धारण करता है। सत्य आदि गुणों से युक्त इसकी प्रकृति (मूल अवस्था) है। शब्द (वर्ष) आदि के आकार (रूप) में काल है। जीव अणु तथा ज्ञान (अवगति) से मुक्त है, दूसरी आत्मा (चेतनस्वरूप) को ईश्वर कहते हैं। नित्य विभूति उसे कहा गया है जो तीन गुणों से परे हो तथा सत्व गुण से युक्त हो। ज्ञाता (जीव+ईश्वर) को जो ज्ञेय वस्तु का अवभास मिलता है, उसे मति कहते हैं। इस प्रकार संक्षेप में द्रव्य का लक्षण कहा गया है।[१४१]

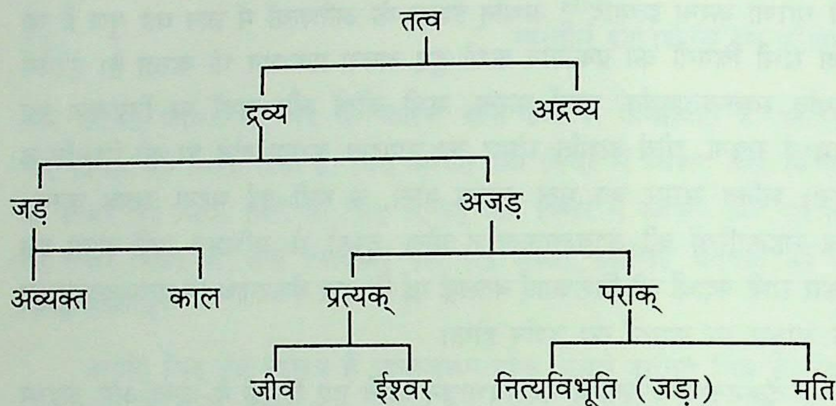
इन भेदों को निम्नलिखित प्रकार से चित्रांकित किया जा सकता है-

---

१३९. परस्येश्वरस्य भोक्तृ-भोग्ययोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानमपरिच्छेद्यज्ञानैश्वर्यवीर्यशक्ति तेजः प्रभृत्यनवधिकातिशयासंख्येय-कल्याण गुणगणता स्वसंकल्प प्रवृत्तस्वेतरसमस्त-चिदचिद्वस्तुजातता स्वाभिमतस्वानुरूपैकरूपदिव्यरूप निरतिशयविविधानन्तभूषणतेत्याः।

१४०. द्रव्याद्रव्यप्रभेदान्मितमुभयविधं तद्विदस्तत्वमाहुः .... जडामादिनां केचिदाहुः।। (त० मु० १/६)

१४१. तत्र द्रव्यं दशावत्प्रकृतिरिह गुणैः सत्वपूर्वैरूपेता
कालोऽब्दाद्याकृति..............सङ्हाद् द्रव्यलक्ष्म।। (तत्वमुक्ताकलाप १/७)



जीवात्मा–रामानुज के अनुसार जीव के विषय में सर्वदर्शन-संग्रह में स्पष्ट किया गया है कि चित् शब्द से ज्ञात जीवात्मा परमात्मा से भिन्न और नित्य है।[१४२] श्रुति में भी इसका प्रमाण मिलता है–दो पक्षी जो साथ रहते हैं। और मित्र है.. .....[१४३] इत्यादि। इसीलिए कणाद ने भी वैशेषिक-सूत्र में कहा है–''विभिन्न अवस्थाओं में रहने के कारण आत्मा नाना प्रकार की है '(१३/२/२०)' उस जीवात्मा की नित्यता भी श्रुतियों में प्रसिद्ध है–'यह ज्ञानी आत्मा न तो उत्पन्न होती है, न मरती है, न यह उत्पन्न हुई थी और अब उत्पन्न होगी भी नहीं। यह अज (जन्म न लेने वाली), नित्य शाश्वत–नायं कुतश्चित् तथा पुरानी–न वभूव कश्चित् है, शरीर के मारे जाने पर यह नहीं मारी जाती (गीता ०२/२०) तथा कुछ परिवर्तनों के साथ–नायं कुतश्चित् वभूव कश्चित्–कठो ०२/१८)।

अर्थात् 'द्वासुपर्णा का श्लोक सांख्य दर्शन का मूल है तथा भारतीय दर्शनों में महावाक्य के रूप में उद्धृत किया गया है। सुनते हैं कि नील घाटी की खुदाई में इस मन्त्र के भाव का एक चित्र भी प्राप्त हुआ है। पूरा मन्त्र इस रूप में है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।

प्रथम चार पदों में 'सुपां सलुक्०' (पा० सू० ७/१/३९) से औ के स्थान पर डा (आ) हो गया है। द्वौ सुपर्णौ अर्थात् जीव और ईश्वर, सुपर्ण का अर्थ पक्षी

१४२. तत्र चिच्छब्दवाच्या जीवात्मनः परमात्मनः सकाशाद् भिन्ना नित्याश्च। (मु० ३/१/१)

१४३. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया। मुण्डक ३।१।१ श्वे० ४।६

होता है। जिसके सादृश्य के कारण यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। सयुजौ अर्थात् समान गुणवाले, सखायौ अर्थात् पाप नष्ट करना आदि गुणों के कारण ये आपस में समान है। वृक्ष अर्थात् शरीर क्योंकि वह भी वृक्ष के समान काटा जाता है। ये दोनों जीव और ईश्वररूपी वृक्ष पर आश्रित हैं। उनमें एक सुस्वादु पीपल का फल खाता है (कर्मफल का भोग करता है) दूसरा ईश्वर बिना खाये हुए ही देखता है। यहाँ वास्तविक विषय को निगलकर सुपर्ण, वृक्ष आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। किन्तु अर्थ में उन्हें ही हटाना पड़ेगा–यह बहुत सुन्दर रूपकातिशयोक्ति है। इसकी ही व्याख्या भागवत् में इस प्रकार है–

सुपर्णावेतौ सदृशौ सउखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नं स पिपलादो न तु पिप्पलादः॥ (१११११/६)

श्लोक का भाव बहुत पुराना है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

'नानात्मानो व्यवस्थातः' का भाव है कि संसार में किसी को सुख मिलता है, किसी को दुःख, कोई बन्धन में है तो कोई मुक्त–इस प्रकार की व्यवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। इसलिए जीवात्माओं को नाना प्रकार का मानते हैं, जीव एक नहीं है। तत्वावली में कहा है–

कश्चिद्रङ्कः कश्चिदाढयः कश्चिदन्यविधः पुनः।
अनयैवात्मनानात्वं सिव्यत्यत्र व्यवस्थया॥ (तत्वा० ९०)

इस प्रकार जीवात्मा को परमेश्वर से भिन्न, नाना प्रकार का तथा नित्य माना गया है। यदि जीव को नित्य नहीं मानें और जीव की उत्पत्ति और विनाश शरीर के साथ-साथ मानें, तो किये गए कर्म का नाश तथा नहीं किये गए कर्म के फल की प्राप्ति का संयोग हो जायेगा। कर्म करने के बाद शरीर के साथ ही जीव मर जायेगा, फिर कर्म का नाश ही हो जायेगा–चार्वाक मत की सिद्धि होगी। जन्मान्तर का तो अभाव ही होगा, लेकिन जन्म लेते ही व्यक्ति को सुख-दुःख का फल मिलने लगता है। यह तो बिना किये कर्म का ही फल है। यदि इन बातों को स्वाभाविक मानते हैं तो चार्वाक का चेला बनें।

इसीलिए गौतम ने न्यायसूत्र में कहा है कि राग से रहित व्यक्ति का जन्म नहीं होता।[१४४] इससे ज्ञात होता है कि राग से अनुबद्ध होकर ही प्राणी जन्म लेताहै।

---

१४४. अपरथा कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्ग। अत एवोक्तम्–'वीतरागजन्मादर्शनात्
–न्या०सू० ३/१/२५

राग तभी उत्पन्न होता है जब पहले से अनुभव किये गए विषयों का अनुचिन्तन किया जाये। पूर्वानुभव तभी हो सकता है जब दूसरे जन्म में विषयों का संसर्ग शरीर धारण करके किया गया हो। वहीं जीव पूर्व शरीर में अनुभूत विषयों का अनुस्मरण करता है तथा उनकी इच्छा करता है। यही दो जन्मों की प्रतिसन्धि है। इस शरीर में पहले शरीर से, उसमें भी उसके पहले के शरीर से—इस प्रकार अनादिकाल से चेतन आत्मा का सम्बन्ध शरीर से रहा है। इसलिए जीव की नित्यता सिद्ध होती है।

जीव का अणु होना भी श्रुतिवाक्यों में प्रसिद्ध है—'यदि केश के अग्रभाग का सौवाँ भाग भी सौ भाग में बँटा हुआ माना जाये तो उस छोटे भाग की तरह ही जीव (अणु) है, यह जीव ही मोक्ष की प्राप्ति में समर्थ है।[१४५] इसके अतिरिक्त भी कहा गया है—पुरुष अरा के अन्तिम खण्ड के आकार का है।[१४६] आत्मा अणु है, इसे चित्त (बुद्धि) से ही समझ सकते हैं।[१४७]

अचित् शब्द से सामने दिखलाई पड़ने वाले जड़ जगत् का बोध होता है, जिसके तीन भेद हैं—भोग्य, भोग का उपकरण और भोग का आयतन। अर्थात् अचित् से रामानुज समूचे संसार का अर्थ लेते हैं जिसमें शरीर, इन्द्रियाँ और दृश्य पदार्थ, तीनों आते हैं।[१४८]

रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जीव का स्वरूप शरीर है। वह इन्द्रियों से मन से, बुद्धि से व्यतिरिक्त, अजड़, आनन्दरूप, नित्य, अणुरूप, श्रव्य, अचिन्त्य, निर्वयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय, ईश्वर के द्वारा नियमित, धार्य एवं शेष है।[१४९]

देह को आत्मा नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह मेरा शरीर और यह मैं (आत्मा) हूँ—यह दोनों प्रतीति एक दूसरे से भिन्न है।[१५०] विशिष्टाद्वैतियों का कथन

---

१४५. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।। श्वेता० ५/९

१४६. आराग्रमातः पुरुषः। श्वे० ५/८

१४७. अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः। मुण्ड० ३/१/९

१४८. अचिच्छब्दवाच्यं दृश्यं जडं जगत्त्रिविधं भोग्य-भोगोपकरण-भोगायतनभेदात्।।

१४९. आत्मस्वरूपं गत्वानत्वोपरोपरमित्युक्तप्रकारेण देहेन्द्रिय मनः प्राणबुद्धिभ्यो विलक्षणम् अखण्डमानन्दरूपम्-नित्यमस्वव्यक्तमचिन्त्यनिरयवय निर्विकार ज्ञानाश्रय ईश्वरस्य नियाम्यं धार्यम्-शेषम्-तत्वत्रय-चिद्धप्रकरणम्, पृ० ५

१५०. देहादिनाममदेहादिकमिति-आत्मनः पृथग्गुणलभ्यमानत्वात्,
इद्धमित्युपलभ्यमानत्वात् आत्मनो-अहमित्युपलम्भात्।-पूर्वोक्तैव, पृ० ७

है कि "यह मेरा शरीर है", "यह मेरा हाथ है", यह मेरा सिर है"–ऐसी चैतन्य-गुणकसाध्य प्रतीतियाँ उन्हें उस चैतन्य-गुण तत्त्व से व्यतिरिक्त सिद्ध करती है। शरीर और उसके अवयवों को चैतन्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि विभिन्न शरीरों में विद्यमान चेतनों में जिस प्रकार कभी-कभी अभिप्राय भेद एवं विवाद उपस्थित होता है, उसी प्रकार शरीर में विद्यमान अवयवों के चेतन होने पर भी कभी-कभी इसमें अभिप्राय भेद तथा विवाद इत्यादि उपस्थित होना चाहिए किन्तु वैसा नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा को शरीर से व्यतिरिक्त सिद्ध करने वाला एक प्रमाण विशिष्टाद्वैती यह भी देते हैं कि सुख-दु:ख शरीर को व्याप्त नहीं करते। सुख-दु:ख की अनुभूति आत्मा को अविच्छिन्न मन के द्वारा ही होती है। शरीर के द्वारा नहीं। इसलिए इसके अनुसार शरीर आत्मा नहीं है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार बुद्धि अर्थात् ज्ञान भी आत्मा नहीं है। परस्पर धर्म-धर्मी भाव के कारण ज्ञान और ज्ञाता एक नहीं हो सकते। "अहम् घटम् जानामि" आदि उक्तियाँ ज्ञान और ज्ञाता के द्वैत को सिद्ध करती हैं। ज्ञाता धर्मी होने से मूल है और ज्ञान तद्धर्म है। अत: ज्ञाता रूप आत्मा को ज्ञान नहीं माना जा सकता। दूसरे ज्ञान नश्वर है। आत्मा नश्वर नहीं है। अत: ज्ञानमात्र को आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बाह्येन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं मानी जा सकती। विशिष्टाद्वैत के अनुसार उनमें संख्यात्मक आधिक्य है, जबकि आत्मा एक है। यदि आत्मा का भी संख्यात्मक आधिक्य किया जाए तो पुन: शरीर सन्दर्भवत् वहाँ भी सभी इन्द्रियों में विवाद होना चाहिए, जोकि नहीं है। तदतिरिक्त इन्द्रियों के अपने-अपने विषय-विशेष निश्चित हैं। चक्षु-देख ही सकते हैं, सुन नहीं सकते हैं। नासिका सूँघ सकती है, देख नहीं सकती। जबकि आत्मा पाँचों इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों का अन्तर्सात करने में सक्षम है।[१५१] इसके अतिरिक्त सुषुप्ति अथवा कैवल्य की अवस्था में जब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से विरत हो जाती है तो स्वप्न में आत्मा के द्वारा व्याघ्रादि का दर्शन भी उसकी बाह्येन्द्रियों से व्यतिरिक्तता को सिद्ध करता है।

विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार आत्मा अजड़ है। वह ज्ञान के बिना भी स्वयं भी प्रकाशित होने की सामर्थ्य रखता है।[१५२] आत्मा स्वयं प्रकाश है, अपने ज्ञान

---

१५१. तेषां बहुत्वात् प्रतिनियतविषयत्वाच्च परस्परानुज्ञार्थप्रतिसन्धानपरस्परविवादनियमाद्यनुपपपत्ते।–न्यसिद्धा० २, पृ० २३५

१५२. अजड़त्वं नाम ज्ञानेन बिना स्वयमेव प्रकाशमानत्वम्। –तत्त्वत्रयटीका, पृ० १२

के लिए वह किसी अन्यतर साधन की अपेक्षा नहीं रखता। जिस प्रकार दीपक किसी अन्य दीपक की सहायता के बिना स्वयं ज्ञेय है, उसी प्रकार से आत्मा भी चैतन्यगुण होने के कारण स्वयं प्रकाशवान् है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार आत्मा का स्वरूप आनन्दमय है। क्योंकि प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि सुषुप्तावस्था के अनन्तर 'मैं सुखपूर्वक सोया'–जैसी अनुभूतियाँ इस बात को पुष्ट करती है कि आत्मा आनन्द रूप है।[१५३] क्योंकि सुषुप्तावस्था में कोई भी बाह्येन्द्रिय अपने विषय में व्याप्त नहीं होती। अतएव विशिष्टाद्वैत के अनुसार निर्विषय आनन्दोपभोग उसकी प्रकृति ही है।

रामानुज के मतानुसार सार्वकालिक होने के कारण आत्मा नित्य है। जन्म मरणादि की संज्ञा शरीर सम्बन्धाधार पर ही वाच्य है, उसके वास्तविक स्वरूप को लेकर नहीं। गीता भी कहती है कि न वह उत्पन्न होता है और न वह मरता है।[१५४] वह मर गया या उत्पन्न हुआ है--ऐसा लोकव्यवहार आत्मा के वास्तविक जन्म मरण का कथन नहीं करता अपितु यह देह के साथ उसके सम्बन्ध या वियोग का औपाधिक कथन है।

विशिष्टाद्वैती अपने उक्त कथन के समर्थन में "सन्मूल: सोम्येमा: सर्वा: प्रजा: सदायतना: सत्यप्रतिष्ठा:" (छन्दोग्य० ६.८.४), यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तै० ३.१) आदि श्रुतियों को भी उपस्थापित करते हैं।

विज्ञानात्मवादी बौद्ध आत्मा को क्षणिक मानते हैं, प्राणेन्द्रियात्मवादी शरीर पतन तक ही आत्मा की सत्ता स्वीकारते हैं। कुछ पौराणिक आत्मा को प्रलयान्त सावधिक मानते हैं। विशिष्टाद्वैत के अनुसार यह सभी मत असंगत एवं सारहीन हैं। उनके अनुसार यदि जीवात्मा को क्षणिक माना जाता है तो जप-तप चिन्तनादि में मानव की प्रकृति का कोई तात्पर्य ही नहीं रह जाता। क्योंकि प्रवृत्ति तो उत्तरकालिक दु:खों से निवृत्ति और सुखोपलब्धि की आशा से होती है।[१५५] यदि शरीरपातान्तर आत्मा को नहीं माना जाता है तो पारलौकिक फलाभिसन्धायक यज्ञादि में भी प्रवृत्ति न हो; जबकि हम लोक में स्पष्टत: ईदृशी प्रवृत्ति देखते हैं। इसी प्रकार प्रलयान्त आत्मा की सत्ता स्वीकार करने से मोक्ष हेतु प्रयत्न एवं

---

१५३. आनन्दारूपत्वं सत्स्वरूपमत्वम्, प्रबुद्ध..............प्रसिद्धारतीति सुख रूपम् भवति।–तत्त्वत्रयं, पृ० १०

१५४. न जायते म्रियते वा कदाचित्।–गीता, २.२०

१५५. कृतनाश: अकृताभ्युपगमश्च।

साधनों का कोई महत्व नहीं रह जाता। प्रलय होने पर जब आत्मसत्ता समाप्त हो ही जायेगी तो फिर व्यर्थ में जप-तप प्रभृति का कष्ट क्यों उठाया जायेगा।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार आत्मा का स्वरूप अव्यक्त है, क्योंकि उसका घटपटादि पदार्थों की भाँति नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा दर्शन अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। केवल मानस-ज्ञान के द्वारा ही उसका प्रत्यक्ष सम्भव है।[१५६]

रामानुज के मत में आत्मा को अचिन्त्य एवं निरवयव माना गया है। अचित्पदार्थवत् अवयवों का समुदाय न होने के कारण आत्मा विज्ञानमय ज्ञानेकाकार निरवयव है। उसमें किसी प्रकार का विकार व्याप्त नहीं होता। वह न तो शस्त्र के द्वारा छेद्य है, न अग्नि द्वारा दाह्य है, न जल के द्वारा क्लेद्य है और न वायु तथा ताप के द्वारा शोष्य है।[१५७] अपने मूलभूत रूप में प्रकृति के किसी भी विकार द्वारा आत्मा विकृत नहीं होता। इसलिए उसे निर्विकार भी कहा गया है।

रामानुज ने आत्मा को अणु परिमाण वाला माना है। शंकराचार्य आत्मा को विभु मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में विशिष्टाद्वैती जिन श्रुतियों को प्रस्तुत करते हैं।[१५८] उनका अर्थ यह है कि यह आत्मा अणु है, मन से जानने योग्य है। बाल की नोक को सौ भागों में विभाजित करके उनमें से भी एक भाग को पुनः सौ भागों में विभक्त करने पर जितना छोटा उसका एक भाग होता है, उतना ही छोटा

---

१५६. अतो मानसज्ञानमात्रगम्यं न तु इन्द्रियज्ञानगभ्यमिति भाव।।-तत्त्वत्रयटीका, पृ० १२

१५७. (क) एवं स्थितत्त्वाच्छस्त्राग्निजलवातातपप्रभृतिभिः छेदनदहनक्लेदन शोषणादीनामयोग्यम्।-तत्त्वत्रय, पृ० १५

(ख) नैन छिन्दन्ति शास्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। गीता, २.२३

(ग) अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।-गीता २, २४

१५८. एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो

(क) यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां।
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।।-मुण्डकोपनिषद्, ३.१.९

(ख) अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो याः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः।।-श्वेताश्व ५.८

जीवात्मा का आकार है।[१५९] रामानुज जीवात्मा के अणु होने का दूसरा प्रमाण यह देते हैं कि स्वयं प्रकाश होने वाला जीवात्मा हृदयदेश में ही ''अहमहम्'' ऐसा प्रतीत होता है। जीवात्मा विभु हो तो स्वयं प्रकाश जीवात्मा की सर्वत्र ''अहमहम्'' प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु वैसी प्रतीति नहीं होती। हृदय प्रदेश में ही जो ''अहमहम्'' ऐसी प्रतीति होती है उसके स्वारस्य से ही फलित होता है कि जीवात्मा हृदय में ही रहता है अन्यत्र नहीं।[१६०]

प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा हृदयदेश में ही निवास करता है तो सम्पूर्ण शरीर में सुख-दुख की अनुभूति किस प्रकार करता है?

विशिष्टाद्वैती इस प्रश्न के उत्तर में बताते हैं कि जिस प्रकार से शरीर के किसी एक स्थल पर चर्चित चन्दन सम्पूर्ण शरीर में शैत्य-संवेदना प्रसारित करता है[१६१], अथवा जिस प्रकार किसी कक्ष के एक देश में अवस्थित मणिदीप की प्रभा सम्पूर्ण कक्ष को व्याप्त करती है, उसी प्रकार चैतन्य का धर्मभूत ज्ञान सम्पूर्ण शरीर के द्वारा सुख-दुःख की अनुभूतियों को ग्रहण करने में सक्षम रहता है।[१६२] इतना ही नहीं सोमरिवादी योग्यताएँ एक ही समय में अपने धर्मभूतज्ञानप्रभा के परिस्फुरण द्वारा अनेक शरीरों को अधिष्ठान बना लेते हैं।[१६३]

आत्मा को यदि विभु माना जाये तो उसकी श्रुति-उक्त उत्क्रमण, आगमन, गमन, प्रभृति संसरणात्मक क्रियाएँ उत्पन्न नहीं होती।[१६४]

रामानुज जीवों के नानात्व को स्वीकार करते हैं। ''नानात्मनोव्यवस्थात:'' एवं ''जन्ममरणकरणानाम्'' इत्यादि के द्वारा क्रमशः न्याय और सांख्य दर्शन भी

---

१५९. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।–श्वेता० ५.९

१६०. न्यायसिद्धान्त (हिन्दी टीका), पृ० २७२-७३

१६१. यथा हि हरिश्चन्दनबिन्दु ह्येकदेशवर्त्यपि सकलदेहे व्यापितमाह्लादं जनयति। –विशिष्टाद्वैताधिकारणमाला, पृ० ६०

१६२. यथा प्रदीपस्यैकस्येकस्मिन् देशे वर्तमानस्य स्वप्रभया देशान्तरावेशः तथा आत्मनोऽप्येक-देशस्थितिस्यैव स्वप्रभारूपेण चैतन्येन सर्वशरीरवेशो नानुपन्नः। –श्रीभाष्य।

१६३. हृत्प्रदेशास्थितस्यैव जीवस्य ज्ञान द्वारा नानाधिष्ठानोपपत्तिः।
–न्याय सिद्धान्त, पृ० २९७

१६४. उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।–गीता १५.१०

जीव के नानात्व को मानते हैं। कदाचित् विशिष्टाद्वैतानुयायियों ने विकीर्ण रूप से उन्हीं जीव के नानात्व की सामर्थ्यक उक्तियों को प्रस्तुत किया है, जिन्हें सांख्य आदि दर्शन कहते हैं। लोकाचार्य ने जीव के बहुत्व का प्रमाण देते हुए कहा है कि उसके बहुत्व के कारण ही कोई संसरण करता है और कोई शरीर का त्याग करता है।[१६५] यदि सभी जीव एक हों तो यह व्यवस्था, जो कि हम प्रत्यक्ष देखते हैं, नहीं बन सकती। दूसरे, यदि जीव एक हो तो एक के सुखी होने पर सभी सुखी होने चाहिए एवं एक के दुखी होने पर सभी को उस दुःख की अनुभूति होनी चाहिए। जबकि ऐसा नहीं होता।[१६६] संसार में यह भी देखा जाता है कि इन्द्रियों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति है, कोई पढ़ा रहा है तो कोई पढ़ रहा होता है। सभी जीवों का एकत्व स्वीकार करने पर ऐसी व्यवस्था भी नहीं बन सकती।[१६७]

किन्तु यहाँ पर स्पष्ट कर देना उचित होगा कि रामानुज के मत में जीवों का यह नानात्व उनको गणनात्मक रूप से ही दृष्टिपथ में रखकर ही है। गुणात्मक रूप संज्ञानेकाकार होने से समस्त जीव आत्मा समान हैं।

रामानुज के अनुसार आत्मा चिद्रूप चैतन्य-गुणक है। स्वयं प्रकाशता चैतन्य का स्वभाव होता है।[१६८] अर्थात् वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्येतर पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वप्रकाशन एवं प्रकाश से अन्य पदार्थोद्भासन ही ज्ञान है। वह ज्ञान आत्मा में रहता है। अर्थात् आत्मा ज्ञान का आश्रय है। अतः ज्ञान का आश्रय होने से आत्मा ज्ञानाधार कहा जाता है। रामानुज कहते हैं कि जैसे मणि आदि अपनी प्रभा के आश्रय होते हैं, उसी प्रकार से आत्मा भी अपने धर्मभूत ज्ञान का आश्रय है।[१६९] जिस प्रकार मणिप्रभा स्वयं को प्रकाशित करने के साथ-साथ अपने आश्रयभूत मणि को भी उद्‌भासित करती है। उसी प्रकार ज्ञान सत्यप्रकाशन के साथ-साथ आत्मा का सारभूत गुण कहा जाता है।[१७०]

---

१६५. कश्चित्संसरति कश्चिन्मुच्यते।–तत्त्वत्रय, पृ० ३२

१६६. कस्यचित् सुखित्काले अन्यस्य कस्यचिद् दुःखित्वे न स्यात्–तत्त्वत्रय, पृ० ३१

१६७. कश्चिच्छिष्यः कश्चिदाचार्यः इति न स्यात्।–वही, पृ० ३२

१६८. एवमात्मा चिद्रूप एव चैतन्यगुणकः। चैतन्यस्वभावता हि स्वयंप्रकाशता। श्रीभाष्य १.१.१, पृ० ५३

१६९. अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव मणिप्रभृतीनां प्रभाश्रयत्वमिव ज्ञानाश्रयत्वमप्यविरुद्धमित्युक्तम्। –वही, पृ० १६०

१७०. विज्ञानमेव अस्य सारभूतो गुणः।–श्रीभाष्य, २.३.२९

जिस प्रकार मणिप्रभा दीप का गुण भी है, और रूप-रूपेण द्रव्य भी है, इसी प्रकार रामानुज के अनुसार ज्ञान गुण के साथ-साथ द्रव्य भी है। वह आत्मा के साथ-साथ अपृथक् सिद्धान्त से रहता है। आत्मा को ज्ञानमात्रा नहीं माना जा सकता।

रामानुज कहते हैं। कि वह ज्ञाता भी है, क्योंकि वह धर्मभूत ज्ञान का आश्रय है और ज्ञान भी स्वयं में आपेक्षिक गुण है। हमारी प्रतिदिन की अनुभूतियाँ कि ''मैं घट को जानता हूँ'' आदि इस बात की द्योतक हैं कि वह अर्थात् आत्मा ज्ञाता है। श्रुतियाँ भी उसे ज्ञाता बताती है।[१७१] ज्ञान स्वयं प्रकाश और विभु है। और वह आत्मा में अपरिच्छिन्न भाव से रहता है शरीर धारण करने की अवस्था में कर्मों के द्वारा उसका संकुचित स्वरूप होता है तथा मोक्ष की अवस्था में वह उन्मुक्त अथवा विकास को प्राप्त हो जाता है। ऐसा जीवात्माओं के धर्मभूत ज्ञान के विषय में रामानुज का मत है। रामानुजीय दर्शन में ज्ञान का अत्यन्त महत्त्व है। जीवात्मा के समस्त भावों को एवं क्रियाकलापों को इस धर्मभूत ज्ञान के प्रति ही समर्पित कर दिया गया है।

रामानुजीय जीव को कर्ता एवं भोक्ता मानते हैं। प्रश्नोपनिषद् भी कहता है कि विज्ञानात्मा पुरुष ही अर्थात् विज्ञानोपेत आत्मा ही कर्ता है।[१७२] इसके अतिरिक्त ''यज्ञेत् स्वर्गकामो'' तथा ''मुमुक्षुब्रह्मोपासीत्'' आदि श्रुतियों द्वारा प्रवृत्तिमूलक उपदेश भी किसी सचेतन को ही लक्ष करके कहे गये हैं-न कि किसी अचेतन के प्रति, किन्तु यह कर्तृत्व आत्मा का नित्य धर्म नहीं है। अपितु शरीरों के साथ संसरण से गुणों के संसर्ग से आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्म समाविष्ट हो जाते हैं।[१७३] दूसरे, ज्ञातृत्व अवस्था की हेयोपादान प्रज्ञाजनित-इच्छा के कारण ज्ञान अवस्था-विशेष ही है। विशिष्टाद्वैत सांख्यदर्शन के उस सिद्धान्त को नहीं स्वीकार करता जिसमें प्रकृति के ही अवान्तर रूप से कर्ता माना गया है। ऐसा मानने पर तो शास्त्रों के विधि-निषेध रूप उपदेश ही व्यर्थ हो जाते हैं। क्योंकि कर्म का

१७१. (क) अथ यो वेदद विज्ञानाति स आत्मा।
(ख) विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।
(ग) जानात्येवायं पुरुषः।

१७२. एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।-प्रश्नोपनिषद्, ४.९

१७३. आत्मैव कर्ता।-श्रीभाष्य, २.३.३७

फल प्रकृति रूप जड़ पदार्थ नहीं भोग सकता और फिर यदि प्रकृति को कर्ता स्वीकार किया जाता है तो चेतन को लक्ष्य करके यह विधि रूप उपदेश क्यों कहे जाते हैं। विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार शास्त्र, शासन अर्थात् बोधजनन द्वारा किसी कार्य के प्रति प्रेरित करने के कारण ही कहे जाते हैं। प्रकृति में बोधोत्पादन सम्भव नहीं है, क्योंकि वह जड़ है। इसलिए आत्मा ही कर्ता है।[१७४]

भोक्तृत्व भी जीव का धर्म है क्योंकि यदि कर्म करता है तो उन कर्मों का फल भी उसी को भोगना चाहिए। इसलिए माना जाता है कि भोक्तृत्व कर्तृत्वापेक्षी है। यदि जीवात्मा का कर्तृत्व समाप्त हो जाता है तो भोक्तृत्व भी प्रारब्ध की विनष्टि पर समाप्त हो जाता है। यद्यपि जीव अणु है, परंतु अणु होते हुए भी विकास और संकोचशील धर्मभूतज्ञान के सम्पन्न होने के कारण शरीर के सुख-दुःख का भोक्ता बनता है। रामानुज कहते हैं कि जिस प्रकार दीपक की ज्वाला लघु होते हुए भी अपने प्रकाश के द्वारा अनेक पदार्थों को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार अणुजीव भी सुख-दुःख का भोक्ता बन सकता है। दीपक के विस्तार और संकोचशील प्रकाश के समान जीव का धर्मभूतज्ञान भी विस्तार और संकोच से सम्पन्न है। रामानुज के अनुसार जीव अपने कर्तृत्व के क्षेत्र में पूर्णरूप से स्वतंत्र नहीं है।

विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार सम्पूर्ण क्रियाओं का कर्ता यद्यपि जीव ही है किन्तु जीव की तत्तद् इच्छाओं की क्रियात्मक अभिव्यक्ति ईश्वर के द्वारा अनुमोदित होती है, क्योंकि जीव ब्रह्म का शेष है और ब्रह्म उसका शेषी।

रामानुज ने इस शेष-शेषी सम्बन्ध की विभिन्न रूपों से व्याख्या की है। कभी उसे अंशाशी भाव, कभी आधाराधेय, कभी विशेषण-विशेष्य, भाव कभी शरीरांश और कभी प्रकार-प्रकारी नामों से अभिहित किया है।

रामानुज के अनुसार जीव, ब्रह्म का प्रकार होने से सत्य, अद्वितीय, अनन्त ज्ञान-शक्ति सम्पन्न चैतन्य स्वरूप, अवयव रहित, अविकार्य व अपरिवर्तनीय, अगोचर, एवं अणु रूप है।[१७५] जीव को ब्रह्म का विशेषण और प्रकार होने के कारण ही ब्रह्मांश कहा गया है। ''पादौऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि''

---

१७४. सांसारिकप्रवृत्तिका कर्तृत्वं न स्वरूपप्रयुक्तमपितु गुणसंसर्गकृतम्।
—तत्त्वत्रय, पृ० १९.२०

१७५. श्रीभाष्य २.२, १९-३२ : २:३.१८

तथा "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" आदि श्रुतियों को इसी की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किया गया है। अंशांशी भाव सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए आचार्य रामानुज ने कहा है कि जीव परमात्मा का उसी प्रकार से अंश है जिस प्रकार किसी आसमान पिण्ड (सूर्यादि) से निःसृत प्रकाश, अग्नि या आतप आदि उस पिण्ड का अंश है। अथवा गाय या घोड़े के जातिगत लक्षण और सफेद या काला रंग रंगीन वस्तुओं का गुण है। उनके अन्दर रहने से उन तत्तत्पदार्थों के अंश है अथवा शरीर जिस प्रकार से एक शरीरधारी का अंश है।[१७६] रामानुज अंशत्व के अभिप्राय को सुतरां स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि किसी एक वस्तु का एकदेशत्व ही इसका अंशतत्त्व है। एक विशिष्ट पदार्थ का विशेषण उसका अंश होता है। अंशाशी भाव होने पर भी जीव और परमात्मा में (विशेषण विशेष्य रूप होने पर भी) स्वाभाविक वैलक्षण्य मिलता है।[१७७]

जीव के भेद–विशिष्टाद्वैतवाद में जीवात्मा को तीन प्रकार का बताया गया है।[१७८] यह बद्ध, मुक्त तथा नित्य–होने पर ही सम्भव है।[१७९] यद्यपि ईश्वर का यह अनुमोदन जीव के इच्छा के अनुसार ही होता है, कोई जीव यदि बुरा कर्म करना चाहता है, तो भी ईश्वर उसको उसी दिशा में अनुमति प्रदान कर देता है, तथापि वह कार्यक्षेत्र में स्वतन्त्र नहीं है। श्रुति भी कहती है कि–"ये आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा वेद यस्यात्मा शरीरमात्मान्तरोयमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृहदारणयकोपनिषद्)। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर के नियामक रूप के कारण ही जीवात्मा को नियाम्य कहा जाता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के बाह्य कार्य शरीर के द्वारा किये जाते हैं।, किन्तु उन कार्यों का नियमन बुद्धि करती है, उसी प्रकार जीव के द्वारा किए जाते हुए कार्यों का नियमन उसका आत्मस्थ परमात्मा करता है।

इसी प्रकार परमात्मा कर्मफल प्रदान करने के द्वारा उसके कर्मों का सुख-दुःख का एवं शरीरान्तरागमन का नियमन करता है। ईश्वर का यह नियमन

१७६. प्रकाशादिवत् जीवः परमात्मनोऽंश, यथा अग्न्यादित्यादेर्भास्वतो भारूपः प्रकाशः अंशो भवति, यथा गवाश्वशुक्लकृष्णादीनां गोत्वादिर्विशिष्टानां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाः यथा वा देहिनो देवमनुष्यादेर्देहांशः।–तदवत्, श्रीभाष्य २.३.४५.
१७७. तत्त्वत्रय, पृ० २६
१७८. वही
१७९. सर्वासु क्रियासु पुरुषेण कृतं प्रयत्नम्।
उद्योगमपेक्ष्यान्तर्यामी परमात्मातदनुमतिदानेन प्रवर्त्तयति......।–श्रीभाष्य, २.३.४१

जीव के द्वारा भूतकाल में किए गए प्रारब्ध कर्मजनित अदृष्ट के आधार पर होता है। यद्यपि क्रियमाण कर्मों का जीव स्वामी है, किन्तु उन्हीं कर्मों के भावी फलों का वह दास भी है।

रामानुज ने जीव का ब्रह्म के साथ अंशांशी भाव एवं शरीरात्मभाव स्वीकार किया है जिस प्रकार जीव अपने स्वरूप संकल्पादि का धारक होता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जीव का धारक है और जीव उसका धार्य है।

रामानुज मत में जीव को शेष और परमात्मा को उसका शेषी कहा गया है। शेष का सामान्य अर्थ है–जो किसी अन्य की अपेक्षा रखता हो। जीव को इसलिए शेष कहा गया है कि उसका आधार, नियन्ता एवं नियोक्ता ईश्वर है। यथार्थतः जीव अपने में स्वतन्त्र नहीं है।[१८०] जिस प्रकार किसी व्यक्ति के द्वारा सुरक्षित गृह, भूमि, पत्नी आदि उसकी सम्पत्ति के रूप में उसके शासनकाल में रहते हुए उसके शेष है, उसी प्रकार जीव भी भगवदाश्रित होने के कारण उसका शेष है। परमात्मा के व्यतिरिक्त जीव की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती।

अद्वैत के जीववाद का रामानुज द्वारा खण्डन–

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः' एको देवो बहुधा निविष्टः'' आदि श्रुतियों के आधार पर अद्वैतवादियों का मत है कि स्वयं ब्रह्म ही अज्ञानावृत्त होकर जीवरूप में भासता है, अर्थात् जीव अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म ही है। अविद्या की निवृत्ति होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है। अद्वैतवादी जीव-ब्रह्मैक्यवाद के समर्थन में–''अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य'' इत्यादि श्रुतियों को भी प्रस्तुत करते हैं जिनमें कहा गया है कि वह परमात्मा इन शरीरों की रचना करके पीछे से स्वयं ही इनमें प्रविष्ट हो गया। अतः परमात्मा और जीवात्मा का भेद काल्पनिक है, वास्तविक नहीं।

रामानुज जीव-ब्रह्म-एंक्यवादी अद्वैतवादियों के उक्त मत को स्वीकार नहीं करते प्रत्युत उसका खण्डन करते हैं। रामानुज प्रश्न करते हैं कि यह भेद कल्पना किसमें है? ब्रह्म में या जीव में? ब्रह्म में तो हो नहीं सकती, क्योंकि वह विशुद्ध

---

१८०. पृथक्सिद्ध्यनहंकाराण्येवभावोनियन्तुनियाभ्यः भावः शेष-शेषि भाव इति, यस्य चेतनस्य यदद्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तृं मारयितुं न शक्यं तच्छषतेकस्वरूपम्। –तत्त्वत्रयटीक, पृ० २६

१८१. न तावदब्रह्मणः तस्य विशुद्धज्ञानानात्मनः कल्पनाशूभ्यत्वात्–श्रीभाष्य, २.१.१५

ज्ञानमय है, इसलिए यह कल्पनातीत है।[१८१] और जीव में भी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम तो जीव स्वयं में आपके अनुसार ब्रह्म है, दूसरे उसके द्वारा भेद कल्पना और भेद-कल्पना के द्वारा वह अर्थात् जीव होने के कारण अन्योन्याश्रय दोष होता है।[१८२]

अद्वैतवादी कहते हैं कि अविद्या अवास्तविक है, वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है, इसलिए वह स्वभाव से विशुद्ध है। कृपाणादि में प्रतिबिम्बित मुख में जैसे मालिन्य आदि दोष दिखाई देते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्मरूप जीवगत दोष भी भ्रान्ति मात्र ही है। रामानुज इस अवधारणा पर विप्रतिपत्ति करते हुए प्रश्न करते हैं कि उपाधिगत मालिन्य में ये अल्पज्ञत्वादि दोष कब नष्ट होते हैं ? यदि यह कहा जाये कि कृपाणादि उपाधि भेदों के साथ ही नष्ट हो जाते हैं तो प्रश्न पुनः उठता है कि अल्पज्ञत्वादि का आश्रय प्रतिबिम्ब रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो उसका जीव भी रहता है, अर्थात् उसका मोक्ष नहीं होता।[१८३] यदि यह माना जाये कि वह प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है तो उसी प्रकार जीव भी विनष्ट हो जायेगा। इस प्रकार स्वरूपोच्छेद मोक्ष ही होगा।[१८४]

यदि यह कहा जाये कि अविद्यारूप उपाधि से दोषों की प्रतीति होती है, उनका उच्छेद होने से ही मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्धि हो जाती है, तो प्रश्न उठता है कि यह औपाधिक दोष प्रतीति बिम्बस्थानीय ब्रह्म की है या प्रतिबिम्बस्थानीय जीव की या अन्य किसी की ? यदि जीव की है तो यह दृष्टान्त अयुक्त है। क्योंकि मुख और उसका प्रतिबिम्ब दोनों ही अचेतन हैं। अतः इन दोनों में अल्पज्ञतादि दोष की प्रतीति असम्भव है। और यदि बिम्बस्थानीय ब्रह्म में दोष प्रतीति स्वीकार की जाये तो ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय बन जायेगा।[१८५] तस्मात् उसका शुद्ध विज्ञानत्व समाप्त हो जायेगा। अन्य कोई द्रष्टा न होने से ऐसी प्रतीति कोई भी नहीं कर सकता।

अविद्या-कल्पित जीव के जीवभाव के कल्प का प्रश्न उठाते हुए रामानुज कहते हैं कि यदि जीवात्मा की कल्पना का कर्ता अविद्या को मानते हो तो वह अनुचित है; क्योंकि अविद्या अचेतन है, वह जीव भाव की कल्पना नहीं कर

---

१८२. नापि जीवानाम् इतरेतर त्रयप्रसंगात्।—पूर्वोक्तैव।

१८३. तिष्ठतीतिचेत्-तत्स्थानीयस्य जीवस्यापि स्थितत्वाद् निर्मोक्ष प्रसंगः।—पूर्वोक्तैव।

१८४. नश्यतीति चेत् तद्वदेव जीवनाशात् स्वरूपोच्छेदलक्षणो मोक्षः स्यात्।

१८५. ब्रह्मणो दोषप्रतिभासे ब्रह्मविद्याप्रसंगश्च।—पूर्वोक्तैव

सकता क्योंकि यदि ऐसा माना जायेगा तो आत्माश्रय दोष होगा और यदि ब्रह्म के द्वारा ज़ीव-भाव कल्पित माना जायेगा तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्म में अज्ञान है।[१८६]

किन्तु अद्वैतवादी ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति स्वीकार करने के लिए कथमपि तत्पर नहीं हैं। इस पर रामानुज पुनः आक्षेप करते हुए पूछते हैं कि यदि आप ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति नहीं मानते तो यह बताइये कि ब्रह्म जीवों को देखता है या नहीं? नहीं देखता—इत्यादि ऐसा कहा जायेगा तो वह सृष्टि का अकर्ता सिद्ध होगा।[१८७] और यदि यह कहा जाये कि देखता है तो अखण्ड़ैकरस ब्रह्म द्वारा अविद्या रहित मुक्त जीव का दर्शन सम्भव नहीं होगा। क्योंकि उसको देखने के लिए ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति आवश्यक रूप से होगी, और इस प्रकार माया और अविद्या का प्रभेदवाद भी असिद्ध हो जायेगा।[१८८]

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि अद्वैतवादी ब्रह्म के प्रतिबिम्ब का जीवों में सुखित्व-दुखित्वादि धर्म हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्रतिबिम्ब में मुख का-छोटापन, बड़ापन, स्वच्छता, मलिनता आदि मणिकृपादिवसात् प्रतीत होते हैं। इस पर रामानुज कहते हैं कि निराकार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब असम्भव है।[१८९]

आचार्य रामानुज जीव ब्रह्म-ऐक्यवाद के खण्डन हेतु अश्मादि का दृष्टांत भी देते हैं। जिस प्रकार पत्थर, काष्ठ, लोहा या तृणादि, जो अत्यन्त तुच्छ पदार्थ हैं और सदैव विकारी, जड़ विशेष, उनका निर्दूषण, निर्विकार, आनन्दस्वरूप सब वस्तुओं से विलक्षण ज्ञानस्वरूप, नानाविध महाविभूति वाले ब्रह्म के साथ अभेद नहीं हो सकता, उसी प्रकार अत्यन्त दुखों वाला खद्योत के समान जो जीव है, उसका निस्सीम कल्याणानुसार ब्रह्म के साथ अभेद नहीं हो सकता।[१९०]

रामानुज के अनुसार जीवब्रह्मैक्य अविद्यामय और अविद्यानिवृत्ति के द्वारा कथमपि सम्भव नहीं हैं क्योंकि दोनों का भेद निराकरण ब्रह्म में किसी न किसी

---

१८६. ब्रह्मैव कल्पकमिति चेत्, ब्रह्मज्ञानैवायातम्।—पूर्वोक्तैव

१८७. न पश्यति चेत्, ईक्षापूर्विका विचित्रसृष्टिर्नामरूपव्याकरणमित्यादि ब्रह्मणो न स्यात्। —पूर्वोक्तैव

१८८. अतएव मायाविद्या व विभाग वा दोषापि निरस्तः।—पूर्वोक्तैव

१८९. प्रतिमादिशून्यत्वात्।—पूर्वोक्तैव

१९०. चेतनस्यप्यनन्तदुःखयोगाद्यस्य कल्पस्यापहतपाप्मेत्यादि वाक्यावगतसकलहेयप्रत्यनी-कानवधिकाति संख्येकल्यार्णगुणाकार ब्रह्मद्यानुपपत्ति।—श्रीभाष्य, १.१.२३

प्रकार अज्ञानरूप दोष का अपरिहार्य आक्षेप करता है। जीव ब्रह्म की अलग-अलग प्रतीति की मूलभूता हेतु अविद्या की भी किसी प्रकार उपपत्ति नहीं होती। न तो ब्रह्म को अखण्डैकरस शुद्ध विज्ञानस्वरूप होने के कारण अविद्या का आश्रय स्वीकारा जा सकता है और न ही स्वयं में अविद्या के कारण जीवत्वभाव प्राप्त जीव को ही अविद्या का आश्रय स्वीकार किया जा सकता है। यदि अविद्या को स्वतन्त्र-रूपेण इतरतत्त्व स्वीकारा जाता है तो अद्वैतवादियों का ब्रह्मैक्यत्ववाद ही समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार अविद्या के ही उत्पन्न न होने के कारण तत्कार्य युक्त "ब्रह्म व जीव" भी सिद्ध नहीं होता।

अद्वैतवाद में पुनः ब्रह्म को जीव मानकर जीवैक्यवाद भी माना गया है। इस अवधारणा के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सब शरीरों में अन्तःकरणावछिन्न होकर विचरण कर रहा है। तस्माद् सभी जीव एक ही है, अर्थात् न उनमें गणनात्मक विभेदकता है और न गुणात्मक विभेदता ही।

रामानुज अद्वैतवाद की उक्त अवधारणा का भी खण्डन करते हैं। रामानुज का तर्क है कि यदि समस्त शरीरों में एक ही जीव विचरण कर रहा है तो "पादे मे वेदना" या "शिरसि मे सुखम्" आदि सुख-दुख की अनुभूतियों का प्रत्येक शरीरधारियों को पृथक्-पृथक् अनुभव क्यों होता है ? यदि एक ही ब्रह्मरूप जीव सब शरीरों में है तो एक की पीड़ा की अनुभूति सभी अन्येतर शरीरों में विद्यमान जीवों को होना चाहिए।[१९१] इसी प्रकार एक के प्रसन्न या सुखी होने से सभी जीवों में प्रसन्नता या सुख का आवेग परिलक्षित होना चाहिए, किन्तु जगत् में इस प्रकार की उपलब्धि नहीं होती।

इसी प्रकार यदि समस्त शरीरों में एक ही ब्रह्मरूप जीव है तो रामानुज के अनुसार, उसे भिन्न-भिन्न, बन्ध-मुक्त, शिष्य-आचार्य, ज्ञानी-अज्ञानी क्यों माना जाता है ? कहने का अभिप्राय यह है कि यदि जीव एक ही है तो एक ज्ञानी अन्य अज्ञानी, एक शिष्य दूसरा आचार्य या एक बद्ध और एक मुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसा किसी भी प्रकार से स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि अखण्डैकरसरूप ब्रह्म की अखण्डैकरसता निरर्थक होगी। यदि एक जीव के ज्ञान से समस्त जीवों की मुक्ति हो जाये तो भी नानात्व स्वीकार करना ही होगा।

शंकर के मत में जीवात्मा औपाधिकरूपेण अणु होकर भी परमार्थ में

१९१. सर्वशरीरेषु सुख दुःख प्रतिसन्धान......। पूर्वोक्तैव, २.१.१५

विभु ही है, किन्तु रामानुज का कथन है कि यदि जीवात्मा विभु है अर्थात् एक ही जीव सर्वत्र उपलब्ध है तो उसकी उत्क्रमाणादि गतियाँ सम्भव नहीं हो पाती।[१९२]

अद्वैतवादी आत्मा को ज्ञानस्वरूप मात्र मानते हैं, वे आत्मा को ज्ञाता नहीं मानते। उनके अनुसार ज्ञान और ज्ञाता एक पदार्थ नहीं हो सकते, क्योंकि धर्म-धर्मी भाव से उनमें द्वैत अर्थात् 'भेद' प्रमाणित होता है। इनके अनुसार "अहं जानामि आदि के 'अहम्' अर्थत्व, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व अध्यास-जन्य होने से मिथ्या है, पारमार्थिक नहीं। यदि सभी गुण औपाधिक हैं। वास्तविक अर्थ में आत्मा निर्लेप और निस्संग है, वह विशुद्ध चित्तस्वरूपमात्र है।

रामानुज अद्वैतवेदान्त के पूर्वोक्त सिद्धान्तों का भी खण्डन करते हैं, रामानुज के अनुसार अहमर्थत्व ही आत्मा है। यह अहमर्थत्व औपाधिक या मिथ्या नहीं है। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में भी अहमर्थत्व से निवृत्ति नहीं होती। जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है, आत्मा अपने में ज्ञानस्वरूप या चिद्रूप है। किन्तु वह ज्ञानपूर्ण गुण वाला भी है। इसमें रामानुज दीप और दीपप्रभा का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार दीपप्रभा दीप का गुण है।[१९३] और स्वयं में दीपस्वरूप भी, उसी प्रकार आत्मा चिद्रूप और चैतन्यगुणक भी है। चिद्रूप होने से वह स्वयं प्रकाश है।[१९४] जिस प्रकार प्रकाश सापेक्ष है।[१९५] उसकी यह सापेक्षता ही उसका ज्ञातृत्व सिद्ध करती है। रामानुज के अनुसार इसलिए स्वयं प्रकाश तथा प्रकाशमात्र न होकर ज्ञाता भी है।[१९६] कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दीपप्रभा स्वयं में प्रकाश भी है, और प्रकाशमय भी, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है। और ज्ञानाश्रय भी। तस्मात् वह ज्ञाता है। रामानुज के अनुसार "अहं सुखी" "अहं ज्ञाता" आदि प्रयोगों से आत्मा का ज्ञातृत्व सिद्ध होता है और उस ज्ञातृत्व से आत्मा को अहमर्थत्व प्रतीति भी सिद्ध हो जाती है। रामानुज के अनुसार ज्ञान गुण भी है और द्रव्य भी। अद्वैतवादियों द्वारा आत्मा को अनुभूतिस्वरूपमात्र कहना और

---

१९२. विभुत्वे ह्योता उत्क्रान्त्योदयो नोपपद्यैत।–श्रीभाष्य, २.३.२०

१९३. यथेकमेव तेजोद्रव्यप्रभा प्रभावरूपेणावतिष्ठते।–पूर्वोक्तैव, १.१.१, पृ० १५०

१९४. एवमात्मा चिद्रूप एवं चैतन्येवगुण इति चिद्रूपता हि स्वयं प्रकाशता।
–पूर्वोक्तैव, पृ० १५३

१९५. प्रकाशत्वादेव कस्यचिदेवभवेत्प्रकाशः दीपादिप्रकाशवत्।–पूर्वोक्तैव, पृ० १५३

१९६. अतः स्वयं प्रकाशो अयमात्मा ज्ञातेव, न प्रकाशमात्रम्।–पूर्वोक्तैव, पृ० १५४

उस अनुभूति को निर्विषया अनुभूति बनाना रामानुज को स्वीकार्य नहीं है। उनके अनुसार निर्विषया अनुभूति कल्पनामात्र है। अद्वैतवादियों के मत में निर्विकार आत्मा में ज्ञातृत्व कथमपि सम्भव नहीं है। रामानुज के अनुसार यह बात उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञातृत्व विकारात्मक नहीं है, अपितु ज्ञानगुणाश्रयता ही ज्ञातृत्व है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, अतः नित्य है। रामानुज ''ज्ञोऽतएव'' (वेदान्तदर्शन २.३.१८) सूत्र को भी उद्धृत करते हैं। आत्मा की ज्ञानस्वरूपता और ज्ञानाश्रयता में मणि और मणिप्रभा के अविरुद्ध स्वभाव वाला दृष्टान्त भी देते हैं।

रामानुज के मतानुसार आत्मा के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि गुण स्वाभाविक है, न कि अद्वैतवादियों की भाँति अध्यासजन्य या मिथ्या। इस प्रकार रामानुज अद्वैतवाद के जीव ब्रह्मैक्यवाद एवं जीवैक्यवाद तथैव कर्तृत्वादज्ञातृत्वादि गुणों से मिथ्या-निरूपण का सतर्क खण्डन करते हैं।

भास्कराचार्य तथा विज्ञानभिक्षु के भेदाभेदवाद में हमें एक अन्य प्रकार का अद्वैतवाद देखने को उपलब्ध होता है। उनके मत में ब्रह्म से पृथक् जीवात्मा की सत्ता सिद्ध नहीं होती है, अपितु वह ब्रह्म का अंश है। जैसे, अग्नि से चिन्गारियाँ निकलती हैं जो अग्नि से पृथक् नहीं है अपितु अग्नि ही है'। दयानन्द के मत में उपनिषदों को यह बिल्कुल मान्य नहीं है। क्योंकि यदि जीव ब्रह्म का अंश है, तो वह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म को सावयव मानने का अर्थ होगा ब्रह्म को परिणामी एवं नाशवान् मानना। इससे ब्रह्म सत्य एवं अनन्त नहीं रहेगा।

डॉ० राधाकृष्णन् ने रामानुज दर्शन में जीवात्मा सम्प्रत्यय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ईश्वर की परिपूर्णता सौपाधिक है, इसलिए उसकी सर्वव्यापी गतिविधि के क्षेत्र में स्वतन्त्र आत्माओं की भी सत्ता है, उन आत्माओं को सब कुछ ईश्वर से मिला है, परन्तु उनमें एक स्वतन्त्र रूप में इच्छा का चुनाव करने की योग्यता भी है, जिसके कारण वे आत्मा पुरुष कहलाने योग्य है। रामानुज ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध एक प्रबल तथा प्रभावशाली तर्क उठाते हैं जो मनुष्यों को उसी एकमात्र निरपेक्ष सत्ता के निरर्थक परिवर्तित रूप मानते हैं। जीवात्मा सर्वोपरि ब्रह्म के ही एक रूप के द्वारा यथार्थ, अद्‌भुत, नित्य, बुद्धि-सम्पन्न और आत्म चेतनता से युक्त, अखण्ड, अपरिवर्तनशील, अदृश्य और आण्विक है।[१९७] यह शरीर, इन्द्रियों, शक्तिशाली, प्राण और बुद्धि से भी भिन्न है। यह ज्ञाता है, कर्ता है और भोक्ता भी है। यह मानवीय स्तर पर स्थूलशरीर तथा शक्तिशालीप्राण से

१९७. २:२, १९-३२, २, ३, १८

संयुक्त है जो कि एक साधन रूप है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ।[१९८] पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन इसके साधन रूप हैं। मन आत्मा के लिए आन्तरिक अवस्थाओं का प्रकाश करता है और इन्द्रियों की सहायता से बाह्य अवस्थाओं का ज्ञान भी पहुँचता है। मन के व्यापार तीन प्रकार के है: निर्णय (अध्यवसाय), आत्मप्रेम (अभिमान) और चिन्तन।[१९९] आण्विक जीव का स्थान हृत्पद्म में है। सुषुप्ति की अवस्था में यह इसी हृत्पद्म के अन्दर तथा सर्वोपरि आत्मा में भी रहता है।[२००] निद्रा के द्वारा आत्मा के नैरन्तर्य में भंग नहीं होता और इसकी यथार्थता कार्य के नैरन्तर्य, स्मृति रूप तथा धर्मशास्त्र के कथन और नीतिशास्त्र सम्बन्धी आदेशों के सही प्रमाणित होने से स्पष्ट है।[२०१] जीव का आकार अणु होने पर भी अपने ज्ञान रूपी गुण के द्वारा, जो संकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता है, यह सारे शरीर में व्याप्त, सुख तथा दुख का अनुभव कर सकता है, जैसे दीपक की शिखा यद्यपि अपने में लघु है तो भी अपनी दीप्ति से अनेक पदार्थों को दीपित करती है, क्योंकि उसका प्रकाश संकोच तथा विस्तार को प्राप्त हो सकता है।[२०२] यह देश तथा काल की दूरी का भी विचार न करके अत्यन्त सुदूरस्थ पदार्थों का ज्ञान ग्रहण कर सकता है। आत्माओं का बोध, जैसा कि ईश्वर के विषय में है, स्वरूप में नित्य है, आत्मनिर्भर है, सब वस्तुओं तक विस्तृत है और निर्दोष है; यद्यपि इसका क्षेत्र भूतकाल के कर्म आदि दोषों के कारण संकुचित हो गया है।[२०३] जीवात्माओं की अनेकता सुखों तथा दुखों के विभाग के कारण स्पष्ट है।[२०४] जब तक मोक्ष नहीं होता वे प्रकृति के साथ-साथ जकड़ी हुई है, क्योंकि प्रकृति जीवात्मा के लिए वाहन का काम देती है जैसे कि घोड़ा घुड़सवार के लिए वाहन का काम देता है। यह शरीर का बन्धन ''यह मलिन व विनाश को प्राप्त होने वाला वस्त्र (शरीर)'' उस नित्य के दर्शन

१९८. २:४, १०

१९९. इन तीन व्यापारों के अनुसार इसे बुद्धि, अहंकार और चित्त–इन तीन भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।

२००. ३:२, ९-१

२०१. ३: २, ७

२०२. २:३, २४-२६

२०३. ईश्वरस्येव जीवानाम् अपि नित्यं ज्ञानं स्वतश्च सर्वविषयं प्रमात्मकं च, तत्तत्कर्मादि-दोषवशात् संकुचितविषयम् (वेदान्तदेशिकाः सेश्वरमीमांसा)।

२०४. २:१, १५

में बाधा देता है और आत्मा को ईश्वर के साथ जो उसका मैत्री-सम्बन्ध है, उसे पहचानने से रोकता है।

आत्मा अपने तात्विक स्वरूप के कारण समस्त जीवन एवं मृत्यु की क्रियाओं के अन्दर अपरिवर्तित रहती है। यह इस चेतन जगत् में अनेक बार जन्मी और फिर इससे विदा हुई, परन्तु फिर भी यह बारम्बार अपने इसी व्यक्तित्त्व को बनाए रखती है, हर एक प्रलय में जीव की विशेष आकृतियाँ नष्ट हो जाती है यद्यपि स्वयं आत्माएँ अपने आप में अविनश्वर है। वे अपने भूतपूर्व जीवनों के किए गए कर्मों के परिणामों से छुटकारा नहीं पा सकती और नई सृष्टि में उन्हें फिर इस संसार में उपयुक्त शक्तियाँ प्रदान करके धकेल दिया जाता है। जन्म तथा मृत्यु से तात्पर्य है शरीरों से साहचर्य तथा विच्छेद, जिसके परिणाम स्वरूप बुद्धि का संकोच अथवा विस्तार होता है और मोक्षपर्यन्त आवश्यकतावश आत्माएँ शरीरों से संलग्न है यद्यपि प्रलय में वे एक सूक्ष्म सामग्री के साथ सम्बद्ध रहती है जिसमें नाम व रूप के भेद का कोई स्थान नहीं है।[२०५] आत्मा अपने भूतपूर्व जीवन की साक्षी नहीं हो सकती क्योंकि स्मृति वर्तमान शरीर से परे नहीं जा सकती।

जीवात्मा का विशिष्ट सारतत्त्व अहं बुद्धि है। यह आत्मा का केवल गुणमात्र नहीं है जो नष्ट हो जाए और जीवात्मा का अनिवार्य और मुख्य स्वरूप फिर भी अप्रभावित रह जाए। आत्मनिरूपण ही स्वयं आत्मा का वास्तविक अस्तित्त्व है। यदि ऐसा न होता तो मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का कुछ अर्थ ही न होता। बन्धन तथा मोक्ष, दोनों अवस्थाओं में आत्मा अपने वैशिष्ट्य को, अर्थात् ज्ञानत्व के भाव को, स्थिर रखती है। आत्मा एक सक्रिय कर्ता भी है। यह इसलिए, क्योंकि कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से हैं और आत्मा ही कर्मों के परिणामों को भोगती है। केवल इसलिए कि इसमें कर्म करने की शक्ति है। इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि यह सदा ही कर्म करती है। उस समय तक जबकि कर्म के कारण आत्माओं का सम्बन्ध शरीरों के साथ है उनके कर्म अधिकतर निश्चित हैं, किन्तु जब वे शरीर सम्बन्ध से मुक्त हो जाती हैं तो वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति केवल संकल्प के द्वारा ही कर लेती है (संकल्पादेव)।

आचार्य रामानुज ने जीवात्मा को नित्य मानते हुए उसके पृथक् अस्तित्त्व को स्वीकार तो अवश्य किया है, परन्तु उसको परमात्मा का ही अंश माना है।

२०५. ३:२, ५

वह परमात्मा का प्रकार है। परमात्मा की अपेक्षा रखने के कारण उसे शेष कहा है। इसका परमात्मा के साथ पृथक्‌सिद्ध शरीरात्मभाव सम्बन्ध है। आचार्य रामानुज यद्यपि जीवात्मा को परमात्मा का अंश, प्रकार, शेष और आधेय मानते हैं, किन्तु प्रलयावस्था या कारणावस्था में वे उन जीवात्माओं की परमात्मा में सन्निधि मानकर भी, पुनः परमात्मा का शरीर मानकर भी उनके पूर्ण अस्तित्त्व की आहुति परमात्मा को नहीं चढ़ा पाते, प्रत्युत सूक्ष्मस्थापन्नावस्था में मात्र एकमेव व्याप्त स्वीकार करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवात्माएँ उस अवस्था में परमात्मा में अभिन्न होकर भी भिन्न रहती है अर्थात् उनमें पारस्परिक अर्थात् परमात्मा के साथ नहीं होता।

प्रतीत यह होता है कि आचार्य रामानुज अद्वैतवाद की माया के स्वरूप से विचलित तो अवश्य हुए, किन्तु वे जीवात्माओं की उस सहजता का खण्डन करना नहीं चाहते, जिसमें वह परमात्मा के साथ या उसका प्रकार होने के माध्यम से रहित हो जाये।

आचार्य रामानुज जीव को कर्ता और भोक्ता मानते हैं। जीवात्मा यद्यपि अपने स्वरूप से निर्विकार है, किन्तु वह कर्ता है। उसमें इस कर्तृत्व और भोक्तृत्व को वे उसकी एक ज्ञानावस्था विशेष ही मानते हैं, किन्तु इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता। ज्ञानावस्था विशेष होने से भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि आत्मा के ही धर्म हैं, क्योंकि धर्मभूत ज्ञान आत्मा का अपृथक्‌सिद्ध गुण है। अतः तत्कृत कर्तृत्वादि भी आत्मा के अपृथक् सिद्धि गुण या धर्म हो जाते हैं।

रामानुज के मतानुयायियों ने आत्मा को आनन्दरूप माना है। सुषुप्ति अवस्था में धर्मभूत ज्ञान के विरत हो जाने पर जो एकमात्र चैतन्यावस्था होती है। उसके अनन्तर जागने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया' ऐसी अनुभूतियों को जीवात्मा की आनन्दरूपता का प्रतीक मानते हैं।

रामानुज के मतानुयायियों के उक्त मत के सन्दर्भ में हमें भी यह प्रतीत होता है कि उनके द्वारा स्वीकृत आत्मा की आनन्दरूपता दुःखाभावपरक ही है; क्योंकि प्रायः सभी दार्शनिकों ने ऐसा स्वीकार किया प्रतीत होता है कि जीवात्मा सत् और चित् है। जबकि परमात्मा सत् चित् के साथ आनन्दरूप भी है।

रामानुज के मत में सुख-दुःखादि अनुभूतियों की ज्ञानावस्था विशेष मानी गई है। वे आत्मा को नित्य रूप से परमात्मा को विशेषण होने के कारण उसके द्वारा नियाम्य और धार्य मानते हैं। जिस प्रकार एक विशेषण अपने विशेष्य से

पृथक् होकर भी पृथक् नहीं है, उसी प्रकार विशेषणभूत जीवात्मा अपने विशेषभूत परमात्मा से व्यतिरिक्त नहीं रह सकता। परमात्मा और जीवात्मा के इस नित्य सम्बन्ध के कारण ही जीवात्मा परमात्मा के द्वारा नियाम्य और धार्य है। परमात्मा प्रतिपल जीवात्मा को सब कर्मों के लिए प्रेरित करता है।

आचार्य रामानुज के मतानुसार जीवात्मा को तीन रूप या भेदों में परिकल्पित किया गया है–जड़, मुक्त और नित्यमुक्त।

रामानुज के दर्शन में जीवात्मा का स्वातन्त्र्य (कर्म करने में) तथा दैवीय आधिपत्य विशेष महत्व रखते हैं, क्योंकि वह दोनों ही के ऊपर बल देता है। जीवात्मा अपनी क्रियाशीलता के लिए पूर्णरूप से ईश्वर के ऊपर निर्भर करते हैं। ईश्वर निर्णय करता है कि क्या अच्छा और क्या बुरा है और अन्तिम रूप में आत्माओं की स्वतन्त्रता तथा बन्धन का कारण है। तो भी यदि संसार में इतना अधिक दुःख और संकट है तो उसके लिए ईश्वर उत्तरदायी नहीं है वरन् मनुष्य उत्तरदायी है जिसे पाप व पुण्य कर्म करने की शक्ति प्राप्त है। मनुष्य का संकल्प ईश्वर की निरपेक्षता को सीमाबद्ध करता प्रतीत होता है। आत्माएँ, जिन्हें चुनाव के विषय में स्वातन्त्र्य प्राप्त है, ऐसा कर्म भी कर सकती है जो ईश्वर की इच्छा में हस्तक्षेप हो। यदि निरपेक्ष ईश्वर भी कर्म का ही विचार करके तदनुसार कर्म करने को वाध्य हो तो वह निरपेक्ष नहीं ठहरता। रामानुज इस कठिनाईं का समाधान इस प्रकार करते हैं कि सब मनुष्यों के कर्मों का कारण अन्ततोगत्वा ईश्वर है। किन्तु यह पापमोक्षवाद नहीं है क्योंकि ईश्वर कुछ निश्चित विधान के अनुसार कार्य करता है और उक्त विधान उसके स्वभाव की अभिव्यक्ति है। ईश्वर अपनी स्वेच्छा से किसी मनुष्य से पुण्य अथवा पापकर्म नहीं करवाता, वरन् निरन्तर कर्म विधान के अनुसार ही कार्य करने की पद्धति का प्रदर्शन करता है। यदि कर्म विधान ईश्वर से स्वतन्त्र है तो ईश्वर की निरपेक्षता में अन्तर आता है। जो समालोचक यह कहता है कि हम ईश्वर के स्वातन्त्र्य की रक्षा बिना कर्मसिद्धान्त के निषेध के नहीं कर सकते, उसे ईश्वरविषयक हिन्दू विचार का सही-सही ज्ञान ही नहीं है। कर्म विधान ही ईश्वर की इच्छा को व्यक्त करता है। कर्म की व्यवस्था ईश्वर के स्वभाव के ऊपर निर्भर करती है इसलिए ईश्वर ही को पुण्यात्माओं को पुरस्कार तथा पापात्माओं को दण्ड देने वाला माना जा सकता है।[२०७] यह दिखाने के लिए कि कर्मविधान ईश्वर से स्वतन्त्र नहीं है,

---

२०६. २:३ ४२

२०७. २:२, ३; ३:२, ४

कभी-कभी यह कहा जाता है कि यद्यपि ईश्वर कर्मविधान को स्थागित कर सकता है तो भी वह ऐसा करने की इच्छा नहीं करता। नैतिक विधान को क्रियात्मक रूप देने के लिए कृतसंकल्प, जो कि उसकी न्यायसंगत इच्छा का आविर्भाव है, वह पाप को भी होने देता है जिसे वह अन्यथा रोक सकता है। अन्तर्यामी ईश्वर प्रत्येक अवस्था में संकल्पपूर्वक प्रयत्न का ध्यान रखता है क्योंकि वही मनुष्य को कर्म करने की प्रेरणा देता है।[२०८] वह अपने ही विधान को उलटने का विचार भी नहीं करता जिससे की सांसारिक योजना में हस्तक्षेप हो। संसार के अन्दर बैठकर भी ईश्वर अनुचित हस्तक्षेप करने वाला नहीं बनना चाहता।

इस पर लोकाचार्य अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि ''यद्यपि स्वेच्छानुकूल कर्म करने की शक्ति रखने के कारण ईश्वर धोखा देकर सब आत्माओं को एक ही समय में मुक्त कर सकता है अर्थात् जीवात्मा के कर्म को हटा कर जो अपने सारतत्त्व तथा स्थिरता आदि के लिए उसी के ऊपर निर्भर करता है, उसके इस निर्णय का कारण कि वह आत्माओं को धर्मशास्त्रों द्वारा विहित नियमों अर्थात् कर्म-विधान के ही अधीन रहेगा केवलमात्र उसकी लीला से प्राप्त प्रसन्नता रूपी इच्छा ही है।''

यथेच्छं कर्तु शक्तत्त्वात् सकलात्मनोऽपि युगपदेव मुक्तान् कर्तुं समर्थत्वेऽपि स्वाधीनस्वरूपस्थित्यादिनात्मनः कर्म व्याजीकृत्य दूरीकृत्य शास्त्रमर्यादया तान् अंगीकुर्याम् इत्थं स्थितिः लीलारसेच्छयैव (तत्त्वत्रय, पृ० १०८), ईश्वर स्रष्टा है, एवं कर्म गौण कारण है, 'दैवीय शक्ति अपनी शक्ति तथा महत्ता के अनुकूल लीला के वश होकर (स्वमाहात्म्यानुगुणलीलाप्रवृत्तः) और उक्त कर्म का निश्चय कर देने के कारण, दो प्रकार के स्वभाव (द्वैविध्यं) की है, अर्थात् पुण्य और पाप, तथा समस्त जीवात्माओं को शरीर और इन्द्रियाँ प्रदान करके, जिससे कि वे इस प्रकार के कर्म को करने तथा अपने शरीरों और इन्द्रियों पर नियंत्रण करने योग्य हो सकें (तन्नियमनशक्ति), वह स्वयं उनकी आत्माओं में अन्तर्यामी आत्मा के रूप में प्रविष्ट होकर उनके अन्दर निवास करता है। आत्माएँ प्रभु के द्वारा प्रदत्त समस्त शक्तियों से युक्त होकर अपनी ओर से और अपनी इच्छाओं से प्रेरित होकर पाप व पुण्य कर्म करने में प्रवृत्त होती है (स्वयमेव स्वेच्छानुगुण्येन पुण्यापुण्यरूपे कर्मणी उपाददते)। तब प्रभु ऐसे व्यक्ति को, जो शुभ कर्म करता है, पहचानकर कि वह प्रभु के आदेशानुसार कार्य करता है, उसे धार्मिकता तथा

---

२०८. २:८, ४१

धन-सम्पत्ति से भरपूर करता है एवं सुख-सम्पत्ति तथा मोक्ष प्रदान करता है, तथा ऐसे व्यक्ति को जो प्रभु के आदेश का उल्लंघन करता है, इनसे विपरीत दुःखों को भुगतवाता है''।

जीवों के तीन वर्ग हैं–नित्य अर्थात् वे जो बैकुण्ठ में निवास करते और कर्म तथा प्रकृति से स्वतन्त्र रहकर आनन्द का उपभोग करते हैं, मुक्त, अर्थात् वे जो अपने ज्ञान, पुण्य और भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा बद्ध, अर्थात् वे जो अपने अज्ञान तथा स्वार्थपरता के कारण संसार चक्र में घूमते रहे हैं, जहाँ एक ओर जीवात्मा ऊँचे से ऊँचे शिखर तक उठ सकता है, वहाँ यह शरीर के अन्दर ही अधिकाधिक लिप्त रहकर नीचे दर्जे तक गिर भी सकता है, यहाँ तक कि अपने ज्ञानमय जीवन को भी खो दे सकता है और उस निरुद्देश्य पाश्विक जीवन तक पहुँच सकता है, जो मनोवेगों तथा भूख की तृप्ति का जीवन है।[२०९] संसार चक्र में भ्रमण करते हुए जीवात्माओं के चार वर्ग है; आकाशीय अथवा अतिमानव, मानव, पशु और स्थावर, यद्यपि सब जीवात्मा एक ही कोटि के हैं तो भी उनमें उन शरीरों के कारण भेद किए जाते हैं जो उन्हें दिए गए हैं, जीवात्माओं के अन्दर वर्णभेद भी अनेक भिन्न-भिन्न शरीरों के कारण है। स्वरूप में जीवात्मा न तो मानवीय हैं, न आकाशीय हैं, न ब्राह्मण है और न शूद्र हैं। संसार के अन्दर जीवात्माओं के विभाग दो प्रकार के हैं–एक वे जो सुखोपभोग की इच्छा रखते हैं और दूसरे वे जो मोक्ष के इच्छुक हैं। जब तक जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं कर लेता, इसका पुनर्जन्म होना आवश्यक है जिससे कि यह अपने कर्मों के फल का उपभोग कर सके। जीवात्मा दूसरा शरीर धारण करने के लिए गति करते समय मूल तत्त्वों से आवृत्त रहता है[२१०] और ये मूलतत्त्व ही जीवन के अधिष्ठान का कार्य करते हैं।[२११] जब तक बन्धन रहता है तब तक सूक्ष्म शरीर का भी अस्तित्त्व रहता है।[२१२] मुक्तात्मा पुरुष देवयान मार्ग से, तथा पुण्यात्मा पितृयान से जाते हैं, किन्तु पापात्मा चन्द्रलोक तक पहुँचने से पहले ही, तुरन्त पृथ्वी पर लौट आते हैं। ईश्वर के दूत जीवात्मा को ऊपर की ओर का पथप्रदर्शन करते हैं।[२१३] यदि जीवात्माओं को दैवीय स्वरूप में किसी प्रकार का भी हिस्सा बँटाना है तो उन्हें

२०९. १:१, ४

२१०. ३:१, १

२११. ३:१, ३१

२१२. ४:२, ९ और ३:३, ३०

२१३. ४:३, ४१

एक बार अपनी स्वतन्त्रता तथा पवित्रता प्राप्त करनी चाहिए। वे इनको खोकर कर्म के विधान में कैसे आएँगे ? रामानुज का मत है कि न तो तर्क और न धर्मशास्त्र ही हमें यह बतलाने में समर्थ है कि किस प्रकार कर्म ने आत्मा को अपने वश में किया क्योंकि विश्व की प्रक्रिया अनादि हैं।

सृष्टि संरचना–

आचार्य रामानुज के अनुसार परमात्मा ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। आत्मा और जगत् उसके संभाग है। परमात्मा के द्वारा नियन्त्रित प्रकृति की ही सृष्टि और प्रलय होता है।[२१४] आत्मा और जगत् उसके प्रकार है, और वह परमात्मन् रूप में इन दोनों का प्रकारी है। इसलिए परिवर्तन परमात्मा के लिए विशेषणीभूत प्रकार रूप में जाता है, प्रकारी रूप सर्वथा अनिवार्य है। इसी प्रकार जीवात्माओं के स्वरूप में भी किसी प्रकार का परिवर्तन या विकार नहीं आता। प्रत्युत उनके धर्मभूत लाभ का ही संकोच एवं विकास होता है। उसी के कारण रामानुज परमात्मा को उपादान और निमित्त दोनों प्रकार का कारण स्वीकार करते हैं।[२१५] जैसा कि पहले कहा गया है ईश्वर की "एकोऽहं बहुस्याम" रूप संकल्प कल्पना मात्र से ही सृष्टि का विकास प्रारम्भ हो जाता है। जगत् कार्य रूप में परिणत न हुई अवस्था का नाम अव्यक्तावस्था से प्रकृति द्वारा व्यक्तावस्था में परिणत होने पर सर्वप्रथम महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। तत्त्वत्रयकार ने प्रकृति की आवश्यकता और व्यक्ततावस्था के मध्य एक और स्थिति–प्राणगा प्रकृति मानी है।[२१६] यही प्राणगा प्रकृति सत्व, रजस् और तमस्–तीन रूपों में परिणत हो जाती है। वस्तुतः यही ब्रह्म प्रकृति २४ तत्त्वों का सृजन करती है। महत्तत्व में सत्वगुण का आधिक्य होता है, जो प्रकृति को प्राण अवस्था में सत्व द्वारा रजोगुण और तमोगुणों को पराभूत कर देने के कारण होता है। महत्तत्त्व पुनः अहंकार रूप में परिणित होता है। इसके भी गुणाधार पर तीन प्रकार होते हैं–जो तत्तद् गुणों के आधिक्य स्वरूप भी होते हैं। सतोगुण प्रधान–वैकारिक अहंकार, रजोगुण–प्रधान, तैजस् अहंकार और तमोगुण प्रधान तमस् अहंकार (सतोगुण प्रधान वैकारिक

२१४. (क) मादीया प्रकृतिः सत्यसंकल्पेन मयध्यक्षेणेक्षिता सचराचरं जगत्........
–गीता रामानुज भाष्य ९,१

(ख) पुरुषोत्तमः कृत्स्नं जगत् संकल्पमात्रेण सृजति।–श्रीभाष्य २.१.१५

२१५. निमित्तकारणमात्रं ब्रह्म उपादानकारणं च ब्रह्मैव।–श्रीभाष्य १.४.२

२१६. तत्त्वत्रय–अचित्तप्रकरण, पृ० ४९

अहंकार से इन्द्रियों का उद्भव होता है। इन्द्रियाँ ग्यारह होती हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती है–ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से आत्मा किसी विषय को जानने और समझने में समर्थ होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ मन, चक्षु, नासिका, श्रवण, रसना और त्वचा छह है। उनमें मन अन्तरेन्द्रिय हैं, जो ज्ञान का आदान एवं निर्धारण करता है। इसका स्वभाव हृदय में है। वस्तुतः यही जीवात्मा के बन्धन का हेतु माना जाता है।[२१७] अध्यवसायाभिमान और चिन्ता इसी की वृत्ति है। इसी कारण इसे बुद्धि, अहंकार और चिन्तादि नामों से भी अभिहित किया जाता है।[२१८] अहंकार प्रधान मन के द्वारा हानोपादान, अध्यवसाय प्रधान मन के द्वारा ज्ञान का प्रामाण्य और चित्त प्रधान के द्वारा विषयों की चिन्ता या इच्छा रूप कार्य सम्पन्न किये जाते हैं।

भागवत पुराण में भी बुद्धि की महत्ता के साथ उसे मन का ही अंश स्वीकार किया गया है। रामानुज के मतानुसार ज्ञानेन्द्रियाँ आण्विक आत्मा के साथ हृद्देश में रहती हैं। ज्ञानेन्द्रियों को आत्मा के समीप हृदयस्थ कहने से ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया का सरलीकरण हो जाता है। जैसा कि जीवात्मा के सन्दर्भ में कहा गया है कि धर्मभूत ज्ञान और आत्मा अपृथक् रूप से एक साथ रहते हैं, बाह्य द्वारों द्वारा गृहीत ज्ञान का मानस के माध्यम से आत्मा द्वारा साक्षात्कार किया जाता है। जो ज्ञानेन्द्रियों के समीपस्थ होने पर भी सम्भव है। ज्ञानेन्द्रियों के अनुभूत विषय अपने-अपने बंधन अलग निर्धारित है। चक्षुरिन्द्रिय रूप रंग का श्रवणेन्द्रिय शब्द का नासिका गन्ध का, रसना स्वाद का और त्वचा स्पर्श का ज्ञान व्यक्ति को प्रदान करती है। इन पाँचों की क्रियाएँ क्रमशः देखना सुनना, सूँघना, चखना और स्पर्श करना है जिनके माध्यम से ये उक्त विषयों का साक्षात्कार किंवा ज्ञान प्राप्त करती है।

तमोगुण प्रधान अहंकार को भूतादि अहंकार की संज्ञा भी दी गई है। इससे तन्मात्राओं का विकास होता है। ये पाँच तन्मात्राएँ–आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी है।

तत्त्वत्रयकार के द्वारा तामस अहंकार है तन्मात्रा और महाभूतों के उद्भव की दो प्रक्रियाएँ दी हैं, जिनमें प्रथम के अनुसार–सर्वथा तामस अहंकार से शब्द

---

२१७. स्मृत्यादिकारणमिन्द्रियं मनः।.......बन्धनमोक्षेहेतु भूतात्मकः।–यतीन्द्रमत।

२१८. अध्यश्वसायाभिमानाचिन्तावृत्तिभेदान्मन एवं बृद्धयंकारचित्तशब्दैर्व्यपदिश्यत।
–श्रीभाष्य २.४.५

तन्मात्रा का उदय होता है, शब्द तन्मात्रा से आकाश महाभूत और स्पर्शतन्मात्रा से वायु महाभूत का और रूपतन्मात्रा का, रूपतन्मात्रा से अग्नि महाभूत, रसतन्मात्रा का, रसतन्मात्रा से जल महाभूत और गन्ध तन्मात्रा का तथा गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी महाभूत प्रकट होता है।

द्वितीय प्रक्रियानुसार–तामसाहंकार से शब्दतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा से आकाश महाभूत, आकाश महाभूत से स्पर्शतन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा से वायु-महाभूत, वायु से रूपतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा से अग्नि-महाभूत, अग्नि-महाभूत से रस तन्मात्रा, रस तन्मात्रा से जल-महाभूत, जल-महाभूत से गन्ध-तन्मात्रा गन्ध से पृथ्वी महाभूत की अभिव्यक्ति होती है।

यहाँ पर बता देना अपेक्षित है कि राजसांहकार वैकारिक और भूतादि अहंकार के कार्यों में सहकारी मात्र होता है।

पंचमहाभूतों की सृष्टि त्रिवृत्करण या पंचीकरण की प्रक्रिया के द्वारा परब्रह्म के द्वारा सम्पन्न होती है।[२१९] यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने त्रिवृत्करण को पंचीकरण ही माना है।[२२०] पंचीकरण की प्रक्रिया में पाँचों महाभूतों की एक-एक करके आठ भाग करके, उसमें से चार भाग लेकर अन्येतर चारों महाभूतों में एक एक भाग मिलाने से उनका पंचीकरण होता है। इस अवस्था में प्रत्येक महाभूत में प्रत्येक महाभूत का १/८ भाग सन्निविष्ट हो जाता है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार यही कारण है कि हम एक पदार्थ में किसी अन्य पदार्थ की तथाकथित भ्रान्ति रूप प्रतीति करते हैं। वह वस्तुतः भ्रान्त प्रतीति वाले पदार्थ का कुछ अंशों में उस पदार्थ में पंचीकरण के माध्यम से उनसे मिला होना ही है। जिस प्रकार आकाश में जो नैल्य हम अपने दैनिक प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं, वह अन्य पंचीकृत महाभूतों के सन्निवेश का ही परिणाम है।

पंचीकरण के अनन्तर प्रत्येक महाभूत पंचमहाभूतात्मक बन जाता है। उन पंचीकृत भूतों में ईश्वर ऐसे जीवों को–जो संसार से अनुप्रविष्ट हैं–प्रवेश करा देता है, और इन्हीं तत्त्वों से ब्रह्माण्ड की सृष्टि करता है। यह ब्रह्माण्ड, जल-अग्नि-वायु-आकाश-तामसाहंकार-महान् और अव्यक्त ऐसे सात तत्त्वों के

---

२१९. त्रिवृत्तकरणं परस्येन ब्रह्मणस्तत्समानकर्तृकं नामरूपव्याकरणं च तस्यैव विज्ञायते। –पूर्वोवैक्तैव २.४.१७

२२०. वेदे त्रिवृत्करणोपदेशस्तु पंचीकरणस्याप्युपलक्षणम्।–यतीन्द्रमत, पृ० ४४

आवरण से आवृत्त रहता है, जो उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व से दस गुणा बड़ा है। यह ब्रह्माण्ड स्वर्णाकार में परिणत भूतों का विकार है।[२२१] ईश्वर उस ब्रह्माण्ड के अन्दर अपने नाभिकमल आदि सात स्थानों में से किसी एक स्थान में प्रपंच होकर प्रसाद गुण से युक्त ऐसे चतुर्भुज ब्रह्मा की सृष्टि करता है जो उस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सम्पूर्ण चेतनों से परिपूर्ण शरीर को धारण करने वाला होता है, इसके साथ ही ईश्वर क्रुद्ध होकर क्रोध गुण से युक्त रुद्र की सृष्टि करता है।

कार्य कारणवाद-

आचार्य रामानुज दार्शनिक कार्य से कारण को भिन्न मानने वाले असत्कार्यवाद को स्वीकार करते हुए सत्कार्यवाद का समर्थन करते हैं। सत्कार्यवाद की दो अवस्थाएँ हैं-

(१) **विवर्तवाद**-तत्त्व से अन्यथा प्रतीति को विवर्त कहते हैं।[२२२]

(२) **परिणाम या विकारवाद**-तत्त्व की तात्विक परिणति को परिणाम कहते हैं।[२२३]

अद्वैतवाद विवर्तवाद को स्वीकार करता है, उनके मत में समस्त जगत् अविद्योपहित ब्रह्म का विवर्त है। अत: वह मिथ्या है। एकमात्र निर्विशेष, ब्रह्म ही सत्य है।

परिणामवाद में जगत् की सत्यता को स्वीकार किया गया है। कार्य अपने कारणवत् सत्य एवं यथार्थ ही होता है। रामानुज परिणामवाद को स्वीकार करते हैं। वे तीन प्रकार के कारण स्वीकार करते हैं-(१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण (३) सहकारी कारण।[२२४]

उपादान कारण उस द्रव्य को कहते हैं जो कार्य रूप में परिणत होता है।[२२५] जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तररूप हो के बने और बिगड़े भी यथा-मिट्टी। निमित्तकारण उसे कहते हैं जो उापादान को कार्य रूप में परिणत

---

२२१. पंचीकरण कृत्वा तेषु स्वानुप्रविष्टजीववर्गमनुप्रवेश्य तेनैव तत्त्वेदशगुणितोत्तसप्तावरणवैष्टितं हेमाख्यपरिणामिगतभूतमयं ब्रह्माण्डमारभ्य।-न्यायसिद्धान्त, पृ० १७१

२२२. अतत्त्वोऽन्यथा प्रख्या विवर्त इत्युदाहृत:।

२२३. सतत्त्वोऽन्यथा विकार: इत्युदोरित:।

२२४. यतीन्द्रमत, पृ० ८१

२२५. कार्यरूपेण विकार योग्यं वस्तु उपादानम्।-यतीन्द्रमत, पृ० ८१

करता है। सहकारी कारण या साधारण कारण उसे कहा जाता है जो (कार्य) बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो।[२२६] यथा दण्ड, चक्र एवं तूरी आदि।

आचार्य रामानुज कारण में कार्य की पूर्ण सत्ता स्वीकार करते हैं। रामानुज के अनुसार औपनिषदिक वाक्य–एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानम्[२२७] की चरितार्थता तभी सम्भव हो सकती है जबकि हम कार्य और कारण के तादात्म्य को स्वीकार करें। यदि कारण और कार्य दोनों में पार्थक्य माना जायेगा तो कारण के ज्ञान द्वारा कार्य का ज्ञान और कार्य दोनों में सफल हो जायेंगे । मृदपात्र, (जिससे बनने में मृत्तिका का धर्म या गुण परिवर्तित नहीं हुआ है), में मात्र उसके अवयवों में एक नई अवस्था या रूप आया है। वस्तुतः उसमें मृत्तिकत्व सर्वथा विद्यमान है, क्योंकि मृत्तिका से निर्मित होने वाला कोई घट या शरावा आदि अन्य कोई नवीन पदार्थ न होकर मात्र मृत्तिका की ही नूतन अवस्था और आकृति है।[२२८] उनमें वही धर्म विद्यमान है जो मृत्तिका में। अतः मृत्तिका के जान लेने पर मृत्तिका सम्भूत सभी रूपाकृतियाँ जानी जा सकती है। इसीलिए कहा गया है कि कारण के जानने पर तत्सम्भूत सभी कार्यों को जाना जा सकता है।

आचार्य रामानुज सांख्यवत् कार्य की अभिव्यक्ति नहीं मानते प्रत्युत वे कार्य को कारणभूत द्रव्य का अवस्थान्तरपरिणाम कहते हैं।[२२९] इस सिद्धान्तानुसार उपादान कारण के विभिन्न अवयव एक दूसरे से मिल जाते हैं। उनका एक नया स्वरूप हो जाता है। अतः वे एक नये संस्थान की उत्पत्ति करते हैं जिसे परिणाम कहते हैं। यदि कारण एवं परिणाम (कार्य) की एकता को स्वीकार न किया जाये तो प्रत्येक वस्तु को किसी भी अन्य वस्तु का उपादान कारण माना जा सकता है। जैसा कि अभी कहा रामानुज भी यह मानते हैं कि कार्य का अपना एक विशिष्ट उपादान होता है। मात्र उस उपादान में ही उस कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता हुआ करती है।[२३०] जैसे पटोत्पादक सामर्थ्यमात्र तदुपादानभूत तन्तुओं में ही है, मृत्तिका पट उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि वह उसका उपादान कारण नहीं है। रामानुज के मत में कार्य का वास्तविक तात्पर्य कारणभूत पदार्थ की

---

२२६. कार्योत्पत्त्युपकरणं वस्तुसहकारी।–यतीन्द्रमत, पृ० ८१
२२७. छान्दोग्योपनिषद् ६.१.४
२२८. यथा मृद्उत्पन्नं घटादिकं मृदात्मकम्।–वेदार्थ संग्रह, पृ० ५९
२२९. (क) अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।–गीता रामानुज भाष्य, १३.२
(ख) एकमैवकारणीभूतं द्रव्यमवस्थान्तर योगेन कार्यमित्यभिधीयते। वे०सं०, पृ० ५९
२३०. यत्कार्योत्पादानं शक्तं तत् कारणम् १–श्रीभाष्य, २.१.१५

विशेषताओं और अवस्थाओं में परिवर्तन है अर्थात् कार्य कारण द्रव्य की अवस्था के ही नाम है। मृत्तिका, स्वर्ण आदि का आकार विशेष को धारण करना ही कारणरूप बुद्धि का कार्य रूप प्रतीति है। अत: कार्य और कारण भिन्न-भिन्न शब्दों से कहे जाते हैं। एक ही देवदत्त की विभिन्न अवस्थाओं के लिए शैशव, यौवन, वार्धक्यादि भिन्न-भिन्न बुद्धि और भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है।[२३१] रामानुज के अनुसार आकार विशेष को प्राप्त होना ही उत्पत्ति और आकार विशेष का विनष्ट होकर कारण रूप हो जाना विनाश कहलाता है।[२३२]

आचार्य रामानुज सृष्टि प्रक्रिया में परमात्मा को ही उपादान और निमिन्त कारण मानते हैं।[२३३] उनके मतानुसार प्रकृति अपनी अव्यक्तावस्था में परमात्मा को ही आश्रय बनाकर रहती है। अत: यह परमात्मा का स्वगत भेदभूत प्रकार या शरीर या विशेषण है। उनके अनुसार विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हैं। गुणी गुण नहीं होता और न गुण गुणी। अर्थात् गुणवान् पदार्थ से भिन्न होता है। इस प्रकार, प्रकार और प्रकारी में भेद है। येतादात्म्य सम्बन्ध की अपेक्षा गुण-गुणी या विशेषण-विशेष्य में सामान्याधिकरण मानते हुए परस्पर अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध मानते हैं। इसलिए प्रकृति ईश्वर से भिन्न भी है और विशेषण रूप में अभिन्न भी। इनकी पारस्परिक अभिन्नता ही परमात्मा को उपादान कारण प्रमाणित करती है और भिन्नता से परमात्मा अपने संकल्प के द्वारा निमित्त कारण बनकर पुष्टि करता है। उसके ज्ञान-शक्ति आदि गुण तुरी-वैभाक्त जगत् सृष्टि में सहकारी कारण बनते हैं। उसी प्रकार परमात्मा ही उपादान और निमित्त कारण है। इस विशेषण-विशेष्य या प्रकार-प्रकारीभूत सम्बन्ध को बाधार्थिक भिन्नाभिन्नता के कारण परमात्मा में कोई विकृति नहीं आती।

प्रकृति की सत्यता–

रामानुजीय दर्शन में अचित् तत्त्व के तीन भेद माने गये हैं। उन तीनों भेदों में से एक मिश्रतत्त्व है। वह मिश्रतत्त्व ही जगत् के भूतप्रपंच का हेतु है। इसमें तीनों गुण मिश्रित रहते हैं। यह बद्ध पुरुषों के ज्ञान तथा आनन्द का आवरण

२३१. तस्यैवमृद्हिरण्यादेः द्रव्यस्य संस्थानान्तर भावकत्वमात्रेण बुद्धिः। शब्दान्तरादय उपपद्यन्ते, यथास्यैव देवदत्तस्यावस्थाभेदैः जात, यथा स्थविर इति।–श्रीभाष्य, २.१.१५

२३२. द्रव्यस्योत्तरोत्तर संस्थानयोगः पूर्वपूर्वसंस्थानसांस्थितस्य विनाशः । स्वावस्थस्यतूत्पत्तिः। –पूर्वोक्तैव

२३३. अतः प्रकृति प्रकारसंस्थिति परमात्मनि प्रकार भूतप्रकृत्यंशे विकारः प्रकारांशे चाविकारः। –वेदार्थ संग्रह

स्वरूप है। इसी के कारण विपरीत ज्ञान भी उत्पन्न होता है। यह नित्य और ईश्वर की जगत् सृष्टि रूप क्रीड़ा में परिकर अथवा सहायक है। प्रदेशभेद एवं कालभेद से यह सदृश-विसदृश्य पदार्थों का उत्पादक होता है।[२३४] यही विकारों का उत्पादक होने से यह कारण कहलाता है। ज्ञान का विरोधी होने के कारण तथा विचित्र सृष्टि करने के कारण माया कहलाती है।[२३५] उसकी व्यक्त एवं अव्यक्तावस्था के मध्य की स्थिति ''प्राणगा'' कही जाती है। पाँच शब्दादि, पाँच विषय, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच भूत, पाँच प्राण, प्रकृति, महत्, अहंकार तथा मन इसी के बुद्धि प्राप्त परिणाम है।[२३६] गुणों में वैषम्य होने पर इसमें विकार उत्पन्न होता है और तब यह नाना रूपों को धारण कर अपना प्रपंच फैलाती है।

रामानुज द्वारा जगन्मिथ्यावाद के खण्डन से यह निश्चित हुआ कि प्रकृति किंवा जगत् मिथ्या नहीं है अपितु अपनी यथार्थ सत्ता रखते हैं। रामानुज दर्शन में प्रकृति की सत्यता का आधार उसका अनादि, अनन्त एवं नित्य ब्रह्म का अंश होना है। जिस प्रकार ब्रह्म की सत्ता को असत्य नहीं माना जा सकता उसी प्रकार तदेश या तत्प्रकाशभूत प्रकृति को भी असत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि सत्योद्भूत अंश सत्य ही होगा, मिथ्या कदापि नहीं। वह ब्रह्म समग्रविश्व को व्याप्त करके स्थित है तो तत्सम्बन्धी यह जगत् अपने में मिथ्या किस प्रकार हो सकता है? तैत्तिरीयोपनिषद् कहता है कि वह ब्रह्म इस जगत् का सृजन करके पीछे से स्वयं भी उसमें व्याप गया।[२३७] ईशावास्योपनिषद् कहता है कि वह अखिल विश्व उस ईश से व्याप्त है।[२३८] श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है कि जिस प्रकार काष्ठों को अग्नि व्याप्त करके स्थित होता है, उसी प्रकार परमात्मा इस जगत् में व्याप्त है।[२३९] रामायण में ब्रह्म राम से कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् तुम्हारा

---

२३४. मिश्रसत्वनाम् सत्वरजस्तमोभिस्त्रिभिर्युक्तो बद्धध्वेतनाना ज्ञानानन्दयोस्तिरोधाय-कोविपरीत-ज्ञानजनको नित्य ईश्वरस्य क्रीडापरिकरः प्रदेश भेदेन-कालभेदेन च सदृशासदृशविकरोल्पादकः प्रकृतिः।-तत्त्वत्रय, पृ० ४५

२३५. प्रकृतिरित्युच्यते विकारोत्पादकत्वात् अविद्याज्ञानविरोधित्वात्। माया विचित्र सृष्टिकरणत्वात्।-पूर्वोक्तैव

२३६. इदञ्च वदर्थमानं पंचविकल्पन्द्रेन्द्रियपंचभूतानि अतः प्राणमाप्रकृतिर्महदहंकारमना-सित्युक्तप्रकारेण चतुर्विंशतित्त्वरूपम्।-पूर्वोक्तैव

२३७. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।-तैत्तिरीययोपनिषद् २, ६

२३८. ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।-ईशावस्योपनिषद् ।

२३९. अरणीषु चाग्निः।-श्वेताश्वतरोपनिषद्। १.१५

शरीर है।[२४०] गीता में स्वयं विष्णु के अवतार कृष्ण अपने मुख से कहते हैं कि "मैं पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से समस्तभूतों को धारण करता हूँ।"[२४१] परमात्मसत्ता का प्रकारभूत या विशेषणोभूत अंश यह जगत् है। अतः वह कदापि मिथ्या नहीं हो सकता है।

रामानुज के अनुसार यह जगत् परमात्मा से उद्भूत हुआ है। जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला स्वयं बनाती है और अपने में समेट लेती है, उसी प्रकार ब्रह्म जो इस जगत् की उपादानभूत योनि है। कारणावस्था में रहता हुआ इस जगत् की रचना करता है और प्रलयान्तकाले अपने में ही समेट लेता है।[२४२] इस प्रकार यह जगत् वास्तविक है। क्योंकि ब्रह्म का प्रकार होने से उसकी प्रकृति सत् है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार सदुत्पन्न, सत्-स्थित और सत् में विलय होने से यह जगत् सत् ही है।[२४३] रामानुज के अनुसार यह सृष्टि से पूर्व अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यक्त दशा में प्रकृति में विद्यमान था, इसी से व्यावहारिक विषय अपने में असमर्थ था। उस दशा में कहा जा सकता है कि तब यह जगत् असत् था। असत् से तात्पर्य समूलसत्ताराहित्य होने से यह जगत् सत् अर्थात् यथार्थ भी है। यदि इसे अनित्य कहा जाता है तो वह इसकी अयथार्थता का द्योतक होने के कारण नहीं प्रत्युत आधारभूत परिवर्तनशीलता के कारण ही ऐसा कहा जाता है। भौतिक पदार्थ स्थाई एवं स्थिर नहीं है, इसी से इसे परिवर्तनशील कहा जाता है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार प्रलयादि के समय यह पुनः अपनी कारणभूत प्रकृति में अन्तर्भूत हो जाता है। इसी से वह अनित्य कहलाता है। उस अवस्था में यह पुनः नाम रूपादि रहित हो जाता है। इस अवस्था में प्रकृति पुनः परमात्मा में जो उसका शरीरीभूत है, में सन्निविष्ट हो जाती है।

विशिष्टाद्वैत मानता है कि यह समस्त जगत् परमात्मा की लीला की क्रीड़ास्थली है। परमात्मा की वह लीला शाश्वत और सर्वथा यथार्थ है। अतः तद्भूत जगत् भी उस लीला की तरह सत्य है। इसको मिथ्या नहीं कहा जा

२४०. जगतर्स्वं शरीरं ते।–बाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड ११७.२५

२४१. गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।–गीता, १५.१३

२४२. योनिशब्दश्चोपादान वचन इति यथोर्णनाभिः सृजते
गृह्णते चेति वाक्यशेषादवगम्यते।–श्रीभाष्य १.४.२८

२४३. सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः........।
–छान्दोग्योपनिषद् ६.८.६

सकता। यहाँ हम पाते हैं कि रामानुज सत्यकार्यवादी हैं, वे कारण में कार्य की पूर्वावस्था को स्वीकार करते हैं। ब्रह्मरूप सत्कारण में सन्निविष्ट प्रकृति से उद्‌भूत कार्य भी सत् ही होता है। अन्यथा तो जगत् के मिथ्या मानने पर उसके कारणभूत प्रकृति, ब्रह्म को भी असत् या मिथ्या ही मानना पड़ेगा। अतः विशिष्टाद्वैत में यह प्रकृति और जगत् ब्रह्म का प्रकार होने से सत् ही है।

रामानुज के अनुसार हर एक कार्य का एक उपादान कारण होता है। सर्वदर्शन संग्रह में रामानुज के प्रपंच की सत्यता का वर्णन करते हुए कहा है कि अचित् शब्द से सामने दिखलाई पड़ने वाले जड़जगत् का बोध होता है जिसके तीन भेद हैं–भोग्य (विषय, जैसे शब्द, आदि), भोग का उपकरण (साधन जैसे इन्द्रियाँ) और भोग का आयतन (स्थान, जैसे शरीर) अर्थात् अचित् से रामानुज समूचे संसार का अर्थ लेते हैं जिसमें शरीर, इन्द्रियों और दृश्य पदार्थ, तीनों चले आते हैं।[२४४]

इसके अतिरिक्त तत्त्वमसि आदि वाक्यों को इस दृश्यमान् जगत् का विरोधी (बाधक) नहीं समझना चाहिए।[२४५] इसके मूल में भ्रान्ति है, जैसे भ्रम में ही प्रयुक्त होने वाले 'रस्सी-साँप' के वाक्य में हम पाते हैं। यह रस्सी नहीं, साँप है–यहाँ रस्सी को साँप समझना भ्रान्ति है। भ्रान्त व्यक्ति की बात पर किसी को विश्वास नहीं होता है। वास्तविक रस्सी को साँप समझने वाला व्यक्ति ही भ्रान्त है। वैसे ही यदि प्रपञ्च को भ्रान्तिमूलक मान लें तो वेदादि भी भ्रममूलक ही हो जायेंगे–फिर उनकी बात पर विश्वास ही कौन करेगा ? तत्त्वमसि वाक्य भी तो वेद के अन्तर्गत है जो स्वयं एक प्रपञ्च होने के कारण भ्रान्तिमूलक है। फिर इस वाक्य के आधार पर प्रपञ्च का बोध कैसे कर सकेंगे ?

पुनः ब्रह्म और जीव में एकता का ज्ञान हो जाने से प्रपञ्च की निवृत्ति (नाश) हो जाती है, ऐसी बात नहीं, क्योंकि कोई भी प्रमाण नहीं है, यह हमने पहले ही सिद्ध कर दिया है। अविद्या को मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है, यह कह चुके हैं। ब्रह्म और आत्मा में प्रत्यक्ष भेद है जिसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता, अतः ब्रह्म और आत्मा की एकता प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं होती। यही नहीं, जब सभी प्रमाणों को सविशेषवस्तु के रूप में विषय की आवश्यकता

---

२४४. अचिच्छब्दवाच्यं दृश्यो जडं जगत्त्रिविधं भोग्य-भोगोपकरण भोगायतन भेदात्।
–सर्वदर्शन संग्रह, रामानुज

२४५. किं च तत्त्वमस्यादिवाक्यं प्रपंचस्य....सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाव्याकोपः।–स०उ०ज० रामानुज

पड़ती है, तब तो विशेष का अर्थ है एक और पदार्थ। विशेषण और विशेष्य में एकता कैसी ? अतः जीव ब्रह्म का विशेषण है, दोनों में एकता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। जब एकता नहीं है तो किसी भी मूल्य पर प्रपञ्च का नाश नहीं होगा। स्मरणीय है कि शंकर की अविद्या की निवृत्ति से जीव-ब्रह्म की एकता मानते हैं और उसके बाद प्रपंच की भ्रान्ति मिट जाती है जिससे पुरुष मुक्त होता है। रामानुज न तो भ्रान्तिमूलक प्रपञ्च मानते हैं, न प्रपञ्च का नाश, न ब्रह्म-जीव की एकता और न ही जीवन्मुक्ति।

अब, यदि सत्य के रूप में प्रपञ्च को सिद्ध करें तो भी एक के ज्ञान से सब का ज्ञान हो जायेगा। इस प्रतिज्ञा में बाधा नहीं पड़ती। शंकराचार्य परमात्मा के अतिरिक्त किसी को सत्य नहीं मानते। प्रपंचमात्र को आत्मा पर आरोपित करते हैं, इसलिए प्रपञ्च के आधार के रूप में जो आत्मा है उसे जान लेने पर सारे प्रपंच का ज्ञान हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है–''यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञानं स्यात्'' उसी की ओर संकेत है। रस्सी जान लेने पर साँप में क्या तत्त्व है, यह ज्ञात हो जाता है। सभी वस्तुओं के ज्ञान का अर्थ है–सब में विद्यमान तत्त्वांश का ज्ञान हो जाना। दूसरे अंशों में साम्य है कि नहीं, यह दिखलाना जरूरी नहीं है। इसलिए सम्पूर्ण जगत् के विवर्त का उपादान कारण परमात्मा सिद्ध होता है। रामानुज केवल परमात्मा को ही सत्य नहीं मानते, संसार मात्र उनके लिए सत्य है। ऐसी अवस्था में केवल एक ज्ञान से सबों का ज्ञान होगा, यह कहना बड़ा कठिन है। घट के ज्ञान से पट का ज्ञान नहीं हो जाता। तब तो रामानुज के अनुसार उपर्युक्त श्रुतिवाक्य की निरर्थकता ही सिद्ध हो जायेगी।

यह ब्रह्माण्ड चौदह भुवनों से बना है जो प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार, तन्मात्रों, भूतों तथा इन्द्रियों के साथ-साथ है।[२४६] उस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत देवता, पशु, मनुष्य, स्थावर आदि सभी प्रकार के संस्थानों से युक्त होकर अवस्थित हैं। ये सब के सब कार्य के रूप में है। फिर भी ब्रह्म ही हैं क्योंकि ब्रह्म के शरीर

---

२४६. प्रकृति-पुरुष महदहङ्कार-तन्मात्र-भूतेन्द्रिय-चतुर्दशभुवनात्मकब्रह्माण्डतदन्तर्वर्ति-देव तिर्यङ् मनुष्य-स्थावरादि-सर्वप्रकार संस्थान संस्थितं कार्यमपि सर्वं ब्रह्मैवेति कारण-भूतब्रह्मात्मज्ञानादेवसर्वविज्ञानं भवतीत्येकाविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योपपन्नतरत्वात्। अपि च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्यासत्वादेव एकविज्ञानेन......।

–सं० द० संग्रह, पृ० १८३

से ही यह सब पदार्थ निकले हैं। मूल कारण भी ब्रह्म के शरीर से निकला हैं इसलिए प्रधान (पुरुष) सूक्ष्म शरीर का है, ब्रह्माण्ड स्थूल शरीर का। इसलिए कारणस्वरूप ब्रह्मात्मक ज्ञान से ही सब का ज्ञान हो जाता है। एक को अच्छी तरह जानने से सभी का ज्ञान हो जाता है, यह और भी अच्छी तरह सिद्ध हो गया। कहने का अभिप्राय यह है कि संसार का कारण ब्रह्म सूक्ष्म शरीर में है, जब कि कार्यरूप संसार या ब्रह्माण्ड स्थूलशरीर में है। 'सूक्ष्मशरीर में विशिष्ट आत्मा के ज्ञान के द्वारा स्थूल शरीर से विशिष्ट आत्मा का ज्ञान हो जाता है। यह बहुत ही सरल है। जैसे किसी बालक को छोटे रूप में देखकर उसे ही युवावस्था में बड़े शरीर में भी जान लेते हैं कि यह वही बालक है। मिट्टी जिस प्रकार घटादि का उपादान कारण है उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी स्थूल का है।' इसमें दृष्टान्त और द्रष्टा (सूक्ष्म शरीरादि) में एक-एक अंश को लेकर साम्य है, जबकि शंकर की व्याख्या में विवर्त का आश्रय लेने से उतनी समता नहीं रहती। ब्रह्म और प्रपञ्च में वह सम्बन्ध नहीं जो मिट्टी और घटादि में है। इसलिए रामानुज का सिद्धान्त और अधिक सिद्ध उपपन्नतर है।

इतना ही नहीं, यदि शंकर की तरह ब्रह्म के अतिरिक्त सभी पदार्थों को मिथ्या मान लें तो सभी पदार्थों को असत् मानकर एक के ज्ञान से सब का ज्ञान होने की प्रतिज्ञा को छोड़ देना पड़ेगा। ज्ञान-विज्ञान सत्वस्तु का ही होता है, असत् का नहीं। खरगोश का सींग आदि सम्भव नहीं है।

जगत् को सत्य मानने से इसका विनाश सम्भव नहीं होगा और प्रलय की सिद्धि नहीं होगी। इस शंका का समाधान रामानुज इस प्रकार करते हैं—जिसमें नाम और रूप का निश्चय नहीं हो सके ऐसी सूक्ष्मावस्था में रहने वाला, प्रकृति पुरुष के शरीर के रूप में अवस्थित ब्रह्म कारणावस्था में है, जब संसार अपने इसी रूप में लौट जाता है, तब उसे प्रलय कहते हैं। नाम और रूप के विभागों से मालूम होने वाला स्थूल चित् और अचित् वस्तुओं का शरीर लिए हुए ब्रह्म कार्यावस्था में स्थित है। जब ब्रह्म इस प्रकार के स्थूल रूप में आ जाता है तब उसे सृष्टि कहते हैं।[२४७]

इसी प्रकार व्यास ने ब्रह्मसूत्र के आरम्भण अधिकरण में कार्य-कारण की एकता का प्रतिपादन किया है और इससे वह एकता अच्छी तरह से सिद्ध हो जाती है।

---

२४७. स्वार्थसिद्धि, १:११

डॉ० राधाकृष्णन् ने रामानुज दर्शन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सृष्टि के समय तमस् से महत् प्रकट होता है। महत् से अहंकार अथवा भूतादि प्रकट होते हैं। सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है, तामस से पाँच तन्मात्राएँ अथवा पाँच तत्त्व और राजसाहंकार इन दोनों प्रक्रियाओं में सहायक होता है। अहंकार से शब्द का सूक्ष्म तत्त्व प्रकट होता है और उसके पश्चात् आकाश। आकाश से प्रकट होता है सूक्ष्म तत्त्व स्पर्श (त्वचा) का और उसके आगे वायु आदि दूसरे तत्त्वों के लिए भी यही प्रक्रिया है, शब्द सब तत्त्वों में है। स्पर्श का अनुभव तीन प्रकार का है, उष्ण, शीतल और न शीतल न उष्ण। रंग पाँच हैं जो गर्मी पाकर परिवर्तित भी हो सकते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी आकाश के अतिरिक्त अन्य किसी यथार्थ देश को नहीं मानते और तर्क करते हैं कि हम इसके अन्दर ही कुछ बिन्दु निश्चित कर लेते हैं जिसे कि पूर्व, जहाँ कि सूर्य उदय होता है, और पश्चिम, जहाँ यह अस्त होता है, और इन्हीं दृष्टिकोणों द्वारा सामीप्य अथवा दूरी को मापते हैं।[२४८] मुख्य प्राण को इन्द्रियों के साथ न मिला देना चाहिए, यह वायु की एक अवस्था विशेष है।[२४९] सांख्य के विपरीत विशिष्टाद्वैत का मत है कि प्रकृति का विकास तथा उसका नियन्त्रण ईश्वर के द्वारा होता है।[२५०]

काल को एक स्वतन्त्र स्थान दिया गया है। यह अस्तित्त्व मात्र का एक रूप है।[२५१] यह प्रत्यक्ष का विषय है दिनों और महीनों आदि के भेद, काल के ही सम्बन्ध के ऊपर आधारित है।[२५२] जबकि प्रकृति के तीन गुण सत्यत्व, रजस् और तमस् हैं, तब शुद्ध तत्त्व का केवल एक गुण है सत्व। यह ईश्वर के शरीर की उसकी नित्य विभूति की दशा में निर्माण सामग्री है। यह आन्तरिक स्वरूप को नहीं छिपाता है। ईश्वर प्रकृति की सहायता से तथा अपनी लीलामय विभूति के द्वारा अपने को विश्वरूपी शक्ति में अभिव्यक्त करता है। और शुद्धतत्त्व की सहायता से अपनी नित्य विभूति के द्वारा अपने को अतीन्द्रिय अस्तित्त्व में व्यक्त करता है।

---

२४८. तत्त्वमुक्ताकलाप, १:४८
२४९. तत्त्वमुक्ताकलाप, १:५३-५४
२५०. स्वार्थ सिद्धि, १:१६
२५१. तत्त्वत्रय के अनुसार काल तत्त्वशून्य है।
२५२. उपाधिभेदः तत्त्वामुक्ताकलाप, १:६९

ये सब अचेतन सत्ताएँ, जो ईश्वर की इच्छा के अधीन काम करती है।[२५३] वे सब अपने-आप में न अच्छी है न बुरी है, किन्तु जीवात्माओं को उनके कर्म के अनुसार सुख अथवा दु:ख पहुँचाती हैं। उनके व्यवहार का निर्णय करना ईश्वर का काम है क्योंकि ''यदि वस्तुओं के परिणाम केवल उनके अपने ही स्वभाव के ऊपर निर्भर करते तो प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समय में सब मनुष्यों के लिए सुख अथवा दु:ख ही देने वाली होती। किन्तु देखा जाता है कि यह बात नहीं है, ''सर्नश्रेष्ठ ब्रह्म के लिए, जो केवल अपने ही अधीन है; वही सम्बन्ध लीलामय खेल का स्त्रोत है और यही उन वस्तुओं को प्रेरणा भी देता है और विविध प्रकार से उनका नियन्त्रण भी करता है''[२५४] ऐसे व्यक्ति के लिए जिसने अपने को अविद्या तथा कर्म के सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त कर लिया है, यह संसार वस्तुत: आनन्दमय प्रतीत होगा, जहाँ आत्माएँ तथा प्रकृति दोनों ईश्वर के शरीर अथवा गुणों को बनाती है। उनका सीधा सम्बन्ध जीवात्माओं के साथ है और प्रकृति के साथ केवल परोक्ष रूप में है क्योंकि प्रकृति का नियन्त्रण आत्माओं के द्वारा होता है। प्रकृति अत्यधिक पूर्णता के साथ जीवात्माओं की अपेक्षा ब्रह्म के ऊपर निर्भर है, क्योंकि आत्माओं को चुनाव करने की स्वतन्त्रता है। जीवात्माएँ दैवीय जीवन में भाग ले सकती है और इस प्रकार परिवर्तन तथा मृत्यु से ऊपर उठ सकती है।

रामानुज के अनुसार जब कोई भी कार्य उत्पन्न होता है तो उसका एक उपादान कारण भी होता है। सृष्टिरचना में उपादानकारण एवं निमित्तकारण ब्रह्म है। वस्तुत: रामानुज के दर्शन में जीवात्मा एवं प्रकृति ईश्वर के प्रकार है। फिर भी ये अत्यन्त काल से स्वतन्त्र अस्तित्त्व के रूप में विद्यमान है। इसलिए पूर्ण रूप से ब्रह्म में विलीन नहीं हो सकते हैं। वस्तुत: जीवात्मा और प्रकृति की गौण सत्ता है, जो उन्हें अपने ही विधान के अनुसार विकसित होने के लिए ईश्वराधीन के रूप में अंगीकार करनी पड़ती है। वे दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं जो समय समय के व्यवधान से क्रम के अनुसार आती है-पहली एक सूक्ष्म अवस्था है जिसमें उनके अन्दर वे गुण विद्यमान नहीं होते जिनके द्वारा साधारणत: वे जानी जाती है, और इस अवस्था में नाम व रूप का कोई भेद नहीं लक्षित होता। इस अवस्था में प्रकृति अव्यक्त है और प्रज्ञा संकुचित

---

२५३. २:२, २
२५४. ३:२, १२

अवस्था में रहती है। यह प्रलय की अवस्था है जबकि कहा जात है कि ब्रह्म कारणावस्था में वर्तमान होता है। उसके पश्चात् जब प्रभु की इच्छा से सृष्टि की रचना प्रारम्भ होती है तब प्रकृति सूक्ष्म अवस्था से स्थूल अवस्था में परिणत हो जाती है और आत्माएँ उन भौतिक शरीरों में प्रविष्ट हो जाती है जो उन्हें उससे पूर्व के जन्मों में किए गए पुण्य या पापकर्मों के अनुसार प्राप्त होते हैं, और उनकी बुद्धि का विकास एक निश्चित प्रकार से होता है। उस प्रकार आत्माओं तथा प्रकृति के सम्पर्क से मुक्त ब्रह्म व्यक्त होकर कार्यावस्था में आ जाता है, ऐसा कहा गया है। सृष्टि तथा प्रलय केवल सापेक्ष है और उसी एक ब्रह्म रूपी कारणात्मक तत्त्व का द्योतन करते हैं।[२५५] आत्माओं तथा प्रकृति का दो प्रकार का अस्तित्त्व है, एक कारणात्मक और दूसरा कार्यात्मक। अपने कारणात्मक अस्तित्त्व में आत्माएँ अभौतिक होती है और प्रकृति साम्यावस्था में रहती है, किन्तु जब सृष्टि रचना का समय आता है तो आत्माएँ अपने कर्म के प्रभाव से तीनों गुणों (सत्व, रजस्, तमस्) की साम्यावस्था में हलचल उत्पन्न करती है और प्रकृति उनके कर्मफल को दैवीय शक्ति के अन्तर्गत क्रियात्मक रूप प्रदान करती है। आत्माएँ अपने कर्मों के फल का उपभोग कर सकें इसीलिए सृष्टि रचना होती है। ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है जिससे कि आत्माओं को अपने कर्मों के अनुकूल फल मिल सकें। इन अर्थों में ईश्वर का रचनात्मक कर्म स्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष नहीं है।[२५६]

पञ्चरात्र के वर्णन के अनुसार "शुद्धसृष्टि तथा स्थूलसृष्टि में भेद किया गया है, शुद्ध सृष्टि वस्तुतः सृष्टि न होकर इस प्रकार से ईश्वर की अनवरत विद्यमान रहने वाली आन्तरिक अभिव्यक्ति है जिसमें ईश्वर के सर्वज्ञता, ऐश्वर्य, सृजनशक्ति, समस्त विश्व को धारण करने की शक्ति निर्विकारिता स्वरूप वीर्य और दैवीय पूर्णता तथा तेज आदि गुण अपने को प्रकट करते हैं। ये गुण ही वासुदेव और लक्ष्मी अथवा लक्ष्मी साहचर्ययुक्त वासुदेव के शरीर का निर्माण करते हैं। व्यूह और विभव भी विशुद्ध सृष्टि से ही सम्बद्ध हैं। बैकुण्ठ, जिसका भौतिक कारण भी शुद्ध सत्य है, इसी शुद्ध सृष्टि के साथ सम्बन्ध है।"[२५७] स्थूल सृष्टि

---

२५५. देखें भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य, १३:२, ९:७

२५६. २:१, ३४-३५

२५७. वैष्णव धर्म का बंगाली सम्प्रदाय इस योजना को स्वीकार करता है, किन्तु विष्णु और लक्ष्मी के स्थान पर कृष्ण तथा राधा को रख लेता है।

की रचना पूर्ववर्णित व्यवस्था के अनुसार प्रकृति द्वारा होती है जो तीन गुणों से मिलकर बनी है।[२५८] ईश्वर के लिए सृष्टि की रचना केवल लीला मात्र है।[२५९] लीला का उदाहरण रूपी अलंकार सृष्टिरचना रूपी कर्म के अन्तर्निहित निःस्वार्थ भाव, स्वातन्त्र्य तथा आह्लाद को प्रकट करता है। इससे रामानुज का यह जो अनुग्रह है कि ईश्वर नितान्त स्वतन्त्र है और किसी के ऊपर निर्भर नहीं है, इस सिद्धान्त का समर्थन होता है। प्रकृति और आत्माएँ ईश्वर की उक्त लीला के साधनमात्र है और किसी अवस्था में भी उसकी इच्छा के मार्ग में बाधा नहीं दे सकते। इस जगत् रूपी समस्त नाटक का भार ईश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार ग्रहण करता है।[२६०]

शंकर के समक्ष जो समस्या है कि नितान्त पूर्णरूप ब्रह्म से अपूर्णतायुक्त जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है, कम से कम सीमित बुद्धि के लिए इस विषय की व्याख्या करना असम्भव है। अनन्त से सान्त की सृष्टि किस प्रकार हुई, यह समस्या रामानुज के समक्ष नहीं आती क्योंकि वे श्रुति के प्रमाण के आधार पर सान्त जगत् की सृष्टि अनन्त से होती है इसे स्वीकार करने को उद्यत है। और जो कुछ श्रुति ने कहा उसे तर्क द्वारा भी अवश्य सिद्ध किया जा सकता है। क्या यह भी ईश्वर की इच्छा के अधीन हो सकता अथवा नहीं कि अव्यक्त प्रकृति तथा अभौतिक आत्माएँ विद्यमान हों? यह बिल्कुल सत्य है कि उक्त स्वतः सिद्ध तत्त्व जिनके ऊपर दैवीय इच्छाशक्ति सृष्टिरचना में निर्भर करती है। कहीं बाहर से नहीं आए, जैसा कि मध्व का मत है, किन्तु ईश्वर के अन्दर उसके प्रकार-रूप से निहित है। हर हालत में ईश्वर की इच्छा उनके पूर्व अस्तित्त्व के ऊपर निर्भर करती है। इस प्रकार की कल्पना करना सम्भव हो सकता है कि भिन्न प्रकार की सामग्री से इससे उत्तम प्रकार के जगत् का निर्माण किया जा सकता था। ईश्वर सब प्रकार के सम्भव जगतों में से सर्वोत्तम जगत् को तो नहीं चुन सकता था किन्तु प्रस्तुत सामग्री द्वारा ही सर्वोत्तम जगत् का निर्माण कर सकता था। ब्रह्म की सत्ता सर्वथा निरूपाधिक है।[२६१] किन्तु जड़ प्रकृति के विषय

२५८. पंचरात्र सम्प्रदाय की संहिताओं में एक मध्यवर्ती सृष्टि को भी माना गया है।

२५९. तुलना कीजिए, क्रीड़ा हरेरिदं सर्वम्। आगे कहा गया है—हरे विहरसि क्रीडा-कन्दुकैरिव जन्तुभिः। और यह सूत्र भी—लोकवत्त् लीलाकैवल्यम्।

२६०. स्वसंकल्पकृतम् (भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य, १:२५)। तुलना कीजिए ''ईश्वर अनन्त साधनों से अनन्त आनन्द का उपभोग करता है।'' (ब्राडनिः पैरासेन्सस)।

२६१. निरूपाधिकसंत्ता, १:१,२ तुलना कीजिए, श्रुतिप्रकाशिकाः केनापि परिणामविशेषेण तन्तदवस्थस्य सत्ता सोपाधिकसत्ता अतो निरूपाधिकसत्ता निर्विकारत्वम्।

में यह लागू नहीं है क्योंकि वह परिवर्तन का आधार है और आत्माएँ प्रकृति में फँसी हुई है। किन्तु यह समझना एक कठिन कार्य है कि किस प्रकार ब्रह्म को निर्विकार माना जा सकता है जब कि उसके गुणों में अवस्था परिवर्तन होता है तथा आत्माओं और प्रकृति में भी परिवर्तन होता है। उक्त प्रकार सूक्ष्म से स्थूल अवस्था में परिवर्तन होते हैं तथा इसके विपरीत भी। इसलिए रामानुज को बाध्य होकर स्वीकार करना होता है कि ईश्वर भी परिवर्तन के अधीन है।[२६२] रामानुज सान्त को अनन्त के गुण के रूप में मान लेते हैं। उक्त मत से यह परिणाम निकलता है कि अनन्त का अस्तित्त्व अपने गुण के बिना नहीं रह सकता और इस प्रकार अनन्त के लिए गुण आवश्यक है। तो भी रामानुज इसे स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाते हैं क्योंकि श्रुति के अनेक वाक्य इसके विरोधी हैं। "ये प्राणी मेरे अन्दर नहीं है"[२६३] इस वाक्य पर टिप्पणी करते हुए रामानुज कहते हैं: 'अपनी इच्छा के कारण मैं सब प्राणियों का धारणकर्ता हूँ किन्तु तो भी इन प्राणियों में से किसी से भी मुझे कोई सहारा नहीं है", "मुझे अपने अस्तित्त्व में इन सबसे किसी प्रकार की भी सहायता प्राप्त नहीं है।"[२६४] जगत् का अस्तित्त्व दैवीय शक्ति के लिए सर्वथा अनावश्यक है। इस प्रकार के मत की अनुकूलता रामानुज के इस साधारण मत के साथ नहीं बनती कि जगत् का आधार ईश्वर के स्वभाव के अन्दर है। गीता के इस कथन पर कि "भक्तिपूर्वक जो कुछ भी पत्रपुष्प मुझे अर्पण किया जाए मैं उसी से प्रसन्न हो जाता हूँ" टिप्पणी करते हुए रामानुज कहते हैं, "यद्यपि मैं अपने स्वाभाविक निस्सीम तथा अपार आनन्द में रहता हूँ तो भी मैं उक्त उपहारों से प्रसन्नता लाभ करता हूँ मानों मेरी इच्छा की परिधि से बाहर का कोई प्रिय पदार्थ मुझे अर्पित किया गया हो।[२६५] ईश्वर अपने भक्तों की स्वेच्छापूर्वक की गई भक्ति के द्वारा भी प्रसन्नता लाभ करने को उद्यत है, किन्तु उसी प्रकार अन्यों के दुःखों अथवा क्लेशों से अपने को अविभूत करने के लिए उद्यत नहीं है। यदि आत्माएँ प्रभु के अंश है तब तो आत्मा के दुःख से प्रभु को भी दुःखानुभूति होना चाहिए, जिस प्रकार कि हाथ अथवा पाँव की

---

२६२. उभयप्रकारविशिष्टे नियन्त्रांशे तदवस्था तदुभयविशिष्टतारूपविकारो भवति (ब्रह्म सूत्र पर रामानुज भाष्य, २:३, १८)

२६३. भगवद्गीता, ९:४

२६४. मत्स्थितौ तैर्न कश्चिदुपकारः (भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य, ९:४)

२६५. भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य, ९:२०

पीड़ा से मनुष्य भी दुखित होता है। इसी प्रकार सर्वोपरि प्रभु को भी आत्मा की अपेक्षा अधिक दु:ख अनुभव होगा।[२६६] किन्तु इसके उत्तर में रामानुज का कहाना है कि आत्माओं का दु:ख ईश्वर के स्वभाव को कलुषित नहीं करता। यदि सृष्टि रचना, सृष्टि का धारण तथा सृष्टि का विनाश ये कर्म ईश्वर को प्रसन्नता प्रदान करते हैं तो क्या हम इससे यह परिणाम निकाल सकते हैं कि ईश्वर प्रसन्नता में भी परिवर्तन सम्भव है और वह उक्त व्यापारों द्वारा बढ़ती है ? ईश्वर का स्वभाव अतीन्द्रिय आत्मा के रूप में आह्लादमय है और उसके गुणों के परिवर्तन भी उसके आह्लाद में वृद्धि ही करते हैं। जिस प्रकार आत्मा तथा देह का सम्बन्ध तर्क द्वारा निश्चित नहीं हो सकता, इसी प्रकार अतीन्द्रियआह्लाद जो अपने-आप में निर्दोष और परिवर्तन रहित है तथा उसके शरीर से उत्पन्न आह्लाद में जो भेद है उसकी बुद्धिपूर्वक व्याख्या नहीं की जा सकती।

रामानुज मायावाद तथा जगत् के मिथ्यात्व का बलपूर्वक विरोध करते हैं। यदि जगत् में विद्यमान भेद मनुष्य के अपने मन की अपूर्णता के कारण है तो फिर ईश्वर की दृष्टि में इस प्रकार का कोई भेद नहीं होना चाहिए, किन्तु धर्मशास्त्र हमें बतलाता है कि ईश्वर संसार की रचना करता है और भिन्न-भिन्न आत्माओं को अपने कर्मों के अनुसार फल देता है। इस प्रकार धर्मशास्त्र का संकेत है कि ईश्वर संसार के अन्दर वर्तमान भेदों को स्वीकार करता है। हम यह नहीं कह सकते कि अनेकत्व मिथ्या है जिस प्रकार की मृगतृष्णिका है, क्योंकि मृगतृष्णिका तो इसलिए मिथ्या है कि उसके द्वारा प्रेरित हमारी क्रिया निष्फंल होती। किन्तु संसार को प्रत्यक्ष करके जो क्रिया हम करते हैं वह इस प्रकार निष्फल नहीं होती। और न ऐसा कहना ही तर्कसंगत होगा कि जगत् की यथार्थता जो प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित होती है, शास्त्र के प्रमाण से अन्यथा सिद्ध हो जाती है क्योंकि प्रत्यक्ष तथा शास्त्र के क्षेत्र एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं और इस लिए वे एक दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते।[२६७] सब प्रकार का ज्ञान, पदार्थों को प्रकाश में लाना है।[२६८] यह कहना कि पदार्थो का अस्तित्त्व नहीं है केवल इसलिए

---

२६६. आकाशवाय्वादिभूता...........पदार्थग्राहिप्रत्यक्षम्: शास्त्रं तु प्रत्यक्षाद्यपरिच्छेद्य सर्वान्तरात्मत्व।

२६७. सत्यत्वाद्यनन्त विशेषण विशिष्ट ब्रह्मस्वरूपा.........विषयम्, इति शास्त्रप्रत्यक्षयोर्न विरोध:। (वेदार्थ संग्रह, पृ० ८७)

२६८. अर्थप्रकाश।

कि वे स्थिर नहीं रहते बिल्कुल अजीब बात है। इस तर्क में एक विरोधाभास है जो विरोधी तथा भिन्न पदार्थो में भेद न करने के कारण उत्पन्न हुआ है। भेद के कारण किसी पदार्थ का निषेध नहीं किया जा सकता। तथा जहाँ पर दो प्रकार के ज्ञान (बोध) परस्पर विरोधी हों वहाँ दोनों ही यथार्थ नहीं हो सकते। किन्तु घड़े कपड़े के टुकड़े आदि-आदि एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, क्योंकि स्थान तथा काल भेद से वे अलग-अलग हैं। यदि किसी पदार्थ का अभाव एक ही समय और एक ही काल और एक ही स्थान में ज्ञान का विषय बना जहाँ पर और तभी उसका अस्तित्त्व भी देखा गया, तब हमें दो ज्ञानों का परस्पर विरोध मिलता है। किन्तु जब किसी पदार्थ का जो किसी स्थान पर और किसी काल में देखा गया है, किसी अन्य स्थान तथा काल में अभाव देखा जाए तब कोई विरोध नहीं उत्पन्न होता।[२६९] रस्सी को भूल से साँप समझ लेने के दृष्टान्त में अभाव को बोध पूर्व से निर्धारित स्थान और समय के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है। इस प्रकार वहाँ विरोध है। किन्तु यदि एक समय विशेष में देखा गया कोई पदार्थ अन्य समय अथवा अन्य स्थान में नहीं रहता, तो हमें तुरन्त इस परिणाम पर नहीं पहुँच जाना चाहिए कि वह पदार्थ मिथ्या है। शंकर और रामानुज दोनों ही सारूप के तर्क पर बल दते हैं।[२७०] केवल रामानुज का मत है कि यथार्थ सारूप्य परस्पर भेद तथा निश्चित रूप को उपलक्षित करता है यद्यपि यह परस्पर विरोध तथा निषेध का उपलक्षण नहीं है।

रामानुज ने अद्वैतमत के अविद्यारूपी सिद्धान्त के विरोध में अनेक आक्षेप उठाए हैं। अविद्या का आश्रय क्या है ? यह ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म पूर्ण निर्दोष है। यह जीवात्मा नहीं हो सकती क्योंकि जीवात्मा अविद्या की उपज है। अविद्या ब्रह्म को आवृत्त नहीं कर सकती क्योंकि ब्रह्म का स्वभाव स्वरूप से तेजोमय है। यदि यह कहें कि यह आत्मप्रकाशित चेतना है जिसका न कोई प्रमेय विषय है और न अधिष्ठान है और जो पूर्णता के प्रभाव से जो उसके अन्तर्निहित है, अनन्त पदार्थों के साथ सम्बद्ध होने का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, तो वह अपूर्णता यथार्थ है अथवा अयथार्थ है ? अद्वैतवादियों के अनुसार इसे स्वयं ईश्वर ने विद्यमान रहने दिया है। मानवीय ज्ञान के अन्दर जब कोई अव्यक्त

---

२६९. देशान्तरकालान्तर सम्बन्धितयानुभूतस्यान्यदेशकालयोरभावाप्रतिपत्तौ न विरोधः (१:१.१)

२७०. ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, २:२, ३३; ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य २:२, ३१

पदार्थ व्यक्त रूप में आता है तब हम किसी ऐसे पदार्थ की कल्पना कर लेते हैं जिसने उसके व्यक्त होने में बाधा डाल रखी थी। किन्तु ब्रह्म के विषय में ऐसे किसी दोष की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त यदि माना जाए कि अविद्या ब्रह्म को भी अपने जाल में फँसा लेती है। तब व्यापक मिथ्यात्व ही केवल मात्र यथार्थता रह जाएगी और हम उससे नहीं निकल सकते। तर्क के द्वारा अविद्या के स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता है। यह न तो यथार्थ है और न अयथार्थ ही है। यह कहना कि कोई वस्तु अनिर्वचनीय है तर्क के विरुद्ध है; कोई भी प्रमाण अविद्या के अस्तित्त्व को सिद्ध नहीं कर सकता। न प्रत्यक्ष, न अनुमान और न आगम प्रमाण ही अविद्या के अस्तित्त्व को सिद्ध कर सकता है। धर्मशास्त्रों में माया शब्द का प्रयोग ईश्वर की अद्‌भुत शक्ति को संकेत करने के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका नित्य स्थाई अयथार्थ अविद्या से कोई सम्बन्ध नहीं है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार धर्मशास्त्र भी इस मिथ्या जगत् का एक भाग है और इस प्रकार समस्त ज्ञान की आधारभित्ति ही नष्ट हो जाती है। यदि अविद्या का नाश कभी सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार का ज्ञान असम्भव है। अमूर्त भावात्मक ज्ञान के द्वारा अविद्या-रूपी जो एक ठोस यथार्थता है उसका विनाश (निवृत्ति) नहीं हो सकती। वस्तुतः जगत् इतना महान् तथा अर्थपूर्ण है कि इसे इतने सरल रूप में केवल अविद्या की उपज कहकर मिथ्या नहीं घोषित किया जा सकता। यथार्थ अविद्या, जिसके हम सब शिकार हैं, भ्रम की वह शक्ति है जिसके कारण हम विश्वास किए बैठे हैं कि हमारा अपना तथा जगत् का भी अस्तित्त्व ब्रह्म के अस्तित्त्व में स्वतन्त्र है।

आचार निरूपण–

आचार्य रामानुज ने आचार शास्त्रीय समस्याओं के विषय में भक्तिवाद को विकसित करते हुए कहा है कि जीवात्मा को ईश्वर के लिए समर्पण कर देना चाहिए। हमारे प्रत्येक कर्म के पीछे ईश्वर की लीला कार्य कर रही होती है ईश्वर की इच्छा के बिना जीव कुछ भी नहीं कर सकता है। जीवात्मा भाग्य में जकड़ा हुआ है।

उपनिषदों का भाष्य करते हुए रामानुज ने अपने आचार सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट किया है उनका कहना है कि जीवात्मा के कर्म करने के विषय में कुछ विकल्प हो सकते हैं, उनमें एक विकल्प यह है कि मनुष्य किसी भी परिस्थिति में अपने संकल्प के चुनने में स्वतन्त्र है या परतन्त्र है, यदि वह कर्म

करने में परतन्त्र है तो उस कर्म के फल भोगने का आधार जीवात्मा नहीं हो सकता और यदि कर्म करने में स्वतन्त्र है तो वह फल भोगने में परतन्त्र होगा।

नीति शास्त्रीय यह समस्या अति जटिल मानी जाती है। आचार्य रामानुज और पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा आदि इस सिद्धान्त के पक्षपाती है कि जीव कर्म करने में पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है, जो कुछ है वह ईश्वर की कृपा पर अवलम्बित है। कुछ आचार्य यहाँ पर यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। उनका कथन है कि जीव शुभ और अशुभ कार्यों के करने में स्वतन्त्र है। बिना स्वतन्त्रता के उसका विकास कैसे सम्भव हो सकता है ? यही मत उपनिषदों का भी है, क्योंकि जीवात्मा अविद्या आदि को छोड़कर अपना विकास कर लेता है। अतः संकल्प स्वातन्त्र्य पर उपनिषदों में अलग से तो विचार नहीं किया, परन्तु यह भी कही नहीं कहा है कि वह परतन्त्र है। कुछ उपनिषदों के ऐसे स्थल है जो उसी संकल्प स्वातन्त्र्य को सिद्ध करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है कि मानव काम, संकल्प और कर्म का समीकरण मात्र है, जैसी उसकी कामना होगी, वैसे ही उसके संकल्प होंगे, जैसे उसके संकल्प होंगे वैसे ही उसके कर्म होंगे। ये काम संकल्प और कर्मफल के सम्बन्ध का बड़ा समीचीन विवेचन है। कठोपनिषद् में नचिकेता को यमाचार्य श्रेय और प्रेय का मार्ग बताता है। उनमें से नचिकेता श्रेय मार्ग का अनुसरण करता है, जबकि वह इस बात के लिए पूर्ण स्वतन्त्र था कि श्रेय को अपनाये या प्रेय को। इसी प्रकार ईशोपनिषद् में विद्या एवं अविद्या सम्भूति और असम्भूति इन सभी विकल्पों में से उसे चुनने की स्वतन्त्रता है। कुछ विद्वान् संकल्प स्वातन्त्र्य का अभिप्राय यह समझते हैं कि कामचारी होना, इसलिए वे कहते हैं कि कामचारी तभी उपनिषदों में माना है जबकि वह आत्मतत्त्व को समझ लेता है। तभी संकल्पों की स्वतन्त्रता उसे उपलब्ध होती है। परन्तु उनका यह मत इसलिए समीचीन प्रतीत नहीं होता कि नीति शास्त्र की यह एक बहुत बड़ी ज्वलन्त समस्या है कि वह जीवात्मा किसी ईश्वर या प्रारब्ध आदि में जकड़ा हुआ है, या वह करने न करने, शुभ करने एवं अशुभ करने में स्वतन्त्र है। अन्य आचार्य यथार्थ रूप में यह स्वीकार करते हैं कि जीव संकल्प या कर्म करने में स्वतन्त्र है, जबकि नियतिवादी जीव को कर्म करने और फल भोगने में परतन्त्र मानते हैं।

यदि कर्मस्वातन्त्र्य सिद्धान्त को न माना जाए तो हमारे सम्मुख नियतिवाद का ही सिद्धान्त शेष रह जाता है। जिसके मानने से मनुष्यों में पुरुषार्थ हीनता का

आना स्वाभाविक ही है। जबकि सांख्य दर्शन में मोक्ष की प्राप्ति पुरुषार्थ से मानी गई है। उपनिषदों में भी जो तप का वर्णन हुआ है। वह पुरुषार्थ का ही दूसरा नाम है। इसलिए केनोपनिषद् में ब्रह्मज्ञान की प्रतिष्ठा का आधार या स्तम्भ उसकी नींव तीन अर्थात् तप, दम और कर्म माने हैं।[२७१] शारीरिक नियन्त्रण को तप कहते हैं। तप रूपी कर्मों के द्वारा हम अपनी इन्द्रियों के मल को दूर करते हैं। मानसिक नियन्त्रण को दम कहा गया है। इन दोनों का क्रियात्मक रूप हम कर्म के द्वारा ही दे सकते हैं। यहाँ स्पष्ट कहा है कि यदि मनुष्य अपना विकास करके ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता है तो उसे आलसी प्रमादी की तरह अपनी नियति पर या भाग्य पर अवलम्बित नहीं रहना चाहिए, अपितु उसकी प्राप्ति के लिए उसे तप, दम तथा कर्म करना प्रारम्भ कर देना चाहिए। इसलिए उपनिषदों का सिद्धान्त प्रसिद्ध रूप में माना जाता है 'चरैवेति चरैवेति' अर्थात् चलते रहना है। कर्म और ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उपनिषद्कार ने कर्म करते रहने का आदेश दिया था।[२७२] भाग्यवाद या नियतिवाद की उपनिषदों में गन्ध भी प्रतीत नहीं होती है। दर्शनों में भी आचार शास्त्र के चिन्तकों के सम्मुख यह एक समस्या आती है कि आचार शास्त्र के सिद्धान्त का आधार क्या हो? क्योंकि रूढ़ियाँ, सामाजिक परम्परायें और राजनैतिक नियम आदि उसके आधार माने जाते हैं। अब यह विचारना अपेक्षित है कि उपनिषदें किसको आधार मानती है। उपनिषदों में उपर्युक्त आधारों का वर्णन नहीं मिलता है।

नीतिशास्त्र का आदर्श है अपने आपको जानना। हम अशुभ से शुभ की ओर, शुभ से शुभतर की ओर अग्रसर होते हैं। उपनिषद् यही कहती है कि हमें अपने आपको पहचानना चाहिए। वास्तव में हमारे अन्दर जो पाशविक वृत्तियाँ, हमारे अन्दर अहम् की अभिलाषाएँ और महत्वाकाँक्षी होना ये हमारे जीवन के निम्न स्तर हैं, आत्मा के विकास के लिए एवं परमसत्ता को प्राप्त करने के लिए जो रुकावटें और विरोधी प्रभाव है उन्हें दबाना होगा। उपनिषदों का नैतिक जीवन तर्कसंगत एवं विचारशील है। नैतिक जीवन केवल विषय उपभोग का जीवन नहीं है। आत्मा को रथ में बैठने वाला स्वामी जानो, तथा मन रास (लगाम) की जगह हैं, इन्द्रियाँ घोड़ों की जगह है और सांसारिक पदार्थ मार्ग है। बुद्धिमान् लोग इन्द्रियाँ एवं मन से संयुक्त आत्मा को ही भोक्ता कह कर पुकारते हैं, किन्तु जो

---

२७१. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा।—केनोपनिषद् ४.८

२७२. कठोपनिषद्, १.५.२४

व्यक्ति दुर्बल और अज्ञानी है, उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में न रह कर नटखट घोड़ों की तरह रथी के वश से बाहर होकर इधर-उधर निरुद्देश्य रूप में भटकती है। इसके विपरीत जो ज्ञानी है और जो मानसिक बल से युक्त है उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती है, जो अज्ञानी एवं अपवित्र व्यक्ति है वह परमशुभ अर्थात् अमरता को प्राप्त नहीं कर सकता है। मनु ने भी तो यही कहा था कि आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं। उपनिषदें यह मानती है कि अज्ञानी मनुष्य जन्म-मृत्यु को प्राप्त तथा जो ज्ञानी है वह मृत्यु को पार कर जन्म मृत्यु के चक्र से छूटकर मुक्ति में अर्थात् परमसुख को प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है जैसा उसका आचरण है वैसा ही फल प्राप्त करता है; क्योंकि कर्मफल का सिद्धान्त यह बतलाता है कि अच्छा आचरण करने वाला ही अच्छा होता है। पापकर्म करने वाला पापात्मा होगा। उपनिषदें इसी कर्मफल के अनुसार आत्मा की अच्छी और बुरी गति भी मानती हैं। मैं तुम्हें सनातन ज्ञान देता हूँ कि तुम यह जान पाओगे कि मरने के बाद आत्मा की गति क्या होती है।[२७३] ये शरीरधारी लोग अपने कर्म के अनुसार दूसरा शरीर प्राप्त करने हेतु दूसरी योनि में प्रवेश करते हैं और अन्य दूसरा कोई अखण्डब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[२७४] पुण्य कर्मों से उत्तमलोक मिलते हैं और पाप कर्मों से नीचलोक मिलते हैं। जो तपस्वी और पवित्र आचरण वाले हैं जो सत्य पर आरूढ़ है उन्हीं के लिए शुद्ध ब्रह्मलोक है। जिसमें कुटिलता, असत्य और धोखा नहीं है।[२७५] परन्तु जिनका जीवन पवित्र हो चुका है वे विकसित होकर जिस-जिस लोक की प्राप्ति का मन से संकल्प करते हैं और जिन-जिन पदार्थों की वाञ्छा करते हैं। उन-उन लोकों एवं उन पदार्थों को उपलब्ध कर लेते हैं।[२७६] यहाँ स्पष्ट रूप में उपनिषदें कर्म स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन

---

२७३. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः।—कठ० २.५
न साम्परायः प्रतिभातिबालं प्रमाद्यन्ते वित्तमोहेन मूढम्। —कठ० २.६
एष सुविज्ञोयो बहुधा चिन्त्यमानः—वही, २.८

२७४. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्।—प्रश्नोपनिषद, ३.७

२७५. तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्तो। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्य येषु सत्ये प्रतिष्ठितम्।।
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।। —प्रश्नोप० १.१५,१६

२७६. यं यं लोकं मनसां संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।
—मुण्डकोपनिषद् ३.१.१०

कर रही है। इसलिए मुण्डक उपनिषद् में बतलाया गया है कि जिन वस्तुओं को शुभतम एवं पवित्रतम मानता हुआ अभिलाषा करता है वह उन अभिलाषाओं के अनुसार वहाँ-वहाँ जन्म लेता है जहाँ-जहाँ वे वस्तुएँ उपलब्ध हो सकती है।[२७७] इसी का छान्दोग्योपनिषद् में समर्थन उपलब्ध होता है। वहाँ कथन किया गया है कि जो इस लोक में उत्तम कर्म वाले होते हैं वे निश्चित ही उत्तम योनियों को प्राप्त कर लेते हैं। ब्रह्म देव आदि योनियों को प्राप्त करते हैं। जो लोग निन्दित कर्म वाले है वे निन्दित योनियों को प्राप्त होते हैं। कुत्ता, सूकर और चाण्डालादि योनियाँ उन्हें मिलती है।[२७८] ये उपरोक्त योनियाँ तो उपलक्षण मात्र है। असंख्य प्रकार की योनियाँ कही जा सकती है, उनमें से जीवात्मा उसी प्रकार की योनि को प्राप्त करेगा, जैसे उसके कर्म होंगे। उन योनियों को प्राप्त कर नाना प्रकार के सुख-दु:खों को भोगता है।[२७९]

आत्मा की इस प्रकार की विविध गतियों को जानते हुए ऋषियों और मुनियों ने उपनिषदों के माध्यम से मनुष्य को शुभ कर्म करने और अशुभकर्म त्यागने का उपदेश दिया है। शुभ कार्यों के करने से शरीर को कष्ट अनुभव होता है। पाप का पथ स्वार्थमय और भोगमय है। एक को ऋषियों ने प्रिय लगने वाला और दूसरे को श्रेष्ठ मार्ग, परन्तु दुर्गम्य रूप वाला कहा है। हे पूषन् ! सत्य का द्वार सुवर्ण के ढक्कन से ढका हुआ है, आप इसको हमारे सामने से हटाइये ताकि मैं सत्य और धर्म को देखूँ।[२८०]

---

२७७. कामान् य: कामयते मन्यमान: स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
—मुण्डकोपनिषद् ३.२.२

२७८. तद्य इह रमणीयचरणाअभ्यांशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा श्रत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।।—छान्देग्य उप० ५.१०।७

२७९. (क) तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम्।।—बृहदारण्यक उप० ४.४.४

(ख) अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृत्ता:।।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जना:।।
—बृहदरण्यक उपनिषद्, ४.४.११

२८०. हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।—बृहदारणकोपनिषद्—५.१५.१

उपनिषदों में यद्यपि ज्ञानकाण्ड की व्याख्या है। जिसमें आध्यात्मिक मार्ग, मुक्ति या अमृतमय जीवन का अधिक रूप में प्रतिपादन उपलब्ध है तथापि हम साधारण मनुष्यों को कैसे कर्म करने चाहिए इसका भी उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में नीतिबोध का यह रूप अधिक स्पष्ट रूप में उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रकृति सचेतन और शिक्षात्मक है। इसमे अनेक सद्‌गुणों का उपदेश प्राप्त है। यहाँ धर्म का आदर करने, सत्य बोलने, तप, संयम और शान्ति की साधना करने, नित्य और नैमित्तिक हवन (यज्ञ) करने, अतिथि सत्कार करने, मनुष्यता का पालन करने एवं सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया है।[२८१] तीन नीतिकारों के मत के विषय में भी कथन किया गया है जिसमें से प्रत्येक प्रधान सद्‌गुण को मानता था।[२८२] सत्यवचन अधिकतर सत्य गुण का उपदेश देते थे। तपोनिष्ठ पौरुषादि तपोगुण को प्रधान रूप में महत्व देते हैं। नाक मौद्‌गल्य वेदों के अध्ययन और अध्यापन को सर्वश्रेष्ठ रूप में मानते थे क्योंकि उनका मत् है कि यही सर्वोत्तम तप है। जब स्नातक का विश्व-विद्यालय में दीक्षान्त किया जाता था, उस समय आचार्य द्वारा पुनः नैतिक शिक्षा के सारगर्भित उपदेश के अतिरिक्त आचार्य शिष्य को कहता था कि देव और पितृ कार्य से विमुख न होना तथा माता, पिता, गुरु और अतिथि को देव तुल्य मानना। सामान्यरूप में स्नातक को वही कर्म करने को कहा जाता है जो समाज की दृष्टि में निर्दोष हो। आचार्य कहता है कि जो अपने से ज्ञान में श्रेष्ठ हैं उन्हें आसन देकर सम्मान करना चाहिए। अन्त में आचार्य कुछ विकल्प प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् प्रत्येक अवस्था में श्रेष्ठ करना चाहिए चाहे आस्था हो अथवा न हो। दान श्रद्धा से, अश्रद्धा से, भय से लज्जा से और उदारता से देना चाहिए। अर्थात् लेने की प्रवृत्ति की अपेक्षा हमेशा देने का ही उपदेश दिया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त विवेचन में साधारण सद्‌गुणों का भी उल्लेख

---

२८१. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिन्मनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्माप्रमदः। आचार्य प्रियं धनमाहत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्।
—तैत्तिरीयो०, शिक्षावल्ली, एकादश अनुवाक

२८२. सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्‌गल्यः।
—तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, नवम अनुवाक।

प्राप्त होता है। सद्गुणों का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में भी मिलता है। धोर अंगिरस के और देवकी के पुत्र कृष्ण के संवाद में सद्गुणों का एक सूची के रूप में वर्णन उपलब्ध है। मनुष्य के प्रधान सद्गुण तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य है। घोर अंगिरस के अनुसार ये मनुष्य के प्रधान गुण है।[२८३] भगवान् श्री कृष्ण द्वारा उपदिष्ट गीता में भी सद्गुणों की उपलब्ध सूची का प्रायः इससे साम्य है।[२८४] जिसमें अहिंसा, सत्य, त्याग, तेजादि सम्मिलित हैं। छान्दोग्य में ही मनुष्य के पाँच महापातकों का उल्लेख उपलब्ध है। वहाँ बतलाया गया है कि जो वित्त की चोरी करता है सुरापान करता है, गुरु पत्नी के साथ गमन करता है, या ब्राह्मण की हत्या करता है, वह नरक में जाता है। उसके साथी-सहयोगी भी वैसी ही अवस्था को प्राप्त होंगे। चोर, मद्यप, व्यभिचारी, ब्रह्मघाती और उनके सहकारी सब मृत्युदण्ड के अधिकारी हैं। यह मनु और याज्ञवल्क्य की परवर्ती स्मृतियों के अनुकूल हैं।[२८५] वहाँ पर भी पाँच महापातकों का उल्लेख उपलब्ध है।

बृहदराण्यक में भी सद्गुणों का उल्लेख उपलब्ध है। कथा के द्वारा समझाया गया है कि देव, मनुष्य और असुर सब अपने सामान्य पिता प्रजापति के समीप गये। प्रजापति के पास जाकर उन्होंने आत्माधिगत ज्ञान का उपदेश देने की प्रार्थना की। प्रजापति ने देवों के लिए ''द'' अक्षर दिया और पूछा कि क्या वे उसका अर्थ समझ गये ? उत्तर पाया कि उन्हें इन्द्रियों का दमन करना चाहिए। प्रजापति सन्तुष्ट हो गये। मनुष्य को भी उसने ''द'' अक्षर का ही उपदेश दिया और उनसे भी उसी प्रकार पूछा कि क्या तुम लोग इसका तात्पर्य समझ गये ? उत्तर मिला, उन्हें दान (दत्त) का पालन करना चाहिए। असुरों को भी प्रजापति ने ''द'' का ही उपदेश दिया। उनसे पूछने पर उत्तर मिला कि उन्हें दया (दयध्वम्) का पालन करना चाहिए।[२८६] यहाँ उपनिषद्कार हमें बतलाता है कि आकाश में मेघगर्जन रूप में जो ''ददद'' की ध्वनि होती है उसका अभिप्राय हमारे लिए दमन, दान और दया करना है। उन्हीं को सात्विक, राजस और तामस रूप कहा जा सकता है अर्थात् जो देवों के समान उच्चअवस्था को प्राप्त है, उनके लिए इस दिव्यवाणी का आदेश है दमन करो नहीं तो अभिमान से युक्त

२८३. दृष्टव्य छान्दोग्य उप० का अंगिरस कृष्ण संवाद।

२८४. (क) अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्–श्रीमद्भगवदगीता, १६.२

(ख) तेजः क्षमा धृतिःशोचमद्रोहो नातिमानिता–वही, १६.३

२८५. आपस्तम्ब, १०.४

२८६. बृहदारणयक उपनिषद् ५.२.१.२.३

होकर गर्व वाले बन जाओगे। ऐसे लोग सामर्थ्यवान् होने के कारण क्रूर कर्मों में प्रवृत्त हो सकते हैं। जो सामान्य मनुष्य की अवस्था में हैं, उनके लिए इस दिव्य वाणी का उपदेश समझना चाहिए कि दानशील बनना है। अर्थात् हमें दान की प्रवृत्ति के द्वारा अपने समाज को समृद्धिशाली बनाना है, जो दानव प्रवृत्ति वाले अर्थात् अनर्थकारी, प्रवृत्ति वाले हैं और अपरिमित शक्ति रखते हैं उनके लिए आदेश है कि दयावान् अर्थात् दयालु बनो। इस विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि दमन, दान और दया तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति प्रधान मनुष्यों के लिए तीन अलग-अलग मुख्य गुण है।

आचार सम्बन्धी मान्यताओं का दार्शनिक विवेचन करते समय उपनिषदों पर प्राय: आरोप लगाया जाता है कि यह निराशावाद को प्रोत्साहन देती है। परन्तु यह आरोप इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि उपनिषदों का ऋषि भिन्न-भिन्न अवस्था वाले व्यक्तियों को भिन्न उपदेश देता है जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में हम उपर्युक्त सन्दर्भ में विचार कर आये हैं। रामचन्द्र दतात्रेय रानाडे का विचार है कि यह सम्भाव्य है कि वह सुखनिरपेक्षवाद परिवर्तित होकर परमनिराशावाद के स्वरूप में परिणत हो गया। वे आगे पुन: पूछते हैं—एक अजर अमर जीवन के शाश्वत आनन्द का अनुभव कर लेने के बाद कौन क्षमाशील मनुष्य सौन्दर्य और वासना (प्रेम) के क्षणिक सुखों के चिन्तन में आनन्द पा सकेगा। मेरे विचार में निराशावाद नहीं है अपितु उस अवस्था का वर्णन है जिसमें साधक उच्च स्थिति को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति के लिए आचार्य कठोपपनिषद् में स्वयं संसार के पदार्थों से संग्रह का वर्णन करते हैं, परन्तु नचिकेता आत्म तत्त्व को जानना चाहता है। उसने संसार सुख और शाश्वत ब्रह्मानन्द के सुख विशेष की तुलना उपनिषद् में की है। मैत्री उपनिषद् में भी वासनाओं की तृप्ति से ऊपर उठने को कहा गया है। काम, क्रोध, लोभादि से अत्यन्त प्रभावित है। उनका भी यही मत है कि मनुष्य के लिए सबसे अच्छी बात यही हो सकती थी कि वह यहाँ जन्म ही न लेता और उसके बाद दूसरी सर्वोत्तम बात यौवन में ही मरण है। इनका मन्तव्य भी यही प्रतीत होता है, कि यौवन में हमें केवल भौतिक सुख को ही प्रधानता नहीं देनी चाहिए, अपितु उससे श्रेष्ठ जो आत्मतत्त्व है उसे जानने का प्रयास करना चाहिए।

उपनिषदें ऐसा मानती प्रतीत नहीं होती है कि संसार को छोड़कर कहीं भाग जाओ। अपितु वे तो यहीं रहते हुए सौ वर्ष तक कर्म करने का उपदेश देती हैं।[२८७]

---

२८७. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा: ।—ईशावास्योपनिषद् २

जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में आया है कि श्रद्धा ही तपस्या है।[२८८] डॉ० राधाकृष्णन् की मान्यता है कि बाह्य पदार्थों के बन्धन से मुक्त होने के लिए हमें वन में एकान्त में रहने की आवश्यकता नहीं, न एकान्तवास को बढ़ाने की आवश्यकता है और न तपस्या की आवश्यकता जिससे कि सांसारिक पदार्थों का सम्बन्ध एक साथ ही छूट जाये।[२८९]

उपनिषदों के उत्तरवर्ती काल में जो अन्धाधुन्ध संन्यासवाद का प्राबल्य रहा उसका उपनिषद् काल में समर्थन प्राप्त नहीं होता यद्यपि जीवन को अमृतमय बनाने की समस्या का समाधान उपनिषदों में क्रान्तिकारी रूप में उपलब्ध होता है, तो भी संसार में रहते हुए ही त्यागपूर्वक भोग का उपदेश उपलब्ध होता है। आगे डॉ० राधाकृष्णन् का विचार स्पष्ट है कि उपनिषद् काल में इन्द्रियों के अत्याचार के विरोध में प्रबल आवाज सुनाई दी थी यूकन के अनुसार उपनिषदों का लक्ष्य अधिकतर संसार में घुसकर इस पर विजय पाना इतना नहीं है जिनता कि उससे अनासक्ति एवं मुक्ति पाना है। कठोर से कठोर बाधा के विरुद्ध भी स्थिर रहने के लिए जीवन को दीर्घ बनाना नहीं है, वरन् प्रत्येक प्रकार की कठोरता को कम करना एवं नरम करना है। तथा एक प्रकार की विलीनता, धीरे-धीरे तिरोधान हो जाना एवं गम्भीर चिन्तन है।[२९०] गफ के अनुसार–उपनिषदों के अनुसार भारतीय ऋषि मुनि दैवीय जीवन में भाग लेने का प्रयत्न केवल पवित्र भावना, उच्च विचार एवं घोर परिश्रम द्वारा नहीं और न ही सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा सत्य कर्म द्वारा एकान्तवास अनासक्ति निष्क्रियता एवं समाधि द्वारा भी करते हैं।[२९१] उपर्युक्त मतों का प्रत्याख्यान करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् की मान्यता समीचीन प्रतीत होती है कि नैतिक जीवन का सार इच्छा को एवं स्वप्न न भ्रान्तिमात्र समझना है और भी जो कुछ भारतीय विचारकों एवं यूरोपीय विचारकों के मन में भी बार-बार जाता है और उन्हें परेशान करता है उपनिषदों के व्यापक भाव से सर्वथा विपरीत है।[२९२]

इनका यह मत हमारे उपर्युक्त मत की पुष्टि करता है कि उपनिषदें एकदम संसार को छोड़कर भाग जाने का उपदेश नहीं देती हैं। जहाँ ऐसी कुछ झलक

---

२८८. छान्दोग्योपनिषद् ५.१०.१

२८९. इण्डियन फिलासफी, लेखक–डॉ० राधाकृष्णन्, अनु० नन्दकिशोर गोभिल, उपनिषदों का दर्शन, पृ० १९९

२९०. मेन करेंट्स, पृ० १३

२९१. फिलासफी ऑफ द उपनिषद्स, पृ० २६६-६७

२९२. भारतीय दर्शन–डॉ० राधाकृष्णन् (हिन्दी), पृ० २०

प्रतीत भी होती है वहाँ विरक्त हो जाने का तात्पर्य मनुष्य जाति के लिए निराशा एवं संसार को त्यागने का एकमात्र आदेश नहीं है, अपितु केवल ऐन्द्रियक सुख ही सब कुछ नहीं इनसे परे भी कुछ है, ऐसा समझना है। हमें उपनिषदों के रहस्यवादी परदे के पीछे अवलोकन करके भौतिक संसार एवं मनुष्य के अन्दर व्यापक ब्रह्म को जानने एवं साक्षात्कार करने का उपदेश उपनिषदों में उपलब्ध होता है।[२९३] भगवत्गीता में भी इसी प्रकार की स्पष्ट मान्यता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को संन्यास लेने का उपदेश नहीं देते अपितु "युध्यस्व" अर्थात् कर्म कर-अपने कर्तव्य पालन पर जोर देते हैं। प्रायः सभी विद्वानों की यह मान्यता है कि गीता उपनिषदों का एक सरल संस्करण मात्र है। अर्थात् उपनिषदों का प्रभाव गीता पर समुचित रूप से दृष्टिगोचर होता है।

मोक्ष–आचार्य रामानुज मोक्ष का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि कर्म बन्धन के हेतु है। अज्ञान प्रेरित अविरत कर्मपरम्परा ही जीवन को बाँधती है। उन कर्मों का क्षय ही मोक्ष हो सकता है और वह क्षय जब होता है तब जीव अपने यथार्थ को समाप्त कर उन कर्मों के अनित्यत्व को समझता है। जीव ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ही ऐसा कह पाता है। ब्रह्म के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पणत्व ही ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान है। ऐसी अवस्था में सभी संचित कर्मों का विनाश स्वतः ही हो जाता है, और जो क्रियमाण कर्म हैं वे उसे बाँधने में असमर्थ हो जाते हैं, क्योंकि उन कर्मों के प्रति जीव का वास्तविक कर्तृत्व समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार जल में रहता हुआ भी कमल जल से भीगता नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता। प्रारब्ध कर्मों की प्रविष्टि जीवन की हेतु रह जाती है जो विनष्ट हो जाने पर जीव को स्वतन्त्र कर देती है और जीव अपने लक्ष्यभूत मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जब तक जीव अनासक्त रूप से शरीर को धारण किये रहे, तो उसे नित्य-नैमित्तिक कर्मों को अवश्य करना चाहिए, अन्यथा, विशिष्टाद्वैत के अनुसार उनके न करने से प्रत्यवाय (पाप) उत्पन्न होंगे और वे (पाप) अपने विपाकों से जीव आत्मा को पुनः संचरण के लिए बाध्य करेंगे।

रामानुज के अनुसार मोक्ष शरीरपातान्तर ही सम्भव है। शरीरपातासन्न (मुमुक्षु) की वाक्शक्ति का मन में लय होता है, उसी प्रकार समस्त ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियाँ मन के साथ अविभक्त हो जाती है। इन सबके संयुक्त मन, प्राण में, और सर्वयुक्त प्राण, आत्मा में समाविष्ट हो जाते हैं, और आत्मा पंच महाभूत में, मुमुक्षु का आत्मा सुषुम्णा नाड़ी से होता हुआ शरीर का परित्याग कर देता है

२९३. मोक्ष मीमांसा में हम यह प्रतिपादन कर चुके हैं।

और अपने दिव्य स्वरूप को प्राप्त करके अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक आदित्यलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक एवं ब्रह्मलोक से होता हुआ शाश्वत बैकुण्ठ लोक में पहुँच जाता है।[२९४] जहाँ पर परमात्मा अपनी श्री के साथ वास करते हैं।

ब्रह्मलोक या बैकुण्ठ में आत्मा पंचरूप मोक्ष को प्राप्त करती है। रामानुज ने श्रीमद्भागवत पुराणोक्त मोक्ष को स्वीकार किया है।[२९५] पंचरूप मोक्ष भागवत पुराण में इस प्रकार बताया गया है–(१) सालोक्य मुक्ति (२) सर्ष्टि मुक्ति (३) सामीप्य मुक्ति (४) सारूप्य मुक्ति तथा (५) सायुज्य मुक्ति। वस्तुत: पाँचों रूपों का भागवत पुराण में क्रमिक विकास माना गया है। किन्तु विशिष्टाद्वैत में प्रथम चारों से सम्बन्धित सायुज्य को ही मोक्ष की संज्ञा दी गई है। पृथक्-पृथक् या क्रमिक या भेदरूपों को नहीं।

रामानुज शंकर की भाँति जीव और ब्रह्म का पूर्ण निलय स्वीकार नहीं करते, क्योंकि रामानुज की दृष्टि में जीव ब्रह्मांश होकर भी ब्रह्म नहीं है, अत: उसका निलय सम्भव ही नहीं हैं। निलय सर्वथा तदाकार का हुआ करता है। न्यूनाधिक सदृश का या विसदृश पदार्थों का निलय सम्भव नहीं।

वस्तुत: सायुज्य शब्द को ऋगवेद से ग्रहण किया प्रतीत होता है। वहाँ पर जीव और ब्रह्म को दो परम मित्रों के रूप में देखा गया है जो (मोक्ष की अवस्था में) एक स्थान पर बैठकर परस्पर सापेक्षिक आनन्द को प्राप्त करते हैं और एक-दूसरे के आनन्द का आस्वादन करते हैं।[२९६] मैत्रायणी संहिता में भी सायुज्य शब्द इसी तात्पर्य में प्रयुक्त हुआ है।[२९७]

---

२९४. (क) न्यायसिद्धाञ्जन, पृ० ३२८.
(ख) कौषीतकि–भाष्य में उद्धृत:–स एतं देवयानं पन्थानमाद्यग्निलोकमा-गच्छति वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स प्रजापति लोकं स ब्रह्मलोकं......इत्यादि।

२९५. सालोक्यसार्ष्टि सामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जना:–श्रीमद्भागवतपुराण, ३.२९.१३

२९६. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। –ऋग्वेद १.१६४.२०
तुलना कीजिए–
सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयो: खादति पिप्पलान्न अन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्।।
–श्रीभद्भागवत् ११.११.६

२९७. ब्रह्म चैव च क्षेत्रं च सयुजा अक: ।

रामानुज का मत है कि मुक्त आत्मा ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करता है, तथापि उसके साथ तद्रूपता को नहीं।[२९८]

न्यायसिद्धान्तकार ने सायुज्य शब्द की परिभाषा करते हुए कहा है कि समान गुणों को प्राप्त करना ही सायुज्य है।[२९९] जीवात्मा भी मोक्ष की अवस्था में परमात्मा के सायुज्य को ही अर्थात् उसकी समानता को प्राप्त करता है। अपनी सायुज्यमुक्ति के समर्थन में विशिष्टाद्वैतवादी "परमं साम्यमुपैति" तथा "मम साधर्म्यमागत:" आदि श्रुतियों को भी उद्धृत करते हैं।[३००] इन श्रुतियों में तथा अन्यत्र भी स्पष्ट रूप से निलय की नहीं अपितु सायुज्य या साधर्म्य की बात कही गई है। इसी प्रकार गीता में भगवान् कृष्ण साम्य का ही कथन करते हैं।[३०१] बृहदारण्यकोपनिषद् में भी सायुज्यमुक्ति का वर्णन मिलता है। व्यवहार में जिस प्रकार अपनी पत्नी को आलिंगन करने वाले पुरुष को न बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, इसी प्रकार यह जीवात्मा परमात्मा के द्वारा आलिंगित होने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का। वह उसका आप्तकाम अकाम और शोकशून्य रूप होता है। इसके अतिरिक्त विष्णुपुराणादि में ऐसे वचन मिलते हैं जिन्हें विशिष्टाद्वैतवादी, ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव का खण्डन करके समता के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए प्रस्तुत करते हैं।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार मुक्त आत्मा कर्म के अधीन नहीं रहता। इसी अर्थ में उसे स्वराट् कहा गया है।[३०२] रामानुज के अनुसार मुक्तात्मा में, सांसारिकता का उच्छेद हो जाने पर, केवल ब्रह्म के गुणों का समावेश होता है। वह अपने पूर्ववत् यथार्थ स्वरूप में ही रहता है, उसमें किसी प्रकार का नया विकास नहीं होता।[३०३]

गीता का कथन है कि कर्मों की उन्नति से प्राप्त स्वर्ग जीवात्मा के कर्म

---

२९८. ब्रह्मणो भाव: न तु स्वरूपैक्यम्।

२९९. समानात्मगुणयोगित्वम्।—न्यायसिद्धान्त, पृ० ३३३

३००. (क) मुण्डकोपनिषद् ३.१.३
(ख) श्रीमद्भगवद्गीता, १४.२

३०१. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण:—श्रीमदभगवद्गीता, ९.३४

३०२. कर्मवश्यो न भवतीत्यर्थ:।—श्रीभाष्य १.१.१, श्रुतप्रकाशिका, पृ० ४९

३०३. अयं प्रत्यगात्मा अर्चिरादिना परं ज्योतिरूपसंपद्य यं दशाविशेषमापद्यते, स स्वरूपाविर्भाव: ना पूर्वाकारोत्पत्ति रूप:।—श्रीभाष्य ४.४.१

फलों के नष्ट हो जाने पर छूट जाता हैं और पुनः इस सांसारिक व्यूह में फँसना पड़ता है।[३०४] किन्तु जो भक्ति से ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करता है, उसे ब्रह्म प्राप्त हो जाने पर न केवल ब्रह्म का मैत्रभाव (योग) ही उपलब्ध होता है, अपितु उसका पुनः जागतिक संसरण भी नष्ट हो जाता है।[३०५]

रामानुज के अनुसार मुक्तात्मा सत्यसंकल्प बन जाता है।[३०६] किसी पदार्थ को वह संकल्पमात्र से ही प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मानन्द के भोगार्थ इच्छानुसार अनेक शरीर धारण करने में सक्षम होता है और उनका त्याग करने में भी।[३०७] इस प्रकार जीवात्मा मोक्ष की अवस्था में स्वशासी हो जाता है। रामानुज का मत है कि मुक्तात्मा दो अंशों को छोड़कर प्रायः अन्य सभी रूपों में ब्रह्म के समान हो जाता है, मुक्ति की अवस्था में ब्रह्म के जिन दो गुणों को जीवात्मा नहीं प्राप्त कर पाता, वे ये हैं–प्रथमतः जीवात्मा ब्रह्मवत् विभु नहीं हो पाता, वह अणु परिमाण वाला ही रहता है। दूसरे जीवात्मा को, ब्रह्म की जो विशेष शक्ति है, जगत् सृजनात्मक रूप वह शक्ति प्राप्त नहीं हो पाती।[३०८]

मोक्षावस्था में रामानुज आत्माओं की अनेकता को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके अनुसार आत्माओं का यह अनैक्य गुणात्मक न होकर गणनात्मक ही होता है। गुणात्मक दृष्टि से सभी आत्माएँ ब्रह्मानन्द का समान रूप में भोग करने के कारण समान है।

सांख्यवेदान्त, प्रभृति दर्शनों द्वारा स्वीकृत सशरीर जीवन्मुक्ति की अवधारणा को आचार्य रामानुज मान्यता नहीं देते हैं। रामानुज के अनुसार शरीर ही बन्धन का कारण है।[३०९] अतः सशरीर मोक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता कर्मरूप अविद्या का हेतु सशरीरत्व ही है, अतः कर्मरूप अविद्या को निवृत्ति के लिए

---

३०४. अल्पस्थिर स्वर्गादीनभूय पुनः पुनर्निवर्तन्ते।।–गीता, रामानुज भाष्य ९.२१
३०५. तेषांनित्याभियुक्तानां मत्प्राप्तिलक्षणं योगपुनरावृत्ति रूपं क्षेमं बहामि च।
–पूर्वोक्त ९.२२
३०६. अतो मुक्तस्य सत्यसंकल्पत्वं परमपुरुषः साम्यश्च।–पूर्वोक्त, श्रीभाष्य ६१.४.२०
३०७. अतएव संकल्पात् उभयविषयम् सशरीरमशरीरं च मुक्तं।–पूर्वोक्तैव ४.४.१२
३०८. जगत्व्यापारो निखिल चेतनाचेतन स्वरूपस्थितिपूर्वातिभेदनियम्नेषु, तद्वर्णनिरस्त-निखिलतिरोधानस्य निर्व्याज ब्रह्मानुभयरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम्।–पूर्वोक्तैव ४.४.१७
३०९. यतः सशरीरत्वं बन्धः।–पूर्वोक्तैव १.१.४

शरीरपात आवश्यक है। रामानुज सशरीरमुक्त हो जाने की बात कहना ''मेरी माता बन्ध्या है'' कहने के समान सर्वथा अविश्वसनीय एवं उपहास्य मानते हैं।[३१०] वे अपने मत की पुष्टि में ऐसे युक्ति वचनो को भी उद्धृत करते हैं जिनमें जीवन्मुक्ति का स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है।[३११]

पंचाग्नि ज्ञाताओं के जिस ज्ञानमार्ग को आचार्य रामानुज ने कैवल्य की संज्ञा दी है, उसे कुछ विचारकों ने कैवल्यरूप मोक्ष माना है।[३१२] उनके अनुसार कैवल्यमोक्ष को परमपदवत् स्वीकार किया गया है, किन्तु ब्रह्मापेक्षित न मानकर स्वात्मानुभवमात्र माना है और उस अवस्था में जीवात्मा की स्थिति को इस प्रकार बताया है, जिस प्रकार मानों पति (ब्रह्म) व्यक्त कोई भार्या हो।[३१३]

किन्तु विशिष्टाद्वैत के मूर्धन्य विद्वान् वेदान्तदेशिक ने ऐसी धारणाओं का प्रबल रूप से खण्डन किया है और बताया है कि यह मोक्ष रामानुजानुमोंदित नहीं है। वरदविष्णु मिश्र ने भी कहा है कि भगवत् प्राप्ति के प्रतिबन्धक सम्पूर्ण कर्मों के क्षय के अभाव से स्वात्मानुभव मात्र मोक्ष कैवल्यमोक्ष नहीं माना जा सकता। अतः जीवन्मुक्ति रूप या ब्रह्म सम्पृक्त रूप स्वात्मानन्दानुभव मात्र कैवल्यमोक्ष नहीं है।

वेदान्तादि दर्शनों द्वारा विहित जीवन्मुक्त आत्मा को रामानुज गीता के आधार पर स्थितप्रज्ञ की संज्ञा देते हैं। ऐसी अवस्था में जीव सभी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है तथा आत्मलाभ होकर स्वात्मानन्द का उपभोग करता है।

मुक्ति के साधन–

रामानुजाचार्य ने अद्वैतवाद के ज्ञानमात्रीय मोक्ष साधन-सिद्धान्त का प्रत्याख्यान कर भक्ति को मोक्ष का साधन स्वीकार किया है। उसकी भक्ति केवल भावुकता नहीं है प्रत्युत वह ज्ञान व कर्म का संवलित रूप है। कदाचित् रामानुजीय सम्पूर्ण दर्शन भक्ति की भित्ति पर ही अवलम्बित है। इसलिए भक्ति का उनके दर्शन में विशेष रूप से निरूपण हुआ है। जैसा कि अभी कहा गया है कि मात्र भावुक भक्ति ही उनके लिए मोक्ष का साधन नहीं है। उनका ज्ञान और कर्म योग से

---

३१०. सशरीररस्यैव मुक्ति इतिचेत् माता मे बन्ध्येतिवत् असंगतार्थ वचः।–पूर्वोक्तैव
३११. तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।–छान्दोग्य उप० ६.१४.२
३१२. बलदेव उपाध्याय–सम्पादित न्यायसिद्धान्ताँजलि की भूमिका, पृ० १८
३१३. ज्ञानकर्मानुग्रहीतं भक्तियोगम्।–पूर्वोक्तैव भूमिका।

संवलित होना आवश्यक है। अद्वैत दर्शन में कर्म और भक्ति अविद्या प्रेरित तथा अपरमार्थिक सगुण ब्रह्म की अनित्य प्राप्ति के साधन कहे गये हैं। किन्तु रामानुज के दर्शन में भक्ति का सम्पूर्ण महत्व है। कर्म सम्बन्धी मीमांसा भी मोक्ष के लिए उतनी ही आवश्यक है जितना कि ज्ञानयोग। रामानुजीय दर्शन में भक्ति का ज्ञान और कर्म से समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान की परमोत्कृष्टता ही भक्ति का उपादान है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भक्ति ज्ञानावस्था विशेष ही है।

मोक्ष की प्राप्ति हेतु किये गए प्रयासों में कर्मों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि ये जीवात्मा में गुणों के संसर्गों से कर्तृत्व प्रकाशित करते हैं, किन्तु स्वफलाधान के कारण वे जीवात्मा के बन्धन के हेतु बनते हैं। इसलिए रामानुज के अनुसार वे भी बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने में विशेष स्थान रखते हैं। यद्यपि जीवनकर्म किये बिना साध्य नहीं तथापि मोक्ष के साधनभूत निष्काम कर्मभाव पर बल दिया गया है। रामानुज के अनुसार निष्काम कर्म ज्ञान की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। क्योकि असम्यक् रूप से किये गए कर्म जीवात्मा के बन्धन के हेतु बनते हैं। इसलिए प्रत्येक साधक को निष्काम भाव से कर्मों को करना चाहिए। यद्यपि मात्र निष्काम कर्म के द्वारा मोक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि--तमेवविदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय''--आदि श्रुतियों में (ब्रह्म) ज्ञान को मोक्ष का साधन बताया गया है। किन्तु जैसा कि अभी कहा गया कि निष्काम कर्मों के द्वारा रामानुज के अनुसार ज्ञान हेतु पृष्ठभूमि तैयार होती है।[३१४] विशिष्टाद्वैत के अनुसार ज्ञानोद्भव तभी सम्भव है, जबकि चित्त में सत्वगुण की अभिवृद्धि है। पूर्वकृत पाप-पुण्यों के भोग रूप के कारण जीवात्मा में रज और तमोगुण की परिवृद्धि रहती है, जो निष्काम कर्मों से ही नष्ट हो पाती है। इस प्रकार निष्काम कर्म सत्वगुणोद्रेक कर चित्त शुद्ध करते हैं। जिसमें ज्ञान-निष्ठा समस्त इन्द्रियों तथा मन के शब्दादि विषयरूप से बने व्यापारों के परित्याग से ही सिद्ध होती है।[३१५] विविध सकाम व्यापारों का त्याग निष्काम भाव है। निष्काम भाव की उद्भावना के लिए प्रकृति-जन्य अहंकार से निवृत्ति परमावश्यक है। अहंकार के कारण ही जीवात्मा अपने को सम्पूर्ण सांसारिक क्रिया कलापों का कर्ता एवं भोक्ता समझता है[३१६] इसलिए कर्तव्य में निष्काम भाव लाने के लिए

---

३१४. कर्मयोगे ज्ञानस्यैव प्राधान्यं चोच्यते।--पूर्वोक्तैव, भूमिका, १.४०

३१५. ज्ञाननिष्ठासकलेन्द्रियमनसां शब्दादि विषयव्यापारापरतिर्निष्पाद्यः।--पूर्वोक्तैव ३.३

३१६. प्रकृतेर्गुणेसत्वादिभिः स्वानुरूपं क्रियमाणानि।
कर्माणि प्रति अहंकार विमूढ़ात्माहं कर्तेति मन्यते।।--पूर्वोक्तैव ३.२७

अहंकार त्याग अपरिहार्य है। निष्काम कर्मों के द्वारा शुद्ध हुए चित्त से जीवात्मा ईश्वर के साथ अपने परमार्थ सम्बन्ध को देखता है। निष्काम कर्मयोगी के जो केवल नित्य-नैमित्तिक और फलसंगरहित काम्य कर्मों को करता है—पूर्वकृत रूप संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। और प्रारब्ध के नष्ट होने तक वह देह को धारण किये रहता है। क्रियमाण कर्म फलनिस्संगता के कारण निष्प्रभावी हो जाते हैं—तस्मात् भावी बन्धन के हेतु नहीं बनते। मुमुक्षु तब ही कर्मयोगी होता है जब वह सुख-दुःख, लाभ-हानि, और जय-पराजय में समत्व भाव वाला हो जाता है। ऐसे जीव को गीता के आधार पर रामानुज स्थितप्रज्ञ की संज्ञा देते हैं।

इस प्रकार कर्मयोग जीव के कल्मष को प्रक्षालित करता हुआ ज्ञानयोग के आविर्भाव के द्वारा साक्षात् रूप से भक्ति का उत्पादक होता है।[३१७] अतः कर्मयोग एवं भक्ति का ज्ञान के साथ कहीं भी विरोध या प्रतिकूल्य नहीं रहता।

ज्ञानयोग भक्ति का परम साधन एवं मूल है। तभी शास्त्रों में उस परम सत्ता को निदिध्यासितव्य कहा है। किन्तु रामानुज उसकी एकान्त साधनता को अस्वीकार कर उसे मुख्यसाधनभूता भक्ति का सहायक स्वीकार करते हैं। कर्मयोग से निर्मल हुए अन्तःकरण द्वारा ईश्वर को अपना शेष (आधार) रूप जान लेने पर प्रकृति से व्यतिरिक्त होकर आत्मचिंतन ही ज्ञानयोग है।

सत्वोद्रिक्त अन्तःकरण के द्वारा जीव सर्व प्रथम आत्मज्ञान प्राप्त करता है। अपने अणुत्व एवं अल्पज्ञत्वादि को समझता है, और विभु ईश्वर की अपरिसीमता एवं अनन्तता ही जानकर अपने को उसी पर निर्भर मानता है और उसके प्रति आसक्तिभाव से परिपूर्ण हो उठता है।

कर्मों के प्रति अनासक्तिभाव ज्ञान की प्रथमावस्था है। इस अवस्था में साधक आत्मा को शरीर एवं इन्द्रियों से व्यतिरिक्त अनुभव करता है और अपने गंतव्य रूप ईश्वर को समझने लगता है। उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि वह परमात्मा ही उसका आधार है। इसी के साथ उसका नित्य एवं पारमार्थिक सम्बन्ध है—यह प्रकृति उसका आधार है। अतः यह सम्बन्ध त्याज्य है। ऐसा ज्ञान जागतिक निस्सारता को परिपुष्ट कर साधक को विषयोपभोग एवं सकामता से विमुख करता है। इस प्रकार प्रकृति के साथ अपने औपाधिक सम्बन्ध की तथा परमात्मा के साथ सत्य सम्बन्धों की, जो भिन्न-भिन्न रूपों में है—शरीर-शरीरी,

---

३१७. अयं तु जीवगतकल्मषापनयन द्वारा ज्ञानयोगमुत्पाद्य तद् द्वारा साक्षाद्वाभक्ति उत्पादको भवति।—यतीन्द्रमत, पृ० ६२

अंश-अंशी, प्रकार-प्रकारी एवं शेष-शेषी इत्यादि–अनुभूति होने लगती है। इस अनुभूति के अनन्तर जीवात्मा को–"अहं ब्रह्माऽस्मि" रूप अक्षय ज्ञात होने लगता है। वह स्व-आधारभूत परमात्मा के प्रति स्नेहस्निग्ध हो समर्पित हो उठता है और उसका निरन्तर ध्यान मनन करने लगता है। उसका अंहकार समाप्त हो जाता है। उसे समस्त जगत् ब्रह्मरूप भासने लगता है। उसके सारे कार्य परमात्मा को समर्पित होकर होते हैं। उसमें वैराग्य व्याप जाता है। ऐसा होना जहाँ ज्ञान का उत्तर रूप है वहीं उच्चतम भक्ति का भी स्वरूप यही है। इस प्रकार ज्ञान भक्ति का और भक्ति ज्ञान के सहायक होते हैं।

जब साधक सर्वज्ञविशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा के साथ अपने नित्य और आधाराधेय सम्बन्ध को जान लेता है, तो उसके हृदय में तदाश्रय (मोक्ष) पाने की कामना बलवती हो उठती है। उस अपने परम गन्तव्य का अनुरागाप्लावित होकर निरन्तर ध्यान रूप सेवन अर्थात् भक्ति करता है।[३१८] उस ध्यान से न केवल परमात्मा ही प्रसन्न होता है, अपितु साधक को भी एक अनिर्वचनीय सुख की प्राप्ति होती है।[३१९] उसका यह ध्यान या स्मृति रूप मनन तैलधारा की भाँति अविच्छिन्न और अबाधगति वाला होता है।[३२०] ऐसी अवस्था में परमात्मा के प्रति एकाग्रीकृत ध्यान वाले उसे साधक को अन्य कोई भी विचार बाधा नहीं देता समस्त कर्मों को बिना फल की कामना किये परमात्मा को समर्पित करके वह साधन सम्पन्न करता है और आत्मानुभव रूप आनन्द का पान करता है तथा उसके साथ अपने सम्बन्ध का परीक्षानुभव करता है।

आचार्य रामानुज के द्वारा भक्ति के सात साधन माने गये हैं, जिनके द्वारा मन निर्मल होकर परमात्मा का ज्ञान करने में सक्षम होता है।[३२१]

(१) **विवेक**–शारीरिक शुद्धता हेतु जाति, आश्रय और निमित्त-दुष्ट-भव्य पदार्थों का त्याग कर सात्विक पदार्थों का भक्षण विवेक रूप साधन है।

---

३१८. स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते। गीता, रामानुज भाष्य ७.११

३१९. परमपुरुषः स्वेनैव स्वयमनवधिकातिशयसुखस्सन् परस्यापि सुखं भवति। ब्रह्म यस्य ज्ञान विषयो भवति ससुखी भवतीत्यर्थः।–वेदार्थ संग्रह, पृ० ६१

३२०. तैलधारावद्–अविच्छिन्नस्मृतिसन्तानस्यम् ।–श्रीभाष्य १.१.१, पृ० ५५-५६

३२१. विवेकविमोकादिसाधनसप्तकानुगृहीतपरमात्मीयासुनिर्मल कृतेन हि मनसा गृह्यते ।–पूर्वोक्तैव १.१.१

(२) **विमोक**–काम क्रोधादि अर्थात् दुर्विकारों का परित्याग विमोक है।

(३) **अध्यास**–कल्याण गुणपरिकर परमात्मा रूप आश्रय का पुनर्पुन: संशीलन अध्यास कहलाता है।

(४) **क्रित्या**–यथाशक्ति पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान भक्ति का क्रिया-रूप साधन है।

(५) **कल्याण**–नैतिक और परहितकारी सत्यार्जव, दया, दान, अहिंसा रूप सद्गुणों का आत्मस्थापन कल्याण साधन है।

(६) **अनवसाद**–दैन्यादि हीन भावों का परित्याग अवसाद कहलाता है।

(७) **अनुद्धर्थ**–सुख-दु:ख की अतिशयानुभूति का परित्याग भक्ति का अनुद्धर्थ रूप साधन है।

इन सात साधनों से सम्पन्न साधक ब्रह्म का अपरोक्षानुभव करने में सक्षम होने लगता है।

भक्ति की क्रमिकावस्था को दृष्टिपथ में रखकर भक्ति को तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, साधन भक्ति या उपाय भक्ति, द्वितीय पराभक्ति, तथा तृतीय परमभक्ति।

साधन भक्ति में मुमुक्षु शम-दमादि के द्वारा अपने मन और बुद्धि आदि को निर्मल करने का प्रयास करता है, क्योंकि चित्त शुद्धि के द्वारा ही उसे वह ज्ञान उपलब्ध हो सकता है, जो उसकी आत्मा के स्वरूप की ओर परमात्मा के स्वरूप की तथा उस परमानन्द के साथ उसके यथार्थ सम्बन्ध को उद्घाटित करने में सक्षम होता है।

इस प्रकार की भक्ति में अनुरक्ति और अभिलाषा की अपेक्षा ज्ञान का आधिक्य होता है, कहा जा सकता है कि साधक विवेकोन्मुखी होता है। अर्थात् जिसमें साधक अपने ईश्वर के मध्य के सम्बन्ध के याथार्थ्य एवं प्रकृति और अपने मध्य के सम्बन्ध का जो अयाथार्थ्य है, उसे समझता है। ऐसी भगवदनुरक्ति की अवस्था को साधन या उपाय भक्ति कहते हैं। इस प्रकार की भक्ति में साधक परमात्मा के अस्तित्त्व में एक दृढ आस्था रखता है। यह आस्था तब और अधिक प्रबल हो उठती है, जब साधक वैदिक यज्ञों के प्रभावों सहित सभी प्रकार के पदार्थों की नश्वरता को समझ लेता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि साधन भक्ति में ज्ञानातिशय ही होता है। तथापि इसमें साधक उस परमसत्ता

की सन्धान के प्रति और अधिक जिज्ञासु होकर शम-दमादि के मध्य के पदार्थ सम्बन्ध के उदित हो जाने पर उसके प्रति अनुरक्त हो उठता है। इसलिए इसे भक्ति की भी संज्ञा दी जाती है। अर्थात् कहा जा सकता है कि ज्ञानातिशय प्रधान भगवदनुरक्ति ही साधन या उपाय भक्ति है।

भक्ति योगी के लिए परमात्मा प्रत्येक अवस्था में सर्वोच्च माना जाता है, तथा आत्मज्ञान को परमात्मज्ञान का एक साधन स्वीकार किया जाता है। क्योंकि आत्मज्ञानान्तर और परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध की प्रतीति हो जाने पर परमात्मा आराध्य हो जाता है। यह एक अलग बात है कि उसकी आराधना साधक निर्लिप्त कर्मों के द्वारा करता है अथवा एक दिव्य ज्ञान के अन्वेषण के लिए प्रयाशा करता है। दोनों अवस्थाओं में वह भक्ति ही है क्योंकि भक्ति का अभिप्राय या शब्दिक अर्थ है–सेवन या आराधना करना। वस्तुत: आत्मज्ञानान्वेषण और परमात्मज्ञानान्वेषण भक्ति के दो रूप हैं, क्योंकि शम-दमादि के निरन्तर अभ्यास से साधक का चित्त निर्मल होता है और उस निर्मल चित्त के द्वारा तैलधारवत् अपरिच्छिन्न चिन्तन या मनन के द्वारा परमात्मा का अन्त: दर्शन या अन्त: अनुभव करता है और उसी अवस्था में उपाय भक्ति में परिणत हो जाती है, तदनन्तर पराज्ञानावस्था की प्राप्ति होकर आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान के समन्वय से परमाभक्ति की गहनता को प्राप्त कर लेती है। इस अन्तरावस्था में साधक परमात्मप्रेम तथा पद अभिलाषा से आप्लावित हो उठता है, और समस्त जागतिक पदार्थ या विषयों से उदासीन होकर एकमात्र परमात्मा की अनुकम्पा और सान्निध्य प्राप्ति के लिए समुत्सुक हो उठता है। परमाभक्ति की अवस्था में भक्त अपने सभी कर्मों को परमात्मा को अर्पित करके अपने हृदय को उसमें संन्यस्त कर देता है।[३२२] सभी अतिरिक्त विचारों का त्याग कर एकमात्र उसी की शरण में अपने को अर्पित कर देता है और वह परमात्मा उन सभी व्यवधानों को नष्ट कर देता है जो भक्तिकाल में सत्यविरोधी होते हैं।[३२३]

आचार्य रामानुज यथार्थवादी दृष्टिकोण रखते हैं। उनके मतानुसार जीव और ब्रह्म में कदापि साम्य नहीं है। रामानुज के मतानुसार यद्यपि जीव ब्रह्म का ही अंश है, या उसका विशेषण है, तथापि वह अपने अंगों य विशेष्य के समान नहीं है,

---

३२२. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्त मत्पर:।
बंद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित: सतत् भव ।।–गीता १८.५७

३२३. अहं त्वं सर्वपापेभ्यो यथोदितस्वरूपभक्तयारम्भेविरोधिभ्य: ।–गीता १८.६६

वह उसमें अभिन्न होकर भी अपने स्वरूप से उससे भिन्न है। इसलिए मोक्ष कोई ज्ञानावस्था का विशेषण न होकर एक सहज उपलब्धि है जो विभिन्न प्रयासों के अनन्तर उपलब्ध होती है। रामानुज ने जीव के कर्तृत्व भोक्तृत्व को सत्य माना है। हाँ, ये कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि गुण अनित्य तो अवश्य है, किन्तु संसरण या जागतिक सम्बद्धता में वे सर्वथा जीव के कर्म है। इसलिए रामानुज दार्शनिक कर्मों की शुद्धता पर भी उतना ही बल देते हैं जितना कि मोक्ष के लिए ज्ञानोद्बुद्धता पर। रामानुज के अनुसार जहाँ कर्म और ज्ञान मोक्ष की साधानभूतता के अंग है, वहाँ भक्ति, जो इन दोनों के परिणामस्वरूप अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होती है, भगवत्प्राप्ति में एकमात्र साधन होती है। रामानुज की भक्ति केवल-भावुक मन की उड़ान या समत्वता का उन्माद नहीं है। रामानुज के अनुसार वह ज्ञानावस्था का सर्वोत्तम स्वरूप है, जिसके उपरान्त जीवात्मा सबके अनित्यत्व और संलक्ष्य मानता है और उसके चरणों में अवनत होकर किंकरभाव से उसके समक्ष उपस्थित होकर उसकी प्रसाद रूप कृपा की कामना करता है। रामानुज ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष ज्ञानमात्र नहीं मानते। उनके मतानुसार परमात्मा हेय प्रत्यनीक होकर असंख्य कल्याणगुणगुणाकर है। अतः उस परमात्मा की उपलब्धि में वे परमात्मा की कृपा की भी अपेक्षा करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि शंकराचार्य का ब्रह्म एकमात्र जीवात्मा के प्रयत्नानन्तर लब्ध ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त है, किन्तु रामानुज की दृष्टि में मोक्ष प्राप्ति भगवत् कृपा पर भी उतनी ही आश्रित है।[३२४] जितनी जीवात्मा के द्वारा उसके लिए किए गए प्रयासों पर आश्रित है। परमात्मा अपनी कृपा के द्वारा मुमुक्षु को उपाय बुद्धि प्रदान करते हैं।

रामानुज का विचार है कि प्रथम तो निर्विशेष ब्रह्म किसी भी प्रकार हमारे ज्ञान का विषय बन ही नहीं सकता, क्योंकि अनुभूति कदापि निर्विषया नहीं हो सकती। अतः परब्रह्म जो एकमात्र ज्ञानस्वरूप है किस प्रकार हमारे ज्ञान का विषय बन सकता है। शंकर द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड को अविद्या का प्रपंच बताकर मिथ्या की संज्ञा दे देने से सभी शास्त्रादि को मिथ्या कर दिया गया है। तस्मात् शंकराभिमत 'तत्त्वमसि' और ''अहम् ब्रह्मास्मि'' आदि श्रुतिपरक वचन को, जिन्हें वे जीव और ब्रह्म को अभेदता के ज्ञान की निष्पत्ति में एक बहुत बड़ा

३२४. एकमेव सप्रसादो अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योमिरूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिपद्यते। —४.४.२

योगदान मानते हैं, किस मात्र शब्दार्थज्ञान से मोक्ष के प्रदाता हो सकते हैं? वाक्यार्थ ज्ञान से कथमपि अज्ञान निवारण और उस तथाकथित अज्ञाननिवारण से मोक्ष की सम्मति नहीं हो सकती। रामानुज कहते हैं कि वाक्य या वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से ब्रह्मभाव की सिद्धि नहीं हो सकती। (जैसा देखा भी यही जाता है कि बड़े-बड़े वाक्यार्थ ज्ञानियों में भी भेद दर्शन की अनुवृत्ति बनी ही रहती है। यदि वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से ब्रह्मभाव की सिद्धि सम्भव भी हो जाये तो श्रवण), मनन आदि शास्त्रीय विधि व्यर्थ हो जायेगी। अतएव तत्त्वमसि प्रभृति वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से बन्धनमुक्ति नितान्त असम्भव है। यद्यपि मिथ्यात्व बन्धन ज्ञान के द्वारा ही बाध्य है, किन्तु बन्धन अपरोक्ष है, परोक्षरूप वाक्यार्थ ज्ञान से यह निवार्य नहीं है। रज्जु आदि में प्रत्यक्ष सर्पमय होता है। ''यह सर्प नहीं रज्जु है'' ऐसे प्रामाणिक व्यक्ति के कथन मात्र से भय की निवृत्ति नहीं देखी जाती, क्योंकि भीत व्यक्ति के समक्ष तो सर्प की ही प्रवृत्ति रहती है। उक्त आप्तवाक्य तो अप्रत्यक्ष सर्प का विपरीत ज्ञान मात्र ही है। भय की निवृत्ति का कारण प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु के यथार्थज्ञान पर आधृत होता, जैसा कि रज्जु को सर्प मानकर भयभीत पीछे हटा हुआ व्यक्ति ''यह सर्प नहीं रज्जु है''।[३२५] आप्तपुरुष के इस कथन से वस्तु को यथार्थ रूप में देखने को प्रवृत्त होता है उसको भलीभाँति देखकर ही भय से निवृत्त होता है, केवल कथन मात्र से नहीं। इसलिए शब्द को भी प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पादक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्म अतीन्द्रिय तत्त्व है, जबकि जितने भी ज्ञान के साधन है उनमें केवल इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष ज्ञान की साधन है। निष्काम कर्मानुष्ठान से निर्मल मन, श्रवण, मनन निदिध्यासन से विषय पराङ्मुख पुरुष का ज्ञान भी वाक्यार्थ से ही हो सकता है।[३२६] रामानुज का मत है कि जगत् भी उतना ही सत्य है जितना कि जीवात्मा। दोनों ही उस अखण्डैक- रस परमात्मा के प्रकार का अंश है। तस्मात् दोनों ही उस प्रकारीवत् सत्य है। अतएव अज्ञान जगत् का नहीं है। अज्ञान है कर्मासक्ति का। इसलिए जीवात्मा कर्म और कर्मभोगों के अयाथार्थ्य को यदि समझ लेता है और उन्हें अनासक्त भाव से सम्पादित करता है तो उसके मानस में प्रारब्ध के द्वारा सम्भूत अज्ञानात्मक एवं सम्मोहात्मक राजस ओर तामस गुणों का उच्छेद होने से सत्वगुणों का उद्रेक होगा और उसको जागतिक अपरमार्थता का ज्ञान तथा परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध का बोध

३२५. न च वाक्यात् वाक्यार्थज्ञानमात्रेण ब्रह्म-भावसिद्धिः अनुपलब्धे विविधभेददर्शना-नुवृत्तेश्च।-श्रीभाष्य १.१.४

३२६. पूर्वोक्तैव, श्रीभाष्य १.१.४

करायेगा। इस ज्ञान और बोध के अनन्तर जीवात्मा उस एकमात्र अपने संलक्ष्यभूत परमात्मा के प्रति समर्पित हो सकता है। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग और समर्पणमूलक भक्तियोग के समन्वय के बिना कथमपि मोक्ष की उपलब्धि सम्भव नहीं।

अद्वैतवेदान्त में मोक्ष किसी नवीन वस्तु या अवस्था की उपलब्धि नहीं माना गया है, किन्तु रामानुज इस सिद्धान्त से विरोध रखते हैं। उनके मतानुसार परमात्मा का प्रकारभूत जीव कर्मों के ब्यूह में फँसने के कारण अपनी उक्त परमार्थता खो बैठता है। उसकी उपलब्धि उसकी परम सुगमता एवं त्रिगुणमूलक जगत् से व्यतिरिक्त होने से एक अपूर्वावस्था की उपलब्धि मानी जायेगी।

शंकरवेदान्त में जिस अविद्या निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है उसके विषय में रामानुज और उनके अनुयायियों ने अनेक प्रकार की शंकाएँ प्रकट की है। अद्वैतमत में जहाँ ब्रह्मैक्यवाद स्वीकार किया गया है वहीं जीवेक्यवाद भी माना गया है, क्योंकि एक ही ब्रह्म अवद्यिा के कारण समस्त शरीरों में अन्तःकरणावच्छिन्न होकर विचरण कर रहा है। अद्वैतवादी मानते हैं कि उस अविद्या की निवृत्ति मोक्ष है। इस पर रामानुज विप्रतिपत्ति करते हुए प्रश्न करते हैं कि तब तो एक के मुक्ति होने पर अन्यों की भी मुक्ति होनी चाहिए और यदि यह कहा जाये कि अन्यों के मुक्त न होने के कारण अविद्या बनी रहती है तो इस पर रामानुज आपत्ति करते हैं कि तब तो एक की भी मुक्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि बन्ध का मूलभूत कारण अविद्या बनी हुई है।[३२७] यदि यह कहें कि प्रत्येक जीव की अविद्या पृथक्-पृथक् है, जिसकी अविद्या का नाश होगा, वह मुक्त होगा और जिसकी बनी रहेगी, वह बद्ध रहेगा, तो इस पर द्रष्टव्य है कि इस प्रकार का भेद स्वाभाविक है या कल्पित।

यदि यह कहा जाए कि वह भेद स्वाभाविक है तो जीवों के भेद के लिए जो अविद्या की कल्पना की गई है वह व्यर्थ हो जायेगी[३२८] और यदि कहा जाये कि अविद्या कल्पित है तो प्रश्न उठता है कि इस भेद की कल्पना करने वाली अविद्या ब्रह्म की या जीवों की ? यदि ब्रह्म की है तो पुनः एक अविद्या की विनष्टि के अनन्तर सब की मुक्ति होनी चाहिए और यदि यह कहा जाए कि जीवों की है तो जीव अविद्या का आश्रय बनता है। जबकि जीव स्वयं अविद्या

---

३२७. तर्हि एकस्यापिमुक्तिर्न स्यात् अविद्याया अविनष्टत्वात्। -श्रीभाष्य २.१.१५
३२८. भेदसिद्ध्यर्थस्य वाविद्याकल्पनस्य व्यर्थत्वात् ।-वही २.१.१५

के होने पर बनता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा।[३२९] अद्वैतवाद के "अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्ष" विषयक दोषों की गति देते हुए न्यायसिद्धाञ्जकार ने प्रश्न किया है–यदि समस्त भ्रमों अर्थात् अविद्या का उच्छेदन ही मोक्ष है तो वह उच्छेदन भ्रम से सिद्ध होता है या प्रमा से।

यदि समस्त भ्रमों का उच्छेद भ्रम से सिद्ध मानते हैं तो वह भी भ्रम होने के कारण अयुक्तियुक्त होगा, अर्थात् परमार्थ रूप से उच्छेद होगा ही नहीं।[३३०] और यदि उच्छेद को प्रभासिद्ध मानें तो उच्छेदरूपमेय पदार्थ भी सत्य होगा और उस अवस्था में एकमात्र ब्रह्म को सत्य मानने वाला अद्वैत मत ही नष्ट हो जायेगा।[३३१] साथ ही यदि प्रभात्मक ज्ञान से भ्रमपरिकर रूप में अविद्या का उच्छेद होता है तो वह उच्छेद का हेतु प्रभात्मक ज्ञान सप्रकारक होगा, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप के समान निष्प्रकारक ज्ञान से भ्रमपरिकर का उच्छेद हो ही नहीं सकता है तो निष्प्रकारक ब्रह्मस्वरूप भूतज्ञान से परिकर का उच्छेद पहले से ही हो गया होता। और यदि सप्रकारक ज्ञान से उच्छेद स्वीकार करे तो सद्विषयक ब्रह्म भी सद्धर्मक होगा, जैसा कि अद्वैतमत समर्थक अर्थात् अविशेषब्रह्म स्वीकार करने को कदापि तत्पर नहीं है।

जीवन्मुक्ति का प्रात्याख्यान–

अद्वैतवादी मतानुसार वाक्यार्थ ज्ञान द्वारा भ्रमपरिकर के समूलोच्छेद हो जाने पर शरीर रहते हुए भी मोक्ष प्राप्तव्य है। उस जीवन्मुक्ति की अवस्था में मोक्ष का शरीर की उपस्थिति के साथ कोई भी विरोध नहीं है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। उसके लिए देहपात की अपेक्षा अनिवार्य नहीं हे। मोक्ष प्राप्त करने वाले व्यक्ति का शरीर रहता है, क्योंकि वह प्रारब्ध कर्मों का फल होता है। वह शरीरधारी जीवात्मा संसार के प्रपञ्च में नहीं पड़ता न उसे मोह बाधा देता है और न शोक उसे अभिभूत करता है। सुख-दुःख, जय-पराजय सभी जागतिक संगात्मक भावों के प्रति समभाव उदित हो जाता है। संसार की सत्ता उनके जीवन में अवश्य रहती है, किन्तु वह उसके विषय से स्पष्ट नहीं होता। तत्त्व ज्ञान के द्वारा संचित कर्म का नाश तथा संचीयमान या क्रियमाण कर्मों का निवारण हो जाता है, किन्तु प्रारब्धकर्म का नाश भोग की अपेक्षा रखता है। तत्-भोगान्तर जब प्रारब्ध

---

३२९. इतरेतराश्रयत्वम्।–वही

३३०. भ्रान्त्या सर्वसमुच्छेद नोच्छेदस्तत्वतो भवेत्। जीव परिच्छेद।–न्याय सि०, पृ० २८६

३३१. प्रभया त्वयसिद्धान्ताद्वैतभंगादिसम्भवः।–पूर्वोक्तैव

की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है तो देहपात होने पर जीवात्मा पूर्ण मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

किन्तु रामानुज अद्वैत वेदान्त के उक्त सिद्धान्त का सशक्त खण्डन करते हैं। उनकी मान्यता है कि जब तक देहपात नहीं होता, तब्र तक मोक्ष कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि शरीरत्व ही बन्ध है।[३३२] कर्म रूप अविद्या से प्राप्त शरीर संसर्ग का विनाश हुए बिना मुक्ति स्वीकार नहीं की जा सकती। रामानुज का कथन है कि आत्मा का सशरीरी रहते हुए मुक्त हो जाना स्वतो व्याघाती है, क्योंकि बन्ध का तात्पर्य ही आत्मा का शरीर के साथ संसर्ग या सम्बन्ध होना है और मोक्ष का तात्पर्य है उस शरीर रूप बन्धन से सम्बन्ध विच्छेद । अत: यह कहना कि मैंने जीवन्मुक्ति प्राप्त कर ली है ''मेरी माता बन्ध्या है'' कहने के तुल्य है।[३३३] यदि यह कहा जाए कि जीवन्मुक्ति का तात्पर्य इस अर्थ में है कि जीवात्मा शरीर धारण किए होकर भी शरीर के मिथ्यात्व का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।[३३४]

इस पर रामानुज का कथन है कि ''नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर मिथ्या है''–ऐसे ज्ञान से ही सशरीरता की निवृत्ति कैसै हो सकती है? मृत को मुक्ति भी मिथ्यामय शरीरत्वाभिमान की निवृत्ति ही है।

इस प्रकार अद्वैतीय जीवन्मुक्ति के और शरीर के मिथ्यात्व से मुक्त मृत जीवात्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं रह जाता । यदि कहा जाए कि जिसकी सशीरत्व की प्रतीति बाधित होते हुए भी द्विचन्द्र दर्शन के ज्ञान की भाँति अविलुप्त भाव से रहती है, वही जीवन्मुक्त है।[३३५] तो ऐसा कहना भी निरापद नहीं क्योंकि बाधकज्ञान, ब्रह्म से अतिक्ति सभी विषयों से सम्बद्ध होता है। शरीरत्व की प्रतीति और उसकी हेतुभूता अविद्या के कर्मादि दोष भी उस ज्ञान से बाधित होने चाहिए। इसलिए शरीरत्व की प्रतीति को द्विचन्द्र ज्ञान की तरह अनुक्रम नहीं कह

३३२. यत: सशरीरत्वं बन्ध: ।–श्रीभाष्य १.१.४

३३३. संशरीरैव मोक्ष इतिचेत्, ''माता मे बन्ध्या'' इति वदसंगतार्थवच:।
–श्रीभाष्य १.१.४

३३४. अथ सशरीरत्वप्रतिभासे वर्तमाने यस्यायं प्रतिभासो।
मिथ्येति प्रत्यय: तस्य सशरीरस्य निवृत्तिरिति।।–श्रीभाष्य १.१.४

३३५. अथ सशरीरत्वप्रतिभासो बाधितोऽपि यस्य द्विचन्द्रज्ञानवदनुवर्तते, सजीवन्मुक्त इति चेत्।–श्रीभाष्य १.१.४

सकते[३३६] क्योंकि द्विचन्द्र के आभास में द्विचन्द्र का हेतुभूत दोष अपने बाधक द्विचन्द्रकला के ज्ञान का विषय न होने से बना रहता है; और उसकी अनुवृत्ति बनी रहती है। किन्तु आपके मत में तो सशरीरत्व और शरीरत्व मिथ्याज्ञान दोनों की एक साथ बने रहते हैं। अत: उक्त अवधारणा भी युक्ति-युक्त नहीं है।

रामानुज का विचार है कि जीवन्मुक्ति का सम्प्रत्ययन न केवल अयुक्ति-युक्त प्रत्युत् श्रुति विरोध भी रखता है, क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के लिए श्रुतियों में कहा गया है कि तब तक रुकना पड़ता है, जब तक कि उसके शरीर का पतन नहीं हो जाता। छान्दोग्योपनिषद् में स्पष्टरूपेण कहा गया है कि "इस लोक में आचार्यवान् पुरुष ही सत् का ज्ञाता है। उसके लिए मुक्त होने में उतने समय का ही विलम्ब है जितने समय तक कि वह बंधन से मुक्त नहीं हो जाता।[३३७] अत: समस्त भेदों की निवृत्ति रूपा-मुक्ति जीवित रहते हुए कथमपि सम्भव नहीं।[३३८]

रामानुज ने अद्वैत वेदान्त के मोक्ष के ब्रह्मैक्यवादी स्वरूप का प्रत्याख्यान किया है। इनका मत है कि शंकर के अद्वैत में ब्रह्म और माया का द्वैत अत्यन्त कठिन विचार है। माया के सदसत् विलक्षण सिद्ध न होने से उसकी निवृत्ति ही होती प्रतीत नहीं होती क्योंकि यदि वह सत् है और उसकी भावात्मक सत्ता है तो वह सत्य होनी चाहिए और सत्य होने पर मोक्ष प्राप्ति सर्वथा असम्भव हो जायेगी और यदि वह अभावात्मक है तो निषेध का निषेध कर मोक्ष का क्या तात्पर्य रह जाता है।

दूसरे, स्वयं ब्रह्म का जीवभाव और तापत्रयानुभव असंभावित है, क्योंकि ब्रह्म निर्विकार एवं निर्दोष कहा जाता है, ब्रह्म और जीव के विषय को वे पूर्णरूप से अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि जब परमात्मा और जीव में अभेद है ही तो उनका परस्पर विलय किस प्रकार सम्भव है? जीव और परमात्मा में अशांशी भाव है जो मोक्षावस्था को सायुज्यपरक ही सिद्ध करता है, विलयावस्था नहीं। विशिष्टाद्वैतवादियों का मत है कि आत्म विनाशक अद्वैती मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति किस प्रकार मानी जा सकती है? जीवात्मा का स्वत्व ही जिस मोक्ष में

३३६. कारणभूताविद्या कर्मादिदोष: सशरीरत्व प्रतिभासेन सह तेनेव बाधित इति बाधितानुवृत्तिर्न शक्यते वस्तुम्।—वही १.१.४

३३७. आचार्य वान्प्रस्थो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ।
—छा० उप० ६.१४.२

३३८. सकलभेद निवृत्तिरूपा मुक्ति जीवतो न सम्भवति।—श्रीभाष्य १.१.४

समापनीय होगा, उस मोक्ष के प्रति क्या अनुरक्ति एवं प्रयासों की अपेक्षा की जा सकती है?

अद्वैतवादी शंकर का मत है कि मोक्ष दशा में जीवात्मा को अहमर्थत्व की अनुभूति नहीं होती।[३३९] उसका रामानुज खण्डन करते हुए कहते हैं ऐसा कहना तो प्रकारान्तर से आत्मविनाश को ही मोक्ष मानना है।[३४०] क्योंकि अहमर्थत्व केवल धर्म ही नहीं है, जो अविद्या की तरह अहंभाव के अभाव हो जाने पर भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थित रहे, प्रत्युत सूक्ष्म पदार्थ आत्मा का भी स्वरूप है। यथार्थ में या भ्रान्तिवश जो लोग आध्यात्मिक आदि दु:खों से कातर होकर ''मैं दु:खी हूँ, ऐसा अनुभव करते है, वे लोग पुन: ''यह दु:ख प्राप्त न हो ''ऐसा सोच कर मोक्ष प्राप्ति के साधनों में प्रवृत्त होते हैं तो वे लोग मोक्ष की बात को सुनकर ही भाग खड़े होंगे।[३४१] और इस प्रकार कोई मोक्ष का अधिकारी दृष्टिगोचर ही नहीं होगा, और मोक्षोपदेष्टा समस्त शास्त्रों का भी व्यर्थ सिद्ध होगा।[३४२]

यदि कहा जाए कि मोक्षावस्था में आत्मप्रकाश विद्यमान रहता है तो इस पर रामानुज्ञ कहते हैं कि इससे क्या होता है? मैं नष्ट होकर केवल प्रकाशवान् रह जाऊँगा, ऐसा जानकर भी कोई बुद्धिमान् मोक्ष कर्मों की ओर उन्मुख नहीं हो सकेगा।[३४३] अद्वैतवादी वेद ब्रह्मैव भवति इत्यादि श्रुतियों द्वारा मोक्ष में जीव और ब्रह्म के अभेद को सिद्ध करते हैं। किन्तु विशिष्टाद्वैत मत में उक्त श्रुति अभेदत्व का प्रतिपादक न होकर साम्य का कथन करती है। उसकी व्याख्या में विशिष्टाद्वैती कहते हैं–ब्रह्म और जीवात्मा का शरीर-शरीरीभाव के कारण जीव और ब्रह्म में तादात्म्य होता है।

यह तादात्म्य यद्यपि नित्य सिद्ध है किन्तु संशरणावस्था में जीवात्मा को इसका प्रत्यक्षानुभव नहीं होता। सुख-दु:ख मोहात्मिका प्रकृति की कोड़ में नानाविध प्रपञ्चों में आवृत्त जीवात्मा अपने शरीरीभूत परमात्मा के साथ आत्म

---

३३९. यस्तु मोक्षदशायां अहमर्थी नानुवर्तते।–श्रीभाष्य १.१, पृ० १७०

३४०. तथासति आत्मनाश एवापवर्ग: प्रकारान्तरेण प्रतिज्ञात: स्यात्।–पूर्वोक्तैव

३४१. स साधनानुष्ठानेन यदि अहमेव न भविष्यामीत्यवगच्छेत,....मोक्षकथाप्रस्तावात् –पूर्वोक्तैव, पृ० १७०

३४२. सर्वमोक्षशास्त्रमप्रमाणं स्यात्।–पूर्वोक्तैव

३४३. अपि नष्टे अपि किमपि प्रकाशमात्रम् अपवर्ग अवतष्ठिति इति मत्वा नहि कश्चिद् बुद्धिपूर्वकारीप्रवर्तते।–पूर्वोक्तैव

सम्बन्ध को भूल बैठता है किन्तु मोक्ष में वह इस तादात्म्य का जो शरीर-शरीरीभाव से ही सम्भव है, प्रत्यक्ष एवं पूर्णानुभव करता है। मोक्षावस्था में नैरन्तर्य के कारण देहात्मभावस्य तादात्म्य का अनुभव भी निरन्तर ही होता रहता है। मोक्ष अविच्छिन्न है, अतः यह परम सूक्ष्मानुभव भी अविच्छिन्न है। जो ब्रह्म तादात्म्य का अनुभव मोक्षावस्था में होता है उसी का कथन करने के लिए–ब्रह्मविद् ब्रह्मैवभवति–इत्यादि वाक्य है। इनका अर्थ यहाँ यही है कि जो साधक ब्रह्म को जानता है, अर्थात् उपासना करता है, वह ब्रह्म के समान बन जाता है, अर्थात् ब्रह्म के तादात्म्य का अनुभव करता है। यहाँ–"एवं" शब्द साम्यवाचक है। न्याय सिद्धांजनकार ने भी कहा है कि यहाँ "एवं" शब्द साम्य अर्थ का वाचक है।[३४४]

श्री भाष्य भी यही सिद्ध करता है कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'– इस श्रुति में वर्णित अभेद गौण है। जहाँ दोनों व्यक्तियों का प्रकार एक है, वहाँ जो अभेद व्यवहार होता है, वह मुख्य ही है, अर्थात् प्रायः मुख्य के समान है, जहाँ दोनों व्यक्ति परस्पर समान है, वहाँ दोनों व्यक्ति एक प्रकार के होते हैं। वहाँ एक यह कहा जाता है कि यह गौ व्यक्ति वह गौ व्यक्ति वहीं है। यहाँ दोनों गौ व्यक्तियों में स्वरूपैक्य हो नहीं सकता; किन्तु प्रकारैक्य होता है; क्योंकि दोनों व्यक्ति एक प्रकार के है। यहाँ दोनों गौ व्यक्तियों में प्रतिपाद्यमान अभेद गौण ही है, मुख्य नहीं है। मुख्य न होने पर भी मुख्य के समान है। ऐसे ही गौण भेद को लेकर "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"–यह वचन है।[३४५]

प्रमुख चार सूत्रों की व्याख्या–

ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार सूत्र अद्वैतवेदान्त, विशिष्टअद्वैत और द्वैतवाद के दर्शन का आधार माने जाते हैं, रामानुज के अनुसार इन चार सूत्रों की व्याख्या निम्नलिखित रूप से की जाती है–

"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा"[३४६] इस प्रथम सूत्र की व्याख्या रामानुज ने इस प्रकार से की है कि 'अथ' का अर्थ है, अभी तक जिन कर्मों का वर्णन (मीमांसा

---

३४४. न्यायसिद्धान्त, पृ० २८९

३४५. भाष्यं च गौणतमामेवाह–"प्रकारेक्ये च तत्त्व व्यवहारो मुख्य एव, यथा सेयं गौः" इति मुख्य एवं मुख्य प्रायः इत्यर्थः। सेयं गौरिति तु व्यक्तिद्वैयक रूप्यपदेशः। अतः सिद्धमीश्वरात् च भिन्न जीवा इति।–न्याय सि० पृ० २९१, जीवपरि १.

३४६. ब्रह्मसूत्र १.१.१

सूत्र में) किया गया है उसको समझ लेने के बाद। वृत्तिकार ने भी इसका अर्थ किया है—'अभी तक वर्णित कर्मों को समझने के बाद ही ब्रह्म को जानना चाहता है।'

'अथ' (इसके बाद) अपने साथ कुछ आकांक्षा रखता है कि किसके बाद? दो मीमांसाओं के बीच में इसका प्रयोग बतलाता है कि ब्रह्म की जिज्ञासा कर्मों की मीमांसा के अनन्तर ही होती है।

'अतः' अर्थात् इसलिए का प्रयोग हेतु के अर्थ में हुआ है। अर्थ होगा—जो व्यक्ति अंगों के साथ वेदों को पढ़ चुका है, वह नश्वर फल रखने वाले कर्मों के सम्पादन से विरक्त हो जाता है, यही कारण है कि स्थिर (अनश्वर) मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है; क्योंकि यही उस (मोक्ष प्राप्ति) का उपाय है। यह स्वाभाविक है कि 'ब्रह्म' शब्द से उस पुरुषोत्तम का बोध हो जो, सारे दोषों से रहित है। अवधिहीन विशेषताओं से युक्त है तथा असंख्य कल्याणकारी गुणों से भरा है। इसका अभिप्राय यह है कि कर्म से प्राप्त स्वर्गादि लोकों की परीक्षा करके वैराग्य प्राप्त होता है। नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का परित्याग किया जाता है, क्योंकि कर्मों का फल नश्वर है, ब्रह्मज्ञान अनश्वर है। ऐसा श्रुतियों में भी कहा गया है।[३४७]

'ब्रह्म जिज्ञासा' का अर्थ करते हुए कहा है कि ब्रह्म का ज्ञान केवल वाक्यों को सुनकर उनका अर्थ समझ लेने से नहीं होता जैसा कि लौकिक ज्ञान में होता है। उदाहरण देते हैं—भूगोल में पढ़ते हैं कि कोलम्बो लंका की राजधानी है और हमें इसका ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म के ज्ञान में ऐसी बात नहीं है। ध्यान, उपासना आदि को ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं, केवल ऊपरी ज्ञान को नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा में किया गया ज्ञान का विधान व्यर्थ ही था। लौकिक वाक्यों में दिये गए ज्ञान के बाद यह नहीं कहा जाता है कि इस वाक्य को जानना चाहिए, विधान नहीं होता है।

तीन प्रकार के तापों को दूर करने के लिए ब्रह्मज्ञान आवश्यक है। ताप अर्थात् तीन प्रकार के दुःख है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

---

३४७. कर्मफलस्य क्षयित्वं ब्रह्मज्ञान फलस्य चाक्षयित्वम्।—सवदर्शन सं०, पृ० १९७
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।। वृ० ४.४.१० तथा ई० ९

आत्मा का यहाँ दो अर्थ हैं–शरीर और अन्तःकरण। शरीर में भूख-प्यास के रूप में धातुओं के प्रकोप से ज्वर होना, अतिसार आदि आध्यात्मिक ताप या दुःख कहलाता है। अन्तःकरण में उत्पन्न काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद, संशय आदि से उत्पन्न कष्ट भी आध्यात्मिक ही है।

भूत-माँ के पेट से जन्म लेने वाले (जरायु-ज) अण्डज; स्वेदज और उद्भिज (वनस्पति) के रूप में चोर, बैरी, सिंह, बाघ, पक्षी, साँप, पेड़-पौधे आदि इनसे होने वाले कष्ट आसधिभौतिक कहलाते हैं।

देव=यज्ञ आदि स्वर्ग के निवासी, हवा, पानी, धूप, शीत, गर्मी, प्रलय आदि इनसे होने वाले दुःख या ताप आधिदैविक कहलाते हैं।

ब्रह्मज्ञान के विषय में सर्वत्र श्रुतियों में यही उपलब्ध होता है कि उस ब्रह्म के जान लेने पर समस्त हृदय ग्रन्थियाँ छिन्नभिन्न हो जाती है।[३४८] इस प्रकार स्पष्ट कहा है कि–"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" अर्थात्=आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। आचार्य रामानुज ने आत्मा के साक्षात्कार के लिए भक्ति को उत्तम उपाय बतलाया है। इस भक्ति के प्रकारों का वर्णन करते हुए कहा है कि विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष के द्वारा युक्त सम्भव एवं निर्वचन के अनुसार होती है। भक्ति की प्राप्ति के ये साधन है, इनमें दो बातें रहती है–सम्भव (युक्ति) अर्थात् प्रत्येक साधन का युक्ति युक्त लक्षण दिया जाता है, तथा प्रत्येक की व्याख्या की जाती है, जो प्रामाणिक वचनों के रूप में रहती है।

द्वितीय सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए, वह ब्रह्म क्या है? ब्रह्म का लक्षण[३४९] किया है–"**जन्माद्यस्य यतः**–जिससे इस (संसार) के जन्मादि होते हैं, जन्मादि का अर्थ है सृष्टि, स्थिति और प्रलय। जन्मादि शब्दों में बहुव्रीहि समास है जो अपने अन्दर स्थित पदों के अर्थों को भी ग्रहण करता है। (जन्माद्यस्य यतः) सूत्र के अस्य पद का अर्थ है–इस अचिन्तनीय-विविध प्रकार की विचित्र रचनाओं वाले तथा निश्चित देशकाल में फल का भोगने का नियम ब्रह्मा से लेकर तृण (स्तम्व) पर्यन्त सभी जीवों जहाँ समान (मिश्र) है, ऐसे जगत् का, **यतः**।

३४८. भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। –मु० २/२/८

३४९. जन्माद्यस्य यतः।–ब्रह्मसूत्र १/१/२

वे सर्वेश्वर, जो सभी त्याज्य गुणों के विरोधी रूप में रहते हैं, जो सत्यसंकल्प आदि अनन्त अतिशयों से युक्त है, असंख्य कल्याणकारी गुणों के भण्डार है, सर्वज्ञ है, तथा सर्वशक्तिमान् है, उन पुरुषोत्तम से सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय–ये सभी प्रवृत्त होते हैं। 'जन्म आदि यस्य तत् में भी तद्गुणसंविज्ञान हैं, क्योंकि ब्रह्म के कार्यों में सबों का ग्रहण हो जाता है, जन्म और आदि दोनों का।

जगत् के दो विशेषण दिए गए हैं–एक में अचित् का विश्लेषण है, दूसरे में चित् का। अचिदंश के विषय में सोचना भी कठिन है कि वह कितने प्रकार का है और कितना विचित्र है। वह जीव की कृति नहीं है कि उसके विषय में कुछ सोच-विचार कर सकें, यह तो ईश्वर की अचिन्त्यशक्ति का मूर्तरूप है। दूसरी ओर निर्देश है जिसमें फलभोग का सर्वसाधारण नियम सभी जीवों में लगा हुआ है, चाहे वह ब्रह्म हो या तुच्छ तृणखण्ड हो, उसे किसी विशिष्ट काल और देश में फल भोगना ही पड़ता है। इस प्रकार, ब्रह्म वह है जिससे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है।

तृतीय सूत्र "शास्त्रयोनित्वात्"[३५०] की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ब्रह्म के स्वरूप को सिद्ध करने के लिए शास्त्र जिसकी योनि अर्थात् कारण या प्रमाण है, वह ब्रह्मज्ञान का कारण है। इस प्रसंग में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि क्या ब्रह्म अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता है? इसके उत्तर में रामानुज का कथन है कि वह ब्रह्म इन्द्रियों की पहुँच के परे हैं, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण की तो वहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। 'समुद्र आदि सकर्तृक है, क्योंकि ये कार्य है' जैसे घट इस प्रकार का अनुमान (जैसा कि नैयायिक लोग ईश्वर की सिद्धि के लिए उपस्थित करते हैं) भी नहीं हो सकता क्योंकि वह पूर्ति-कुष्माण्ड की तरह दूर से ही त्याग करने योग्य है। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त ब्रह्म का प्रतिपादन 'जिससे ये सब दृश्यमान् पदार्थ उत्पन्न हुए हैं।'

समुद्र, पर्वत आदि का निर्माण कोई कर रहा है, ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है, इसलिए कार्यत्व हेतु असिद्ध है। न तो इसे प्रत्यक्ष से सिद्ध कर सकते हैं और न ही अनुमान से इन पदार्थों को कार्य रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि इन पदार्थों का निर्माण एक ईश्वर ने किया होगा यह भी सिद्ध नहीं

---

३५०. शास्त्रयोनित्वात्।–ब्रह्मसू० १/१/३

३५१. शास्त्रं योनि कारण प्रमाणं यस्य तस्य तत्त्छास्त्रयोनि। तस्यभावः तत्त्वं तस्मात्। ब्रह्मज्ञान कारणत्वाच्छास्त्रस्य तद्योनित्वं ब्रह्मणः इत्यर्थ।

–सर्वदर्शन सं० भा०, पृ० २०७

होगा। जीवों में पर्वतादि के निर्माण का सामर्थ्य ही नहीं है। यदि इन पदार्थों के निर्माण कर्त्ता के रूप में ईश्वर को माना जाये तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह ईश्वर शरीरधारी है या शरीरहीन है। यदि शरीरधारी है तो शरीर नित्य है या अनित्य। यदि शरीर नित्य है तो अवयवों से मुक्त ईश्वर नित्य होगा। तो संसार भी नित्य माना जायेगा। इसलिए रामानुज की मान्यता है कि ईश्वर प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध नहीं हो सकता है ब्रह्म की सिद्धि केवल आगम प्रमाण से होती है।

चतुर्थ सूत्र 'तत्तुसमन्वयात्'[३५३] की व्याख्या करते हुए रामानुज ने कहा है कि यद्यपि ब्रह्म को दूसरे प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता, फिर भी यदि शास्त्र प्रवृत्ति और निवृत्ति का संकेत न करें तो सिद्धब्रह्म का प्रतिपादन वह नहीं कर सकता। यदि शास्त्र सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन करता है तो किसी का प्रवर्तक और निवर्तक वह नहीं हो सकता। इसलिए न तो वह सुख की प्राप्ति कर सकेगा, न दु:ख की निवृत्ति ही। बिना प्रयोजन के उसे कौन पढ़ेगा? अत: शास्त्र अप्रामाणिक न हो, इसलिए उसे सिद्धब्रह्म का प्रतिपादक नहीं लेना चाहिए। इस शंका का परिहार करते हुए कहा है कि उस शास्त्र-प्रमाण को तो समन्वय से समझना चाहिए। यहाँ "तु" तो शब्द प्राप्त शंका की निवृत्ति करने के लिए है। तत्=शास्त्र के द्वारा प्रमाणित होना, ब्रह्म के विषय में सम्भव है, पर कैसे ? समन्वय से अर्थात् परम पुरुषार्थ स्वरूप ब्रह्म ही अभिधेय है; (जिनके साथ उनका सम्बन्ध दिखाया गया है[३५४])।

प्रथम सूत्र में ब्रह्म का ही नाम लिया गया है, वही मनुष्यों का अन्तिम लक्ष्य है; यही उद्देश्य है, उसी का सम्बन्ध शास्त्रों के साथ दिखाया गया है। इससे पता लगता है कि सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर भी शास्त्र का प्रयोजन है।

जैसे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति में से किसी एक के न होने से कोई वस्तु निरर्थक हो जाती है। केवल वस्तु स्थिति अथवा स्वरूप का निर्देश करने वाले

---

३५२. तल्लक्षणं 'यतो वा इमानि भूतानि' (तै० २/१/१) इत्यादि वाक्यं प्रतिपादयतीति स्थितम्।–सर्वदर्शन सं० भा०, पृ० २०८

३५३. तत्तुसमन्वयात्।।–ब्रह्मसूत्र १/१/४

३५४. तु शब्द: प्रसक्तशङ्काव्यावृत्त्यर्थ:। तच्छास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मण: सम्भवत्येव। समन्वयात् कतु ? परमपुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयान्वयादित्यर्थ:।

–सर्वदर्शन सं० भा०, पृ० २०९

तत्त्वबोधक वाक्य–जैसे वह पुत्र उत्पन्न हुआ है, यह साँप नहीं है। इस प्रकार के सिद्ध वाक्यों में हर्ष की प्राप्ति तथा भय की निवृत्ति रूपी प्रयोजन होता है तो भी कोई इन्हें असिद्ध नहीं कहता है। इसका तात्पर्य यह है कि सिद्ध वाक्य में भी प्रयोजन होता है।[३५५] इसलिए सिद्धब्रह्म के प्रतिपादन के लिए शास्त्रों में जो प्रवृत्ति एवं निवृत्ति है वह प्रयोजन मूलक है। उनका परस्पर विरोध नहीं है, शास्त्र तथा श्रुतिवाक्यों का उस ब्रह्म में समन्वय होने से ब्रह्म की सिद्धि में परस्पर विरोध नहीं है। इसलिए कहा है कि 'तत्तुसमन्वयात्'' से उस ब्रह्म की सिद्धि उपपन्न होती है।

३५५. न च प्रवृत्ति निवृत्त्योरन्यतरविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वम्।–वही, पृ० २०१

षष्ठ अध्याय

आचार्य मध्व

मध्व को पूर्णप्रज्ञ तथा आनन्दतीर्थ के नाम से भी कहा जाता है। इनका जन्म ११९९ ई० में दक्षिण कनारा जिले में उदीपि के निकट एक गांव में हुआ। ये शीघ्र ही वैदिक ज्ञान के विद्वान् के रूप में विख्यात हो गये तथा शीघ्र ही संन्यास ग्रहण किया। इन्होंने शंकर अद्वैत वेदान्त का प्रखर रूप में प्रत्याख्यान किया। इनको शुद्धद्वैतवादी माना जाता है। इनकी मान्यता है कि ईश्वर और जीवात्मा, ईश्वर और प्रकृति, जीवात्मा तथा प्रकृति, एक जीवात्मा अन्य जीवात्मा, प्रकृति के अन्य अंश के रूप में भेद हैं। इन्होंने विष्णु को परमेश्वर घोषित किया तथा रामानुज द्वारा स्थापित मूर्ति पूजा का विस्तार किया। यज्ञों में पशु हिंसा का घोर विरोध किया।

मध्वाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य तथा भगवत्गीता, उपनिषद् और महाभारत का संक्षिप्त सार जिसे भारततात्पर्यनिर्णय नाम से कहा जाता है। इसी प्रकार ऋग्वेद की पहली चालीस (४०) ऋचाओं पर टीका लिखी है। ये पुराणों को प्रमाण रूप में अधिकतर प्रस्तुत करते हैं। इनके सूत्रभाष्य पर जयतीर्थ का भाष्य है। उस पर व्यासराय ने एक भाष्य लिखा है, जिसका नाम चन्द्रिका है। इन सब ग्रन्थों में अद्वैतवेदान्त का विस्तारपूर्वक खण्डन मिलता है।

ज्ञानमीमांसा–

मध्वाचार्य के अनुसार प्रमाण का विषय होना ही पदार्थ का सामान्य लक्षण है। इनके मत में पदार्थ दस हैं–१. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. विशिष्ट, ७. अंशी, ८. शक्ति, ९. सादृश्य तथा १०. अभाव। यहाँ पर उक्त दस पदार्थों का संक्षेप में निर्देशन करके इस प्रकरण का जो मुख्य विषय है उसका विस्तृत विवेचन किया गया है–

मध्वाचार्य के मत में परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृताकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अंधकार, वासना, काल तथा प्रतिबिम्ब यह बीस (२०) द्रव्य है।

शब्द, स्पर्श आदि तथा आलोक शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गाम्भीर्य, धैर्य, स्थैर्य, औदार्य, सौभाग्य आदि अनेक गुण है।

विहित कर्म, निषिद्ध कर्म तथा उदासीन कर्म--इस प्रकार कर्म के तीन भेद हैं। आचार्य मध्व के अनुसार साक्षात् या परम्परा से पुण्य तथा पाप का जो असाधारण कारण, वही कर्म कहलाता है। यह कर्म का सामान्य लक्षण है। शास्त्र विधि से प्राप्त हुए जो यज्ञादि कर्म वह, 'विहित कर्म' है। फलेच्छा युक्त किये गए विहित कर्म को ''काम्यकर्म'' कहते हैं, और ईश्वर प्राप्त्यर्थ किये हुए विहित कर्म को ''अकाम्यकर्म'' कहते हैं। यह काम्य और अकाम्य कर्म ब्रह्मादि तथा सभी जीवों के साथ से होते हैं। मन, वाणी तथा शरीर इनके द्वारा अपने से उत्तम एवं श्रेष्ठ पुरुष का अपराध करना ही ''निषिद्ध कर्म'' है। विधि तथा निषेध इन दोनों से भिन्न जो कर्म है वह ''उदासीन कर्म'' है। जैसे-आगमन, भ्रमण, वमन, वपन, भोजन, विंदारण और उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण व गमन तथा अन्य बहुत ही उदासीन कर्म है। नित्य व अनित्य कर्म को ''नित्य से उदासीन कर्म के दो भेद होते है ईश्वरादि के स्वरूपभूत कर्म को कर्म'' कहते हैं। और शरीरादि अनित्य पदार्थ के कर्म को ''अनित्यकर्म'' कहते हैं।

सामान्य भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। प्रत्येक व्यक्ति में अनुगत सामान्य को ''नित्यसामान्य'' कहते हैं। तथा प्रत्येक व्यक्ति में नानुगत सामान्य को 'अनित्यसामान्य' कहते हैं।

भेद का अभाव होते हुए भेद व्यवहार का कारण होना ही विशेष का लक्षण है। वह विशेष अनन्त हैं। विशेष सभी द्रव्यों में रहता है। इसलिए गुण-गुणी आदि भेद व्यवहार हो सकता है। विशेष भी दो प्रकार का है-नित्य तथा अनित्य। ईश्वरादि नित्य द्रव्यों में रहने वाला विशेष ''नित्य विशेष'' कहलाता है और घटादि अनित्य द्रव्यों में रहने वाला विशेष 'अनित्य विशेष' कहलाता है।

विशेषण के सम्बन्ध से विशेष्य का जो आकर उसे ''विशिष्ट कहते हैं। विशिष्ट भी दो प्रकार का है-नित्य एवं अनित्य। सर्वज्ञानादिविशिष्ट परब्रह्मादि यह 'नित्य विशिष्ट' है, और दण्ड के कारण दण्डी, कम्बल के कारण कम्बलवान् आदि ''अनित्य-विशिष्ट'' है।

हाथ, गज, मीटर, आदि मापों से मापे जाने वाले वस्त्र, जमीन आदि जो पदार्थ हैं वे 'अंशी' कहलाते हैं।

शक्ति चार प्रकार की हैं–अंचित्य शक्ति, आधेय शक्ति, सहज शक्ति एवं पद शक्ति। इनकी व्याख्या इस प्रकार से हैं–

१. **अचिन्त्य शक्तिः**–अचिन्त्य शक्ति परेश्वर में परिपूर्ण हैं, क्योंकि लक्ष्मी, ब्रह्मादि की अपेक्षा से परमात्मा में वह निरवधिक है। लक्ष्मी की शक्ति परमात्मा की शक्ति से अनन्तांश न्यून है। ब्रह्मदेव की शक्ति लक्ष्मी की शक्ति से अतिशय न्यून है। स्थावरपर्यन्त उत्तरोत्तर इस अचिन्त्यशक्ति का अपकर्ष ही अनुभव में आता है।

२. **सहजशक्तिः**–यह शक्ति प्रत्येक कार्य के अनुकूल तथा वस्तु स्वभाव रूप रहती है। दण्ड, चक्रादि निमित्त कारण में घट इस कार्य के अनुकूल शक्ति ही रहती है। ऐसी ही स्वभावभूत दाहकशक्ति अग्नि में रहती हैं यह शक्ति सभी पदार्थों में रहती है। नित्य पदार्थों में रहने वाली सहजशक्ति को "नित्य सहजशक्ति" और अनित्य पदार्थों में रहने वाली सहजशक्ति को "अनित्यसहजशक्ति" कहते हैं।

३. **आधेयशक्तिः**–एक ही शक्ति दूसरों में प्रविष्ट कराना, उसे "आधेय शक्ति" कहते हैं। जैसे-"प्रतिष्ठितं पूजयेत्" इस वाक्य में प्रतिष्ठित प्रतिमा की पूजा करनी चाहिए। ऐसा विधान किया हुआ है। प्रतिष्ठा नामक क्रिया से प्रतिमा में पूर्व न रहने वाले देवता का सांनिध्य होता है। भगवान् का सामर्थ्य व्यक्त होना ही "सानिध्य" कहलाता है।

४. **पदशक्तिः**–गौ, घोड़ा आदि पर या शब्द एवं गो, घोड़ा आदि शरीरों का वाच्य-वाचक भाव ही "पदशक्ति" कहलाती है। इनमें शब्द वाचक तथा पदार्थ-शरीर वाच्य हैं। पदशक्ति उदात्तादि स्वर, मृदंग, आदि वाद्यों की ध्वनि, अकारादि वर्ण, अश्व, वृक्ष आदि पदों में तथा पद समूह रूप वाक्यों में मात्र रहती है। यह पदशक्ति मुख्य तथा परममुख्य भेद से दो प्रकार की है। सभी शब्दों की परमात्मा में "परममुख्यवृत्ति" है और अन्यत्र अर्थात् इन्द्रादि शब्दों के लौकिक वाच्यार्थ में "मुख्य वृत्ति" हैं।

नैयायिक सादृश्य को पृथक् पदार्थ नहीं मानते किन्तु आचार्यमध्व सादृश्य को पृथक् मानते हैं। क्योंकि गौ के समान गवय है, इसमें गोत्वादि धर्म गवय में

कभी भी नहीं होते। गो के पशुत्व पैर, रंग आदि धर्म अन्य पशुओं में भी होते हैं। इसलिए उन्हीं के सादृश्य है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि गवय में जो गो के सादृश्य है, वह सादृश्य गो के गोत्वादि धर्म से भिन्न हैं, ऐसा कहना पड़ेगा। अत: सादृश्य पृथक् पदार्थ है प्रभाकरादि मीमांसक सादृश्य एक है ऐसा कहते हैं, किन्तु मध्वाचार्य को वह मान्य नहीं है। क्योंकि यह उसके समान है, वह उसके समान नहीं, और किसी तीसरे के समान है। आदि जो व्यवहार होता है। इसीलिए, मध्वाचार्य सादृश्य को अनेक प्रकार का मानते हैं।

मध्वाचार्य के मत में अभाव के चार भेद हैं–१. प्रागभाव, २. प्रध्वंसाभाव, ३. अन्योन्याभाव तथा ४. अत्यन्ताभाव।

१. **प्रागभाव**–कार्य के उत्पत्ति के पूर्व कार्य का जो अभाव होता है, वह ''प्रागभाव'' है।

२. **प्रध्वंसाभाव**–कार्य के उत्पत्ति के पश्चात् जो अभाव सम्भावित है उसे ''प्रध्वंसाभाव'' कहते हैं। ये दोनों अभाव, प्रत्येक कार्य में सामान्य हैं।

३. **अन्योन्याभाव**–कार्य-उत्पत्ति के पूर्व अथवा कार्य उत्पत्ति के पश्चात् ऐसी मर्यादा के बिना सर्वकाल में रहने वाला जो अभाव, वह ''अन्योन्याभाव'' है। यह अभाव पदार्थ का स्वरूप ही है।

४. **अत्यन्ताभाव**–इस चौथे अभाव का प्रतियोगी अत्यन्त असत् रहता है। उसे 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं। जैसे–शशश्रृंग, वंध्यापुत्र, खपुष्प इत्यादि।

इस प्रकार मध्वाचार्य के मत में दस पदार्थ हैं, किन्तु नैयायिकों के मत में सात पदार्थ हैं।

प्रमाण–

यथार्थ ज्ञान के साधन को ''प्रमाण'' कहते हैं और अयथार्थ ज्ञान के साधन को ''अप्रमाण'' कहते हैं। यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण कहलाता है। मध्वाचार्य के अनुसार ज्ञान के साधन (प्रमाण) तीन प्रकार का है–१. प्रत्यक्ष प्रमाण, २. अनुमान प्रमाण और ३. शब्द या आगम प्रमाण। ईश्वर और जीव इन दोनों का भेद ही मध्वाचार्य का मुख्य तत्त्व है। इस तत्त्व की सिद्धि के लिए अर्थात् भेद सिद्धि के लिए ही प्रमाणों का प्रयोग किया जाता है।

१. **प्रत्यक्ष प्रमाण**–चक्षु आदि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन भी प्रत्यक्ष रूप

प्रमाण है। इन्द्रिय व अर्थ-विषय के सन्निकर्ष द्वारा चक्षु आदि पांच तथा मन ये ज्ञानोत्पादक हैं। संस्कार के द्वारा मन यह स्मरण का साधन है। यथार्थ स्मरण ही प्रमाण है। आचार्य मध्व प्रत्यक्ष प्रमाण आठ प्रकार का मानते हैं। आठ प्रकार का प्रत्यक्ष है–साक्षिप्रत्यक्ष, मनप्रत्यक्ष, चक्षुप्रत्यक्ष, श्रोत्रप्रत्यक्ष, रसनाप्रत्यक्ष, घ्राण प्रत्यक्ष, त्वक्प्रत्यक्ष, तथा यथार्थज्ञानप्रत्यक्ष।

प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद की सिद्धि–

आचार्य मध्व के मत में दो प्रकार के तत्त्व हैं–स्वतन्त्र और परतन्त्र। कहा गया है कि दो प्रकार का तत्त्व रखा जाता है, स्वतन्त्र और परतन्त्र। इनमें स्वतन्त्र स्वयं भगवान् विष्णु हैं जो निर्दोष है तथा (स्वतन्त्रता, शक्ति, सुख विज्ञान आदि) सभी अच्छे-अच्छे गुणों से भरे हुए हैं।[1]

त्रिविध भेद–

भेद तीन प्रकार के हैं, क्योंकि उनमें ''प्रतियोगी'' तीन प्रकार के होते हैं। वे तीन भेद हैं–१. सजातीय, २. विजातीय तथा ३. स्वगत।

१. **सजातीय भेद**–जिस भेद में प्रतियोगी अपनी जाति का ही हो उसे ''सजातीय भेद'' कहते हैं। जैसे-परमात्मा का जीवात्मा से किया गया भेद, था एक वृक्ष का दूसरे वृक्ष से किया गया भेद, सजातीय भेद है।

२. **विजातीय भेद**–जिस भेद में प्रतियोगी अपनी जाति से भिन्न अर्थात् दूसरे जाति का हो उसे ''विजातीय भेद'' कहते हैं। जैसे-वृक्ष का पत्थर से भेद। इसमें दोनों की दो भिन्न जातियाँ होने से विजातीय भेद हैं।

३. **स्वगत भेद**–किसी वस्तु का उसके अवयवों से भेद कराया जाना ही 'स्वगत भेद' हैं। जैसे-वृक्ष का फल, फूल, पत्तों से भेद करना या पुरुष का हाथ, पैर आदि अवयवों से भेद करना स्वगत-भेद है।

अद्वैत-वेदान्ती शंका करते हैं कि ब्रह्मतत्त्व सजातीय, विजातीय तथा स्वगत, इन तीनों भेदों से रहित हैं–इस प्रकार की बातें प्रतिपादित करने वाले

---

१. स्वतन्त्रं व परतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।
स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुर्निदोषोऽशेवाससुगुणः।। –तत्त्वविवेक

''सदैव सोम्येदमग्र आसीत्'' एकमेवाद्वितीयम्'' आदि उपनिषद् वाक्यों के रहते हुए आप (द्वैती) लोग ईश्वर के विषय में यह कैसे कहते हैं कि वह सभी सद्गुणों से भरा हुआ है।

उक्त शंका का समाधान करते हुए मध्वाचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नहीं है, बहुत से ऐसे वाक्य है जो भेद को ही प्रमाणित करते हैं। उनके साथ उक्त उपनिषद्-वाक्यों का विरोध होगा और इसलिए उन्हें अर्थात् भेद शून्य ब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों को हम प्रामाणिक नहीं मान सकते उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष को ही लें, ''यह वस्तु उस वस्तु से भिन्न है'' इस प्रकार नील-पीत आदि पदार्थों में भेद की सत्ता को वह अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणित करता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद की सिद्धि में अद्वैत-वेदान्ती शंका करते हैं कि–आप क्या मानते हैं, क्या प्रत्यक्ष प्रमाण सीधे भेद का ज्ञान करा देता है या वह धर्मी तथा उसके विरोधी वस्तु के आधार पर भेद का ज्ञान कराता है?

प्रथम शंका नहीं मान सकते, क्योंकि जब तक धर्मी और उसके प्रतियोगी का ज्ञान नहीं होगा, तब तक उन्हीं दोनों पर निर्भर करने वाले भेद का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

यदि दूसरी शंका करते हैं तो पूछें कि भेद का यह ज्ञान धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के पश्चात् होता है, या सभी (तीनों) का ज्ञान एक ही साथ युगपत् हो जाता है?

उक्त शंकाओं में से प्रथम शंका ग्राह्य नहीं है, क्योंकि बुद्धि जब एक बार ठहर जाती है तब आगे कार्य संचालन नहीं कर पाती। दूसरे इसमें अन्योन्याश्रयदोष भी उत्पन्न हो जायेगा।

दूसरी शंका भी ग्राह्य नहीं है, क्योंकि कार्य और कारण के रूप में गृहीत बुद्धियों की सत्ता एक साथ नहीं हो सकती। धर्मी की प्रतीति भी भेद-ज्ञान का कारण है, उसी प्रकार प्रतियोगी की प्रतीति भी। यदि धर्मी निकट में भी हो किन्तु दूर स्थित प्रतियोगी का ज्ञान नहीं हो तो भेद का ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिए अन्वय और व्यतिरेक के नियमों द्वारा हम (वेदान्ती) लोग कार्य-कारण का सम्बन्ध जान लेते हैं।

यह शंका की जाती है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है?

उक्त शंका का परिहार करते हुए मध्वाचार्य कहते हैं कि ये सारे दोष जिसके सिर पर आरोपित हो रहे हैं? क्या वस्तु के स्वरूप (गोलाकार कम्बुग्रीव आदि) को ही भेद मानने वाले लोगों के प्रति, या उन लोगों के प्रति जो वस्तु से भिन्न उस वस्तु के ही धर्मों को लेकर भेद मानते हैं।

यदि आप वस्तु के स्वरूप को रूप मानने वाले (द्वैतवादी) लोगों पर यह आरोप लगा रहे हैं तो यह ठीक नहीं है। जैसे–चोर के अपराध से माण्डव्य ऋषि को पकड़ कर दण्ड दिया गया, वही स्थिति हो जायेगी।[2] इसका कारण यह है कि आपके द्वारा आरोपित दोषों के क्षेत्र में स्वरूप भेदवादी लोग नहीं आते।

यदि वस्तु के स्वरूप को ही भेद मान ले तो घट की तरह किसी प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं रहेगी। किन्तु लोक में नियम से, स्वतन्त्र भेद ज्ञान के लिए प्रतियोगी के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।

आचार्य मध्व कहते हैं कि पहले-पहल वस्तु के स्वरूप का ज्ञान सभी वस्तुओं से पृथक् करके प्राप्त किया जाता है, जब प्रतियोगी की अपेक्षा रखते हुए विशेष प्रकार का व्यवहार चलता है। इसे यों समझें कि–परिमाण से विशिष्ट वस्तु-स्वरूप का ज्ञान पहले हो जाता है। बाद में विभिन्न प्रकार के प्रतियोगियों की अपेक्षा रखकर उसी वस्तु को छोटा 'बड़ा' इत्यादि विशेषणों से विभूषित करके उसका व्यवहार करते हैं। इसलिए कहा गया है-विशेषण और विशेष्य रहने से भेद की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध स्वयं भेद की अपेक्षा रखता है। फल यह होगा कि धर्मी और प्रतियोगी की अपेक्षा से भेद की सिद्धि होती है, तथा भेद के आधार पर धर्मी और प्रतियोगी की सिद्धि होती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होने से भेद ही युक्ति-युक्त नहीं हो सकता, पदार्थ के स्वरूप को ही भेद कहते हैं।[3]

गौ का अन्वेषण करने वाले लोग गवय देखने के बाद आगे नहीं बढ़ते तथा गौ शब्द का स्मरण भी नहीं करते। ऐसी भी शंका नहीं कर सकते कि जल से युक्त दूध आदि को आंखों से देख लेने पर भेद का आभास भी दृष्टिगोचर होगा। उक्त उदाहरण में आंखों का सन्निकर्ष तो रहता ही है। स्वरूप को ही भेद मानने

---

२. द्रष्टव्य–महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १०७-८।

३. त च विशेषण विशेष्यतया भेद सिद्धिः। विशेषण विशेष्यभावश्च भेदापेक्षः। धर्मिप्रतियोग्यपेक्षया भेद सिद्धिः। भेदापेक्षं च धर्मिप्रतियोगित्वमित्यन्योन्याश्रयतयाभेदस्या-युक्तिः पदार्थ स्वरूपत्वात् भेदस्य। –विष्णु तत्त्व निर्णय

पर भेद का भी ग्रहण होगा कि यह जल है, यह दूध है। कारण यह है कि भेद के आभास रूपी व्यवहार के अभाव की सिद्धिसमानाभिहार अर्थात् एक प्रकार के ही पदार्थों का समूह आदि प्रति बन्धक कारणों के बल से होती है। ऐसा ही कहा गया है कि–बहुत दूर होने के कारण, बहुत नजदीक होने के कारण, इन्द्रियों में दोष होने के कारण, मन के अव्यवस्थित होने के कारण, पदार्थ के बहुत सूक्ष्म होने के कारण, किसी प्रकार का व्यवधान पड़ जाने के कारण अभिभूत होने के कारण तथा समान रूप वाले पदार्थों में मिल जाने के कारण।[४] प्रत्यक्ष ज्ञान को बाधा पहुँचाती है। इस प्रकार मध्वाचार्य ने प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा भेद की सिद्धि की है।

२. अनुमान प्रमाण–

"अनुमिति करणम् अनुमानम्" अर्थात्-अनुमिति के ज्ञान के करण को अनुमान कहते हैं। दोष युक्त इन्द्रियों द्वारा अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। व्याप्ति ज्ञान और उचित देश-काल में लिंग की सिद्धि यह दोनों अनुमिति ज्ञान की सहकारी कारण है। क्योंकि लिंग अर्थात् चिह्न; जैसे-धूम यह अग्नि का चिह्न है। लिंग की उसके लिंगी के साथ व्याप्ति साहचर्य है। ऐसा ज्ञान हुए बिंना अनुमान होना शक्य नहीं है। उसी प्रकार जिस देश, काल में रहकर लिंग पक्षवर साध्य-विषयक अनुमिति के ज्ञान उत्पन्न करने के लिए समर्थ हैं, उसकी उस देश, काल में सिद्धि अनुमिति की सहकारिणी रहती है। जैसे-नदी में बाढ़ आई होगी तो अनुमान किया जा सकता है कि ऊपर कहीं वर्षा हुई होगी।

दोनों पदार्थों का साहचर्य नियम अर्थात् दो पदार्थों का नियमित के साथ रहना, उसे 'व्याप्ति' कहते हैं।

अनुमान के प्रकार–

अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का होता है–१. केवलान्वयि अनुमान, २. केवल व्यतिरेकी अनुमान, ३. अन्वयव्यतिरेकी अनुमान।

१. **केवलान्वयि अनुमान**–जो धर्म जहाँ दिखाई देता हो और उसके समान धर्म पदार्थों में दिखाई दे, उसे 'केवलान्वयि अनुमान' कहते हैं। यह परम्परा से नहीं बल्कि साक्षात् अनुमान का हेतु होता है।

---

४. अतिदूरात्समीप्यादिन्द्रियधातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च।।७।। –सांख्यकारिका ७

२. **केवल व्यतिरेकी अनुमान**–केवल व्यतिरेकी के सहचार से जिस अन्वय व्याप्ति का ग्रहण होता है, उसे "केवल व्यतिरेकी अनुमान" कहते हैं, क्योंकि व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान अन्वय व्याप्ति ज्ञान के द्वारा अनुमिति के निमित्त होते हैं, साक्षात् नहीं। क्योंकि पक्षधर्मता जहाँ नहीं रहती वहाँ व्यतिरेकव्याप्ति रहती है।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान–

अन्वय और व्यतिरेक इन दोनों से जिसे व्याप्ति का ग्रहण होता है, उस अनुमान को "अन्वय व्यतिरेकी अनुमान" कहते हैं।

अनुमान के मुख्य दो भेद–

अनुमान दो प्रकार का होता है–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जो अनुमान अपने स्वार्थ के अनुमिति ज्ञान का हेतु होता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।

जो अनुमान दूसरों के अनुमिति ज्ञान का हेतु होता है, वह परार्थ अनुमान होता है।

अनुमान से भेद की सिद्धि–

अनुमान प्रमाण से भी भेद की सिद्धि होती है। अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार की है कि–परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है, क्योंकि जीवात्मा के लिए परमात्मा सेव्य है, जो जिसके लिए सेव्य है वह उससे भिन्न है, जैसे भृत्य से राजा।

"न हि सुखं मे स्याद् दुःखं मे न मनागपि" अर्थात् मुझे केवल सुख ही मिले, दुःख थोड़ा भी नहीं हो। इस प्रकार के पुरुषार्थ की कामना करते हुए मुमुक्षु=साधक पुरुष यदि संसार के स्वामी परमात्मा का पद ही प्राप्त करना चाहे तो उसका सत्कार नहीं होता, ईश्वर उन पर कृपा नहीं करते, यहीं नहीं वे सब प्रकार के अनिष्ट प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर यदि कोई अपने आप की हीनता तथा दूसरों के गुणों का वर्णन करता है, उस स्तुति करने वाले भक्त की, स्तवनीय परमात्मा प्रसन्न होकर सारी कामनायें पूरी करता है। जैसे–राजा लोग उन सबों का विनाश कर डालते हैं जो अपने को राजा घोषित करते हैं। उधर अपने गुणों के उत्कर्ष का वर्णन करने वाले लोगों की सारी कामनायें वे पूर्ण करते हैं।

इस प्रकार परमेश्वर से अभिन्न होने के लोभ से अद्वैतवेदान्ती लोग ईश्वर

को निर्गुण मानकर विष्णु भगवान् के गुणों के उत्कर्ष को मृगतृष्णा के समान भ्रान्त (मायामय) कहते हैं। यह कहना वैसा ही है जैसे कोई केले के फलों की इच्छा से अपनी जीभ ही कटवा ले। परन्तु जीभ कट जाने पर केले के फलों का कोई उपयोग ही नहीं है। उसी तरह ईश्वर को निर्गुण मानने पर उनसे मिलने का कोई उपयोग ही नहीं। विष्णु भगवान् को अप्रसन्न करने पर अन्धतमस् (नरक) में ही प्रवेश करना पड़ेगा। इसका प्रतिपादन मध्वाचार्य ने अपने महाभारत तात्पर्य निर्णय में किया है कि–दैत्यगण विष्णु से अनादि काल से द्वेष रखते आ रहे हैं, विष्णु में भी उनके प्रति अत्यधिक द्वेष बढ़ता रहा है। इसलिए वे दैत्यों को अन्त में निश्चित रूप से निबिड़ अन्धकार (नरक) में गिराते हैं।[५]

इसलिए विष्णु की कृपा पात्र बनने के लिए तीन प्रकार की सेवा करनी चाहिए। तीन प्रकार की सेवा इस प्रकार है १. अंकन, २. नामकरण, ३. भजन। ये तीन प्रकार की सेवा करने से विष्णु भगवान् भक्त के सभी दु:ख दूर करके अर्थात् दु:खों का नाश करके सुख प्रदान करते हैं। इस प्रकार मध्वाचार्य ने अनुमान प्रमाण से भी भेद की सिद्धि की है।

आगम या शब्द प्रमाण–

आप्त के जो वचन या वाक्य है उसे ''शब्दप्रमाण'' कहते हैं।[६] यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि आप्त किसे कहते हैं? तो इसका उत्तर है कि–यथार्थ वचन कहने वाला, जैसा है वैसा ही बताने वाला, अवाधित अर्थ का उपदेश करने वाला ही 'आप्त' कहलाता है।[७] पद समूह को ''वाक्य'' कहते हैं।[८] जैसे–'गामानय' अर्थात् गौ लाओ। जिसमें शक्ति है वह ''पद'' कहलाता है।[९] इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए कि यह जो विष्णु भगवान् का संकेत-इच्छा है, उसी का नाम ही ''शक्ति'' है।[१०]

---

५. अनादि द्वैषिणो दैत्या विष्णो द्वैषो विवर्धित:।
तमस्यन्धे पातयति दैत्यानन्ते विनिश्चयात्।। –म०भा०त० १.१११

६. 'आप्तवाक्यं शब्द:' –तर्कसंग्रह, पृ० ८८

७. आप्तस्तु यथार्थवक्ता। –तर्कसंग्रह पृ० ८८

८. वाक्यं पदसमूह:। –तर्कसंग्रह पृ० ८८

९. शक्तं पदम्। –द०वा जोग कृत (भा०द०सं०, मराठी, पृ० २७०)

१०. अस्मात् पदादयमथो बौद्धव्य इतीश्वरसंकेत: शक्ति:।
–द०वा०जोगकृत (भा०द०सं०, मराठी, पृ० २७०)

पद के प्रकार–

पद चार प्रकार के होते हैं–१. यौगिक, पद, २. रूढ़ पद, ३. योग रूढ़ पद और ४. यौगिक रूढ़। पद+अवयव शक्ति को "योग" कहते हैं।

१. **यौगिक पद**–जिस पद में केवल अवयव शक्ति रहती है उसे "यौगिकपद" कहते हैं। जैसे-"पाचक" यह पद है। इसमें "पच्" धातु और "अक" यह प्रत्यय है, इस प्रकार इस पद में दो अवयव है। इससे 'पाक सिद्धि करने वाला' यह अर्थ निष्पन्न होता है। अतः यह यौगिक पद कहलाता है।

२. **रूढ़ पद**–समूह शक्ति को रूढ़ि कहते हैं। जिस पद में केवल समुदाय शक्ति रहती है, उसे 'रूढपद' कहते हैं। जैसे-'गो' यह पद है। इस पद में अवयव से अर्थ का बोध नहीं होता, बल्कि गो इस वर्ण समूह से ही अर्थ का बोध होता है।

३. **यौगिकरूढ़ पद**–जिस पद में "यौगिक अर्थ" और रूढ़ि अर्थ इनका स्वतन्त्र रूप से ज्ञान कराते हैं वह "यौगिकरूढ़ पद" कहलाता है। जैसे-"उद्भिज्ज" यह पद है। यह अवयव शक्ति से पृथिवी को विदीर्ण करके ऊपर आने वाले वृक्ष, लता आदि का ज्ञान कराता है और रूढ़ि से "उद्भिज्ज" नामक यज्ञ का भी बोध कराता है। इसलिए यह यौगिक रूढ़ पद ही कहलाता है।

योगरूढ़ पद–

जिस पद में अवयव शक्ति और समूह शक्ति ये दोनों ही शक्तियाँ रहती हैं तथा वे दोनों शक्तियाँ एक ही जाति के अर्थ का प्रतिपादन करती है, उसे 'योगरूढ़ पद' कहते हैं। जैसे 'पंकज' यह पद है। इसमें "पंक" और 'ज' इन अवयवों के कीचड़ से उत्पन्न हुआ "कमल" का ज्ञान कराते हैं। उसी प्रकार समूहशक्ति से वे "कमल" इस रूप से अर्थ का बोध कराते हैं। इसलिए समूहशक्ति आवश्यक हैं।

वाक्यार्थ ज्ञान में हेतु–

वाक्यार्थज्ञान में (शब्दज्ञान में) तीन प्रकार के हेतु (कारण) हैं–आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि।[११]

११. आकांक्षा योग्यतासन्निधिश्च वाक्यार्थ ज्ञाने हेतुः। –तर्कसंग्रह, पृ० ८९

१. **आकांक्षा**–जिस पद में "पदान्तरव्यतिरेक प्रयुक्त" अर्थात् किसी दूसरे पद के अभाव प्रयुक्त जो "अन्वयानुभावकत्व" अर्थात् शब्द बोधजनकता है, वह "आकांक्षा" कहलाती है।[१२] जैसे-'गामानय' इस वाक्य में जो 'गो' पद है उसका शब्द बोध 'अम्' पद के बिना नहीं होता, क्योंकि "गो आनय" इस वाक्य से अर्थ प्रतीत होता ही नहीं है। इसलिए "गामानय" इस वाक्य के अर्थज्ञान में गो-पदोत्तर 'अम्' पदत्वरूप आकांक्षा हेतु है।

२. **योग्यता**–अर्थाबाध (बाधाभाव) योग्यता है।[१३] जैसे-"वह्निनासिंचति" अर्थात् आग से सींचता है। यहाँ सिंचन करने की योग्यता आग में बाधित है, अतः इस वाक्य से शाब्द बोध नहीं होता, इसलिए एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध रहना ही योग्यता है।

३. **सन्निधि**–पदों को 'अविलम्ब' अर्थात् शीघ्रता से उच्चरण करना ही 'सन्निधि' है।[१४] जैसे-"गाम्" पद का उच्चारण एक प्रहर में तथा 'आनय' पद का है, क्योंकि इसमें सन्निधि (शीघ्रता) नहीं है।

अतएव आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से रहित जो वाक्य है, वह प्रमाण नहीं होता। जैसे-"गाम्, घोड़ा, पुरुष, हाथी "यह वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि इस वाक्य में आकांक्षा नहीं है। "आग से सींचो" यह वाक्य भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि इसमें योग्यता नहीं है। एक-एक प्रहर के बाद उच्चारण किये गए "गाम् आनय" इत्यादि पद भी प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि इसमें सन्निधि नहीं है।

वाक्य के भेद–

वाक्य अर्थात् अर्थ बोधक पद समूह के दो प्रकार हैं–१. वैदिक और २. लौकिक।[१५]

---

१२. पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षाः।
–द०वा०जोग कृत-मराठी, पृ० २७३

१३. अर्थाबाधो योग्यता। –द०वा०, वही (भा०द०सं०, पृ० २७३)

१४. पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। अबिलम्बोच्चारितत्त्वम्पदानां सन्निधिलक्षणम्।
–तर्कसंग्रह, पृ० ९०

१५. वाक्यं द्विविधम्। वैदिकं लौकिकञ्च। –तर्कसंग्रह, पृ० ९२

१. **वैदिक वाक्य**–वेद, स्मृति, पुराण आदि में उक्त वाक्य ईश्वर के वाक्य है, अतः वे सभी "वैदिक वाक्य" प्रमाण है।

२. **लौकिक वाक्य**–लौकिक वाक्य (मनुष्य से युक्त) तो वे ही प्रमाण है, जो यथार्थवक्ता से उच्चारित हों, उनमें अन्य-मिथ्यावादियों से युक्त लौकिक वाक्य प्रमाण नहीं है।

उपर्युक्त वैदिक और लौकिक को ही अपौरुषेय और पौरुषेय कहा गया है। वेद अपौरुषेय होने से परममुख्यवृत्ति से परमात्मा का प्रतिपादक है, और मुख्य-वृत्ति, लक्षणावृत्ति, गौणीवृत्ति, उपचार, रूढ़उपचार तथा रूढ़लक्षण इन सभी के योग से परमात्मा से भिन्न सभी का प्रतिपादन करता है।

१. **मुख्यवृत्ति**–योग, रूढ़ि तथा योगरूढ़ि इन तीनों प्रकार के शब्दावयव से अर्थ का बोध होना ही "मुख्यवृत्ति" कहलाती है। जैसे-पाचक, पंकज आदि।

२. **लक्षणावृत्ति**–शब्द का मुख्य अर्थ के साथ अन्वय न होने के कारण मुख्य अर्थ के साथ जिनका सम्बन्ध है, इस प्रकार तीसरे ही अर्थ में उनकी जो वृत्ति, वह 'लक्षणावृत्ति' कहलाती है। जैसे-"गंगायां घोषः" यहाँ गंगा शब्द की वृत्ति तट पर है।

३. **गौणीवृत्ति**–मुख्यार्थ के समान दूसरे पदार्थ में जो शब्द की वृत्ति उसे "गौणीवृत्ति" कहते हैं। जैसे-"अग्नि शब्द की तेजस्वी ब्रह्मचारी में वृत्ति।"

४. **उपचार**–चित्र में बनाया हुआ जो सिंह उसमें सिंह शब्द का औपचारिक प्रयोग करना, इसे "उपचार" कहते हैं।

५. **रूढ़ उपचार**–औचारिक शब्द का प्रयोग अनेक बार होना, इसे "रूढ़ोपचार" कहते हैं। जैसे-अग्नि में तपाकर लाल किया हुआ लोहे का गोला, उसमें 'वह दाहक' है, ऐसा शब्द प्रयोग करना।

६. **रूढ़ लक्षणा**–मार्ग पर लगातार चलते रहना, सतत्, बहना, इन शब्दों की मार्गस्थ पुरुष में जो वृत्ति, उसे "रूढ़ लक्षणा" कहते हैं।

लक्षणा के भेद–

लक्षणा के तीन प्रकार हैं–१. जहत् लक्षणा, २. अजहत्लक्षणा और ३. जहताजहल्लक्षणा अर्थात् लक्षित लक्षणा।

१. **जहत्लक्षणा**–जिस लक्षणा में मुख्य अर्थ का त्याग होता है, उसे 'जहत्लक्षणा' कहते हैं। जैसे-'गंगायां घोष:' इस उदाहरण में 'गंगा' पद का जल प्रवाह यह मुख्यार्थ है, इसका सर्वथा त्याग होकर ''तट'' यह अर्थ प्रतीत होता है।

२. **अजहल्लक्षणा**–जिस लक्षणा में मुख्यार्थ का त्याग नहीं होता, उसे ''अजहल्लक्षणा'' कहते हैं। जैसे-''छाता जा रहा है'' इसमें ''छाता'' पद की छातावान् अर्थात् छात्री धारण करने वाला जो पुरुष, उस पुरुष में लक्षणा है।

३. **लक्षित लक्षणा**–जिस लक्षणा में लक्ष्य पदार्थ को सम्बन्धी करके तत्सम्बन्धी पदार्थ में जो वृत्ति, वह ''लक्षितलक्षणा'' कहलाती है। इसे ही 'जहदजहल्लक्षणा' भी कहते हैं। श्रुति, स्मृति आदि शब्द प्रमाण के अन्तर्गत ही है।

श्रुति (शब्द) प्रमाण से भेद की सिद्धि–

जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान प्रमाण से भेद की सिद्धि हुई है, उसी प्रकार श्रुति या शब्द प्रमाण से भी भेद की सिद्धि होती है। अर्थात् श्रुति प्रमाण से भी भेद की सत्ता जानी जा सकती है। यह सच है कि स्तुति करने वाले धनयुक्त देव के इस चित्र से सभी प्रसन्न होते हैं। अर्थात् इन्द्र के मित्र विष्णु से सभी प्रसन्न होते हैं, क्योंकि विष्णु और लोक में पृथक्ता है। उन भगवान् विष्णु की वह महिमा सच है। मैं ब्राह्मणों के राज्य-रूपी यज्ञों में सुख के उद्देश्य से उनकी प्रार्थना करता हूँ। आत्मा अर्थात् परमात्मा सत्य है, जीव सत्य है, उन दोनों का भेद भी सत्य है, भेद सत्य है, परमात्मा दुष्टों के द्वारा सेवनीय नहीं है। इन श्रुतियों में मोक्ष और आनन्द में भेद का प्रतिपादन किया गया है।[१६]

इस ज्ञान (परमात्मा के ज्ञान) को पाकर मनुष्य मेरे समान हो जाते हैं, वे सृष्टि होने पर भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय में भी दु:खों का अनुभव नहीं करते।[१७]

---

१६. सत्य आत्मा, सत्योजीव:, सत्यं भिदासत्यं भिदा सत्यं भिदा....श्रुतिभ्य:।
–स०द०सं०, पृ० २६६

१७. इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता:।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।। –गीता १४.२

संसार के व्यापारों को छोड़कर क्योंकि जीव का प्रकरण इतना ही है, तथा संसार के व्यापार से जीवों को दूर रखा गया है।[१८] इस श्रुति वाक्य में भेद का ही वर्णन है। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।[१९] इस श्रुति के बल में ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि जीव ही परमेश्वर है, क्योंकि इसमें केवल प्रशंसा की गई है, 'वास्तविक तथ्य का निरूपण नहीं। जैसा कि इस श्लोकार्ध में अर्थ किया गया है-भक्ति से ब्राह्मण की पूजा करने पर शूद्र भी ब्राह्मण ही हो जाता है।[२०]

डॉ० राधाकृष्णन् ने मध्व के ज्ञान के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा है कि बोध-ग्रहण चाहे किसी भी साधन से हुआ हो, उस वस्तु के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण है जिसका बोध हुआ है। वे साधन, जिन्होंने बोध-ग्रहण में मध्यस्थता का कार्य किया है, बोध के अपने अपने अन्दर उपस्थित नहीं हैं। ज्ञाता तथा ज्ञात के मध्य जो सम्बन्ध है, वह साक्षात् तथा तात्कालिक है। प्रत्यक्ष, अनुमान और वैदिक (आप्त) प्रमाण इसीलिए प्रमाण कहलाते हैं कि ये ज्ञान की उत्पत्ति में साधनरूप बनते हैं और यह तथ्य तब प्रकट होता है जब कि हम ज्ञान का बाह्य रूप से अध्ययन करते हैं। तथ्यविषयक प्रत्येक बोध ग्रहण जो हमें होता है, निर्दोष है और यह तथ्य के अस्तित्त्व का संकेत करता है, भले ही यह बोध के क्षण तक ही क्यों न अस्तित्त्व रखता हो। यदि हम इसे निर्दोष बताकर इसका खण्डन करते हैं तो वह किसी अन्य बोध के कारण होता है, जिसका प्रामाण्य हम स्वीकार करते हैं। सूर्योदय तथा सूर्यास्त तब तक केवलमात्र घटनाएं हैं, जब तक कि हमें आगे चलकर यह ज्ञान न हो कि सूर्य न तो उदय होता है और न अस्त होता है। मध्व प्रत्येक बोध की अपने रूप में प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं और ऐसी प्रत्येक कल्पना का खण्डन करते हैं जो हमारे ज्ञान को केवल प्रतीतिमात्र बताती है। यदि हमारा ज्ञान यथार्थता के स्वरूप को नहीं प्रकट करता और प्रमेयविषयक अस्तित्त्व का ही द्योतक है एवं केवलमात्र अनुचित दिशा में हमें ले जाता है तो अयथार्थ वस्तु प्रतीत भी नहीं हो सकती तथा भ्रान्तिपूर्ण बोध का विषय भी नहीं बन सकती, और न ज्ञान के साथ कारण-कार्य भाव से सम्बद्ध हो सकती है। यदि समस्त ज्ञान भ्रामक है तो सत्य और मिथ्या विचारों

---

१८. जगद् व्यापारवर्जम् प्रकरणादसन्निहितत्त्वाच्च। —ब्रह्मसूत्र ४.४.१७-१८

१९. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। —मु०उ० ३.२.९

२०. संपूज्य ब्राह्मणं भवत्या शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवेत्। —स० द० सं०, पृ० २६७

के बीच जो भेद है वह भी नहीं रह सकता। भ्रान्ति का विश्लेषण करने से हमें ज्ञान होगा कि चेतना के समक्ष एक प्रमेय पदार्थ (विषय) अवश्य प्रस्तुत किया जाता है, यद्यपि हम इसके स्वरूप के विषय में भूल कर सकते हैं, जो या तो इन्द्रियों के किसी दोष के कारण होती है अथवा ज्ञान के किन्हीं अन्य साधनों के कारण भी हो सकती है। मिथ्या प्रत्यक्ष ज्ञान के अवयव मिथ्या नहीं होते। वे अनुभव सिद्ध तथ्य हैं। किसी दोष के कारण हम प्रमेय विषय का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं कर सकते, किन्तु हम इसका जो भी अंश देखते हैं वह स्वरूप में उसके समान वस्तु का स्मरण कराता है। यद्यपि उससे भिन्न है, जिससे हम प्रस्तुत सामग्री को भ्रम से मिला रहे होते हैं। भ्रान्ति की प्रत्येक अवस्था में दो यथार्थ वस्तुसत्ताओं का संकेत होता है, एक प्रस्तुत वस्तु का और दूसरा संकेतित वस्तु का। संसार की अयथार्थता के भाव का तात्पर्य है कि यथार्थवस्तु कुछ है अवश्य जिसे हम भूल से अन्यथा समझ बैठे हैं। इससे ऐसा तात्पर्य कभी नहीं होता कि यथार्थ वस्तु एकदम कुछ है ही नहीं।

मध्व का आधार अनुभव अथवा ज्ञान है और उनका तर्क है कि ज्ञाता तथा ज्ञात के बिना कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। ज्ञान के कर्ता अथवा ज्ञात प्रमेय पदार्थ के बिना ज्ञान के विषय में कुछ भी कथन करना निरर्थक है। जानने वाले प्रमाता तथा ज्ञात प्रमेय पदार्थों इन दोनों का अस्तित्त्व आवश्यक है। यह संसार अयथार्थ वस्तु नहीं है। यदि हम पदार्थों के मध्य भेद को स्वीकार नहीं करते तो हम विचारों में परस्पर भेद की व्याख्या भी नहीं कर सकते। हमारा ज्ञान हमें बतलाता है कि भेद विद्यमान है। हम उन्हें केवलमात्र औपचारिक नहीं मान सकते, क्योंकि औपचारिकता भेद उत्पन्न नहीं करती।[२१]

तत्त्व विवेचन–

आचार्य मध्व दो प्रकार के पदार्थ मानते हैं-स्वतन्त्र और परतन्त्र। ईश्वर सर्वोपरि है वही एक मात्र स्वतन्त्र पदार्थ है। परतन्त्र पदार्थ दो प्रकार के हैं-भाव वाचक तथा अभाव वाचक। भाववाचक के दो वर्ग हैं-एक चेतन अर्थात् आत्माएं। दूसरा प्रकृति तथा काल। अचेतन पदार्थ है-जैसे कि–वेद। प्रकृति निर्मित समस्त पदार्थ अनित्य हैं।[२२]

---

२१. भारतीय दर्शन, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ६४९-५०।

२२. ब्रह्मशब्दश्च विष्णवेव-यमन्तः समुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रज्ञाः।....तदेवतं तदुसत्यमाहुः तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्। –पू०प्र०भा०, पृ० ४

ईश्वर–

इनके दर्शन में "ब्रह्म" शब्द विष्णु के लिए प्रयुक्त होता है। जो समुद्र के मध्य में है जिस परमअक्षर में सारी प्रजा व्याप्त है, जिससे सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, अपने ही जल के मध्य से जीवों की पृथिवी पर सृष्टि की है, उसे ही विद्वान्-ब्रह्मवेत्ता "परमब्रह्म" कहते हैं।[२३] 'तन्नो विष्णुः' इस पद से निश्चित होता है कि ब्रह्म के प्रसंग या विषय में विष्णु का ही उल्लेख है। अन्य किसी शब्द से ब्रह्म का उल्लेख नहीं मिलता। "इस नाम रूपात्मक दृश्यमान् जगत् में जो कुछ भी है वह किसी अन्य से उत्पन्न नहीं है, सारे नाम जिसमें प्रविष्ट होते हैं उस परम ब्रह्म को 'विष्णु' कहते हैं।[२४] भाल्लवेय श्रुति में कहा है-"यो देवानां नामधा एक एव" आदि श्रुति में किए गए 'एव' शब्द के प्रयोग से विष्णु की ही सर्वनामता सिद्ध होती है। अज की नाभि के अन्तराल में समस्त भुवनों सहित विश्व स्थित है, ये वर्णन भी 'विष्णु' का ही है।

प्रसिद्धार्थ को छोड़कर अन्य अर्थ नहीं करना चाहिए। श्रुति में उग्र तथा 'समुद्रेऽन्तः' शब्द आये हैं, इनमें से 'उग्र' शब्द 'रुद्र' का तथा समुद्रेऽन्तः शब्द 'नारायण' का वाचक है। ये शब्द प्रसिद्ध और सूचक होने से उक्त अर्थ का ही द्योतन करते हैं। जब तक कोई विरोध न हो, प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ना भी नहीं चाहिए। श्रुतियाँ विष्णु का ही उल्लेख करती हैं। 'वेद' रामायण, पुराण, महाभारत आदि सभी जगह आदि मध्य और अन्त में विष्णु का ही गुणानुवाद किया गया है।[२५] ऐसा हरिवंश पुराण का वचन है। दूसरे ग्रन्थ भी इसके विरुद्ध कुछ नहीं कहते।

विष्णु के अतिरिक्त जो 'ब्रह्म का प्रयोग शिव आदि देवताओं के लिए शंकराचार्य आदि ने किया है वह भगवान् की लीलामात्र है। जैसा कि बारह पुराण में स्पष्ट कहा गया है–हे रुद्र! मैं इस मोह की सृष्टि कर रहा हूँ, जो कि लोगों को तत्काल मोहित कर लेगा, तुम मोहशास्त्र की रचना करो, निरर्थक और अतथ्य बातें उस शास्त्र में दिखलाओ, अपनी महत्ता दिखलाकर मेरे महत्त्व को दबा दो।[२६] शिव और स्कन्दपुराण में भी कहा गया है कि हे अच्युत! आपके पराङ्मुख होने

---

२३. नामानि विश्वानि न सन्ति.....वै विष्णुं परममुदाहरन्ति।। –वही, पृ० ५

२४. वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुरसर्वत्रगीयते।। –वही, पृ० ५

२५. एष मोह सृजाभ्याशु....अप्रकाशं च मां कुरु।। –पू० प्र० भा०, पृ० ५

२६. श्वपश्चादपि कष्टत्वं.....त्वं पराङ्मुखः।। –पू० प्र० भा०, पृ० ६

पर ब्रह्मा, शंकर आदि देवता श्वपच से भी अधिक तिरस्कृत होते हैं।[२७] ब्रह्म और ब्रह्मवैवर्तपुराण में स्पष्टत: विष्णु की महत्ता का उल्लेख है। ब्रह्मा कहते हैं कि मैं, शिव या अन्यान्य कोई भी देवता उनके समक्ष (सामने) नहीं ठहर सकते। हम सब उनके एक अंशमात्र है, जैसे बच्चे खिलौनों से खेलते हैं, वैसे ही वे (विष्णु) हम लोगों से 'खिलवाड़ करते हैं'।[२८] वैष्णवों को तो इस विषय में कोई भ्रान्ति होती नहीं, जैसा कि शंकरमतानुयायियों को होती है। वह सब विष्णु के द्वारा सृष्ट मोह की ही लीला है।

मध्वाचार्य ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन ''जन्माद्यस्य यत:'' इस ब्रह्मसूत्र से प्रारम्भ करते हैं। जिससे सृष्टि-स्थिति-संहार-नियमन ज्ञान-अज्ञान-बन्ध और मोक्ष होते हैं, वही ब्रह्म है। जैसा कि स्कन्द पुराण से सिद्ध होता है कि–उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियति, ज्ञान, अज्ञान, बन्ध और मोक्ष जिस महापुरुष से होते हैं, ऐसे वे सर्वत्र स्वतन्त्र भगवान् हरि ही है। जिससे ये समस्त भूत समुदाय प्रकट होता है, जिससे उत्पन्न होकर जीवित है, प्रलय होने पर जिसमें समा जाता है, उसे ही ब्रह्म जानो।[२९] जो कि अपने एक चरण से पृथ्वी और तीन चरणों से आकाश में व्याप्त है, समस्त भुवनों सहित विश्व का आधार है, चौरानवे नामों से वह हमारे चारों ओर व्याप्त होकर स्थित है।[३०] उनकी कलाओं से उत्पन्न ये देवता उसके महत्त्व को नहीं जान सकते। हे विष्णु! आप की महिमा को कोई नहीं पा सकता। जो हमारा पिता, माता, विधाता है, उसे ही सारे भुवनों और विश्व का आधार जानो।[३१] इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्म का लक्षण निश्चित होता है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि–''इसलिए हे द्विज! विज्ञान के सिवा और कोई वस्तु कभी कुछ भी नहीं है। यह एक विज्ञान ही अपने-अपने कर्मों के भेद से विभिन्न चित्तवालों को भिन्न-भिन्न पुरस्कार सा प्रतीत हो रहा है। ''वह ज्ञान शुद्ध'' निर्मल,

---

२७. नाहं न च शिवोऽन्ये च तच्छ.....क्रीडतेऽस्माभिच्युत:।। –पू० प्र०भा०, पृ० ६

२८. उत्पत्तिस्थितिसंहारानियतिर्ज्ञानमावृत्ति:।
बन्धमोक्षो च पुरुषाद्यस्मात् स हरिरेकराट्।। –पू०प्र०भा०, पृ० ६

२९. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,......तद् ब्रह्मेति।
–तै०उ० ३/१/१

३०. य उ त्रिधा तु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा....व्यतरिंवीविपत्।।
–पू०प्र०भा०, पृ० ६

३१. परोमात्रया तन्वा वृधान न ते महिरमन्वरनुवन्ति....भुवनानि विश्वा।।
–पू०प्र०भा०, पृ० ६

शोकहीन और लोभादि सम्पूर्ण संगों से रहित है। वही एक मात्र सत् श्रेष्ठ परमेश्वर है, तथा वही वासुदेव है, उससे पृथक् और कोई नहीं है।[३२]

विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति है-''वेवेष्टि अर्थात् जो व्याप्त हो, उसका नाम विष्णु है।[३३] व्याप्ति अर्थ के वाचक नुक् प्रत्ययान्त ''विष्'' धातु का रूप ''विष्णु'' बनता है। तात्पर्य यह है कि वह देश काल वस्तु रूप त्रिविध परिच्छेद से रहित है। महाभारत में कहा है कि–हे पार्थ! पृथ्वी और आकाश मुझसे व्याप्त है। तथा मेरा विस्तार भी बहुत है। हे पार्थ! इस विस्तार के कारण ही मैं 'विष्णु' कहलाता हूँ।[३४] विष्णुपुराण के अनुसार 'विष्णु' शब्द की व्याख्या है-''उस महात्मा की शक्ति इस सम्पूर्ण विश्व प्रवेश करना है।''[३५] वृहन्नारायण उपनिषद् की श्रुति है-जो कुछ भी संसार में दिखाई या सुनायी देता है, श्री नारायण उस सबको बाहर-भीतर से व्याप्त करके स्थित है।[३६] तत्त्व नर से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए वे नार कहलाते हैं, वे ही पहले भगवान् के अयन थे, इसलिए भगवान् ''नारायण'' कहलाते हैं। प्रलय-काल में नार अर्थात् जीवों के अयन होने के कारण नारायण है। अथवा अप्=जल नार कहलाता है, क्योंकि वह नर=परमात्मा का पुत्र है और पहले वह (नार) ही परमात्मा का अयन था, इसलिए वे नारायण कहलाते हैं।[३७]

महाभारत में भगवान् को विष्णु इसलिए कहा है कि–''सब ओर जाने (व्याप्त होने) के कारण विष्णु है।[३८]

भगवान् को वासुदेव भी कहते हैं, क्योंकि वे वसते हैं, अथवा सबको वासित यानि आच्छादित करते हैं, इसलिए वासु कहलाते हैं तथा दीव्यति अर्थात्

३२. तस्मान्न विज्ञानमृतेऽति किञ्चत् कचित् द्विज वस्तुजातम्.......किञ्चत्।।
–विष्णु पु० २/१२/४३-४४

३३. वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः। –वि०स०म०शां०भा०, पृ० ७३

३४. व्याप्ते मे रोदसी पार्थ क्रान्तिरश्चाभ्यषिका स्थिता....विष्णुरिव्यभिसंशितः।
–महा०शा० ३४१, ४२-४३

३५. यस्माद्विष्तनिदं सर्वतस्य शक्तया महात्मनः। तस्मादेवोच्यते विष्णुविंशेर्धातोः प्रवेशनात्।
–विष्णु पु० ३/१/४५

३६. यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते दृषतेऽपि वा।
अन्तर्वहिश्च तत्सर्वं व्यापः नारायणः स्थितः।। –वृ०ना०उ० १३/१/२

३७. मनुस्मृति-१/१०-आपोनारा इति प्रोक्ता.....नारायण स्मृतः।।

३८. विष्णुः विष्णुर्विक्रमणात्। –महा० उद्योग प० ७०/१३

क्रीडा करते, जीतने की इच्छा करते, व्यवहार करते, प्रकाशित होते, स्तुति किये जाते हैं, इसलिए देव हैं। इस प्रकार जो वासु भी है, और देव भी है, वे भगवान् वासुदेव हैं। यथा-मैं सूर्य के समान होकर अपनी किरणों से सम्पूर्ण जगत् को ढंक लेता हूँ तथा समस्त भूतों का निवास स्थान भी हूँ, इसलिए वासुदेव कहलाता हूँ।[३९] महाभारत के उद्योगपर्व में भी कहा है कि समस्त प्राणियों को बसाने से, वसुरूप होने से और देवताओं का उद्भव स्थान होने से भगवान् को वासुदेव जानना चाहिए।[४०] विष्णुपुराण में कहा है-''वह इस सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र सब वस्तुओं में बसता है, इसलिए विद्वज्जन उसे वासुदेव कहते हैं।[४१]

ब्रह्म शब्द से हिरण्यगर्भ का भी बोध होता है, अष्ट मूर्तियों में सूर्य और रुद्र को भी ब्रह्म शब्द से उल्लेख किया गया है, इसी प्रकार और अन्यों के लिए भी। ''ममयोनिर्महद् ब्रह्मम्'' इत्यादि में ब्रह्म शब्द बहुभाव की दृष्टि से प्रकृति का वाचक है। बृह् धातु जाति, जीव, कमलासन, शब्दराशि आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है। अतः ब्रह्मम् शब्द से वे सभी प्रसिद्ध है। फिर भी ब्रह्म शब्द आनन्दमय शब्द से वाच्य नहीं है, विष्णु ही वाच्य है, वही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म है, इसे ही ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म शब्द विष्णु में ही घटता है, किसी अन्य में नहीं घटता, क्योंकि इनके अतिरिक्त सब अपूर्ण है। अतः इनके लिए गौण रूप से ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है। ''इन्हें ही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् कहते हैं। ब्रह्म वासुदेवात्मक है, मूल मन्त्र से इसी का जप किया जाता है।[४२] इत्यादि में विष्णु के लिए ही बार-बार ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया जाता है।

मयट् प्रत्यय विकारार्थक होने से प्रवृत्ति आदि विकारात्मक है, अतः इनमें सही अर्थ में घटता है। मयट् प्रत्यय प्राच्र्यार्थक भी होता है, प्रचुर आनन्द स्वरूप होने से आनन्दमय ब्रह्म ही है। वही सविता=सूर्य, वायु, इन्द्र, अश्रुत् अदृष्ट है, जो कि हरि, विष्णु परम अनन्त नाम वाला है। वह अकेला ही सब शरीर में स्थित

---

३९. छादयामि जगत् सर्वं भूत्वा सूर्य इवाशुभिः। सर्व भूताधिवासश्च वासुदेवस्ततः स्मृतः।
—महा०शा०पर्व ३४१/४१

४०. वासनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः वासुदेवस्ततो वैद्य.....।
—महा०शा०पर्व ७०/३

४१. सर्वत्रासो समस्तं च वासत्येत्रेति वे यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपक्ष्यते।। —विष्णु पुराण-१/२/१२

४२. ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।
वासुदेवात्मकं ब्रह्म मूलमन्त्रेण वा यतिः।। —पू०प्र०भा०, पृ० ११

है, ऐसी विशेषता ब्रह्म की ही है, अन्य किसी की नहीं। ''विष्णु सर्वेन्द्रियमय है''। समस्त प्राणियों में स्थित है, सभी नामों से पुकारे जाते हैं और सभी वेदों में प्रतिपाद्य है।[४३]

ब्रह्म के अनन्त गुण है। इनके गुणों का वर्णन ''यः सेतुरजिनानां'' में किया है। ब्रह्म के गुणों को छांटना अशक्य है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि–''ब्रह्म शब्द से सभी का ग्रहण होता है, इसलिए ब्रह्म शब्द को विष्णु का ही विशेषण माना गया है, विभु के अतिरिक्त किसी अन्य में यह गुण नहीं है, इससे अमित गुण प्रकट होते हैं।[४४] जो पुरुष इस नेत्र से दीखता है; वह चक्षु में अन्तस्थ पुरुष ही ''विष्णु'' है। ''त्रिपादस्यामृतं दिवि'' इत्यादि से उन्हीं के अमृततत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म शब्द भी उन्हीं का प्रतिपादक है। वह ईश, सपत्न, हरि, पर, परात्पर है, जो इस नेत्र में घृत या जल का सेंचन करता है, वह उन्हीं दो मार्गों में से जाता है, वही वामन, भामन् आनन्द और अच्युत है। इसकी पुष्टि के लिए भी कहा है कि–जिनका आदि स्थान नेत्र है, जो समस्त वस्तुओं से असंग है, वह परब्रह्म वामन हमारी गति है, ऐसा ही सोचना चाहिए।[४५] विज्ञानब्रह्म, आनन्दब्रह्म आदि शब्द से विष्णु के स्वरूप का ही वर्णन किया गया है। जैसे-''परमानन्द लक्षण का ही है, निःसन्देह अव्यक्त से लेकर तृण तक सभी उसके (विष्णु) आनन्दांश से आप्लुत है।[४६]

मध्वाचार्य 'जन्मादि' पद में आठ (८) विभिन्न पदार्थों का समावेश करते हैं। वे आठ पदार्थ है–१. सृष्टि, २. स्थिति, ३. संहार, ४. नियम, ५. ज्ञान, ६. अज्ञान, ७. बन्ध तथा ८. मोक्ष। इन समस्त पदार्थों की सत्ता नाम से निर्देशित गुणों

---

४३. सर्वेन्द्रियमयो विष्णुः सर्वप्राणिषु व स्थितः।
सर्वनामाभिधेयश्च सर्ववेदोदितश्च सः।। –पू०प्र०भा० पृ० २१

४४. पृथग्वक्तु गुणास्तस्य न शक्यतेऽमित्त्वतः।
यतोऽतो ब्रह्मशब्देन सर्वेषां ग्रहणं भवेत्।।
एतस्माद् ब्रह्मशब्दोऽयं विष्णोरेव विशेषणम्।
अमिता हि गुणा यस्मान्नन्येषां तमृते विभुम्।। –पू०प्र०भा० पृ० २३

४५. यत् स्थानत्वादिकं चक्षुरसङ्गं सर्ववस्तुभिः।
स वामनः परोऽस्माकं गतिरित्येव चिन्तयेत्।। –पू०प्र०भा० पृ० २४

४६. लक्षण परमानन्दी विष्णोरेव न संशयः।
अव्यक्तादितृणान्तासु विष्णुरानन्दभागिनः।। –पू०प्र०भा० पृ० २४

के पूर्णत्व को लक्षित करती है। वह एकमात्र सत्ता जिसमें ये आठ पदार्थ स्थित रहते हैं ब्रह्म कहलाता है।

सामान्यत: दो प्रकार की परिभाषाओं में परस्पर विभेद किया जाता है, अर्थात् "स्वरूप लक्षण" और तटस्थ लक्षण ये ब्रह्म के दो भेद माने जाते हैं। परन्तु आचार्य मध्व और उनके अनुयायी 'जन्माद्यस्ययत:' इस सूत्र में बताये गए गुणों के स्वरूप का लक्षण मानते हैं। वे यह नहीं स्वीकार करते कि "आनन्द" एवं 'जीव' के सार-तत्त्व किसी भी अर्थ में गुणों के अतिरिक्त कुछ अन्य है। उस दशा में वे ब्रह्म से तादात्म्य रखने वाले सारतत्त्व नहीं हो सकते। जैसा कि एक "स्वरूप लक्षण" के लिए आवश्यक है, क्योंकि "आनन्द" भी किसी अन्य गुणों के समान एक गुण है। "यदि आनन्द एक स्वरूप-लक्षण माना जा सकता है, तो इस जगत् का कारण होने का गुण भी स्वरूप-लक्षण माना जा सकता है।[४७] यदि ब्रह्म का कारण होना उसका तटस्थ लक्षण है, तो वह अपनी शुद्धता में 'आनन्द' भी नहीं हो सकता। ब्रह्म का उत्पत्ति आदि का कारण होना उसका स्वरूप लक्षण है। "ब्रह्म न केवल इन गुणों से सम्पन्न है, बल्कि वास्तव में उसके गुण अनन्त है तथा उसका सत्त्व उसका स्वरूप लक्षण है।[४८] आचार्य मध्व 'अनुव्याख्यान' में कहते हैं-कि "ब्रह्म की प्रत्यक्ष व्याख्या भेद के आधार पर की जा सकती है, अत: अभेद के आधार पर ब्रह्म की अप्रत्यक्ष एवं दूरस्थ व्याख्या करना उचित नहीं है।[४९]

अनुमान से किसी अन्य ब्रह्म की कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह वेदों को न जानने वाले, उस महान् सर्वव्यापक भूमा स्वरूप ब्रह्म को, गवेषणा से नहीं जान सकते। यह औपनिषद् अर्थात् उपनिषद् से ही जानने योग्य पुरुष है। "श्रुति की सहायता के बिना कहीं भी अनुमान सही नहीं उतरता, श्रुति ही निश्चित करती है तभी अन्य प्रमाण सही उतरते हैं।[५०] श्रुति और स्मृति की सहायता से जो प्रमाण मेल खाता है, वही प्रमाण कहला सकता है। पूर्व और उत्तर वाक्य जब विरुद्ध हो तो कौन सा अर्थ यहाँ सही है, ऐसा संशय उत्पन्न होता है।

---

४७. आनन्दं लक्षणमिति चेत् तर्हि जगत् कारणं लक्षणमास्तु।-ता०व०पू०, पृ० १४०

४८. अनन्तगुण-सत्त्वमेष ब्रह्मणो लक्षणम्। —न्यायसुधा, पृ० १०७

४९. भेदेनेव तु मुख्यार्थ-सम्भवे लक्षणं कृत:। —अनुव्याख्यानम्, पृ० ५

५०. श्रुतिसाहाय्यरहितं अनुमानं न कुत्रचित्।
निश्चयात्साधयेदर्थं प्रमाणान्तरमेव च।। —पू०प्र०भा०, पृ० ६

जो अर्थ शक्य या सही होता है उसी का अनुमान सब जगह दिया जाता है। आगम के बिना कहीं भी अनुमान करना शक्य नहीं है, बिना आगम को समझे अनुमान करने की क्षमता होती भी नहीं।[५१] मोक्ष, धर्म में अविश्वास, पूर्वजन्म का स्मरण, चुम्बक मणि और सूर्यकान्त मणि, जलपान शक्ति, मरकर भूत होना, देवताओं से वरदान याचन इत्यादि शास्त्रीय प्रमाण है।[५२] इन बातों को असम्भव करना ठीक नहीं है। तप आदि के फलस्वरूप ये बातें प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। इससे जीव, ईश्वर अदृष्ट सिद्ध होते हैं।

ऋग्, यजु, साम, अथर्व, महाभारत, पंचरात्र, रामायण को ''शास्त्र'' कहते हैं। जो इनसे अनुकूल साहित्य है वह भी ''शास्त्र'' कहला सकता है। बाकी तो सब ग्रन्थ का विस्तार मात्र है, वह शास्त्र नहीं हो सकता, वह तो कुमार्ग है।[५३] अत: ब्रह्म की योनि अर्थात् प्रमाणशास्त्र ही है। इसलिए यह शास्त्रयोनि है। इस प्रकार ''शास्त्रयोनित्वात्'' इस ब्रह्म सूत्र का अर्थ है।

''तत्तु समन्वयात्'' इस सूत्र की मध्वाचार्य व्याख्या करते हैं कि–अन्वय, उपपत्ति आदि सारे लिंगों से मुख्य ब्रह्म ही शास्त्र से निश्चित होता है, जैसाकि–''उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपत्ति ही तात्पर्य के लिंग हैं।[५४] उपक्रमादि तात्पर्य निर्णायक लिंगों से भली-भांति निरूपण करने पर मुख्य ब्रह्म ही शास्त्रगम्य निश्चित होता है। ''शास्त्र में मुझे ही तत्त्व रूप से निर्णय और नियत किया गया है। उनमें अनेक रूप से और तर्क द्वारा स्थापित

---

५१. सर्वत्र शक्यते कर्तुं आगमं हि विनानुमा।
तस्मान्न सा शक्तिमृती विना गममुदीक्षितुम्।। –वही, पृ०७

५२. रेतो धातुर्वटकणिका धृतध्माधिवाससम्।
जातिस्मृतिरयस्कान्त: सूर्य कान्तोऽम्बुभक्षणम्।।
प्रेत्यभूताप्ययश्चेव देवताभ्युपयाचनम्।
मृते कर्मनिवृत्तिश्च प्रमाणामिति निश्चय:।। –वही, पृ० ७

५३. ऋग्यजु: सामर्थवाश्च भारतं पंचरात्रकम्।
मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते।।
यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम्।
अतोऽन्यो ग्रन्थ विस्तारो नेव शास्त्रं कुर्वत्म तत्।। –पू०प्र०भा०, पृ० ७

५४. उपक्रमोपसंहारा वभ्यासो पूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ति व लिङ्ग तात्पर्य निर्णये:।। –पू०प्र०भा०, पृ० ८

करने योग्य भी एकमात्र मैं ही हूँ, इन श्रुतियों का मैं ही हृदय हूँ, मेरे अतिरिक्त किसी और को मत जानो।[५५] ब्रह्म अर्थात् विष्णु मन-वाणी से परे हैं, अर्थात् ''जिसे न पाकर मन सहित वाणी लौट आती है।[५६] वह शब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य और अगन्ध है। ''वह अकथ्य है उसे वाणी से कहना कठिन है, वाणी जिससे प्रकट होती है, जो श्रोत्र से नहीं सुनता, जिससे श्रोत्र सुनते हैं।[५७] आदि वचनों में तो उसकी (ब्रह्म की) शब्द गोचरता का निषेध किया गया है।

इस प्रकार मध्वाचार्य में विष्णु, नारायण, हरि, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि को ही ब्रह्म मानते हैं।

डॉ० राधा कृष्णन् ने आचार्य मध्व के ईश्वर सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''तीन सत्ताएं अनादि काल से अनन्त काल तक रहने वाली है जो मौलिक रूप से एक-दूसरे से भिन्न है, अर्थात् ईश्वर, आत्मा तथा जगत्। यद्यपि ये सब यथार्थ और नित्य हैं फिर भी पिछले दो अर्थात् आत्मा तथा जगत् ईश्वर से निम्नश्रेणी के तथा उसके ऊपर आश्रित हैं। स्वतन्त्र यथार्थ सत्ता एकमात्र ब्रह्म है, जो शिव का निरपेक्ष स्रष्टा है। हम वेदों के अध्ययन द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान करते हैं[५८] और इस प्रकार उसका स्वरूप ऐसा नहीं है, जिसका वर्णन न हो सके। अधिक से अधिक उसके विषय में जो कहा जा सकता है, उसका तात्पर्य यही होता है कि उसके विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कठिन है।[५९] सर्वोपरि ब्रह्म सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान से परे हैं।[६०] समाधि में ध्यान लगाने पर कल्पना के द्वारा जो आकृति दिखाई पड़ती है वह ब्रह्म नहीं है। मध्व इस मत को स्वीकार करने के लिए किसी प्रकार की उद्यत नहीं है कि धर्मशास्त्र के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न प्रकार के ब्रह्म का प्रतिपादन करते हें। यद्यपि सर्वोपरि ब्रह्म तथा उसके गुण एकरूप हैं तो भी भिन्न-भिन्न शब्दों में उनका वर्णन हो

---

५५. मां विधत्तेऽभिधते मां विकल्प्योपोह्य इत्यहम्।
इत्यस्य हृदयं साक्षान्नान्यो मद् वेद कश्चन।। —वही, ८

५६. यतो वाची निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। —तै०उ० ३/९

५७. अवचनेनैव प्रोवाच यद्वाचानभ्युदितम्, येन वागभ्युद्यते यच्छोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोतमिदं श्रुतम्। —पू०प्र०भा०, पृ० ८

५८. महाभारत-३:३, १।

५९. महाभारत-१:१, ५।

६०. महाभारत-३:२, २३।

सकता है।[६१] इस सुप्रसिद्ध वाक्य का, कि ब्रह्म केवल एक है और दूसरा नहीं है। तात्पर्य यह है कि उत्कर्ष में ब्रह्म से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है और उसके समान भी नहीं है, क्योंकि वह सबके अन्दर समाविष्ट है। ईश्वर के गुण अपने स्वरूप में निरपेक्ष है और इस प्रकार से उसे सीमित नहीं करते। ब्रह्म में सब प्रकार की पूर्णता है। उसको तथा विष्णु को एकरूप माना गया है और कहा गया है कि वह अपनी इच्छा से संसार का संचालन करता है एवं अन्य सबका भी, जो उसके अन्तर्गत है, स्वतन्त्र शासक के रूप में संचालन करता है। वह संसार को बार-बार रचता तथा उसका संहार करता है। उसकी देह अतिप्राकृतिक है और उसे सब संसार से ऊपर माना गया है, तथा वह संसार के अन्तर्निहित भी है, क्योंकि वह सब जीवात्माओं में अन्तर्यामी है।[६२] वह अपने को नानाविध आकृतियों में प्रकट करता है। समय-समय पर अवतारों के रूप में प्रकट होता है और कहा जाता है कि पवित्र मूर्तियों के अन्दर गुप्त रूप में उपस्थित रहता है। वह सृष्टि को रचता, उसको धारण करता तथा उसका विनाश करता है, वह ज्ञान का प्रदाता है, अपने को नाना प्रकार से व्यक्त करता है, कुछ को दण्ड देता तथा अन्य को मुक्त करता है। लक्ष्मी उसकी पार्श्ववर्तिनी है जिसमें नाना रूप धारण करने की शक्ति है, किन्तु जिसकी देह भौतिक नहीं है। ईश्वर के साथ-साथ वह भी नित्य है और सर्वव्यापी है। वह अनन्त काल से ईश्वर के वैभव की साक्षी है। अन्य देवताओं तथा देवियों के विपरीत, जो कई जन्मों के अनन्त मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, लक्ष्मी नित्य युक्त है। लक्ष्मी ईश्वर की उत्पादक शक्ति का शरीरधारी रूप है। वह ज्ञानसम्पन्न प्रकृति है यद्यपि ईश्वर उससे सूक्ष्मता तथा गुणों में महान् है।[६३] ईश्वर आत्माओं तथा प्रकृति के ऊपर शासन करता है यद्यपि वह न तो अभाव से उसका निर्माण ही करता है और न उन्हें नष्ट करके अभावात्मक बनाता है। वह जगत् का उपादान कारण न होकर निमित्त कारण है, क्योंकि जड़ जगत् की उत्पत्ति एक सर्वोपरि ज्ञानसम्पन्न से नहीं हो सकती। ईश्वर की क्रियाशीलता उसकी अत्यधिक पूर्णता का परिणाम है। केवल इसलिए कि ईश्वर जीवात्माओं के कर्मों का विचार करता है यह नहीं कहा जा सकता कि प्रभु कर्म के ऊपर

---

६१. देखें न्यायसुधा-१:१, २, १:१, ६/ मध्वसिद्धान्तसार से भी तुलना कीजिए-भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः। (२१)

६२. न्यायसुधा १:२, १३।

६३. न्याय सुधा ४:२, ९।

निर्भर करता है, क्योंकि मध्व का कहना है कि "स्वयं कर्म का अस्तित्त्व तथा अन्य वस्तुओं का अस्तित्त्व भी ईश्वर के आश्रित है।

सर्वदर्शन संग्रह में अद्वैतवादी निर्गुण ब्रह्म का प्रत्याख्यान करते हुए मध्व के अनुसार ईश्वर के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि वेदान्ती लोग परमेश्वर से अभिन्न होने के लोभ से विष्णु भगवान् के गुणों के उत्कर्ष की मृगतृष्णा के समान भ्रान्त (मायामय) कहते हैं। यह कहना वैसा ही है जैसे कोई केले के फलों की इच्छा से अपनी जीभ ही कटवा ले। इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। बल्कि जीभ कट जाने पर केले के फलों का कोई उपयोग ही नहीं है। उसी तरह ईश्वर को निर्गुण मानने पर उनसे मिलने का कोई उपयोग ही नहीं। ऐसे विष्णु भगवान् को अप्रसन्न करने पर अन्धतमस् (नरक) में ही प्रवेश करना पड़ेगा। इसका प्रतिपादन मध्यमन्दिर (पूर्ण प्रज्ञ) ने अपने ग्रन्थ 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' में किया है कि–दैत्यगण विष्णु से अनादि काल से द्वेष रखते आ रहे हैं, विष्णु में भी उनके प्रति अत्यधिक द्वेष बढ़ता रहा है। इसलिए वे दैत्यों को अन्त में निश्चित रूप से निविड़ अन्धकार (नरक) में गिराते हैं।[६४] ईश्वर की सेवा के नियम को बतलाते हुए सर्वदर्शनकार ने कहा है कि उस सेवा के तीन भेद हैं–१. अंकन, २. नामकरण और ३. भजन।[६५]

अंकन वह है जिसमें भगवान् नारायण के रूप में स्मरण के लिए या अपेक्षित लक्ष्य (मुक्ति) की सिद्धि के लिए उनके आयुध (अस्त्र-शस्त्र) आदि का चिह्न, शरीर के किसी भाग पर अंकित कर दिया जाए। शाकल्य संहिता (ऋग्वेद की संहिता-विशेष) के परिशिष्ट में ऐसी बात है-"जो पुरुष देवताओं के बलस्वरूप अमर विष्णु के अभितप्त चक्र को धारण करता है, वह दुरितो (पापों) को नष्ट करके उस स्वर्ग में प्रवेश करता है जहाँ राग से हीन संन्यासी लोग जा सकते हैं।[६६] बाहु में जिस सुदर्शनचक्र को धारण करके देवता लोग

---

६४. अनादिद्वेषिणो दैत्या विष्णौ द्वेषो विवर्धितः।
तमस्यन्धे पातयति दैत्यानन्ते विनिश्चयात्।। –म०भा०ता० १/१११

६५. सा च सेवा अङ्कन-नामकरण-भाजनभेदात् त्रिविधा।
तत्राङ्कन नारायणायुधादीनां तद्रूपस्मरणार्थमपोक्षितार्थसिद्ध्यर्थ च।
–सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २२५

६६. चक्रं बिभर्त्ति पुरुषोऽभितप्तं.....वीतरागाः। –शाकल्य सं० "पूर्व प्रज्ञं"

चलते-चलते उस स्वर्गलोक में पहुँचे, जिस चक्र से अंकित होकर मनुओं ने संसार की सृष्टि की थी, उसी चक्र को ब्राह्मण लोग धारण करते हैं।[६७]

विष्णु का वह पद सबसे अच्छा है (बैकुण्ठ) जिससे होकर अंकित पुरुष पार करते हैं। बड़े पग वाले विष्णु के चिह्न से अंकित होकर हम लोग संसार में ऐश्वर्य युक्त बने।[६८] तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा है कि–जिसका शरीर तप्त (अंकित) नहीं है, वह पुरुष कच्चा (आमः) है, उसे (स्वर्ग को) नहीं पाता। उसको धारण करने वाले भक्त गण ही उसे प्राप्त करते हैं।[६९] अंकन करने के लिए विशेष स्थानों का उल्लेख अग्नि-पुराण में किया गया है–'ब्राह्मण' दाहिने हाथ में सुदर्शन-चक्र धारण करे, शंख की छाप बायें हाथ में धारण करे, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग मानते हैं।[७०]

नामकरण का अभिप्राय यह है कि अपने पुत्र आदि का केशव आदि (वैष्णव) नाम रखकर पुकारना जिससे भगवान् के नामों का अनुस्मरण होता रहे। उसे ही नामकरण कहते हैं।

भजन दस प्रकार का होता है-वाणी के द्वारा सत्य, प्रिय वचन तथा स्वाध्याय; शरीर से दान, बचाव और रक्षा करना, मन से दया, स्पृहा (इच्छा) और श्रद्धा। इनमें एक-एक की प्राप्ति कर लेने पर उसे नारायण को समर्पण कर देना ही भजन है। ऐसा ही कहा है कि–अंकन, नामकरण तथा दस प्रकार के भजन-यही ईश्वर सेवा है।[७१]

जीवात्मा निरूपण

मध्वाचार्य के अनुसार जीवों की उत्पत्ति विष्णु से हुई है। जीवों का नाश नहीं होता, क्योंकि जीवात्मा ब्रह्म-विष्णु के प्रतिबिम्ब के सदृश है। अतएव जीवात्मायें तब तक स्थित रहते हैं, जब तक ब्रह्म या विष्णु स्थित हैं, और

---

६७. देवासो येन विघृतेन बाहुना.....तद्वहन्ति।। –शाकल्य सं० "पूर्व प्रज्ञं"
६८. तद्विष्णोः परमं पदं......भवामः।। –शाकल्य सं० "पूर्व प्रज्ञं" (सर्व दर्शन संग्रह)
६९. 'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रिता स इद्वहन्तस्तत्समासत' –तै०उ० १/११
७०. दक्षिणे तु करे विप्रो विभृयाच्च सुदर्शनम्।
सत्येन शंख विभृयादिति ब्रह्मविदो विदुः।। –सर्व दर्शन का०, पृ० २२६
७१. नामकरणं पुत्रादीनां केशवादिनाम्ना व्यवहारः, सर्वदा तन्नामानुस्मरणार्थम्।
अंकन नामकरणं भजनं दशधा च तत्।
एवं ज्ञेय त्वादिनापि भेदोऽनुमातव्यः।। –सर्व दर्शन संग्रह

इसीलिए ये नित्य है। जीवात्मा के नित्य होने के विषय में श्रुति कहती है कि ये सारे चैतन्य आत्मा जो कि कभी नष्ट नहीं होते परं ज्योति में प्रविष्ट हो जाते हैं कभी नष्ट नहीं होते अर्थात् नित्य है और फिर जैसे-तैसे उत्पन्न हो जाते हैं।[७२] नित्य होते हुए भी जीव की औपाधिक उत्पत्ति होती है। कहा गया है किं-उस नित्य परमात्मा से ये नित्य चैतन्यजीव और अनित्य जड़=अचेतन प्रकृति उत्पन्न होते हैं, उन सब की औपाधिक उत्पत्ति ही कही गई है।[७३]

जिन उपाधियों के द्वारा ये प्रतिबिम्ब सम्भव होते हैं, वे उपाधियाँ दो हैं। जैसे कि कहा गया है कि-जीवों की उपाधियों दो प्रकार की होती हैं-बाह्य उपाधि तथा स्वरूपोपाधि। बाह्यउपाधि का नाश हो जाता है, किन्तु स्वरूप उपाधि का नाश नहीं होता।[७४] इस प्रकार जीवों का ब्रह्म=विष्णु के साथ ऐक्य भी है और भिन्नता भी है, तथा स्वरूप में ईश्वर के समान हैं।

कुछ श्रुतियों में कहा गया है कि ये सारे आत्मा चेतन, निर्गुण, सर्वरूप, अनन्त, सर्वात्मा और व्याप्त है। और कुछ श्रुतियों में कहा है कि यह आत्मा अणु है, इस समुज्ज्वल आत्मा से ये सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस विरुद्धता का मध्वाचार्य समाधान करते हैं-सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्या इस पोष्यायण श्रुति में जो हेतु प्रस्तुत किये गए हैं उनसे तो जीवात्मा का अणुत्व ही निश्चित होता है-वह इस शरीर से निकल कर अमुक लोक में जाता है, उस लोक से पुनः इसी लोक में आकर गर्भ में प्रवेश करता है, जन्म लेता है, कर्म करता है। तथा जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही पुण्य और पाप को भोगता है।[७५] इससे जीवात्मा के स्वातन्त्र्य की पुष्टि होती है।

आत्मा व्याप्त, चेतन और निर्गुण है, अन्तः जीव नहीं है, ऐसा कहना भ्रान्ति है। वह आत्मा इस जगत् की उत्पत्ति करता है, वह दो होकर इस जगत् का पोषण

---

७२. ते वा एते विदात्मनोऽविनष्टाः परं ज्योतिर्निर्विशन्त्यविनष्टा एवोत्पद्यन्ते न विनश्यति कदाचन। —पू०प्र०भा०, पृ० ८३

७३. उत्पद्यन्ते चिदात्मानो नित्यानित्यात्परात्मनः।
उपाद्यपेक्षया तेषामुत्पत्तिरपि गीयते।। —पू०प्र०भा०, पृ० ८३

७४. जीवोपाधिर्द्विधा प्रोक्तः स्वरूपं बाह्येव च।
बाह्योपाधिर्लयं याति मुक्तावन्यस्य तु स्थिति।। —त०प्र०, पृ० ११९

७५. एकः प्रसूयते जन्तुरेकेव प्रलीयते।
एकोऽनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्।। —पू०प्र०भा०, पृ० २/३/२०

करता है, वह अनेक रूप धारण करके इस जगत् में प्रविष्ट होकर अभिनय करता है, वह आत्मा का भी आत्मा है वह विष्णु, परात्पर ब्रह्म है। इत्यादि से निश्चित होता है कि व्याप्ति की बात भी परमात्मा के लिए ही कही गई है। एक, दो या बहु शब्द से उस एक केशव का ही वर्णन किया जाता है, इतने पर भी उसमें भिन्नता नहीं होती।

यह आत्मा अपनी भानशक्ति से विश्व में स्थित है, इसलिए वेदों में इसे मापदण्ड कहा गया है। व्याप्त आत्मा को स्पष्टत: आत्मा कहकर जगत् का मापदण्ड बतलाया गया है, जिससे परमात्मा का बोध होता है। जीव जगत् का मापदण्ड नहीं हो सकता, इस प्रसंग में आत्मा शब्द जीववाची नहीं है। परब्रह्म परानन्द परमात्मा को ही मेय आत्मा=मापदण्ड कहा गया है, अत: वह विष्णु ही एकमात्र गति है, उनके अतिरिक्त इन जीवों की कहीं गति नहीं है, आदि से भी आत्मा शब्द जीववाची नहीं है, इस कथन की पुष्टि मिलती है।

जीवात्मा अणु होते हुए भी समस्त शरीर में उसी प्रकार व्याप्त हैं, जिस प्रकार मलयागिरि चन्दन को शीतल और सुगन्धित कर देती है। चन्दन तो किसी स्थान विशेष पर लगाने से सम्पूर्ण शरीर को आप्लावित करता है, किन्तु जीव का तो ऐसा कुछ नहीं है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए क्योंकि 'हृदि हूयेव आत्मा' इस श्रुति में जीवात्मा के भी स्थान विशेष का उल्लेख किया गया है।

आलोक=अन्धकार में विशेष प्रकाशता होने से व्यापकता होती है तथा ज्योति का सीमित फैलाव होता है, इसी प्रकार चिद्गुण से आत्मा की व्याप्ति तथा जीवरूप से आत्मा की अव्याप्ति रहती है। जैसी-देवताओं में अवस्थानुसार पूर्णता-अपूर्णता होती है। इसमें व्याप्ति और अव्याप्ति ही पूर्णता और अपूर्णता की द्योतक है, चिद्गुण से पूर्णता तथा दूसरे उसके बिना अपूर्णता होती है। चिद्गुण स्वरूप होने से वे व्यापक होते हैं यह गुण देवताओं की शक्ति के अनुसार उसमें तारतम्यानुसार होता है।

जीवात्मा नित्य निरवयव पुण्य-पाप युक्त है, वह इस लोक में पुण्यादि के साथ लौटता है, वह जब मुक्त होता है तब वह न एक होता है, न सात, न दश, न सौ। इसके विपरीत एक वचन में कहा है कि—जीवात्मा पांच, सात, दश, सौ, हजार हो जाता है, और वह मुक्त हो जाता है। इस विपरीतता का परिहार करते हुए मध्वाचार्य कहते हैं कि—जैसे कि पुष्प से गन्ध पृथक् हो जाती है, वैसे ही अंशी जीव से उसके अंश से पृथक् हो जाते हैं। वह एक ही गन्ध के तरह अनेक

हो जाता है। वह एक होता है, अनेक होता है। वह जैसे-जैसे अपने ऐश्वर्य का प्रकाश करता है, वैसे-तैसे ही हो जाता है, वह अचिन्त्य और गौरवशील हो जाता है। अपनी अचिन्त्य ऐश्वर्य शक्ति से अवयव रहित वह एक ही अपने को अनेक रूपों में विभक्त करके योग द्वारा क्रीड़ा करता है।[७६]

'तत्त्वमसि' अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि श्रुतियों में तो जीव का परमात्मा से अभेद ज्ञात होता है तथा 'नित्यो नित्यानां', 'द्वासुपर्णा' आदि श्रुतियों में भेद प्रतीत होता है। मध्वाचार्य इसका समाधान करते हैं-वह अचिन्त्य परमात्मा जीव समूह से भिन्न पूर्ण है जबकि जीव समूह अपूर्ण हैं, इसलिए परमात्मा नित्युमुक्त है, जीव बन्धन से मुक्त होने की इच्छा करता है। एक वचन में दोनों की भिन्नता दिखला दी है। इसलिए जीव परमात्मा से भिन्न ही है।

जीव के ज्ञान, आनन्द आदि गुण ब्रह्म है वे ही सार स्वरूप है। इसलिए जीव ब्रह्म में अभेद का व्यपदेश किया गया है। सर्वगुणात्मक होने से ही ब्रह्म की सर्वात्मकता कही जाती है। जैसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति में ब्रह्म की सर्वात्मकता का उल्लेख है। जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध में बड़ा सुस्पष्ट वर्णन है कि जीव भिन्न है, परमात्मा भिन्न है, फिर भी ज्ञानरूप होने से समस्त वेद मंत्रों में जीव का ब्रह्मरूप से वर्णन किया गया है।[७७]

जीव की उत्पत्ति तथा उसके कर्म बन्धन का भी उल्लेख है कि अनादि पुण्य-पाप से अनुबद्ध, वह परमात्मा से निर्मुक्त होकर अनन्त स्वरूप हो जाता है। इसमें जीव का अनादि कर्म बन्धन और अनन्त रूप प्राप्ति का वर्णन है। ये दोनों परस्पर बातें कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए मध्वाचार्य कहते हैं कि जैसे-परमात्मा अनादि अनन्त रूप से स्थित है वैसे ही जीव भी है जैसा कि परमात्मा नित्य है, जीव भी नित्य है। जीव की धातुएं अनन्त है। इसी से यह जीव उत्पन्न होता है, मरता और मुक्त होता है। महाभारत में भी इसी बात को कहा गया है कि—आत्मा नित्य है, सुख-दुःख अनित्य है, जीव अनित्य है, किन्तु उसकी धातुएं अनित्य है।[७८]

---

७६. अचिन्त्ययेश्शक्त्येव ह्येकोऽवयवजित:।
आत्मानं बहुधाकृत्वा क्रीडते योगसम्पदा:।। —पू०प्र० भा० २/३/२७

७७. भिन्नाजीवा: परो भिन्नस्तथापि ज्ञानरूपत:।
प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषु सर्वश:।। —पू०प्र० भा० २/३/२९

७८. आत्मा नित्य: सुख-दु:खे त्वनित्ये जीवो नित्यो धातुरस्य त्वनित्य:।
—पू०प्र० भा०, पृ० ८७

यह विज्ञानात्मा देवताओं के साथ आनन्द, बल ओजवाला है। वह परमात्मा द्वारा इस लोक को प्राप्त होता है। वह विमुख होता है, इत्यादि वाक्यों में जीव को ज्ञानानन्द आदि रूप वाला कहा गया है। जीवात्मा दुःख से छूटकर आनन्दी होता है। वह अज्ञान से छूटकर ज्ञानी होता है, वह निर्बलता से छूटकर बलवान् होता है, इत्यादि वचनों से जीव के आनन्द रहित आदि रूपों की प्रतीति होती है। इसका समाधान करते हैं कि--जैसे बालक का पौरुषत्व यौवनावस्था में व्यक्त होता है, वैसे भी जीव के आनन्द आदि परमात्मा भाव में व्यक्त होते हैं। एक श्रुति वचन में स्पष्ट कहा गया है कि–बल, आनन्द, ओज और अखण्ड ज्ञान जीवात्मा के अपने स्वरूप में ही है, जो कि विभु परमात्मा के योग से प्रकट होते हैं।[७९]

व्यक्त को न स्वीकारने पर आनन्द आदि गुण देवताओं में नित्य उपलब्ध होते हैं, असुरों में अनुपलब्ध होते हैं, तथा मनुष्यों में नित्य उपलब्ध और अनुपलब्ध होते हैं, जैसे–नित्यआनन्द, नित्यज्ञान, नित्यबल, परमात्मा=विष्णु में ही है, असुरों में नहीं हैं, मनुष्य में भी और नहीं भी है। भविष्य पुराण के प्रमाण देकर पूर्णप्रज्ञ भाष्य में कहा है कि नित्यानन्द, ज्ञान, बल, देवताओं में होते हैं दानवों में नहीं होते। दानव तो केवल दुःख ही प्राप्त करते रहते हैं, किन्तु मनुष्यों को सुख और दुःख दोनों उपलब्ध है। इसके विपरीत यदि कहीं दीखते हैं तो वे औपाधिक है, जो कि आत्मयोग की साधना से प्राप्त होते हैं, उस साधना से जीव की अपने रूप में स्थिति हो जाती है। जीव जैसा कर्म करता है, वैसा हो जाता है। इसमें जीव का कर्तृत्व भी ज्ञात होता है।

यदि जीव में कर्तृत्व का अभाव है ऐसा मानने से शास्त्र का वचन झूठा हो जायेगा। अतः यही मानना चाहिए कि जीव भी कर्ता है[८०] 'स्त्रीभीर्वा यानेर्वा' इस श्रुति से मोक्षावस्था में भी जीव के कर्तृत्व का परिज्ञान होता है। साधना आदि करने का जीव के लिए उपदेश दिया गया है, उससे भी जीव का कर्तृत्व निश्चित होता है। 'आत्मानमेव लोकमुपासीत्' ऐसे जीव के लिए क्रिया में किए गए व्यपदेश से भी जीव का कर्तृत्व निश्चित होता है।

जीवात्मा की शक्ति अति सीमित है, परमात्मा के संयमन से ही वह कार्य

---

७९. बलमानन्द ओजश्च सहोज्ञानमनाकुलम्।
स्वरूपाण्येव जीवस्य व्यज्यन्ते पदमाद्विभोः।। –पू०प्र०भा०, २/३/३१

८०. कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्। –पू०प्र०भा०, २/३/३३

सम्पादन कर पाता है। जीव में कार्य के समाधान का अभाव दिखलाया गया है। इसलिए उसकी परतन्त्रता संज्ञा होती है। जैसा कि बढ़ई कार्य करने वाले विशिष्ट कारीगर के नियन्त्रण में ही कार्य करता है वैसे ही जीव में भी दोनों बातें हैं। जीवात्मा को वह कर्तृत्व शक्ति परमात्मा से ही प्राप्त होती है जैसा कि स्पष्ट कहा है-कर्तृत्व, कारणत्व, स्वभाव, चेतना और धृति जीव में परमात्मा की कृपा से ही है, उनकी उपेक्षा से इसमें इनका अभाव होता है।[८१]

शास्त्रों में परमात्मा और जीवात्मा दोनों को कर्ता कहा गया है, वह ठीक ही है, जीव के प्रयत्न में प्रेरणा परमात्मा को ही रहती है, बिना उसकी प्रेरणा के वह कार्य नहीं कर सकता। इसलिए परमात्मा में विषमता, निर्दयता, आदि दोष नहीं लगते, क्योंकि वह जीव के प्रयास के अनुरूप सहयोग देते हैं। जैसा कि कहा है-पूर्वकर्म प्रयत्न और संस्कार में ईश्वर की अपेक्षा रहती है, ये उन्हीं के बनाए हुए है वे ही सब कराते हैं। परमात्मा अनादि, निर्दोष और सर्वशक्तिमान् है। जीवात्मा बिना परमात्मा की कृपा के कुछ भी करने, अथवा न करने में असमर्थ हैं।

ये जीव अंश है, परमात्मा अंशी है, वे अचल हरि स्वयं ही यह सब अंशों से करवाते हैं। इससे जीव की अंशता ज्ञात होती है। इसके विपरीत कहा गया है कि जीव अंश नहीं है न उसका परमात्मा से अंशांशी सम्बन्ध ही है, जीव परमात्मा से अपेक्ष्य भी नहीं है फिर भी सर्व स्वतन्त्र परमात्मा जीव को कर्मानुसार यथायोग्य फल देते हैं, वह परमात्मा किसी से नियम्य नहीं है, सबके नियामक ही है। इस विपरीतता का समाधान मध्वाचार्य करते हैं-हे विभु! मेरी रक्षा करें, मैं परमात्मा का नित्य पुत्र हूँ, जो उन्हें पिता का भी पिता जानता है। ''द्वासुपर्णा सयुजा सखाया....' आदि श्रुति के निर्देश से जीवअंश ही निश्चित होता है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है, यह जन्मता मरता है, इसे पिता, पुत्र, भाई, सखा आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, परमात्मा भिन्न है, जीवात्मा भी भिन्न है, इससे उसका कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं है।

परमात्मा ही मल्लाह है, परमात्मा ही धूर्त है, परमात्मा ही दास-चाकर है। इससे अभेद का ज्ञान होता है पुत्र, भाई, सखा, स्वामी रूप में हरि ही का उल्लेख किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि जीव उनका अंश है, वे इन रूपों में अपने

---

८१. कर्तृत्व करणत्वं च स्वभावश्चेतना धृति।
यत् प्रसादादिमे सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया।। —पू०प्र० भा० २/३/४१

अंश जीव द्वारा ही व्यवहार करते हैं, इसलिए जीवात्मा और परमात्मा का भेद तथा अभेद रूप से उल्लेख किया गया है। अंशत्व के आधार पर जीवात्मा-परमात्मा का भेदाभेद है। परमात्मा के एक पाद में सारा भौतिक जगत् है।[८२] गीता में कहा है कि–इस जीव लोक में मेरा ही सनातन अंश जीव होकर आता है।[८३] अदृष्ट तथा अश्रुत वस्तु से ही एक जीव हुआ, जो कि परमात्मा का ही अंश है, परमात्मा के दो प्रकार के अंश है-स्वांश और विभिन्नांश। अंशी का जो सामर्थ्य और स्वरूप है वह वैसा का वैसा ही स्वांश में रहता है, उसमें अणुमात्र भी अन्तर नहीं होता है। किन्तु जो विभिन्नांश है, वह अल्पशक्ति है, उसमें थोड़ा-सा ही सादृश्य रहता है।[८४] जीव अंश है, देह के बन्धन में रहते हैं, ईश्वर के अनुग्रह से ही मुक्त हो सकते हैं।

उस विभु हरि परमात्मा के दो प्रकार के अंश है एक प्रतिबिम्बांश तथा दूसरा स्वरूपांश। प्रतिबिम्बांश जीव उस परमात्मा से ही प्रकट हुए हैं, किन्तु उनकी परमात्मा से बहुत थोड़ी समता है, स्वरूपांश में अधिक क्षमता है। प्रतिबिम्ब भी दो प्रकार के है-सोपाधि और अनुपाधि। जैसे कि–इन्द्र धनुष सूर्य के प्रतिबिम्ब से प्रकाशित होता हुआ भी इन्द्र धनुष्य कहलाता है, वैसे ही जीव और ईश्वर का अनुपाधिक प्रतिबिम्ब है।

एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा गहरी आसक्ति में डूबा हुआ है। अत: असमर्थ होने के कारण अर्थात् दीनता पूर्वक मोहित हुआ-शोक करता रहता है। जब यह भगवान् की अहेतु की कृपा से भक्तों द्वारा नित्य सेवित अपने से भिन्न परमेश्वर को और उसकी आश्चर्यमयी महिमा को प्रत्यक्ष देख लेता है, तब सर्वथा शोक रहित हो जाता है।[८५] इसलिए कणाद ने भी कहा है, विभिन्न अवस्थाओं में रहने के कारण जीवात्मा नाना प्रकार की है।[८६] इसका भाव यह है कि संसार में किसी को सुख मिलता है तो किसी को दु:ख, कोई बन्धन में है

---

८२. पादोऽस्य विश्वाभूतानि। –पू०प्र० भा०, पृ० ९१

८३. ममेवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:। –गीत० १५/७

८४. अदृष्टा श्रुतवत्तुत्वात् स जीवो य: पुनर्भव:।
स्वांशश्चाथो विभिन्नांश इति द्वेधांश इष्यते।। –पू०प्र० भा०, पृ० ९२

८५. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनिशया शोचति मुह्यभान:।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमा ना मिति वीतशोक:।। –श्वेता०उप० ४/७

८६. नानात्मानो व्यवस्थात:। –वै०शै० सू० ३/२/२०

तो कोई मुक्त, इस प्रकार की व्यवस्थायें अर्थात् विभिन्न अवस्थायें प्राप्त होती है। इसलिए जीवात्माओं को नाना प्रकार का मानते हैं। जीव एक नहीं है, क्योंकि कोई गरीब, कोई श्रीमंत, कोई इन दोनों से भिन्न और पुन: यहाँ जीवात्माओं को नानात्व सिद्ध किया जाता है।[८७] इस प्रकार जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न और नाना प्रकार तथा नित्य माना गया है।

यदि जीवात्मा को नित्य नहीं मानें, और जीव की उत्पत्ति, तथा विनाश शरीर के साथ-साथ मानें तो किये गए कर्म का नाश एवं न किये गए कर्म के फल की प्राप्ति का संयोग हो जायेगा। इसलिए महर्षि गौतम ने कहा है राग से रहित व्यक्ति का जन्म नहीं होता।[८८] तथा जीवों के चिद् एवं विशुद्ध आनन्द स्वरूप गुण केवल मोक्ष की अवस्था में ही ईश्वर के प्रसाद से अपनी पूर्णता में अभिव्यक्त होते हैं, तथा हमारी साधारण अवस्थाओं में वे मानो अविद्या से आच्छादित रहते हैं।[८९]

जीवों के पूर्व कर्मों के अनुसार ही संसार उनसे कार्य करवाता है, जो आच्छादित है। यद्यपि जीव ईश्वर के अंश है, तथापि वे उसी अर्थ में अंश नहीं है, जिस अंश में मत्स्य, कूर्म आदि अंशावतार है क्योंकि जहाँ पश्चादुक्त स्वरूपांश है, वहाँ पूर्वोक्त स्वरूपांश नहीं है। जीव ईश्वर के प्रतिबिम्बमात्र है, अत: वे ईश्वर के अंश होते हुए भी भिन्न हैं।

ब्रह्म और जीव की स्थायी नित्य सत्ताएं हैं, इसलिए उनका परस्पर भेद भी नित्य एवं यथार्थ है। जीव दु:ख और पीड़ा के विषय होते हैं, जो ब्रह्म=विष्णु नहीं है।[९०] इस प्रकार मध्वाचार्य के अनुसार जीवात्मा की सिद्धि होती है।

जीवात्मा का परिमाण–

जीवात्मा के परिमाण के विषय में प्रश्न उत्पन्न है कि जीवात्मा का क्या

---

८७. कश्चित् रंक: कश्चिदाढ्य: कश्चिदन्यविध: पुन:।
अनयेवात्मानात्वं सिद्धयत्यत्र व्यवस्थाया।। –तत्त्वा० श्लोक ९०

८८. वीतरागजन्मा दर्शनात्। –न्यायसूत्र ३/१/२५

८९. एवं जीव स्वरूपत्वेन मुक्तेः पूर्वमपि सतो ज्ञानानन्देन ईश्वरप्रसादेनाभिव्यक्तिनिमित्वेन आनन्दी भवति, प्रागविव्यक्तत्त्वेनानुभवाभाव प्रसंगात्। –त०प्र०, पृ० १२०

९०. जीवो ब्रह्म प्रतियोगिक धर्मिसत्ता समानसत्ताकभेदाधिकरणं....ब्रह्मवत्।।
–भे०जी०, पृ० १५

परिणाम? अणुपरिमाण, मध्यम परिमाण तथा महत् परिमाण, इन परिमाणों में से जीव का कौन-सा परिमाण है? इस प्रश्न के उत्तर में मध्वाचार्य कहते हैं कि-जीव का अणु परिमाण तथा परिच्छिन्न है, क्योंकि उत्क्रान्ति, गति और आगतिका श्रवण है। यथा-वह जब मरण समय इस शरीर से उत्क्रमण करता है तब इन सबके साथ उत्क्रमण करता है।[९१] यह श्रुति जीव के उत्क्रान्ति का प्रतिपादन करती है, अत: यह श्रुति उत्क्रान्ति प्रतिपादक है। जो कोई इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोक को ही जाते हैं।[९२] इस श्रुति में ''आत्मा'' की गति का प्रतिपादन है, अत: यह श्रुति 'गति' प्रतिपादक है। इसी प्रकार जीव के अवगति के विषय में भी प्रमाण है-उस लोक से पुन: इस कर्म लोक में आता है।[९३] तथा उस मार्ग में सकाम कर्म करने वाला योगी, चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर वापस आता है।[९४]

श्रुति और स्मृति ये दोनों जीव की आगति का प्रतिपादन करती है। अत: ये दोनों 'आगति' प्रतिपादक है। इन उत्क्रान्ति, गति एवं आगति विषयक स्मृति एवं श्रुतियों से जीव परिच्छिन्न है, ऐसा सिद्ध होता है, क्योंकि विभु की गति नहीं हो सकती।

कदाचित् उत्क्रान्ति तो अचल आत्मा की भी देह के स्वामित्व निवृत्ति से कर्मक्षय होने से हो सकती है, जिस प्रकारर ग्राम के स्वामित्व की निवृत्ति के समान। परन्तु आगे की गति और आगति तो अचल आत्मा की नहीं हो सकती, क्योंकि उनका सम्बन्ध अपने आत्मा के साथ होता है। कारण की 'गम्' धातु कर्तृनिष्ठ क्रिया है

मध्यम परिमाण रहित जीव के अणु होने पर ही गति और आगति हो सकती है। गति और आगति होने पर देह से अपसृष्टि अर्थात् बाहर निकलना ही उत्क्रान्ति है, ऐसा प्रतीत होता है। देह से बाहर न निकले हुए की गति और आगति नहीं होती। इस देह के बाहर जीवात्मा किस प्रकार निकलता है। इस विषय में कहते हैं कि यह जीवात्मा चक्षु से, मूर्धा से अथवा शरीर के अन्य भागों से बाहर निकलता है।[९५] इस प्रकार देह प्रदेश उत्क्रान्ति में अपादान रूप से कहे गये हैं।

---

९१. स यदात्माच्छरीरादुत्क्रामति सहेवैतेः सर्वैः उत्क्रामति। –को० उ० ३/३

९२. ये वे के चास्माल्लोकांत्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। –को०उ० १/२

९३. तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मे लोकाय कर्मणे। –वृ०उ० ४/४/६

९४. तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते। –गीता० ८/२५

९५. चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः। –वृ०उ० ४/४/२

वह जीवात्मा इन तेजोमात्राओ यानि इन्द्रिय समूह का सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर हृदय में ही अनुक्रान्त-अभिव्यक्त ज्ञानवान् होता है।[९६] प्रकाश इन्द्रिय मात्रा को लेकर जीवात्मा पुन: आ गति स्थान में आता है।[९७] इस प्रकार शरीर के अन्तर्गत भी जीवात्मा की गति ओर आगति होती है। इससे भी इस जीव की अणुत्वं सिद्धि है।

किन्तु यहाँ शंका होती है कि–जीवात्मा अणु नहीं है, किस से? इससे कि अणु परिमाण के विपरीत क़ी श्रुतियाँ यहाँ है–यह महान् अज-आत्मा है जो वह प्राणों में विज्ञानमय है।[९८] आकाश समान (आत्मा) सर्वगत और नित्य है।[९९] इस प्रकार की श्रुतियाँ जीवात्मा को अणु मानने पर विरुद्ध होंगी।

परन्तु जो कि यह प्राणों से विज्ञानमय स्वयं ज्योति स्वरूप है, ऐसा शरीर जीवात्मा का ही महत्त्व सम्बन्धी रूप से प्रतिनिर्देश किया जाता है। यह निर्देश तो शास्त्रदृष्टि से वामदेव के समान समझना चाहिए। जैसा कि मैं ही मनु हुआ और सूर्य भी।[१००] इसलिए अन्य परिमाण विषयक होने से जीव का अणुत्व विरुद्ध नहीं है, अर्थात् जीवात्मा अणु है।

यह अणु सूक्ष्म जीवात्मा केवल विरुद्ध विज्ञान से जानने योग्य है। जिस शरीर में प्राण पांच प्रकार का होकर प्रविष्ट है।[१०१] इस श्रुति से भी जीवात्मा अणु है यह सिद्ध होता है इस प्रकार साक्षात् ही जीव का अणुत्व-वाचक शब्द अर्थात् श्रुति, सुना जाता है। और ऐसा ज्ञात होता है कि प्राण के सम्बन्ध से जीव को ही अणु कहा गया है। उसी प्रकार "बालाग्रशतभागस्थ शतधा कल्पितस्थ च" यह उन्मान अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण भी जीवात्मा को अणु बतलाता है। इसी प्रकार-लकड़ी के डण्डे में लगे सूक्ष्म लोहकण्टक के समान आकार वाला जीवात्मा देखा गया है।[१०२] यह अन्य उन्मान अर्थात् अत्यन्त उपकृष्ट परिमाण है

जीव अणु है। प्रत्येक प्राणी में जीव भिन्न-भिन्न है और इसी से सुख- दु:ख

---

९६. स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति। –बृ०उ० ४/४/१
९७. शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम्। –बृ०उ० ४/३/१
९८. स वा एष महानज आत्म योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु। –बृ०उ० ४/४/२२.
९९. आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य:। –ब्र०सू०, शां०भा०, पृ० ५०२
१००. अहं मनुरभवं सूर्यश्च। –ब्र०सू०, शां०भा०, पृ० ५०२
१०१. एषोऽणुरात्मा चेतसावेदितव्यो यस्मिन्प्राण: पंचधा संविवेश। –मु०उ० ३/१/९
१०२. आराग्रमात्रो ह्यषरोऽपि दृष्ट:। –श्वे० उ० ५/८

के वैचित्र्य का समाधान हो सकता है। यह जीव अनन्त और गुणमयी माया से बद्ध है। यह ज्ञान का आश्रय और ज्ञान स्वरूप भी है। इसीलिए इन्द्रियों के बिना भी ''जीव'' में ज्ञान रहता है।

जीव द्रष्टा, भोक्ता, कर्ता और श्रोता आदि सभी है। यह अणु होने पर भी समस्त शरीर के सुख-दु:ख का अनुभव करता है। इसी से समस्त शरीर में प्रकाश भी हैं 'अणु' होने पर भी गुणों के कारण जीव ''विभु'' भी है, किन्तु इसमें सर्वगतस्य नहीं है, जीव स्वतन्त्र है, अपने ज्ञान, कर्म, मोक्ष तथा बन्धन, युक्त है। सबके निमित्त ''ईश्वर'' पर जीव निर्भर है। जीवात्मा अपने किये हुए कर्म का भोग स्वयं कराता है।

जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है और नित्य है। श्रुति भी ऐसा कहती है कि-जो सर्वदा साथ-साथ रहने वाले और समान नाम वाले दो पक्षी है। ये दोनों एक ही शरीर रूपी वृक्ष के आश्रित है। उनमें एक तो क्षेत्रज्ञ-जीव अपने कर्म से प्राप्त होने वाले स्वादिष्ट सुख-दु:ख रूपी फल का उपभोग करता है और दूसरा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप परमात्मा कर्मफल का भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।[१०३] इसका भावार्थ यह है कि-इस श्रुति के प्रथम चार पदों में ''ओं के स्थान पर =में हो गया है।[१०४] द्वासुपर्णा=जीव और ईश्वर, सुपर्ण का अर्थ पक्षी होता है, जिसके सादृश्य के कारण यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। सयुजो=समान गुणों वाले, सखायो-पाप नष्ट करना आदि गुणों के कारण ये आपस में समान है। वृक्ष=शरीर, क्योंकि शरीर भी वृक्ष के समान काटा जाता है ये दोनों=जीव और ईश्वर रूपी पक्षी वृक्ष पर आश्रित है। उनमें से एक=जीव, सुस्वादु पीपल का फल खाता है, अर्थात् सुख-दु:ख रूपी कर्मफल का भोग करता है; दूसरा=ईश्वर बिना खाये हुए अर्थात् कर्मफल से असंपृक्त होकर ही देखता है। यहाँ वास्तविक विषय को निगलकर अर्थात् दबाकर सुपर्ण, वृक्ष आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है, किन्तु अर्थ में उन्हें ही हटाना पड़ेगा, यह बहुत सुन्दर रूपकातिशयोक्ति हैं

महर्षि कणाद ने भी कहा है कि-विभिन्न अवस्थाओं में रहने के कारण आत्मा नाना प्रकार की है।[१०५] इसका भाव यह है कि संसार में किसी को सुख

---

१०३. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं......अभिचाकशीति।।-मु०उ० ३/१/१ श्वेत-४/६

१०४. सुपां सुलुक्। -पा० सू० ७/१/३९

१०५. नानात्मानो व्यवस्थात:। -वैशै० सू० ३/२/२०

मिलता है, तो किसी को दु:ख मिलता है। कोई बन्धन में है तो कोई मुक्त है। इस प्रकार की विभिन्न अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। इसलिए जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न, नाना प्रकार का तथा नित्य माना गया है। जीवात्मा की नित्यता भी प्रसिद्ध है-यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता है।[१०६]

मध्वाचार्य ने जीवात्मा को संसारी भी माना है। संसारी जीव असंख्य है। जीव इतने सूक्ष्म है कि एक परमाणु प्रदेश में भी अनन्त जीव रहते हैं। इनके द्वारा मनुष्य ही संसारी जीव का मध्यम परिमाण है। जीवात्मा सदैव सुख-दु:ख भोगते हैं, और सदैव स्वर्ग, नरक एवं पृथ्वी में घूमते हैं।

आचार्य मध्व ब्रह्म और जीव के मध्यगत भेद को यथार्थ मानते हैं।[१०७] और उनका मत है कि यह समझना भूल है कि मोक्ष की अवस्था में जीव और ब्रह्म अभिन्न हो जाते हैं और संसार में भिन्न हैं। क्योंकि दो भिन्न पदार्थ किसी भी समय में अभिन्न नहीं हो सकते और इसके विपरीत दो अभिन्न पदार्थ भिन्न नहीं हो सकते। सर्वथा ब्रह्म के आश्रित होते हुए भी जीवात्मा तात्त्विक रूप में क्रियाशील कर्त्ता है और उसके ऊपर जिम्मेदारियाँ भी है।[१०८] आत्मा स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है क्योंकि वह परिमित शक्ति वाली है और प्रभु उसका मार्ग प्रदर्शन करता है।[१०९] जीव को आकार में अणु बताया गया है और यह उस ब्रह्म से भिन्न है जो सर्वव्यापी है।[१११] आकार में परिमित होने पर भी वह अपने ज्ञानरूप गुण के कारण समस्त शरीर में व्याप्त रहती है। ज्ञानेन्द्रिय को साक्षी कहा गया है जिसके समक्ष भौतिक मन अपने सब प्रभावों को प्रस्तुत करता है। यह पहचान करने वाला तत्त्व ही है, जिसके कारण अहंभाव की चेतना उत्पन्न होती है, और यही व्यक्तित्त्व का आधार है।[११२]

---

१०६. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायंभूत्वा....शरीरे।। —गीता २/२०

१०७. न्याय सुधा १:२, १२।

१०८. न्याय सुधा २:३, ३३-४२।

१०९. न्याय सुधा २: ३, ३८, २:३, २८।

११०. न्याय सुधा २: ३, २३।

१११. भारतीय दर्शन, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ६५२-५३।

११२. न्याय सुधा २: ३, ३१।

आत्मा स्वभाव से आह्लादमय है, यद्यपि यह अपने पूर्व कर्म के अनुसार भौतिक शरीरों में सम्बद्ध होने के कारण सुख व दु:ख के अधीन है। जब तक यह अपनी मलिनताओं से विरहित नहीं होती, यह नाना जन्मों में अपनी आकृतियाँ बदलती हुई भ्रमण करती रहती है। आनन्द के समान इसके गुण मोक्ष की अवस्था में व्यक्त होते हैं।[११३] यद्यपि आत्माएं नित्य हैं, वे अपने शारीरिक सम्बन्ध के कारण जन्म धारण करती हुई कही जाती हैं।[११४] कोई भी दो जीव स्वरूप में एक समान नहीं होते। जीवन की तराजू में प्रत्येक का अपना-अपना मूल्य व स्थान है। जीव प्रभु के आश्रित है जो नि:सन्देह उन्हें अपने पूर्व आचरण के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य करता है।[११५]

चैतन्य-विशिष्य आत्माएं तीन प्रकार की हैं-१. एक वे जो सदा से मुक्त हैं जैसे-लक्ष्मी, १. वे जिन्होंने अपने को संसार से मुक्त कर लिया है, यथा देव तथा मनुष्य, ऋषि और पितृगण और ३. बद्ध। अन्तिम वर्ग में वे जो मुक्ति पाने के योग्य है और वे जो मुक्ति के अयोग्य हैं, दोनों ही आ जाती हैं। अन्तिम वर्ग की वे हैं जो नरक में जाने के लिए हैं अथवा तमोगुण के योग्य हैं अथवा वे हैं जो सदा के लिए संसार-चक्र में बंधी हुई है। जहाँ कुछ ऐसी आत्माएं हैं जो अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति के कारण मोक्ष के लिए पूर्व से निश्चित हैं वहाँ दूसरे वे हैं जिनका नरक में जाना निश्चित है और एक तीसरा वर्ग ऐसा है जो अनादि काल से अनन्त काल तक संसार-चक्र में घूमता रहता है और अन्तरहित क्रम से कभी सुख तो कभी दु:ख भोगता है। यह तीन प्रकार का वर्ग-विभाग तीन गुणों के आधार पर है। सात्त्विक आत्मा स्वर्ग को प्राप्त करती है, राजस गुण वाली संसार में चक्रवत् भ्रमण करती रहती हैं और तमोगुणी आत्मा नरक में गिरती है। जीवित प्राणी अनेकों वर्गों में विभक्त हैं जैसे देव, मनुष्य, पशु तथा वनस्पति। एक नियत श्रेणी विभाग जो जीवों के भेदों पर आश्रित है, परिष्कार के साथ बना हुआ तैयार है। ऐसे जीवात्माओं में भी जो मोक्ष के योग्य हैं किन्हीं दो आत्माओं में भी एक समान योग्यता नहीं पाई जाती है। द्युलोकगत साम्राज्य में भी ब्रह्म और वायु का स्थान सबसे ऊपर है। विष्णु के आदेश से ब्रह्म संसार की रचना करता है।

११३. ब्रह्मसूत्र के ऊपर मध्व-२: ३, १९।

११४. न्याय सुधा २: ३, ४१-४२। यहाँ तक कि स्वप्नों का आना भी ईश्वरेच्छा के अधीन ही बताया गया है। (३: २, ३ और ५)।

११५. मध्व को अपने अपने अनुयायी वायु का अवतार मानते हैं, जिसने पूर्वजन्मों में अपने को हनुमान तथा भीम के रूप में प्रकट किया।

वह सबसे महान् गुरु भी है और मध्व के ब्रह्म सम्प्रदाय नामक दर्शन का सर्वप्रथम बोधक है। ईश्वर तथा आत्माओं में वायु मध्यस्थ का कार्य करती हैं। वह ज्ञान तथा मोक्ष-प्राप्ति में आत्माओं की सहायता करती है। उसे प्रेयसी प्रतिमा अथवा ईश्वर का पुत्र (हरेः सुतः) भी पुकारा गया है।[११६]

सृष्टि संरचना

मध्वाचार्य ने सृष्टिरचना में माया का अर्थ प्रस्तुत करते हुए कहा है कि माया का शाब्दिक अर्थ यह है कि--"या मा सा-माया" अर्थात् "जो नहीं है वही माया है। यदि प्रपंच की सत्ता वास्तव में है तो वह नष्ट भी होगा, इसमें सन्देह नहीं। यह द्वैत केवल माया है, वास्तव में तो अद्वैत ही सत्य है।[११७] इससे कोई शंका कर सकता है कि द्वैत (भेदभाव) काल्पनिक है। ऐसा कहना तो ठीक नहीं है, परन्तु बिना भाव को सोचे-समझे कहने का यह फल है। इसे समझने की कोशिश करे या प्रयत्न करें। यदि यह प्रपंच उत्पन्न होता, तभी तो इसका विनाश होता। इसमें सन्देह नहीं, इससे पता लगता है कि ऐसी बात नहीं, क्योंकि यह माया मात्र है। माया का अर्थ है--भगवान् की इच्छा। "माया मात्र" शब्द का अर्थ है, ईश्वर की प्रज्ञा जिसको माने और जिसकी रक्षा करे वही है। माया-मात्र "माया+ऽमा+ऽत्रा। अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि--परमेश्वर इस प्रपंच को जानते हैं तथा रक्षा भी करते हैं। इसलिए द्वैत भ्रान्ति के द्वारा कल्पित नहीं है, अर्थात् सत्य है। ईश्वर को भी सभी पदार्थों के विषय में भ्रान्ति होगी, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति विशेष (भेद) के अन-दर्शन पर निर्भर करती है।

आचार्य मध्व माया अर्थात् ईश्वर की इच्छा में प्रमाण देते हैं-"हे अनन्त ईश्वर! आपकी इच्छा को ही महामाया, अविद्या, नियति, मोहिनी, प्रवृत्ति और वासना भी कहते हैं।[११८] अधिक उत्पन्न होने के कारण इसे प्रकृति कहते हैं, विचारों को पैदा (निर्माण) करने के काण इसे वासना कहते हैं। 'अ' का अर्थ

---

११६. प्रपञ्चो यदि विद्येत विवर्तेत न संशयः।
माया मात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थत।। —माण्डू० का० १/१७

११७. महामायेत्यविति नियतिमोहिनीति च।
प्रकृतिर्वासनेत्येव तवेच्छानन्त कथ्यते।। --स०द०सं०, पृ० २६८

११८. प्रकृतिः प्रकृष्ट करणाद्वासना वासयेग्रतः।
अ इत्युक्तोहरिस्तस्य मायाविधेति संज्ञिता।।
मायेत्युक्ता प्रकृष्टत्वात्प्रकृष्टे.....स्वानन्दलक्षणा।। —स०द०सं०, पृ० २६८

हरि है, उनकी माया (इच्छा) को अविद्या नाम देते हैं। प्रकृष्ट अर्थात् बड़ी होने के कारण इसे माया कहते हैं, क्योंकि 'मय' का अर्थ 'बड़ा' होता है। इन शब्दों का एकमात्र विष्णु की प्रज्ञा का ही बोध होता है, हरि विशिष्टज्ञान के स्वरूप है, उस विशिष्टज्ञान अर्थात् प्रज्ञा का लक्षण है, निरन्तर (अपने-आप) आनन्द प्राप्ति।[११९] उन वचनों के प्रमाता से माया का अर्थ भगवान् की इच्छा सूचित होता है।

मध्वाचार्य ने लक्ष्मी, श्री, शक्ति, देवी, आदि सभी को माया के रूप में स्वीकार किया है–

लक्ष्मी–

'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः' इस धातु से 'लक्ष्मी' शब्द सिद्ध होता है जो चराचर जगत् को देखता, चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे-शरीर के नेत्र नासिकादि और वृक्ष के पत्र-पुष्प, फल, मूल, पृथिवी, जल के कृष्ण, रक्त, श्वेत मृत्तिका, पाषाण, चन्द्र, सूर्यादि चिह्न बनाता है, तथा सबको देखता, सब शोभाओं की शोभा और जो वेदादि शास्त्र का धार्मिक विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है, वह 'लक्ष्मी' है।[१२०] 'श्रिञ् सेवायाम्' धातु से श्री शब्द सिद्ध होता है। जिसका सेवन सब जगत् विद्वान् और योगिजन करते हैं, वही 'श्री' है।[१२१]

'शक्तृ शक्तौ' इस धातु से शक्ति शब्द बनता है। जो जगत् के बनाने में समर्थ-है, इसलिए उसे 'शक्ति' कहते हैं।[१२२] जितने 'देव' शब्द के अर्थ लिखे हैं, उतने ही 'देवी' शब्द के भी है। परमात्मा के तीनों लिङ्गों में नाम है--जैसे–ब्रह्म, जब ईश्वर का विशेषण होगा तब 'देव' जब चित्ति का विशेषण होगा, तब 'देवी'।[१२३] इसलिए माया का नाम भी 'देवी' है। यह परमात्मा से भिन्न परन्तु केवल उसी के अधीन है। ब्रह्मा आदि जीव 'लक्ष्मी' के ही पुत्र है और प्रलय में ये सब लक्ष्मी में ही हानि हो जाते हैं। परमात्मा की कृपा से बलवती

११९. यो लक्षयति पश्यत्यङ्कते चिह्नयति चराचरं जगदथवा वेदेशाप्तेर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते सा लक्ष्मीः। --स०प्र०सं०, प्रथम

१२०. यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिः योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः। –स०प्र०सं०, प्रथम।

१२१. यः सर्वं जगत् कर्त्तुं शक्नोति स शक्तिः। स०प्र०स० प्रथम।

१२२. ब्रह्म चिचिरीश्वरश्चेति। –स०प्र०स०, प्रथम।

१२३. म० सि० सा०, पृ० ४२ क।

लक्ष्मी एक क्षण में विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय, महाविभूति, वृत्तिप्रकाश, नियमावृत्ति, बन्धन तथा मोक्ष को सम्पादन करती है। हिरण्यगर्भादि जीवों की अपेक्षा, भगवान् की प्रीति भक्ति और ज्ञान में लक्ष्मी कोटि-गुण अधिक है।

परमात्मा के समान लक्ष्मी भी नित्य मुक्त और आप्तकाम है। ऐसा होने पर भी यह विष्णु की सदैव उपासना करती है। लक्ष्मी और विष्णु का सम्बन्ध अनादि है। इसलिए ये दोनों अनादि-नित्य, अनादि-युक्त, अनादिमुक्त तथा अनादिकृत है। यह परमात्मा की पत्नी है। ये दोनों नित्यमुक्त है? अतएव इनके परस्पर संयोग से सुख की अभिव्यक्ति तो हो नहीं सकती। फिर भी इनमें पति-पत्नी का सम्बन्ध मानने का कारण यह है कि भगवान् "आत्म-रमण" होने पर भी लक्ष्मी के प्रति अनुग्रह पूर्वक लक्ष्मी में स्व स्त्री-रूप में प्रवेश कर दूसरे रूप में क्रीड़ा करते हैं। अर्थात् लक्ष्मी में वर्तमान अपने ही रूप के साथ भगवान् क्रीड़ा करते हैं। लक्ष्मी भी चिद्रूप एवं अनन्त है।

लक्ष्मी के अनेक शरीर होने से नाम भी अनेक है। मध्वाचार्य देह (शरीर) को मूर्ति कहते हैं। लक्ष्मी की अनेक मूर्तियाँ है, श्री, भू दूर्गा नृणी, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता, जयन्ती, सव्या, रुक्मणी आदि सभी लक्ष्मी की मूर्तियाँ है। ये भगवान् के ऊरु: स्थल में रहती है और इस अवस्था में यज्ञ नाम को धारण करती है। दक्षिणा मूर्ति के साथ भगवान् को अत्यन्त सुख होता है। यह भी अप्राकृत शरीर है, यह देश और काल से ही पूर्ण है न कि गुण से। यही लक्ष्मी और परमात्मा के आनन्त्य का बोधक है।

लक्ष्मी को शक्ति नाम से भी बोधित किया जाता है। इस शक्ति के चार प्रकार है–१. अचिन्त्यशक्ति, २. सहजशक्ति, ३. आधेयशक्ति और ४. पदशक्ति।

१. अचिन्त्यशक्ति–

अघटित घटना में पटीयसी शक्ति ही अचिन्त्य शक्ति है। वह परमेश्वर में सम्पूर्ण रूप से हैं और लक्ष्मी, ब्रह्मा आदि की अपेक्षा परमात्मा में अवधि रहित है। जैसे-बैठे रहने पर भी दूर चला जाना, अणु होना, महत् होना, अणुत्व एवं महत्त्व इन दोनों को एक ही समय में अपने में रखना इत्यादि अचिन्त्यशक्ति के उदाहरण है। लक्ष्मी में परमात्मा की शक्ति से अनन्त अंश न्यून शक्ति है। लक्ष्मी की शक्ति के कोटि गुण न्यून शक्ति ब्रह्मा तथा वायु की है। इस प्रकार तारतम्य सभी द्रव्यों में है।

२. सहजशक्ति–

कार्यमात्र के अनुकूल स्वभाव रूप शक्ति ही सहज शक्ति है। जैसे-दण्ड आदि में घर बनाने की अनुकूल शक्ति हैं यह अतीन्द्रिय है। एक प्रकार से यह कारण धर्म विशेष ही है। यह सभी पदार्थों में है यह नित्य-और अनित्य भी है। नित्यद्रव्य में नित्य है तथा अनित्य द्रव्य में अनित्य हैं

३. आधेयशक्ति–

अन्य वस्तु में अहित अर्थात् दी हुई शक्ति आधेय शक्ति है। जैसे-प्रतिष्ठित प्रतिमा की ही पूजा होती है, उसमें प्रतिष्ठा रूप क्रिया के द्वारा प्रतिमा में पूर्ण न रहने वाले देवता का सानिध्य होता है। उसे ही आधेय शक्ति करते हैं। जैसे-'ब्रीहीन् प्रोक्षति' इससे ब्रीही में कामिनी चरण के आघात से अशोक वृक्ष में अकालिक पुष्प की उत्पत्ति तथा ओषध लेपन से कांच के पात्र में दौड़ने की शक्ति आदि आधेय शक्ति के उदाहरण है।

४. पदशक्ति–

पद और उसके अर्थ में जो वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है वही पदशक्ति है। 'गो पद' से गो अर्थ का ज्ञान जिससे हो। वही 'पद्शक्ति' हैं यह शक्ति स्वर, ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य में रहती है। पदशक्ति के दो प्रकार है–१. मुख्या और २. परममुख्या। परमात्मा में सभी शब्दों की परममुख्या शक्ति है अन्य में केवल मुख्यशक्ति है।

प्रकृति–

साक्षात् जैसे-काल एवं तीनों गुणों का या परमात्मा जैसे महदादि का उपादान प्रकृति है। इसी से यह द्रव्य भी है। यह बड़ी परिणामिनी तीनों गुणों से अतिरिक्त अव्यक्त और नानारूप है। महाप्रलय के अनन्तर नवीन सृष्टि का उपादान कारण होने से यह नित्य है। क्षण, लव आदि काल के विभागों का भी कारण यह है। इसी से व्यापक भी है। जीवों के लिंग-शरीर की समष्टि रूप प्रकृति ही है। महाप्रलय में यह अकेली रहती है।

गुणत्रय–

सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के समुदाय को 'गुणत्रय' कहते हैं। भगवान् ही सृष्टि काल में मूल प्रकृति से सत्त्व राशि, रजोराशि, तथा तमोराशि को उत्पन्न कराते हैं। इसी गुणंत्रय से महदादि सृष्टि होती है। सृष्टि के लिए इन

तीनों गुणों में निम्नलिखित परिमाण रहता है। तम से दो गुणा रज और रज से दो गुणा सत्त्व, तमोगुण महत्तत्व से दश गुना अधिक परिमाण है। महत्तत्व के चारों ओर यह दशगुणित तमोगुण घिरा हुआ है।

प्रकृति से पहले केवल शुद्ध सत्त्व उत्पन्न होता है। सत्त्व और तमोगुण के मिश्रण से रजोगुण तथा सत्त्व एवं रजोगुण के मिश्रण से तमोगुण होता है। रजोगुण में एक भाग रज सौ भाग सत्त्व और १/१०० भाग तम है। तमोगुण में एक भाग तम १० भाग सत्त्व और १/१० रज है। गुणों के इसी वैषम्य को 'सृष्टि' कहते हैं। सृष्टि काल में सत्त्व गुण कभी मिश्रित नहीं रहता है। यह सर्वदा शुद्ध ही रहता है, गुणों की साम्यावस्था को ही प्रलय कहते हैं।

रजोगुण से जगत् की सृष्टि रजोगुण में विद्यमान सत्त्व गुण से स्थिति तथा तमोगुण से संहार होता है। सत्त्व की अभिमामिनी देवी श्री, रज की अभिमानिनी देवी भू, तथा तम की अभिमानिनी देवियाँ, 'दुर्गा' एवं 'रमा' है। इसी प्रकार सत्त्व को ब्रह्मा रज को विष्णु तथा तम को महेश, ये गुणत्रय के अभिमानी देवता है।

मन–

मनस्तत्त्व भी दो प्रकार का होता है–सत्त्वरूप और उससे भिन्न। वैकारिक अहंकार से मनस् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। रुद्र, गरुड़, शेष, काम, इन्द्र, अनिरुद्ध, ब्रह्मा, सरस्वती, वायु एवं चन्द्रमा ये इसके अभिमानी देवता है। तत्त्व भिन्न 'मन' इन्द्रिय है। यह भी दो प्रकार की है–नित्य और अनित्य।

नित्यमनोरूप इन्द्रिय–'परमात्मा', लक्ष्मी, ब्रह्मा आदि सभी जीवों के स्वरूपभूत है। यह 'साक्षी' कहलाती है। इसीलिए चैतन्य स्वरूप है। ''बद्धजीवों'' का मन 'चेतन' और 'अचेतन' दोनों है। किन्तु 'मुक्ति' का मन केवल चेतन ही है। भगवान् यद्यपि अपने स्वरूप से ही भोगों को भोग सकता है, तथापि जीव की देह में रहकर वह जीव की इन्द्रियों के द्वारा ही भोगता है।

अनित्य मनोरूप इन्द्रिय–

ब्रह्मादि सब जीवों में है और यह बाह्य पदार्थ है। यह पांच प्रकार का है–मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा चेतना। 'मन' संकल्प–विकल्पात्मक है। निश्चयात्मिका 'बुद्धि' है। अपने रूप से भिन्न में अपने रूप की मति को ही 'अहंकार' कहते हैं। 'चित्त' स्मरण का हेतु है। कार्य करने की शक्ति स्वरूप चेतन्य ही 'चेतना' है।

बुद्धि–

महत्तत्व से 'बुद्धितत्त्व' की उत्पत्ति होती है। बुद्धितत्व दो प्रकार का है–तत्त्वरूप तथा ज्ञानरूप। इनमें ज्ञानरूप बुद्धि गुण विशेष है। यह तत्त्व नहीं माना जाता है। तैजस् अहंकार के द्वारा यह उपचित होता है। ब्रह्म से लेकर उमा पर्यन्त इसके अभिमानी देवता है।

अहंकार–

महत्त्वगत तमोगुण के भाग से 'अहंकार' की उत्पत्ति होती है। इसमें १० भाग 'सत्त्वगुण', १ अंश 'रज' तथा रज का दसवां हिस्सा 'तम' है। यह महत्तत्व से दशांशन्यून है। गरुड़, शेष, रुद्र आदि इसके देवता है।

इन्द्रिय–

अपने-अपने विषयों के प्रति गमन की शक्ति जिसमें हो वह 'इन्द्रिय' है। यह भी दो प्रकार की है। सत्त्वभूत एवं 'तत्त्वभिन्न' और भी इसके दो भेद हैं-'ज्ञानेन्द्रिय' और 'कर्मेन्द्रिय'। ये भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की है। इनमें 'तत्त्वरूप' और अनित्य 'ज्ञानेन्द्रियाँ' एवं कर्मेन्द्रियाँ तो तेजस् अहंकार से उत्पन्न है, किन्तु 'तत्त्वभिन्न' और 'नित्य ज्ञानेन्द्रियाँ' एवं 'कर्मेन्द्रियाँ' परमात्मा, लक्ष्मी आदि सब जीवों की 'स्वरूपभूत है। यह 'साक्षी' कहलाती है।

परमात्मा और लक्ष्मी की दस-इन्द्रियाँ प्रत्येक गन्ध आदि सब पदार्थों की ग्राहक है, परन्तु मुक्त तथा बद्ध जीवों की इन्द्रियाँ केवल अपने ही विषय की ग्राहक है। ब्रह्मादि सब जीवों की इन्द्रियाँ अनित्य एवं तत्त्व भिन्न है। ब्रह्मादि की भी स्थूल इन्द्रियाँ है और इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कारण यह कहा गया है कि ब्रह्माण्डान्त पंचभूत सृष्टि के अनन्तर ब्रह्मादिगत सूक्ष्म इन्द्रियाँ हो जाती है।[१२४] अतएव ये "प्राकृत इन्द्रियाँ" है। ब्रह्मा, सूर्य आदि इन इन्द्रियों के अभिमानी देव है।

स्वरूपभूत इन्द्रियाँ "साक्षी" कही जाती है। मुक्तावस्था में इनके द्वारा साक्षात् सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। संसारावस्था में भी साक्षी-स्वरूप इन्द्रियों के आत्मा, मन, मनोधर्म, सुख-दुःखादि, अविद्या काल एवं अन्याकृतावस्था-साक्षात् विषय है। बाह्येन्द्रियों के द्वारा शब्दादि भी "साक्षीगोचर" है। ज्ञातभाव से या अज्ञातभाव से सभी अतीन्द्रिय पदार्थ साक्षीगोचर है।

१२४. म० सि० सा०, पृ० ५६ क-ख।

अविद्या–

'पंचभूत' की सृष्टि के पश्चात् चतुर्मुख ने 'अविद्या' की उत्पत्ति की। यथार्थ में 'अविद्या' या 'माया' अनादि है। अतएव इसकी उत्पत्ति नहीं होती, फिर भी इसकी उत्पत्ति हुई। इस कथन से तो 'अविद्या सदैव है, किन्तु सृष्टि के लिए इसका स्थूलभूत आवश्यक है। अतएव ब्रह्माण्ड के बाहर ही अविद्या के स्थूल रूप को उत्पन्न कर परमात्मा ने ब्रह्माण्ड के मध्य में रहने वाले चतुर्मुख में उसे रखा और ब्रह्मा ने उसे अपने शरीर से बाहर निकाला। इसी से इसकी उत्पत्ति मानी जाती है।[१२५] पंचभूतों के तमोगुण ही इसके उपादान है।

अविद्या की पांच श्रेणियाँ होती है, जिन्हें क्रमशः मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र तथा तम कहते हैं। विपर्यय, आग्रह, क्रोध, मदण तथा शार्वर इनके क्रमिक नामान्तर है।

अविद्या के अन्य चार भेद हैं–'जीवाच्छादिकाः परमाच्छादिकाः शैवलाः', तथा 'माया'।[१२६] अविद्या के ये भेद सभी प्रकार जीव के ही आश्रित रहते हैं। प्रत्येक जीव के लिए भिन्न-भिन्न अज्ञान है। अविद्या की अभिमानिनी देवी दुर्गा है।

वासना–

स्वप्न में देखी जाने वाली बातों के उपादान कारण को 'वासना' कहते हैं।[१२७]

स्वप्न विचार–आचार्य मध्व के मत में 'स्वप्न' में अनुभूत बातें सभी सत्य नहीं हो जाती है। 'स्वप्न' शुभदायक और अशुभदायक भी होता है। यदि 'स्वप्न' मिथ्या होता, तो इसके सम्बन्ध में शुभ और अशुभ ही नहीं होता।[१२८]

जाग्रतावस्था में 'स्वप्न' की बातें नहीं दीख पड़ती है। इसका कारण यह है कि ईश्वर से प्रेरित होकर वे विद्युत् के समान स्वप्नावस्था में ही उत्पन्न होती है, फिर नष्ट भी होती है।[१२९]

---

१२५. प० सं०, पृ० ५६ ख।
१२६. प० सं०, पृ० ६१ ख।
१२७. म० सि० सा०, पृ० ६१ ख।
१२८. म० सि० सा०, पृ० ६२ क।
१२९. म० सि० सा०, पृ० ६२ क-ख।

स्वप्न की उत्पत्ति–

जाग्रत अवस्था में जिन बातों का अनुभव होता है, उन्हीं अनुभवों से अन्त:करण के सहारे से वासनाएं उत्पन्न होती है। अन्त:करण ही इनका आश्रय है। ये अनुभव अनादिकाल से चले आ रहे हैं और प्रत्येक जीव के मन में संस्कार रूप से वर्तमान रहते हैं। अपनी इच्छा से ही ये मनोगत संस्कार जीव को दिखाई देते हैं, और वही दिखाई देना 'स्वप्न' कहलाता है।

मनोरथ तथा स्वप्न–मनोरथ तथा ध्यान में भी तो संस्कार से उत्पन्न विषय का अनुभव मन के द्वारा होता है, और स्वप्न में भी ऐसा ही होता है। फिर मनोरथ तथा 'स्वप्न' के अनुभवों में भेद इतना ही है कि 'मनोरथ' की सृष्टि मनुष्य प्रयत्न से होती है, किन्तु 'स्वप्न की सृष्टि' अदृष्ट के सहारे ईश्वर के अधीन है।[१३०]

ध्यान और वासना–

इसी प्रकार ध्यान या उपासना में भी जो भगवान् के सदृश आकार दिखाई देता है। वह भी वासनामय है, क्योंकि भगवान् साक्षात् तो ध्यान विषय है नहीं। चित्र का प्रतिबिम्ब ही उस समय दिखाई देता है। अतएव श्रवण तथा दर्शन आदि से उत्पन्न मानसिक वासनामय वस्तु का अवलोकन करने को ही आचार्यों ने ध्यान कहा है।[१३१]

प्रलय के अन्त में परमात्मा को सृष्टि करने की इच्छा होती है। तब वह प्रकृति के गर्भ में प्रवेश कर उसे कार्योन्मुख करता है। पश्चात् तीन गुणों में परस्पर वैषम्य उत्पन्न होता है। इसके बाद महत् से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त तत्त्वों की तथा उनके अभिमानी ब्रह्मा आदि देवताओं की वह सृष्टि करता है। फिर चेतन और अचेतन अंशों को उदर में नि:क्षेप कर परमात्मा ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है। तब देवताओं के मान से, अर्थात् माप से हजार वर्ष के अन्त में अपनी नाभि से पद्म (कमल) को उत्पन्न करता है। उस पद्म से चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। और चतुर्मुख ब्रह्मा जगत् की उत्पत्ति के निमित्त हजार दिव्य वर्ष पर्यन्त तपस्या करते हैं। उस तपस्या से उत्पन्न भगवान् अपने शरीर से पंच भूतों की सृष्टि करता है। पंचभूतों की सहायता से परमात्मा के द्वारा सूक्ष्म रूप में उत्पन्न किये हुए चतुर्दश

१३०. मा० सि० सा०, पृ० ६२ क-ख।

१३१. छांदोग्य० ६/२/१।

लोकों को चतुर्मुख के अन्दर प्रवेश कर उन्हीं के नाम को धारण कर स्थूल-रूप में परमात्मा उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्रमशः अवशिष्ट सृष्टि होती है।

इस प्रकार मध्वाचार्य के द्वारा माया का अर्थ एवं स्वरूप सिद्ध होता है।

सर्वदर्शन संग्रह में मध्वाचार्य के अनुसार भेद की सिद्धि को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–भेद तीन प्रकार के हैं, क्योंकि उनमें प्रतियोगी तीन प्रकार के होते हैं-सजातीय, विजातीय तथा स्वगत। जिस भेद में प्रतियोगी अपनी जाति का ही हो उसे सजातीय भेद कहते हैं। परमात्मा का जीवात्मा से किया गया भेद या एक वृक्ष का दूसरे वृक्ष से किया गया भेद सजातीय भेद है। प्रतियोगी दूसरी जाति का होने पर भेद विजातीय होता है, जैसे परमात्मा का आकाशादि प्रतियोगियों से दिखलाया गया भेद या पेड़ का पत्थर से भेद। दोनों की दो जातियाँ होने से भेद विजातीय है। स्वगतभेद वह है-जिसमें किसी वस्तु का उसके अवयवों से भेद कराया जाए। उदाहरणार्थ–परमात्मा का अपने-अपने विद्यमान करुणा, आनन्द आदि विशेषणों से भेद या वृक्षभेद फल, फूल, पत्तों से करना स्वगतभेद है।

उक्त तीनों भेदों का निषेध 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम् इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म के विषय में होता है।[१३२] श्रुति का अर्थ यही है कि तत्त्व एक ही था उसमें कोई भेद नहीं, किन्तु यदि उन्हें सगुण मानते हैं तो गुणों के साथ होने वाला कम-से-कम स्वगत भेद तो उनमें अवश्य ही होता। अतः उक्त श्रुति का विरोध द्वैत मत का प्रतिपादन करने से होता है। किन्तु मध्वाचार्य ऐसी श्रुतियों की प्रामाणिकता इसलिए स्वीकार नहीं करते हैं कि परमात्मा में भेद का प्रतिपादन करने वाले बहुत से प्रमाण है। उनका भी अपलाप करना सम्भव नहीं है।[१३३]

यदि आप वस्तु के स्वरूप को भेद मानने वाले लोगों (मध्वों) पर यह आरोप लगा रहे हैं, तो ठीक नहीं कर रहे हैं–जैसे चोर के अपराध से माण्डव्य ऋषि को पकड़कर दण्ड दिया गया, वही स्थिति हो जायगी। महाभारत के आदिपर्व में यह कथा आयी है–माण्डव्य नाम के ऋषि को किसी राजा ने चोर

---

१३२. ननु सजातीय-विजातीय-स्वगत-नानात्वशून्यं ब्रह्म तत्त्वमिति प्रतिपादकेषु वेदान्तेषु जागरूकेषु कथमशेषसद्गुणत्वं कथ्यत इति चेत्, मैवम्। भेदप्रमापक बहुप्रमाणविरोध तेषां तत्र प्रमाण्यानुपपत्तेः। –सर्व०दर्शन सं० भा०, पृ० २१२

१३३. प्रथमे चोरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्यामापातः, भवदभिधीयभानदूषणनां तद् विषयत्वात्। –सर्व द०सं० भा०, पृ० २१५

समझकर पकड़ लिया। राजा ने जब उन्हें दण्ड देकर सूली पर चढ़ाया, उसी समय दूसरा असली चोर पकड़ लिया। तुरन्त उन ऋषि को सूली से उतारा गया और राजा ने उनसे क्षमा कर देने की प्रार्थना की। माण्डव्य ऋषि ने सोचा कि यह मेरे किसी-न-किसी कर्म का ही फल है, अत: उसका पता लगाने के लिए यमलोक में गये। यमराज ने बतलाया कि बचपन में किसी कीड़े को आपने बांध लिया था उसी का यह फल भोगने को मिला है। माण्डव्य बहुत क्रुद्ध हुए और बोले कि अनजान में हुए अपराध का दण्ड इस प्रकार का नहीं मिलना चाहिए। उन्होंने यमराज को शाप दिया कि मर्त्यलोक में तुम शूद्रयोनि में जन्म लो। तदनुसार वे विचित्रवीर्य की दासी के गर्भ में व्यास के संयोग से आये और विदुर के रूप में उत्पन्न हुए। उसी दिन से यमराज ने यह नियम चला दिया कि अज्ञान में किये गए, अपराध को क्षमा कर दिया जाए। जहाँ एक व्यक्ति का अपराध हो और दूसरे को दण्ड मिले, वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।

इसका कारण यह है कि आपके द्वारा आरोपित दोषों के क्षेत्र में स्वरूप-भेदवादी लोग नहीं आते। पूर्वपक्षियों का कहना था कि भेदवादी लोग धर्मी और प्रतियोगी के साथ ही प्रत्यक्ष का ज्ञान होना मानते हैं जो बिल्कुल असम्भव है। यह अपराध धर्म को भेद मानने वालों का है, स्वरूप भेदवादियों का नहीं, परन्तु यदि हमारे ऊपर भी यही आरोप लगाते हैं तो ठीक नहीं। आपके द्वारा प्रतिपादित दोष वस्तु के स्वरूप को भेद मानने वाले सिद्धान्त पर नहीं लग सकते। यदि वस्तु से भिन्न धर्मों के साथ दूसरी वस्तु के रूप में भेद हो तभी प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा भेद का ज्ञान होगा, केवल भेद का या धर्मी-प्रतियोगी के साथ भेद का।[१३४]

पूर्वपक्षियों ने फिर विकल्प किया था कि धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के बाद भेद का ज्ञान होता है या एक ही साथ-तो ये विकल्प भी धर्म भेदवादी को ही लग सकते हैं। स्वरूप को भेद मानने वाले लोगों में कभी भी ये विकल्प नहीं लग सकते।

मध्वाचार्य ने शंकर के उत्तर में धर्मभेदवादियों को घसीटा है, सोचा कि इन्हें ही शंकर से भिड़ा दे, हम बिल्कुल बच जायेंगे। पर लेने के देने पड़े,

१३४. ननु वस्तुस्वरूपस्यैव भेदत्वे प्रतियोगिसापेक्षत्वं न घटते-घटवत्। प्रतियोगिसापेक्ष एव सर्वत्र भेद: प्रथम इति चेन्न। प्रथमं सर्वतो......व्यवहारोपपत्ते:।
—सर्व दर्शन सं०, पृ० २१५

धर्मभेदवादी अब मध्वों स्वरूप भेदवादियों पर ही बिगड़ खड़े हुए। अब दोनों भेदवादियों में ही शास्त्रार्थ चला। धर्मभेदवादी पूछते हैं–यदि वस्तु के स्वरूप को ही भेद मान लें, तो घट की तरह, किसी प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं रहेगी। ॱ.ट के ज्ञान के लिए किसी प्रतियोगी की आवश्यकता नहीं रहती है, ए॑ ॱ घट का ज्ञान कर लेते हैं। यदि वस्तु स्वरूप को भेद मान लें तो यह भेद भी घट की तरह ही प्रतियोगी-निरपेक्ष हो जायगा। किन्तु लोक में नियम से, सर्वत्र भेद-ज्ञान के लिए प्रतियोगी के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। यदि धर्म के आधार पर दो वस्तुओं में हम भेद नहीं मानेंगे तो ऐसी सम्भावना नहीं रहेगी-अतः स्वरूप को भेद मानना दोषपूर्ण है।

इसका उत्तर मध्वों की ओर से कहा है कि ऐसी बात नहीं, पहले-पहल वस्तु के स्वरूप का ज्ञान दूसरी सभी वस्तुओं से पृथक् (विलक्षण) करके प्राप्त किया जाता है, तब प्रतियोगी की अपेक्षा रखते हुए विशेष प्रकार का जैसे-घट का घटत्व के रूप में व्यवहार चलता है। स्वरूप भेदवादियों के मत से पहले, घट का घटत्व के रूप में सबसे विलक्षण मानकर स्वरूप का ज्ञान होता है इसी को भेद-ज्ञान कहते हैं। जो वस्तु सबों से विलक्षण है, उसके कम्बुग्रीवादि संस्थान-विशेषों से युक्त स्वरूप को भेद ही मानते हैं। तब प्रतियोगियों का अनुसंधान करके 'घट-पट से भिन्न है' ऐसा व्यवहार करते हैं।[१३५]

इसको इस प्रकार समझे परिमाण से विशिष्ट वस्तु-स्वरूप का ज्ञान पहले हो जाता है। बाद में विभिन्न प्रकार के प्रतियोगियों की अपेक्षा रखकर उसी वस्तु को 'छोटा', 'बड़ा' इत्यादि विशेषणों से विभूषित करके उसका व्यवहार करते हैं। पहले किसी घट का परिमाण जान लेते हैं, यही उसका स्वरूप है और भेद भी है। फिर दूसरे घट का ज्ञान करके उसकी अपेक्षा प्रकृत घट को छोटा या बड़ा मानते हैं। व्यवहार से अव्यवहित पूर्वक्षण में भेदज्ञान होने का नियम नहीं है। जब हम कहते हैं-घटस्य स्वरूपम् तो दोनों में भेद तो हैं ही।[१३६] यहाँ तक कि 'घटः पटाद्भिन्नः' भी व्यवधिकरण से व्यवहृत होता है और उसमें धर्म के भेद की सिद्धि नहीं होती। यह गौण व्यवहार है। यदि पदार्थ में स्वरूप भेद नहीं होता

---

१३५. परिमाणघटितं वस्तुस्वरूपं प्रथममवगम्यते। पश्चात्प्रतियोगिविशेषापेक्षया ह्रस्वं दीर्घमिति तदेव विशिष्ट व्यवहार भाजनं भवति। –सर्व द० सं० भा०, पृ० २१७

१३६. न च विशेषण विशिष्यतया भेदसिद्धिः। विशेषणविशेष्यभावश्च भेदापेक्षः। धर्मिप्रतियोग्य-पेक्षया भेद सिद्धिः। भेदापेक्ष च धर्मिप्रतियोगित्व मित्यन्योन्याश्रयतया भेदस्यायुक्तिः। –सर्व० द० सं० भा०, पृ० २१७

तो उसके देखने पर सभी चीजों से उसकी विलक्षणता ज्ञात नहीं होती। पुनः यदि पदार्थ में स्वरूप भेद नहीं होता तो गवय को देखने पर भी गाय खोजने वालों की प्रवृत्ति होती और 'गो' शब्द का स्मरण होता है, क्योंकि लोग स्वरूप को भेद नहीं मानते, धर्म को ही भेद मानते-गो और गवय में धर्मों का अन्तर है, अत: गवय मिल जाने पर भी गाय खोजते, परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है।

यह एक प्रतियोगी से युक्त भेद को धारण करता है-इसमें भेद विशेषण है, पट विशेष्य। 'पट' में कुछ प्रतियोगी से युक्त भेद रहता है'–यहाँ भेद विशेष्य है, पट विशेषण। विशेषण और विशेष्य में भेद होना सुप्रसिद्ध है, जैसाकि 'राज्ञः' (विशेषण) पुरुत्र (विशेष्य) में हम देखते हैं। यदि विशेषण-विशेष्य के रूप में भेद को सिद्ध किया जाएगा तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा। विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध भेद के ऊपर आधारित है। इस भेद की सिद्धि धर्मित्व और प्रतियोगित्व की प्रतीति के ऊपर निर्भर करती है। दूसरी ओर यह प्रतीति के बिना सम्भव ही नहीं है, अत: अन्योन्याश्रय दोष होता है।[१३७]

इसीलिए गौ का अन्वेषण करने वाले गवय देखने के बाद आगे नहीं बढ़ते तथा गौ शब्द का स्मरण भी नहीं करते, चूंकि किसी वस्तु का सबों से विलक्षण स्वरूप जान लेना ही उस वस्तु के विशिष्ट व्यवहार का कारण है और ऐसा होने पर भी अज्ञान के कारण गौ का अन्वेषण करने वालों की प्रवृत्ति या गौ का स्मरण करना-ये व्यवहार नहीं होते। ऐसी भी शंका नहीं कर सकते कि, चूंकि भेद एक वास्तविक पदार्थ है और प्रत्यक्ष का विषय है, इसलिए जल से युक्त दूध आदि को आंखों से देख लेने पर भेद का आभास भी दृष्टिगोचर होगा, अर्थात् वस्तु का अपना स्वरूप दीख नहीं पड़ेगा। उक्त उदाहरण में आंख का सन्निकर्ष तो रहता ही है। स्वरूप को ही भेद मानने पर भेद का भी ग्रहण होगा कि यह जल है, यह दूध है। इसमें भेद का प्रतिभास अवश्य होगा, परन्तु भेद ज्ञान ही नहीं रहता। कारण यह है कि भेद के आभासरूपी व्यवहार के अभाव की सिद्धि समानाभिहार आदि प्रतिबन्धक (प्रत्यक्षज्ञान को रोकने वाले) कारणों के बल से होती है।[१३८] समानाधिकार एक प्रकार के पदार्थों का ही एक स्थान पर रहना। ऐसी

१३७. अत एव गावर्थिवो गवमदर्शवात्र प्रवर्तन्ते, गो शब्दं च न स्मरन्ति। न नीर-क्षीरादौ स्वरूपे गृह्यमाणे भेदप्रतिभासोऽपि स्यादिति भणनीयम्।
—सर्व दर्शन सं०भा०, पृ० २१८

१३८. समानाभिहारादिप्रतिबन्धकबलाद् भेदभानव्यवहारभावोपपत्ति।
—सर्व दर्शन सं०भा०, पृ० २१९

स्थिति में किसी वस्तु को समूह से पृथक् करना कठिन है-प्रत्यक्ष ज्ञान में भी यह प्रतिबन्ध डालता है। नीर-क्षीर एक प्रकार के ही पदार्थ हैं, इनको पृथक् करना कठिन है इसलिए भेदाभास का व्यवहार यहाँ पर नहीं होता। ऐसी बात नहीं है कि भेद यहाँ है ही नहीं। वास्तव में दो पदार्थों के सादृश्य के कारण मिश्रित हो जाने से उनका पार्थक्य समझ में नहीं आता, भेद तो है ही। अत: नीर-क्षीर में स्वरूप का ग्रहण कर लेने पर भेद का प्रतिभास इसलिए नहीं होता कि नीर-क्षीर मिलकर एक हो गये हैं, समानाधिकार हो गया है। नहीं तो ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जिसमें स्वरूप का ज्ञान होने पर भेद का प्रतिभास नहीं हो।[१३९]

ऐसा ही सांख्यकारिका की सातवीं कारिका में कहा गया है-बहुत दूर होने के कारण बहुत नजदीक होने के कारण, इन्द्रियों में दोष होने के कारण, मन के अव्यवस्थित (चंचल) होने के कारण, इन्द्रिय और वस्तु के बीच में, किसी प्रकार का व्यवधान पड़ जाने के कारण किसी दूसरे तीव्र पदार्थ द्वारा वस्तु के अभिभूत होने के कारण तथा समान रूप वाले पदार्थों में मिल जाने के कारण, प्रत्यक्षज्ञान को बाधा पहुँचती है।

बहुत-दूर होने के कारण, जिस प्रकार पहाड़ों की चोटियों पर उगे हुए वृक्ष आदि को; बहुत नजदीक होने के कारण--जैसे अपनी आंखों में लगे हुए अंजन आदि को नहीं देख सकते। इन्द्रियों में दोष होने के कारण बिजली आदि को नही देख पाते। मन के अव्यवस्थित होने के कारण, जैसे-कामादि वासनाओं से मन के क्षुब्ध हो जाने पर खूब प्रकाश में अवस्थित घटादि को नहीं देख पाते। सूक्ष्मता के कारण परमाणु आदि को नहीं देख पाते। व्यवधान होने के कारण, दीवार के बीच में आने पर कोई चीज दिखाई गयी नहीं देख पाते। सूक्ष्मता के कारण परमाणु आदि को नहीं देख पाते। व्यवधान होने के कारण दीवार के बीच में आने पर कोई चीज दिखाई नहीं पड़ती। अभिभूत होने के कारण जैसे-दिन में दीपक की प्रभा आदि को नहीं देख सकते। समान वस्तुओं में मिले होने के कारण, जैसे-नीर-क्षीर में क्षीर का यथावत् प्रत्यक्ष नहीं होता।

कभी-कभी एक ही वस्तु के कई स्वरूप होते हैं। मनुष्य को दूर से देखने पर कोई पदार्थ जान पड़ता है। उसके बाद ऊँचा पदार्थ, फिर प्राणी, फिर मनुष्य फिर युवक आदि-इस प्रकार तारतम्य से नाना प्रकार के स्वरूप दिखलायी पड़ते

---

१३९. अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्याद् व्यवधानादभिभावात्समानाभिहाराच्च।। —सांख्य कारिका०-७

हैं। इस प्रकार का तारतम्य धर्म भेदवादी लोग भी स्वीकार करते हैं। स्वरूप भेदवादी के मत से यदि स्वरूप अनेक प्रकार के है तो भेद की भी अनेक रूपता स्वीकार करनी पड़ेगी। इसलिए जलमिश्रित दूध में घड़े से भेद दिखाया जा सकता है, नीर से नहीं, क्योंकि उस प्रकार के स्वरूप का ज्ञान करने में हमारी आंखें असमर्थ हैं। अतएव नीर-क्षीर में विलक्षण स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, उस प्रकार का भेद ज्ञान भी नहीं होता, नीर से क्षीर भिन्न है, ऐसा ज्ञान भी नहीं होता–यही व्यवहार है।[१४०]

मध्वाचार्य का कहना है कि वैशेषिकों के धर्म भेदवाद को ही स्वीकार करें, उसमें भी कोई दोष नहीं है। धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान होने पर, उसके बाद उन पर ही आधारित (घटित) भेद का ग्रहण हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि पहले घटधर्मी का ज्ञान घट-सामान्य के रूप में तथा पट-प्रतियोगी का ज्ञान पट-सामान्य के रूप में हो जाता है, तब घट और पट में क्रमशः धर्मित्व और प्रतियोगित्व की स्थापना के साथ ही साथ सामूहिक-ज्ञान की तरह एक ही क्रिया से भेद का ग्रहण भी हो जायगा। इसी को धर्मी-प्रतियोर्गी घटित भेद कहते हैं। यहाँ पर कारण बुद्धि और कार्य बुद्धि एक साथ नहीं होती। इसलिए पूर्वोक्त दोष होने की सम्भावना है, किन्तु वह बात नहीं है। घट और पट का जो ग्रहण धर्मी और प्रतियोगी के रूप में हो रहा है, वह भेद के ज्ञान का कारण नहीं है। बल्कि घट और पट का जो ज्ञान घटत्व और पटत्व के रूप में किया गया था, वही भेद-ज्ञान का कारण है। घट को भेद का धर्मी मानना और पट को भेद का प्रतियोगी मानना तो वस्तु की सत्ता होने पर ही भेदज्ञान का कारण होता है।[१४१]

ऐसा भी यहाँ कहना ठीक नहीं है कि धर्म भेदवाद को स्वीकार कर लेने पर अनवस्था दोष इसलिए उत्पन्न होगा कि प्रत्येक भेद को किसी दूसरे भेद द्वारा पृथक् करने की आवश्यकता होगी। घट में भेद है जिसका प्रतियोगी है पट, इस प्रथम भेद के द्वारा घट को भेद्य समझते हैं। अब प्रथम भेद का ही प्रतियोगी घट हो गया, इस प्रकार भेद में द्वितीय भेद है जिसके द्वारा अब प्रथमभेद को ही भेद्य

१४०. धर्मिप्रतियोगिग्रहणे सति पश्चात्तद्घटित भेद ग्रहणोपपत्तेः। न च परस्पराश्रयप्रसङ्गः। पराननपेक्ष्य प्रभेद शालिनो वस्तुनो ग्रहणे सति धर्मभेदभानसम्भवात्।
–सर्व०द०सं०, पृ० २२०

१४१. न च धर्मभेदवादे तस्य तस्य भेदस्य भेदान्तर भेद्यत्वेनानवस्था दुरवस्था स्यादित्यास्थेयम्। भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्। भेदभेदिनौ भिन्नविति व्यवहारादर्शनात्।
–सर्व दर्शन सं०, पृ० २२०

समझते हैं। द्वितीयभेद का प्रतियोगी प्रथमभेद है, द्वितीयभेद में एक तृतीय भेद की कल्पना करनी पड़ेगी, जिसके द्वारा द्वितीयभेद को भेद्य समझेंगे। इस प्रकार अन्त न होने वाली एक परम्परा चलती रहेगी। यह अनवस्था इसलिए नहीं होगी कि दूसरे भेद को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं दिखलायी पड़ता। भेद और भेदी दोनों भिन्न है ऐसा व्यवहार देखने में नहीं आता। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार घट और पट भिन्न हैं ऐसा व्यवहार पट को प्रतियोगी और घट को धर्मी मानकर चलता है, उसी प्रकार यदि भेद तथा भेदी भिन्न है। ऐसा व्यवहार लोक में दिखलाई पड़ता, तभी द्वितीय भेद की सिद्धि हो सकती थी, किन्तु ऐसा होता नहीं इसलिए अनवस्था नहीं है। भेद एक ही होता है, वह चाहे दूसरी बार हो तीसरी बार। घट-पट से भिन्न है इसमें एक भेद है, अब वह भेद स्वयं घट से भिन्न है यहाँ प्राप्त भेद भी कोई अलग नहीं-सर्वत्र एक प्रकार के भेद की ही प्राप्ति होती है।[१४२]

अनुमान प्रमाण से भी भेद की सिद्धि होती है, अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार की है कि-परमेश्वर जीव से भिन्न है, क्योंकि उनके लिए परमेश्वर सेव्य है, हेतु, जो जिसके लिए सेव्य है वह उससे भिन्न है, जैसे भृत्य से राजा भिन्न है।[१४३] दृष्टान्त देते हैं कि मुझे केवल सुख ही मिले, दुःख थोड़ा भी नहीं हो इस प्रकार के पुरुषार्थ की कामना करते हुए, मुमुक्षु-पुरुष यदि संसार के स्वामी परमेश्वर का पद ही प्राप्त करना चाहे तो उनका सत्कार नहीं होता, ईश्वर उन पर कृपा प्रदर्शित नहीं करते, यही नहीं, वे सब प्रकार के अनिष्ट प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर यदि कोई अपने आपकी हीनता तथा दूसरों के गुणों के माहात्म्य का वर्णन करता है तो उस स्तुति करने वाले भक्त की स्तवनीय परमात्मा प्रसन्न होकर सारी कामनायें पूरी करता है। यदि भक्त परमेश्वर की स्तुति करता है तो वे प्रसन्न होते हैं, यदि स्वयं परमेश्वर बनना चाहें, तो रुष्ट होकर सारे अभीष्ट कामों को नष्ट कर देते हैं। इसलिए जीव और ईश्वर में अभेद मानना ईश्वर की कोपाग्नि में घी डालना है।[१४४]

---

१४२. अनुमानेनापि भेदोऽवसीयते। परमेश्वरो जीवाद् भिन्नः। तं प्रति सेव्यत्वात्। यो यं प्रति सेव्यः स तस्माद् भिन्नः यथा भृत्याद्राजा।।-सर्व०दर्श०सं०, पृ० २२३

१४३. न हि सुखं मे स्याद् दुःखं मे न मनागपि-इति पुरुषार्थमर्थयमानाः पुरुषाः स्थपतिपदं कामयमानाः सत्काराभाजो भवेयुः। प्रत्युत सर्वानर्थभाजनं भवन्ति।
-सर्व दर्शन सं०, पृ० २२४

१४४. ब्रह्मसूत्र-मध्व, भाग-१:१, ४।

डॉ० राधाकृष्णन् ने आचार्य मध्व के प्राकृतिक जगत् सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट किया है कि भौतिक उत्पन्न पदार्थ जड़-जगत् के विषय है और उन्हीं से सब प्राणियों के शरीरों व इन्द्रियों का निर्माण हुआ है। वे सब आदिम प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और सभयान्तर में उसी में लौटकर वापस पहुँच जाते हैं। यद्यपि प्रकृति एकरूप प्रतीत होती है तो भी वस्तुतः यह भिन्न-भिन्न तत्त्वों से, जो सूक्ष्म अवस्था में है, मिलकर बनी है। जब ईश्वर तथा आत्माएं इसका उपयोग करते हैं तो यही विकसित होकर दृश्यमान् जगत् के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ईश्वर प्रकृति में से आकृतियों को गढ़ता है, क्योंकि प्रकृति उपादान कारण है और उसके अन्दर वह स्वयं भी नाना आकृतियों में निवास करता है।[१४५]

इससे पूर्वकी हम अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि के सुपरिष्कृत आकारों तक पहुँचे हमें परिवर्तन-काल के अन्दर मध्यवर्ती २४ पदार्थों में से गुजरना होता है अर्थात् महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, दस इन्द्रियाँ, पांच इन्द्रियों के विषय और पांच महत्तत्व। ये अपने विकास से पूर्व आद्य मूलभूत प्रकृति के अन्दर सूक्ष्मरूपों में स्थित रहते हैं।

प्रकृति के तीन पक्षों की अधिष्ठात्री लक्ष्मी के तीन रूप है, श्री, भू और दुर्गा। अविद्या प्रकृति का ही एक रूप है, जिसके दो भेद हैं, जीवाच्छादिका, अर्थात् वह जो जीव की आध्यात्मिक शक्तियों को आवृत्त कर लेती है; और परमाच्छादिका अर्थात् वह जो जीव की दृष्टि से सर्वोपरि सत्ता को दूर रखती है। अविद्या के ये दो रूप निश्चित तत्त्व हैं जो प्रकृति के सारतत्त्व में से बने हैं।

ईश्वर और जगत् के सन्दर्भ में मध्व ऐसे समस्त प्रयासों को अस्वीकार करते हैं, जो आत्माओं तथा प्रकृति से युक्त संसार को केवल भ्रांतिमात्र अथवा ईश्वर से निकला हुआ कहकर उसके भिन्न अस्तित्त्व का अभाव प्रदर्शित करते हैं, इस प्रकार मध्व एक शुद्धद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। जीवात्मा ईश्वर के ऊपर आश्रित (परतन्त्र) हैं, क्योंकि बिना विश्वात्मा के शक्तिदायक सहारे के यह अपना अस्तित्त्व स्थिर नहीं रख सकता, जिस प्रकार कि एक वृक्ष अपने रस के बिना न जीवित रह सकता और फल-फूल सकता है। यहाँ तक कि विष्णु की पत्नी लक्ष्मी यद्यपि सर्वश्रेष्ठ तथा नित्य हैं, फिर भी ईश्वर के ऊपर आश्रित है। वह उस प्रकृति की भी अधिष्ठात्री देवी है, जो जगत् का उपादानकारण है। ईश्वर किसी न किसी प्रकार से प्रकृति में शक्ति का संचार करता है जो उसके

१४५. ब्रह्मसूत्र २: ३, २९।

व्यक्तित्त्व का कोई अंश नहीं है और प्रकृति भी किसी न किसी प्रकार से अपने को ईश्वर के नियन्त्रण में दे देती है।

आचार्य मध्व को अनेक श्रुति वाक्यों के विरोध का मुकाबला करना पड़ता है, जिसका वे किसी न किसी प्रकार द्वैतवाद में विनियोग करते हैं। मध्व उस महत्त्वपूर्ण वाक्य 'तत्त्वमसि' (वह तू है) को लेकर तर्क करते हैं कि यह वाक्य ईश्वर तथा आत्मा के मध्य किसी सादृश्य का द्योतक नहीं है। इस वाक्य का तात्पर्य यही है कि आत्मा के अन्दर अपने सारभूत ऐसे गुण है जो ईश्वर के गुणों के समान हैं।[१४६]

ऐसे वाक्यों का भी जिनमें कहा गया है कि आत्मा प्रभु का एक अंश है, यही तात्पर्य है।[१४७] कभी-कभी मध्व उक्त वाक्य को एक दूसरे प्रकार से ही देखते हैं, जैसे-'स आत्मा तत् त्वमसि' को वे पढ़ते हैं-'स आत्मा अतत्त्वम् असि' (वह आत्मा तू नहीं है)।[१४८] "अयम् आत्मा ब्रह्म" इस वाक्य के विषय में मध्व का कहना है कि यह या तो एक सरल प्रशंसापरक वाक्य आत्मा के लिए कहा गया है, अथवा यह ध्यान का एक विषय है। यह भी सुझाव दिया जाता है कि यह तो पूर्वपक्ष है जिसका खण्डन करना है। ऐसे वाक्यों की व्याख्या करने के लिए जो जीवात्मा तथा विश्वात्मा को एक बताते हैं, मध्व आत्मा तथा ब्रह्म के व्युत्पत्तिपरक अर्थों का उपयोग करते हैं। आत्मा ब्रह्म है क्योंकि यह बढ़ती है-(बर्धनशील:) अथवा इसलिए कि यह सर्वत्र प्रविष्ट होती (अतनशील:) है।

ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता के कारण विश्व में एक व्यवस्था तथा समानता का भाव आता है, अन्त में जाकर भेद भले ही क्यों न हों। विशेष गुण के द्वारा, जो गुण को द्रव्य से भिन्न बनाता है, एक अंश को सम्पूर्ण इकाई से भिन्न किया जाता है और एक तथा अनेक परस्पर सम्बद्ध किये जाते हैं।[१४९] विशेष संख्या की दृष्टि से अपरिमित है, क्योंकि यह नित्य तथा अनित्य दोनों पदार्थों में रहताा है और विधि तथा निषेधात्मक सत्ताओं से सम्बन्ध रखता है। एक प्रकार की निषेधात्मक सत्ता का दूसरे से भेद विशेष के द्वारा ही किया जाता है। किन्तु एक विशेष का

१४६. भगवत् गीता, १५:७।

१४७. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि हिन्दूज, बृहदारण्य उपनिषद्, पृ० ११४ छान्दोग्योपनिषद्-६: ८, ७ न्याय सूत्र १५

१४८. न्यायामृत, खण्ड, ३, पृ० १३७।

१४९. ब्रह्मसूत्र ३:३, ४९।

भेद दूसरे विशेष से कैसे किया जा सकताा है? यदि तो, यह अन्य किसी विशेष के द्वारा हो तो हमारे समक्ष पश्चात् गति की एक बहुत बड़ी समस्या आती है, क्योंकि उसका कही अन्त नहीं होगा। इसलिए विशेष को आत्मा-निर्धारित ही माना गया है। विशेष गुण के द्वारा हम भेदपूर्ण जगत् की व्याख्या कर सकते हैं, जिसके लिए भेदपूर्ण जगत् को परमतत्त्व मानने की आवश्यकता नहीं है। विशेष के व्यापार के द्वारा ही हमें भेद का ज्ञान होता है। यदि विशेष सर्वोपरि सत्ता से भिन्न है तो उसमें सर्वोपरि सत्ता की अखण्डता में अन्तर आता है, और यदि यह उससे भिन्न नहीं हैं तो हम इसे विशेष नहीं कह सकते।[१५०]

विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान–

मध्वाचार्य अपने पूर्णप्रज्ञ भाष्य में बौद्ध मत का खण्डन प्रारम्भ करते हैं। इस सूत्र के ''उभयहेतुकेऽपिसमुदाये'' इस अंश का तात्पर्य मध्व के अनुसार द्विहेतुक एक समुदाय से हैं, वह भी अन्तर और बाह्य समुदाय से हैं। जिनमें प्रथम 'विज्ञानादिस्कन्धहेतुक'' और ''द्वितीय परमाणुहेतुक'' है। उक्त सूत्र के 'अप्राप्ति' अंश का तात्पर्य ''समुदाय'' के स्वरूप की निष्पत्ति के अभाव से हैं। आचार्य मध्व परमाणु पुंजवाद को मानने वाले बौद्धमत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि–परमाणु समुदायों की एक हेतुता मानने से उसमें परस्पर संयोग संभव नहीं है। यदि उभय हेतुता मानते हैं तो अन्योन्याश्रय दोष घटित होने से भी संयोग की बात असंगत सिद्ध होती है। यदि संयोग नहीं होता, तो परमाणुओं के समुदाय सदा अलग ही बने रहेंगे।[१५१] यदि कहें कि समुदाय सदा अलग रहते हुए भी परस्पर एक दूसरे से अपेक्षित होने के कारण व्यवहृत होते हैं, तो आपका यह कथन भी असंगत है। जब एक कार्य का उत्पादन करके उसी क्षण विनष्ट हो जाता है। जैसा कि तुम्हारा ही मत है, और जब उनमें परस्पर कारणता है तो व्यवहार कैसे हो सकता है। कारण की सत्ता रहने पर ही कार्य होता है। ऐसा ही कार्य कारण सम्बन्धी नियम है।[१५२]

इसी सूत्र में बौद्धप्रक्रिया के अनुसार कार्य-समुदायात्मक वस्तु के स्वरूप की निष्पत्ति को अनुपपन्न का समर्थन होता है। अभिप्राय यह हुआ कि बौद्धों द्वारा

---

१५०. पूर्णप्रज्ञ सू० २/२/१८ पर भाष्य।
१५१. पूर्णप्रज्ञ सू० २/२/१९ पर भाष्य।
१५२. पूर्णप्रज्ञ सू० २/२/२१ पर भाष्य।

स्वीकृत परमाणुहेतुक बाह्य समुदाय और विज्ञानादिस्कन्ध हेतुक आन्तर समुदाय की निष्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात् बौद्धों का संघातवाद भी अनुपपन्न है। इसका हेतु प्रस्तुत करते हैं कि–कार्य उत्पत्ति के साथ ही जब कारण विनष्ट हो जाता है, तो विशेष कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती।

यदि कहो कि कारण के विनष्ट होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है तो जब उसका कार्य भी नष्ट हो जाएगा तब अगले की कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी, उससे तो तुम्हारा नियम ही भंग हो जाएगा। यदि कहो कि नहीं, कार्य उत्पन्न होने के बाद भी कारण रहता है, तब तो सारे कार्य एक साथ ही रहेंगे, फिर विनष्ट होने वाली बात ही निरर्थक है।[१५३] ''सर्वे क्षणिकम्'' के सिद्धान्त को मानने वाले बौद्धों के अनुसार संघात की निष्पत्ति कदापि उपपन्न नहीं हो सकती–''क्षणिक विज्ञानवाद'' के साथ 'संघातवाद' स्वयं अपने स्वरूप में ही विप्रतिषिद्ध होने के कारण अनुपपन्न है।

बौद्धों द्वारा स्वीकृत निरोधद्वय अर्थात् ''प्रतिसंख्यानिरोध'' और 'अप्रतिसंख्यानिरोध' की प्राप्ति भी अनुपपन्न बताई गई है। दोनों निरोधों का स्वरूप भावों या पदार्थों का 'विनाश' मानकर उनकी परस्पर भेदक विशेषताएं बताई हैं। जैसे–

१. **प्रतिसंख्यानिरोध**–निरन्वय या निःसन्तान, बुद्धिपूर्वक, स्थूल, उपलब्धियोग्य सहेतुक विनाश।

२. **अप्रतिसंख्यानिरोध**–सान्वय या ससन्तान, अबुद्धिपूर्वक, सूक्ष्म, उपलब्धियोग्य निर्हेतुक विनाश।

कारण की सत्ता में ही कार्य होता है। इस नियमानुसार तो निःसंतान और ससन्तान वाले किसी का भी विनाश नहीं हो सकता।[१५४] कारण की सत्ता में ही कार्य होता है इस नियम से सदा ही कार्य की स्थिति रहने से, कार्य-कारण की विशेषता नहीं जानी जा सकती? यदि उक्त नियम नहीं है, तो कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

यदि प्रतिपक्षी निरोधद्वय की प्राप्ति को उपपन्न सिद्ध करने के लिए यह माने कि हेतु का निरोध होने पर तत्कार्य का उत्पादन नहीं होगा, तो जो अपनी

---

१५३. पूर्णप्रज्ञ सू० २/२/२, पर भाष्य।
१५४. पूर्णप्रज्ञ सू० २/२/२५ पर अनुस्मृत्येश्च।

क्षणिकत्व प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए निरुद्ध हेतु से ही कार्य का उत्पाद्य मानना पड़ता है, उसका परित्याग करना पड़ेगा, जिससे उसके यहाँ किसी कार्य का उत्पाद ही उपपन्न न हो सकेगा। इस प्रकार "उभयथा दोष" उपस्थित होता है, इसलिए आचार्य मध्व कहते हैं कि—दीप आदि में क्षणिकता एक विशेष बात है। यदि उसी की तरह अन्यत्र भी अनुमान कहते हैं, तो आकाश आदि जो नित्य वस्तुएं हैं, उनकी तरह औरों की नित्यता का भी अनुमान क्यों नहीं करते?

आचार्य मध्व क्षणिकवाद का निराकरण करते हैं कि—प्रत्यभिज्ञान से प्रमाता और प्रमेय दोनों के स्थिरत्व की सिद्धि होती है।[१५५] यह वही वस्तु है, ऐसी निश्चित पहचान भी क्षणिकवाद में सम्भव नहीं है, पहचानने में प्राय: भ्रान्ति हो जाती है। उस वस्तु के सामने पर भी भ्रान्ति होगी ही, क्योंकि वह वस्तु तो विनष्ट हो चुकी है, सामने तो हैं नहीं अत: वस्तु का सही निर्णय नहीं किया जा सकता।

"स एवाहम्" इस प्रत्यभिज्ञान से प्रमाता चेतन और 'तदेवेदम्' इस प्रत्यभिज्ञान से प्रमेय पदार्थों का स्थिरत्व सिद्ध होता है। यदि प्रमाता और प्रमेय क्षणिक माने जावें तो प्रत्यभिज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती।

मध्वाचार्य शून्यवादी बौद्धों के मत का खण्डन करते हैं। जो वस्तु अदृश्य है, उसकी सत्ता तो हैं नहीं, फिर वह वस्तु, कारण, कैसे हो सकती है। यदि अस्तित्त्व रहित कारण को स्वीकार करते हैं, तो लोग अच्छे बुरे को न पहचानने वाले चुपचाप बैठे रहने वाले हैं, उनसे भी अपने आप कार्य हो जाना चाहिए, तथा खपुष्प आदि जो काल्पनिक असत् वस्तुएं है उनसे भी कार्य हो जाना चाहिए। यदि कहो कि उनसे हो सकता तो फिर शून्य से भी नहीं हो सकता, उसमें क्या विशेषता है।[१५६] असत् से सत् की उत्पत्ति मानने पर तो उद्योगहीन उदासीन व्यक्तियों की भी सिद्धि हो जानी चाहिए।[१५७]

आचार्य मध्व "असद्हेतुकोत्पत्तिवाद" का निराकरण मानते हुए इस वाद को शून्यवाद का सिद्धान्त समझते हैं, जो कि स्पष्टत: तथ्य विपरीत है। जगदस्तित्व-वादिनी बौद्ध विचारधारा के द्वारा स्वीकृत क्षणिकवाद का ही स्वाभाविक परिणाम 'असद् हेतुकोत्पत्तिवाद' है। इसे न मानने पर "सर्वं क्षणिकम्" प्रतिज्ञा की रक्षा

---

१५५. पूर्णप्रज्ञ भा० सू० २/२/२७ पर अनुस्मृत्येश्च।
१५६. ब्र०वै० भा० तु० आ०, पृ० २८५।
१५७. पू०प्र० भा० सू०, पृ० ११८।

ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि असद्हेतुकोत्पत्तिवाद मानने पर न तो उत्पाद ही बन सकता है और न संघात ही है।

जगन्नास्तित्त्ववादिनी बौद्धों की विचारधारा का आचार्य मध्व निराकरण करते हैं, क्योंकि "नाभाव उपलब्धेः" (२/२/२८) इस सूत्र का प्रतिपाद्य विषय यह मानते हैं कि बाह्य जगत् का अभाव नहीं, क्योंकि वह उपलब्ध होता है। जगत् ही शून्य है ऐसा नहीं कह सकते, उसकी तो स्पष्ट प्रतीति हो रही है।[१५८]

आचार्य मध्व कहते हैं कि ब्रह्मसूत्र का प्रतिपाद्य विषय यह है कि जागरित ज्ञान या जागरितकालोपलब्ध पदार्थ स्वप्नज्ञान या स्वप्नकालोपलब्ध पदार्थों के समान नहीं माने जा सकते, क्योंकि दोनों में परस्पर-वैधर्म्य है। प्रत्यक्ष दीखने वाली जगत् की वस्तुओं को स्वप्न की तरह झूठी-असत्य-मिथ्या नहीं कह सकते। स्वप्न के पश्चात् तो "यह स्वप्न था, सर्प नहीं है" ऐसी अनुभूति होती है, दृष्ट जगत् में तो ऐसी अनुभूति नहीं होती।[१५९] आचार्य मध्व ने बौद्ध की उस विचारधारा का खण्डन किया है, जो कि जगत् का अभाव मानती है और साथ ही किसी वस्तु का भाव मानती है। उक्त विचारधारा जागतिक पदार्थों की उपलब्धि स्वप्नवत् मानती है। अतः यह स्वयं सिद्ध है कि उक्त विचारधारा पदार्थों की सत्ता न मानते हुए भी उनकी उपलब्धि को स्वीकार करती है। साथ में यह भी स्पष्ट है कि उपलब्धि के रूप में 'अयथार्थ अर्थात् भ्रमात्मकज्ञान को मानने के कारण विशुद्ध रूप न हो और साथ ही उसका मूलाधार हो। क्योंकि सामान्यतः 'ज्ञान' की सत्ता स्वीकार किये बिना उक्त उपलब्धि स्वरूप भ्रमात्मक विशिष्टज्ञान की उपपत्ति ही नहीं हो सकती।

ज्ञान क्षणिक होता है, जागतिक विषयों की स्थायी प्रतीति होती है, इसलिए दोनों की एकता सम्भव नहीं है।[१६०] बौद्धों की कोई प्रामाणिकता नहीं है, श्रुति, स्मृति और युक्ति सभी से ये विरुद्ध है, अतः मान्यता नहीं देनी चाहिए।

मध्व सम्प्रदाय के आचार्य परमपण्डित श्री व्यासराज ने 'न्यायामृत' में जगन्नास्तित्त्ववादिनी बौद्धों की विचारधारा का तथा अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादित सभी मिथ्यात्व लक्षणों का युक्ति-तर्कों के द्वारा खण्डन जोरदार शब्दों में किया

१५८. न विज्ञानमात्रं जगत् तथानुभवाभावात्। —पू०प्र० भा० सू०, पृ० ११८

१५९. ज्ञानं क्षणिकं, अर्थानां च स्थायित्वमुक्तं, अतश्च नेवयम्। —पू०प्र० भा० सू० २/२/३१ पर

१६०. द्विविधं तत्त्वं स्वतन्त्रं परतन्त्रं भेदात्। —स०द०सं०, पृ० २४७

है। जैसे कि–अद्वैतवेदान्ती भ्रमस्थलीय वस्तु को प्रातिभासिकत्व को स्वीकार करके ही असत् मानते हैं।

परन्तु मध्व द्वितीयों के अनुसार भ्रमरस्थलीय रज्जु-सर्प आकाशकुसुम के समान अलीक (असत्) है। वे अद्वैत के समान प्रतिभासिकत्व को स्वीकार नहीं करते हैं। तथा रामानुज के समान भ्रमस्थलीय रज्जु-सर्प के अवयवों को स्वीकार करते हैं। रज्जु-सर्प वाला दृष्टान्त ही मध्व के अनुसार साध्यविकल है।

आचार्य मध्व के अनुसार कार्यरूप जगत् ईश्वर सृष्ट है। अतः मिथ्या या असत् नहीं है अर्थात् सत्य है। जगत् ईश्वर परतन्त्र है। स्वतन्त्र सत्ता एकमात्र ईश्वर की ही है।[१६१] श्रुति आकाशादि की सृष्टि का कथन करती है, अतः सृष्टि या जगत् मिथ्या नहीं है।

मध्व शुक्ति-रजत की अर्थक्रियाकारिता भी नहीं मानते, इसलिए शुक्ति रजत असत् अर्थात् अलीक है, किन्तु व्यावहारिक विश्व की वस्तुएं अर्थक्रिया में समर्थ है, अतः सत्य है।[१६२] मध्व ने नानात्व अर्थात् भेद को वास्तविक-सत्य माना है। जयतीर्थ ने ''वादावली'' ग्रन्थ में मिथ्यात्व लक्षणों का खण्डन किया है तथा भेद समन्वित विश्व को सत्य प्रतिपादित किया है।

जयतीर्थ के अनुसार अभेद स्वाभाविक नहीं है, किन्तु भेद ही स्वाभाविक है, एवं सत्य है।[१६३] जयतीर्थ का कहना है कि नानात्व या भेद मुक्ति में भी होता है।[१६४] भेद आविधक नहीं है, जिससे कि उसे मिथ्या कहा जा सके। यदि अज्ञान के बिना भेद नहीं दिखाई देता, तब तो ईश्वर को अज्ञान नहीं, अतः जीव से अभिन्न होकर जीव के सुख-दुःखों से ईश्वर भी सुखी-दुःखी होने लगेगा। जयतीर्थ कहते हैं कि–ब्रह्म जिस प्रकार असत् से भिन्न होने के कारण सत्य है, पारमार्थिक है।[१६५]

''नेह नानास्ति'' 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि श्रुतियों का अर्थ आचार्य मध्व सजातीय भेद निरसनपरक कहते हैं। मध्वाचार्य के अनुसार ''एक विज्ञान से'' सर्वविज्ञान का कथन करने वाली श्रुति कार्यजगत् को मिथ्या नहीं बतलाती,

१६१. भा० द० का इ०, भाग ४, पृ० २४८-४९।
१६२. वादावली, पृ० १५०।
१६३. विमतो भेदो मुक्तो न निवर्तते। –वादावली, पृ० १४९
१६४. विमतो भेदः पारमार्थिकः असद्व्यतिरिक्तत्त्वात् ब्रह्मवत्। –वादावली पृ० १४९
१६५. न हि सत्यज्ञानेन मिथ्याज्ञानं संभवति। –स०द०सं०, पृ० २७

क्योंकि सत्य के द्वारा मिथ्या का ज्ञान नहीं हुआ करता। कभी भी शुक्ति रजत में शुक्ति ज्ञान से रजत का ज्ञान नहीं होता, किन्तु रजत मिथ्या है, ऐसा ज्ञान होता है, अर्थात् रजताभाव का ही ज्ञान होता है।[१६६] ग्राम के प्रधान पुरुष को जानने पर ग्राम जान लिया के समान यहाँ पर भी एक कारणातत्त्व के जानने पर तदधीन सभी सादृश्य वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

आचार्य मध्व यद्यपि जीव, जगत् तथा ईश्वर को सत्य मानते हैं, फिर भी उनके अनुसार द्रव्य की संज्ञा पूर्ण पदार्थ की ही मिल सकती है। ईश्वर पूर्ण है। वास्तविक अर्थों में "द्रव्य" संज्ञा केवल ऐसे ही पदार्थ के लिए प्रयुक्त हो सकती है, जो अपने आप में पूर्ण हो जिसका निर्धारण भी अपने से ही हो, और जिसकी व्याख्या भी पूर्ण रूप से अपने ही द्वारा हो सके।

आचार्य पद्मनाभ ने अपने पदार्थ संग्रहग्रन्थ में द्रव्य की संख्या बीस (२०) बतायी है। वे बीस द्रव्य इस प्रकार है–१. ईश्वर, २. लक्ष्मी, ३. जीव, ४. अव्याकृताकाश, ५. प्रकृति, ६. गुणत्रय, ७. महत्, ८. अहंकार, ९. बुद्धि, १०. मन, ११. इन्द्रिय, १२. तन्मात्राएं, १३. भूत, १४. ब्रह्माण्ड, १५. अविद्या, १६. वर्ण, १७. तम, १८. वासना, १९. काल और २० प्रतिबिम्ब।[१६७] ये बीस द्रव्य अपने आप में पूर्ण है। द्रव्य के अन्तर्गत ईश्वर, जीव एवं जगत् (प्रकृति) होने से ये भी पूर्ण हैं। अतः जगन्नास्तित्ववादि बौद्धों की विचारधारा का निराकरण किया है।

इस प्रकार मध्व दार्शनिक आचार्यों के द्वारा विज्ञानवाद के खण्डन की पुष्टि की गयी है।

आचार-शास्त्र

आचार-शास्त्र या नीति-शास्त्र मनुष्यों के चरित्र, आचार (आचरण) या व्यवहार की आदतों का विज्ञान है। आचार-शास्त्र रीति-रिवाज अथवा अभ्यास का शास्त्र है। आदतें और व्यवहार मनुष्य के चरित्र की स्थायी विशेषताओं से सम्बन्धित है। चरित्र मनुष्यों के स्थायी संकल्पों में अभिव्यक्त होता है। आचार चरित्र का दर्पण है। अतः आचार-शास्त्र चरित्र अथवा आदत का शास्त्र है।

रीति-रिवाज, प्रचलन या आदत मनुष्य के अभ्यासजन्य आचरण है। मानव की ऐच्छिक क्रियाओं को ही आचरण कहा जाता है।

---

१६६. पद्मनाभकृत-पदार्थ संग्रह, द्रव्य प्रकरण, पृ० ५८।

१६७. भूतबन्धस्तु संसारो मुक्तिस्तेभ्यो विमोचनमिति। –वाराहपुराण

मनुष्य का आचरण उसके चरित्र पर निर्भर है। जैसा चरित्र होता है, वैसा ही मनुष्य का आचरण होता है। चरित्र मनुष्य के संकल्प करने के अभ्यास को कहा जाता है। मनुष्य का आचरण उसके चरित्र को व्यक्त करता है। अच्छा आचरण उसी का होता है, जिसका चरित्र शुद्ध है। बुरे कर्म कलुषित चरित्र वाले करते हैं।

आचरण-शास्त्र ''दर्शन'' का एक अंग है। आचार-शास्त्र मानव आचरण के आदर्शों की समीक्षा करता है। आचरण अर्थात् नैतिकता मानव जीवन का तीन चौथाई (३/४) हिस्सा है। नैतिक समस्याएं प्रत्येक मानव के जीवन में आती है। जिन्दगी का रास्ता सीधा और सरल नहीं, जिस पर बिना सोचे-समझे, एक सी गति से अविराम, निर्द्वन्द्व आगे बढ़ा जा सकता हो। चढ़ाव-उतार कश्मकश और उधेड़ बुन जीवन के आवश्यक तत्त्व है क्योंकि गति में ही जीवन है और गति सदैव एक-सी नहीं होती। इसलिए जीवन में हर एक को सोचना-समझना पड़ता है, निर्णय करना पड़ता है। जिन्दगी के हर कदम पर, हर मोड़ पर, करें या न करें, हमें उचित अथवा अनुचित सम्बन्धी निर्णय करने पड़ते हैं। इन निर्णयों का आधार एक मापदण्ड होता है। चेतन या अचेतन रूप में हर एक व्यक्ति अपने सामने उचित-अनुचित का मापदण्ड रखता है-चाहे उसका मापदण्ड सदैव एक-सा न रहे। आश्चर्य की बात यह है कि सभी व्यक्ति तो किसी न किसी मापदण्ड के प्रयोग करते ही है, परन्तु यह मापदण्ड क्या है? और क्या होना चाहिए, इस पर मनन-चिन्तन विरले ही करते हैं।

अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ, योग्य-अयोग्य, पाप-पुण्य, कर्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित आदि का विचार सभी व्यक्ति नहीं कर पाते। क्योंकि हर एक व्यक्ति की बुद्धि क्षमता समान नहीं होती। किसी की बुद्धि-क्षमता तीव्र होती है तो किसी की मन्द। इसलिए हमें एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता है कि मनुष्य (व्यक्ति) का आचरण कैसा होना चाहिए, इसकी मीमांसा करे। अच्छे-बुरे आदि का विचार जिस शास्त्र में किया जाता है, वह 'आचार-शास्त्र' कहलाता है। आचार शास्त्र में नैतिक निर्णय पर ही अधिक विचार किया जाता है।

उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म आदि ये सब नैतिक गुण है। नैतिक गुणों का प्रयोग नैतिक-निणयों में होता है। आचार-शास्त्र का सम्बन्ध नैतिकनिर्णय से हैं। नैतिक-निर्णयों में नैतिक-मापदण्ड की आवश्यकता होती है। इसलिए नैतिक-निर्णय में भी नैतिक-मापदण्ड का ज्ञान होना आवश्यक है। अत:

नैतिकमापदण्ड क्या है? उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ आदि की पहचान क्या है? वास्तविक आदर्श क्या? आदि समस्याएं आचार-शास्त्र के अन्तर्गत है।

आचारशास्त्र दर्शन का प्रमुख अंग माना जाता है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार आचार-शास्त्र दर्शन का क्रियात्मक पटल है। दर्शनशास्त्र हमें सैद्धान्तिक ज्ञान कराता है, तो आचार-शास्त्र शुभ और अशुभ उचित तथा अनुचित आदि के ज्ञान का निर्णय करता है।

मध्वाचार्य ने अपने आचार सम्बन्धी विचारों का विवेचन करते हुए कहा है कि–भूतों के बन्धन को ही बन्धन कहते हैं। भूतों का बन्धन ही संसार है, उनसे छूटना ही मुक्ति है।[१६८] भूतों की निवृत्ति को मरण कहा जाता है एवं भूतों के एकत्रीकरण को जन्म कहते हैं।[१६९] जहाँ ये नित्य भूत रहते हैं, वहाँ करण भी रहते हैं, क्योंकि करण इन भूतों की अनुभूति के लिए तो हैं ही, ये भूत कभी न तो अलग होते हैं, न नष्ट होते हैं।[१७०] इससे सिद्ध होता है कि प्राण के साथ भूत भी रहते हैं। इन्द्रियों की जीव के साथ गति नहीं होती। वाणी आदि के अंश अग्नि आदि में लीन हो जाते हैं। जैसाकि–पुरुष की मृत्यु होने पर उसके इन्द्रियों के अंश उनके अभिमानी देवताओं को प्राप्त हो जाते हैं, बाकी अंश उनके साथ ही होते हैं। शरीर के पुनः प्राप्त होने पर उसी में पुनः प्रविष्ट हो जाते हैं।[१७१] मृत्यु काल में इन्द्रियों के अंशों को इन पंचभूतों में छोड़ देते हैं, बाकी अंश को लेकर जाते हैं।[१७२]

आचार्य मध्व ने आचार का सम्बन्ध प्रमुखतः कर्म और धर्म से सम्बन्धित माना है। क्योंकि जीव की गति आदि तो कर्म अथवा धर्म से ही होती है। अर्थात् कर्म का आचरण तथा धर्म का आचरण करने से ही जीव की गति होती है।

---

१६८. भूतानां विनिवृत्तिस्तु मरणं समुदाहृतम्।
भूतानां संप्रयोगश्च जनिरित्यैव पण्डितैः।। –महा०

१६९. यत्रवाव भूतानि तत्र करणानि नित्यानि ह वा एतानि भूतानि कारणानि, न चेतानि कदाचित् वियुज्यन्ते नु च विलीयन्ते। –भाल्लवेय श्रुति।

१७०. पुरुषस्तु मृतो ब्रह्मन प्राणा भागत एव तु।
अधिदेवं प्राप्नुवन्ति भागताऽनव्रजन्ति तम्।। –ब्रह्माण्ड पुराण

१७१. मृत्युकाले जहत्येनं प्राणाभूतानि पंच च।
भागतो भागस्तस्त्वेनमनुगच्छन्ति सर्वशः।। –ब्रह्माण्ड पुराण

१७२. धूमादभ्रमभ्रामादाकाशमाकाशाच्चन्द्रलोकं यधेतमाकाशमाकाशाद् वायुं....मेघो भूत्वा प्रवर्षति। –काषायण श्रुति

जीव जिस प्रकार यहाँ से जाता है उसी प्रकार यहाँ आता है। भोग करता है, कर्म करता है, पुनः लौटता है। आदि वाक्य से गति के समान आगति भी प्रतीत होती है। जैसे-धूम से अभ्र, अभ्र से आकाश, आकाश से चन्द्रलोक प्राप्त करता है, पुनः वहाँ से आकाश, आकाश से वायु होकर धूम होता है, धूम होकर अभ्र होता है, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है।[१७३] इससे स्पष्ट होता है कि गति से भिन्न अवगति भी है। इस आवागमन से छूटने के लिए आचार मीमांसा की अत्यन्त आवश्यकता है।

जो यहाँ अच्छे आचरण करते हैं वे अच्छी योनियाँ प्राप्त करते हैं, बुरे आचरण वाले खराब योनियाँ प्राप्त करते हैं। आदि वाक्यों से आचरण के फल स्वरूप गभनागमन की बात सिद्ध होती है।

आचरण दो प्रकार का होता है–१. आचार तथा २. अनाचार। कर्म के अंग रूप से आचार की शुद्धि का कारण मानते हैं, अनाचार अशुद्ध करने वाला है।[१७४] इस पर कार्ष्णाजिनि कहते हैं कि चरण चर्चा करने वाली श्रुति यज्ञादि की ही उपलक्षक है। रमणीय या कपूय शब्द तो चरण के लिए ही प्रयोग किए हैं, चरण की विशेषता बतलाने से ही उन शब्द प्रयोग की चरितार्थता है।

धर्म का आचरण करो अधर्म का नहीं। आदि वाक्यों से चरण शब्द सुकृत, दृष्कृत दोनों ही अर्थों में प्रयोग किया गया प्रतीत होता है, ऐसा आचार्य बादरि मानते हैं।[१७५] पुण्य कर्म करने वाले ही जाते आते हैं, दूसरे नहीं। इस पर आचार्य मध्व सिद्धान्त बतलाते हैं कि–जो यहाँ शुभ कर्म करते हैं, और जो अशुभ कर्म करते हैं, वे वहाँ अशुभ को भोगकर पुनः यहाँ आकर कर्म करते हैं, पुनः जाते हैं, पुनः आते हैं। इस श्रुति से स्पष्ट होता है कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म करने वाले ही जाते और आते हैं।[१७६]

---

१७३. आचार इति सम्प्रोक्तः कर्मांङ्गत्वेन शुद्धिदः।
अशुद्धिदस्त्वनाचारचरणं तूभयं मतम्।। –पू०प्र० भा० ३.१.१०

१७४. धर्म चरतमाधर्मम् इत्यादि प्रयोगात् सुकृत दुष्कृते एवं चरणशब्दोक्ते इतिवादरिर्मन्यते। –पू०प्र० भा० ३.१.१२

१७५. तद् य इह शुभकृतो ये चाशुभकृतस्तेऽशुभमनुभूयावर्त्तन्ते पुनः कर्म कुर्वन्ति पुनर्गच्छन्ति पुनरागच्छन्ति। –भाल्लवेय श्रुति

१७६. सर्वे वा एते अशुभकृतः संयमने प्रपतन्ति, तत्र ये परद्विषो गुरुद्विषः.....अनुव्रजन्ति। –कौण्डण्य श्रुति

संयमन का अनुभव करके किसी का आरोह (गति) होता है और किसी का अवरोह (आगति) होता है। "अशुभ कर्म करने वाले ये सब नरक में गिरते हैं, उनमें जो परब्रह्म विष्णु से द्रोह (द्वेष) करने वाले, गुरु से द्रोह (द्वेष) करने वाले, शास्त्र से द्वेष करने वाले और उनका अपमान करने वाले हैं, वे शठ, मूर्ख है, वहाँ से जाकर नित्य नरक में गिरते हैं, ये कभी भी उठ नहीं पाते, उस नरक का नाम वव्र है। जो दूसरे ब्राह्मण द्वेषी, चोरी और मदिरा पान करने वाले हैं वे नरक की यातनाओं को भोगकर इस लोक में आते हैं।[१७७]

सभी पापी नरक जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है, जो भगवान् से द्वेष करते हैं, वे पापों का भोग करने के बाद भी वही पड़े रहते हैं। महात्तम (नरक) में पड़े हुए जीवों का उत्थान कभी नहीं होता। और पापियों का उद्धार तो हो भी जाता है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख यह जगत् का नियम है।[१७८] नित्य नरकों में दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है।

नरक के प्रकार–

नरक के दो प्रकार हैं–१. अनित्य नरक और नित्य नरक। अनित्य नरक पांच प्रकार के हैं–१. रौरव, २. महारौरव, ३. वैतरणी, ४. वह्नि और ५. कुम्भीपाक। तथा नित्य नरक दो प्रकार का है-१. तामिस्र, २. अन्धतामिश्र। ये सात नरक है, इनमें उत्तरोत्तर एक-दूसरे से बलवान् हैं। इसमें क्रम से जाकर आरोह-अवरोह होता है।[१७९] इन सात नरकों से जीवों की अवगति होती है, ऐसे महाभारत के यह वचन हैं। अन्धतामिश्र नरक तीन प्रकार का है-उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट। किन्तु अधर नामक नरक का दुःख सुनते ही मूर्च्छित हो जाते हैं।

ईश्वर को नरक नहीं है। ईश्वर सब उत्पन्न करता है। सब नष्ट करता है,

---

१७७. गच्छन्ति पापिनः सर्वे नरकं नात्र संशयः।
तत्र भुक्त्वा पतन्त्येव ये द्विषन्ति जनार्दनम्।।
महातमसि मग्नानां न तेषामुत्थितिः क्वचित्।
इतरेषां तु पापानामुत्थानं विद्यतेऽपि च सुखस्यानन्तरं दुःख दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
इति सर्वत्र नियमः। –पू०प्र० भा०, पृ० १७८

१७८. रौरवोऽथ महांश्चेव वह्निर्वेतरणी तथा।
कुम्भीपाक इति प्रोक्तान्यनित्यनरकाणि च।।

१७९. स स्वर्गे स भूमौ स नरके सोऽन्धोतमसि प्रवृत्ति कृदेक एवानुविष्टो नासौ दुःखभुगीश्वरः प्रभुत्वात्सर्वें पश्यति सर्वं कारयति नासौ दुःख भुग्य एवं वेद। –पोत्राषण श्रुति

यथायोग्य जीवों को सुख और दुःख होता है। ईश्वर अन्तर्यामी होकर जीव को कर्म में प्रवृत्त करता है। उस नारकीय दुःख में भी परमात्मा काा कृत्तित्व बतलाया है। इसलिए ईश्वर के कृतित्त्व में कोई विरुद्धता नहीं आती। जैसे कि–वह स्वर्ग, भूमि, नरक, अन्धतामिश्र में सभी जगत् जीव के अन्तर्यामी रूप के साथ-साथ रहता हुआ प्रवृत्ति देता रहता है, किन्तु वह दुःख नहीं भोगता, प्रभु होने से सब देखता है, सब कुछ करता है, फिर भी दुःख नहीं भोगता, जीव ही दुःख भोगता है।[१८०] सुख-दुःख, नीचता, उच्चता आदि को ही भोग कहते हैं। परमात्मा ऊँचे-नीचे किसी भी भाव को प्राप्त नहीं करता। नरकों की प्राप्ति दुराचरण से ही होती है।

सदाचरण करने से परमनिश्रेयस् अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। आचार्य मध्व भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनों को आचारमीमांसाा के अन्तर्गत ही मानते हैं, इसका वर्णन मोक्षमीमांसा में किया जायेगा।

मध्वाचार्य अंकन, नामकरण तथा भजन-कीर्तन आदि को भी आचार-मीमांसा के अन्तर्गत ही मानते हैं। इसका भी वर्णन मोक्षमीमांसा में ही किया जायेगा। आचार-शास्त्र ही मानव जीवन को मोक्ष प्राप्ति में बहुत बड़ा योगदान देता है।

मोक्ष निरूपण

मध्वाचार्य ने मोक्ष का वर्णन करते हुए कहा है कि मोक्षावस्था में जीव केवल ईश्वर के निकट आ जाता है, किन्तु अपने व्यक्तित्त्व को नहीं खोता। अर्थात् जीव का ईश्वर में लय नहीं होता। मोक्ष की अवस्था सबसे वांछनीय अवस्था है, क्योंकि उसमें व्यक्ति समस्त शोकपूर्ण अनुभवों से मुक्त हो जाता है, तथा उसमें कोई इच्छा नहीं रहती। मोक्ष की अवस्था विभिन्न जीवों के व्यक्तित्त्व के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। मोक्ष की अवस्था में सामान्य तत्त्व यह है कि किसी भी मुक्त व्यक्ति को दुःखमय अनुभव नहीं भोगना पड़ता। मध्वाचार्य का कहना है कि हेतु अथवा इच्छा से रहित ''कर्म'' ही ज्ञान से सम्बन्धी स्थापित करता है, तथा मोक्ष की ओर ले जाता है, अतः 'कर्म' के न करने से भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

आचार्य मध्व का कहना है कि–जो ब्रह्म अर्थात् विष्णु को जानने का

---

१८०. मुख्यं च सर्व वेदानां तात्पर्य श्रीपतौपरे।
उत्कर्षे तु सदन्यत्र तात्पर्य स्यादवान्तरम्।। –स०द०सं०, पृ० २७१

प्रयत्न करते हैं वे अपने इस प्रयास से ईश्वर को प्रसन्न कर देते हैं, और उसके अनुग्रह से मुक्त हो जाते हैं। समस्त वस्तुओं, क्रियाओं, काल, चरित्र और जीवों का अस्तित्त्व ईश्वर पर अवलम्बित है। तथा ईश्वर की इच्छा से उनका अस्तित्त्व मिट सकता है। ईश्वर अज्ञानी को 'ज्ञान' प्रदान करता है तथा ज्ञानी को 'मोक्ष' प्रदान करता है। मुक्त व्यक्ति के सर्व आनन्द का उद्‌गम स्वयं विष्णु ही है। अत: विष्णु ही बन्धन एवं मोक्ष के कारण है।

कहा गया है कि–सभी वेदों का मुख्य तात्पर्य परमश्रीपति अर्थात् विष्णु में ही स्थित है। उनसे भिन्न किसी देवता के गुणों में तात्पर्य होना तो गौण है।[१८१] विष्णु के उत्कर्ष का वर्णन ही महान् तात्पर्य है। मोक्ष ही सभी पुरुषार्थों में ऊँचा है। जैसा कि–धर्म, अर्थ और काम ये सब अनित्य है; नित्य केवल ''मोक्ष'' ही है। इसलिए उसी की प्राप्ति के लिए बुद्धिमानों को प्रयत्न करना चाहिए।[१८२] विष्णु की कृपा के बिना मोक्ष नहीं मिलता। कहा है कि–जिनकी कृपा पाकर परम दु:खरूपी इस संसार से लोग मुक्त हो जाते हैं, बिना कृपा पाये दूसरे लोग नहीं। इस कर्म के जाल से मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को उन परमनारायण का चिन्तन करना चाहिए।[१८३]

विष्णु पुराण में कहा गया है कि–उन भगवान् के प्रसन्न हो जाने पर इस लोक में कौन पदार्थ दुर्लभ है? धर्म, अर्थ और काम की प्रार्थना करना व्यर्थ है, क्योंकि वे बहुत थोड़े हैं अर्थात् अस्थाई है। अनन्त ब्रह्मवृक्ष पर आश्रित रहकर नि:सन्देह मुक्तिरूपी फल प्राप्त कर सकते हैं।[१८४]

विष्णु के गुणों के उत्कर्ष का ज्ञान होने से ही भगवान् की कृपा प्राप्त होती है, अभेद का ज्ञान होने से नहीं। जीव की परम एकता का अर्थ बुद्धि अर्थात् ज्ञान में समरूप हो जाना या एक ही स्थान पर रहना, अर्थात् बैकुण्ठ लोक में जीव और विष्णु परमात्मा का एक साथ रहना ही जीव की एकता है, किन्तु यह निवास

---

१८१. धर्मार्थकामा: सर्वेऽपि न नित्यामोक्ष एवहि।
नित्यस्तस्मात्तदर्थाय यतेत मतिमान्तर:।। –स०द०सं०, पृ० २७२

१८२. यस्य प्रसादात्परमार्तिरूपाद् अस्मात्संसारान्मुच्यते नापरेण।
नारायणोऽसौ परमो विचिन्त्यो मुमुक्षुभि: कर्मपाशादमुष्मात्।।–स०द०सं०, पृ० २७२

१८३. तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकाम.....प्रयान्ति।। –विष्णु पुराण १/१७/९१

१८४. जीवस्य परमेक्यं तु बुद्धिसारूप्यमेव तु।
एकस्थाननिवेशो वा व्यक्तिस्थानमपेक्ष्यस:।। –स०द०सं०, पृ० २७३

मूल स्थान के व्यंजक अर्थात् बैकुण्ठलोक को ही ध्यान में रखते हुए कहा गया है।[१८५] एक साथ निवास करना कहने पर बद्ध जीवों के साथ भी विष्णु परमात्मा का रहना सम्भव है किन्तु ऐसा नहीं है। मूलस्थान अर्थात् बैकुण्ठलोक में ही एक स्थान पर रहने का अभिप्राय है। मोक्षावस्था में भी जीव और ईश्वर का भेद ही स्पष्ट है। कहा गया है कि–''जीव बद्ध तो क्या यदि मुक्त हो जाए, तब भी विरुद्ध धर्म होने के कारण ईश्वर से स्वरूप में एक नहीं हो सकता। उन दोनों में विरूपताएं वही है–ईश्वर में स्वतन्त्रता और पूर्णता है जब कि जीव में अल्पता और परतन्त्रता है।[१८६]

मध्वाचार्य ने अपना मत स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव और ईश्वर में एकता कभी नहीं हो सकती। इसलिए वे कहते हैं कि–पक्षी और सूत्र नाना प्रकार के वृक्ष और फल, नदियाँ और समुद्र अणुता तथा धारणशक्ति, शुद्ध जल और नमक, चोर एवं अपहरणीय वस्तु, पुरुष एवं उसके विषय, अज्ञ जीवों का समूह और प्राणादि का नियामक आदि ये सब भिन्न है। इसी प्रकार जीव और ईश्वर विभिन्न लक्षणों के होने के कारण सदा ही भिन्न है। फिर भी सूक्ष्म रूप होने के कारण परम हरि को मन्द दृष्टिवाले पुरुष जीव से, भिन्न रूप में नहीं देखते हैं, यद्यपि ये ही अर्थात् हरि सभी को कार्य में प्रवृत्त करते हैं।[१८७] इन दोनों की विलक्षणता जानने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है। मध्वाचार्य कहते हैं कि विष्णु को सभी गुणों से परिपूर्ण जानकर, पुरुष संसार अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाता है। दुःख से रहित आनन्द का भोग करते हुए नित्यरूप से वह परमात्मा के पास सुख भोग करता है।[१८८]

जीव मुक्त पुरुष भगवान् का आश्रय लेकर सदा उन्हीं के वश में रहता है। कहा है कि–मुक्त पुरुषों के आश्रय विष्णु ही है, सर्वोच्च स्वामी वे ही है। उन्हीं के वश में हमेशा के लिए रहते हैं, वे ही ईश्वर है।[१८९]

---

१८५. न स्वरूपेकता तस्य युक्तस्यापि विरूपतः।
स्वातंत्र्यपूर्णतेऽल्पत्वपारतन्त्र्ये विरूपते।। –सर्व दर्शन संग्रह, २७३

१८६. तथापि सूक्ष्मरूपत्वान्न जीवात्मो हरिः।
भेदेन मन्ददृष्टीनां दृश्यते पेरकोऽपि।। –वही, २७८

१८७. विष्णुं सर्वगुणेः पूर्ण ज्ञात्वासंसारवर्जितः।
निर्दुःखानन्दभूत नित्यं तत्समीप स मोदते।। –सर्व दर्शन संग्रह, पृ० २७८

१८८. मुक्तानां चाश्रयो विष्णुरधिकोऽपतिस्तथा।
तद्वशा एव ते सर्वे सर्वदेव स ईश्वरः।। –सर्व दर्शन संग्रह, पृ० २७९

१८९. चक्रं विभर्ति पुरुषोऽभितप्तं......वितरागाः।।
देवासो येन विधृतेन बाहुना........स्तद्वहन्ति।। –स०द०सं०, पृ० २६३

भगवान् का कृपा-प्रसाद प्राप्त होने से ही प्रकृति, अविद्या, माया आदि से मोक्ष मिलता है। मोक्ष के चार भेद हैं–१. कर्मक्षयमोक्ष, २. उत्क्रान्तिलय मोक्ष, ३. अर्चिरादिमार्ग मोक्ष और ४. भोग मोक्ष।

१. कर्मक्षय मोक्ष–

अपरोक्ष ज्ञान होने पर सभी संचित पापों का, अभीष्ट तथा पुण्यों का सब तरह से नाश हो जाना ही ''कर्मक्षय मोक्ष'' कहलाता है प्रारब्ध कर्मनाश भोग से ही होता है। सत्यलोक के आधिपत्य-रूप पुण्यात्मक प्रारब्ध फल का अनुभव 'ब्रह्मा' को शत ब्रह्म-कल्प पर्यन्त होता है। ''गरुड़'' तथा शेष को पुण्य-पाप-रूप प्रारब्ध का अनुभव पचास ब्रह्म-कल्प-पर्यन्त होता है। ''इन्द्र'' और ''काम'' को बीस ब्रह्मकल्प पर्यन्त एवं ''सूर्य'', 'चन्द्र' आदि देवताओं को दस ब्रह्मकल्प पर्यन्त ''प्रारब्ध कर्म'' का अनुभव होता है। अन्य उत्तम श्रेणी के मनुष्य को एक ब्रह्मकल्प पर्यन्त अनुभव होता है

''प्रारब्ध कर्म'' के भोगफल का अनुभव समाप्त कर सुषुम्नारूपी ब्रह्मनाड़ी के द्वारा देह से निकल कर जीव ऊपर उठता है। यहाँ से कोई वायु द्वारा चतुर्मुख (ब्रह्म) तक पहुँचते हैं, और किसी को सीधे परमात्मा की प्राप्ति होती हैं

उत्क्रान्तिलय मोक्ष एवं अचिरादिमार्ग मोक्ष–

इन दोनों अवस्थाओं में देवताओं का न तो ''उत्क्रमण'' होता है और न ''अर्चिरादिमार्ग'' ही होता है। मनुष्य आदि को ही दोनों प्राप्त होते हैं, किन्तु इससे ''मुक्ति'' नहीं मिलती।

''क्रममुक्ति'' उत्तम जीवों में देह का लय हो जाने से ''क्रमशः मोक्ष'' मिलता है। उत्तरोत्तर देहों में क्रमशः लय होते-होते चतुर्मुख की देह में जब प्रविष्ट हो जाता है; तब ब्रह्मा के साथ-साथ विरजा नदी में स्नान करने से लिंगशरीर का नाश हो जाता है। लिंगशरीर का नाश हो जाने से जीव-बन्धन का अर्थात् जीवात्मा का नाश समझ जाता है।

४. भोगमोक्ष–

भोगमोक्ष के चार प्रकार हैं–सामीप्य-भोगमोक्ष, २. सालोक्य-भोगमोक्ष, ३. सारूप्य-भोगमोक्ष और ४. सायुज्य-भोगमोक्ष। ये चार प्रकार के ''मोक्ष'' में भी जीव ''भोग'' प्राप्त करता है। इन सभी अवस्थाओं में तारतम्य है। अपनी-

अपनी उपासना के अनुसार सभी ईर्ष्या असूया, आदि रहित हो कर आनन्द में मग्न रहते हैं। ये मुक्त जीव फिर संसार में नहीं आते। ब्रह्मा आदि जीव जब मुक्त हो जाते हैं, तब उनमें सृष्टि करने का व्यापार नहीं रहता।

१. **सामीप्य-भोगमोक्ष**–सामीप्य का अर्थ है ईश्वर के समीप निरन्तर निवास करना और उसी अवस्था में सानिध्य के आनन्द को प्राप्त करना ही ''सामीप्य-भोगमोक्ष'' कहलाता है। जिसका उपभोग सन्तगण करते हैं।

२. **सालोक्य-भोगमोक्ष**–बैकुण्ठ में निवास करना तथा वहाँ ईश्वर के सहवास में रहकर उसके निरन्तर दर्शन से सन्तोष एवं आनन्द का अनुभव करना ही ''सालोक्य-भोगमोक्ष'' कहलाता है।

३. **सारूप्य-भोगमोक्ष**–बाह्य रूप से ईश्वर के समान होना ही ''सारूप्य-भोगमोक्ष'' कहलाता है। जिसका उपभोग ईश्वर के परिचारक अर्थात् जय-विजयादि करते हैं।

४. **सायुज्य-भोगमोक्ष**–उन्हीं शक्तियों का उपभोग करना जो शक्तियाँ ईश्वर में होती है; तथा उक्त उपभोग केवल ईश्वर के शरीर में प्रविष्ट होकर ईश्वर की विशिष्ट शक्तियों से अपना और ईश्वर का ऐक्य करने के लिए सम्भव हो सकता है, इसे 'सायुज्य-भोगमोक्ष' कहते हैं। सायुज्य-भोगमोक्ष का उपभोग केवल देव-गण ही कर सकते हैं।

मोक्ष के साधन–

मध्वाचार्य के अनुसार मोक्षप्राप्ति के अनेक साधन है। उनमें से अंकन, नामकरण और भजन इन तीन साधनों पर अधिक जोर दिया जाता है।

१. अंकन–

अंकन वह है जिसमें भगवान् नारायण के रूप के स्मरण के लिए या अपेक्षित लक्ष्य (मुक्ति) के लिए अनेक आयुध अर्थात् अस्त्र-शस्त्र आदि चिह्न शरीर के किसी भाग पर अंकित कर दिया जाए। जैसे-जो पुरुष देवताओं के बल, स्वरूप अमर-विष्णु के अभितप्त चक्र को धारंण करता है, वह दुरितों अर्थात् पापों को नष्ट करके उस स्वर्ग में प्रवेश करता है, जहाँ राग से हीन संन्यासी लोग जा सकते हैं। बाहू में जिस सुदर्शन चक्र को धारण करे देवता लोग चलते-चलते उस स्वर्ग लोक में पहुँचते, जिस चक्र से अंकित होकर मनुष्यों ने संसार की

सृष्टि की थी। उसी चक्र को ब्राह्मण लोग धारण करते हैं।[१९०] इस प्रकार और भी कहा गया है कि–धातुओं की चक्रादि चिह्न की मुद्राएं करके उस मुद्रा को अग्नि से तप्त करे इसे राजा या वैष्णव लोग शरीर पर धारण करें।[१९१]

चक्र धारण करने के विषय में यह लिखा गया है कि–बारह आरों को षट्कोण या चक्राकार से युक्त बनाकार, हरि-हरि के सुदर्शन को अग्नि से तप्त करके शरीर पर धारण करे, वह विचक्षण अर्थात् तेजयुक्त हो जाता है।[१९२] यह सुदर्शन देवताओं को बल देता है। उसी से देवताओं ने स्वर्ग पर विजय पायी। मनुओं ने संसार की सृष्टि की।

भगवान् विष्णु का वह पद सबसे अच्छा है जिससे होकर अंकित पुरुष पार करते हैं। बड़े पग वाले विष्णु के चिह्न से अंकित होकर हम लोग संसार में ऐश्वर्य युक्त बने।[१९३] अंकन करने के लिए विशेष स्थानों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है कि–ब्राह्मण दाहिने हाथ में सुदर्शन चक्र धारण करे, शंख की छाप बायें हाथ में धारण करें ऐसा ब्रह्मवेता लोग मानते हैं।[१९४] किसी-किसी मध्वाचार्य के द्वैत परक ग्रन्थों में चक्र धारण करने के मन्त्रों का भी उल्लेख है। चक्रधारण का मन्त्र इस प्रकार है कि–हे सुदर्शन! तुम बहुत ज्वालाओं से युक्त हो, करोड़ों सूर्य के समान तुम्हारी ज्योति है। मैं अज्ञान के कारण अन्ध हूँ, मुझे विष्णु का मार्ग प्रतिदिन दिखलाओ।[१९५] शंखधारण करने का भी तुम्हें अपने हाथ में धारण किया था। सभी देवताओं ने तुम्हें प्रणाम किया है, हे पाँचजन्य शंख! तुम्हें प्रणाम करता हूँ।[१९६]

जिसका शरीर तप्त-अंकन से अंकित नहीं है, वह पुरुष कच्चा है, और

---

१९०. कृत्वा धातुमयी मुद्रां तापयित्वा स्वकां तनुम्।
चक्रादिचिह्नितां भूप धारयेत् वैष्णवो नरः।। –सर्व द०सं०, पृ० २६४

१९१. द्वादशारं तु षट् कोणं वलयंत्रयसंयुतम्।
परेः सुदर्शनं तप्तं धारयेत्तद्विचक्षणः।। –स०द०सं०, पृ० २६४

१९२. तद् विष्णोः परमं पदं येन गच्छन्ति लाञ्छिताः।
उरुक्रमस्य चिह्नैरङ्किता लोके सुभगा भवामः।। –वही, पृ० २६४

१९३. दक्षिणो तु करे विप्रो विभृयाच्च सुदर्शनम्.......विदुः।। –वही, पृ० २६४

१९४. सुदर्शन महाज्वाल कोटिसूर्य समप्रभ......प्रदर्शय।। –वही, पृ० २६५

१९५. त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुनां विधृतः करे........अस्तु ते। –वही, पृ० २६५

१९६. उपासना च द्विविधा सततं शास्त्राभ्यासरूपाध्यान रूपा च।
–म०सि०सा०, पृ० ५००

उसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु अंकन को धारण करने वाले भक्तगण ही उसे प्राप्त करते हैं।

२. नामकरण–

नामकरण का अभिप्राय है कि अपने पुत्रादि का केशव, माधव, विष्णु, हरि, गोविन्द, नारायण आदि वैष्णवमान्य नाम रखकर पुकारना जिससे भगवान् के नामों का अनुस्मरण होता रहे।

३. भजन–

भजन के दस प्रकार हैं–१. वाणी के द्वारा सत्य, २. हित, ३. प्रिय वचन, ४. स्वाध्याय, ५. शरीर से दान, ६. बचाव करना, ७. रक्षा करना, ८. मन से दया, ९. स्पृहा (इच्छा) और १०. श्रद्धा, इनमें से एक-एक की प्राप्ति करके उसे नारायण को समर्पण कर देना ही 'भजन' है।

इसके अतिरिक्त आचार्य मध्व के मत में मोक्ष प्राप्ति के और भी साधन है। वे हैं–नाना प्रकार के सांसारिक दुःखों को देखकर सन्तों की संगति से इहलौकिक तथा पारलौकिक फल में विराग अर्थात् वैराग्य उत्पन्न होना, शम, दम, तितिक्षा आदि गुणों से युक्त होना, अध्ययन में निरत होना, शरणागति, गुरुकुल वास, गुरु के उपदेश द्वारा सत्शास्त्रों का श्रवण, उनका मीमांसा आदि के द्वारा मनन, यथायोग्य गुरुभक्ति, परमात्मा में भक्ति, अपने से नीचों के प्रति दया, अपने समानों के प्रति स्नेह, अपने से उच्चों में भक्ति, ज्ञानपूर्वक निष्काम होना, शास्त्रों में निषिद्ध बातों का त्याग, भगवान् में सबका समर्पण, जीवों तथा देवों में तारतम्य को समझना और भगवान् को सबसे ऊँचा जानना। १. जीव-ईश्वर में भेद, २. जीव-जीव में भेद, ३. जड़-ईश्वर में भेद, ४. जड़-जड़ में भेद तथा ५. जड़-जीव में भेद। इन पांच प्रकार के भेदों का ज्ञान होना, प्रकृति और पुरुष में विवेकज्ञान होना, और विष्णु की उपासना करना।

उपासना के दो भेद हैं–अभ्यास तथा ध्यान।[१९७]

१. **अभ्यास**–शास्त्रों के अध्ययन एवं विवेकपूर्ण चिन्तन व विचार-विमर्श के द्वारा एक पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप

---

१९७. ध्यानं च इतर तिरस्कारपूर्वक भगवद्विषयकाऽखण्ड स्मृतिः।

–म० सि० सा०, पृ० ५०२

सर्वमिथ्या विचारों का निवारण हो जाता है, तथा संशय दूर हो जाते हैं। इसे ही ''अभ्यास'' कहते हैं।

२. **ध्यान**–ध्यान वह है-अन्य सभी वस्तु का तिरस्कार (त्याग) करके भगवान् का अखण्ड स्मरण करना।[१९८] ध्यान को ''निदिध्यासन'' तथा ''समाधि'' भी कहा गया है। यह ''ध्यान'' श्रवण तथा मनन के द्वारा अज्ञान, संशय तथा मिथ्या-ज्ञान का नाश होने पर होता है।

भगवान् के भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार उपासना में भी अनेक प्रकार होते हैं। कोई आत्मस्वरूप एकमात्र गुण को लेकर भगवान् की उपासना करते हैं, वे एक गुणोपासक है। उत्तम श्रेणी के मनुष्य सत्, चित् आनन्द तथा आत्म स्वरूपत्व, इन चारों गुणों से विशिष्ट भगवान् की उपासना करते हैं।

भक्ति–

भक्ति का स्वरूप इस प्रकार है कि–भक्ति परमेश्वर के प्रति ऐसे निरन्तर प्रेम-प्रवाह में निहित होती है, जो सहस्त्रों बाधाओं में क्षत अथवा प्रभावित नहीं हो सकती, जो स्वात्म-प्रेम एवं आत्मीय वस्तुओं के प्रति प्रेम से अनेक गुणा अधिक होती है, और जो इस ज्ञान से उत्पन्न होती है कि परमेश्वर अनन्त शुभ एवं कल्याणकारी गुणों से सम्पन्न है।[१९९] जब ऐसी भक्ति का उदय होता है तब परमेश्वर का ''अत्यर्थ-प्रसाद'' होता है; और जब परमेश्वर का हम पर ऐसा प्रसाद होता है, तब हम मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं।

इन साधनों के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति के लिए और भी साधन बताये गए हैं। वे हैं–हरि का स्मरण, कीर्तन, जप, अर्चन, एकादशीव्रत, द्वादशीव्रत, द्वादशी तिथि ही हरिवासर है। इसीलिए द्वादशीव्रत हरि की उपासना का अंग कहा या माना गया है। ललाट पर दो खड़ी रेखाओं का तिलक धारण करना, तीर्थ-यात्रा करना, तप करना आदि अनेक साधन है, जो भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के हेतु अर्थात् कारण है।

भक्ति के विषय में उमेश मिश्र लिखते हैं कि–हमें बड़ी भक्ति से परमेश्वर

---

१९८. परमेश्वर भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तावनद्य कल्याण गुणत्वा। ज्ञानपूर्वकः स्वात्मात्मीय समस्त वस्तुभ्यः अनेक गुणाधिकः अन्तराय सहस्रेणापि अप्रतिबद्धः निरन्तर प्रेम प्रवाहः। –भा०द०का०ई०, पृ० ३२१

१९९. उमेश मिश्र कृत, भा० द०, पृ० ३२३

कृष्ण की निरन्तर उपासना करनी चाहिए, और जगत् के दु:खों से रक्षण करने के लिए उसकी प्रार्थना करनी चाहिए। हमें नरक के क्लेशों का विचार करना चाहिए; और पापों से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए, तथा सदा परमेश्वर हरि के नाम का संकीर्तन करना चाहिए। और अपने सभी कर्मों को फल की इच्छा किये बिना परमेश्वर को समर्पित करना चाहिए।[२००]

ये सभी साधन ब्रह्मा से लेकर सभी योग्य जीवों के लिए मोक्ष प्राप्ति के हेतु हैं। इनका अभ्यास (आचरण) करना आवश्यक है। उपर्युक्त साधनों के द्वारा ''अपरोक्षज्ञान'' होने के बाद परमभक्ति उत्पन्न होती है। तब भगवान् की अत्यन्त प्रसाद प्राप्ति होती है। इससे प्रकृति, अविद्या आदि ये सभी प्राणियों को ''मोक्ष'' मिलता है।

डॉ० राधाकृष्णन् मोक्ष के विषय में वर्णन करते हुए कहते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए सबसे पूर्व एक स्वस्थ तथा निर्दोष नैतिक जीवन का होना आवश्यक है। बिना किसी इच्छा अथवा फल-प्राप्ति के दावे के नैतिक नियमों का पालन करना तथा कर्तव्य कर्मों का निभाना आवश्यक है। धार्मिक जीवन हमें सत्य की गहराई तक पहुँचने में सहायक होता है। वेदों के अध्ययन से हम सत्यज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, और उसकी प्राप्ति के लिए एक उपयुक्त गुरु की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति में ब्रह्म के एक विशेष रूप का साक्षात् करने की क्षमता रहती है। ज्ञान-सम्पन्न गुरु को चाहिए, कि वह इन भेदों का ध्यान रखे, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि ''जिसके योग्य कोई व्यक्ति है उसके प्रत्यक्ष से ही अन्तिम मोक्ष प्राप्त होता है, अन्य किसी साधन से नहीं।[२०१] केवल देवताओं तथा तीन उच्च वर्णों के मनुष्यों को ही वेदाध्ययन की आज्ञा दी गई है और स्त्रियाँ तथा शूद्र पुराणों तथा स्मृतियों द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं। मध्व उन सब व्यक्तियों को वेदान्त के अध्ययन का अधिकार देते हैं जो उसे समझ सकते हैं।[२०२]

जब-जब हो सके और जितनी प्रगाढ़ भक्ति के साथ हो सके, ईश्वर के वैभव में अपने को मगन करके ध्यान लगाने का आदेश दिया गया है। ध्यान के द्वारा आत्मा दैवीकृपा से अपने अन्तःकरण में ईश्वर का साक्षात् (अपरोक्ष ज्ञान)

---

२००. महाभारत, ३ : ५२।
२०१. महाभारत, १ : १, १।
२०२. महाभारत, ३ : २, १।

ज्ञान प्राप्त कर सकती है। जब आत्मा को इस प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जो सूर्य की भांति स्थिर होना चाहिए न कि केवल बिजली की भांति शीघ्रगामी व क्षणिक, तब इसके बन्धन कट जाते हैं और इसे मुक्त कहा जाता है।

ईश्वर के पास हम सीधे नहीं पहुँच सकते। वायु मध्यस्थ का कार्य करती है। भगवत्कृपा का सिद्धान्त, जिसे मध्वाचार्य अंगीकार करते हैं, हमें आगस्टाइन के मत का स्मरण कराता है। मनुष्य स्वयं कभी बन्धन से छूटने के योग्य नहीं हो सकता। यह केवल भगवत् कृपा से ही सम्भव है कि उसका मोक्ष हो सके। पुण्य कर्मों के भी किसी विचार से ईश्वर बाध्य नहीं होता। वह केवल मात्र कुछ को मोक्ष-प्राप्ति के लिए और अन्य को उसकी विरोधी अवस्था के लिए चुन लेता है। दैवी इच्छा ही मनुष्यों को मुक्त करती अथवा बन्धनों में डालती हैं। किन्तु हिन्दूधर्म की परम्परा के अनुसार मध्व ऐसा मत प्रकट नहीं कर सकते कि ईश्वर चुनाव स्वेच्छापूर्ण अनुपाधिक तथा निराधार है। यद्यपि किन्हीं अर्थों में आत्मा की अवस्थाएं भी ब्रह्म के द्वारा[२०३] ही उत्पन्न होती है, तो भी यह मानी हुई बात है कि प्रभु की कृपा भी हमारी उसके प्रति भक्ति के अनुपात में ही प्राप्त होती है।[२०४]

हमारा अपना आचरण ही स्वयं में हमें मोक्ष की ओर नहीं ले जा सकता; ईश्वर का सहयोग आवश्यक है। सर्वोपरि सत्ता, जो अव्यक्त है, हमारे अपने प्रयत्नों के बल से व्यक्त नहीं की जा सकती। जब हमारी भक्ति के द्वारा वह प्रसन्न होती है तभी वह अपने को प्रकट करती है।[२०५] ईश्वर की कृपा उपासक के विश्वास के अनुकूल ही होती है। मध्व के अनुयायियों में से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न परिमाणों में दैवीयनियति तथा मानवीयमोक्ष पर बल देते हैं। अन्तर्दृष्टि, भक्ति तथा कर्मकाण्ड-सम्बन्धी क्रियाकलाप के सम्पादन पर बल दिया गया है, सर्वोपरि सत्ता की सेवा के लिए विष्णु के चिह्नों से शरीर को गोदना, अपने पुत्रों तथा अन्यों को प्रभु के नाम देना, और उनकी पूजा करना, वचन (सत्यभाषण तथा पवित्र ग्रन्थों का स्वाध्याय); कर्म और मानसिक विचार आवश्यक है। दैवी कृपा की प्राप्ति के लिए ईश्वर की पूजा अनिवार्य तथा प्राथमिक आवश्यकता है। ज्ञानपूर्वक किए गए कर्म हमें ऊपर की ओर उन्नति करने में सहायक होते हैं। क्रियाकलाप तथा यज्ञ और तीर्थयात्राएं करने का भी

---

२०३. महाभारत, ३ : २, २०-२१।

२०४. महाभारत, ३ : २, २३-२७।

समर्थन किया गया है। पशुबलि को निषिद्ध बताया गया है और यज्ञ करने वाले पुरुषों के लिए विधान किया गया है कि वे जीवित पशुओं के स्थान पर आटे के पशु बनाकर उनसे काम ले।

जब तक आत्मा का प्रारब्ध कर्म क्रियाशील है, उसका शारीरिक जीवन रहता है; किन्तु जब यह शरीर से वियुक्त होती है तो सर्वथा मुक्त हो जाती है। नितान्त मोक्ष तथा सांसारिक जीवन परस्पर अनुकूल नहीं है। न्यायाभृत के ग्रंथकार का तर्क है कि ऐसा मनुष्य, जिसे सत्य का प्रकाश तो मिल गया, किन्तु ईश्वर की कृपा प्राप्त नहीं हुई, जो कि मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है, उसे हमेशा के लिए मर्त्यलोक में जीवन बिताना होता है। यह जीवन्मुक्ति है। नितान्त मोक्ष केवल ईश्वर की कृपा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

भागवत के अनुसार विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन (स्वरूपेण व्यवस्थिति) में पुनः लौट जाना ही मोक्ष है, जिसमें समस्त अनावश्यक रूप दूर हो जाते हैं।[२०६] यह ईश्वर के साथ साहचर्य की अवस्था है किन्तु उसके साथ एकात्म भाव नहीं है। यदि जीव और प्रभु के मध्य का भेद दृष्टिगत नहीं होता, जैसे कि प्रगाढ़ निद्रा अथवा प्रलय की अवस्था में तो, यह मोक्ष की अवस्था नहीं।[२०७] मुक्तात्मा पुरुष अपने व्यक्तितत्त्व की चेतना को प्रलय तथा सृष्टि रचना दोनों अवस्थाओं में स्थित रखते हैं। मोक्षअवस्था में दुःख का अभाव तथा स्थिरसुख का अनुभव होता है। किन्तु आत्मा ईश्वर के सादृश्य तक ऊँचा उठने की योग्यता नहीं रखती। आत्मा उसकी सेवा करने ही के योग्य होती है। यदि ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करने को मोक्ष कहा जाता है तो यह सोपाधिक अर्थों में ही है, अर्थात् आत्मा को ब्रह्म का दर्शन हो जाता है। ऐसे श्रुति वाक्यों का भाव है कि "वह जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, ब्रह्म ही हो जाता है" यह नहीं है कि दोनों में नितान्त ऐक्य हो जाता है।[२०८] समस्त मुक्तात्मा पुरुषों की इच्छा तथा आशय एक समान होते हैं।[२०९] निःसन्देह उनसे अर्थों में इच्छाएं रहती हैं, किन्तु उनकी इच्छाएं

---

२०५. महाभारत, १ : १, १७। मध्व के मत में मुक्ति 'स्वस्वयोग्यस्वस्वरूपा' है तथा आनन्दाभिव्यक्ति है।

२०६. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि हिन्दूज बृहदारण्यक उपनिषद्, पृ० ११८।

२०७. तत्त्व मुक्तावली, पृ० ५५-५६।

२०८. तत्त्व मुक्तावली, पृ० ४ : २, १६।

२०९. तत्त्व मुक्तावली, ३ : ३, २७।

सर्वोपरि प्रभु की इच्छाओं के ही समान होती है। वे स्वेच्छा से ध्यान करते हैं।[२१०] वे अपनी इच्छा से शुद्ध सत्त्वस्वरूप शरीर धारण करते हैं यद्यपि यह शरीर कर्म की देन नहीं है; किन्तु जिन शरीरों को वे धारण करते हैं उनके साथ किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखते। यदि वे इस प्रकार का शरीर धारण न भी करें, तो भी वे परमआह्लाद का अनुभव इसी प्रकार कर सकते हैं जिस प्रकार हम स्वप्नावस्था में करते हैं।[२१२]

ऐसे पुरुष जो मोक्ष को प्राप्त करते हैं, संसार-चक्र से छूट जाते हैं किन्तु अन्य मृत्यु के उपरान्त एक भिन्न जीवन में चले जाते हैं, जिसका निर्धारण कर्म के विधान द्वारा होता है। मृत्यु के समय इस स्थूल शरीर का अपने भागों में विलय हो जाता है। एवं आत्मा, सूक्ष्म तथा अदृश्य प्राकृतिक शरीर धारण किए हुए जिसमें इन्द्रियाँ भी साथ होती है, या तो दिव्यलोक में चली जाती हैं, अथवा अस्थायी नरकों में अथवा ज्योतिर्मय चन्द्रलोकों में जाती है, जहाँ यह कुछ समय तक अपने सुकृत कर्मों के अनुसार ठहरती है। उसके पश्चात् माता के गर्भ में जाती है, जहाँ पर आत्मा की नई-नई इहलौकिक देह का निर्माण होता है।[२१३] इस प्रकार बार-बार जन्म होता रहता है। जब इसके अन्दर ईश्वर के प्रति पूर्णरूप में प्रेम अथवा द्वेष का भाव विकसित होता है, उस समय या तो यह मोक्ष प्राप्त कर लेती है अन्यथा नरक में धकेल दी जाती है।

---

२१०. तत्त्व मुक्तावली, ४ : ४, ८।
२११. तत्त्व मुक्तावली, ४ : ४, १०-१६।
२१२. तत्त्व मुक्तावली, ३ : १, २९, १।

सप्तम अध्याय

शैवदर्शन

शैवदर्शन के मूल ग्रन्थ है-शैवागम जिनमें शिवसंहिता, अहिर्बुध्न्य-संहिता आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अनन्तर आगम और यामल ग्रन्थ है, जो सभी संस्कृत में है। इनके अतिरिक्त शैवमत का जो गढ़ तमिल देश में है, वहाँ की परम्परा में तमिलभाषा में शैवग्रन्थ प्राप्त हैं। ८४ सन्तों की बात वहाँ मिलती है, जिनमें चार आचार्यों-अप्पार, ज्ञान-सम्बन्ध, सुन्दरमूर्ति तथा 'माणिक्कवाचक' का नाम प्रसिद्ध है। इन सभी ने इस मत का प्रवर्तन किया। इस प्रकार उत्तरी भारत में जहाँ संस्कृत के आगम ग्रन्थ शैवमत की मूल भित्ति है, वहाँ भारत में उक्त आचार्यों की तमिल रचनायें ही शैव मत की आधार है। इन्हें दक्षिण में लोग दक्षिणी आगमों के समान ही अत्यन्त अभ्यर्हित मानते हैं। वास्तव में शैवमत अभी दक्षिण में ही जीवित हैं। इन ग्रन्थों को दक्षिण में 'शैव सिद्धान्त' या 'शैवागम' भी कहते हैं। वहाँ प्रसिद्धि है कि शिव ने अपने पांच मुखों से २८ तन्त्रों का आविर्भाव किया। उनकी संख्या निम्नलिखित है-

१. **सद्योजात मुख से**-कामिक, योगज, चिन्त्य, करण, अजित (५)।

२. **वामदेव मुख से**-दीप्त, सूक्ष्म, सहस्त्र, अंशुमान, सुप्रभेद (५)।

३. **अघोर मुख से**-विजय, निश्वास, स्वायम्भुव, अनल, वीर (५)।

४. **तत्पुरुष मुख से**-रौरव, मुकुत, विमल, चन्द्रज्ञान, बिम्ब (५)।

५. **ईशान मुख से**-प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोपरि, परमेश्वर, किरण और वातुल (८)।

अभिनव द्वारा रचित तन्त्रालोक की टीका करते समय जयरथ ने इन तन्त्रों का उल्लेख किया है। इन तन्त्रों पर भी अनेक टीकाएं है-जिनमें शैवागम साहित्य की विपुलता का अनुमान लग सकता है। इसके अलावे भी सद्योज्योति (८०० ई०)

के द्वारा रचित नरेश्वरपरीक्षा, रौरवागमवृत्ति तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रय, भोगकारिका और परमोक्षनिरासकारिका, हरदत्त शिवाचार्य (१०५० ई०) रचित श्रुतिसूक्तिमाला और चतुर्वेदतात्पर्य-संग्रह, रामकण्ठ (११०० ई०) लिखित मातङ्गवृत्ति, नादकारिका और सद्योज्योति के ग्रन्थों की टीकाएं, श्रीकण्ठ का रत्नत्रय, भोजराज-तत्त्व प्रकाशिका और रामकण्ठ के शिष्य अघोर-शिवाचार्य रचित तत्त्व-प्रकाशिका और नादकारिका की वृत्तियाँ-ये ग्रन्थ भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सद्योज्योति के अन्तिम पांच ग्रन्थ, भोजराज की तत्त्व प्रकाशिका, रामकण्ठ की नादकारिका और श्रीकण्ठ का रत्नत्रय–ये आठ (८) ग्रन्थ अष्टप्रकरण कहलाते हैं।

तत्त्वार्थ–

'तत्त्व' शब्द का अर्थ अनेक प्रकार का माना जाता है, इसमें 'तत्' एवं 'त्व' पद में, तत् पद का अर्थ-परोक्ष एवं वह है। इसमें भाववाची त्व प्रत्यय लगा कर 'तत्त्व' शब्द सिद्ध होता है। इसका सामान्य अर्थ है कि उस वस्तु का ज्ञान जिसका अस्तित्त्व किसी न किसी रूप में सिद्ध है अथवा माना जाता है।

जगत् में वास्तविक स्थिति के लिए भी तत्त्व शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे कि मैं उस वस्तु को तत्त्वत: नहीं जानता हूँ, इसका अभिप्राय यह है कि मैं उस वस्तु को वास्तविक रूप में नहीं जानता हूँ।

दर्शन शास्त्र में मूलप्रकृति यथार्थता अथवा मूलकारण को भी तत्त्व कहा जाता है। तत्त्वित् का अर्थ है आत्मज्ञानी या ब्रह्मज्ञानी। किसी वस्तु के सार भाग अथवा रहस्य को भी तत्त्व कहा जाता है। ''संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्'' में 'तत्त्व' से रहस्यार्थ ही गृहीत किया गया है

दर्शन शास्त्र में ''तत्त्वमीमांसा'' का एक विशिष्ट अर्थ होता है। इस ब्रह्माण्ड में हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, स्पर्श करते और स्वाद लेते हैं, उन दृश्य, श्रव्य आदि पदार्थों के पीछे कौन वस्तुएं आधार के रूप में काम कर रही हैं, उनकी खोज करना और उन पर तर्क पूर्वक विचार करने का नाम तत्त्वमीमांसा है। तत्त्व प्राय: परोक्ष ही होता है। उसे केवल बाह्य इन्द्रियाँ नहीं ग्रहण कर सकती। इसलिए सामने पड़ी वस्तु को भी हम ''इदं तत्त्वम्'' कहते हैं। इदम् का अभिप्राय उसका बाह्य आकार-प्रकार है। तत्त्व का अर्थ है उसमें कुछ अदृश्य रहस्य भी निगूढ़ है। घृत दुग्ध का तत्त्व है। दुग्ध भी गौ के द्वारा खाए हुए तृणादि का तत्त्व है। तृणादि भी तत्त्व है पंचभूतों के। पंचभूत भी तन्मात्रों के तत्त्व है। इस प्रकार हम मूल कारण जो कि एक रहस्य है, उसकी खोज करते-करते जिस

अन्तिम तत्त्व पर पहुँचते हैं, वही दर्शन-शास्त्र के अनुसन्धान का विषय है। कहने का अभिप्राय यह है कि तत्त्व पहले परोक्ष ही होता है। इसलिए कोई भी इदन्त्व नहीं कहता। सभी तत्त्व ही कहते हैं। सत्य और यथार्थ होने के कारण ही उसे अपरोक्ष कहा जाता है।

'तत्त्व' अर्थात् अन्तिम सत्य पर विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से अनुसंधान किया है। किसी ने निखिल ब्रह्माण्ड में केवल एक ही तत्त्व माना है, किसी ने दो और किन्हीं दार्शनिकों ने तीन तत्त्व स्वीकार किए हैं। अवान्तर तत्त्वों के रूप में यह संख्या कहीं सोलह कही चौबीस कहीं पच्चीस और कहीं छत्तीस तक जा पहुँची है।

ऊपर तत्त्व शब्द का और तत्त्वमीमांसा का जो अर्थ किया गया है, त्रिक शास्त्र में उतने अर्थ से काम नहीं चलता। त्रिकदर्शन की तत्त्वमीमांसा के रहस्य को समझाने के लिए तत्त्व शब्द के अर्थ को थोड़ा और व्यापक करना होगा। ब्रह्माण्ड में फैले हुए घटक द्रव्य ही यहाँ तत्त्व नहीं कहलाते, अपितु शक्ति के विकसित रूपों (Evolued form of Shakti) को भी यहाँ तत्त्व संज्ञा दी गयी है। पर तत्त्व तो त्रिकदर्शन के अनुसार एक ही है, किन्तु शक्ति से विकसित हुए छत्तीस रूपों को भी यहाँ ऊपर तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। उन छत्तीस तत्त्वों की भी यथार्थता इस दर्शन में उतनी है, जितनी परमशिव की यह विशेषता किसी अन्य दर्शन में नहीं मिल सकती। इसलिए त्रिक शास्त्र में तत्त्व का एक विशिष्ट अर्थ है, उसे जान लेना अत्यावश्यक है।

परममाहेश्वर आचार्य अभिनव गुप्त ने तत्त्व की परिभाषा इस प्रकार की है–

'तत्त्व' शब्द का अर्थ है–"तनोति सर्वमिति" तत् "परं रूपं तस्य भावस्तत्वम्" (तन्त्रालोक ९/१) अर्थात् जो सब का जनन-विस्तारण करता है, वह परमरूप शिव तत् शब्द का वाच्य है। उस तत् का भाव तत्त्व अथवा शिवत्व कहलाता है।

आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं कि यत्किञ्चित् भेद से जो रूप सर्वत्र अन्वित हो वह रूप तत्त्व कहलाता है। वह रूप एक शिव ही है। उसी के स्वातन्त्र्य से छत्तीस रूपों में भी शिव ही अनुगत है। अतः पृथिवी आदि छत्तीस रूप में शिव हैं। अतः वे तत्त्व कहलाते हैं।

उदाहरण के लिए पृथिवी एक तत्त्व है क्योंकि धृति काठिन्य गरिमा स्थूलता आदि धर्मों से वह सर्वत्र अनुगत है। जहाँ धृति काठिन्य आदि धर्म होंगे

वहाँ-वहाँ पृथिवीत्व होगा।[१] जैसे सास्नादि के योग से खण्ड मुण्ड आदि में गोत्व अनुगत होता है वैसे ही घृत आदि धर्मों से वीर-सदन से वीरभद्र पर्यन्त आदि में पृथिवीत्व धर्म अनुगत है। अतः पृथिवी एक तत्त्व है।[२]

सर्वदर्शन संग्रह में शिव का वर्णन पति के रूप में किया गया है पति का वर्णन करते हुए कहा है कि 'पति' शब्द का अर्थ शिव ही है। इनमें पति पदार्थ से शिव का अर्थ समझा जाता है। मुक्तात्मा वाले विद्येश्वर आदि यद्यपि शिव हैं। उनमें शिवत्व गुण है।[३] तथापि परमेश्वर के पराधीन होने के कारण वे स्वतन्त्र नहीं है। यह स्मरणीय है कि नकुलीश-पाशुपात दर्शन में मुक्तों को शिवत्व-प्राप्ति के साथ स्वतन्त्रता भी मिल जाती है, परतन्त्रता नहीं रहती, किन्तु शैवदर्शन में उनकी परतन्त्रता मानी जाती है। 'मुक्त आत्मा वाले' शब्द विद्येश्वरादि के विशेषण भी हो सकते हैं और स्वतन्त्र शब्द भी विद्येश्वरादि को पूरा=मुक्ति नहीं मिलती। हाँ, अपरा मुक्ति के अधिकारी तो वे अवश्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस तरह संसार के उत्पादन में परमेश्वर को प्राणियों के कर्म की अपेक्षा रहती है या नहीं इस विषय में मतभेद है—उसी तरह मुक्तों की स्वतन्त्रता के विषय में भी मतभेद हैं।

परमेश्वर की सत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसी से शरीर इन्द्रियों और संसार आदि पदार्थों को कार्य के रूप में हम समझते हैं, क्योंकि इन पदार्थों में अवयव-रचना संनिवेश की विशिष्टताएं हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, पर्वत आदि पदार्थों के अवयवों की रचना में एक नियमितता देखते हैं, इससे मालूम होता है कि ये कार्य हैं। किसी ने इन्हें उत्पन्न किया है। चूँकि ये कार्य है इसलिए किसी बुद्धियुक्त कर्त्ता ने इनका निर्माण किया है, ऐसा अनुमान होता है—इसी अनुमान के बल से परमेश्वर की प्रसिद्धि की बात सिद्ध हो जाती है। कर्त्ता वह

---

१. यत्तु कतिपय भेदानुगतं रूपं तत्त्वत्वम् यथा पृथिवी नाम धृति काठिन्य स्थौल्यादिरूपा कालाग्निप्रभृति वीर भद्रान्त भुवनेशधि तिष्ठित ब्रह्माण्डानुगता।।

—तंत्रसार, अ०-८, पृ० ६९

२. (क) तथाहि कालसदनाद् वीर भद्र पुरान्तगम्।
धृति काठिन्य गारिमाद्यवभासादधरात्मता।। —तन्त्रलोक-९/३

(ख) सास्नादियोगात् कालाग्नि भुवनादावपि पृथ्वीत्वमिति।। —तन्त्रलोक-९/३

३. तत्र पति पदार्थः शिवोऽभिमतः। मुक्तात्मनां विद्येश्वरादीनां च यद्यपि शिवत्वमस्ति, तथापि परमेश्वर पारतन्त्र्यात् स्वातन्त्र्यं नास्ति।—सर्व दर्शन सं० शैव नि०, पृ० २७७

है जो इच्छा और प्रयत्न का आधार हो–'चिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वं कर्तृत्व'। कार्य के पूर्व उसकी सत्ता अवश्य होगी और चूँकि कर्ता इच्छा से युक्त होता है अतः इसमें बुद्धि का होना अनिवार्य है। संसाररूपी विराट् कार्य के लिए तदनुरूप कर्ता होना चाहिए, जो और कोई नहीं, परमेश्वर ही है। नैयायिकों के द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि के लिए यही तर्क प्रस्तुत किया जाता है।[४]

शैवदर्शन में शिव अर्थात् ईश्वर को सिद्ध करते हुए अनुमान प्रमाण का भी उपयोग किया गया है। उसकी प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए कहा है कि यदि शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि पदार्थों का कोई भी कर्ता नहीं होता तो अपनी इच्छा से ही सभी की उत्पत्ति माननी पड़ती है। वैसी दशा में जीव को क्या पड़ा था कि दुःख के साधन ग्रहण करता? वह केवल सुख के साधन ही खोजता किन्तु जीव का इसमें वश चले तब तो? अतः सुख-दुःख का कोई दूसरा नियन्ता जरूर होगा। प्राणियों के द्वारा किए गए कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही ईश्वर संसार का कर्ता है।

'जीव अज्ञ है, वह अपने सुख-दुःख को नियंत्रित करने में असमर्थ है, ईश्वर से प्रेरित होकर ही या तो वह स्वर्ग जाता है या नरक।[५] इस न्याय से प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही ईश्वर का कर्ता होना सिद्ध होता है।[६]

शैवदर्शन के मतानुसार शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न माने जाते हैं। ये ही समस्त तत्त्वों के अधिष्ठाता और उपादान कारण रूप से प्रकाशमान् होते हैं। शुद्धतत्त्वमय शुद्ध जगत् के कर्त्ता-शिव एवं करणशक्ति तथा बिन्दु हैं। इस मत के अनुसार ''पति'' से अभिप्राय परमेश्वर-परमशिव से हैं। परमशिव या पति के परमैश्वर्य, स्वातन्त्र्य तथा सर्वज्ञत्व ये असाधारण गुण है। परमशिव नित्य मुक्त हैं अर्थात् स्वभाव-सिद्ध; नित्य, निर्मल, निरतिशय, अर्थज्ञान-क्रिया शक्ति-समन्वित है। शिव पंचमन्त्रतनु है। ईशान मन्त्र उनका मस्तक है, तत्पुरुष उनका मुख है, और

---

४. जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्ताऽस्मि तथा करोमि।। –महाभारत

५. तनुकरणभुवनादीनां भावानां संनिवेश विशिष्टत्वेन कार्यत्वमवगम्यते। तेन च कार्यत्वेनैर्षी बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनुमीयत इत्यनुमानवशात्परमेश्वर प्रसिद्धि रूपपद्यते।
–सर्वदर्शन सं०, पृ० २७७

६. अज्ञो अन्तरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयो।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।। –सर्व द० सं० शैव०, पृ० २७८

उनका हृदय है, वासुदेव उनका गुह्य अंग है, और सद्यजात उनका पाद है। इस प्रकार पशुओं के पाश-क्षेपण के लिए तथा ध्यान योग के लिए शिव शरीर धारण करते हैं। प्रभु के शरीर में मल आदि होना असम्भव है, क्योंकि हम लोगों के शरीर के समान उनका शरीर नहीं है, किन्तु उनका शरीर ईशानादि शक्ति के निर्मित होने के कारण "शाक्त" कहलाता है।[७] अतः शैव मतानुसार "ब्रह्म" के स्थान पर "परमशिव" को प्रतिष्ठित किया गया है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने शैवदर्शन के अनुसार शिव का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि सर्वोपरि यथार्थ सत्ता को शिव कहा गया है, और वह अनादि, अजन्मा, सर्वथा, निर्दोष, सब कार्यों का कर्ता और सर्वज्ञ है, जो जीवात्माओं को उन बन्धनों से मुक्ति दिलाता है। जो उन्हें जकड़े हुए हैं। सच्चिदानन्द के सूत्र की व्याख्या में आठ गुण उपलक्षित है; अर्थात् स्वयं भूत्व, अनिवार्य निर्मलता, अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी ज्ञान, अनन्त बुद्धि, सब बन्धनों से स्वातन्त्र्य, अनन्त दया अथवा प्रेम, सर्वशक्तिमत्ता तथा असीम आनन्द। ईश्वर की सत्ता के कुछ प्रमाण दिए गए हैं। संसार में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इसका उपादान कारण प्रकृति मिट्टी के समान जड़ है और स्वयं जगत् के रूप में परिणत नहीं हो सकती। यह विकास तत्त्वों के कारण से नहीं है, क्योंकि तत्त्व ज्ञान से शून्य हैं। कर्म भी उन्हीं के समान अनुपयोगी है। मेकण्डर के अनुसार काल अपरिवर्तनशील है, यद्यपि देखने वाले को यह परिवर्तित होता प्रतीत होता है।[८] समस्त क्रिया की यह एक उपाधि है किन्तु अपने-आप में सक्रिय कर्त्ता नहीं है। किन्तु यदि ईश्वर प्रत्यक्ष रूप में कारण है तो उसकी स्वतन्त्रता और पूर्णता में सम्भव है बाधा उपस्थित होगी। इसलिए कहा जाता है कि ईश्वर अपनी शक्ति के द्वारा व्यापार करता है और वह शक्ति उसका साधन रूप कारण है। कर्मसिद्धान्त मनुष्य के धार्मिक लक्ष्यों के अनुसार कार्य करता है। यह उद्देश्यों का निर्माण नहीं करता और न ही अच्छाई व बुराई में भेद करता है। इनका निर्णय एक अनन्त आत्मा के द्वारा होता है जो अपनी शक्ति की सहायता से इस विषय का भी ध्यान रखती है कि आत्माओं को अपना उचित फल मिले। जिस प्रकार कुम्हार घड़े का स्रष्टा है, डण्डा व चक्र उसके साधन रूप कारण है, और मिट्टी उसका उपादान कारण है, इसी प्रकार शिव संसार का स्रष्टा है, शक्तिसाधन का रूप कारण है

---

७. मलाद्यसंभवाच्छक्तं वपुर्नैता दृशं प्रभोः। —स०द०सं०, पृ० ३२९
८. शिव ज्ञान बोधम, १:४।

और माया उपादान कारण है। जिस प्रकार शब्द राग के समस्त स्वरों में व्यापक रूप में रहता है, अथवा सुगन्ध फूल में समाई रहती है, इसी प्रकार ईश्वर अपनी शक्ति के द्वारा समस्त संसार में इतनी पूर्णता के साथ व्याप्य रहता है कि यह संसार में पृथक् प्रतीत नहीं होता। ईश्वर आत्मा है और प्राकृतिक विश्व तथा मनुष्य उसके शरीर है। ईश्वर और ये एक समान नहीं है; यद्यपि ईश्वर इनके अन्दर निवास करता तथा ये ईश्वर में निवास करते हैं। अद्वैतवाद से तात्पर्य एकत्व नहीं है, अपितु उसका तात्पर्य यह है कि उन्हें पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता।[९]

शैवदर्शन के अनेक सम्प्रदाय माने जाते हैं, उनमें त्रिकदर्शन का नाम प्रमुख है।

त्रिकदर्शन–

काश्मीरी-शैवदर्शन की अद्वैतपरक शाखा का नाम त्रिकदर्शन है। यद्यपि त्रिक शब्द का तीन संख्या वाचक है, परन्तु इस त्रिकदर्शन में अद्वैत तत्त्व को सिद्ध किया जाता है। इसलिए इस प्रसंग में यह अपेक्षित है कि त्रिक शब्द की व्याख्या विस्तारपूर्वक की जाए।

"त्रिक" शब्द तीन संख्या के बोधक "त्रि" शब्द में पाणिनीय अष्टाध्यायी के "संख्यायाः संज्ञा संघ सूत्राध्ययनेषु" (५/१/५८१)[१०] इस सूत्र से संघ अर्थ में कन् प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है तीन तत्त्वों का संघट्ट।

प्रथम हेतु–

'त्रिक' शब्द की उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर त्रिक-दर्शन अभिधान अन्वर्थता की धारणा कर रहा है। काश्मीर शैव-दर्शन में चक्र पूजा के सन्दर्भ में द्वादश चक्रों की गणना की जाती है। इन द्वादश चकों में त्रिविध शक्ति की पूजा शैवों के द्वारा की जाती है।[११] ये तीन शक्तियाँ हैं–परा, परापरा, और अपरा।[१२] ये

---

९. भारतीय दर्शन, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्

१०. पाणिनीय अष्टाध्यायी सू० ५/१/५८१

११. अतएव द्वादशात्मके चक्रे ये उपासका ते तत्र परमशिवे ख परिनिष्ठिताः।
–तन्त्र लोक विवेक १/१०८

१२. तस्य शक्तयः एवैतास्तिसौ भ्रान्ति परादिकाः।
सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तैनैता द्वादशोदिताः॥

सृष्टि स्थिति संहार और अनाख्य रूप तुर्य इन चारों अवस्थाओं में स्फुरित होती हैं। अतः एक-एक शक्ति के चार-चार भेद हो जाने से कुल बारह भेद हो जाते हैं। इन द्वादश शक्तियों की पूजा ही द्वादश चक्रों में की जाती है। चक्र रहस्यपूर्ण रेखाचित्र को कहते हैं। जिन्हें मन्त्र भी कहा जाता है।

उपर्युक्त परा, परापरा और अपरा शक्तियाँ ही क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी कहलाती है।[१३] इन्हीं को इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति भी कहा गया है।[१४] शुद्धात्मक और अशुद्धात्मक समस्त व्यवहार इन तीनों शक्तियों के द्वारा ही विस्तारित किया गया है। यद्यपि भैरवादि पदवाच्य परमशिव की एक ही शक्ति है-स्वातन्त्र्यशक्ति। किन्तु कार्य-भेद और स्थिति भेद से उसी के कहीं पांच भेद, कहीं चार, कहीं तीन और कहीं छः, सात, दस और बारह भेद हो गए हैं। इसी बात को आचार्य अभिनवगुप्त ने निम्न कारिकाओं में स्पष्ट रूप से अंगीकार किया है–

तासामपि च भेदांश न्यूनाधिक्यादियोजनम्।
तत्स्वातन्त्र्यबलादेव शास्त्रेषु परिभाषितम्॥
नवात्मा दशदिक्छक्तिरेका दशकलात्मकः।
द्वादशारमहाचक्रनायको भैरवस्त्विति॥ –तन्त्रलोक १/१०९-११

उक्त परादि शक्तियाँ शैवदर्शन में अ, इ और उ इन तीन मात्राओं से प्रकाशित की जाती हैं। अ से अनुत्तर, इ से इच्छा और उ से उन्मेष का बोध होता है। पराशक्ति अनुत्तर है, परापरा इच्छा है और अपरा शक्ति उन्मेष कहलाती है। अनुत्तर चित् शक्ति है-इच्छा इच्छाशक्ति है और उन्मेष ज्ञान-शक्ति है। पराशक्ति के अनेक भेद हो जाते हैं, जैसे पराप्रतिभा कौलिकी शक्ति कुण्डलिनी शक्ति विमर्शशक्ति आदि। यह अनुत्तर इच्छा और उन्मेष का त्रिक ही वास्तविक तत्त्व है। जिससे अहमर्थ का पूर्ण परामर्श होता है।[१५]

इस प्रकार परा-परापरा-अपरात्मक, पश्यन्ती-मध्यमा-वैश्वर्यात्मक, अनुत्तरे-

---

१३. प्राक् पश्यन्त्यथ मध्यान्या बैखरी चेति सा इमाः।
परा परापरा देवी चरमात्वपरात्मिका॥ –तदेव १/२७२

१४. इच्छादि शक्ति त्रितयमिदमेव निगद्यते।
एतत्प्राणित एवायं व्यवहारः प्रतायते॥ –तदेव १/२७२

१५. तथान्तः स्थ परामर्श भेदेन वस्तुतस्त्रिकम्।
अनुत्तरेच्छोन्मेषाख्यं यतो विश्वं विमर्शनम्॥ –तन्त्र० ३३/२२

च्छोन्मेषात्मक तथा चिदिच्छज्ञानात्मक त्रिकों को स्वीकार करने के कारण यह अद्वैतवादी काश्मीर-शैवदर्शन त्रिक नाम से अभिहित होता है।[१६]

द्वितीय हेतु–

मूल स्रोत की दृष्टि से त्रिकदर्शन ने तीन आगमों से अपने सिद्धान्तों का सार संगृहीत किया है। ये तीनों आगम हैं–सिद्धातन्त्र नामक तन्त्र और मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र।[१७] सिद्धातन्त्र क्रिया प्रधान है अर्थात् त्रिकदर्शन की आचार पद्धतियाँ उसमें निर्दिष्ट हैं। नामकतन्त्र ज्ञान प्रधान है। इसमें परम महेश्वर भगवान् शिव के स्वरूप का युक्ति-युक्त विवेचन किया गया है। मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र उभय-प्रधान है।[१८]

उक्त तीनों आगमों में मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र ही मुख्य माना जाता है।[१९]

सिद्धा और नामक इन दो तन्त्रों का सम्प्रति नाम ही अवशिष्ट है। पता नहीं किस कारण से ये काल के किस अज्ञात गह्वर में समा गये हैं। केवल मालिनी-विजयोत्तर ही इस समय उपलब्ध है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस पर मालिनी विजय-वार्तिक नाम की व्याख्या लिखी है।

मालिनी-विजयोत्तर की मुख्यता का और सिद्धा तथा नामक की विलुप्तता का कारण सम्भवतया यह है कि सिद्धा और नामक में वर्णित विषय वस्तु का संग्रह अकेले मालिनी-विजयोत्तर में विद्यमान है। मालिनीविजयोत्तर की प्रशंसा स्वयम् अभिनव गुप्त ने की है। वे कहते हैं–

न तदस्तीहयन्त श्री मालिनी विजयोत्तरे।
देव देवेन निर्दिष्ट स्व शब्देनाथ लिंगतः।।

त्रिक शास्त्र का सार मालिनी-विजयोत्तर में विद्यमान है। अभिनव ने स्वयं स्वीकार किया है–"**तत्सारं त्रिक शास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्**"।

इस प्रकार त्रिक शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय सिद्धा नामक और मालिनी-

---

१६. तदेव त्रियतं प्राहु भैरवस्य परं महः। इत्याद्युक्तनयेन अनुत्तरेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकमेव वस्ततोस्तियत इदं सर्व सहमिति पूर्ण विमर्श स्यात्। –तन्त्रालोक विवेक ३३/२२

१७. त्रिकं परादिशक्ति त्रयाभिधायकं शास्त्रम्। –तन्त्रालोक १/१०६

१८. तच्च सिद्धा नामक मालिन्याख्यं खण्ड त्रयात्मकत्वात् त्रिविधम्। –तन्त्रालोक विवेक १/१८

१९. तदेव मुख्यम्। –तदेव

विजयोत्तर इन तीन आगमों पर आश्रित है। अत: यह त्रिकदर्शन नाम अन्वर्थता को प्राप्त करता है। कहीं-कहीं नामक के स्थान पर वामक शब्द भी मिलता है।

तृतीय हेतु–

'त्रिक' भगवान् शिव का नाम है। यह तीन अंशों से मिलकर बना है। तीन अंश है-अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष। अनुत्तर चिदंग है जो शिव का निज स्वरूप है। इच्छा और उन्मेष उनकी शक्ति है। इच्छा और उन्मेष से ही शिव का प्रकाश होता है। परात्रींशिका में कहा गया है–

यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा।
ज्ञायते दिग्विभागा दितद्वच्छक्त्याशिव: प्रिये।।

अर्थात्–जिस प्रकार आलोक से दीपक के दिशा आदि का ज्ञान होता है और किरणों से सूर्य का ज्ञान होता है, वैसे ही-इच्छा और उन्मेष रूप शक्ति से अनुत्तर शिव का ज्ञान होता है। इस प्रकार त्रिक तत्त्व तीन अंशों को धारण करता है। इसलिए भी इस तत्त्व का प्रतिपादक शास्त्र त्रिकदर्शन कहलाता है।

चतुर्थ हेतु–

ये त्रिक तीन है-पर, अपर और परापर। शिव शक्ति और संघट्ट यह पर त्रिक है। शिव, शक्ति और नर यह अपर त्रिक है। परा, परापर और अपरा इन तीनों देवियों का समूह परापर त्रिक कहलाता है। कामज, योगज, चिन्त्य मौकुट, अंशुमत् दीप्त सूक्ष्म सहस्रार्क सुप्रभ और करण ये शिवागम के भेद हैं।

शिव, शक्ति और संघट्ट से युक्त जो यह पर-त्रिक है, वैसे ही शिव और शक्ति के संघट्ट से विचित्र जगत् का निर्माण हुआ है। इन त्रिक को अनाख्य कहा है।[२०]

पंचम हेतु–

शैवागमों में त्रिक शब्द केवल तीन तत्त्वों के समूह का ही वाचक नहीं है, अपितु यह परमतत्त्व के रूप में भी अंगीकृत किया गया है, जिसे कुल भी कहा जाता है।[२१] यह 'कुल' शिव और शक्ति से भी ऊपर स्थित है। यह समग्र

---

२०. तदेवं-जगद् वैचित्र्य बीज भूतं शिव शक्ति संघटात्मक पर त्रिक शब्द वाच्यम् अनाख्यम्। –तन्त्रालोक-विवेक १/१

२१. (१) तस्य यतत् परं प्राप्यं धाम तत् त्रिक शब्दितम्।
सर्वा विभेदानुच्छेदात् तदेव कुलमुच्यते।। –तंत्र० ३५/३१

विश्व कुल से और कुल में ही उदित होता है तथा कुल में ही लय को प्राप्त करता है। इसलिए यह सर्वविश्रान्ति-धाम कहलाता है।[22]

चूँकि त्रिकदर्शन पूर्णरूप से अद्वयवादी दर्शन है, इसलिए भेदवाचक त्रिक शब्द भी परमार्थ में परतत्त्वरूप परमशिव में ही पर्यवसित होकर अभेदार्थ का वाचन करता है। त्रिक और कुल दोनों पर्याय है और पर तत्त्व के बोधक है। इस दर्शन के त्रिक नाम का यह भी एक रहस्य है।

षष्ठ हेतु-

आचार्य अभिनव गुप्त ने त्रिक शब्द को एक अन्य गहन अर्थ में भी पारिभाषिक किया है। 'त्रिक' का अर्थ है-सौ:[23] जो तीन वर्षों से बना हुआ एक दिव्यमन्त्र है। स, औ और विसर्ग इन वर्णों से निर्मित होने के कारण 'सौ:' यह मन्त्र त्रिक कहलाता है। यह मन्त्र अन्य मन्त्र मन्त्रेशां और मन्त्र महेश से भी ऊँची है।

इस मन्त्र के रहस्य को योगी भी नहीं जानते। शिव ही इसके रहस्य को जानते हैं या फिर वे जानते हैं, उन्हें परमगुरु के शक्तिपात से बोध हो चुका है। जो इस मन्त्र के अर्थ का साक्षात्कार कर लेता है, वह योगाभ्यास के बिना पर तत्त्व के साथ एकता को प्राप्त कर लेता है।

त्रिकदर्शन के दार्शनिक सिद्धान्त-

किसी भी 'दर्शन' के तीन आधार स्तम्भ होते हैं—तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचार मीमांसा। तत्त्वमीमांसा (Conception of Metaphysics) से अभिप्राय उस चिन्तन से हैं जिसमें पदार्थों की संख्या, उनकी सत्यता और असत्यता पर विचार किया जाता है। ज्ञान मीमांसा, (Epistemology) का अर्थ है—उन प्रमाणों का विवेचन जिनके द्वारा उन तत्त्वों का ज्ञान किया जाता है। आचार मीमांसा में मोक्ष के उपायों (Path of Salvation) पर विचार किया जाता है। इन तीनों ही विषयों के सन्दर्भ में त्रिकदर्शन की मान्यताएं और सिद्धान्त अन्य दर्शनों से सर्वथा विलक्षण है। उसके कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय देना प्रासङ्गिक होगा।

---

(२) यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च।
तत् कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिव-शक्ति-विवर्जितम्।। —तन्त्रलोक ३५/३१

२२. कुलस्यैव विश्रान्तिधामत्वमुक्तम्। —तं०आ०, पृ० ३७३

२३. परात्रींशिका १८ कारिका।

यथार्थवादी आभासवाद–

जगत् की स्थिति को लेकर त्रिकदर्शन की दार्शनिक दृष्टि आभासवाद के नाम से जानी जाती है। जगत् की सत्यता और असत्यता के विषय में विभिन्न दर्शन सम्प्रदायों की दृष्टि पृथक्-पृथक् है। अन्य दर्शनों में आभास का अर्थ ''अवास्तविक'' लिया जाता है। ''जगत् आभास मात्र है।'' इसका अर्थ है संसार अवास्ताविक (Unreal) है, असत्य है, मिथ्या है। इसकी केवल प्रतीति होती है। वस्तुतः यह है नहीं।

बौद्धदर्शन की दृष्टि में कार्य रूप जगत् असत्य है। अनादि अज्ञान वासनाओं के कारण जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय का केवल आभास होता है। वस्तुतः जगत् की सत्ता कहीं नहीं है। बौद्धों की यह दृष्टि विज्ञानवाद या आभासवाद (Idealism) कहलाती है।

अद्वैतवेदान्त में आभास का अर्थ है मिथ्या प्रतीति। अद्वैतवादियों का मत भी बौद्धों से मिलता-जुलता है। इनके अनुसार भी जगत् की प्रतीति मिथ्या है। अवास्तविक है। बौद्धों से इसमें इतना अन्तर है कि बौद्ध तो जगत् को स्वप्नवत् नितान्त असत् कहते हैं किन्तु शंकर वेदान्ती जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं। पारमार्थिक दशा में ही वह असत् है।

न्यायमत में जगत् की सत्ता यथार्थ है। जगत् रूप कार्य का कर्ता परमेश्वर है, किन्तु वहाँ अवांछनीय तत्त्व यह है कि ईश्वर और जगत् के गुणों में कोई समानता नहीं मानी गयी है। अपितु दोनों में महान् वैषम्य है। ईश्वर चेतन, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है किन्तु जगत् जड़, ज्ञानहीन और शक्ति रहित है। केवल तर्क के बल पर ही न्याय दर्शन में ईश्वरीकृत जगत् की यर्थाथता सिद्ध की गयी है। इसे तार्किक यथार्थवाद कहा जाता है।

वैशेषिकों ने जगत् का उपादान कारण परमाणुओं को और परमाणुओं में रहने वाले विशेषों को माना है। इस मत के अनुसार भी जगत् की सत्ता यथार्थ है। इस मत को परमाणु बहुत्ववाद कहा जा सकता है। सांख्यों के यथार्थवादी द्वैतमत में भी जगत् की सत्ता वास्तविक है।

त्रिकदर्शन का आभासवाद पूर्वोक्त आभासवाद और यथार्थवाद से सर्वथा भिन्न है। त्रिकदर्शन की दृष्टि में जगत् मिथ्या नहीं है, अपितु पूर्णरूप से यथार्थ है। अन्य दर्शनों के आभासवाद में बहुत बड़ा दोष यह है कि वहाँ कर्ता और कार्य

की खाई इतनी चौड़ी है कि दोनों का सम्बन्ध कथमपि नहीं बनता। तमः प्रकाश[२४] के समान दोनों विरुद्ध-स्वभाव हैं। फिर दोनों में सम्बन्ध कैसे? यह सम्बन्ध कार्य-कारण में होना अत्यन्त अनिवार्य है। त्रिकदर्शन के आभासवाद में यह दोष नहीं है। इस मत के अनुसार परमशिव दर्पण के समान अपने में समस्त जगत् को अवभासित करता है। यह विचित्र विश्व परमशिव के अन्दर अभिन्न भाव से स्थित है। किन्तु वह अपने स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से उसे भिन्नवत् अवभासित करता है।

परमशिव और जगत् का परस्पर सम्बन्ध दर्पणबिम्ब के समान है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित वृक्षादि बिम्ब से अभिन्न होते हुए भी भिन्न से अवभासित होते हैं, वैसे ही शुद्ध संवित् स्वरूप परमशिव में प्रतिबिम्बित यह निखिल जगत् परमशिव से अभिन्न होते हुए भी घट-पटादि रूप से भिन्नवत् प्रतीत होता है।[२५]

त्रिकदर्शन का यह बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव लोक में प्रचलित बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विलक्षण है। लोक में प्रतिबिम्बित पदार्थ बिम्ब से पृथक् हुआ करता है। प्रतिबिम्बित पदार्थ आधेय होता है, बिम्ब उसका आधार हुआ करता है। किन्तु त्रिकदर्शन में बिम्ब भी शिव है और प्रतिबिम्ब भी शिव है। विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण दोनों रूपों में शिव ही एक तत्त्व है। यहाँ बिम्ब के बिना ही प्रतिबिम्ब होता है। जगत् भी वस्तुतः शिव ही है। अतः जगत् यथार्थ है। स्वातन्त्र्य शक्ति के माहात्म्य से जगत् रूप प्रतिबिम्ब स्वतः प्रादुर्भूत होता है। संसार भी पारमार्थिक सत् है। संसार की यह सत्ता संसार रूपता में नहीं है, अपितु शुद्धसंवित् रूप में है। शुद्ध-संवित्-रूप परमशिव परमार्थतया सत्य है। यह संसार परमशिव के अन्दर संवित् की अवस्था में ही रहता है। अतः संसार भी सत्य ही है। शिव का स्वातंत्र्य भी सत्य है। उसकी लीला भी सत्य है। यह अविद्या के समान मिथ्या नहीं है। न हीं संसार कोई बन्ध्या पुत्र है।

इस प्रकार त्रिकदर्शन का जगत् विषयक यह सिद्धान्त यथार्थवादी आभास-वाद कहलाता है। यथार्थवादी इसलिए कहलाता है। क्योंकि जगत् शिवरूप होने के कारण वास्तविक है और आभास इसलिए है, क्योंकि भिन्न-सा अवभासित होता है।

---

२४. तमः प्रकाशषद विरुद्ध स्वभावयो। —ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य की भूमिका

२५. निर्मल मुकुरे यदवत् भान्ति भूमि जलादयः।
अभिनास्तद् वदेकस्मिन् चिन्नार्थ विश्व विवृत्ता।। —तंत्रालोक ३/४

यह भिन्नवत् अवभासन परमशिव की इच्छा से ही होता है इसमें कोई स्वार्थ या परार्थ नहीं है। यह तो उसका स्वभाव है। केवल उसकी लीला है। अग्नि के जलने में क्या कारण है? कुछ भी कारण नहीं। जलाना अग्नि का स्वभाव है। जगत् का अवभासन भी शिव का स्वभाव है, और जगत् का संकोचन भी उसका स्वभाव है। स्वातन्त्र्य रूप इच्छा सदा उसका अनुवर्तन करती है। जैसे-सार्वभौम राजा स्वेच्छा से कभी पैदल चलता है और कभी रथ, गजादि पर सवारी करता है।[२६] वैसे ही परमशिव अपनी इच्छा से कभी जगत् का अवभासन करता है और कभी उसका तिरोधान करता है। ये अवभासन और तिरोधान शिव के प्रकाश विमर्शात्मक होने के कारण स्वतः सिद्ध है।

सामरस्य सिद्धान्त–

त्रिकदर्शन की मान्यता के अनुसार परतत्त्व प्रकाश विमर्श का सामरस्य रूप है। चेतना के अवभासात्मक रूप का नाम प्रकाश है, और विमर्श उसका स्वभाव है। प्रकाश ज्ञान है और विमर्श ज्ञान की क्रिया है। प्रकाश आभास है और विमर्श प्रतीति है।

परमशिव शुद्ध प्रकाश-स्वरूप है और वह सदा सर्वत्र सब स्थितियों में स्वयं प्रकाशित होता रहता है। चेतना का स्वभाव ही स्वयं प्रकाशित होना है। सूर्य, अग्नि आदि के प्रकाश को प्रकाशित होने के लिए चेतना के प्रकाश की अपेक्षा है। वे स्वयं प्रकाशित नहीं हैं। जीवों का अनुभव ही उनकी सत्ता को सिद्ध करता है, किन्तु जीवों की चेतना स्वयं प्रकाश है। जीवों का यह प्रकाश ''अहम्'' के रूप में सदेव होता रहता है। जाग्रत काल में भी स्वप्नावस्था में भी और सुषुप्ति में भी। शरीर, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियाँ भी चेतना के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं। जड़ पदार्थों का जो आभास होता है वह भी चेतना के प्रकाश से ही होता है। जीव और जगत् के रूप में स्वयं-प्रकाश परम-शिव ही प्रकाशित हो रहा है।

जहाँ प्रकाश है वहीं विमर्श भी है। जिसे अपना आभास या प्रकाश होता है, उसे साथ में अपने अस्तित्त्व की भी प्रतीति होती है। जीव को 'मैं' के प्रकाश के साथ ''मैं'' की प्रतीति भी सदा होती रहती है। आभास और प्रतीति में थोड़ा अन्तर है। दर्पण में प्रतिबिम्ब का आभास होता है किन्तु उसकी प्रतीति उसे नहीं होती। उसकी प्रतीति चेतन जीव को ही होती है। इस प्रकार प्रकाश एकज्ञान है

---

२६. यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोद भावितः। क्रीड् न करोति पादादि धर्मान् तदधर्मधर्मत।
तथा प्रभुः प्रमादोत्मा क्रीडत्येवं तथा-तथा।। –शिवदृष्टि १/३७/३८

और विमर्श जानने की क्रिया है। प्रत्येक प्राणी को अहं का प्रकाश और अहं का विमर्श साथ-साथ होता है। इसी प्रकाश और विमर्श के बल से उसे विषय का भी प्रकाश और विमर्श होता है।

परमेश्वर भी प्रकाश विमर्शात्मक है। विमर्श कोई प्रकाश से भिन्न वस्तु नहीं है। ये दोनों ओत-प्रोत होकर सदा साथ रहते हैं। प्रकाश इसलिए प्रकाश है, क्योंकि उसका स्वभाव विमर्श है।[२७] विमर्श की विमर्शता भी प्रकाश के ही कारण है। ये दोनों अभिन्न हैं। परम तत्त्व के स्वरूप को समझाने के लिए इन दो शब्दों की केवल कल्पना की गयी है। परमतत्त्व उन्हीं प्रकाश और विमर्श का सामरस्य रूप है। उसी शुद्ध असीम एवं परिपूर्ण परमतत्त्व को परमशिव, शुद्ध संवित् पर ब्रह्म परमेश्वर, अनुत्तर तत्त्व आदि नामों से त्रिकदर्शन में कहा जाता है। सब कुछ यही तत्त्व है। इससे भिन्न कोई तत्त्व नहीं। सब रूपों में यही आभासित होता है, और सब आभासों में इसी का विमर्श होता है।

परिपूर्णता का सिद्धान्त–

शुद्ध संविद्रूप परमशिव सदा सर्वत्र समस्त अवस्थाओं में परिपूर्ण ही रहता है। वह कभी घटता बढ़ता नहीं है, न कभी अशुद्ध होता है। देशकृत, कलाकृत और आकारकृत कोई संकोच भी वहाँ सम्भव नहीं है। जड़ जगत् और चेतन जीवों के रूप में वह संविद्रूप परमशिव ही परिवर्तित होकर फैल गया है। परमार्थ अवस्था में तो वह विश्वोत्तीर्ण है किन्तु व्यवहार दशा में वही विश्वमय हो गया है। लेकिन विश्वोत्तीर्ण और विश्यमय इन दोनों अवस्थाओं में उसकी परिपूर्णता में कोई अन्तर नहीं आता। वह परिपूर्ण ही रहता है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

इस श्रुति का यही अभिप्राय है। परमतत्त्व एक असीम और अखण्डतत्त्व है। प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण के रूप में वही विद्यमान है। यह सब प्रपञ्च उसी में रहता है उसी में क्रिया करता है और उसी में लय को प्राप्त करता है। रहना, करना और लय भी वस्तुतः वही है। यह संसार भी संविद् रूप है; और संविद्रूप शिव में ही रहता है, क्योंकि अवभासन चेतना का स्वभाव है, अचेतन का नहीं। अतः जड़ जगत् भी संविद् रूप ही हुआ। यद्यपि हम अज्ञानमलावृत्त प्राणियों को

---

२७. स्वभावमवभासस्य विमर्श बिदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोपिस्फटिकादिजडोपमः।। –ईश्वर प्रत्यभिज्ञा १/५/११

इसका भाव नहीं होता। प्रभु ही अपनी इच्छा से निजरूप को जगद्रूप में अवभासित करता है। यही बात उत्पलाचार्य ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कही है–

तदेवं व्यवहारे विप्रभुर्भेदहादिमा विशन्।
भान्तमेवान्तरर्थोधामिच्छया भासयेद् बहिः।।

इस बात को महामनीषी शैव दार्शनिक बी० एन० पंडित ने दूध के दृष्टान्त से बड़ी सुन्दर रीति से स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार दूध में मक्खन, मलाई, पनीर, घी आदि रहते हैं। वैसे ही यह संसार भी परमशिव में रहता है। ये वस्तुएं दूध में अपने-अपने व्यक्तिगत रूप में अलग-अलग नहीं रहती है, अपितु दूध की बनी हुई एकमात्र दूध की ही दशा में वहाँ रहती हैं। उसी तरह से सारे का सारा संसार उस शुद्ध संविद् में संवित् बना हुआ ही संवित् ही के रूप में सदेव रहता है। इस तरह से वह परा अनुत्तर संवित् परिपूर्ण हैं।[२८]

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ है कि परमतत्त्व एक परिपूर्ण शुद्ध और असीम तत्त्व है। वह सदा परिपूर्ण ही रहता है, सृष्टिकाल में भी और संहार काल में भी। यद्यपि शंकर वेदान्ती भी परब्रह्म को परिपूर्ण विभु असीम और अखण्ड तत्त्व के रूप में स्वीकारा करते हैं किन्तु उनके मत में जगत् को सत्य नहीं माना गया है। वहाँ जगत् परब्रह्मस्वरूप न होकर अविद्या कल्पित मिथ्यातत्त्व स्वीकृत किया गया है, किन्तु त्रिकदर्शन के अनुसार व्यावहारिक सत्ता के रूप में जगत् भी साक्षात् परमशिव ही है। वह तो जगत् को स्वेच्छा से भिन्न रूप में प्रकट करता है।[२९] जगत् भी परमशिव के समान सत् और संविद् रूप और परिपूर्ण है। इस प्रकार परमशिव परिपूर्ण माना जाता है।

सत्कार्यवाद–

जगत् की सत्ता के सन्दर्भ में त्रिकदर्शन सत्कार्यवादी है। सत्कार्यवाद का अर्थ है कि यह समस्त संसार अभिव्यक्ति से पूर्ण भी सत् था और तिरोभाव के अनन्तर भी सत् ही रहेगा। इसकी अपूर्ण उत्पत्ति नहीं होती और न ही इसका अत्यन्त विनाश होता है। बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्तियों के समान वह पुष्प के समान नितान्त असत्य या वन्ध्यापुत्र नहीं है। जैसाकि पीछे कहा गया–वह जगत् परमशिव में उसी प्रकार रहता है, जैसे घृत आदि दूध में रहते हैं। जगत् को व्यवहार में इसीलिए लाया जाता है, क्योंकि वह सत् है। यह पहले भी सत् था

---

२८. काश्मीर शैवदर्शन, बी०एन० पण्डित, पृ० ५८।
२९. स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति। –प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सू० २

तभी तो प्रकाश में आ सका। प्रलयकाल में भी यह परमशिव के भीतर संविद् रूप में रहेगा। इसका अभाव कभी नहीं होता। यही त्रिकदर्शन का सत्कार्यवाद है। इसी को आचार्य अभिनव गुप्त ने इन पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है–

एवं च संवृत्तिर्विकल बुद्धिस्तद्वशदुच्यतां संवृत्तिसत्यवत्।
सत्यं त्वस्यैव प्रकारस्तद् इति द्विचन्द्रवन्नासत्यता।।

–ईश्वर प्र०वि० २/२/४

स्वातन्त्र्यसिद्धान्त–

स्वातन्त्र्यसिद्धान्त त्रिकदर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। परमशिव की इच्छाशक्ति ही स्वातन्त्र्य कहलाती है। स्थूलजगत् की सृष्टि स्थिति और संहार का मूल कारण परमशिव का यह स्वातन्त्र्य ही है। जगत् परमेश्वर का न तो परिणाम है और न विवर्त, अपितु यह उसका स्वातन्त्र्यरूप है। प्रकाश विमर्शात्मक परमशिव अपने इसी स्वातन्त्र्य के प्रभाव से सदेव सृष्टिसंहार आदि के प्रति उन्मुख बना रहता है। परमेश्वर की परमेश्वरता इसी पर अवलम्बित है।

स्वातन्त्र्यसिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि परमशिव स्वयम् ही अपने से ही, अपने ही अन्दर, स्वयम् अपने को ही अपनी ही शक्ति से इस विचित्र जड़ चेतन संसार के रूप में अभिव्यक्त करता है। इस कार्य के लिए उसे अपने से भिन्न किसी उपादान या उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। न तो किसी माया की, न मिथ्यात्व की, न अविवेक की न जीवों के कर्माशयों की और न किसी प्रकृति की ही अपेक्षा होती हैं क्योंकि परमशिव से भिन्न तो कुछ होता ही नहीं। इसलिए सृष्टिसंहार आदि में किसी अन्य साधन की अपेक्षा का प्रश्न ही कहाँ उपस्थित होता है? इसके लिए केवल उसका स्वभावभूत स्वातन्त्र्य ही कारण है। परमेश्वर की अपनी शक्तियाँ ही उससे अपृथक् रहती हुई, प्रकृति बुद्धि अहंकार आदि विभिन्न तत्त्वों के रूप में प्रकट हो जाती है। सृष्टि संहार आदि कर्मों के लिए यदि परमशिव को किसी अन्य उपादान की अपेक्षा होती तो उसका स्वातन्त्र्य व्याहत हो सकता था, किन्तु ऐसा है नहीं। दृश्यमान् सकल अर्थसमूह शिवात्मक होने के कारण निरूपादान ही है।[३०]

---

३०. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् वहिः।
योगीव निरूपादानमर्थ जातं प्रकाशयेत्।। –ईश्वर प्रत्यभिज्ञा का० १/५/७

सृष्टि और संहार के प्रति परमेश्वर का यह औन्मुख्य औपाधिक नहीं है अपितु स्वाभाविक है यह परमेश्वर की परमेश्वरता है। यही उसका स्वातन्त्र्य है। जब वह अपने शिवत्व को विस्मृत कर जगद्रूप हो जाता है, तो वह विश्वमय कहलाता है और जब पुनः अपने स्वरूप को पहचान कर शिव-रूप हो जाता है तो विश्वोत्तीर्ण कहलाता है। विश्वमयता और विश्वोत्तीर्णता दोनों ही उसके आत्मभूत स्वभाव है।[३१] यदि वह सर्वदा एकरूप से ही स्थित रहे तो निश्चित ही उसकी परमेश्वरता की और उसकी संविद्रूपता को हानि होगी। वह घट-तुल्य जड़ और अनीश्वर कहलाने लगेगा।[३२]

स्पन्दसिद्धान्त–

परमशिव के चलनात्मक स्वभाव को त्रिकदर्शन में स्पन्द कहा जाता है। ''स्पन्द'' शब्द का साधारण अर्थ है गति, हलचल या धड़कन। यह बात अनेक स्थानों पर कही जा चुकी है कि परमेश्वर प्रकाश विमर्शात्मक है। प्रकाश और विमर्श दोनों उसके स्वभाव है। वास्तव में तो परमेश्वर का एक ही स्वभाव है–परमेश्वरता। प्रकाश और विमर्श उसके दो पहलू हैं। प्रकाश उसका अविचल पहलू है, जिसके कारण उसे शिव कहा जाता है। विमर्श उसका चलनात्मक पहलू है, जिसके द्वारा वह सृष्टिक्रिया में प्रवृत्त होता है। इस स्वभाव के कारण वह शक्ति कहलाता है। परमशिव एक ही साथ स्थिर भी है और क्रियात्मक भी। प्रशान्त भी है और चंचल भी। प्रकाश उसका चैतन्य है और विमर्श उस चैतन्य की हलचल है। दूसरे शब्दों में प्रकाश और विमर्श को चित् और आनन्द भी कहा जाता है।

चित् ज्ञानात्मक है और आनन्द क्रियात्मक होता है। चेतना में ज्ञान क्रियात्मक हलचल सदा होती रहती है। आनन्द कभी शान्त नहीं रहा करता। लौकिक आनन्दों में भी ऐसा ही हुआ करता है। योगी के प्रशान्त हृदय में भी आनन्द की तरंगे उठा करती हैं। इसी आनन्द के कारण परमेश्वर सदेव गतिशील रहता है। यदि आनन्द गतिशील न हो तो परमशिव पाषाणतुल्य और गगनतुल्य जड़ हो जाए। शांकरवेदान्त में परब्रह्म को नितान्त प्रशान्त और गतिशून्य माना गया है,

---

३१. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् वहिः।
योगीव निरूपादानमर्थ जातं प्रकाशयेत्।। –ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका १/५/७

३२. विश्वोत्तीर्ण विश्वमयं चेति त्रिकादि दर्शन विदः।। –प्रत्यभिज्ञा हृदयम् ८

किन्तु त्रिकदर्शन में परमशिव को प्रशान्त भी माना गया है और क्रियाशील भी। यह क्रियाशीलता ही तो उसे स्वरूप की अभिव्यक्ति में प्रवृत्त करती है। चेतना की यह हलचल या क्रियाशीलता त्रिकदर्शन में 'स्पन्द' नाम से कही गयी है। परमेश्वर के स्वातन्त्र्यमय विलास का बीज यह स्पन्द ही है।

शिवाद्वयवाद–

त्रिकदर्शन की आध्यात्मिक दृष्टि पूर्ण अद्वैतवाद की है। अद्वैतवाद के आलोक में अपने निःश्रेयस् के मार्ग पर अग्रसर होने वाले जिज्ञासु साधकों को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि त्रिकदर्शन का यह अद्वैतवाद अन्य विभिन्न दर्शन धाराओं से सर्वथा विशिष्ट प्रकार का है। त्रिक दृष्टि में परमशिव ही एक तत्त्व है। यहाँ शिव निर्विशेष नहीं अपितु दिव्य शक्तियों से विशिष्ट है। संसार असत्य या मिथ्या नहीं, पूर्ण यथार्थ है। बन्धन और मोक्ष भी शिव है। संकोच और विकास भी शिव है। विद्या और अविद्या भी शिव हैं। एक तुच्छ से तुच्छ जड़ पदार्थ भी उतनी ही मात्रा में शिव है, जितनी मात्रा में परमशिव। यहाँ कुछ भी अशिव नहीं।[३३]

शैवीसाधना के निरन्तर अभ्यास से सिद्ध योगियों को एक ऐसी उन्नत चमत्कारपूर्ण दृष्टि प्राप्त होती है, जिससे प्रत्येक वस्तु में शिव के ही दर्शन करते हैं। तब न कहीं भेद दिखाई देता है, और न भेद का त्याग। तब घर भी शिव हो जाता है, जीव भी परमशिव के ही रूप में देखा जाता है।[३४] आचार्य अभिनव गुप्त ने इसे पराद्वैत की संज्ञा दी है।[३५]

शिव के विभिन्न नाम–

विश्व में जितने भी नाम हैं चाहे वे जड़ पदार्थों के हैं या चेतन प्राणियों के वे सभी नाम उसी शिव के है क्योंकि विश्वरूप में शिव ही तो प्रसूत है।

---

३३. एतौ बन्ध विमोक्षौ च परमेश स्वरूपतः।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे।। –बोध पंच० ४
अस्यां भूमौ सुखं-दुःख बन्धो............मेव च।। –तंत्रालोक २/९

३४. सर्वे भावा स्वमात्मानं जानन्तः सर्वतः स्थिताः।
महात्मना धटो वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना।।
नाना भावै स्वमात्मनां जानन्नास्ते स्वयं शिवः.....मनन्तकम्।।–शिवदृष्टि ५/१०५/१०९

३५. इदं हितत् पराद्वैतं भेद त्याग ग्रहो न यत्। –मालिनी विजयवार्तिक १/१२३

इस प्रकार शिव अनाम भी है और वही सर्वनाममय भी है। वह अरूप भी है और सर्वरूप भी, अकाम भी है और सर्वकाम भी, जड़ भी है और चेतन भी, उपासक भी है, उपास्य भी, भेद भी वही है, अभेद भी वही है और भेदाभेद भी वही है। वही शक्ति भी है और शक्तिमान् भी। अधिक क्या कहा जाए, द्रष्टा और दृश्य, वक्ता और वाच्य, स्तोता और स्तुति, नाम और नामी, पद और पदार्थ सब कुछ वही है।

कहने का अभिप्राय यह है कि परमार्थ रूप में तो शिव समस्त संज्ञाओं और अभिधानों से रहित है, किन्तु भेदप्रिय पशु प्रमाता विभिन्न नामों से उसकी स्तुति करते हैं। उपासना के लिए उपास्यदेव का कोई रूप तो कल्पित करना ही पड़ेगा और उसका कोई नाम भी रखना ही पड़ेगा। शिव की उपासना के लिए भी साधकों ने उसके विभिन्न नाम रख लिए हैं। उनमें तीन नाम साधकों को सर्वाधिक प्रिय हैं-भैरव, देव और पति। ये नाम यदृच्छाशब्द नहीं है अपितु ये अन्वर्थ संज्ञा है, जिनका निरन्तर जप करने से साधक अभेद-रूप भैरवपद को प्राप्त कर लेता है।[३६] जप से अभिप्राय यहाँ शिव का बार-बार परामृश्यमान परावाक् रूप स्वरूप समझना चाहिए। वैखरी वाणी से पुनः-पुनः उच्चारण करना जप नहीं है। यह जप चित् की वह अवस्था है। जिसमें भाव और अभाव दोनों स्थितियों से किञ्चित् विलक्षणता रहती है। केवल संवित् का स्फुरण मात्र ही वहाँ रहता है।[३७] इस प्रकार परमेश्वर में भूयोभूयः भावना का नाम ही जप है। यह एक स्वयंनाद है जो परावाक् स्वरूप है।[३८] भैरव आदि नामों में जो अर्थ छिपा हुआ है उसे जाने बिना भावना करना सम्भव नहीं है। अतः शास्त्रोक्त रीति से भैरव आदि पदों का संक्षिप्त निर्वचन किया जाता है–

भैरव शब्द का निर्वचन–शिव का भैरव नाम साधकों को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय है। इन शब्द में शिव की अनेक विशेषताएं निहित है, जो इसके सुनने मात्र से ही चित् में स्फुरित होने लगती है। आचार्य अभिनव गुप्त ने इसके विभिन्न निर्वचन किए है।

प्रथम निर्वचन

''भैरव'' में भ 'वर्ण भरण पोषण और धारण का द्योतक है और रव शब्द

३६. धारयति पोषयति च स्वात्मभित्ति संलग्नत्वेन तदुल्लासनात्। तेन विश्वेन भ्रियते .....तेन भरणाद् रवणाच्च भैरवः इत्ययं निरुक्त। –तं०वि० १/९६

३७. संसारभीरहितकृच्च। –तदेव

३८. संसार भीति जनिता रवात् परामर्शताऽपि हृदिनात्। –तं० १/९७

उसके शब्दन अथवा नाद के स्वभाव को प्रकट करता है। चूँकि वह विश्व का भरण पोषण और धारण करता है, तथा सदेव अपनी शक्तियों से गरजता रहता है। इसलिए यह भैरव कहलाता है। यह विश्वरूप में सर्वत्र स्फुरित हो रहा है। इसलिए विश्व के द्वारा भी वह भृत पोषित और धारित किया जाता है। इस कारण भी उसका भैरव नाम सार्थक होता है। इस प्रकार "भरणात् रवणाच्च भैरव" यह उसकी प्रथम निरुक्ति है।

द्वितीय निर्वचन

"भीणां अवनात् रक्षणात्" भैरव अर्थात् वह भीरू पुरुषों का हित करने वाला है, इसलिए भी यह भैरव कहलाता है। मनुष्यों की भीरूता संसार ही निमित्त है। संसार ही सबसे बड़ा भय है। उससे अभयदान देने वाला यह शिव भैरवपद वाच्य है।

तृतीय निर्वचन

भी का अर्थ है संसार का त्रास। रव का अर्थ है भगवद् विषयक परामर्श। इस प्रकार भीरव का अर्थ हुआ–संसार के त्रास से जनित भगवद् विषयक परामर्श। उस परामर्श से उत्पन्न होने के कारण यह भैरव कहलाता है अर्थात् शिव परामर्शवान् साधकों के हृदय में स्फुरित होता है, इसलिए इसका भैरव नाम सार्थक होता है।

चतुर्थ निर्वचन

चूँकि शिव भगवद्-विषयक विमर्शन का शक्तिपात के माध्यम से कारण है, इसलिए भी वह भैरव कहलाता है। अभिप्राय यह है कि भगवान् शिव शक्तिपात के द्वारा संसार के भय को दूर कर देते हैं।[३९]

पंचम निर्वचन

भैरव शब्द की एक अन्य भी विचित्र परिभाषा जयरथ ने की है। भ का अर्थ नक्षत्र भी होता है। उन नक्षत्रों का ईरण अर्थात् प्रेरित करने वाला काल भेर कहलाता है। इस काल के क्षण, पल आदि स्वरूप का जो व अर्थात् वायन= अभिभव करते हैं। ऐसे काल का ग्रास करने वाली समाधि से युक्त योगी लोग

---

३९. भवाद्भयं भीस्तस्य रवो विवेचनं विभर्शनं तस्य शक्तिपातंमुखेन अयं कारणमिति भैरवः। –तं०वि० १/९७

भैरव कहलाते हैं। उन योगियों का स्वामी यह शिव ही है। इसलिए यह शिव भैरव शब्द से अभिहित होता है।[४०]

षष्ठ निर्वचन

भैरव शब्द की एक अन्य परिभाषा भी है जो भैरव शब्द की अत्यधिक अन्वर्थ परिभाषा प्रतीत होती है। वह इस प्रकार है--भी: अर्थात् संकोच स्वभाव वाले पशुजनो के भय के लिए जिन शक्तियों का रव अर्थात् शब्दराशि से उत्पन्न हुआ विमर्श-रूप शब्द चारों दिशाओं में प्रभूत है ऐसी शक्तियाँ है इन्द्रिय-शक्तियाँ तथा खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, और भूचरी ये चतुर्विध शक्तियाँ। इसलिए ये शक्तियाँ भीरव कहलाती है इन सबका स्वामी वही शक्तिमान् शिव है इसलिए भीरवा शक्तियों का स्वामी होने के कारण भी भैरव कहलाता है।[४१] उन शक्तियों के द्वारा वह संसार की विचित्र भीषण वृत्तियों का निर्माण करता है। इसलिए वह महाभीम=महाभयानक है।[४२] इसलिए वह भैरव शब्द वाच्य है। लोक में भी भीषण शक्तियों का स्वामी भयानक प्रतीत होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि भैरव शब्द अर्थानुगत वाचक शब्द है।[४३] भरण और रवण का सामर्थ्य होने से वह जगत् में भैरव कहलाता है। इस भैरव शब्द के सतत् उच्चारण से शिव प्रसन्न होते हैं और साधक को अभेद-वृद्धि प्रदान करते हैं।[४४] उक्त निर्वचनों में से जिस किसी भी रूप से परमेश्वर का ध्यान किया जाए, परमेश्वर उसी रूप से उसके लिए प्रकट होता है।[४५]

देव शब्द का निर्वचन

शिव का एक रूप देव भी है। निगम और आगम दोनों शास्त्रों में शिव को देव नाम से अभिहित किया गया है। लोक और वेद दोनों में ही आस्था रखने वाले साधक प्राय: देव शब्द से परमशिव की स्तुति करते हैं।

---

४०. भानि नक्षाणि ईश्यति प्रेरयति इति भेर: काल.....इति भैरव:।। –तदेव
४१. संकोचि पशु जनभिये यासांरवणं स्वकरण.....विघटन महाभीम। –तं०वि० १/९९
४२. महाभीम इति भीषण: तेनात्र भैरव शब्द: संकेतित:। –तं०वि० १/९९
४३. भैरव इति गुरुभिरिमैरन्वर्थ: संस्तुत: शास्त्रे। –तं०वि० १/१०९
४४. भिया सर्वं रवयति सर्वदो व्यापकोऽखिले......उच्चारणाच्छिव:।। –विज्ञान भै० श्लोक १२७
४५. येन-येनहि रूपेण साधक: संस्मरेत्सदा। तस्य तन्मयतां....रिवेश्वर:।।–तं०वि० १/११५

देव शब्द अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाला अन्वयर्थ शब्द है। देव शब्द दिवु धातु से निष्पन्न हुआ है। दिवु धातु छ: अर्थों में प्रयुक्त होती है– क्रीडा; विजिगीषा, व्यवहार, द्योतन, स्तुति और ज्ञान। इन छ: क्रियाओं से युक्त होने के कारण ही शिव देव नाम से कहे जाते हैं। (तेन दीव्यति जानाति प्रसरति च इति देव:)।[४६]

पति शब्द का निर्वचन

शैव शास्त्रों में शिव का एक महत्त्वपूर्ण नाम पति भी है। यह भी एक अन्वयर्थ अभिधान है। 'पाति रक्षति इति पति:,-अर्थात् परमेश्वर चूँकि सबकी रक्षा करता है अत: पति कहलाता है। पा धातु रक्षार्थक है। यह रक्षा अपने भीतर शासन रोधन पालन और पाचन इन चार क्रियाओं को समाश्लिष्ट किये हुए है। चूँकि परमशिव शास्त्रोपदेश आदि के द्वारा बोध्य पदार्थों का बोध करता है। संसारी प्राणियों का रोधन अर्थात् अपने भीतर विलय करता है, सकल प्राणियों का योग्य पदार्थों के प्रदान द्वारा पालन करता है तथा कर्म करने वाले प्राणियों के कर्मों का फलदान द्वारा पाचन करता है, इसलिए वह पति कहलाता है, श्रेयोमय है, इसलिए शिव कहलाता है।[४७] उसे शिव कहने का अभिप्राय तो यही है वहाँ अशिव तो कुछ है ही नहीं। जो कुछ हो रहा है, किया जा रहा है और देखा जा रहा है वह अद्वय शिव ही है। अत: पति ही शिव है और शिव ही पति है।

शक्ति-तत्त्व निरूपण

शक्ति क्या है? यह जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि वह कौन सी वस्तु है जो शक्ति नहीं हैं। जब हम यह विचार करते हैं कि शक्ति से भिन्न यहाँ है क्या, तो बहुत चिन्तन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यहाँ ऐसा कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता जो शक्ति न हो। जहाँ भी चेष्टा है, सामर्थ्य है गति है। वह उत्पाद्य भी है उत्पादक भी। विद्या भी यही है अविद्या भी, लक्ष्मी भी अलक्ष्मी भी, लज्जा भी निर्लज्जता भी। किसी के हृदय में यही श्रद्धा, बुद्धि कान्ति, शान्ति और धृति है तो किसी के हृदय में यही अश्रद्धा, अशान्ति, भ्रान्ति, निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध आदि भी है। इसके अनन्त रूप है। दुर्गा सप्तशती में कहा गया है कि यह शक्ति सुकृति पुरुषों के घर में लक्ष्मी बनकर विराजमान् रहती है तो

---

४६. ते दीव्यति जानाति प्रसरति च इति देव:। –तं०वि० १/१०२

४७. शासनरोधन पाचन पाचन योगात्स सर्वमुपकुरुते।
तेन पति: श्रेयोमय एव शिवो नाशिवं किमपि तत्र।। –तंत्र लोक १/१०४

पापियों के घर में यही दारिद्र्य बनकर रहती है। पुण्यशालियों के हृदय में यही बुद्धि है और श्रद्धा है। कुल बधुओं के हृदय में यही लज्जा के रूप में विराजती है।[४८]

शक्ति का निर्वचन करते हुए कहा है कि 'शकनात् शक्तिः' अर्थात् कुछ कर सकने को शक्ति कहते हैं।[४९] प्रत्येक प्रभाता और प्रमेय अपनी परिधि में अपने सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ कर सकता है। चलना, फिरना, बोलना, सोचना, सोना, जागना, देखना सभी कुछ शक्ति का कार्य है। ऐसी बात नहीं कि चेतन ही कुछ कर सकता है, जड़ पदार्थ भी कुछ न कुछ कर सकते हैं। वायु बहता है, पत्ते हिलते हैं, सूर्य चमकता है, पृथ्वी घूमती है, जो जितना बड़ा काम कर सकता है उसे उतना ही बड़ा शक्तिमान् कहा जाता है। सबसे महान् और कठिन कार्य तो विश्व का निर्माण करना ही है। इस अचिन्त्य और अति विचित्र अनन्त विश्व के निर्माणरूप दुर्घट कार्य को सबसे कड़ा शक्तिमान् ही कर सकता है। जो यह कार्य करता है, उसे ही त्रिकदर्शन में भैरव, शंकर, शिव आदि नामों में कहा जाता है। चूँकि यह जीव भी अंशतः शक्तिमान् है इसलिए यह भी अंशतः शिव ही है।

भाव यह है कि शक्ति शिव का सामर्थ्य है। चूँकि उसके सामर्थ्य से भिन्न कुछ है ही नहीं अतः सब कुछ शक्ति ही है। यह शिव की इच्छा है और चराचर जगत् का बीज है।

विमर्श शक्ति

उक्त प्रकरण में बताया गया है कि परमशिव प्रकाश और विमर्श का सामरस्यरूप है। उसमें जब उसी की इच्छा से स्पन्द होता है तो प्रकाश और विमर्श कुछ स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् स्फुरित होने लगते हैं। उसका प्रकाशरूप शिवतत्त्व कहलाने लगता है, और विमर्श रूप शक्तितत्त्व नाम से जाना जाता है। यह विमर्श एक प्रकाश की गति या क्रियाशीलता ही समझनी चाहिए। यह गति या क्रिया बाह्य पदार्थों की चलने-फिरने और हिलने जैसे गति नहीं है। न ही यह सुख-दुःख जैसी मानसिक अनुभूति है, और न ही यह क्षुधा, पिपासा जैसी गति है। यह विमर्श तो परमशिव की इच्छारूपी गति है एक आनन्दायक हलचल है।

---

४८. या श्रीः स्वयं....श्रद्धा, सतां कुल जन....देवि विश्वम्।। —दु०सं०

४९. शक्तिः सामर्थ्यं विश्वनिर्माण कारि। —विज्ञान भैरव की व्याख्या १८

उसकी एक क्रीड़ा है, जिससे वह सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह इन पंच कृत्यों को करता है। प्रकाश उसकी स्थिरता है तो यह विमर्शरूप शक्ति उसका चल स्वभाव है। इस शक्ति के द्वारा वह परमेश्वर एक होते हुए भी अपने को विश्वरूप में प्रकट करना चाहता है। वह शक्ति ही उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त करती हुई विभिन्न रूपों से और विभिन्न नामों से जानी जाती है।

भाव यह है कि शक्ति एक क्रिया है। विश्वरूपता की ओर परमेश्वर की एक उन्मुखता है, उसका एक आनन्दात्मक चमत्कार है; उसकी एक क्रीड़ा है, एक लीला है, एक सामर्थ्य है। त्रिकशास्त्र में इसी को स्वातन्त्र्य, परमेश्वरता, इच्छा, विमर्श आदि नामों से कहा जाता है।

स्वातन्त्र्य-शक्ति

परमार्थ रूप में तो शिव की एक ही शक्ति है, और वह है स्वातन्त्र्य शक्ति। शक्तियाँ अनेक नहीं होती। अनेक होते हैं उसके रूप, उसके कार्य और उसके स्तर। कार्य-भेद से ही शक्ति का भेद मान लिया जाता है। जैसे-विद्युत् एक है किन्तु कहीं वह प्रकाश करती है, कहीं जलाती है, कहीं वाहन खींचती है और कहीं विभिन्न यन्त्रों को गति देती है। वैसे ही शक्ति एक ही होती है। इस निखिल विश्व में उसी के विभिन्न रूप व्याप्त है। वही सूर्य का प्रकाश है और वही चन्द्रमा की ज्योत्स्ना भी। इन्द्रियों की अधिष्ठात्री भी है और इन्द्रियों के रूप में वही है। जड़ भी वही है और चेतन भी वही। सुख देती है और वही दुःख भी। वही संहारकारिणी है, तो वही रक्षा करती है। वही श्री है तो वही सरस्वती भी। वही मदनिका है तो वही मोह का विनाश भी करती है। अधिक क्या कहा जाए, वही बन्धन है तो वही मोक्ष भी है। भगवती ने शुम्भासुर से कहा था–

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मययेव विशन्ति मद्विभूतयः॥ –दु०स०श० १०/५

शिव की उस एक शक्ति का नाम स्वातन्त्र्य है। उसी का अपर नाम इच्छा है। उसी का नाम विमर्श है। स्वातन्त्र्य का अर्थ है कि परमशिव आपकी इच्छा से ही इस जगत् की सृष्टि स्थिति और संहार करता है। अविद्या, वासना, मिथ्याज्ञान, कर्म, अदृष्ट, परमाणु या प्रधान, इनमें से किसी भी उपादान की उसे आवश्यकता नहीं होती। वह तो ठहरा सर्वसमर्थ। उसे किसी की क्या आवश्यकता।

वह अपनी इच्छा से ही बिना किसी उपादान के बाह्य देश में प्रसृत हो जाता है।[५०] यही है उसका स्वातन्त्र्य। अपने उसी स्वातन्त्र्य का विमर्शन करता हुआ जब उसके प्रति उन्मुख होता है तो वह सृष्टि के रूप में अपने को अभिव्यक्त करना चाहता है। तब वह अपने ही प्रकाश के भीतर अपनी ही अनिरुद्ध इच्छा से शक्तियों के प्रतिबिम्बों को प्रकट कर देता है। वे ही शक्तियाँ सृष्टि स्थिति और संहार के रूप में प्रकट हो जाती हैं।[५१]

इस प्रकार शक्तियों के आनन्त्य से न तो शिव में भेद होता है और न ही शक्ति के स्वरूप में कोई भेद आता है। वस्तुतः स्वातन्त्र्यरूपाशक्ति एक ही है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियाँ इसी का अवान्तर रूप है।[५२] शक्ति के उद्रेक का जनक भी तो शक्ति ही होती है। अन्य सभी व शक्तियाँ स्वातन्त्र्यशक्ति का कल्पित रूप होती है। इसी शक्ति के द्वारा उन रूपों में सृष्टि परमेश्वर में भी कोई भेद नहीं आता। इस प्रकार शक्ति वस्तुतः एक ही होती है।[५३]

स्वातन्त्र्य और जगदुपादानत्व

त्रिकशास्त्र का यह सर्वतोविलक्षण सिद्धान्त है कि परमेश्वर की स्वातन्त्र्य रूपा चित्तिशक्ति ही इस भेदात्मक जगत् का अनन्य हेतु है। यही उपादान है, यही निमित्त है और असमवायि कारण भी है। जगत् के निर्माण के लिए उसे किसी माया की, अविद्या की, प्रकृति की या परमाणु की आवश्यकता नहीं पड़ती। न्याय मत में ईश्वर जगत् का केवल निमित्तकारण है। परमाणु उसके उपादानकारण है। शांकर वेदान्ती अविद्या को उपादान मानते हैं। सांख्य प्रकृति को जगत् का उपादानकारण कहते हैं। ये सभी मत दूषित भेद बुद्धि के विजृम्भणमात्र है। ईश्वर से भिन्न किसी अन्य कारण को स्वीकार करके वे ईश्वर को अस्वतन्त्र और परमुखापेक्षी बना देते हैं।

जब परमेश्वर अपने से भिन्न संसार को अवभासित करना चाहता है, तो अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति को माया शक्ति का रूप दे देता है, और उससे अपने

---

५०. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितिच्छावशाद् वहिः।
योगीव निपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।। —ईश्वर प्रत्य० १/५/७

५१. आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि......न्यन्यत्।। —परमार्थ चर्चा–५

५२. रवशक्त्युद्रेक जनक्रं तादात्म्याद् वस्तुनो हियत्। ....स्वरूपिणि।। —तं० १/७२

५३. स्वातन्त्र्याद् द्वयात्मनं स्वातन्त्र्याद् भावनादिषु......व्यवहारयेत्।। —ई०पू० १/५/१६

स्वातन्त्र्य प्रकाश रूप को विस्तृत कर, अख्याति द्वारा असीम पशु का रूप धारण कर लेता है। वह अख्याति रूप अशुद्धि भी उसी की अपनी इच्छा से उत्पन्न की हुई है। उसी से वह दरिद्र, असहाय तुच्छ कामनाओं से ग्रस्त और संशययुक्त सा बन जाता है। वह स्वयम् ही स्वयम् की सृष्टि करता है, स्वयं ही अपना पालन करता है। स्वयं ही स्वयं का संहार करता है, स्वयं ही पिधान और अनुग्रह भी करता है। इस प्रकार वह अनन्य मुख्यापेक्षी होकर उन पांच दुर्घट कृत्यों का सम्पादन करने के कारण स्वतन्त्र कहलाता है। यही उसकी स्वातन्त्र्यशक्ति का अर्थ है।

स्वातन्त्र्य-शक्ति के पांच मुख

शिवतत्त्व के निरूपण के अवसर पर यह बात बहुशः कही जा चुकी है कि परमेश्वर की एक ही शक्ति है-स्वातन्त्र्य। यह स्वातन्त्र्यशक्ति शिव का स्वभाव है, उससे अभिन्न है। वह अपने स्वरूप को समाछादित करने में और उसे पुनः पहचानने में स्वतन्त्र है। अपने स्वातन्त्र्यभूत स्वभाव से वह उमंग में आकार अणुरूप संकुचित पशुप्रमाता के स्तर पर उत्तर कर बद्ध जैसा हो जाता है, और पुनः जब इच्छा होती है तब स्वरूप का प्रथन कर पूर्ण स्वतन्त्र्य शिवभाव पर प्रतिष्ठित हो जाता है।[५५]

शिवभाव के स्तर पर यह स्वातन्त्र्यशक्ति पांच स्तरों पर प्रसृत होती है। ये स्तर हैं–चित् निवृत्ति, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। ये पांच शक्तियाँ शिव के पांच मुख कहलाते हैं। प्रकाश रूपता का नाम चिच्छक्ति है, स्वातन्त्र्य का ही दूसरा नाम निर्वृत्ति या आनन्द है। आनन्द का चमत्कार इच्छाशक्ति है, आमर्शात्मक स्पन्द का नाम ज्ञानशक्ति है, और समस्त आकारों को धारण करना क्रियाशक्ति है।[५६] इनमें से चित् और आनन्द का सामरस्य तो परमेश्वर का ही स्वरूप है। इच्छा उसका स्वभाव है तथा ज्ञान और क्रिया उसके स्वभाव का विकसित रूप है। यदि इन्हें विभक्त रूप में देखा जाए तो इन्हें ही शिव सदाशिव ईश्वर और शुद्ध

---

५४. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः। –प्र०हृ०सू०-१

५५. आत्मा प्रकाशवपुरेष शिवः स्वतन्त्रः स्वातन्त्र्यनर्मरभसेम.....त्रिभेदात्।।
–तन्त्रसार अह्निक

५६. तस्य च स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिः। तच्छमत्कार इच्छाशक्तिः। प्रकाशरूपता चिच्छा-शक्तिः। आमर्शत्मकता ज्ञान शक्तिः। सर्वाकार योगित्वं क्रियाशक्तिः। –प्र०हृ०सू०

विद्या इन पांच तत्त्वों के रूप में देखा जा सकता है।[५७] शिव को पंचमुख कहा जाता है। ईशान, तत्पुरुष, वामदेव, सद्योजात और अघोर ये शिव के पांच मुख माने जाते हैं। वस्तुतः ये पांच मुख अन्य कुछ नहीं, चित्त, निवृत्ति इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पांच शक्तियों के ही सशरीर रूप है।

त्रिकदर्शन में विभिन्न प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियों का उल्लेख किया गया है–परमशिव की स्वातन्त्र्यात्मक विमर्शशक्ति अथवा क्रियाशक्ति के दो रूप है-१. शिवर्तिनी क्रियाशक्ति, २. पशुवर्तिनी क्रियाशक्ति। मायाशक्ति के दो रूप हैं–(१) शक्ति रूप तथा तत्त्व रूप। महामायाशक्ति, शक्तिचक्र के कई रूप है-करणेश्वरी चक्र, खेचरी चक्र, गोचरी चक्र, दिक्चरी चक्र, भूचरी चक्र। मन्त्र शक्ति--सान्जन मन्त्र और निरन्जन मन्त्र। अनुत्तराशक्ति–अघोर शक्तियाँ, तथा घोर शक्तियाँ। विद्याशक्ति-मालिनीशक्ति, द्विधाशक्ति, अष्टधाशक्ति, नवधाशक्ति, पञ्चाशुद्धाशक्ति, और कुण्डलिनीशक्ति आदि प्रमुख शक्तियाँ मानी जाती है।

इन विभिन्न शक्तियों के विषय में अन्य दार्शनिकों का मत है कि ये शक्तियाँ वाममार्गी शक्तियाँ हैं। प्रायः यह देखने को मिलता है कि इन शक्तियों के धारक व्यक्ति मानवी नियमों का पालन नहीं करते हैं।

सृष्टि संरचना

शैवदर्शन के त्रिकदर्शन में शुद्ध-अध्वा अथवा अशुद्ध अध्वा शब्दों का वर्णन मिलता है। अध्वा शब्द का अर्थ-क्रम है, शुद्ध का अर्थ माया के संस्पर्श से सर्वथा रहित, और अशुद्ध का अर्थ है-माया संसृष्ट। अतः शुद्ध-अध्वा का अभिप्राय यह हुआ कि जिन तत्त्वों की सृष्टि में माया का न्यून से न्यून भी उपयोग नहीं होता है, वे तत्त्व शुद्ध अध्वा या शुद्ध सृष्टि कहलाते हैं। इसलिए शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या ये पांच तत्त्व शुद्ध सृष्टि कहलाते हैं।[५८]

शिव से लेकर शुद्ध विद्या-तत्त्व तक की सृष्टि का कार्य परमेश्वर किसी अन्य को नहीं सौंपते। वे स्वयं इस सृष्टि के कर्त्ता हैं। परमेश्वर की साक्षात् इच्छा ही इन पंच तत्वों की कर्त्री है। परमेश्वर की साक्षात् स्वातन्त्र्यात्मक इच्छा से प्रसूत

---

५७. शिव शक्ति सदाशिवत्ममणीश्वर विद्यामयीं च तत्त्वदशाम्।
शक्तीनां पञ्चानां विभक्त भावेन भासयति।। –परमार्थ सार १४

५८. तदेवं पञ्चकमिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते।
तत्र साक्षात् शिवेच्छैव कर्त्र्याभा सितभेदिका।। –तन्त्र० ९/६०

होने के कारण ही वास्तव में यह सृष्टि शुद्ध अध्वा नाम से परिभाषित की जाती है। दूसरी ओर माया से लेकर क्षितिपर्यन्त चौंतीस तत्त्वों की सृष्टि महामाया में अवर्तीर्ण भगवान् अनन्तनाथ करते हैं। इन तत्त्वों में भोगलोकिका समाविष्ट रहती है। इस कारण यह सृष्टि अशुद्ध-अध्वा या अशुद्ध सृष्टि कहलाती है।[५९] परमशिव चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और इन पांच शक्तियों के कारण पंच तनु या पंचानन कहलाते हैं। अपनी एक-एक शक्ति से क्रमशः पूर्वोक्त पांच तत्त्वों का विकास परमेश्वर स्वयं करते हैं, अर्थात् चित् शक्ति से शिव का, आनन्द से शक्ति का, इच्छा से सदाशिव तत्त्व का ज्ञान से ईश्वर का क्रियाशक्ति से शुद्ध विद्यातत्त्व का विकास होता है।

उक्त पांच शक्तियाँ परमशिव की स्वरूपभूता है। इनसे निर्मित होने के कारण ही शुद्ध अध्वा अन्वर्थता को प्राप्त करता है।[६०] यद्यपि शुद्ध और अशुद्ध दोनों सृष्टियों के कर्ता शिव ही है किन्तु शुद्ध अध्वा में उसकी इच्छा साक्षात् हेतु है और अशुद्ध अध्वा में वह परम्परया या कारण है। प्रथम पांच तत्त्वों में तो परमेश्वर का शुद्ध स्वातन्त्र्य ही उस वैचित्र्य से प्रस्फुरित होता है। इसलिए यह शुद्ध अध्वा कहलाता है।[६१] भाव यह है कि चित् आदि पंच शक्तियाँ परमशिव में तो एकीभूत होकर स्थित थी, किन्तु परमेश्वर जब अपने स्वातन्त्र्य के वश होकर उन शक्तियों को विभक्त भाव में स्थापित करना चाहता है, वे शक्तियाँ शक्तितत्त्व, सदाशिव तत्त्व, ईश्वर तत्त्व, और शुद्ध विद्या तत्त्व के रूप में स्फुरित हो जाती है।

त्रिकशास्त्र के अनुसार वास्तव में शिव ही सर्वत्र कर्ता है। जीव में जो थोड़ा बहुत कर्तृत्व और स्वातन्त्र्य लोक व्यवहार में दृष्टिगत होता है। वह भी उसकी इच्छा की प्रेरणा से और उसी की नियतिशक्ति के नियम के अनुसार उसे मिला हुआ है। आखिर जीव भी तो उसी का रूप है। इसलिए जहाँ-जहाँ स्वातन्त्र्य और कर्तृत्व है वह भी उसी का अंश है। इसलिए जीव-भाव में भी वस्तुतः शिव ही कर्ता है। शिव ने अपनी स्वतन्त्र कर्तृत्वक शक्ति का किंचित्

५९. इश्वरेच्छावश-क्षुब्ध-भोगलालिक-चिद्गणान्।
संविभक्तुमघोरेशः सृजतीह सितेतरम्।। —तन्त्र ९/६१

६०. शिव शक्ति सदाशिवतामीश्वर विद्यामयी च तत्त्वदशाम्।
शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भावयति।। —परमार्थसार, पृ० ४०

६१. इयति च शुद्धस्वातन्त्र्यमेव तत् वैचित्र्येण प्रस्फुरति इति शुद्धोध्वा।
—त्रि०व०स०कारिका ४ की व्याख्या

अंश जीव को भी दे रखा है। इसी कारण उसे अपनी परिमित स्वतन्त्रता और कर्तृत्व का अभिमान बना रहता है। इसी प्रकार परमेश्वर कुछ अन्य अधिकारी शरीरों को भी अपनी परमेश्वरता लीला के कार्यों को निभाते रहते हैं। इन्द्रादि विभिन्न देवता तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी उसी की परमेश्वरता के अंश से ईश्वर कहलाते हैं।

उक्त सिद्धान्त के अनुसार माया से लेकर पृथ्वी पर्यन्त इकत्तीस अशुद्ध तत्त्वों की सृष्टि भगवान् अनन्तनाथ करते हैं। शिव ही शुद्ध विद्या तत्त्वों में अवतीर्ण होकर भगवान् अनन्तनाथ कहलाते हैं। किन्तु शिवतत्त्व से लेकर शुद्ध-विद्यातत्त्व की सृष्टि का कार्य स्वयं परमेश्वर ही करते हैं। यहाँ तक उनका शुद्ध स्वातन्त्र्य ही साक्षात् रूप में विजृम्भमाण होता है। यहाँ तक की सृष्टि तुर्य दशा में ही ठहरी होती है। शुद्ध-अध्वा में रहने वाले प्राणी अपने को शरीर आदि धर्म वाला नहीं समझते, अपितु शुद्ध संचित् रूप ही समझते हैं। इस कारण यह सृष्टि शुद्ध-अध्वा कहलाती है। इस शुद्धअध्वा के कार्य को तथा इसके संहार को परमेश्वर अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की लीला के विलास से, अपने स्वभावभूत, इच्छा-स्पन्दन ही के द्वारा स्वयमेव करते रहते हैं। उनके अन्दर चित्, आनन्द, इच्छा और क्रिया के स्पन्दन की जो लहरे सतत नृत्य करती रहती है, उन्हीं के प्रभाव से शुद्ध-अध्वा के पांच तत्त्वों का पांच तत्त्वेश्वरों का और उनमें रहने वाले पांच प्राणियों का उदय और लय सदेव होता रहता है। इन पांच तत्त्वों की सृष्टि एक बार होकर ही समाप्त हो जाती ही ऐसी बात नहीं अपितु क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न रूपों में ऐसा होता रहता है। परमेश्वर की आनन्दमय चिद्रूपता के भीतर उसी के स्वातन्त्र्य-विलास से एक साथ ही सृष्टि और प्रलय निरन्तर चलता ही रहता है, कभी रुकता नहीं।

परमेश्वर के ऐश्वर्य की उक्त अनुभूति सिद्ध पुरुषों को जब कभी होती है तब उन्हें परमशिव के साथ अपने अभेदभाव का साक्षात्कार होता है और साथ ही परमेश्वरता के परिपूर्ण आनन्द का चमत्कार अंशतः अनुभव में आ जाता है।[६२] परमेश्वरता की यह अनुभूति एक अत्युत्कृष्ट भूमिका की अनुभूति है। त्रिकदर्शन के अनुसार परमेश्वरता की अनुभूति है। त्रिकदर्शन के अनुसार परमेश्वरता की अनुभूति ही यह भूमिका अद्वैत-वेदान्त की निरोध समाधि से कहीं अधिक उच्च

---

६२. यद्यदिच्छति तत्ज्जानाति करोति च सभावेशाभ्यासं पदोऽनैव शरीरेण।
अतत्परस्तु सति देहे जीवन्मुक्तः तत्पाते परमेश्वर एव। —ई०प्र०वि० ४/१/१५

कोटि की भूमिका है। अद्वैत-वेदान्त की निरोध-समाधि तो दु:खाभाव रूप आनन्द से युक्त होती है। उसमें तो केवल शून्यप्राय, सर्वथा शान्त प्रकाशरूपता के अद्वैतभाव का साक्षात्कार हुआ करता है। किन्तु त्रिकदर्शन की इस परमेश्वरता की अनुभूति की दशा में परमशिव के असीम और परिपूर्ण भावात्मक आनन्द के अलौकिक चमत्कार का साक्षात्कार हुआ करता है। इसमें परमेश्वर की केवल प्रकाशरूपता का नहीं अपितु प्रकाश और विमर्श के सामरस्य के पराद्वैतभाव का साक्षात्कार हुआ करता है। उस समय वह साक्षात् चक्रेश्वर हो जाता है।[६३] शिव-तुल्य हो जाता है।[६४] अत: यह भूमिका आचार्य गौडपाद द्वारा वर्णित निरोध-समाधि की अवस्था से उत्कृष्ट है अद्वैत वेदान्त और त्रिकदर्शन में यह भी एक बड़ा भेद है।

भाव यह हुआ कि साक्षात् परमेश्वर की इच्छा[६५] से प्रादुर्भूत होने के कारण उक्त तत्त्व-पञ्चक शुद्धध्वा कहलाता है तथा भगवान् अनन्तनाथ के द्वारा माया की सहायता से सृष्ट शेषतत्त्व समूह अशुद्धाध्वा कहलाता है।

सदाशिव तत्त्व

परमशिवरूपी चैतन्य समुद्र में उन्हीं की इच्छा से होने वाले उच्छलनात्मक स्पन्दन से प्रादुर्भूत तीसरे तत्त्व का नाम सदाशिव तत्त्व है। सदाशिव तत्त्व का स्वरूप क्या है? इसे समझ लेना आवश्यक है। अन्यथा शिवतत्त्व और सदाशिव तत्त्व में सदानता की भ्रान्ति बनी रहेगी। सदाशिवता परमेश्वर की भेदाभेद वाली भूमिका की अवस्था का नाम है। भेदाभेद दशा का अभिप्राय यह है कि इस अवस्था में प्रमातृ अंश में प्रमेयता का धीमा सा आभास होने लगता है। अर्थात् अहन्ता में इदन्ता की प्रतीति अत्यन्त सूक्ष्म और स्पष्ट रूप में होने लगती है।

सदाशिव दशा में जगत् की सद्रूप में अवस्थिति का पता चलता है। अर्थात् यह पता चल जाता है कि शिव में जगत् की सत्ता है। शिवतत्त्व में जगत्

---

६३. यदात्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लायोदयौ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत्।। —स्प० ९, कां० ५१

६४. शिवतुल्यो जायते। —शिवसूत्र ३/२५

६५. सर्वाभिलाप: विगत: सर्वचिन्ता समुत्थित:।
सुप्रशान्त: सकृज्ज्योति समाधिरचलोऽव्यय।।
ग्रहो न यत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते।
आत्मसंस्थ तदा ज्ञानमजाति समतां गतम्।। —माण्डूक्यकारिका ३/३७-३८

की प्रतीति नहीं होती, यह प्रतीति तो सदाशिव अवस्था में ही होती है। शिव तत्त्व तो एक बीज की दशा है। बीज में सम्पूर्ण वृक्ष रहता अवश्य है किन्तु वह बीजरूप में ही रहता है, वृक्ष रूप में नहीं। वृक्ष की सत्ता का ज्ञान तो उसमें तब होता है, जब बीज में स्पन्दन होकर उसका रूप बदलना प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार जगत् की सत्ता का ज्ञान शिव के सदाशिव अवस्था पर अवतरित होने पर ही होता है। इसलिए यह शिव न कहलाकर सदाशिव तत्त्व की अवस्था कहलाती है। अपने अन्दर जगत् को सदात्मना आच्छादित कर स्थित रहने के कारण ही यह सदाशिव कहलाता है।

यदि हम ''सदाशिव'' शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान दे तो इस तत्त्व का रहस्य सरलता से हमारी समझ में नहीं आ सकता है। सद् शब्द की तृतीया विभक्ति के एक वचन में 'सदा' रूप बनता है। तो सदा-शिव का अर्थ हुआ कि परमेश्वर का जो रूप सद्जगत् के कारण शिव कल्याणकारी हो वह सदाशिव कहलाता है।[६६]

वह परमशिव जब अपनी स्वातन्त्र्यरूपा इच्छा शक्ति से, स्वयम् अपने ही स्वरूप वाले जगत् को अपने ही अन्दर सत् नामक स्थिति से आच्छादित करके रहता है तब वह सदाशिव कहलाता है। बाहर प्रकाशित होने वाले चराचर जगत् पर अनुग्रह करने की इच्छा भी इसी अवस्था में जन्म लेती है। इस कारण ही वह सदाशिव (Always Shiva) कहलाता है।[६७]

इस कारिका में ''जगदात्मतया समाच्छाद्य'' और ''निखिलानुग्रहनिरत'' ये दो पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इन्हीं में इस तत्त्व का रहस्य निहित है। यहाँ 'आत्मतया' का अर्थ है–सदरूपेण। यह पद सदाशिव तत्त्व के प्रथम अर्धभाग को सार्थकता प्रदान करता है। 'निखिलानुग्रह निरतः' पद द्वितीय भाग की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

परमशिव के पञ्चविध कृत्यों का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया जा चुका है। सदाशिव तत्त्व के स्वरूप को जानने के लिए उन्हें पुनः स्मरण कर लेना

---

६६. तस्यैव परमेश्वरस्य स्वतन्त्रयोद् भासितस्य विश्वस्य विशुद्ध संविन्यात्राधिकरण्येन स्वात्मन्येव समुल्लासनात् सादित्याख्यानात् सदाशिवत्वावस्था।

६७. स्वेच्छाशवतयद्गीर्ण जगदात्मतया समाच्छाद्य।
निवसन् स एव निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहिता।।
–षट् त्रिंशतत्त्व सन्दोह कारिका

आवश्यक है–ये पांच कृत्य इस प्रकार है–१. सृष्टि (Creation), २. स्थिति, (Sustenance), ३. संहार (Absorption), ४. निग्रह (Self limitation), ५. अनुग्रह (Divin Grace).

शैवदर्शन के त्रिकदर्शन में सृष्टिसंरचना को अशुद्ध सृष्टि के नाम व्याख्यात कहा गया है। वस्तुतः ज्ञान ही अशुद्धि पद-वाच्य है। इसे ही अख्याति, मल तथा बन्ध आदि नामों से भी परिभाषित किया गया है। ये सब अज्ञान के ही पर्याय है। अज्ञान का अर्थ अभावरूप नहीं है, बन्धनात्मक ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है।[६८] इस दर्शन के अनुसार तत्त्वमीमांसा के छत्तीस तत्त्व स्वीकार किये जाते हैं, इन छत्तीस (३६) तत्त्वों को दो भागों में विभाजित किया जाता है–शुद्ध सृष्टि और अशुद्ध सृष्टि। शुद्ध सृष्टि के पांच तत्त्व हैं। अशुद्ध सृष्टि के ३१ तत्त्व हैं, जिनमें–माया, काल, कला, नियति, विद्या, राग, पुरुष, अव्यक्त, महत्, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाच कर्मेन्द्रियाँ पंच तन्मात्र और आकाशादि पंच महाभूत हैं।

माया उपादान तत्त्व है

यह मायातत्त्व जड़ है और आगामी सृष्टि के तत्त्वों का उपादानकारण है।[६९] स्वरूप पर समग्र रूप से आवरण पड़ जाने के कारण यह मायातत्त्व स्वयम् भी जड़ है और इसका कार्य भी जड़ है।[७०] इसलिए इसे मायाशक्ति न कहकर मायातत्त्व कहा जाता है। शक्ति तो ज्ञान क्रियात्मक तथा प्रकाश विमर्शात्मक शिवरूप होने के कारण चेतन्मयी है। किन्तु यह माया तत्त्व शक्ति का ही अवस्थान्तर होने के कारण व्यापक है और नित्य है तथा सबका मूल कारण है।[७१] मायातत्त्व को जड़ कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसमें चैतन्य का सर्वथा अभाव हो गया है। अपितु जड़ का अर्थ यह है कि परमेश्वर की असीम स्वातन्त्र्य शालिनी शक्ति देश, काल एवं आकार की सीमाओं से संकुचित हो गयी है। शक्ति का यह संकोच ही शैवदर्शन में जड़ता कहलाता है। जड़ का यह स्वभाव ही होता है कि वह परिच्छिन्न रूप में प्रकाशित होता है, यही जड़ का

६८. ज्ञानं बन्धः अज्ञान इति। –शिवसूत्र १/२
६९. मलश्चावारको माया भवोपादान कारणम् –तं० सार, पृ० ८०
७०. सा जड़ा भेदरूपत्वात् कार्य यास्या जडेयतः। –तं० ९/१५१
७१. व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैकल्पनात्.....मूलकारणम्।। –तं० ९/१५२

लक्षण है।[७२] जड़ का लक्षण अचेतनत्व नहीं होता जैसा कि अन्य दर्शन में माया को अचेतन माना गया है। शैव शास्त्रों की मान्यता के अनुसार चैतन्य रहित तो कोई तत्त्व होता ही नहीं। चैतन्य का संकोच ही होता है, उसका सर्वथा अभाव नहीं होता। व्यापक तत्त्व का भला अभाव कैसे हो सकता है। इसी कारण यह माया त्रिकदर्शन में वस्तुभूत मानी गयी है। वस्तुभूत है इसलिए कंचुक तत्त्व पुरुष प्रकृति आदि का उपादान कारण बनती है. अवस्तुभूत तत्त्व कभी किसी का उपादानकारण नहीं बन सकता है।[७३]

उपादानकारण उसे कहते हैं कि जो स्वरूप विकार को प्राप्त करके कार्य में अनुगत होकर रहे।[७४] माया अशुद्ध तत्त्वों का उपादान कारण इसीलिए कहलाती है, क्योंकि वह स्वरूप का संकोच करके विकार को प्राप्त करती है, और कंचुक आदि तत्त्वों को व्याप्त करके स्थिर रहती है। कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं जो माया का अतिक्रमण करके रह सकता हो। घट का उपादानकारण माया है, किन्तु अणु का वह वैसा उपादान नहीं है, जैसा-घट का कारण है। अणु चित्तरूप है और नित्य है।[७५]

इस प्रकार माया का स्वरूप तिरोधान करने वाली शुद्ध भेदप्रथा की अवस्था।[७६] भेद प्रथात्मक होने के कारण ही वह माया अशुद्ध सृष्टि का मूल कारण है। अशुद्ध सृष्टि को अशुद्धता इसी ने प्रदान की है। इसलिए इस सृष्टि में अभिव्यक्त होने वाले सभी तत्त्वों को अशुद्ध-अध्वा के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।

माया शब्द की व्युत्पत्ति

आचार्य जयरथ ने तत्त्वरूपा माया के विभिन्न व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ किए है जो सभी किसी न किसी अंश में उसके स्वरूपगत वैशिष्ट्य को प्रकट करते हैं।

प्रथम व्युत्पत्ति

''मीयते हेयतया परिच्छिद्यते'' योगिभिः योगियों के द्वारा यह हेयरूप में

७२. अयमेव हि जडस्य स्वभावो यत्–'इदमत्र इदानीं' भाति इति परिच्छिन्नतया प्रकाश्यते इति। यदुक्तं प्राक्–परिच्छिन्न प्रकाश्यत्वं जडस्य किल लक्षणम्।
–तं० वि० ९/१५२

७३. स्रक्ष्यमाण वस्तुगतस्य रूपस्य जडतया.....उपादान कारणम्।।–तं० सां० पृ० ७७

७४. उपादान करणं हि स्वरूपविकारम....नित्यत्वात्। –तं० सां०पृ० ८०

७५. अचेतनमनेकात्म सर्वं कार्यं यथाघटः.....तु चेतनः।। –तं०९/१५३

७६. भिन्न वेद्यप्रथा चैव मायाख्यं तत्त्वम्। –ई० प्र० २/२/४

जानी जाती है, इसलिए यह माया कहलाती है। यहाँ माया में ''मा माने''[७७] धातु स्वीकार की गयी है। योगी जन इसे अशिवा=अकल्याणी समझते हैं।[७८] क्योंकि योगमार्ग में सबसे बड़ा अन्तराय यही है। यह विभिन्न प्रकार के मोहक रूप दिखाकर उन्हें योगसाधना से भ्रष्ट करती है। इसलिए वे उसे छोड़ना चाहते हैं। इस कारण यह माया कहलाती है।

द्वितीय व्युत्पत्ति

''मा माने; धातु के अर्थ को ही ध्यान में रखकर माया की दूसरी व्युत्पत्ति की गयी है–'सर्वत्र मातीति माया'[७९]। अर्थात् यह सबको मापती है तोलती है इसलिए माया कही गयी है। मापने तोलने का अर्थ यह है कि सबकी परीक्षा लेकर माया यह देखती है कि साधन में साधक कितने सोपान को पार कर चुका है।

तृतीय व्युत्पत्ति

''मा'' एक निषेध वाचक अव्यय भी है या धातु प्राप्ति और गति के अर्थ में प्रयुक्त होती है–या प्रापणे।[८०] माया का अर्थ हुआ कि यह मा शब्द वाच्य विनाश रूप निषेध से याता=गयी हुई या रहित है।[८१]

माया शब्द नित्य है, क्योंकि वह शिव के साथ अविनाभाव रूप से संयुक्त है। चूँकि शिव नित्य है, इसलिए माया भी नित्य है। इस प्रकार 'मा' अर्थात् विनाश से रहित होने के कारण यह तत्त्व माया शब्द वाच्य है।

चतुर्थ व्युत्पत्ति

मा धातु के ही परिमाण अर्थ को दृष्टि में रखकर चौथा निर्वचन किया गया है कि-इस माया में निखिल विश्व अवस्थित हैं, समाया हुआ है, इसलिए भी इसे माया कहा जाता है।[८२]

---

७७. तं० वि०...९/१५२

७८. धातु पा०-रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित २/५५

७९. अशिवा भेद प्रभा प्रदा। –तं० वि० ९/१५२

८०. धातु पाठ–२/४२ प्रभाप्रदा।

८१. मा शब्द वाच्याद विनाशरूपान्निषेधात् याता। –तं० वि०९/१५२

८२. मात्यस्यां विश्वगिति। –तं० वि० ९/१५२

पंचम व्युत्पत्ति

परमेश्वर माया के द्वारा अपने स्वरूप में स्थित भाव राशि को अपने से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित करता है, इसलिए भी यह माया कही जाती है।[८३]

कंचुक तत्त्व–

त्रिकदर्शन में माया से कला, विद्या, राग, काल और नियति इन पांच तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है, इनको पञ्च कंचुक कहा जाता है। माया का बड़ा भाग अणु है। इसलिए छः कंचुक माने गये हैं, ये षट् कंचुक अणु (पशु प्रमाता) का अन्तरंग आवरण होते हैं।[८४] वस्तुतः ये पांच कुंचक परमेश्वर की पांच शक्तियों के संकुचित रूप हैं। ये परमेश्वर की मूल-भूत शक्तियाँ हैं। तन्त्रदर्शन में विभिन्न आचार्यों ने यह भी कहा है कि शक्ति तो एक ही है, उसी के ये पांच रूप हैं। भगवान् अनन्तनाथ मायातत्त्व में क्षोभ उत्पन्न करके उक्त पांच प्रकार के शक्ति प्रसार को संकोच का आवरण पहनाकर उन्हें कला, विद्या, राग, काल और नियति के रूप में प्रकट कर देते हैं।[८५] अर्थात् चित् शक्ति संकुचित होकर कला कहलाती है निवृत्ति शक्ति विद्या रूप में इच्छा शक्ति राग के रूप में ज्ञान-शक्ति के रूप में और क्रिया-शक्ति नियति तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। पहले उक्त शक्तियाँ परमेश्वर के साथ अभिन्न रूप में स्थित थीं। अब कलादि तत्त्वों के रूप में ये भिन्न रूप में अवभासित होने लगती हैं।[८६]

आचार्य अभिनव गुप्त ने माया को क्षोभ से उत्पन्न होने वाले इन कलादि तत्त्वों को दण्ड से आहत आमलकी के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है।[८७] इस दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आंवले के वृक्ष पर डण्डा फेंककर मारा जाता है और उस दण्ड के प्रहार से क्षुभित वृक्ष से पांच छः आंवले के फल भूमि पर गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार जब भगवान् अनन्तनाथ अपनी इच्छा से माया में क्षोभ उत्पन्न करते हैं तो वह क्षुभित हुई माया इन पांच तत्त्वों को उत्पन्न कर

---

८३. स्वात्माभिन्नमपि भावमण्डलं शिवो यथा मिमीते भिदा व्यवस्थापयति। –तदेव
८४. मायासहितं कन्चुक षट कर्मणोरन्तरंगमिदमुक्तम्। –तदेव १७
८५. माया विक्षोभ्य संसारं निर्मिमीते विचित्रकम्। –तं० ९/१४९
८६. भेदावभास स्वातन्त्र्यं तथाहि स तया कृतः। –तं० ९/१५०
८७. सा माया क्षोभमापन्ना विश्वं सूते समन्ततः।
दण्डहते वामलकी फलानि किल यद्यपि।। –तं० ९/१६५

देती हैं।[८८] यद्यपि कला से लेकर क्षिति पर्यन्त सब तत्त्वों का मूल कारण यह माया ही है, फिर भी इन कलादि तत्त्वों में भी परस्पर कारण-कार्य भाव विद्यमान है। पूर्व-पूर्व का तत्त्व उत्तर-उत्तर तत्त्व का कारण है, वह कार्य भी है और जो कार्य है वह कारण भी है। जैसे माया की अपेक्षा कला कार्य है किन्तु विद्या की अपेक्षा कारण भी हैं

कंचुक की परिभाषा–

कला आदि पांच तत्त्वों को कंचुक नाम क्यों दिया गया, यह जान लेना आवश्यक है। यह एक अन्वर्थ नाम है। "कचदीप्तिबन्धतो"[८९] धातु में उकन् प्रत्यय लगाकर "कञ्चुक" शब्द निष्पन्न होता है। कञ्चुक का अर्थ है सांप की केंचुली, लम्बा चोगा, चोली या कोई भी ऊपर पहना जाने वाला वस्त्र। कच धातु का अर्थ है दीप्ति या बन्धन। वस्त्र मनुष्य को दीप्ति अर्थात् शोभा प्रदान करता है तथा चारों ओर से उसे बन्धन अर्थात् आवरण में डाल देता है। सांप की केंचुली भी सांप को दीप्ति भी प्रदान करती है और उसके लिए बन्धन का काम भी करती है। इसलिए कञ्चुक कहलाती है। कञ्चुक का यह प्रभाव होता है कि वह मनुष्य को कुछ और ही बना देता है। उसके वास्तविक रूप को छिपाकर कृत्रिम रूप प्रदान कर देता है। मनुष्य भी कञ्चुक को धारण करके स्वंयम् को कुछ अन्य ही समझने के लिए बाध्य हो जाता है। वह भूल जाता है कि वह अन्दर से कितना असुन्दर या सुन्दर है। कलादि आदि कंचुक तत्त्वों का प्रभाव भी पशु-प्रमाता पर कुछ ऐसा ही होता है। माया शुद्ध संवित् को कला आदि तत्त्वों का कंचुक पहनाकर उसे इतना संकुचित कर देती है कि वह पशु-स्तर पर उतर आती है और भूल जाती है कि वह क्या है। परमेश्वर के सर्व कर्तृत्वादि गुण सर्वथा तिरोहित हो जाते हैं। अणु स्वयम् को अल्पकर्ता अल्पज्ञ आदि समझने के लिए बाध्य हो जाता है। कला आदि कंचुक उसे इस प्रकार चारों ओर से बांध लेते हैं कि उसकी स्वतन्त्रता तथा शुद्धता का कहीं चिह्न भी दिखायी नहीं देता।

कंचुकतत्त्व अणु को दीप्ति भी प्रदान करता है। दीप्ति का अभिप्राय यही है कि कला आदि तत्त्व उसे परमेश्वर से भिन्न रूप में अवभासित कर देते हैं।

८८. न केवल माया कारणम् कलादि क्षित्यन्तं विश्वं च कार्यम् यावत् तत्कार्ये कलादावपि एवं रूपत्वम्।........तेन यदेव कार्यं तदेव कारणं.....कारणमिति।।
–तं० वि० ९/१६५

८९. धातु पाठ-रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित १/१०२

जैसे तण्डुल को भिन्न रूप में अवभासित करता है। कम्बुक यद्यपि तण्डुल से भिन्न होता है, किन्तु तण्डुल कण में विनिविष्ट होकर अभिन्न रूप में स्थित होता है। इसी प्रकार माया आदि कंचुक अणु से व्यतिरिक्त होते हुए भी अव्यतिरिक्त से भासित होते हैं, और पूर्ण संविद्रूपता को आच्छादित करके स्थित रहते हैं, इसी कारण इन्हें कंचुक कहा जाता है।

पुरुष-तत्त्व–

त्रिकदर्शन में पुरुष के स्वरूप का निरूपण अन्य दर्शनों से विलक्षण है। पुरुषतत्त्व अत्यन्त संकुचित ''अहम्'' का नाम है। शुद्ध संवित् तो एक मात्र अभेदात्मक अहं विमर्श का नाम था। वहाँ शुद्ध संवित् माया से अन्धी होकर, जब संसारी और कर्मों से बद्ध हो जाती है, तो पुरुष अथवा पशु-तत्त्व कहलाने लगती है।[९०] जगत् के विस्तार की इस अवस्था में वह पुरुष प्रमाता कहीं शून्य को, कहीं प्राण को कहीं अन्तःकरण को और कहीं स्थूल देह को अपना स्वरूप अर्थात् ''अहम्'' समझता है।[९१] इदं रूप प्रमेय तत्त्व को यह सदेव भेद दृष्टि में ही देखता है। भेद दृष्टि से देखने के कारण ही तो यह इस संकुचित पशुभूमिका में अवतीर्ण हुआ है। अन्यथा तो यह पति ही था।[९२] कर्तृत्व और ज्ञातृत्व संकोच भी इसी कारण है कि माया ने उसे संकुचित करके भेदभूमिका पर ला पटका है। अभेद भूमिका में तो सर्वत्र सर्वदा अहं विमर्श का ही साम्राज्य होता है।

पुरुष त्रिगुणात्मक है–

त्रिकदर्शन के अनुसार पुरुष त्रिगुणात्मक है। अन्य दर्शनों में माया को तथा प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। शैवदार्शनिक प्रकृति को नहीं, अपितु पुरुष को त्रिगुणमय कहते हैं। प्रकृति तो सत्वादि गुणों की साम्यावस्था का नाम है, त्रिगुण का नहीं। त्रिगुण तो जीव का ही स्वरूप है। ये तीन गुण परमेश्वर की तीन शक्तियों के नामान्तर है। प्रकृति का स्वरूप तो प्रमेयता है और यह प्रमेयता उसे पुरुष ने ही दी है। पुरुष की दृष्टि ही से तो प्रमेय की सार्थकता है।

---

९०. एषा प्रमातामायान्धः संसारी कर्म बन्धनः।
मायातो भेदिषु क्लेश कर्मा दिकलुषः।। –इ० प्र० ३/२/२-३

९१. चित्तत्वं मायाया हित्वा भिम्न एवावभातियः।
देहे वृद्धावथ प्राणे कल्पिते नभसीव वा।।
प्रमातृ त्वेनाहनिति विमशो.......अव भासजतः।। –इ० प्र० १/६/४-५

पुरुष त्रिगुणात्मक क्यों है? इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शुद्ध संविद्‌रूप परमेश्वर में अपरिमित ज्ञान-शक्ति और अपरिमित क्रियाशक्ति के अतिरिक्त एक अन्य शक्ति भी होती है, जिसे माया शक्ति कहा जाता है। इस माया शक्ति के कारण वह अपने अन्दर अभेदरूप में स्थित विश्व को बाहर की ओर भिन्न रूप में प्रकट करने के लिए उत्कंठित बना रहता है। विश्वोत्तीर्णता से विश्वमयता की ओर तथा विश्वमयता से विश्वोत्तीर्णता की ओर उन्मुख होना, यही तो उसकी माया है। ज्ञान, क्रिया और माया ये तीनों शक्तियाँ जीव दशा में भी रहती हैं, किन्तु उस रूप में नहीं जिस रूप में ये परमशिव में रहती थीं, अपितु संकुचित रूप में और भेद दृष्टि के साथ जीव में रहती है। इनका नाम भी बदल जाता है। शिवभाव में उनका नाम शक्ति था, शक्ति जीव-भाव में इन्हें जीव की शक्तियाँ नहीं अपितु जीव के गुण कहा जाता है।[९३]

शिव की ज्ञानशक्ति जब षट्‌कंचुकों से आवृत्त होकर संकुचित जीवरूप में प्रकट होती है तो वह शक्ति जीव का सत्वगुण कहलाती है। शिव से शक्ति अपृथक् ही रहा करती है। इसलिए उस ज्ञान-शक्ति से शिव अभेददृष्टि के बल से अपने में ही स्थित समस्त प्रपंच को जानता और करता है किन्तु जब जीवरूप में उसकी ज्ञानशक्ति में संकोच आ जाता है, तो वह अत्यल्प जानता है। इसी प्रकार शिव की क्रिया शक्ति जीव या रजोगुण कहलाती है, इससे वह अत्यल्प ही करता है और पदार्थ को अपने से भिन्न समझ कर ही करता है। शिव की मायाशक्ति जीव का तमोगुण कहलाने लगती है। भाव यह है कि जीव की भेदात्मक ज्ञान-प्रवृत्ति ही उस का सत्त्वगुण है, क्रिया रहित-प्रवृत्ति ही रजोगुण है और माया-रूपिणी भेददृष्टि ही उसका तमोगुण कहलाती है। लोक व्यवहार में ये तीन गुण क्रमशः सुख, दुःख और मोह का आकार धारण कर लेते हैं। इस प्रकार शिव की तीन शक्तियाँ जीव दशा में त्रिगुण बन जाती है। इसलिए जीव त्रिगुणात्मक है, यह सिद्ध हुआ।[९४]

---

९२. एतेन कलादिना कंचुकेनावृत्तोऽयं शक्तिदारिद्र्यममुभूय कलादि मुखेनैव स्ववैभवात् प्रतिवितीर्ण किंचिदंशः पशुरित्युच्यते। –ष०त्रि०सं० वृत्ति-१२

९३. भेद स्थितेः शक्तिमतः शक्तित्त्वं नोपदिश्यते।
एषां गुणानां करणकार्यत्व परिणामिनाम्।। –इ० प्र० ४/१/५

९४. स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
माया तृतीये त एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः।। –इ० प्र० ४/१/४

उक्त सुख-दुःख मोहात्मक सत्त्वादि तीनों विरोधी गुण जीव में किस प्रकार रहते हैं और किस प्रकार अपना व्यापार करते हैं, यह विचारणीय है। शिव के दो रूप हैं–विश्वोत्तीर्ण और विश्वमयः। दो ही दृष्टियाँ हैं–अभेदात्मक और भेदमयी। दो ही प्रकार के प्रमाता है-पति और पशु। अभेददृष्टि से देखने वाले को पति कहा जाता है और भेद-दृष्टि से देखने वाले को पशु या जीव कहते हैं। पति प्रमाता को सदेव अपनी प्रकाशरूप सत्ता के आनन्द का ही चमत्कार हुआ करता है, क्योंकि वह सभी विषयों को स्वात्मरूप ही देखता है। यह स्वात्मानुभूति ही उसकी आनन्दघनता है। यह आनन्दमयी स्वात्मानुभूति ही प्रत्येक विषय में पति-प्रमाता की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति बनती रहती है। किन्तु पशु-प्रमाता को प्रत्येक वस्तु में स्वात्मानुभूति के आनन्द का चमत्कार अनुभूत नहीं होता। उसे उन्हीं वस्तुओं के विषय में अपनी सत्ता के आनन्द की अनुभूति होती है। जिन पदार्थों तक वह अपने प्रति अनुकूलता का अनुभव करते हुए अपनी ममत्वबुद्धि का अथवा अहंभाव का विस्तार कर सकता है। सुषुप्ति में तथा मूर्च्छा आदि की अवस्थाओं में उक्त आनन्दानुभूति का सर्वथा अभाव रहता है। इस प्रकार दो अवस्थायें हुई आनन्दानुभूति की अवस्था तथा आनन्दानुभूति के अभाव की अवस्था। आनन्दानुभूति उसका सत्त्वगुण बन जाती है जो सुख के रूप में दिखाई देती है और आनन्दानुभव का अभाव उसका तमोगुण बन जाता है जो मोह के रूप में पर्यवासित होता है।

पुरुष एवं प्रकृति परस्पर सम्बन्ध

पुरुष और प्रकृति में प्रमातृप्रमेय भाव सम्बन्ध है। पुरुष संकुचित प्रमाया है और प्रकृति सामान्यकार प्रमेयतत्त्व है। सत्वादि तीनों गुण पुरुष प्रमाता के स्वभाव हैं। इस स्वभाव के कारण पुरुष अपने प्रमेयतत्त्व अर्थात् प्रकृति को भी सुख-दुःख और मोह के रूप में ही देखता है। पुरुष का स्वरूप शून्यात्मक ''अहम्'' है और प्रकृति का स्वरूप त्रिगुण का सामान्य रूप ''इदम्'' है सामान्य रूप का अर्थ है कि ''इदम्'' केवल मात्र 'इदम्' के रूप में ही अवभासित होता है 'इदम्' के वाच्य रूप में नहीं। 'इदं पुस्तकम्' ये प्रमेय का विशिष्ट रूप है और 'इदं इदम्' यह प्रमेय का सामान्य रूप है।

वास्तव में तो पुरुष और प्रकृति में कोई भेद नहीं है। दोनों परमेश्वर की ही शक्तियों के संकुचित रूप हैं। जब कंचुक तत्त्वों के प्रभाव से स्वतन्त्र शुद्ध संविद् रूप परमेश्वर शून्यात्मक अस्वतन्त्र एवं अशुद्ध हो जाता है तो वही पुरुष

या पशु प्रमाता कहलाता है। जो संवित् का 'इदम्' अंश था वह जड़ प्रकृति के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह 'अहम्' और 'इदम्' के पूर्ण भेद की अवस्था है। माया के प्रभाव से इस भेद भूमिका पर उतरा हुआ शिव अपने प्रमातृ अंश अर्थात् 'अहम्' को अपने प्रमेयांश अर्थात् 'इदम्' से सर्वथा भिन्न समझता है। अभेद-दृष्टि सर्वथा लुप्त हो जाती हैं। वह अपनी संवित्स्वरूपता को भूला डालता है और अपने को संकुचित संवित् के रूप में देखने लगता है, और प्रमेय अंश को अपने से सर्वथा पृथक् अचेतन तत्त्व के रूप में समझने लगता है। यही अहमंश पुरुष प्रमाता बन जाता है और इदमंश मूल प्रकृति के रूप में प्रकट हो जाता है।

स्थूलरूप में संसार इन्हीं दो तत्त्वों पर टिका हुआ है। संसार के सभी संघात इसी पुरुष के भोग्य बन जाते हैं। पुरुष उसका भोक्ता बन जाता है। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सभी करण और प्रमेय समूह इसी पुरुष को भोग देने में लगे रहते हैं। अतः पुरुष और प्रकृति में भोक्तृभोग्य भाव द्रष्टदृश्यभाव, ज्ञातृज्ञेयभाव आदि सम्बन्ध भी स्वीकार किये जाते हैं। पुरुष और प्रकृति को परमेश्वर की गुणमयी सृष्टि का आधार माना गया है।

अद्वैतशिव

षट् त्रिंशत् (३६) तत्त्वों के रूप में सर्वत्र शिव ही अवभासित हो रहा है जो कुछ भी है शिव से भिन्न यहाँ कुछ भी नहीं। ब्रह्माद्वैतवादियों ने आत्मा में अनात्मा का अध्यास मानकर अनात्म पदार्थों की काल्पनिक और व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की है, अतः अंशतः वहाँ भी द्वैत आ ही गया है किन्तु यहाँ त्रिकदर्शन के अनुसार शिव में अशिव का अध्यास नहीं होता, क्योंकि अशिव कुछ है ही नहीं। अशिव-रूप में यदि कुछ अवभासित होता है तो वह शिव ही है। क्योंकि आभासित होना ही तो शिवता है। प्रकाश और विमर्श का सामरस्य ही तो शिव है। प्रकाश का स्वभाव ही है आभासित होना। अतः यदि कुछ शिव से भिन्न किसी को कुछ प्रतीत होता है तो वह शिव से भिन्न कहाँ रहा? अवभासित होना और उसे अशिव कहना यह तो वदतोव्याघात है। छत्तीस तत्त्वों की समग्रता ही शिव नहीं है अपितु एक-एक तत्त्व भी शिव ही है। एक-एक तत्त्व में भी षट् त्रिंशत् तत्त्वों का समावेश है।[९५]

९५. इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते।
अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम्।। —तं०आ० १/२२

षट् त्रिंशत् तत्त्व कहो या एक तत्त्व कहो, वह शिव का ही पर्याय है। इसी को शिवाद्वयवाद कहा जाता है। यही है पूर्ण अद्वयवाद आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को पूर्ण अद्वैतवाद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ माया और मायाजन्य अध्यास को लेकर आंशिक द्वैतभाव बना रहता है। किन्तु शिवाद्वयवाद में तो माया भी शिव ही है। माया से जन्य तत्त्व-समूह भी शिव है, अध्यास भी शिव है। पृथ्वी भी शिव है एवं पृथिवी का एक कण भी शिव है। अत: त्रिकदर्शन का यह शिवाद्वयवाद ही पूर्ण अद्वयवाद हैं

इस शिवाद्वयवाद को शक्ति और शक्तिमान् के अभेद से भी परिभाषित किया जाता है। अण्ड चतुष्ट्यात्मक[९६] इस भुवन में दो ही तत्त्व है—शक्ति और शक्तिमान्।

यह समस्त संसार ही उसकी शक्तियाँ है और वह परमशिव शक्तिमान् हैं।[९७] शक्ति और शक्तिमान् में पूर्ण अभेद माना गया है। पर और अपर रूपों में सर्वत्र उसी की छाया है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये पांच शक्तियाँ ही उसका परस्वरूप बनती है।[९८] शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि उसका अपर स्वरूप है। इन दोनों स्वरूपों में कोई भेद नहीं है। ये एक ही तत्त्व के दो पहलू है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों दशाओं में उसके इस स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता।[९९] शिव सब अवस्थाओं में शिव ही रहता है। वह सबका आलय है। चर और अचर रूप में वही स्थित है।[१००]

कर्त्ता और कार्य का भेद तथा भोक्ता और भोग्य का भेद शिवाद्वयवाद को शिथिल-सा करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु यह भेद वस्तुत: भेद नहीं है बल्कि ये दो तत्त्व उसके प्रकाश विमर्शात्मक स्वरूप के दो पहलू हैं। वह स्वयम् ही कर्ता है और स्वयम् ही कार्य भी है, स्वयम् ही कारण सामग्री भी है। भोक्ता भी वही है और भोग्य भी वही।[१०१] तभी तो वह अनुत्तर है। उससे कुछ उत्तर-भिन्न

---

९६. मलमज्ञानमिच्छान्ति संसारांकुरकारणम्।। —तं०आ० १/२३।
९७. अज्ञानं तिमिरं पारमेश्वर-स्वातन्त्र्यमात्र......आणवमभलम्। —तं०वि०१/२३
९८. अज्ञानं किल बन्धुहेतु रुचित शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्। —तं०सां०, पृ० ५
९९. अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चाचाति प्रसंगत:।
स हि लोष्ठादिकेऽप्यसित न च तवयास्ति संसृति:।। तं० १/२५
१००. अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येना प्रथात्मकम्।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिव सूत्रेषु भाषितम्।। —तं० १/२६ और १/२७
१०१. द्वैत प्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद् बन्ध उच्यते।
तत एव समुच्छेद्यमित्यावृत्ता निरूपितम्।। —तं० १/३०

होता तो भेद हो सकता था और अद्वयवाद को क्षति हो सकती थी। जब वह अनुत्तर है तो कर्ता और कार्य तथा भोक्ता और भोग्य को लेकर भेद का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, यह बात आश्चर्यजनक सी प्रतीत अवश्य होती है कि प्रकाश वपुः एक ही परमेश्वर अति-विचित्र नाना तनु-करण और भुवनों के सन्तान को धारण करके किस प्रकार अन्य सा हो जाता है। हम मायातिरोहित-मति पशुओं को ही यह आश्चर्य होता है। सिद्ध पुरुषों को इसमें आश्चर्य नहीं होता।

कौल दर्शन

शाक्तसम्प्रदाय के अन्तर्गत प्राचीन काल में एक अन्य महत्त्वपूर्ण आचार-विचार की पद्धति प्रचलित थी, जिसे कौलाचार अथवा कौलदर्शन कहा जाता था। काल की दृष्टि से यह दर्शन तान्त्रिक सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन हैं। प्रत्यभिज्ञा मत से भी पहले इसका प्रचलन था। कलियुग में इसकी स्थापना श्री मत्स्येन्द्रनाथ ने की। यद्यपि यह आचार चारों युगों में विद्यमान था। कहते हैं सत्ययुग में खगेन्द्र ने त्रेता में कूर्म ने द्वापर में मेष नामक आचार्य ने इसकी प्रतिष्ठा की थी। कौलदर्शन का त्रिकदर्शन पर महान् उपकार है। यद्यपि कुछ सिद्धान्तों में पार्थक्य है। यदि इसे त्रिकदर्शन का उपजीव्य कहा जाए, तो यह अति कथन नहीं होगा।

प्रत्यभिज्ञा मत में इसमें यह अन्तर है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार मुक्ति का उपाय प्रत्यभिज्ञा है। जबकि कौलदर्शन शाम्भव उपाय से मुक्ति मानता है। प्रत्यभिज्ञा त्रयम्बक मठिका के अन्तर्गत आता है तथा कौल दर्शन अर्थत्रयम्बक मठिका के अन्तर्गत है। मठिका का अर्थ है—सम्प्रदाय। इसका कारण यही है कि कौल दर्शन में त्रयम्बक् अर्थात् शिव को गौण माना गया है तथा शक्ति को प्रधान माना गया है, ज़बकि प्रत्यभिज्ञा दर्शन पूर्ण रूप से शिवाद्वयवादी है। दोनों दर्शनों का सम्बन्ध काश्मीर से हैं। यद्यपि कौलमत का प्रचार केरल और काशी में भी प्रचुर रहा, किन्तु अन्त में यह काश्मीर में ही स्थापित हो गया।

कौल साहित्य

कौल साहित्य की ग्रन्थ राशि कभी बड़ी विपुल रही होगी। शैवदर्शन के समान कौलतन्त्र भी आगमों पर आधारित है, जिनका निर्माण स्वयं शक्ति ने किया। उन सब आधार ग्रन्थों का परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है। कुछ प्रमुख ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—१. सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र, २. रुद्रयामल, ३. कुलार्णव तन्त्र, ४. ज्ञानार्णव तन्त्र, ५. नित्या षोडशिकार्णव, ६. वामेकेश्वर तन्त्र, ७. परा-त्रिंशिका, ८. कौलावली निर्णय।

कौल के दार्शनिक सिद्धान्त

कौलदर्शन के आचार-सिद्धान्त का मूल तत्त्व है कुल। यह एक पारिभाषिक शास्त्रीय शब्द है। कुल का अर्थ है परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति।[१०२] इन शब्दों का बाह्य अर्थ ग्रहण करने वाले लोग अत्यन्त मूर्ख है, कौल मार्ग से सर्वथा अनभिज्ञ है। यह वह आचार है जिससे उत्कृष्ट विश्व-दर्शन में कोई आचार-पद्धति नहीं। इसमें निरतिशय पावनता है। जिसके आगे कोई आचरण कोई कर्तव्य और कोई धर्म शेष नहीं रह जाता। यह वह महा महनीय आचार है। किन्तु इसका अनुष्ठान कृपाण की धार के अग्रभाग पर चलने के समान, सिंह के कानों का अवलम्बन ग्रहण करने के समान तथा विषधर को कण्ठ में धारण करने के समान साधारण अधिकारियों के लिए नितान्त अशक्य है।[१०३] जितेन्द्रिय राजयोगी ही इसका अधिकारी है। वैदिक तथा शैव सभी की आचार पद्धतियों से ये कुलाचार उत्कृष्ट है। इससे उत्कृष्टत्तर कुछ भी नहीं।[१०४] इसलिए इसे ऊर्ध्वाम्नाय भी कहा जाता है, क्योंकि यह सब धर्मों से ऊर्ध्व है, और निम्नस्थ पुरुष को भी ऊँचा चढ़ाता है।[१०५]

कुल दर्शन की आचार मीमांसा यदि 'कुल' तत्त्व पर प्रतिष्ठित है तो उसकी तत्त्व मीमांसा का मूल तत्त्व संवित् है। अन्य दर्शनों में संवित् शब्दों से ज्ञान सामान्य का ग्रहण किया जाता है, किन्तु कौल दर्शन में इसका अर्थ यह नहीं है। इस दर्शन में यह प्रकाश-विमर्श रूप वह बीजरूपिणी आदि नामों से कहा जाता है। इन नामों से यह प्रकट होता है कि दर्शन शाक्तमत पर अवलम्बित है।

यह परासंवित् त्रिपुरा क्यों कहलाती है? इसके उत्तर में कहा है कि त्रिपुरा अम्बिका का नाम है, क्योंकि यह ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन मूर्तियों की सृष्टि से भी पुरा अर्थात् पहले विद्यमान है। अथवा त्रयीस्वरूपा होने से त्रिपुरा कहलाती है। तथा तीनों लोकों को पूरण करती है। इसलिए इसका नाम त्रिपुरा है।[१०६]

---

१०२. कुलं शक्तिः समाख्याता सा च नित्या प्रकीर्तिता। —तन्त्रालोक आ०२०

१०३. सेवते मधु मांसानि तृष्णया चेत् स पातकी। —कुलार्णव-५/८२

१०४. कृपाणधारागमनात् व्याघ्र कार्णावलम्बनात्।
भुजंगधारणान्नूमशक्यं कुलसेवनम्।। —कुलार्णव तन्त्र २/१२५

१०५. वेदादिभ्यः परं शैव शैवाद् वामं च दक्षिणम्
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात् परतरं न हि।। —तन्त्रा लोक आ०-३

१०६. शिव शक्त्यात्म संज्ञेय तत्त्वत्रितय पूरणात्।
त्रिलोक जननी चाथ तेन सा त्रिपुरा स्मृता।। —वाकेश्वर तन्त्र

परासंवित् को ललिता इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह माया स्वरूपिंणी है, समस्त भुवन को अपने सौन्दर्य से वशीभूत करती है। ललिता का धाम श्रीपुर है। श्रीपुर का प्रतिनिधि श्री चक्र है। जिसमें ललिता की पूजा की जाती है। इसका विस्तृत विवरण ब्रह्माण्ड पुराण के अन्तर्गत 'ललितोपाख्यान' में देखना चाहिए।

वैयाकरण जिस पर तत्त्व को शब्दब्रह्म या पश्यन्तीवाक् कहते हैं, कौल दर्शन उसी को परावाक् कहता है। भर्तृहरि ने जगत् को शब्द ब्रह्म का विवर्त माना है।[१०७] यही त्रिपुरा षोडशी कहलाती है, क्योंकि साधकों के निकट यह सर्वदा षोडशवर्षीया युवती के रूप में समुपस्थित रहती है।

कौलदर्शन का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र है। इसका विस्तृत विवेचन यहाँ संभव नहीं। इसके कतिपय सिद्धान्तों का विवेचन यत्र-तत्र इस प्रबन्ध में किया जाएगा, क्योंकि त्रिकदर्शन का इस दर्शन से बड़ा प्रगाढ़ सम्बन्ध है। इसके मनीषी विद्वज्जन भी इसे याथार्थ्य से जानने में भूल करते हैं। यही कारण है कि इसके विषय में अनेक भ्रान्तियाँ लोक और शास्त्रों में प्रचलित हैं। उनका निराकरण होना चाहिए। सम्भवतः कालान्तर में कोई धीर पुरुष कृत संकल्प होकर इस दिशा में अग्रसर हो और इस दुष्कर कार्य का सम्पादन करे। कौल दर्शन अद्वैतवाद के साथ भक्ति का मनोहारी समन्वय उपस्थित करता है। यही इसकी विशेषता है। यह वह महनीय दर्शन है जहाँ भोग, योग बनकर उपस्थित हुआ है। पाप भी पुण्य बन जाता है और संसार मोक्ष का आनन्द प्रदान करता है।[१०८]

सम्प्रदाय के भेद

शिव की उपासना भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। यजुर्वेद का शतरुद्रिय अध्याय, तैत्तिरीय आरण्यक[१०९] श्वेताश्वतर उपनिषद्[११०] अथर्व-शिरसोपनिषद् महाभारत और वामन पुराण[१११] में आगत शिव के नाम और स्तुति

---

१०७. अनादि निधनं ब्रह्मं शब्द तत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ प्रक्रिया जगतो यतः। —वाक्यपदीयम् १/१

१०८. भोगो योगयते सम्यक् पाठकं सुकुतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्म कुलेश्वरी।। —कुलार्वव तन्त्र

१०९. तैत्तिरीय आरण्यक १०/१६।

११०. श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/११।

१११. वामन पुराण ६/८६-९१।

से शिवपूजा की प्राचीनता सिद्ध होती है। यह शिव पूजा देश के लगभग सभी प्रान्तों में होती थी।

कालान्तर में शिव की पूजा-पद्धति और सिद्धान्तों में भेद होने लगा। सिद्धान्त-भेद और साधना भेद के कारण शैव विचारकों में कई वर्ग बन गए, जो शैव सम्प्रदाय कहलाने लगे। ये शैव सम्प्रदाय या माहेश्वर सम्प्रदाय चार थे– पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। आजकल पाशुपत और शैव सम्प्रदायों का ही अत्यधिक प्रचार दिखाई देता है। कालामुख और कापालिक सम्प्रदायों का उच्छेद सा प्रतीत होता है। उक्त चार सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय दिया जाना यहाँ प्रासंगिक होगा।

पाशुपत सम्प्रदाय

पाशुपतसम्प्रदाय के आद्य संस्थापक लकुलीश या नकुलीश है। नकुलीश का समय १०५ ई० है। शिव के अष्टादश अवतारों में नकुलीश सर्वप्रथम है। नकुलीश का जन्म भडौंच के निकट कारवन स्थान में हुआ था। राजपूताना और गुजरात में पाशुपतसम्प्रदाय अधिक प्रचलित था। पाशुपतों का एक विशेष वेष था। इनके मस्तक पर केश लहराते हैं। दक्षिण हस्त में बीजपुर का फल तथा वाम हस्त में लगुड़ रहता है। सम्भवतः लगुड़ धारण करने के कारण से लगुडेश कहलाते थे, जो कालान्तर में नकुलीश शब्द से अभिहित होने लगे। पशु और पति इन दो तत्त्वों को प्रमुखता प्रदान करने के कारण पाशुपत कहलाते हैं। वैसे पाशुपतों के अनुसार पांच पदार्थ हैं–कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। इस सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ पाशुपातसूत्र है, जिसके निर्माता साक्षात् महेश्वर है। शशीकर ने इस पर पंचार्थी भाष्य लिखा है। इसके सिद्धान्तों के विस्तृत ज्ञान के लिए पाठकों को काश्मीर सर्वज्ञ कृत गणिकारिका ग्रन्थ देखना चाहिए।

शैवसम्प्रदाय

शैवसम्प्रदाय का अर्थ यहाँ शिव से सम्बन्ध रखने वाला सम्प्रदाय नहीं है। इस आधार पर तो पाशुपत कापालिक आदि अन्य सम्प्रदायों में भी भेद नहीं हो सकेगा। अतः शैवसम्प्रदाय के शैवसिद्धान्त, वीर, शैव तथा प्रत्यभिज्ञा आदि के सिद्धान्तों में आस्था रखने वाले सम्प्रदायों का ग्रहण किया जाना चाहिए। शैव सम्प्रदायों में उपर्युक्त शैवसिद्धान्त वीर, शैव, प्रत्यभिज्ञा आदि सम्प्रदायों का समावेश हो जाता है। आगे चल कर इन सम्प्रदायों में विभिन्न दार्शनिक मान्यताएं उदित हो गयी, जिनकी चर्चा आगे की जायेगी।

"शैव सिद्धान्त" तामिल प्रदेश में प्रचलित है। वीर शैव का प्रचार कर्नाटक में अधिक है तथा प्रत्यभिज्ञा मत का केन्द्र स्थल काश्मीर है।

उपर्युक्त शैव मतों के मूल आधारभूत ग्रन्थों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है–शैवागम, स्पन्द, शास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। प्रमुख आगम इस प्रकार है-कामिक, योगज, चिन्तक, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्त्र, अंशुमान, सुप्रभेद, विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, अनलभैरव, मुकुट, विमल, चन्द्रज्ञान, बिम्ब, प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, संतान, सवोत्तर, परमेंश्वर, परमेश्वर किरण वातुल। वसुगुप्त की स्पन्दकारिका स्पन्द शास्त्र का मूल ग्रन्थ है। शिवसूत्र भी उन्हीं की रचना है। प्रत्यभिज्ञा का मूल आधार सोमानन्द की शिव दृष्टि है। त्रिकदर्शन इसी प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की देन है। जिसे अभिनव गुप्त ने तन्त्रालोक में परिपुष्ट किया।

कालामुख और कापालिक

आजकल शैवों के ये दोनों सम्प्रदाय भारत से प्रायः उच्छिन्न हो गए है। इसका कारण यह है कि इनकी साधना और आचार पद्धति आपात रूप से वीभत्स और भयानक प्रतीत होती है। वस्तुतः ऐसा है नहीं। बात वास्तव में यह है कि कापालिकों और कालामुख शैवों की साधना के समस्त क्रिया-कलाप अत्यन्त गोपनीय और प्रतीकात्मक है। उनका समझना विरल विद्वानों के लिए ही सुकर है। साधारण पाठक इन्हें समझ नहीं सकते। इनकी क्रियाओं को गुप्त रखा जाना परम आवश्यक है। इसी गोपनीयता के कारण ये दोनों सम्प्रदाय समाप्त हो गए। क्योंकि आपात रूप से इनकी क्रियाएं घृणित प्रतीत होती थी। जैसे-कापालिक षट् मुद्राएं धारण करते थे–कर्णिका, रूचक, कुण्डल, शिखमणि, भस्म और यज्ञोपवीत कालामुख सम्प्रदाय में इससे भी वीभत्स चिह्न धारण किए जाते थे। जैसे-कपाल पात्र भोजन, शैव के भस्म से स्नान करना, भस्म को खाना, लगुड़ धारण करना तथा पास में मदिरा को रखना आदि। मत्त-विलास प्रहसन में एक कापालिक कहता है।[११२] कि मदिरा पीनी चाहिए और प्रियतमा का मुख देखते रहना चाहिए। ललित और विकृत दोनों प्रकार के वेषों का धारण करना चाहिए। इस प्रकार जिसने मोक्ष-मार्ग दिखाया वह भगवान् शिव दीर्घायु हो। जो लोग इन क्रियाओं के रहस्यों को समझते थे, वे गुप्त रखते थे। वे इनके रहस्यों को साथ लेकर ही काल-कवलित हो गए। जो इनका रहस्य नहीं जानते थे वे इनके सेवन

११२. पेया सुरा प्रियतमा मुख मीक्षितव्यं धार्यः स्वभावं ललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृश मदर्श्यत मोक्ष वर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाक पाणिः।।

में सांसारिक सुख लेते हुए समाज में निर्लज्ज कहलाने लगे। फलतः इसकी लोकप्रियता समाप्त हो गयी।

कालामुखों का यह वामाचार वस्तुतः पवित्र और उत्कृष्टतम होने पर भी अनाचार का सूचक बन गया। यही कारण रहा है कि साधकों की नासमझी के कारण यह वामाचार मुक्ति मार्ग का परित्याग करके सांसारिक मारण, मोहन, उच्चाटन आदि सिद्धियों का साधन बन गया। केवल विषय-भोग ही इसका लक्ष्य रह गया। इस दुरुपयोग के कारण ये दोनों सम्प्रदाय संसार से उठ गए। वैसे इनका सर्वथा उच्छेद तो नहीं हुआ। अब भी कहीं-कहीं अघोर कापालिक मिल जाते हैं। कहीं एक समाज था जब भारत में इनका प्राधान्य था। राजा भी इनके प्रभाव को स्वीकार करते थे।

पाशुपत दर्शन के सिद्धान्त

पाशुपत दर्शन का मूलाधार पांच पदार्थों पर हैं, कार्य कारण, योग, निधि और दुःखान्त। पाशुपत शब्द पशुपति से बना है, जैसा कि लिंग पुराण में कहा है कि जिस प्रकार हमारे लिए गाय, भैंस आदि पशु हैं, उसी प्रकार महेश्वर के लिए सारे प्राणिमात्र पशु है, क्योंकि सबों में ज्ञान का अभाव का अभाव है, पशु की तरह आचरण है। इन पशुओं के पति महादेव हैं, अतः वे पशुपति कहलाते हैं।[११३]

पाशुपत दर्शन में प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि गुरु के प्रति शिष्य प्रश्न हो चुका है, यह अथ शब्द का अर्थ है। शिष्य का प्रश्न है कि त्रिविध दुःखों का सर्वथा विनाश कैसे हो? सर्वदर्शन संग्रह में इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है कि आठ (८) पंचक अर्थात् पांच-पांच अवान्तर भेदों से युक्त गण जानने योग्य हैं। एक-एक गण तीन अवान्तर भेदों का है। इन नौ गणों का ज्ञाता और जो संस्कार करने वाला हो वह गुरु कहलाता है।[११४] नव गणों का ज्ञाता गुरु है-इन गणों में प्रयोग में प्रथम आठ पंचक है, अर्थात् इनमें प्रत्येक के पांच-पांच अवान्तर भेद हैं।[११५] जिनकी गणना नीचे की गयी है-

११३. ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः।
पशवः परिकीर्त्यन्ते समस्ताः पशुवर्तिनः।। —लिंग पु०

११४. पञ्चकास्त्वष्ट विज्ञेया गणश्चैकस्त्रिकात्मकः।
वेत्ता नवगणस्यास्य संस्कर्त्ता गुरुरूच्यते।। —सर्व दर्शन संग्रह

११५. लाभा मला उपायाश्च देशावस्थाविशुद्धयाः।
दोक्षाकारिबलान्यष्टौ पञ्चकारस्त्रीणि वृत्तयः। —सर्व दर्शन सं०

१. **लाभ**–ज्ञान, तपस्, नित्यत्व, स्थिति, शुद्धि।

२. **मल**–मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्ति हेतु, च्युति, पशुत्वमूल।

३. **उपाय**–वासचर्या, जप, ध्यान, रुद्रस्मृति, प्रपत्ति।

४. **देश**–गुरु, जन, गुहादेश, श्मशान, रुद्र।

५. **अवस्था**–व्यक्ता, अव्यक्त, जया, दान, निष्ठा।

६. **विशुद्धि**–प्रत्येक मल की हानि, जैसे-मिथ्याज्ञान हानि, अधर्महानि आदि।

७. **दीक्षाकारिन**–द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति, गुरु।

८. **बल**–गुरुभक्ति, बुद्धि प्रसाद, द्वन्द्वजय, धर्म, अप्रमाद।

९. **वृत्ति**–जीविकोपाय-भिक्षा, उत्सृष्टग्रहण, यथालब्ध ग्रहण।

अत: शब्द के द्वारा दु:खान्त का प्रतिपादन होता है, क्योंकि इस शब्द से आध्यात्मिक आदि तीन दु:खों के विनाश के लिए प्रश्न करना व्यक्त होता है। जब शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया कि दु:खान्त कैसे हो तब इसका उत्तर देने के लिए गुरु तैयार हुए और बोले-इसलिए......। अब यहाँ 'इसलिए' के द्वारा दु:खान्त के लिए बोध हो गया। पांच पदार्थों में दु:खान्त भी एक है। जिसकी ध्वनि प्रथम सूत्र में मिलती है। यही नहीं अन्य पदार्थ भी इस सूत्र से ध्वनित हो जाते हैं।

'पशु' शब्द के द्वारा कार्य का प्रतिपादन होता है, क्योंकि वह परतन्त्र होता है, पशु पति के वश में रहता है और कार्य कारण के अधीन है। इस समानता से दोनों की एक रूपता सिद्ध हो जाती है। 'पति' शब्द से कारण का बोध होता है, क्योंकि ईश्वर शासन करने वाला पति है इस वाक्य में संसार के कारण स्वरूप ईश्वर का वर्णन है। पति शब्द से ईश्वर का बोध होता है और ईश्वर संसार का कारण है। अत: पति के द्वारा कारण की ध्वनि निकलती है। योग और विधि तो अपने आप में स्पष्ट है।[११६]

दुखान्त को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दुखान्त दो प्रकार का होता है–अनात्मक और सात्मक। अनात्मक दु:खान्त उसे कहते हैं कि जिसमें सभी दु:खों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाए। सात्मक दु:खान्त वह है जिसमें दृक्शक्ति और

११६. आध्यात्मिकादि दु:खत्रयव्यपोह प्रश्नार्थत्वात्तस्य। पशुशब्देन कार्यस्य। परतन्त्र वचन त्वात्तस्य। पतिशब्देन कारणस्य 'ईश्वर: पतिरीशिता' इति....योगविधा तु प्रसिद्धा।।
--सर्व द० भा०, पृ० २५९

क्रियाशक्ति से युक्त (लक्षित) ऐश्वर्य की भी प्राप्ति हो। दृक्शक्ति बुद्धि या ज्ञान की शक्ति यद्यपि एक है, किन्तु विषयों की विभिन्नता के कारण पांच प्रकार से युक्त की जाती है–दर्शन, श्रवग, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञता।[११७]

अनात्मक दु:खान्त बिल्कुल निषेधात्मक है, क्योंकि इसमें केवल दु:ख की निवृत्ति ही होती है। दु:ख की निवृत्ति के बाद ऐश्वर्य की प्राप्ति सात्मक दु:खान्त में होती है। ऐश्वर्य मिलने में भी दो प्रकार की शक्तियाँ मिलती हैं–दृक् शक्ति या जानने की शक्ति तथा क्रियाशक्ति या कार्य के रूप में दिखाने की शक्ति। यही दु:खान्त का आशय है।

सर्वदर्शनकार ने कार्य को समझाते हुए कहा है कि जो कुछ अस्वतन्त्र (परतन्त्र) है वह सब कार्य कहलाता है, और वह तीन प्रकार का होता है–विद्या, कला और पशु। जीव-जड़, वर्ग अपने-अपने गुणों के साथ कभी स्वतन्त्र नहीं है। गुण अपने-अपने आश्रयों के अधीन है, जड़ पदार्थ जीवों के अधीन हैं। जीवों में भी एक दूसरे की पराधीनता देखी जाती है-स्त्री पति के अधीन, नौकर अपने स्वामी के अधीन, प्रजा राजा के अधीन आदि। परमेश्वर के अधीन तो सभी हैं। पाशुपत-दर्शन में जीव को पशु कहते हैं, जीवों के गुणों को विद्या और गुण सहित पृथिवी आदि जड़ द्रव्यों को कला कहते हैं। इन भेदों के ज्ञान से संशय आदि की निवृत्ति होती है। इनमें पशुओं के गुण को विद्या कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं-बोध स्वभाव और अबोध स्वभाव वाली विद्या।[११८]

कारण और योग को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-सारी वस्तुओं की सृष्टि संहार और अनुग्रह करने वाले तत्त्व को कारण (ईश्वर) कहते हैं।[११९] यद्यपि यह एक ही है फिर भी गुण और कर्म के भेदों की अपेक्षा रखने के कारण इसके विभाग भी कहे गये हैं–पति आद्यगुण से युक्त है.......इत्यादि। इस सूत्र में पति

---

११७. दु:खान्तो द्विविध:-अनात्मक: सात्मकश्चेति। तत्रानात्मक: सर्वदु:खानामत्यन्तोच्छेद-रूप:। सात्मकस्तु दृक्क्रिया शक्ति लक्षणमैश्वर्यम्। तस्य विषय भेदात्पञ्चविधो पचर्यते-दर्शन, श्रवणं, मननं, विज्ञानं, सर्वज्ञत्वं, चेति। –सर्व दर्शन सं०, पृ० २६०

११८. अस्वतन्त्र सर्वं कार्यम्। तत्त्रिविधं-विद्या कला पशुश्चेति। एतेषां ज्ञानात्संशयादिनिवृत्तिः। तत्र पशुगुणो विद्या। सापि द्विविद्या-बोधाबोधस्वभावभेदात्। –सर्वद०सं०, पृ० २६२

११९. समस्तसृष्टि संहानुग्रहकारि कारणम्। तस्यैकस्यापि गुणकर्मभेदापेक्षया विभागः उक्तः 'पतिः साद्यः' इत्यादिना।

–सर्व दर्शन संग्रह, पृ० २६४

का अर्थ है—निरतिशय दृक्‌शक्ति और क्रिया शक्ति से युक्त होकर उसी ऐश्वर्य के द्वारा नित्य सम्बन्ध धारण करना। आद्य का अर्थ ऐसे ऐश्वर्य से सम्बद्ध होगा, जो आगन्तुक या आकस्मिक न हो (प्रत्युत नित्य हो)।

योग को बताते हुए कहा है कि चित्त (जीव के बोधात्मक गुण-विशेष) के द्वारा जीव का ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध होता है उसके कारणों को योग कहते हैं।[१२०] यह भी दो प्रकार का होता है-क्रिया से युक्त और क्रिया की निवृत्ति वाला। जप, ध्यान आदि के रूप में जो योग अर्थात् जीवेश्वर सम्बन्ध कराने वाला है, उसे क्रियायुक्त योग कहते हैं क्योंकि इसमें कुछ काम करना पड़ता है। क्रिया की निवृत्ति वाला योग वह है, जिसकी संज्ञाएं निष्ठा, संवित् (तत्त्वज्ञान, गति (शरणागति) आदि हैं।

विधि का निरूपण करते हुए सर्वदर्शनकार कहते हैं कि धर्म (महेश्वर) रूपी अर्थ (लक्ष्य) की सिद्धि करने के लिए महेश्वर के समीप पहुँचाने के लिए जो भी व्यापार या कर्म करें, वह विधि है। विधान होने के कारण इसे विधि कहते हैं। इसके दो भेद हैं—प्रधान विधि और गौण विधि।

प्रधान विधि वह है जो साक्षात् धर्म का कारण हो, उसे चर्या भी कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं-व्रत और द्वार।[१२१]

चर्या के अनुग्रहक (सहायक) अनुस्नान आदि को गौण विधि कहते हैं। इसका प्रयोग इसलिए होता है कि भिक्षान्न भोजन, उच्छिष्ट-भोजन आदि के द्वारा शरीर में जो अयोग्या आ जाती है, उसका निवारण इस विधि के द्वारा ही होता है। सूत्रकार ने यह भी कहा है—अनुस्नान, निर्माल्य और लिङ्ग का धारण करने वाला पवित्र होता है।[१२२]

इस दर्शन के अनुसार निरपेक्ष ईश्वर की कारणता को सिद्ध करते हुए

१२०. चित्तद्वारेणेश्वर सम्बन्ध हेतुर्योगः (पाशु०सू० ५/२)। स च द्विविधः क्रियालक्षणः, क्रियोपरमलक्षणश्चेति। तत्र जपध्यानादिरूपः क्रियालक्षणः क्रियोपरमलक्षणस्तु निष्ठा संविद् गत्यादिसंज्ञितः। —सर्व दर्शन संग्रह, पृ० २६५

१२१. धमार्थ साधक व्यापारो विधिः। च द्विविधः प्रधान भूतो गुणभूतश्च। तत्र प्रधानभूतः साक्षाद्धर्म हेतुश्चर्या। सा द्विविधा-व्रतं द्वाराणि चेति। --सर्व दर्शन सं० पृ० २६५

१२२. गुण भूतस्तु विधिश्चर्यानुग्राहकोऽनुस्नानादि भैक्ष्योच्छिष्टादिनिर्मिता योग्यता प्रत्यय निवृत्यर्थः। तदप्युक्तं सूत्रकारेण-अनुस्नान निर्माल्यलिङ्गधारीति।
—सर्व दर्शन सं०, पृ० २६७

सर्वदर्शन में कहा है कि ईश्वर की इच्छा से अनुगृहीत होने पर ही कर्म की सफलता निर्भर करती है। ईश्वर की इच्छा से सम्पादित न होने पर कभी-कभी ययाति आदि पुरुषों के कर्म की तरह हमारे कर्म भी निष्फल हो सकते हैं। ईश्वर तो कर्म से निरपेक्ष रहकर ही जगत्कारण बनता है, किन्तु कर्म को हरेक दशा में ईश्वरसापेक्ष होना पड़ता है। कृषि-कर्म में अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य मेघ पर निर्भर है, किन्तु मेघ कृषि-कर्म से निरपेक्ष है। जीव तीन प्रकार का कर्म करता है–कुछ कर्मों से ईश्वर प्रसन्न होता है, कुछ कर्मों से क्रुद्ध होता है और कुछ कर्मों पर उदासीन रहता है। प्रथम दो कर्म तो फल देते ही है, भले ही वह अच्छा फल हो या बुरा। किन्तु अन्तिम कर्म निष्फल होता है। जिस कर्म को वह अनुगृहीत या स्वीकार नहीं करता, उसका फल नहीं मिलता। फिर भी इससे कोई क्षति नहीं है। इससे कर्म के निष्फल होने पर भी कर्मों में अप्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि किसान आदि के उदाहरणों से इसकी पुष्टि हो जाती है। ईश्वर की इच्छा के अधीन ही पशुओं की प्रवृत्ति होती है।[१२३]

द्वितीय विकल्प को प्रस्तुत करते हैं कि ईश्वर में प्रयोजन न होना ही कर्म की विफलता का कारण है, यह विकल्प भी ठीक नहीं है। परमेश्वर की सारी कामनाएं परिपूर्ण है, अतः कर्म के द्वारा उत्पन्न होने वाले प्रयोजन की उसे अपेक्षा नहीं रहती। ईश्वर कर्म निरपेक्ष है, कर्म-सम्बन्धी कोई भी इच्छा उसमें नहीं हैं। इस प्रकार कर्म की विफलता का कोई कारण नहीं है। निरपेक्ष ईश्वर की कारणता पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

परमेश्वर की शक्ति अचिन्तनीय है, उसकी क्रियाशीलता अव्याहत हैं जो उसकी इच्छा का ही अनुसरण करती है। परमेश्वर की इस शक्ति में कोई भी कार्य करने की शक्ति है।[१२४] सम्प्रदाय के वेत्ताओं ने कहा कि–वह ईश्वर कर्मादि से निरपेक्ष स्वतन्त्र है अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने वाला है। इसी कारण से शास्त्र में उसे सभी कारणों का कारण कहा गया है।[१२५]

---

१२३. ईश्वरेच्छानुगृहीतस्य कर्मणः सफलत्वोपपत्तेः। तदननुगृहीतस्य ययाति प्रभृति कर्मवत् कदाचिन्निष्फलत्व संभावाच्च। न चैतावता कर्मसु अप्रवृत्तिः। ईश्वरेच्छायतत्त्वाच्च पशूनां प्रवृत्तेः। –सर्व दर्शन संग्रह, पृ० २७०

१२४. परमेश्वरस्य पर्याप्त कामत्वेन कर्मसाध्य प्रयोजनापेक्षाया अभावात्। यदुक्तं समसमयसमुत्पाद इति तदप्ययुक्तम्। अचिन्त्य शक्तिकस्य परमेश्वरस्य इच्छानुविधायिन्या अव्याहतक्रियाशक्त्या कार्य कारित्वाभ्युपगभात्।–सर्व दर्शन संग्रह, पृ० २७१।

१२५. कर्मादि निरपेक्षस्तु स्वेच्छाचारी यतो.....सर्वकारणाकारणम्।। –सर्व दर्शन सं०

ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति के बारे में बताते हुए कहा है कि दूसरे दर्शनों में भी तो ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष मिलता ही है, इस पाशुपातदर्शन में भी यही प्रतिपादित किया है कि महादेव देवताओं का राजा है, केवल इसी ज्ञान की उत्पत्ति से ही मोक्ष की सिद्धि हो जायेगी, शास्त्रों का अभ्यास करना निष्फल है। दूसरे विकल्प को असिद्ध करते हुए कहा है कि अनेक प्रकार के मलों के समूह से भरे हुए तथा मांस की आंखों वाले पशु (जीव) परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकेंगे, यह असम्भव है।[१२६]

तीसरे विकल्प को स्वीकार करने पर तो फिर हमारे ही दर्शन में आना पड़ेगा। पाशुपतशास्त्र के बिना तत्त्वों का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। इसी बात को आचार्यों ने कहा है--यदि ज्ञान मात्र से (मोक्ष) मिलता है, तो शास्त्र व्यर्थ हो, जायेंगे। ईश्वर का साक्षात् दर्शन करना दुर्लभ ही है, तत्त्वों का यथार्थ निश्चय पञ्चार्थ पांच पदार्थों का प्रतिपादक पाशुपतशास्त्र के बिना हो ही नहीं सकता। इसलिए पुरुषार्थ की कामना करने वाले उत्तम पुरुषों को पांच पदार्थों का प्रतिपादन करने वाले पाशुपतशास्त्र का आश्रय लेना चाहिए।[१२७] यही इस दर्शन का आशय है।

---

१२६. देवानामधिपो महोदव:; ज्ञानोत्पत्तिमात्रेण मोक्ष सिद्धौ शास्त्राभ्यासवैफल्यप्रसङ्गत्।
अनेक मल प्रचयोपचितानां पिशितलोचनानां पशूनाम् परमेश्वरसाक्षात्कारानुपपत्ते:।।
—सर्व द०सं०, पृ० २७२

१२७. ज्ञानमात्रे वृथा शास्त्रं साक्षात् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चार्थादन्यतो नास्ति यथावत्तत्वनिश्चय:।। —सर्व दर्शन संग्रह, पृ० १०

अष्टम अध्याय

प्रत्यभिज्ञा

महेश्वर सम्प्रदाय के कुछ अन्य दार्शनिक शैवदर्शन से असंतुष्ट रहे हैं। जो प्रयोजन शून्य जड़ पदार्थों को कारण माना गया है, उसको वह दोषपूर्ण मानते हैं। वसुगुप्त ने लगभग ८२५ ई० में अपने शिवसूत्र में तांत्रिक शैवमत को अद्वैतवादी रूप दिया। राजतरंगिणी में इन्हें सिद्ध किया गया है तथा इनके शिष्य कल्लट को अवन्ति वर्मा का समकालिक माना गया है। क्षेमराज ने शिवसूत्र विमर्दिनी में कहा है कि वसुगुप्त को स्वप्न हुआ था कि वह महादेव गिरि के एक विशाल शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण शिवसूत्रों का उद्धार करें। ये ७७ शिवसूत्र ही उस दर्शन के मूल हैं, जो तीन खण्डों में बंटे हैं। इन्होंने और भी कई पुस्तके लिखीं, जैसे– स्पन्दकारिका, स्पन्दामृत, गीता की वावी टीका तथा सिद्धान्त--चन्द्रिका। कल्लट ने ८५५ ई० में स्पन्दकारिका पर स्पन्दसर्वस्व टीका लिखी तथा तत्त्वार्थ-- चिन्तामणि और स्पन्दसूत्र भी इनके लिखे ग्रन्थ है। रामकण्ठ (९५० ई०) ने स्पन्दविवरण सारमात्र नामक ग्रन्थ लिखा, जो स्पन्दकारिका की टीका है। भास्काचार्य अभिनव के समकालिक के साथ स्पन्द शाखा का इतिहास समाप्त होता है। परनतु अभिनव के बाद कुछ न कुछ टीकाएं लिखी गई।

प्रत्यभिज्ञा शाखा का प्रवर्तन सोमानन्द (८५० ई०) ने अपनी शिवदृष्टि के द्वारा किया। इसमें सात अध्यायों में ७०० श्लोक हैं। स्पन्दशाखा में प्रचलित रूढ़िवाद के विरुद्ध इसमें तर्कवाद की प्रतिष्ठा हुई है। इनके पुत्र और शिष्य उत्पल (९०० ई०) थे, जिन्होंने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा–वृत्ति, ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा टीका, सतोत्रावली आदि प्रायः ११ ग्रन्थ लिखे। प्रत्यभिज्ञा का दार्शनिक विवेचन सर्वप्रथम इन्होंने किया। लक्ष्मणगुप्त उत्पल के पुत्र और शिष्य भी थे जिन्हें अभनवगुप्त (९५०-१०२० ई०) के समान बहुमुखी प्रतिभा वाले शिष्य को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है। अभिनवगुप्त का नाम दर्शन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में प्रसिद्ध हैं।

प्रत्यभिज्ञा के दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए सर्वदर्शन संग्रह में स्पष्ट किया है कि ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति का ज्ञान स्वतः सिद्ध है। जीवों में जो ज्ञान शक्ति है वह सीमित है, तथा देश, काल और वस्तुओं की उपाधियों के द्वारा सीमित है। वह विभिन्न ज्ञेय पदार्थों का पता लगाने पर उसी क्रम से निरूपित है। यही ज्ञान शक्ति प्रमाता सर्वज्ञ महेश्वर है जब कि उपाधियों से रहित होने पर क्रम से रहित, आनन्द और चित् के रूप में यह प्रकट होती है। जीव के ज्ञान में उपाधियाँ है, ईश्वर की ज्ञानशक्ति निरूपाधिक है, आनन्द स्वरूप है, और चिद्रूप है। यह शुद्ध ज्ञान शक्ति है।[१]

जिस प्रकार सूर्यादि के प्रकाश से बहुत सी चीजें प्रकाशित होती हैं, उनका ज्ञान हमें प्राप्त होता है। उसी प्रकार महेश्वर आभासित होता है तो मोहवश हमें दिखलाई नहीं देता है। यह एकता तभी सिद्ध होगी जब हम उपाधिहीन प्रकाशों में भेद न मानें। यह एकमात्र प्रकाश ही सभी वस्तुओं का प्रमाता है। वही (प्रकाश, ज्ञान) एक निश्चित विमर्श (ज्ञान-क्रिया शक्ति) के कारण महेश्वर कहलाता है, क्योंकि देव-देवता महेश्वर के विमर्श का अर्थ ही है शुद्ध ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का होना मानते हैं।[२]

इनमें ज्ञान उसे कहते हैं जिनके द्वारा वस्तुओं का प्रकाश हो। अपने आप से ही समूचे संसार का निर्माण करना क्रिया कहलाता है। ईश्वर के गुणों के पर्यायों में 'विमर्श' शब्द आया है जिसका अर्थ–ईश्वर के विमर्श का अनवच्छिन्न होना।

संसार की रचना ईश्वर की इच्छा से ही होती है। जब ईश्वर चाहता है कि अपनी क्रियाओं के रूप में अवस्थित रहूँ–एक होकर भी बहुत से रूपों में हूँ, तब भाव छः विकारों (जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति)–और उनके नाना प्रकार के भेदों के रूप में संसार की रचना हो जाती है। वस्तुतः क्रिया तो एक ही है–ईश्वर की इच्छा, परन्तु उसके विकार इतने प्रकार के हो जाते

---

१. तत्र ज्ञानं स्वतः सिद्धं क्रिया कार्याश्रिता सती।
परैरप्युपलक्ष्येत् तथान्यज्ञानमुच्यते।। –सर्वदर्शन संग्रह का०
या चैषां प्रतिभा तत्तत्पदार्थे क्रमरूपिता।
अक्रमानन्दचिद्रूप: प्रमाता स महेश्वरः।। –सर्वद० सं० का०

२. स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।। –सर्वद० सं० का० १३



हैं कि क्रियायें हजारों-हजारों हो जाती हैं। महेश्वर की इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसी से विकास होता है, जिसका अन्त विनाश में है। इस प्रकार संसार की रचना के लिए किसी उपादान की आवश्यकता नहीं। यह केवल ईश्वर की एक शक्ति क्रिया अर्थात् इच्छा से ही उत्पन्न हो जाता है। इसे इस दर्शन के आरम्भ में भी कह चुके हैं। केवल इच्छा से संसार की रचना मानने के लिए सांसारिक बुद्धि प्रस्तुत नहीं होती। इसी के कारण त्रिकदर्शन की पृष्ठभूमि में तान्त्रिक मत है। तन्त्र के प्रभाव से इच्छामात्र से क्षणभर में बहुत सी चीजें उत्पन्न हो जाती है। अभिनवगुप्त स्वयं भी एक बड़े तान्त्रिक थे। इसके बिना कोई लौकिक दृष्टान्त देना असम्भव है।[3]

सर्व दर्शनकार कहते हैं कि केवल इच्छा करने से ही संसार का निर्माण हो जाता है, विषय में लौकिक दृष्टान्त भी तो स्पष्ट रूप से ही दिया गया है योगी लोग भी मिट्टी और बीज के बिना ही केवल इच्छा करके घट और अंकुर उत्पन्न कर देते हैं।[4]

कुछ लोग कहते हैं कि उपादानकारण के बिना घट आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती और उधर योगी अपनी इच्छा से परमाणुओं का संचालन करके उनका नवीन संघटन करता है, ऐसे लोगों को भी यह जानना चाहिए कि यदि कार्य-कारण सम्बन्ध का सुस्पष्ट उल्लंघन विपर्यय नहीं हो रहा हो, अर्थात् योगियों की इच्छा के बाद ही कार्य संपादित नहीं होकर विलम्ब से हो तब तो कार्य के उत्पादन के लिए सभी कारणों के व्यापारों की अपेक्षा रहेगी ही; घट के लिए मिट्टी, डण्डा, चाक आदि की आवश्यकता होगी, शरीर-निर्माण के लिए स्त्री-पुरुष के संयोग आदि की आवश्यकता होगी। ऐसा करने पर योगी की इच्छा के तुरन्त बाद में उत्पन्न होने वाले घट, देहादि की सम्भावना करना बिल्कुल असंगत ही हो जाएगा।[5]

जीव और संसार के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए कहा गया है कि जब

---

३. तेन जगद्गतजन्मस्थित्यादिभावविकारतत्तद्भेदक्रिया सहस्ररूपेण स्थातुमिच्छोः स्वतन्त्रस्य भगवतो महेश्वरस्येच्छैव उत्तरोत्तरमुच्छूनस्वभावा क्रिया विश्वकर्तृत्वं वोच्यत।
—सर्वद० संग्रह० ३१३

४. योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन यत्।
घटादि जायते तत्तत्स्थिरभावक्रियाकरम्।। —सर्वद० सं० का० १७

५. नोपादानं विना घटाद्युत्पत्तिरिति, योगी त्विच्छया परमाणून्व्यापारयन् संघटयतीति तेऽपि बोधनीयाः यदि परिदृष्टकार्यकारता.....एव स्यात्। —सर्वद० सं०, पृ० ३१५

प्रत्यगात्मा को परमेश्वर से अभिन्न ही मानते हैं तो जीव का सम्बन्ध संसार से कैसे होगा? इसका उत्तर उसी दर्शन में आगमों का वर्णन करने वाले परिच्छेद में हुआ है-'यह प्रमाता-ज्ञाता-जीव माया से अन्धा होकर अर्थात् ईश्वर के स्वरूप के विषय में ज्ञान न रहने के कारण कर्म बन्धन में पड़ा हुआ संसार में ही रहता है। विद्या प्रत्यविद्या आदि के द्वारा जब उसे ऐश्वर्य ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कराया जाता है वह ईश्वर ही है। तब चित्त की मूर्ति बनकर वह मुक्त कहलाता है। यही जीव और संसार का सम्बन्ध है कि मुक्ति के पूर्व तक जीव इस संसार में ही विचरण करता रहता है।[६]

दूसरा प्रश्न उठाते हुए कहा है कि प्रमेय पदार्थ प्रमाता से अभिन्न होता है तब प्रमेय को लेकर बद्ध और मुक्त जीवों में क्या अन्तर होगा? इस प्रश्न को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन की यह मान्यता है कि ईश्वर अपनी 'बहु स्याम' की इच्छा से सम्पूर्ण जगत् के रूप में स्वयं ही आविर्भूत होता है। इस प्रकार जीव तो परमेश्वर से अभिन्न है ही, पृथ्वी आदि प्रमेय पदार्थ भी ईश्वर से अभिन्न हीं है। किसी में कोई भेद-भाव नहीं। परिणाम यह होगा कि प्रमेय और प्रमाता जीव में भी एकता या अभिन्नता हो जाएगी।[७]

सर्वदर्शनकार ने प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता नहीं है। इस पर प्रश्न करते हुए कहा है कि परमेश्वर हो जाना यदि आत्मा का स्वाभाविक गुण ही है तो प्रत्यभिज्ञा की प्रार्थना करना तो निरर्थक ही नहीं है?

उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा है कि अर्थ क्रिया दो प्रकार की होती है—एक तो बाह्य जिसमें अंकुर आदि आते हैं, तथा दूसरी आन्तरिक जिसमें ज्ञाता को विश्राम मिल जाने के कारण अपूर्व आनन्द मिलता है तथा जो प्रीति, संतोष आदि के रूप में प्रकट होती है। जब बीज अंकुर उत्पन्न करता है, तब भी एक अर्थ क्रिया होती है। किन्तु यह बाह्य जगत् से बंधी होने के कारण बाह्य अर्थ क्रिया है। जब पुत्र जन्म का समाचार सुनने पर आनन्द उत्पन्न होता है, तब

---

६. एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्म बन्धनः।
विद्यादिज्ञापितैश्वर्याश्चिद्घनोमुक्त उच्यते।। —सर्वद० सं० का० १९

७. ननु प्रमेयस्य पुमात्रभिन्नत्वे बद्धमुक्तयोः प्रमेयं प्रति को विशेषः तत्त्वार्थसंग्रहाधिकारे-मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते। महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत्।
—सर्वद० स० का० २०

आभ्यन्तर अर्थक्रिया होती है–यह क्रिया सफल हुई किन्तु अन्तर्जगत् में। ज्ञाता जीव जब बाहिरी-भीतरी कामों से छुट्टी पा लेता है, तब इससे उत्पन्न चमत्कार या आनन्द आन्तरिक क्रिया का सबसे अच्छा उदाहरण है।[८]

पहली अर्थ क्रिया को तो प्रत्यभिज्ञा साक्षात्कार ज्ञान की आवश्यकता नहीं, किन्तु दूसरी आन्तरिक अर्थक्रिया को तो ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। पूर्व पक्षियों ने जो बीज और अंकुर को शिखण्डी बनाकर खड़ा किया। वास्तव में बाह्य अर्थक्रिया का उदाहरण है, किन्तु पुत्रजन्म की बात सुनने पर ही, कार्य में लगे हुए मन को भी तुरन्त विरत करके कुछ देर तक आनन्द मिलता है। इस प्रकार, यह सिद्ध हुआ कि आन्तरिक प्रत्यभिज्ञा अर्थ क्रिया उत्पादक की प्रत्यभिज्ञा होने पर ही उत्पन्न होती है। आत्मा का साक्षात्कार भी आन्तरिक अर्थ क्रिया ही है, जिसमें ज्ञान होने पर ही फल मिल सकता है।[९]

यहाँ पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन में कहा गया है कि 'मैं ईश्वर हूँ' इस प्रकार के आनन्द से परिपूर्ण, परसिद्धि (मोक्ष) और अपर सिद्धि (अभ्युदय) के लक्षण से युक्त, जीवात्मा के साथ एकता रूपी शक्ति (ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति) की विभूति के रूप में अर्थक्रिया प्राप्त होती है अर्थात् यह अर्थक्रिया भी आन्तरिक ही है, इसलिए आत्मा को अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना आवश्यक है। यही कारण है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन के द्वारा आत्मा को एकत्व ज्ञान कराया जाता है।[१०]

प्रत्यभिज्ञा दर्शन की निरर्थकता का खण्डन किया गया है। यद्यपि आत्मा में ईश्वर का स्वरूप निसर्गतः आभासित होता है तथापि उसकी पहचान करने के लिए कोई माध्यम होना चाहिए। गुरु की बातों से प्रत्यभिज्ञा दर्शन का अध्ययन करके परमेश्वर को पहचान ले तभी आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष हो सकता है। इसलिए प्रत्यभिज्ञादर्शन की आवश्यकता रहेगी।

---

८. ननु आत्मनः परमेश्वरत्वं स्वाभाविकं चेन्नार्थः प्रत्यभिज्ञा प्रार्थनया। न हि बीजमप्रतिज्ञातं सति साहकारिसाकल्येऽङ्कुरं नोत्पादयति। द्वि विधा ह्यर्थक्रिया-बाह्याङ्कुरादिका, प्रमातृविश्रान्तचमत्कारसारा प्रीत्यादिरूपा च। तत्राद्या प्रत्यभिज्ञानं नोपेक्षते।
–सर्व दर्शन सं०, पृ० ३१८

९. इहाप्यहमीश्वर इत्येवं भूतचमत्कारसारा परापरसिद्धि लक्षणजीवात्मैकत्वशक्ति विभूति रूपार्थ क्रियेति स्वरूप प्रत्यभिज्ञानं पेक्षणीयम्। –सर्वद० सं०, पृ० ३१९

१०. यता तु गुरुवचनहिना सर्वज्ञत्वसर्णकर्तुत्वातिलक्षण परमेश्वरोत्कर्ष परामर्शो जायते यदा तल्त्लक्षणमेव पूर्णात्वतालाभः। –सर्वद० सं०, पृ० ३२०

जैसा कि विमर्श में कहा है कि विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाओं के कारण जो नायक नायिका के पास आ गया है, उसके पास ही खड़ा भी है, किन्तु बिना पहचाने हुए वह अपने प्रिय नायक को दूसरे लोगों के समान ही साधारण व्यक्ति समझ लेती हैं, तथा उसके साथ रमण नहीं करती। उसी प्रकार इस संसार में लोगों की आत्मा में यदि विश्वेश्वर के गुणों को जाना नहीं जा सकता तो यह अपने पूर्ण वैभव, ऐश्वर्य को नहीं पा सकता। यही कारण है कि इस प्रत्यभिज्ञा दर्शन की व्याख्या की जाती है।[११]

डॉ० राधाकृष्णन्[१२] प्रत्यभिज्ञा के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यह दृश्यमान् जगत् माया की शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है, जिससे नियति, काल, राग, विद्या और कला रूपी प्रतिबन्ध प्रादुर्भूत होते हैं। मायारूपिणीशक्ति के बल से अनन्त अनुभव अपने-आपको असंख्य अनुभवों अथवा पुरुषों के रूप में प्रकट करता है। किन्तु समस्त प्रतिबन्ध किसी प्रतिबन्धकारी की ओर संकेत करता है। इससे प्रकृति तथा पुरुष में भेद उत्पन्न होता है। इसके आगे का विकास सांख्य वर्णित योजना की पद्धति के ऊपर है। विकास की सब अवस्थाएं एकमात्र परमार्थ शिव की ओर ही ले जाती है। कालचक्र सम्बन्धी संसार के उद्भव तथा तिरोभाव को भी माना गया है। विश्व के अभास की प्रक्रिया निरपेक्ष शिव की निर्मलता को मलिन नहीं करती, क्योंकि वह अपने सब अभिव्यक्त रूपों के ऊपर उठा हुआ है।

चूँकि आत्मा चैतन्य स्वरूप है और जीवात्मा भी वही है जैसाकि विश्वात्मा है, इसलिए आत्माओं के निरपेक्ष अनेकत्व का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। हम में से सबके अन्दर विशुद्ध चैतन्य निवास करता है। यद्यपि मिथ्या उपाधियों के द्वारा यह आवृत्त हो जाता है। हमारा बन्धन अज्ञान के कारण है।[१३] क्षेमराज कहता है कि अनन्त चेतन स्वरूप होकर भी आत्मा यह समझती है कि 'मैं शांत हूँ' स्वतन्त्र होने पर भी यह समझती है कि 'मैं ही शरीर हूँ'[१४] यह भूल जाती

---

११. तैस्तरप्युपयाचित्तै रूपनततस्या स्थितोऽस्यन्तिके।
कान्तो लोकसमान एवं परिज्ञातो न रन्तुंयथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरी।
नैवायं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता।। —ई०प्र० ४/२/२

१२. भारतीय दर्शन, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ६४३।

१३. शिवसूत्र २।

१४. शिवसूत्र १:२ पर टीका करते हुए—क्षेमराज।

है कि शिव से भिन्न जगत् सम्पूर्ण रूप में अयथार्थ है, और यह कि आत्मा तथा शिव एक समान हैं।

यथार्थसत्ता की प्रत्यभिज्ञा की ही मोक्ष के लिए आवश्यक है। यदि जीवात्मा तथा विश्वात्मा एक है तब यह प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रत्यभिज्ञान की क्या आवश्यकता है? माधव इस प्रश्न का उत्तर एक दृष्टान्त से देता है एक कामातुर स्त्री की सन्तुष्टि उसे प्रेमी की उपस्थिति मात्र से ही नहीं हो सकती, किन्तु उसे प्रेमी को उसी रूप में अनुभव करना आवश्यक है। अज्ञान के बन्धन पर विजय केवल इसी प्रत्यभिज्ञा से प्राप्त हो सकती है। जब आत्मा को ईश्वर के रूप में पहचान लेती है तब वह ईश्वर के साथ ऐक्यभाव के अलौकिक परमाह्लाद में निवास करती है। स्पन्दसम्प्रदाय के अनुसार आत्मा प्रगाढ़ योग सम्बन्धी चिन्तन के द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है, विश्व में शिव की श्रेष्ठता को पहचानती तथा शान्ति और मौन की अलौकिक समाधि में लीन हो जाती है।

अभिनव गुप्त के अनुसार मुक्त आत्माओं के तीन वर्ग हैं, एक वे जो सर्वोपरि सत्ता में समा गए हैं, दूसरे वे जो उससे उसके व्यक्त रूप में संयुक्त है, (अपर मुक्त) और तीसरे वर्ग के वे जो अभी शरीर धारण किए हुए है, (जीवन्मुक्त)। मुक्तात्मा सर्वोपरि सत्ता के साथ एकाकार हो जाता है, क्योंकि यह माना गया है कि "मुक्तात्मा से भिन्न ऐसी कोई सत्ता नहीं है कि जिसकी उसे स्तुति करनी है या पूजा करनी है।[१५] जब इस प्रकार द्वैत की कल्पना समाप्त हो गई तो जीवात्मा भ्रान्ति रूप माया के ऊपर आधिपत्य प्राप्त कर लेती है और वह ब्रह्म में विलीन हो जाती है। जिस प्रकार जल-जल में दूध-दूध में घुल मिल जाता है।[१६]

शाक्त सम्प्रदाय

सर्वप्रथम शक्ति की पूजा का प्रारम्भ ऋग्वेद में मिलता है।[१७] एक ऋचा में शक्ति को ऐसी शरीरधारिणी क्षमता के रूप में प्रस्तुत किया गया है-"जो पृथ्वी का धारण करने वाली है और स्वर्ग में निवास करती है।[१८] वही सर्वोपरि

---

१५. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी : १९१०।

१६. परमार्थसार, पृ० ५१।

१७. भारतीय दर्शन, खण्ड-१, पृ० ३९८-३९९।

१८. ऋग्वेद १:१३६, ३।

शक्ति है–'जिसके द्वारा समस्त विश्व का धारण होता है।'[१९] और 'यह भक्तों की पूज्य माता है।' तथा यही शीघ्र आगे चलकर केन उपनिषद् में वर्णित 'हेमवती उमा' रूप में आ गई है। महाभारत में यह कृष्ण की भगिनी के रूप में है और इस प्रकार वैष्णव मत के साथ इसका सम्बन्ध हो गया है। शैवों ने इसे शिव की पत्नी मान लिया।

सतहत्तर आगम जो शाक्त में हैं वे पांच शुभागमों में विभक्त है। जिसका दूसरा नाम नाम समय है। ये ज्ञान तथा मोक्ष-प्राप्ति की ओर जाने वाली क्रियाओं की शिक्षा देते हैं। चौसठ (६४) कौलागम है जो ऐसी क्रियाओं की शिक्षा देते हैं, जिनका उद्देश्य जादू की शक्तियों का विकास करने में सहायता करना है। आठ मिश्रागम है, जिनका लक्ष्य दोनों प्रकार का है। भास्कर राय अपने ललितसहस्रनाम भाष्य में शक्तिसूत्र नामक एक ग्रन्थ से नौ सूत्रों का उद्धरण देता है। यह ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं है। तन्त्रग्रन्थ जो शिव और देवी के मध्य संवाद के रूप में हैं, सातवीं शताब्दी तथा उससे आगे के हैं।

इस तन्त्रदर्शन में शिव का स्वरूप सर्वव्यापक, विशुद्ध चेतन्य प्रकाश अकाय और निष्क्रिय बताया गया है। यह एक विशुद्ध सत् है जो सर्वथा निर्लिप्त है। क्रियाशील शरीरधारी तत्व शक्ति के अन्दर ही सब जीवात्माएं समाविष्ट है। सौन्दर्यलहरी का प्रारम्भिक श्लोक इस प्रकार है: शिव जब शक्ति के साथ संयुक्त होता है तो सृष्टि रचना के योग्य होता है, अन्यथा वह गति करने के अयोग्य है।[२०] शिव और शक्ति का सम्बन्ध ऐसा ही है जैसे कि प्रकाश और विमर्श का सम्बन्ध होता है। भास्करराय विमर्श का लक्षण करता है कि परमयथार्थसत्ता के तात्कालिक स्पन्दन का नाम विमर्श है।[२१] विशुद्ध परमसत्ता के अन्दर सबसे प्रथम जो सम्बन्ध का सम्पर्क है वह विमर्श है, और इसी के कारण समस्त प्रकार के भेदों का प्रादुर्भाव होता है। विमर्श अथवा शक्ति वह सामर्थ्य है जो परमसत्ता अथवा विशुद्ध चैतन्य में अन्तर्निहित है। वह मूर्तरूप परमसत्ता है जो चैतन्य प्रमाता के रूप में परिणत हुई है और यही अपने विरोधी अनात्म अथवा ज्ञेय विषय के रूप में परिणत हो जाती है। यदि शिव चित्स्वरूप है तो शक्ति चिद्रूपिणी है।

---

१९. छान्दोग्य उपनिषद् ३:१२, बृहदारण्यक उप० ५:१४।

२०. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।।

२१. ललितसहस्रनाम में विमर्शरूपिणी के अन्तर्गत की गई उसकी टीका, पृ० ५४८।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव अपने-अपने कर्मों अर्थात् क्रमशः सृष्टि रचना, स्थिति तथा विनाश को शक्ति के आदेश के अनुसार ही सम्पन्न करते हैं।[२२] आनन्द रूपी निर्दोष अनुभव में शिव तथा शक्ति के अन्दर भेद नहीं किया जा सकता। दोनों मिलकर एक ही सत् रूप हो जाते हैं। शिव अपरिमित ब्रह्म की निष्क्रिय अवस्था के अनुकूल हैं, जब कि शक्ति परिमित ब्रह्म है, जिसके अन्दर इच्छा, ज्ञान और क्रिया उपस्थित है, जो समस्त अनात्म जगत् को रूप देती है। शिव और शक्ति एक है क्योंकि शक्ति संसार में अन्तर्निहित है। शक्ति निष्क्रिय तथा क्रियाशील दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान रहती है। समस्त अनात्म जगत् की क्षमता शिव की शक्ति के रूप में वर्तमान रहती है।

शक्ति दो प्रकार की होती है—स्थूल और सूक्ष्म। वह सब पदार्थों की जननी है। उसके पांच कार्य बताए गए हैं, आभास, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थान और विलापनता। अचेतन प्रकृति को मान्यता दी गई है, जो सांख्यदर्शन की प्रकृति के प्रतिरूप है।

प्रकृति अथवा माया को देवी का सार तत्त्व कहा गया है।[२३] शक्ति के गर्भ में माया अथवा प्रकृति है जो विश्व का गर्भाशय है और प्रलय-काल में गुप्त तथा सृष्टि की उत्पत्ति में क्रियाशील है। सांख्य-प्रतिपादित प्रकृति के द्वारा विकास का अनुसरण किया गया है। शक्ति के आदेश से माया अनेक भौतिक तत्त्वों के रूप में किंवा समस्त चेतना प्राणियों के भौतिक अंशों के रूप में विकसित होती है। प्रत्येक जीवित प्राणी के अन्दर चैतन्य पाया जाता है, यद्यपि विविध प्रकार के भौतिक संयुक्त पदार्थों के कारण यह प्राणियों को अनेकत्व में विभक्त प्रतीत होता है। सांख्य दर्शन के २५ तत्त्वों के स्थान में यहाँ पर ३६ तत्त्व हैं, जिनका वर्गीकरण इस प्रकार से हैं—१. शिवतत्त्व, जो सर्वश्रेष्ठ है, २. विद्यातत्त्व, अथवा शक्ति के सूक्ष्म व्यक्त रूप और; ३. आत्मतत्त्व अथवा भौतिक विश्व माया से लेकर नीचे मर्त्यलोक पर्यन्त। ये तीनों प्रकाश शिव-विमर्श और अनात्म के अनुकूल हैं। शाक्तमत के विधान की सर्वोपरि भावना के अन्दर आन्तरिक भेद है, यद्यपि स्थान-स्थान पर हमें मोक्ष तथा संसार की एकता के विचार भी मिलते हैं।[२४] जो हमें शंकर के अत्यधिक कठोर अद्वैतवाद का स्मरण कराते हैं। सबसे

२२. आनन्दलहरी, पृ० २ और २४।
२३. साम्यावस्था गुणोपाधिका ब्रह्मरूपिणी देवी।
२४. कुलार्णवतन्त्र १; १०८ इसे अद्वैत वेदान्त कहा जाता है।

पूर्व यहाँ पर ब्रह्म है, उसके पश्चात् हमें परिमित शक्तिवाला ज्ञाता मिलता है, जो शक्ति-गुण सम्पन्न है। तुरन्त ही नाद प्रकट होता है और नाद से बिन्दु[२५] प्रकट होता है और वही शुद्धमाया है। ये पांच शैवों के मान्य शिव, शक्ति, सदाख्य, ईश्वर और शुद्ध माया के अनुकूल है, शेष विकास शैव योजना से भिन्न है।

माया के प्रभाव से जीव अपनें को एक स्वतन्त्र कर्त्ता तथा उपभोक्ता समझता है जब तक कि उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता। शक्ति का ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग है।[२६] जो कि सर्वोपरि ब्रह्म के आनन्दमय ज्योति पुञ्ज में विलीन हो जाने का नाम है। यह कहा गया है कि ''उस व्यक्ति के लिए जो समझ लेता है कि सब वस्तुएं ब्रह्म हैं न तो योग की और न पूजा की आवश्यकता है।[२७] जीवन मुक्ति अर्थात् इसी जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।[२८]

निम्बाकाचार्य

निम्बार्क एक तेलगू ब्राह्मण एवं वैष्णवधर्मावलम्बी थे। ये रामानुज के कुछ समय पश्चात् तथा मध्वाचार्य से पूर्व लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। इन्होंने ब्रह्मसूत्र के ऊपर 'वेदान्तपरिजात सौरभ' नामक एक लघु भाष्य लिखा और दश श्लोक भी 'दशश्लोकी' नाम से लिखे हैं, जिनके द्वारा इन्होंने जीव, ईश्वर और जगत् के भेद सम्बन्धी अपने सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है। इनके सिद्धान्त को द्वैताद्वैत कहा जाता है। केशव काश्मीरी ने भगवद्गीता पर एक भाष्य लिखा है, जिसे 'तत्त्वप्रकाशिका' का नाम दिया है और जिसके द्वारा निम्बाकाचार्य के साधारण मत का समर्थन किया गया है।

निम्बार्क की शिक्षाओं के अनुसार जीव ज्ञानस्वरूप है, किन्तु शंकर के अर्थों में नहीं हैं। यह ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञान को धारण करने वाला भी है, ठीक जैसे कि सूर्य प्रकाशस्वरूप भी है, और प्रकाश का स्रोत भी है। आत्मा का अपने गुणों के साथ सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि धर्मा का सम्बन्ध धर्म के साथ होता है। यह भेद और अभेद रूपी दोनों ही हैं। धर्म और धर्मो के मध्य नितान्त एकत्व नहीं है, किन्तु भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। जीव यद्यपि आकार में

---

२५. शारदातलिक १।

२६. शक्तिज्ञानं बिना देवि निर्वाणं नैव जायते। —निरुत्तर तन्त्र

२७. महानिर्वाण तन्त्र १४:१२३ और भी देखें १२४-१२७।

२८. महानिर्वाण तन्त्र १४:१३५।

अणुरूप है तो भी ज्ञानरूपी गुण नहीं होता। जीव यद्यपि आकार में अणुरूप है तो भी ज्ञानरूपी गुण की सर्वव्यापकता को धारण किए रहने के कारण यह शरीरमात्र के अन्दर के सुख-दुःख का अनुभव कर सकता है।[२९] जीव कर्म का कर्त्ता है। ऐसे श्रुति वाक्य, जो उसकी सक्रियता का निषेध करते हैं, उनका तात्पर्य जीव की कर्म में पराधीनता का प्रतिपादन करने से हैं। जीव का कोई स्वतन्त्र ज्ञान अथवा क्रिया नहीं है। आनन्द जीव के साथ इसकी प्रत्येक अवस्था में साथ-साथ रहता है प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था तथा मोक्ष की अवस्था में भी जीव अपने अस्तित्त्व को अक्षुण्ण बनाएं रखता है। जिस प्रकार ईश्वर शासक है उसी प्रकार जीव का सब अवस्थाओं में शासित होने का स्वरूप है। जीवों की संख्या अनन्त है यद्यपि उन सबका सर्वोपरि आत्मा के द्वारा धारण होता है।

जड़ (अचेतन) जगत् में तीन मुख्य वर्ग (तत्त्व) हैं–अप्राकृत अर्थात् जिसकी उत्पत्ति मूलभूत आद्यप्रकृति से नहीं हुई, जैसे कि देवीय शरीर की सामग्री जैसे-रामानुज ने शुद्ध सत्त्व कहा और यह ईश्वर की नित्य विभूति की आधारभित्ति है, २. प्रकृति अथवा जो कुछ त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न हुआ, और ३. काल। प्रकृति और काल विश्व जीवन के आधार भूत तत्त्व हैं। ये तीनों वर्ग भी जीवात्माओं की भांति नित्य हैं।

ईश्वर का नित्य स्वभाव शासन (नियन्तृत्व) करना है। निम्बार्क तथा केशव ब्रह्म के विशेषण रहित स्वरूप का खण्डन करते हैं और ब्रह्म को उत्तम तथा शुभ गुणों का आगार बताते हैं।[३०] निम्बाकाचार्य ने सर्वोपरि आत्मा तथा कृष्ण को एक समान माना है, तथा समस्त शुभ गुणों का आगार और अहम्मन्यता, अज्ञान, वासना और आसक्ति आदि दोषों से रहित माना है। उसके चार स्वरूप (व्यूह) है और वह अपने को अवतारों के रूप में प्रकट करता है। वह विश्व का उपादान तथा निमित्त कारण है। वह उपादान (भौतिक) कारण है, क्योंकि सृष्टि-रचना से तात्पर्य उसकी सूक्ष्मरूपिणी चित् और अचित् शक्तियों की अभिव्यक्ति है। वह विश्व का निमित्त कारण है, क्योंकि वह जीवात्माओं को उनके अपने-अपने कर्मों तथा फलों के साथ संयुक्त करता है।

---

२९. तत्त्वमुक्तावली २: ३२५।

३०. केशव का कहना है-"नापि निर्धर्मकं ब्रह्म तस्य ज्ञानक्रियादीनां स्वाभाविकशक्तीनां शास्त्रसिद्धत्वात्" (१:१, ५) आगे भी कहा है–"आनन्दमयशब्दनिर्दिष्ट आत्मा ब्रह्मैव"। (१:१, १३)

इस विश्व की उपेक्षा केवल भ्रान्तिमात्र कहकर नहीं की जा सकती क्योंकि जो कुछ ईश्वर के स्वरूप में सूक्ष्मरूप से विद्यमान है, उसी का यह विश्व अभिव्यक्त रूप परिणाम है। निम्बार्क विश्वविषयक विवर्तवाद के सिद्धान्त की आलोचना करते हैं और तर्क करते हैं कि यदि यह संसार यथार्थ न होता तो इसे दूसरे के ऊपर अध्यस्त नहीं किया जा सकता।

जीव, जगत् और ईश्वर इन तीन तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त एकत्व अथवा अभेद परक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के मत को मानने से उपनिषदों के असंख्य वाक्यों का विरोध होगा, जिनमें इनके पारस्परिक भेद पर बल दिया गया है, और भिन्न-भिन्न तत्त्वों के स्वरूप तथा गुणों में भी बहुत सा असामंजस्य उत्पन्न होगा। किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त तीनों तत्त्व परस्पर सर्वथा भिन्न है, क्योंकि ऐसा कथन उपनिषदों के अन्तर्गत साक्ष्य से दूर भागना होगा। यदि परमात्मा जीवात्मा और जगत् से सर्वथा भिन्न होता तो वह सर्वव्यापक न हो सकता। यह वैसे ही परिमित परिमाण का होता जैसे कि जीवात्मा तथा जगत् है और इसलिए इसे शासक (नियन्ता) नहीं माना जाता।

इस प्रकार के मत में ब्रह्म निर्मल नहीं रहता और मानना पड़ेगा कि वह त्रुटि भी कर सकता है तथा वह सुख-दुःख का अनुभव करने वाला भी ठहरेगा और यह सब ब्रह्म के सर्वमान्य स्वरूप के विरुद्ध होगा। इस प्रकार निम्बार्क इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भेद और अभेद दोनों ही यथार्थ हैं। जीवात्मा तथा जगत् ब्रह्म से भिन्न है, क्योंकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म के स्वरूप और गुणों से भिन्न हैं। वे भिन्न नहीं हो सकते, क्योंकि वे स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्त्व स्थिर नहीं रख सकते और सर्वथा ब्रह्म ही के ऊपर आश्रित हैं। भेद पृथक्त्व का और आश्रित अस्तित्त्व का द्योतक है, और अभेद स्वतन्त्र अस्तित्त्व के अभाव का द्योतक है (स्वतंत्रसत्ता भावः)। भेदाभेद के इस सिद्धान्त की दृष्टि से सुप्रसिद्ध वाक्य "तत् त्वम् असि" की व्याख्या की गयी है। 'तत्' नित्य तथा सर्वव्यापक ब्रह्म का द्योतक है; त्वम् से तात्पर्य जीवात्मा से हैं जिसका अस्तित्त्व ब्रह्म के ऊपर निर्भर है; और 'असि' शब्द दोनों के परस्पर सम्बन्ध को बताता है जो कि अभेद के अविरुद्ध भेदपरक है। इस प्रकार का सम्बन्ध सूर्य तथा उसकी किरणों में अथवा अग्नि और उसकी चिन्गारियों में पाया जाता है। यद्यपि आत्माएं तथा प्रकृति ईश्वर से भिन्न हैं वे उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी रखते हैं। वे दोनों ब्रह्म से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी।

जीवात्माएं और जगत् आत्मनिर्भर नहीं है, वरन् ईश्वर के द्वारा इन्हें प्रेरणा मिलती है।[३१] प्रलयकाल में ये दोनों ईश्वर के स्वरूप में विलीन हो जाते हैं जो जीव तथा जगत् के सूक्ष्मरूपों को धारण करता है। विलय तथा पुनः सृजन के कालों के मध्यवर्ती समय में समस्त तत्त्व चेतन और अचेतन सूक्ष्म अवस्था में उसके अन्दर निवास करते हैं। ब्रह्म की शक्ति के द्वारा जगत् की उत्पत्ति होती है 'जहाँ प्रत्येक पृथक् आत्मा उपयुक्त शरीर को प्राप्त करती है।

आचार्य निम्बार्क ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, जिसके अनुसार चेतन तथा अचेतन जगत् ब्रह्म के साथ मिलकर एक सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व का निर्माण करते हैं और जहाँ तक उक्त व्यक्तित्त्व का सम्बन्ध है यही इस संसार का उपादानकारण है। निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म की शक्ति ही संसार का उपादान कारण है और शक्तिगत परिवर्तन ब्रह्म की अखण्डता के ऊपर कोई प्रभाव नहीं रखते। जिसे रामानुज ब्रह्म का शरीर कहते हैं उसे ही निम्बार्क शक्ति की संज्ञा देते हैं। संसार का निर्माण करने के लिए ईश्वर को किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। वह सर्वशक्तिमान् है और वह केवल अपनी इच्छा मात्र से ही संसार की रचना करने में समर्थ है।[३२] इस प्रकार ब्रह्म संसार का उपादान तथा निमित्त दोनों ही प्रकार का कारणा है। संसार का ब्रह्म के साथ एकात्मभाव है और अपने परिणमन तथा कर्म करने की शक्ति के लिए वह ब्रह्म के ऊपर निर्भर करता है और फिर भी कुछ अर्थों में यह संसार ब्रह्म से भिन्न है। तीन गुणों में प्रकृति के विकास सम्बन्धी प्रचलित सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया है।[३३]

जीव का विशुद्ध स्वरूप अपने कर्म के कारण आवरण युक्त हो जाता है और यह अविद्या का परिणाम है जो अनादि काल से हैं किन्तु फिर भी ईश्वर की कृपा से उसका अन्त किया जा सकता है। प्रपत्ति अथवा ईश्वर के प्रति सर्वात्मा आत्मसमर्पण करना ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। ऐसे व्यक्तियों के ऊपर, जो प्रपन्न पुरुषों के समान भाव रखते हैं, ईश्वर की कृपा रहती है और ईश्वर उनके अन्दर भक्ति भाव उत्पन्न करता है जो अन्त में जाकर ब्रह्म-साक्षात्कार में परिणत हो जाता है। भक्ति के अन्दर सर्वोपरि यथार्थसत्ता का ज्ञान, जीवात्मा का स्वरूप, देवीय कृपा का फल अथवा मोक्ष जो ब्रह्म के स्वरूप तथा गुणों का

---

३१. दशश्लोकी ७।

३२. ब्रह्मसूत्र १:१, १९।

३३. दशश्लोकी ३।

अव्यवहित साक्षात्कार है जिससे सब प्रकार की स्वार्थपरता तथा अज्ञान पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं, और ईश्वर के साक्षात्कार में जो बाधाएं आती हैं, जैसे कि आत्मा तथा शरीर को एवं इन्द्रियों अथवा मन को भ्रान्ति के कारण एक मान लेना, ईश्वर को छोड़कर अन्य का आश्रय ढूंढना, उसके आदेशों का उल्लंघन अथवा उनके प्रति उदासीनता का भाव, ईश्वर को साधारण प्राणियों के समान मान लेना, सच्ची भक्ति से उत्पन्न प्रसाद को मोक्ष समझ लेना ये सब आ जाते हैं। निम्बार्क के अन्दर कृष्ण और राधा[३४] नारायण तथा उनकी पत्नी का स्थान ले लेते हैं। भक्ति उपासना नहीं है अपितु प्रेम और श्रद्धा है। ईश्वर की कृपा सदा ही असहायों को ऊँचा उठाने और उन्हें वस्तुओं की यथार्थता का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बनाने के लिए उद्यत रहती है। अन्य देवताओं की पूजा का निषेध है। शास्त्रविहित नैतिक आचार-सम्बन्धी नियमों के पालन पर बल दिया गया है। कर्म को ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति कराने का साधन बताया गया है।[३५] जिसमें भक्ति भी साथ-साथ रहती है।[३६]

निम्बार्क दर्शन में चेतनहीन पदार्थ को अचित् कहते हैं। वस्तुतः अचित् का अर्थ है जड़ तत्त्व। यह तीन प्रकार का होता है—१. **प्राकृत**—महत्तत्व से लेकर महाभूत तक सारे पदार्थ प्राकृत हैं। इनका सांख्य दर्शन में भी वर्णन है। २. **अप्राकृत**—प्रकृति की अधिकार सीमा से बाहर के जगत् को अप्राकृत कहते हैं। अप्राकृत के भीतर भगवान् का लोक, जिस परमव्योमन् 'विष्णुपद' तथा 'परमपद' आदि भिन्न-भिन्न नामों से श्रुतियों में गाया गया है, अन्तर्भूत होता है। ३. **काल**—काल अचेतन पदार्थ माना जाता है। जगत् के सारे परिणामों का जनककाल ही है। उपाधियों के कारण काल अनेक प्रकार का माना गया है। जगत् का नियामक होने पर भी यह परमेश्वर के अधीन ही रहता है। काल अखण्ड है, नित्य है, विभु है। यह भूत, वर्तमान तथा भविष्य का असाधारण कारण है।

वल्लभ वेदान्त

वल्लभसम्प्रदाय पद्मपुराण के अनुसार रुद्रसम्प्रदाय के मूलप्रवर्तक हैं—विष्णु

---

३४. दशश्लोकी ५ और ८।

३५. ब्रह्मसूत्र १।१।४।

३६. ब्रह्मसूत्र १:१, ७।

स्वामी।[३७] यह सम्प्रदाय शुद्धअद्वैतवाद का समर्थक था। यह ज्ञातव्य है कि इस समय इनका एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

पुष्टिमार्ग

वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय को पुष्टिमार्ग भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इन्होंने भक्ति को पुष्टि के रूप में माना है। इनका मत है कि परब्रह्म सच्चिदानन्द की उपलब्धि भक्ति के ही द्वारा होती है। वल्लभाचार्य का आचार मार्ग 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। श्री मद्भागवत के अनुसार पुष्टि या पोषण का अर्थ है–''भगवान् का अनुग्रह है।[३८] अतः भगवान् के अनुग्रह को मोक्ष का मुख्य हेतु मानने के कारण यह मार्ग पुष्टि मार्ग कहा जाता है। यह मार्ग वेद-प्रतिपादित मर्यादामार्ग से सुतरां भिन्न है। वेद प्रतिपादित होने के कारण मर्यादा मार्ग अक्षर ब्रह्म की वाणी से प्रादुभूर्त हुआ है, किन्तु पुष्टि मार्ग पुरुषोत्तम के साक्षात् शरीर से प्रकट हुआ है। मर्यादामार्ग में ज्ञान तथा श्रवण आदि साधनों के द्वारा सायुज्यमुक्ति ही परम प्राप्तव्य है। किन्तु पुष्टिमार्ग में पूर्ण आत्म-समर्पण तथा वियोग-रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्दधाम भगवान् का साक्षात् अधरामृत पान ही मुख्य फल है, परम ध्येय है।

विट्ठलदास

विट्ठलनाथ दीक्षित आचार्य के द्वितीय पुत्र थे। इन्होंने अपने पिता के ग्रन्थों पर टीका-टिप्पणी लिखकर इस मत का प्रचुर प्रचार किया है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में कुछ ये हैं-निबन्ध प्रकाश, विद्वन्मण्डन, शृंगाररसमण्डन, सुबोधिनी-टिप्पणी, रत्नविवरण तथा भक्ति हंस आदि। इनके सात पुत्र थे। उन लोगों ने अलग-अलग गद्दियों की स्थापना कर वल्लभमत का खूब प्रचार किया है।

गिरिधरमहाराज

गिरिधर महाराज गोस्वामी विट्ठलनाथ के सुयोग्य पुत्र थे। इनका 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड' विशेष प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अधिकतर वल्लभ साहित्य का प्रकाशन बम्बई तथा चौखम्बा वाराणसी से हुआ है। इस मत का अधिकतर प्रचार उत्तर प्रदेश, गुजरात और राजस्थान में है।

---

३७. रामनुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्य चतुर्मुख :
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्य चतुः सन।। –पद्म पुराण।

३८. पोषणं तदनुग्रहः। –भागवत २/१०/४।

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके अनुसार ब्रह्म माया से अलिप्त अतः नितान्त शुद्ध है। माया के सम्बन्ध से रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है। अतः इस मत का नाम शुद्धाद्वैत सार्थक है।

तत्त्व मीमांसा–

वल्लभवेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। वह एक है, अद्वितीय है। वह जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। अर्थात् वही जगत् बनाने की सामग्री है और जगत् बनाने वाला भी वही है। वह सगुण, साकार और सविशेष है। उसमें विरुद्ध गुणों और शक्तियों की सत्ता भी सिद्ध होती है। वह अणोरणीयान् और महतोमहीयान् भी है। वह यदि सूक्ष्मतम है तो दूसरी ओर महान् से भी महत्तम है। वह अनेक रूप होकर भी एक रूप रहता है। उसे ही ब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम तथा कृष्ण आदि नामों से पुकारा जाता है। वह सत्, चित् और आनन्दमय है वह सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी भक्तपराधीन हैं यह सकल संसार लीला-विहारी ब्रह्म की ललित लीलाओं का विलासमात्र है, यह जगत्कर्तृत्व वास्तविक है, यथार्थ है; माया-कल्पित नहीं। निखिलरसामृतमूर्ति अखिललीलाधाम श्रीकृष्ण ही यह परब्रह्म है।

ब्रह्म के त्रिविध भेद–

आचार्य वल्लभ के मत से एक ही ब्रह्म के तीन प्रकार होते हैं-१. आधिदैविक=परब्रह्म, २. आधिभौतिक=जगत् और ३. आध्यात्मिक=अक्षर ब्रह्म।

इस प्रकार जगत् ब्रह्मरूप ही है। जगत् और ब्रह्म अभिन्न है। कार्य और कारण वस्तुतः एक ही हुआ करते हैं। उनमें भेद नहीं अभेद हुआ करता है। अतः कार्यरूप जगत् कारणरूप ब्रह्म ही है। जिस प्रकार लपेटा गया पट फैलाने पर वही रहता है। उसी प्रकार आविर्भाव अवस्था में जगत् एवं तिरोभाव अवस्था में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं। जगत् का आविर्भाव प्रभु की केवल लीला है और कुछ नहीं।

सृष्टि-संहार ईश्वर की लीला है–

वल्लभाचार्य का मत है कि ब्रह्म ही स्वभावतः जगत् का रचयिता है। उनके जगत्कर्तृत्व में माया की छाया का कहीं भी स्पर्श नहीं है। ब्रह्म लीलाधाम है। अतः जब उसकी लीला विलसित होने को होती है, उल्लसित होने को होती है, तब जगत् की रचना हो जाती है। इसी तरह जब उनकी इच्छा होती है तब

वे अपनी लीला समेट लेते हैं। फिर तो जगत् का संहार या लय हो जाता है। लीला का संवरण ही जगद्विलय है। प्रलय भी भगवान् की लीला का एक प्रकार है। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय दोनों ही उनकी लीला के विलास मात्र है। अन्यथा उस आप्तकाम, पूर्णकाम के लिए ऐसी कोई अवशिष्ट इच्छा हीं नहीं जिसके लिए वह जगत् की सृष्टि करता।[३९] जगत् ब्रह्मरूप है और यह ब्रह्म के ही समान नित्य भी है। शंकर के अनुसार यह जगत् न तो माया का कार्य है और न असत्य ही हैं

लीला का रहस्य–

वल्लभाचार्य के अनुसार लीला के अलावा जगत् के आविर्भाव का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। लीला का अर्थ क्या है? लीला कहते किसे हैं? आचार्य वल्लभ ने श्रीमद्भागवत की टीका सुबोधिनी में इसका बड़ा ही भव्य विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि–विलास की इच्छा का नाम है–लीला। कार्य के बिना ही यह केवल व्यापार मात्र होता है। इसका भाव यह है कि इस कृति के द्वारा बाहर कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न किये गए कार्य में किसी प्रकार का अभिप्राय या प्रयोजन नहीं रहता। जब कोई कार्य उत्पन्न हो गया तो होता रहे, इसमें कर्ता का कोई उद्देश्य रहता है और न उसे किसी प्रकार का प्रयास ही करना पड़ता है। जब अन्तःकरण आनन्द के उद्रेक से छलक उठता है तब उससे कार्य के उदय के समान ही कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही है भगवान् की लीला। पुष्टिमार्ग के अनुसार भगवान् किसी साधन के परतन्त्र न होकर स्वयं स्वतन्त्र होते हैं। अनुग्रह भी भगवान् की नित्य लीला का विलास है।[४०]

अवतार का प्रयोजन–

श्रीमद्भागवत[४१] का कथन है कि भगवान् अव्यय है, अप्रमेय है, निर्गुण है

---

३९. शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः।।
माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्याकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्। –शुद्धाद्वैतभार्तण्ड २७-२८

४०. नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृपः।
अव्ययस्याप्रमेस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।। –भागवत १०/२९/१९

४१. ''अतः स्व-पर-प्रयोजनाभावाद् यदि साधननिरपेक्षां मुक्ति न प्रयच्छेत्, तदा व्यक्तिः प्रादुर्भावः प्रयोजनरहितैव स्यात्।'' –सुबोधिनी।

फिर भी दिव्य दयादाक्षिण्य आदि गुणों की खान है। इसी अकारण करुणा आदि के वशीभूत होकर ही वे प्राणियों के परमकल्याण के लिए व्यक्त हुआ करते हैं, अवतार लेते हैं। प्राणियों को मुक्ति प्रदान करना ही उनके अवतार का एकमात्र प्रयोजन है। दुष्टों का दलन तथा साधुओं की सुरक्षा, धर्म का अभ्युत्थान और अधर्म का पराभव तो भगवान् की इच्छामात्र से भी हो सकता है। अत: ये कारण नहीं है भगवान् के अवतार के, इस श्लोक की व्याख्या करते हुए वल्लभाचार्य कहते हैं कि–मनुष्यों को साधननिरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान् के अवतार का प्रयोजन है।[४२] साधनसमर्थ तो कहीं भी और कभी भी मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु साधनविहीन व्यक्तियों को तो भगवद्दर्शन और उनकी अकारण करुणा का ही एकमात्र भरोसा रहता है। इसलिए भगवान् का अवतार हुआ करता है।

जीव–

जीव को ही आत्मा अथवा चित् कहते हैं। भगवान् को जब रमण-लीला करने की इच्छा होती है तो वे अपने आनन्दादि गुणों को किञ्चित् तिरोहित कर जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस क्रिया में माया का अंश या विलास स्वरूप भी नहीं होता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव दीनता और यश के तिरोधान से हीनता का पात्र बन जाता है। श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियों से घिर-सा जाता है। ज्ञान के तिरोधान से उसकी देह आदि में आत्मबुद्धि उत्पन्न होती है। आनन्द के तिरोधान से वह दु:खी बन जाता है।[४३] ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति उसी प्रकार होती है, जैसे अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं। किन्तु ये स्फुलिंग रूप जीव भी नित्य है। वल्लभमत में भी जीव ज्ञाता, ज्ञान स्वरूप तथा अणुरूप है। प्रमेयरत्नार्णव के अनुसार इस मत में भी ब्रह्म से ही जड़ और चेतन दोनों की उत्पत्ति होती है। किन्तु अन्तर यह है कि भगवान् के अविकृतसत् अंश से जड़ का निर्गमन तथा अविकृतचित् अंश से जीवों का निर्गमन होता है। जब जड़ का ब्रह्म से निर्गमन होता है उस समय चित् एवम आनन्द-इन दोनों अंशों का तिरोधान रहता है। किन्तु जीव के निर्गमन काल में केवल आनन्दअंश का तिरोधान रहता है।

---

४२. लीला नाम विलासेच्छा कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्।
न तया कृत्या बहि: कार्य जायते, जनितमपि कार्य नाभिप्रेतम् नापि.....क्रिया काचिदुत्पद्यते।'' –सु०बो० भा०, तृती० स्कन्ध

४३. ब्रह्मसूत्र, 'पराभिध्यानात्तु' ३/२/५ पर अणुभाष्य।

निर्गमन की बेला में जिस अंश का तिरोधान रहता है, निर्गसित होने वाले तत्त्व या पदार्थ में उस अंश की कमी रहती है।

जीव नित्य है वह ब्रह्म से वैसे ही आविर्भूत हुआ है जैसे चिंगारी आग से आविर्भूत होती है। आग की चिंगारी आग ही है। अतः जीव ब्रह्म ही है। जीव अणु एवं चित्प्रधान ब्रह्मांश है। ब्रह्म से जीव के निर्गमन के विषय में अग्नि-स्फुलिंग का दृष्टांत श्रुति तथा भागवत पुराण में ही प्राप्त है।

अविष्कृत परिणामवाद–

वल्लभाचार्य परिणामवादी है। इनके अनुसार जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म के परिणाम है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि परिणाम होने से भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता है। यह अविकृत परिणामवाद स्वीकार करते हैं। भगवान् में तीन अंश है–सत्-चित् और आनन्द। इनमें से कोई भी अंश विकार नहीं प्राप्त करता।

जीव-बहुत्व–

जीवों के अनेक भेद होते हैं–१. शुद्ध, २. संसारी और ३. मुक्त। ब्रह्म से अणु के निकलने पर जिस अवस्था का विकास होता है वह शुद्ध जीव है। वह शुद्ध चिद्भाव है। इसके बाद अविद्या के संसर्ग में आने पर वह संसारी बन जाता है। उस समय ईश्वरेच्छा से उसके ऐश्वर्य आदि गुण तिरोहित हो जाते हैं। संसारी जीवों के भी दो भेद होते हैं–देव-देह एवम् आसुर देह। सूक्ष्म सद् भावनायुक्त तथा मुक्ति के अधिकारी जीव-देह को देव कहते हैं। देव जीव स्वप्रयास से शुद्ध हो सकते हैं। असद् वासनायुक्त, निम्नगामी जीव देह को आसुर कहते हैं। आसुर जीव की शुद्धि भगवान् के अधीन रहती है। वह अपने प्रयत्न से शुद्ध नहीं हो सकता।

मुक्त जीवों के भी दो भेद होते हैं–जीवन्मुक्त और परममुक्त। अविद्या की निवृत्ति होने पर जीवन्मुक्ति मिलती है। फिर जब भगवान् की विशिष्ट कृपा होती है, तब जीव परंव्योम अर्थात् वैकुण्ठ में प्रवेश करता है। यही है विशिष्ट मुक्ति, परममुक्ति। यह विशुद्ध ब्रह्मभाव की उपलब्धि है।

तत्त्वमसि महावाक्य का भाव–

जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न हैं। संसार की अवस्था में पुष्टिमार्ग का अवलम्बन कर जीव जब प्रभु की सेवा करता है तब उसके ऊपर

उनके अनुग्रह की वर्षा होती है। फिर क्या है, जीव का तिरोहित आनन्दांश उद्भूत हो उठता है। इस प्रकार मुक्ति की दशा में जीव अपने आनन्दअंश को प्रकट कर सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है 'तत्त्वमसि' महावाक्य इसी अद्वैत सत्ता का प्रतिपादक है। जैसे सुवर्ण निर्मित कटक कुण्डल आदि सुवर्ण से अभिन्न हैं, उसी प्रकार निदंश जीव भी ब्रह्म से अभिन्न हैं।

जगत्–

वल्लभाचार्य जगत् के विषय में अविकृत परिणामवादी है। कनक, कामधेनु, कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि आदि के समान निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही जगत् के रूप में परिणत हो जाता है और उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता है। ब्रह्म का जगत् रूप में परिणत होना, दूध का दही के रूप में परिणत होने के समान नहीं; अपितु सुवर्ण का कुण्डल के रूप में परिणत होने के समान है। जैसे-कुण्डल के रूप को धारण करने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं होता है वैसे ही जगत् के रूप में परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता है। इसलिए वल्लभाचार्य अपने इस मत को अविकृत परिणामवाद के नाम से पुकारते हैं। कार्य-कारण-सम्बन्धिनी वल्लभ की इस धारणा का मूल है, श्रीमद्भागवत महापुराण। इस प्रकार यह बात सिद्ध होती है कि–यह सारा जगत्प्रपञ्च भगवान् का ही रूप है। श्रुति और पुराण दोनों ही इसी रहस्य के प्रतिपादक है। उपनिषद् कहती है–'सर्वं खल्विदं ब्रह्मः' अर्थात् सारा का सारा जगत् ब्रह्ममय ही है। भागवत का प्रथम मंगल श्लोक–'जन्माद्यस्य यतः' भी डिण्डिमघोष के साथ इसी सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवान् का आकार होने से यह जगत् भी सर्वथा नित्य सिद्ध होता है।

डॉ० राधाकृष्णन्[४४] ने वल्लभ दर्शन को निरूपित करते हुए कहा है कि वल्लभ ईश्वर को सम्पूर्ण इकाई तथा जीव को उसका अंश मानते हैं, किन्तु चूँकि जीवात्मा भी उसी के समान तात्त्विकसार रखता है, दोनों के अन्दर कोई वास्तविक भेद नहीं है। स्फुलिंगों का अग्नि के साथ जो सम्बन्ध है, उसी दृष्टान्त का प्रयोग इस महान् उद्देश्य को समझाने के लिए किया जाता है। जीवात्मा

---

४४. भारतीय दर्शन, भाग–२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ६६५।

अविद्या की शक्ति से आवृत्त सर्वोपरि ब्रह्म नहीं, अपितु स्वयं ब्रह्म ही है जिसमें एक गुण अदृश्य हो गया है। आत्मा दोनों ही है, अर्थात् कर्ता भी है और भोक्ता भी। यह आकार में आण्विक है। यद्यपि अपने ज्ञान रूप गुण के द्वारा समस्त शरीर में व्याप्त है, ठीक जिस प्रकार चन्दन का ज्ञान अपनी सुगन्ध के द्वारा जहाँ नहीं है वहाँ भी हो जाता है। रामानुज की दृष्टि में जो एक ही परम यथार्थ सत्ता को मानते हैं और जो मूलभूत सत्ता है, ईश्वर तथा आत्मा के मध्य का भेद कभी नष्ट नहीं होता। रामानुज ईश्वर तथा आत्मा को सम्पूर्ण इकाई तथा उसके अंशों के रूप में प्रतिपादन करते हैं जहाँ कि अंश वस्तुतः पूर्ण इकाई के भिन्न-भिन्न महत्त्वों को प्रकट करते हैं, उनका सामानाधिकरण्य अथवा विशेषण-विशेष्य भाव अनेकों अंशों के उसी एक इकाई के अन्दर निहित होने का निर्देश करता है। इसके विपरीत वल्लभ हमारे समक्ष शैलिंग के क्लीबाणु के समान ही का एक विचार रखते हैं, जिसमें भेद नष्ट हो जाते हैं, किन्तु रामानुज का मत अधिकतर हीगल के समान है।

इस मायारूप जगत् को भी अयथार्थ नहीं माना गया है।[४५] क्योंकि माया इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, जिसे ईश्वर स्वेच्छा से उत्पन्न करता है। ब्रह्म विश्व का नैमित्तिक तथा उपादान दोनों ही प्रकार का कारण है। वह केवलमात्र विश्व का रचयिता ही नहीं है अपितु स्वयं विश्व का रूप है।[४६] वे वृहदारण्यक के वर्णन को स्वीकार करते हैं[४७] अर्थात् ब्रह्म ने अनेक होने की इच्छा की और स्वयं अनेकों जीवात्माओं तथा जगत् के रूप में परिणत होकर प्रकट हो गया। ब्रह्म के अन्दर आत्म अभिव्यक्ति की आन्तरिक इच्छा विद्यमान रहती है। वल्लभ के अनुसार, ईश्वर में वह शक्ति है जिसके द्वारा वह जगत् के विकास तथा विनाश को सम्भव बना सकता है। माया अविद्या से भिन्न है, क्योंकि अविद्या वस्तुओं के एकत्व को आवृत्त किए रहती है। तथा उस भेद के ज्ञान को भी उत्पन्न नहीं होने देती।[४८] वल्लभ प्रकृति को क्रियाविहीन नहीं मानते, क्योंकि उसके अन्दर ब्रह्म शक्ति देता है। यदि ब्रह्म स्वयं नहीं जाना जाता, तो भी जब वह जगत् के रूप में प्रकट होता है तब जाना जाता है।

---

४५. ब्रह्मसूत्र १:१, ४ पर अणुभाष्य।
४६. ब्रह्मसूत्र १:१, ४, अणुभाष्य।
४७. ब्रह्मसूत्र १:४, ३ वृहदारण्यक।
४८. देखें—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड।

किन्तु संसार अयथार्थ है। संसार को यथार्थ मानने में तो आत्मा का व्यवहार ठीक है, लेकिन जब वह इसको अनेकत्व के रूप में देखती है तब उसका व्यवहार ठीक नहीं है। संसार सत्य है, यद्यपि हमारी उसकी प्रतीति सत्य नहीं है। हम यह नहीं अनुभव करते कि यह संसार केवल ब्रह्म की ही एक आकृति है। इस प्रकार जीव के मस्तिष्क में जगत् के स्वरूप का एक भ्रांतिपूर्ण विचार बैठा हुआ है। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में, जिन्होंने सत्य को प्राप्त कर लिया है, यह जगत् ब्रह्मरूप में ही प्रकट होता है। और ऐसे व्यक्तियों के लिए जिन्होंने धर्मशास्त्रों के द्वारा सत्य का ज्ञान प्राप्त किया है, यह ब्रह्म तथा माया दोनों रूप में प्रकट होता है, और ब्रह्म के अतिरिक्त रूप में भी, यद्यपि वे जानते हैं कि ब्रह्म यथार्थ है और माया यथार्थ नहीं है। अज्ञानी पुरुष ब्रह्म की यथार्थता तथा अनेकों प्रतीतियों की अयथार्थता के मध्य कोई भेद नहीं करते। यह प्रतीतिमात्र वस्तुएं अपने को बाह्य तथा स्वतंत्र रूप में प्रकट करती है। अविद्या का स्थान मनुष्य के मस्तिष्क के अन्दर है। इस प्रकार वल्लभ जगत् की अयथार्थता के विचार को इस रूप में स्वीकार नहीं करते। यदि जगत् अयथार्थ है तो यह भी नहीं कह सकते कि वह ब्रह्म के साथ एकाकार है, क्योंकि अयथार्थ वस्तु तथा प्रतीतिमात्र अयथार्थ वस्तु में तादात्म्य का सम्बन्ध नहीं हो सकता। धोखे की सम्भावना तो हैं किन्तु यह ईश्वर द्वारा निर्धारित नहीं है।

माया के द्वारा जकड़ा हुआ जीव बिना ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। मोक्ष का मुख्य साधन भक्ति है यद्यपि ज्ञान भी उपयोगी है। यदि हम ईश्वर के अन्दर श्रद्धा रखे तो सब पाप दूर हो सकते हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे क्रियात्मक जीवन में बहुत अतिशयोक्ति के साथ कहा जाता है। वल्लभ ने सब प्रकार की कठोरतपस्याओं को तुच्छ बताया है। यह शरीर ईश्वर का बनाया हुआ मन्दिर है और इसलिए इसे नष्ट करने का प्रयत्न करना कुछ अर्थ नहीं रखता। सर्वोपरि सत्ता के ज्ञान से पूर्व कर्म का स्थान है और जब उसका ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब भी कर्म विद्यमान रहते हैं। मुक्तात्मा पुरुष सब कर्मों को करते हैं।[४९]

उच्चतम लक्ष्य मोक्ष नहीं है वरन् कृष्ण की निरन्तर सेवा है तथा दिव्य लोकस्थ वृन्दावन की लीलाओं में भाग लेना है। वल्लभ, ब्रह्म की अतीन्द्रिय चेतनता में और पुरुषोत्तम में परस्पर भेद करते हैं।[५०] जीव की बाधाओं से मुक्ति

४९. अणुभाष्य १:१, १।
५०. अणुभाष्य ४:३, २७।

प्राप्त आत्माएं भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। एक वे हैं जिन्होंने अपने को पूर्व की अधीनता से मुक्त किया है जैसे-सनक ऋषि और जो ईश्वर की नगरी में निवास करते हैं, जहाँ उन्हें ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त होता है। दूसरी वे हैं जो भक्ति का आश्रय लेती हैं और पूर्ण प्रेम का परिष्कार करके ईश्वर के सहचारी हो जाती है। वल्लभ ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेम के जीवन पर अत्यन्त बल देते हैं।

एक पक्ष में ब्रह्म और दूसरे पक्ष में जीवात्माएं तथा जड़ प्रकृति के मध्य का सम्बन्ध विशुद्ध ऐक्यभाव (तादात्म्य) का सम्बन्ध है, जैसे अंश और अंशी का परस्पर सम्बन्ध होता है। भेद को तो वल्लभ ने गौण बताया, किन्तु अभेद ही यथार्थ तथा मुख्य है। वे 'तत्त्वम् असि' (वह तू है) इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह अक्षरशः सत्य है। किन्तु रामानुज तथा निम्बार्क इसे आलंकारिक अर्थों में लेते हैं। जब आत्मा परमात्मा को प्राप्त कर लेगी और जड़ जगत्-चैतन्य तथा परमानन्द दोनों को प्राप्त हो जाएगा, तब ब्रह्म तथा इनके मध्य का भेद सर्वथा मिट जाएगा।[५१]

वल्लभ सम्प्रदाय में मोक्ष के विषय में स्पष्ट किया गया है कि श्रीमद्भागवत का कथन है कि "मुक्तिर्हित्वान्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।" अर्थात्-अन्यथा भाव का परित्याग जीव की अपने स्वरूप में स्थिति ही मुक्ति है। आराधना साधना से संतुष्ट हुए भगवान् अपने स्वरूप बल से जीव को स्वरूप प्रदान करते हैं। अन्यथाभाव का, दुःख तथा जड़ता की परित्याग कर अपने यथार्थ रूप से, आनन्दरूप से स्थित होना ही जीव की मुक्ति है। इस प्रकार जीव को आनन्दसागर स्वरूप बना देना ही भगवान् का स्वभाव है। भगवान् इतने कृपालु है कि यह जीव को अपने समान ही आनन्दस्वरूप बना देते हैं। इसे ही वल्लभ सम्प्रदाय में 'स्वरूपापत्ति' कहते हैं। स्वरूप का अर्थ ही है—आनन्दमयरूप। इसे पाना ही मोक्ष या मुक्ति है।

मुक्ति के साधन

मुक्ति की साधनभूता भक्ति भी दो प्रकार की होती है—'मर्यादाभक्ति' तथा पुष्टि-भक्ति।' भगवान् के चरणारविन्द की भक्ति मर्यादाभक्ति है। मर्यादाभक्ति में फल की अपेक्षा बनी रहती है। भक्त समान होता है। भगवान् के मुखारविन्द की भक्ति पुष्टिभक्ति है। पुष्टि-भक्ति में किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा

---

५१. भारतीय दर्शन, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ६६६।

नहीं रहती। अपनी ओर से भक्तपूर्ण निष्काम होता है। मर्यादा भक्ति से सायुज्य मुक्ति का लाभ होता है, किन्तु पुष्टि-भक्ति से मुख्यतया अभेदभाव की सिद्धि होती है। इस प्रकार क्लेश की गहन विन्ध्याटवी से निकलने का एकमात्र साधन है, पुष्टि-भक्ति का आश्रय, जो सभी वर्णों, जातियों आदि के लिए बिना किसी भेदभाव के सुलभ है, प्राप्य है।

भागवत की प्रधानता

पुष्टि भागवत का सार है, रहस्य है। वल्लाभचार्य ने भागवत के रहस्यों को संकलित कर पुष्टि-मार्ग की गंगा प्रवाहित की है। इस मत के प्रस्थान-चतुष्टयी में उपनिषद् गीता तथा ब्रह्मसूत्र के साथ व्यास की समाधि-भाषा, वाले श्रीमद्भाग-वत की भी गणना आदर के साथ की जाती है। इस सम्प्रदाय में वल्लभ के द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य की अपेक्षा सुबोधिनी अर्थात् भागवत व्याख्या का अधिक समादर किया जाता है।

नवम अध्याय

योगवासिष्ठ दर्शन

योगवासिष्ठ रामायण को पुराणों के अन्तर्गत माना जा सकता है। इसमें ३२, ७३४ श्लोक हैं। श्रीमद्‌भगवत्‌गीता से अधिक विशालकाय है। वास्तव में इस ग्रन्थ में शंकर वेदान्त के और बौद्ध विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आचार्य शंकर के पश्चात् का यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से परस्पर संवाद के रूप में अधिकतर वर्णन मिलता है।

इस ग्रन्थ का प्रारम्भ एक कथा से होता है। एक ब्राह्मण महर्षि आगस्त के आश्रम में पहुँचता है और प्रश्न करता है कि 'ज्ञान तथा कर्म में से मोक्ष का साधन प्रत्यक्ष रूप में कौन है? अगस्त मुनि उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार एक पक्षी अपने दो पंखों के सहारे उड़ता है, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म के द्वारा ही परमपद को प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य आख्यानों का वर्णन करते हुए श्रीराम का आख्यान प्रारम्भ होता है। राम विभिन्न तीर्थों की यात्रा करते हुए जब वापस लौटे तो वे दुःखी से रहने लगे। राम के पिता दशरथ यह देख कर चिन्तित हुए। दशरथ ने वसिष्ठ से इसका कारण पूछा। इसी मध्य में विश्वामित्र राक्षसों के वध के उद्देश्य से अयोध्या में आए। जब इस खिन्नता की स्थिति का कारण पूछा तो राम ने बतलाया कि मेरे मन में एक उत्कण्ठा उत्पन्न हो गई है, जिसने मुझ में सब भोगों के प्रति वितृष्णा पैदा कर दी है। इस संसार में सुख नहीं है, मनुष्यों का जन्म मरण के लिए और मरण जन्म के लिए होता है। संसार में सब कुछ अस्थिर है। सब विद्यमान वस्तुएं असंगत है। केवल हमारी मानसिक कल्पनाओं के कारण ही उनका संग्रह और संयोग होता है। भोगों के संसार की सृष्टि मन द्वारा ही होती है और यह मन स्वयं अस्तित्त्वहीन प्रतीत होता है। प्रत्येक वस्तु मृगतृष्णा के समान है।

वसिष्ठ ने जगत्प्रतीति के स्वरूप की व्याख्या की और यही उत्तर इस ग्रन्थ का विषय है। राम वसिष्ठ के इस संवाद को वाल्मीकि से सुनकर राजा अरिष्टनेमि छिन्नसंशय हो गए और अप्सरा ने भी प्रसन्न होकर देवदूत को जाने की अनुमति दे दी। अपने पिता अग्निवेश्य से यह सब सुनकर कारुण्य ने ऐसा अनुभव किया मानो उसने परमतत्त्व प्राप्त कर लिया और उसने सोचा कि अपनी तत्त्वानुभूति के कारण एवं कर्म तथा निष्क्रियता एक ही होने के कारण, उसका यह स्पष्ट कर्तव्य है कि वह जीवन के नित्य नैमित्तिक कर्त्तव्यों का पालन करे। जब अगस्त्य ने इस आख्यान को समाप्त किया तो ब्राह्मण सुतीक्ष्ण ने अपने को छिन्नसंशय अनुभव किया।

योगवासिष्ठ आद्योपांत जनसुलभ भाषणों के रूप में एक दार्शनिक ग्रन्थ है एवं एक ही विचारधारा को प्रायः पुनः-पुनः विभिन्न प्रकार के वर्णनों तथा काव्यात्मक कल्पना में दोहराया गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक अलौकिक काव्यात्मक प्रतिभा से युक्त है। प्रायः प्रत्येक श्लोक सर्वोत्कृष्ट काव्यात्मक कल्पना से परिपूर्ण है; शब्दों का चुनाव अत्यन्त कर्णप्रिय है, और वे प्राय: हमें अपने अभिप्राय आत्यन्तिक आदर्शात्मक विचार की अपेक्षा अपने काव्यात्मक मूल्य द्वारा हम पर रुचिकर प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

योगवासिष्ठ पर कई भाष्य मिलते हैं, कई टीकाओं में वसिष्ठ-रामायण चन्द्रिका ग्रन्थ प्रसिद्ध है। बृहत्-योगवासिष्ठ, लघुयोगवासिष्ठ आदि अनेक ग्रन्थ मिलने से यह सिद्ध होता है कि योगवासिष्ठ बड़ा ही प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है।

तत्त्वमीमांसा परमतत्त्व

इस ग्रन्थ के तृतीय प्रकरण में उत्पत्ति के सम्बन्ध में दार्शनिक विवेचन प्राप्त होता है। डॉ० दास गुप्ता ने इसका वर्णन करते हुए कहा है कि बन्धन का मूल कारण दृश्य जगत् का भाव है, एवं इस प्रकरण का मुख्य विषय यह है कि दृश्य जगत् का कोई अस्तित्त्व नहीं है। प्रलय के समय सम्पूर्ण दृश्य जगत् की प्रतीति का नाश हो जाता है यथा सुषुप्ति में स्वप्न का। शेष जो बच जाता है वह गम्भीर एवं सीमित है, न तो प्रकाश है न अंधकार बल्कि केवल अव्यक्त और अनिर्वचनीय है, परन्तु फिर भी वह एक सत् पदार्थ है। यह तत्त्व स्वयं अपने आपको अन्य के रूप में प्रकट करता है, और प्रवाहहीन समुद्र की तरंगों के समान प्रकृतिशील तत्त्व के द्वारा मनस् के रूप में व्यक्त होता है। परन्तु वास्तव में जो कुछ भिन्न-भिन्न रूप में दृश्य जगत् दिखाई देता है, उसका वस्तुतः अभाव

ही है, क्योंकि यदि उसका प्रभाव होता तो किसी भी स्थिति में अभाव नहीं हो सकता था।[१] दृश्य जगत् का लेशमात्र भी अस्तित्व नहीं है। परम अनिर्वचनीय अनिश्चित तत्त्व जो केवल निर्वाणमात्र है अथवा पराबुद्धि है, वह सदा विद्यमान रहता है और उसमें क़ोई विकार अथवा परिवर्तन नहीं होता। इस तत्त्व के प्रथम स्पन्दन में अहंकार उत्पन्न होता है, जो भासित होने पर भी वस्तुतः परमतत्त्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है। धीरे-धीरे वायु में लहरों की तरह कई एक स्पन्दनों के द्वारा सृष्टि के विसर्ग की उत्पत्ति होती है। परमतत्त्व केवल संकल्प पुरुष ही है।[२]

वसिष्ठ मुनि के मतानुसार जिसका हमें अवभास होता है, वह संकल्प नगर अथवा गन्धर्व पट्टन के समान मनस् के संकल्प के कारण ही ही है। सार वस्तु परमतत्त्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है और जो कुछ उसके अतिरिक्त दिखाई देते हैं उसका कुछ भी अस्तित्व नहीं है वह केवल मानसिक जगत् है जो परम-तत्त्व के द्रव्य रहित अव्यक्त मानसिक जगत् से उत्पन्न होता है। ज्ञाता होने का हमारा भ्रम उस स्थिति में ही मिट सकता है, जबकि हम यह निश्चित रूप से अनुभव करलें कि इस दृश्य जगत् के भाव की सम्भावना ही नहीं है, और उस स्थिति में मोक्ष हो जाता है, यद्यपि दृश्यजगत् भासित होता रहे। इस मनस् को मानसिक रचनाओं द्वारा ही सर्ग-विसर्ग की उत्पत्ति दृश्य जगत् में हुई हैं। उसका कोई विशिष्ट रूप नहीं है, अपितु वह तो केवल नाममात्र एवं शून्यमात्र है।[३]

यह मनस् न तो हमारे अन्तर में है और न बाह्य यह तो हमारे चारों ओर शून्य की तरह व्याप्त है। इस सम्पूर्ण प्रपंच को मानस से प्रकट हुआ समझना मृगजल के समान है। सब रूपों एवं भावों के लक्षण केवल क्षणिक कल्पनाओं के समान है। जो कुछ व्यक्त है और जिसका भाव प्रतीत होता है, वह मनस् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है यद्यपि यह मानस स्वयं काल्पनिक उत्पत्ति बिंदु है

---

१. योगवासिष्ठ, ३.३।

२. सर्वेषां भूतजातानां, संसार व्यवहारिणाम्, प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दश्चित्तदेहः स्वतोदयः।
अस्मात् पूर्णात् प्रतिस्पन्दादनन्यैतत् स्वरूपिणी, इयं...............अनिलात्।।
—योगवासिष्ठ ३.३.१४-१५.

३. रामास्या मनसो रूपं न किंचिदपि दृश्यते।
नाम मात्रादृते व्योम्नो, यथा शून्य जड़ाकृतेः।। —योगवासिष्ठ ३.४.८

जिसकी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। जैसे–जल से रस और वायु से स्पन्दन पृथक् नहीं किया जा सकता ठीक उसी प्रकार मनस् दृश्य व भासों से भिन्न नहीं है, और न उनसे भिन्न किया जा सकता है। इस तरह, मनस् काल्पनिक तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण दृश्यजगत् उत्पन्न हुआ यद्यपि यह दृश्यप्रपंच एवं मनस् एक ही है और उनमें वैभिन्य बताना असम्भव है।[४]

द्रष्टा ही दृश्य के रूप में प्रकट होता है और वह दर्शनमात्र ही है जो द्रष्टा और दृश्य के रूप में प्रकट होता है। दृश्य-प्रपंच का अभाव ही मोक्ष स्थिति है। वास्तव में न तो द्रष्टा है, न दृश्य, न दर्शन, न शून्य, न प्रकृति और न पुरुष, न चित्त अपितु शुद्ध शांत अथवा शुद्ध अभाव है और इसी को हम ब्रह्म कहते हैं।[५] यह शुद्ध शांत स्वरूप है जिसे सांख्य पुरुष, वेदान्ती ब्रह्म, लौह विज्ञानवादी विज्ञान-मात्र और शून्यवादी पूर्ण शून्य कहते हैं।[६] और यही शून्य अन्तर और बाह्य जगत् में व्याप्त है।[७]

उस शून्य की परिभाषा इस तरह से की गई है जो इस प्रकार नहीं दिखाई देता है और जो सबका आधार है अर्थात् जिसमें जगत् स्थित है, और जो सृष्टि का कारण होते हुए भी शून्य रहता है।[८] मृगजल अथवा बन्ध्या पुत्र के समान मायिक दृश्य प्रपंच को पूर्ण रूप से असत् ही समझना चाहिए। इस प्रकार परम तत्त्व न तो सत् है न असत् अपितु वह स्पंदात्मक और अस्पंदात्मक दोनों हैं।[९] वह आत्मा अनिर्वचनीय एवं अव्यपदेश है, न भाव है, न अभाव है, और न भावोऽभाव है तथा न स्पंदात्मक और न अस्पंदात्मक है।

योग वसिष्ट दर्शन की लंकावतार सूत्रों से इतनी निश्चित और गहन समानता है कि इस विषय का विस्तृत विवेचन पाठकों का ध्यान रखकर वर्तमान कृति की प्रथम पुस्तक में वर्णित लंकावतार-दर्शन की ओर आकृष्ट किया गया है।

---

४. पूर्णे पूर्णं प्रसरति शांते शांत व्यवस्थितम्.....चिन्द्दांतमेवेदमाततम्।
—योगवासिष्ठ ३.४.६९-७०

५. योगवासिष्ठ ३.५. ६-७।

६. नाशरूपो विनाशात्मा। —वही ३.५.१६.

७. योगवासिष्ठ ३.७.२२।

८. योगवासिष्ठ ३.९.५९।

९. योगवासिष्ठ ३.९.५९।

सृष्टि रचना

सृष्टिसंरचना के विषय में योगवासिष्ठ का मत गौडपाददर्शन से मिलता-जुलता है, इसलिए इस दर्शन में कहा है कि वास्तविक रूप में न तो जगत् की उत्पत्ति होती है और न ही विनाश होता है।[१०] ऐसा मानने पर भी दृश्य जगत् को मानते हुए सृष्टिरचना पर विवेचन किया गया है। इस दृश्य जगत् के व्यक्त होने का क्रम इस प्रकार है कि प्रथम परमतत्त्व में स्व संकल्प होता है, जिससे अनिवर्चनीय तत्त्व प्रकट होता है और उससे अहंकार की उत्पत्ति है। उसके स्पंदन से एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसको बुद्धितत्त्व कह सकते हैं, जो शुद्ध बुद्ध और निरंजन है, और जिसमें प्रत्येक वस्तु प्रतिबिम्बित होती है और इसी तत्त्व को हम चित्त कहते हैं। ज्यों-ज्यों स्पंदन अधिक धनसम्वेदन होता है, त्यों-त्यों जीव के दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं। इस सोपान पर वह अपनी परम स्थिति को भूल-सा जाता है और भावना मात्र-सार के रूप में अपने-आप में से प्रवाहित होने लगता है। प्रथम विषय आकाश है जो शुद्ध शून्य है। उसी क्षण अहंता और काल उत्पन्न होता है। यह सृष्टि किसी अर्थ में भी वास्तविक नहीं है। परम तत्त्व के और स्व-सम्वेदन-मात्र के दृश्य की प्रतीति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सत् का यह जाल असत् है और सत् की प्रतीतिमात्र है। समवित् जो आकाश एवं अहंकार सदृश है और जो भावना के गर्भ का बीज है, उसी का विकार वायु स्पंदन है।[११]

आकाश में स्पन्दन के फलस्वरूप घनीमय की उत्पत्ति होती है और इससे 'ख' तन्मात्रा उत्पन्न होती है। यही शब्द तन्मात्रा सब वेदों की जननी है, जिसमें शब्द वाक्य और प्रमाण सम्मिलित है। क्रमशः स्पर्श, तेज, रस, गन्ध उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से यह सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच, जो वस्तुतः इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है कि वे बुद्धितत्त्व के गर्भ से उत्पन्न हुए। पुनः ज़ीव उत्पन्न होता है, जिसमें चैत्य संयोग चेतन के केवल सम्पर्क अथवा स्पर्श से ही बाह्य चित्त-शक्ति आई है न कि स्वयं में निहित स्व-संचालित चेत्यत्व से हैं। इसके पश्चात् मायिक अविद्या उत्पन्न होती है, जिसके फल स्वरूप जीव समझने लगता है कि वही चैतन्य कर्त्ता

---

१०. वंध्यापुत्रव्योमवने यथा न स्तः कदाचन। जगदाद्यखिलं दृश्यं तथा नास्ति कदाचन। न चोत्पन्नं न च ध्वंसि यत्.............शब्दस्य का कथा। –योगवासिष्ठ ३.२.४-५।

११. मनः संपद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम्........घनस्पन्दक्रमान्मनः।
–योगवासिष्ठ ४.४४.१६-१७

है और इसी कारण चैत्यैक से पृथक् है जिसका परिणाम यह होता है कि जीव में अहंकार आ जाता है जो बुद्धित्वाक् कलन के कारण पृथक्- पृथक् तन्मात्राओं का दृश्यप्रपंच और जगत् की उत्पत्ति होती है। परन्तु वे सब सर्ग है और इस कारण उनकी वस्तु-स्थिति केवल दृश्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि उनका गुण केवल विकल्पमात्र है, अत: वे कभी भी वास्तविक नहीं हो सकते। जो कुछ प्रतीति का भाव दिखाई दे रहा है वह विकल्प के स्पन्दन का परिणाम है। यह इच्छा उत्पन्न होते ही कि 'मुझे देखना है' दो आंखें प्रकट हो गई और ऐसे ही स्पर्श, गन्ध, रस और श्रवण की इन्द्रियाँ बन गई। न तो जीव एक है और न उन्हें अनन्त कह सकते हैं। केवल ब्रह्म के विकल्प की सर्व शक्तिमत्ता से इतने जीवों का दृश्य जगत् प्रकट होता है। वास्तव में जीवों का कोई अस्तित्त्व विकल्प कुछ नहीं है, जिससे कि उनकी प्रतीति होती है। कोई रूप अथवा पदार्थ है ही नहीं वे केवल चित्तचमत्कार है।

इस सिद्धान्त के अनुसार मनस् शुद्ध चित्त के कार्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जिसके द्वारा वह अपने-आपको दृश्य के रूप में बाहर निकालती है। यहाँ पर शुद्ध चित्त को हम आध्यात्मिक कह सकते हैं और उसकी दृश्यता को हम आधिभौतिक कह सकते हैं।[१२] दृश्यता में भी चित्त अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे को नहीं देखता, यद्यपि वह अन्य को देखता हुआ-सा प्रकट प्रतीत होता है। और इस दृश्यप्रपंच का प्रारम्भ अहंता से होता है।

इनकी यह भी मान्यता है कि मनस् होने से वही ब्रह्म अपने आपको चित्त में परिवर्तित कर देता है, और इस तरह से यह परिवर्तनशील प्रतीतियों को उत्पन्न करता है। परन्तु स्वयं ब्रह्मतत्त्व में कोई अन्य वस्तु नहीं हो सकती। (ब्रह्मतत्त्वेऽ-न्यता नास्ति) परमब्रह्म की स्थिति मनस् की स्थिति से उच्चतर है। यद्यपि मनस् में परिवर्तन होना और उसके द्वारा जगत् प्रपंच की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है, परन्तु यह परिवर्तन वास्तविक नहीं अपितु भ्रमात्मक है, क्योंकि इस परिवर्तन की प्रतीति होते हुए तथा स्थित रहते समय भी ब्रह्म अविकारी और अपरिच्छिन्न एवं निर्लेप रहता है। इस तरह सम्पूर्ण दृश्य जगत् ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, एवं जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका अभाव ही है। द्रष्टा अपने आपको दृश्य में कभी परिवर्तित नहीं करता, परन्तु अपने आप ही स्वयं समस्त दृश्यों में वही रहता है।

---

१२. चित्तो यच्चेत्य कलनं तन्मनस्त्वमुदाहृतम् चिद् भागोऽत्राजडो, जाड्यमत्र हि चेतता।
—योगवासिष्ठ ३.९१.३७

इस विचारधारा में सृष्टि सम्बन्धी अनेक प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं, जिसका स्वाभाविक उत्तर यही है कि यह व्यवस्था और समता कई लोकों में काल्पनिक उत्पत्तियों की समानता पर एवं आकस्मिक बातों पर निर्भर है। यह आकस्मिक बात है कई स्वप्न क्रम-दूसरे स्वप्न-क्रमों से संगति रखते हैं।[१३] परन्तु वस्तुत: वे सब केवल एक मनस् से ही स्वप्न-रचनाएं है। होता यह है कि वासना रूपी स्वप्न द्वारा भौतिक वस्तुएं धीरे-धीरे अपने से पृथक् स्थाई रूप से रहती हुई समझी जाने लगती हैं। यद्यपि स्वप्न के रहते वे वास्तविक प्रतीत होती हैं फिर भी वे इस काल में सिवाय स्वप्नजगत् के और कुछ नहीं है। शुद्धचैतन्य अपने आप स्वयं को बदलकर जो स्वप्न देखता है, वह ऐसा है कि स्वयं अपने में एक सा होता हुआ भी अन्य देश, काल, क्रिया और द्रव्य के रूप में भिन्न-भिन्न सा प्रतीत प्रतिरूप यह जागद्रूप बड़ा भारी-स्वप्न के सदृश प्रतीत होता है।

योगवासिष्ठ का मत यह है कि साधारण जागृतस्थिति और स्वप्नस्थिति में अन्तर यही है कि जागृतावस्था को हम स्थिरप्रत्यय मानते हैं और स्वप्नावस्था का हम सामान्यत: कोई स्थायी आधार नहीं समझते हैं। स्थित रहने वाला कोई भी अनुभव स्वप्न हो अथवा नहीं स्थायी समझा जाता है। चाहे यदि हमारे जागृत प्रत्यय परिवर्तनशील समझे जाए, तो वे भी अपना स्थायित्व खो देते हैं और हमारा उनमें विश्वास स्थित ढिल-मिल जाता है।

यदि स्वप्न के अनुभव कुछ समय तक रहे और जागृत अनुभव क्षणिक हो तो जागृतावस्था स्वप्नवत् समझी जाएगी और स्वप्न के दृश्य स्वप्नावस्था में साधारण अनुभव समझे जायेंगे। केवल जागृतावस्था आने पर ही स्वप्न भंग होता है और तभी स्वप्नों का बाध होने के कारण मिथ्या समझे जाते हैं। परन्तु जब तक स्वप्नावस्था में स्वप्न दिखाई देता रहता है हम उन्हें झूठा नहीं समझते क्योंकि उस अवधि में स्वप्न के दृश्य स्थायी प्रतीत होते हैं, और इसी कारण वास्तविक है। इस तरह से जागृत अवस्थाओं और स्वप्न अवस्थाओं में केवल इतना ही अन्तर है कि प्रथम अवस्था आपेक्षिक दृष्टि से स्थिर और चालू रहने वाली है और दूसरी अवस्था अस्थिर और परिवर्तनशील है।[१४]

---

१३. मेलनमयि स्वकीयपरकीयस्वप्नानां देवात् क्वचित् संवादवत् स्वांतः कल्पनात्मकमेव।
—योगवासिष्ठ ४.१८.४६. (तात्पर्य प्रकाश)

१४. जाग्रतस्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना समः सदेव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः। स्वप्नोऽपि स्वप्न समये स्थैयाज्जाग्रत्त्वं ऋच्छति अस्थैर्यात् जाग्रदेवास्ते स्वप्नस्ता दृशबोधितः।
—योगवासिष्ठ—४.१९.११.१२.

हमारे अन्दर एक शुद्ध चैतन्यभाव है जो वस्तुतः जीव, धातु, वीर्य और तेजस् ही है। जागृतावस्था में जब शरीर का सम्बन्ध मन, वचन, कर्म से होता है तो बुद्धि अपना कार्य करना प्रारम्भ कर देती है जिसके परिणामस्वरूप सब तरह का सांसारिक ज्ञान उत्पन्न होता है और उसके कारण जगत्प्रपंच की माया व्यक्त हो जाती है जैसे इन्द्रियों के गोलखों द्वारा बाह्य स्पर्श से कोई वस्तु अन्दर आती है और यही स्थिर एवं निश्चित स्वभाव वाली होने से जाग्रतअवस्था कहलाती है। सुषुप्तावस्था वह है जिसमें शरीर मनस्, कर्म अथवा वचन की क्रिया से क्षुब्ध नहीं होता। बुद्धि शांत रहती है और उसमें बिना किसी बाह्य अभिव्यक्ति के तिल में तैल की तरह प्रसुप्तावस्था में रहती है।[१५] जब जीव-धातु अतिक्षुब्ध हो जाता है तो हमें स्वप्नावस्था के अनुभव होते हैं। जब कभी मनस् अपने-आप की कोई वृत्ति से पूर्णतया एकत्व स्थापित कर लेता है तो वह अपने-आपको ऐसी ही वृत्ति वाला बना हुआ प्रतीत होता है, जैसे कि अग्नि में लोहे का गोला स्वयं अग्नि के समान हो जाता है। मनस् ही पुरुष और विश्वरूपता (दृश्य) है।[१६]

सांख्य दर्शन के अनुयायी मनस् को शुद्ध चित्त समझते हैं और उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया है और उनके मत में सांख्य शास्त्र में बताए गए साधनों के अतिरिक्त किसी अन्य साधन द्वारा मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। वेदान्त के अनुयायियों का भी यह विचार है कि यदि कोई सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म समझें और आत्म संयमक इच्छाओं की निवृत्ति यदि इसी ज्ञान के साथ जोड़ दें तो मोक्ष सम्भव है।

विज्ञानवादियों की यह धारणा है कि यदि पूर्ण इन्द्रिय दमन एवं विषयों की समाप्ति हो जाए और साथ ही उसको यह ज्ञान हो जाए कि जगत्प्रपंच स्वयं उसके ही भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अर्थात् मिथ्या है तो वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इस तरह के प्रत्येक दर्शन मोक्ष के झूठे नियमों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहता है और उसका कारण परम्परागत गलत विचारधाराएं ही है। परन्तु इन सब विचारधाराओं के मूल में सत्य यह है कि मनस् ही अखिल सृष्टि का मूल है।

---

१५. योगवासिष्ठ ४.१९.२३।
१६. योगवासिष्ठ ४.२०.२३।

जीवन्मुक्त

योगवासिष्ठ के अनुसार मुक्ति प्राप्त होने से पूर्व जीवन्मुक्त अवस्था माना गया है जिस समय आत्मा में कोई वासना नहीं रहती उस समय उसकी दृष्टि सदा (अन्तर्दृष्टि) अन्तर्मुखी ही रहती है। यद्यपि वह अपने बहिर्चक्षु से वस्तुओं को देखता है और अपने सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों की समस्त क्रियाएं करता रहता है। वह भविष्य की प्रतीक्षा नहीं करता, न वर्तमान में रहता है और न भूत को याद करता है। वह सोता हुआ भी जाग्रत है और जाग्रत भी सुषुप्त है। वह सम्पूर्ण कर्म बाह्यरूप से करता हुआ भी आंतरिकरूप से उनसे पूर्णतया अप्रभावित रहता है। वह अन्तर से समस्त कर्मों को संन्यस्त करता है और अपने लिए कोई इच्छा नहीं रखता। वह आनन्द से परिपूर्ण रहता है, और इसी कारण साधारण दृष्टि वाले लोगों में साधारण सुखी व्यक्ति दिखाई देता है, परन्तु वह वास्तव में सब तरह के काम करता हुआ भी अपने आप को कर्तृत्व से मोहित नहीं करता, 'त्यक्तरकर्तृत्वविभ्रमः' अर्थात् उसको कर्ता होने का भ्रम नहीं होता। उसको द्वेष, शोक, संवेग अथवा सुख के उद्वेग नहीं होते। वह अपने साथ शुभ अथवा अशुभ करने वालों के प्रति तटस्थ रहता है, वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ अपने स्वयं के ढंग से सहानुभूतिपूर्ण रुचि दिखाता है, बच्चों के साथ खेलता है और बूढ़ों के साथ गम्भीर हो जाता है और युवकों का प्रिय सखा बन जाता है, तथा दु:खियों के दुःख में सहानुभूति प्रकट करता है। वह जिस किसी के सम्पर्क में आता है उसके साथ बुद्धिमत्ता और प्रेमपूर्वक रोचक व्यवहार करता है। वह अपने शुभ कर्मों में, भोगों में, पापों में बन्धन में अथवा मुक्ति में कोई रुचि नहीं दिखाता। उसको सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच के स्रोत एवं स्वभाव का सच्चा दार्शनिक ज्ञान होता है, और वह शुभाशुभ अथवा तटस्थ भौतिकी घटनाओं में तटस्थ रहता है।

जीवन्मुक्ति को शंकर भी सम्भव मानते हैं, यद्यपि उन्होंने अपने ब्रह्म सूत्रों में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इस तरह से छांदोग्य के आधार पर वह लिखते हैं कि ज्ञान से केवल उन्हीं कर्मों का नाश होता है जिनका भोग प्रारम्भ में नहीं हुआ है। जिन कर्मों का भोग प्रारम्भ हो गया है उनका नाश सच्चे ज्ञान से भी नहीं हो सकता, और इस तरह से किसी के लिए शुभ अथवा अशुभ कर्मों के फल से छुटकारा पाना असम्भव है, और यह मानना ही पड़ेगा कि सच्चे ज्ञान के उदय होने के पश्चात् भी उन प्रारब्ध भोग के हेतु शरीर रहता है, जिनका

कि फल प्रारम्भ हो गया है और उनका क्षय भोग अथवा दुःख के द्वारा नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति के स्पष्टीकरण में शंकर दो उपमाओं का उपयोग करते हैं–

१. घड़े के पूर्ण निर्मित हो जाने पर भी, जैसे–कुम्हार की चाक चलती ही रहती है, इसी तरह से शरीर जो कि शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति तक आवश्यक होता है, ऐसे ज्ञान के उदय होने के पश्चात् भी कुछ समय तक चालू रहता है।

२. जैसे कि आंख का रोगी निश्चय होने पर भी कि चन्द्र दो नहीं है, अपितु एक है, एक की अपेक्षा दो चन्द्र देखता है इसी तरह से जीवनमुक्त को जगत् प्रपंच की असत्यता की दृढ़ प्रतीति होने पर भी वह माया का दृश्य देखता है यद्यपि वह अन्तर में उससे अप्रभावित रहता है।[१७]

उपनिषदों में केवल उत्तरकालीन मुक्तिक उपनिषद् में, जिसने योगवासिष्ठ से प्रेरणा ली प्रतीत होती है, जीवन्मुक्त शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ वह सन्त है जो प्रारब्ध कर्म के भोगक्षय होने तक जीवित रहते हैं।[१८] परन्तु यद्यपि उपरोक्त शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है फिर भी इसके सम्बन्ध में मान्यता अत्यन्त पुरानी प्रतीत होती है।

जीवन्मुक्त का वर्णन श्रीमद्‌भगवत् गीता में भी स्थितप्रज्ञ, जिसमें कोई वासना नहीं रहती है, के रूप में किया है। योगवासिष्ठ में जीवन्मुक्त गीता के स्थित–प्रज्ञ से ऊँचा इस अर्थ में रख दिया गया है कि यह जीवन्मुक्त पुण्य एवं पाप के परिणाम के फलस्वरूप सुख–दुःख से पूर्णतः अप्रभावित रहता हुआ भी हमसे बिल्कुल विरक्त नहीं है, क्योंकि अपने स्वयं से कल्याण में वह रुचि न रखता हुआ भी दूसरों के सुख में सुखी एवं दूसरों के दुःख में सहानुभूति रखता है; वह बच्चे के सदृश आनन्द मना सकता है जबकि बच्चों के साथ हो, और जब दार्शनिक अथवा वृद्धों के साथ हो तो उतना ही गम्भीर हो सकता है, जितना कि अन्य दार्शनिक। श्रीमद्‌भगवतगीता का कहना यह नहीं है ऐसे गुण स्थितप्रज्ञ में नहीं है, फिर भी उनका उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें जीवन्मुक्त के विरक्त और निवृत्ति प्रधान दृष्टि पर ही बल दिया

१७. शंकर का ब्रह्मसूत्र ४.१.१५.१९।
१८. मुक्ति उपनिषद् १.४२.११. ३३, ३५, ७६ भी देखें।

गया है। जब कि योगवासिष्ठ में जीवन्मुक्त सन्त के निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों पक्षों पर बल दिया है। वह पूर्णतः अप्रभावित रहते हुए भी समाज से विरक्त नहीं है और अपने मानसिक सन्तुलन को किसी तरह से खोए बिना भी प्रत्येक प्रवृत्ति में भाग-लेता हुआ प्रतीत होता है। गीता सदा निश्चित रूप में अनासक्त योगी के लिए ही शुभ कर्म करने का विधान करती है, परन्तु उसमें यह कभी दिखाई देती है कि जीवन में सबके साथ पूर्ण और उचित रुचि लेने का आदेश नहीं है, यद्यपि योगी सब कुछ करता हुआ भी पूर्णतः अन्तर में अप्रभावित रहता है।

योगवासिष्ठ में जीवन्मुक्त स्वयं अपने कर्म ही अनासक्त होकर नहीं करता, अपितु प्रत्यक्षतः दूसरों के सुख-दुःख में भागीदार हो जाता है।

भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शन जीवन्मुक्त अवस्था की सम्भावना के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं हैं। इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार अपवर्ग केवल उसी अवस्था में सम्भव है, जबकि जीवन सब प्रकार के नौ भावों (अर्थात्, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न, पुण्य, पाप और वासना) से पूर्णता छुटकारा प्राप्त कर ले। जब तक वस्तुतः यही विलगता नहीं हो, तब तक मुक्ति सम्भव नहीं हो सकती और यह मानना कठिन नहीं है कि यह मृत्यु के बाद भी सम्भव हो सकता है, अतः मोक्षशरीर जीवित रहने तक सम्भव नहीं है।[१९]

इस विषय का विवेचन वात्स्यायन ने (न्यायसूत्र ४, २, ४२-४५ पर) निम्न प्रकार से किया है कि बाह्य वस्तुओं का इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है, क्योंकि अपवर्ग में जीव शरीर से और सब इन्द्रियों से पृथक् हो जाता है, अतः ज्ञान सम्भव नहीं है, और ज्ञान के नष्ट होने पर दुःख की भी आत्यन्तिक एवं पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।[२०] वैशेषिकों ने उसी मत को मान्यता दी है। श्री हर्ष कहते हैं कि, जब परमार्थ दर्शन द्वारा सम्पूर्ण पुण्य समाप्त हो जाता है, तब जीव पुण्य और पाप के बीजों को दग्ध कर देता है जो शरीर एवं इन्द्रियाँ इत्यादि का कारण है और वर्तमान शरीर पुण्य और पाप के भोगों को भोग के

---

१९. तदेवनवानां आत्म गुणानां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्गः।
तदेवेदं उक्तं भवति तदत्यन्त वियोगोऽपवर्गः॥ —न्याय मंजरी, पृ० ५०८

२०. यस्मात् सर्वदुःख बीजं सर्वदुःखायतनं चापवर्गः। विचिद्यते तस्मात् सर्वेण दुःखेन विमुक्तिः। अपवर्गो नो निर्वीजं निरायतनं च दुखं उत्पद्यते।
—न्या०सू० पर वात्स्यायन भा० ४.२.४.३.

द्वारा क्षय करने से समाप्त हो जाता है और कर्म के बीजों के दग्ध हो जाने से नया शरीर उत्पन्न होना सम्भव नहीं है, इसलिए शरीर का नाश हो जाता है, जैसे कि सम्पूर्ण समिधा जलने से अग्नि समाप्त हो जाती है, और ऐसी शरीर की नित्य अनुत्पत्ति को मोक्ष कहा जाता है।[२१]

प्रभाकर का भी मत यही प्रतीत होता है। इस तरह शालिकनाथ अपने प्रकरण-पंचिका में प्रभाकर के मत का विवेचन करते हुए कहते हैं कि शरीर का पुण्य और पाप के भोग-क्षय से अन्ततःपूर्ण समाप्त हो जाना ही मोक्ष है।[२२]

सांख्यकारिका का मत है कि जब सम्यक् ज्ञान अधिगम हो जाता है और जब उसके परिणामस्वरूप अनादि-काल से संचित कोई भी कर्मों के नियत विपाक फल भोगने के हेतु परिपक्व हो गए हैं तो शरीर केवल अनादि अविद्या के अनुद्योग के कारण स्थित भले ही रहे, जैसे कि कुम्भकार का चक्र कार्य समाप्त करने के पश्चात् भी गतिमात्र प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप गतिमान रहता है।[२३]

जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में विद्यारण्य योगवासिष्ठ के मत को मानते हुए कहते हैं कि यद्यपि वे अन्य शास्त्र विदेहमुक्ति के विषय में भी योगवासिष्ठ के उद्धरणों द्वारा उसकी पुष्टि करते हैं। जीवन्मुक्ति, वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान एवं मनःनाश का सीधा परिणाम है फिर भी विद्यारण्य के मत में स्थिरतत्त्व ज्ञान के कारण भावों एवं आसक्ति से जीवन्मुक्त की कोई हानि नहीं हो सकती, जैसे कि नाग की विषग्रन्थि को निकालने के पश्चात् काटने पर भी वह कोई हानि नहीं कर सकता। इस तरह से याज्ञवान्वग्र का उदाहरण देते हैं जिसने शाप देकर शाकल्य को मार दिया, परन्तु उससे उसे कोई पाप नहीं लगा, क्योंकि वह जीवन्मुक्त था और जगत् की असत्यता के सम्बन्ध में उसको दृढ़ ज्ञान हो गया था। अतः उसका क्रोध यथार्थ एवं वासना से युक्त नहीं था, अपितु आभासमात्र था।[२४]

---

२१. यथा दग्धेन्धनस्यानलस्योपशलः पुनरनुत्पाद एवं पुनः शरीरानुत्पादो मोक्षः।
—न्याय कंदली, पृ० २८३

२२. आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निरशेष धर्माधर्मपरीक्षस्यनिबन्धनो मोक्ष इति।
—प्रकरण पंचिका, पृ० १५६

२३. सांख्य कारिका ६७, ६८।

२४. जीवन्मुक्ति विवेक, पृ० १८३-१८६।

पुरुषार्थ शक्ति

योगवासिष्ठ ने पुरुषार्थशक्ति के विवेचन में पुरुषार्थ एवं उसकी महान् संभावनाओं और उसके प्रारब्ध कर्म के बन्धन इत्यादि को नाश करने की शक्ति पर विशेष बल दिया है। योगवासिष्ठ में पौरुष की परिभाषा साधु-उपदिष्ट मार्ग में मानसिक एवं भौतिक प्रयत्न के रूप में दी गई है, क्योंकि केवल ऐसे कर्म ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।[२५] यदि व्यक्ति किसी वस्तु की इच्छा करे एवं ठीक ढंग से प्रयत्न करे तो वह वस्तु प्राप्त कर सकता है, यदि वह बीच में से ही न मुड़ जाए।[२६] पौरुष दो प्रकार का है-प्राक्तन् अर्थात् पूर्व जन्म का एवं ऐहिक अर्थात् इस जन्म का है और पूर्व पौरुष वर्तमान पौरुष से दबाया जा सकता है।[२७] पूर्वजन्म के कर्म और इस वर्तमान जन्म के कर्म में सदा संघर्ष होता रहता है और प्रथम या द्वितीय अपनी शक्ति के अनुसार विजय प्राप्त करता है। केवल इतना ही नहीं है, अपितु एक व्यक्ति के प्रयत्न दूसरे व्यक्ति के विरोधी प्रयत्नों से टकराते हैं, और इन दोनों में से भी जीत अधिक शक्तिशाली की होती है।[२८] दृढ़ निश्चय और पौरुष के शक्तिशाली साधन से इस जन्म के प्रयत्न प्रारब्ध के प्रभाव को समाप्त कर सकते हैं। इस विचार धारा को मन से निकालना पड़ेगा कि प्रारब्ध का प्रभाव मनुष्य को चाहे जिस प्रकार से घुमा सकता है, क्योंकि दैनिक क्रियमाण कर्मों के प्रत्यक्ष प्रभाव से प्रारब्ध के प्रभाव किसी भी अवस्था में अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकते।

सम्पूर्ण प्रयत्न शास्त्रों के आदेशानुसार होना चाहिए। निःसंदेह मानव प्रयत्नों की एक सीमा है। जिससे आगे जाना सम्भव नहीं है, अतः शास्त्रों के आदेशों को मानकर सन्मित्रों के संग द्वारा और सदाचार का अनुसरण करके उचित प्रयत्नों में उचित मितव्यतता का पालन करना आवश्यक है, क्योंकि शास्त्र विरुद्ध अनिश्चित अथवा गलत दिशा में किए गए प्रयत्नों का शुभ फल नहीं हो सकता

---

२५. साधूपदिष्टमार्गेण यन्मनोङ्ग विचेष्टितम्। तत् पौरुषं तत् सफलं अन्यद् उन्मत्ता चेष्टितम्। —योग चा० शि० ४

२६. यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात्।
अवश्यं स तमाप्नोति न चेत् अर्धान् निवर्तते।। —योग वा० ११.४.१२

२७. योगवासिष्ठ ११.४.१७।

२८. योगवासिष्ठ ११.५.५७।

है।[२९] डॉ० दास गुप्ता[३०] स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पूर्व जन्मों के कर्मों की शक्ति को श्रेष्ठ प्रयत्नों द्वारा क्षय करना सम्भव है क्योंकि क्रियमाण कर्मों के बिना अत्यन्त अशुभ परिणाम सम्भव है। जब कभी महान् प्रयत्न किया जाए एवं महान् शक्ति का प्रयोग हो तो विजय निश्चित है। पूर्व जन्म का देव अथवा इस जन्म का पौरुष अधिक बलवान् है, यह प्रश्न उन दोनों की आपेक्षिक शक्ति परं निर्भर करता है, और देव का वह भाग जो क्रियमाण से निर्बल है, वह स्वाभाविक रूप से समाप्त होता है जो केवल प्रारब्ध की ही पराधीनता स्वीकार करने के परिणाम स्वरूप अशुभ प्रारब्ध को मिटाने का उचित प्रयत्न नहीं करता वह पशु के समान देव अथवा ईश्वर की दया पर निर्भर रहता है जो उसे स्वर्ग अथवा नरक में ले जा सकती है। तथाकथित प्रारब्ध अथवा देव की शक्ति को समाप्त करना एवं जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए अधिकतम प्रयत्न करना ही सम्पूर्ण प्रयत्नों एवं साधनों का उद्देश्य है।

योगवासिष्ठ केवल यही नहीं कहते हैं कि पौरुष देव को जीतकर समाप्त कर सकता है, अपितु वह देव के अस्तित्त्व को ही नहीं मानता और इसको केवल इन्द्रजाल कहता है, जिसका वस्तुत: भाव ही नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रयत्न एवं साधन समवित्स्वयं मन:स्पन्द एवं ऐन्द्रियस्पन्द के रूप में व्यक्त होते हैं। समवित्स्पंद के पश्चात् चेतस् स्पन्द होता है, और शारीरिक क्रिया उसी के अनुसार होती है, और वैसे ही सुख और दु:ख का भोग होता है। यदि यह मत सत्य है, तो देव कहीं नहीं दिखाई देता। वास्तव में कोई देव है ही नहीं, और जब कभी किसी को कोई सफलता मिली है तो वह सदा पुरुषार्थ के सतत् महान् प्रयत्न से मिली है, चाहे वे स्वयं ऐकान्तिक हो अथवा शास्त्र के अनुसार या गुरु के आदेशानुसार हो।[३१] हम सब का यह कर्त्तव्य है कि शुभ के लिए प्रयत्नशील रहे और अशुभ से अपने मन को दूर हटाले। जितने भी प्रमाण हमें उपलब्ध हो उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है और केवल देव पंगु है, खाने के प्रयत्न से ही भूख की

---

२९. स च सच्छास्त्रसत्संगसदाचारैर्निजं फलम्।
दददातीति स्वभावोऽयं अन्यथा नार्थसिद्धये।। —योग० वा० २.५.२५

३०. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ० दास गुप्ता, भाग ४, पृ० २४३-४४

३१. शास्त्रतो गुरुतश्चैव स्वतश्चेति त्रिसिद्धय:।
सर्वत्र पुरुषार्थस्य न देवस्य कदाचन।। —योगवासिष्ठ २.७.११

तृप्ति होती है, और वाणी के प्रयत्न से ही शब्द निकलता है, एवं पैरों के प्रयत्न और इसी के अनुसार मांसपेशियों के स्पन्दन द्वारा मनुष्य चल सकता है। इस तरह से प्रत्येक वस्तु पर प्रभाव पड़ता है जब वह शास्त्र की सहायता से एवं गुरु के आदेश से किया जाए।

योगवासिष्ठ ने यह स्पष्ट किया है कि मूर्ख लोग ही देव पर निर्भर रहते हैं। विद्वान् एवं बुद्धिमान् पुरुष अपनी परमगति को अपने द्वारा किये गए पुरुषार्थ से प्राप्त कर लेते हैं। जो केवल देव के ही सहारे रहते हैं, वे अपना ही विनाश करते हैं।[३२] इस विषय में वसिष्ठ ने यह भी स्पष्ट किया है कि जब पुरुषार्थ तथा प्रयत्न असफल हो जाता है तो प्राय: व्यक्ति उसे देव कह देते हैं। वस्तुत: देव है ही नहीं, वह केवल शून्य है, न तो वह सहायक हो सकता है और न ही बाधक। कोई कार्य प्रारम्भ करते समय व्यक्ति के मन में परिणाम स्वरूप सफलता की इच्छा होती है। कई बार वह इच्छापूर्ण नहीं होती है तो उस निराशा की अवस्था में वह कह देता है कि यह देव इच्छा है। देव कर्मों का ही दूसरा नाम है, जो फल भोग की तीव्र इच्छा से किए गए है, इस तरह से कर्म वासना के समान, और वासना मनस् के समान तथा मनस् पुरुष अथवा कर्त्ता के समान है, अतएव देव पुरुष से पृथक् कोई तत्त्व नहीं है; और वे सब एक ही दुर्निश्चय तत्त्व के पर्यायवाची है। जो कुछ मनस् करने का प्रयत्न करता है, वह स्वयं ही करता है, जो कि देव के द्वारा किया हुआ कहा जाता है। मनस् में शुभ अथवा अशुभ कर्म कराने वाली दो प्रकार की वासनाएं है, और अशुभ के विरुद्ध शुभ वासना को जाग्रत करना हमारा परम कर्त्तव्य है ताकि अशुभ शुभ के परे एवं अधीन हो जाए। क्योंकि मनुष्य स्वयं कर्त्ता है अतएव यह कहना निरर्थक है कि अपने से अतिरिक्त दूसरी शक्ति द्वारा चलाया जा सकता है, यदि यह मान लिया जाये कि कोई अन्य शक्ति इसको बनाती है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उस शक्ति की प्रेरक दूसरी शक्ति कौन है, फिर आगे ओर शक्ति इस तरह से इसका अन्त नहीं होगा, अर्थात् अनवस्था दोष का प्रसंग होगा।[३३] इस तरह से मनस् स्वतन्त्रकर्ता है, और जो उसकी शक्ति को सीमित करती हुई प्रतीत होती है, वह

३२. मूढै: प्रकल्पितं देवं तत्परास्ते क्षयं गता:।
प्राज्ञास्तु पुरुषार्थेन पदं उत्तमतां गता:।। —योगवासिष्ठ २.८.१६

३३. अन्यस्त्वां चेतयति चेत् तं चेतयति कोऽपर:। क इयं चेतयेत् तस्माद् अनवस्था न वास्तवी। —योगवासिष्ठ २.९.२९

उसकी एक दिशा है, जिसे वह अपनी शुभप्रवृत्ति को जागृत करके मिटा सकते हैं।

योगवासिष्ठ में शारीरिक और मानसिक संरचना के विषय में प्राण का महत्त्व बतलाते हुए स्पष्ट किया है कि वह स्पन्दशक्ति है जो शरीर के ऊर्ध्व भाग में स्थिर है और अपान स्पन्द शक्ति जो शरीर के अधोभाग में स्थित है। शरीर में जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में स्वाभाविक प्राणायाम चालू रहता है। हृदय की गुफा में से प्राण की बहिर्वर्ती क्रिया रेचक कहलाती है। और द्वादश अंगुलि प्राण का अपान क्रिया के द्वारा अन्दर भरना पूरक कहलाता है। प्राण के रेचक एवं पूरक के मध्य रुकने की स्थिति को कुम्भक कहते हैं। असाधारण दीर्घायु वाले भुशुण्ड ने वसिष्ठ को प्राणविषय में उपदेश दिया है। वे शरीर की तुलना गृह से और अहंकार की तुलना गृहस्थ से करते है। इस गृह के तीन प्रकार के स्तम्भ है।[३४] तीन प्रकार के स्तम्भों द्वारा बने हुए घर में नौ दरवाजे हैं, जो स्नायु से ऐसे बंधे हुए हैं, जैसे–रक्त, मांस और मज्जा का प्लास्टर लगा हुआ हो। उसके दोनों तरफ दो नाड़ियाँ-इड़ा और पिंगला है जो निमीलित रहती है। एक अस्थि मांसमय यन्त्र भी है जो तीन युग्म कमलों के आकार का है और जिसके ऊपर और नीचे, दोनों ओर नालियाँ लगी हुई है, तथा अन्यान्य मिलित कमल शतदल है। जब उसको धीरे-धीरे वायु से भरते हैं, तो दल का स्पन्द होता है, और उसके द्वारा वायु की वृद्धि होती है। इस तरह से बर्धित वायु ऊपर नीचे भिन्न-भिन्न स्थानों में जाती हुई प्राण, समान, इत्यादि कहलाती है।

हृदय-कमल के त्रिविध यंत्र में प्राण की सम्पूर्ण शक्ति क्रियान्वित होती है, चन्द्र-किरण के सदृश ऊपर-नीचे फैलती है। वह बाहर जाती है, पुनः लौटती हुई, दूर चली जाती है, निकट आकृष्ट होती है, और इस प्रकार परिवहन करती है। हृदय में स्थित वायु प्राण कहलाती है, और इसकी ही शक्ति के द्वारा नेत्रों की त्वचा-इन्द्रिय की क्रिया, नासिका से श्वास लेने की क्रिया, आहार पचाने की क्रिया एवं वाणी की क्रिया सम्भव होती है।[३५]

प्राण रेचक का काम करता है, और अपान पूरक का और इन दोनों क्रियाओं के बीच का विश्रामक्षण कुम्भक कहलाता है। अतः यदि प्राण और

---

३४. त्रिप्रकारं महास्थूणम्। –योगवासिष्ठ ६.२४.१४।

३५. योगवासिष्ठ ६.२४।

अपान की गति बन्द हो जाए तो सतत् कुम्भक चालू रहेगा। परन्तु प्राण की क्रियाएं एवं शरीर का स्थिर रहना अन्ततोगत्वा चित्त के स्पन्द पर निर्भर है।[३६] यद्यपि शरीर में प्राण अपने स्पन्दन में वायु से सम्बन्धित होता है फिर भी वह चित्तशक्ति से निकली हुई स्पन्दनक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और इन दोनों से क्रिया एवं प्रतिक्रिया परस्पर होती रहती है, ताकि यदि शरीर की प्राणशक्ति बन्द हो जाए तो चित् शक्ति का स्वयं निरोध हो जाता है और इसके विपरीत ढंग से भी। इस प्रकार स्पन्द-निरोध के द्वारा हो प्राण निरोध होता है और प्राणनिरोध के द्वारा स्पन्दनिरोध हो जाता है। योगवासिष्ठ में वायु को केवल स्पन्द-मात्र माना गया है।[३७]

योगवासिष्ठ में स्पष्ट किया गया है कि चित्त एवं स्पन्दन वास्तव में एक ही है अतः यह पूर्णतः हिम एवं उसकी धवलता के सदृश अभिन्न है, इसी कारण एक का विनाश होते ही दूसरे का भी विनाश हो जाता है। चित्त का निरोध दो प्रकार से होता है, अर्थात् योग के द्वारा जिसमें मानसिक अवस्थाएं सुषुप्त हो जाती है, और दूसरा तत्त्वज्ञान के द्वारा। जैसे-जल पृथ्वी के रन्ध्रों में प्रविष्ट होता है इसी तरह से बात शरीर में नाड़ियों के द्वारा स्पन्दित होता है और वह प्राण कहलाता है। और यही प्राणवायु अपने विभिन्न क्रियाओं और कारणों के कारण अपान इत्यादि कहलाता है।

योगवासिष्ठ तथा अद्वैतवेदान्त

इस विषय में यह मान्यता प्रसिद्ध है कि शंकर अद्वैतवेदान्त तथा योगवासिष्ठ में कोई भेद नहीं हैं। क्योंकि शंकर के अद्वैतवेदान्त का लक्षण इन सिद्धान्तों में है कि स्वयं प्रकाशित द्रष्टा दृश्यहीन चैतन्य ही बाह्यजगत् तथा अन्तःकरण का तत्त्व है। जो कुछ परिवर्तन दिखाई देता है परम एवं अविकारी है वह इस तत्त्व के परे हैं, जो तत्त्व परमतत्त्व है। फिर भी परिवर्तनों की परमतत्त्व अथवा ब्रह्म के साथ सम्बन्ध हो गया है और इसी कारण दृश्य के अनन्त रूप एवं भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाओं की प्रतीति होती है। यह परिवर्तनशील है और इसी कारण इनका अनिर्देश्य अस्तित्त्व ब्रह्म से बिल्कुल भिन्न है, फिर भी आवश्यक रूप से भाव-रूप है।[३८] शांकर प्रत्ययवाद बाह्य विषयों को दृष्टामनस् से भिन्न नहीं मानता, और वह 'दृष्टि-सृष्टि है' के सिद्धान्तों को भी नहीं मानता।

---

३६. योगवासिष्ठ ६.२५. ६१-७४।

३७. स्पन्दते यत् स तद् वायुः। —योगवासिष्ठ ३.१३.३१.

३८. शांकर वेदान्त—भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १, डॉ० दासगुप्ता को देखें—कैम्ब्रिज, १९२२, पाठ दशम्।

इस प्रकार वह बौद्ध विज्ञानवादियों के मत की कड़ी आलोचना करते हैं, जो दृश्य जगत् के भाव को मनस् से भिन्न मानने में विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे मनस् के ही परिणाम प्रतीत होते हैं। इनमें से कुछ तर्क महान् दार्शनिक महत्त्व के है और एक समकालीन आंग्ल नव्यवस्तुवादी ने विज्ञानवाद का खण्डन करने में इसी तरह के तर्क प्रस्तुत किए थे।

बौद्ध अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब दो तत्त्व अभिन्न तौर पर एक साथ देखे जाएं तो वे एक से हैं, जैसे-दर्शन और उसके दृश्य एक साथ दिखाई देते हैं, अतः दर्शन दृश्य एक है; हमारे मानसिक विचार का आधार बाह्य जगत् में कुछ नहीं है, जिसके द्वारा वे प्राप्त होते हैं और स्वप्न में उसका अस्तित्त्व जबकि ज्ञानेन्द्रियाँ अचेतन रहती हैं, यह प्रदर्शित करता है कि दृश्य की प्रतीति के हेतु ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया आवश्यक नहीं है यद्यपि तथाकथित बाह्य दृश्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु वे अनिवार्य है। यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाए कि दृश्य है ही नहीं तो दर्शन की भिन्नता का कारण क्या होगा? तो उत्तर यही होता है कि भिन्नता का कारण वासना की शक्ति अथवा चित्त के साथ क्षण विशेष योग्यता का सम्बन्ध है।[३९]

यदि तथाकथित बाह्यदृश्य की भिन्न-भिन्न विशेष योग्यताएं हो, और उन्हीं के कारण दर्शन की भिन्नता है, तो मानसिक व्यवस्था के क्रमिक क्षण को भी भिन्न-भिन्न योग्यताएं समझी जानी चाहिए। जिनके द्वारा इन ज्ञानात्मक भावों से जनित दर्शन की भिन्नताएं होती है। स्वप्न में ये चित्त की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं, जो दर्शन की भिन्नता उत्पन्न करती है।

योगवासिष्ठ का प्रत्ययवाद शंकर के प्रत्ययवाद की अपेक्षा बौद्ध-विज्ञानवादियों के सिद्धान्त (मत) से अधिक मिलता-जुलता है, क्योंकि योगवासिष्ठ के मतानुसार प्रत्ययों का ही एक प्रकार का अस्तित्त्व है। उनके अतिरिक्त कोई भौतिक अथवा बाह्य जगत् का पृथक् अथवा स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं। 'सृष्टि-दृष्टि है' का सिद्धान्त योगवासिष्ठ का सिद्धान्त है, और शंकर ऐसे सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक खण्डन करते हैं। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में प्रकाशानन्द योगवासिष्ठ के प्रत्ययवाद के अनुसार वेदान्त का विवेचन करते वक्त यह प्रदर्शित करते हैं कि उसने वेदान्त के विवेचन योगवासिष्ठ से प्रेरणा ली, और दृश्य के अस्तित्त्व का प्रत्यक्ष न ही होने तक उसे मानने से नहीं माना। प्रकाशानन्द साधारणतया मान्य

---

३९. कस्यचिदेव ज्ञानक्षणस्य स तादृशः सामर्थ्यातिशयो वासनापरिणामः।

—भामती २.२.२८.

इस मत का खण्डन करता है कि इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होने पर ही दृश्य का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि उसके मत में दृश्य वही है, जिसका प्रत्यक्षीकरण हो अर्थात् दर्शन से पृथक् दृश्य का बाह्य स्वतन्त्र अस्तित्त्व है ही नहीं।

योगवासिष्ठ एवं प्रकाशानन्द दोनों अप्रत्यक्षीकृत दृश्य के अस्तित्त्व का निषेधं करते हैं, परन्तु शंकर केवल उनका अस्तित्त्व ही नहीं मानते, अपितु यह भी मानते हैं कि हमारे किसी बाह्य वस्तु को जानने से उसमें किसी प्रकार की वृद्धि या विकार नहीं होता सिवाय इसके कि वह हमारे चित्त में ज्ञान द्वारा आता है। वस्तुओं के अप्रत्यक्षीकृत होने पर भी उनका अस्तित्त्व जैसा है, वैसा ही है। यह एक प्रकार से शांकर-वेदान्त का प्रत्ययवाद इसी में है कि उसने ब्रह्म को अन्तर्यामी माना जो अपरिच्छिन्न एवं सर्वव्यापी और परमतत्त्व बाह्यदृश्य जगत् के अधिष्ठान के रूप में स्थित है। जितने भी अन्तर एवं बाह्य नाम रूपों का हम अनुभव करते हैं, अर्थात् जो सर्ग एवं विसर्ग है वे अनिर्देश्य एवं अनिवर्चनीय है और उसी का नाम माया कहा जाता है।

योगवासिष्ठ यह मानता है कि निर्गुण निराकार तत्त्व परमतत्त्व है, वही ब्रह्मचित्त अथवा शून्य माना जाता है। उसका नाम कुछ भी नहीं है। यह निर्गुण तत्त्व ही परमतत्त्व है। इस परमतत्त्व का सम्बन्ध स्पन्दन शक्ति से होता है, जिसके द्वारा वह भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत हो सकता है। प्रतीति एवं सत्य का सम्बन्ध बाह्य अनिर्देश्य एवं अनिवर्चनीय नहीं है, जैसा कि शंकर का मत है, परंतु निर्गुण आत्मा की इस आंतरिक शक्ति के स्पन्दन के द्वारा उत्पन्न होती हैं जो स्वयं द्रष्टा-दृश्यहीन शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परंतु इस आन्तरिक स्पन्दन का अपना स्वयं का कोई तर्क प्रतीत नहीं होता और न इसका कोई निश्चित सूत्र बताया जा सकता है। सर्ग और विसर्ग के कल्पित रूप की कोई निश्चित व्यवस्था भी नहीं है, परन्तु वह केवल काकतालीय है, क्योंकि उनका अस्तित्त्व केवल दृश्यमात्र ही है। योगवासिष्ठ का यह दार्शनिक सिद्धान्त दोष मुक्त प्रतीत होता है।

योगवासिष्ठ में मोक्ष अवस्था भी शिलावत् ही प्रतीत होती है। वस्तुतः योगवासिष्ठ विभिन्न दर्शनों के आध्यात्मिक सत्संग का वर्णन कथानक के रूप में प्रस्तुत करता है।

दशम अध्याय

चैतन्य का भक्ति दर्शन

मध्यकालीन दर्शन के उत्तरार्ध में रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि आचार्य एवं दर्शन का मिश्रित एक सम्प्रदाय विकसित हुआ, जो उत्तरभारत के वृन्दावन की लीलाओं के प्रभाव से ओत-प्रोत था। जैसे कि निम्बार्क के मत में राधा जो कृष्ण की प्रियतमा उपपत्नी के रूप में है, वह केवल ऐतिहासिक पत्नी न होकर कृष्ण की अनादि काल से पत्नी है।[१] डॉ० राधाकृष्णन् ने इसके ऐतिहासिक वर्णन को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि-'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव, विद्यापति, उमापति तथा चण्डीदास बंगाल तथा बिहार में राधाकृष्ण सम्प्रदाय के बढ़ते हुए प्रभाव का दिग्दर्शन कराते हैं, जिसका श्रेय शाक्तदर्शन की विचारधारा तथा व्यावहारिक प्रचलन की है। इस प्रकार के वातावरण में प्रशिक्षण पाकर वैष्णव मत के एक महान् प्रचारक चैतन्य (पन्द्रहवी शताब्दी) विष्णुपुराण, हरिवंश, भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण में दिए गए कृष्ण विषयक वर्णन से आकृष्ट हुए और उन्होंने अपने व्यक्तित्त्व तथा आचरण से वैष्णव मत को एक नया रूप दिया। उनके उदार दृष्टि कोण तथा लोकतन्त्रात्मक सहानुभूति के कार्यों ने उनके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि की यद्यपि कट्टरपंथियों में उनकी चौंका देने वाली कार्यप्रणाली से बहुत बेचैनी फैली। उन्होंने बिना किसी रोक-टोक के इस्लाम धर्म से आने वालों को भी गले लगाया, यहाँ तक कि उनके सबसे पहले शिष्यों में एक मुसलमान फकीर भी था, जिसने हरिदास के नाम से चैतन्य के वैष्णव सम्प्रदाय से बड़ी ख्याति तथा आदर का स्थान पाया। उनके दो शिष्यों रूप और सनातन हिन्दूसमाज से बहिष्कृत होकर मुसलमान हो गए थे, जिन्हें चैतन्य ने फिर से अपने सम्प्रदाय में ले लिया। जीव गोस्वामी और उसके बहुत समय पश्चात् बलदेव ने चैतन्य के मत को दार्शनिक रूप दिया। इस सम्प्रदाय

१. भारतीय दर्शन, भाग २, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ६६७।

के दार्शनिक ग्रन्थों में सर्वसंवादिनी और ब्रह्मसूत्र पर बलदेव-कृत गोविन्दभाष्य हैं। बलदेव की प्रमेयरत्नावली भी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। ये लेखक रामानुज और मध्व के विचारों से भी प्रभावित हुए है।[२] ये पांच तत्त्वों को स्वीकार करते हैं–ईश्वर, आत्माएं, माया अथवा प्रकृति और स्वरूप शक्ति जिसमें दो अवयव हैं–ज्ञान तथा शुद्ध तत्त्व, अर्थात् शुद्ध प्रकृति तथा काल है।

परम यथार्थ सत्ता विष्णु है, जो प्रेम तथा दया का शरीरधारी ईश्वर है और जो साधारण सत्, चित् तथा आनन्द के गुणों को धारण किए हुए है। वह इन अर्थों में निर्गुण है कि वह प्रकृति के गुणों से रहित है, और सगुण इसलिए है कि उसमें सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण विद्यमान हैं। ये गुण उसमें स्वरूप-सम्बन्ध से लगे हुए हैं। ये ब्रह्म के स्वरूप को भी अभिव्यक्त करते हैं। तथा उसके अन्दर निहित भी है।[३] वही इस विश्व के विकास का आधार तथा संहारक है और उपादान तथा निमित्त कारण भी है।[४] अपनी उच्चतर पराशक्ति के कारण वह इस विश्व का निमित्त कारण है।[५] और उपादान कारण अपनी अन्य शक्तियों के द्वारा है, जिनका नाम अपरा शक्ति और अविद्याशक्ति है। उसकी पहली शक्ति अर्थात् पराशक्ति अपरिवर्तनीय है, यद्यपि अपराशक्ति परिवर्तनों के अधीन है। ईश्वर का मुख्य स्वरूप प्रेम[६] और सुख की शक्ति है। अवतार सर्वोपरि ब्रह्म के तादात्म्य सम्बन्ध से हैं अन्य जीवात्माओं की भांति अंश नहीं है।[७] ईश्वर अनन्तरूप धारण करता है, उनमें से प्रधान है, कृष्ण का रूप जिसका सर्वश्रेष्ठ सुख प्रेम में है। कृष्ण जब सर्वोपरि शक्ति का रूप धारण करता है तो उसके अन्दर चित्, माया और जीव की तीन प्रधान शक्तियाँ आ आती हैं। प्रथम शक्ति के द्वारा वह अपने बुद्धि तथा इच्छा के स्वरूप को स्थिर रखता है, दूसरी शक्ति से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है तथा तीसरी शक्ति से जीव उत्पन्न होते हैं। कृष्ण की सर्वोच्च अभिव्यक्ति आह्लादशक्ति में है। राधा इस आह्लाददायक शक्ति का सार तत्त्व है।

---

२. प्रमेयरत्नावली, पृ० ८।

३. अणुभाष्य १:४, २४।

४. इसे श्री के समान बताया गया है–देखें–बलदेव ३:३, ४० एवं ४२।

५. प्रीत्यात्मा ४:१, १।

६. स्वांश, अर्थात् मूल के समान अभिव्यक्ति तथा विभिन्नांश मूल से पृथक् अंश में भेद किया गया है। देखें–बलदेव २:३, ४७

७. तुलना कीजिए–''कृष्णस्वरूपिणी परमानन्द रूपिणी''–ब्रह्मवैवर्त पुराण, ५:४, १७

जीवगोस्वामी के अनुसार ईश्वर एक है और उसके समान कोई ओर नहीं है। यदि उसे अपने निजी स्वरूप में देखें तो वह ब्रह्म है और सृष्टि के कर्त्तारूप में देखें तो वह भगवान् है। ब्रह्मरूप में यह अमूर्त और भगवान् के रूप में वह मूर्त है। जीवगोस्वामी का कहना है कि उनके भगवान् का रूप अधिक यथार्थ है। बलदेव के अनुसार सर्वोपरि सत्ता को हरि कहा जाता है, उसका ऐश्वर्य तथा ओजस्विता शरीरधारी नारायण के रूप में प्रकट होती हैं तथा उसका सौन्दर्य और परमानन्द कृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं।

इनकी यह भी मान्यता है कि जीवात्मा ईश्वर से भिन्न है ऐसा कहने में इनका तर्क है कि ईश्वर आत्मा का नियन्ता है, ईश्वर सर्वव्यापक है, जीवात्मा अणुपरिमाण वाला है।[८] जीवगोस्वामी की मान्यता है कि ईश्वर की स्वरूपशक्ति को आश्रय देती है। इसी को तटस्थ शक्ति भी माना जाता है, इसी के द्वारा जीवशक्ति आत्माओं का निर्माण होता है। यह जीवशक्ति ही अपने क्रम में माया शक्ति को आश्रय देती है। इनमें से कोई भी ईश्वर से भी नहीं रह सकता है। इस लिए सृष्टि रचना के समय सर्वोपरि शक्ति प्रलय के ठीक पूर्ववर्ती जगत् के संगठन का स्मरण करती हुई, 'बहु स्याम' अर्थात् बहुत रूपों में हो जाऊँ, ऐसी इच्छा अभिव्यक्त करती है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्माओं के उपभोगार्थ पदार्थों को अलग से अस्तित्त्व प्रदान करती है तथा वे उसी में लीन भी हो जाते हैं। इस क्रम में महत् अर्थात् महान् से लेकर नीचे ब्रह्माण्ड से लेकर ब्रह्मा तक सम्पूर्ण जगत् का सृजन करती है। तभी वह वेदों का अविर्भाव भी करती है। यह रचना उसी प्रकार करती है, जिस प्रकार पूर्वसर्ग में रचना की थी। यह वस्तुतः वेद जब इन्द्र आदि शक्तियों का वर्णन करते हैं तो ऐसे द्रव्यों का वर्णन करते हैं जो नष्ट नहीं होते, केवल व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं।[९]

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट करना उचित होगा कि रामानुज जीवात्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध को विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध मानते हैं। जीव गोस्वामी एवं बलदेव ईश्वर की शक्ति के रूप में व्यक्त करते हैं। इन दोनों आचार्यों की मान्यता है कि जड़ प्रकृति ईश्वर का विशेषण नहीं हो सकती है। विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध मानने से ईश्वर के स्वरूप में विषमता आ सकती है। बलदेव माया तथा प्रकृति को इस प्रकार मानते हैं कि ईश्वर के स्वरूप में विषमता आ सकती

८. बलदेव २:२, ४१।
९. बलदेव १:३, ३०।

है। बलदेव माया तथा प्रकृति को इस प्रकार मानते हैं कि ईश्वर ईक्षण मात्र से प्रकृति में गति आ आती है।

आत्माएं माया की शक्ति के द्वारा संसार के बन्धनों से जकड़ी जाती है। उन्हें अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मरण करा देती है। यदि हमारे अन्दर भक्ति उत्पन्न हो जाये तो कर्म की शक्ति पर विजय प्राप्त हो सकती है।[१०]

कृष्ण के प्रति प्रेम (रुचि) का विकास करने से हमें देवीय शक्ति का अन्तर्ज्ञान हो सकता है। राधा के प्रति जो कृष्ण का प्रेम है उसमें ईश्वर का अपने प्राणियों के प्रति स्नेह प्रकट होता है। विश्व के स्रष्टा की यहं इच्छा है कि उसके प्राणी मोक्ष प्राप्ति की आशा से केवलमात्र उसी के साथ लगे रहें। काम अथवा यौनप्रेम से धार्मिकप्रेम को भिन्न बतलाया गया है। भक्ति मोक्ष का मार्ग है। वेदों तथा भागवत पुराण इत्यादि धार्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय पर बार-बार बल दिया गया है। गुरु के प्रति आदर का भाव एक प्रधान विशेषता है। धर्म सम्बन्धी विषयों में ऐसा कहा गया है कि तर्क के ऊपर निर्भर करना उचित नहीं है वर्ण तथा जातिगत भेदों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। ईश्वर की कृपा के लिए कोई भी पुरुष अथवा स्त्री अत्यन्त नीच नहीं है। प्राणिमात्र के प्रति दया के नैतिक गुणों, नम्रता, शान्तभाव, सांसारिक इच्छाओं में अनासक्ति और हृदय की पवित्रता आदि पर बल दिया गया है।

प्रेम (प्रीति) के शाश्वत अनुभव में ही मोक्ष है।[११] दिव्यलोक में स्थित आत्माएं अपने पद को ईश्वर के दास के रूप में अनुभव करती है और पूर्ण रूप से उसके प्रति भक्तिभाव रखती हैं। प्रेम मोक्ष है, भक्ति ही यथार्थ में मुक्ति है। इसके द्वारा बार-बार जन्म लेने का बन्धन टूट जाता है और आत्मा ईश्वर की समानता के पद को प्राप्त करती है, यद्यपि कभी भी ईश्वर के अन्दर विलीन नहीं होती।[१२] सत्तामात्र के अमूर्त सर्वव्यापी रूप में ईश्वर का अन्तर्ज्ञान,

१०. चैतन्य ने भक्ति की व्यावहारिक अवस्थाओं को स्वीकार किया है: (१) शांत अथवा मौनभाव से ईश्वर का ध्यान (२) दास्य अथवा ईश्वर की क्रियात्मक सेवा; (३) सख्य अर्थात् मित्रता; (४) वात्सल्य, (५) माधुर्य अथवा दाम्पत्य प्रेम की लाक्षणिक मधुरता। प्रत्येक अवस्था के अन्दर पूर्व की अवस्था अन्तर्हित रहती है और अंतिम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

११. सच्चिदानन्दैकरसेभक्तियोगे तिष्ठति। देखें-बलदेव ३:३, १२

१२. बलदेव १:१, १७।

जीवगोस्वामी के अनुसार भगवान् के अन्तर्ज्ञान का उपक्रम है और वह भगवान् समस्त चराचर जगत् की मूर्तरूप यथार्थसत्ता है। प्रथम, ज्ञान के कारण, निरपेक्ष तथा अन्तिम रूप नहीं है। और भगवान् का अन्तर्ज्ञान भक्ति के कारण केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है, जबकि शरीर का परित्याग कर दिया जाए। यद्यपि ब्रह्म के अन्तर्ज्ञान के विषय में जीवमुक्ति सम्भव है किन्तु भगवान् के प्रेम के लिए उसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं।

जीवगोस्वामी विशेषणों के सिद्धान्त के स्थान पर, जिसका समर्थन रामानुज ने किया है, अपने शक्ति विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु यदि ईश्वर एक ऐसे गुण को धारण नहीं कर सकता है, जो स्वरूप में उसकी सत्ता के विरुद्ध है, तो वह ऐसी शक्ति को कैसे धारण कर सकता है जो उसी के समान सत्ता के विरुद्ध है। यदि इस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विद्वान् लेखक निकट है क्योंकि वे तादात्म्य पर बल देते हैं, भले ही वे भेदों को स्वीकार करते हों। उक्त भेदों का कारण वे उन शक्तियों को बताते हैं जिसका सम्बन्ध किसी अचिन्त्य रूप में ईश्वर के साथ है।

चैतन्य के भक्तिदर्शन के पश्चात् उसके प्रसिद्ध शिष्य जीव गोस्वामी तथा बलदेव विद्याभूषण ने चैतन्य आन्दोलन को बहुत अधिक विस्तार दिया है। भक्ति भावावेश को सुव्यवस्थित दर्शन के रूप में प्रतिष्ठापित किया। इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इन उपर्युक्त आचार्यों के दर्शन को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया जाए।

जीव गोस्वामी का दर्शन

तत्त्वमीमांसा–

इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ षट्सन्दर्भ में अपनी तत्त्व मीमांसीय विचारधारा को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि–"जब महान् ऋषि अपना परमतत्त्व से तादात्म्यीकरण करते हैं तब उनके मन प्रभु की विविध शक्तियों की अनुभूति करने में असमर्थ रहते हैं। उस समय प्रभु का स्वरूप एक सामान्य रूप में लक्षित होता है और उस अवस्था में ब्रह्मन् की शक्तियाँ उससे भिन्न प्रत्यक्ष नहीं की जाती। परमतत्त्व अपनी स्वरूप शक्ति के कारण अपनी अन्य सर्वं शक्तियों का मूलाश्रय बन जाता है, और भक्तिभाव के द्वारा भक्तों को विभिन्न शक्तियों का स्वामी प्रतीत होता है, तब वह भगवान् कहलाता है। विशुद्ध आनन्द तो विशेष्य

है, और अन्य समस्त शक्तियाँ उसकी विशेषण होती है, अन्य समस्त शक्तियों से विशिष्ट होने पर वह 'भगवान्' कहा जाता है।[१३] इस प्रकार ब्रह्मन् का प्रत्यय भगवान् द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आंशिक अभिव्यक्ति होता है। यही भगवान् सर्व प्राणियों व उनकी गतिविधियों के नियंत्रक के पक्ष में परमात्मन् के रूप में अभिव्यक्त होता है। ब्रह्मन् भगवान् व परमात्मन् के तीन नामों का प्रयोग पूर्ण मिश्रित अर्थ के विभिन्न पक्षों पर जो बल दिया जाता है उसके अनुसार किया जाता है, इस प्रकार ज्यों-त्यों ईश्वर के एक विशेष पक्ष का आविर्भाव उपासक के अनुभव में होता है, वह उसे ब्रह्मन् भगवान् अथवा परमात्मन् के नाम से सम्बन्धित कर लेता है।[१४]

ब्रह्मन्पक्ष की अनुभूति तब होती है जब उपासक के मन के सम्मुख विशिष्ट गुणों एवं शक्तियों का आविर्भाव नहीं होता। उपासक के आत्मस्वरूप के रूप में शुद्धचैतन्य का बोध करने में शुद्धचैतन्य के रूप में ब्रह्मन् का बोध भी हो जाता है, आत्म-स्वरूप के ब्रह्मन् के साथ तादात्म्य का बोध विशेष भक्ति साधना के द्वारा उदित होता है।[१५]

शंकर द्वारा व्याख्या किए गए, वेदान्त के अद्वैतवादी सम्प्रदाय के अनुसार आत्मन् का ब्रह्मन् से तादात्म्य 'तत् त्वमसि' नामक वेदान्त महावाक्य के उपदेश के द्वारा उदित होता है। किन्तु यहाँ तादात्म्य भक्ति साधना अथवा उससे उत्पन्न ईश्वरानुग्रह के द्वारा आविर्भूत होता है।

भगवान् का धाम 'बैकुण्ठ' कहा जाता है। इस शब्द की दो व्याख्याएं हैं, एक अर्थ में वह 'माया' से आवृत्त ब्रह्मन् के स्वरूप से एक रूप कहा जाता है।[१६] अन्य व्याख्या में वह एक ऐसी सत्ता कहा जाता है जो न तो 'रजस्' एवं 'तमस्' की अभिव्यक्ति है और न 'रजस्' व 'तमस्' से सम्बन्धित जड़ 'सत्त्व' की।

---

१३. आनन्दमात्रं विशेष्यं समस्ताः शक्तयः विशेषणानि विशिष्टो भगवान्।
—षट्-सन्दर्भ, पृ० ५०

१४. तत्रैकस्यैव विशेषण-भेदेन तदविशिष्टत्वेन च प्रतिपादनात् तथैव तत् तदुपासकपुरुषानुभव भेदाच्च आविर्भाव नाम्नोर्भेदः।
—षट् सन्दर्भ, पृ० ५३

१५. ननु सूक्ष्म-चिद्-रूपत्वं पदार्थानुभवे कथं पूर्ण-चिदाकार रूप-मदीय ब्रह्म स्वरूपं स्फुरतु।
—षट् सन्दर्भ, पृ० ५४

१६. यतो वैकुण्ठात् परं ब्रह्माख्यं तत्त्वं परं भिन्नं न भवति। स्वरूपशक्ति विशेषा..... तद्रूपम्।
—वही, पृ० ५७

भगवान् की स्वरूपशक्ति की अभिव्यंक्ति होने के कारण अथवा शुद्ध 'सत्त्व' के रूप में उसे एक भिन्न द्रव्य से युक्त माना जाता है। यह शुद्ध 'सत्त्व' सांख्य-वादियों के जड़ 'सत्त्व' से भिन्न होता है, जो 'रजस्' व 'तमस्' से सम्बन्धित होता है, और इस कारण से उसे अप्राकृत अर्थात् 'प्राकृत' से परे माना जाता है। इसी कारण उसे नित्य एवं अपरिवर्तनशील माना जाता है।[१७] साधारण गुण जैसे–सत्व 'रजस्' और तमस् कालशक्ति की प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं, किन्तु सत्त्व वैकुण्ठ काल के नियंत्रण में नहीं होता। इस प्रकार 'बैकुण्ठ' किन्हीं गुणों से रहित होने के कारण एक अर्थ में निर्विशेष माना जा सकता है, किन्तु एक अन्य अर्थ में यह कहा जा सकता है उसमें भी भेद का अस्तित्त्व होता है; यद्यपि वे केवल शुद्ध 'सत्त्व' अथवा ईश्वर की स्वरूप शक्ति के रूप के हो सकते हैं।[१८]

'स्वरूप शक्ति' और 'माया शक्ति' परस्पर विरुद्ध होती हैं, तथापि वे दोनों ईश्वर में धारण की जाती हैं।[१९] ईश्वर की शक्ति एक साथ ही स्वाभाविक और अचिन्त्य होती है। आगे यह आग्रह किया जाता है, कि साधारण जगत् में भी वस्तुओं की शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं। अर्थात् न तो उनका वस्तुओं के स्वरूप से निगमन किया जा सकता है, और न उनका साक्षात् प्रत्यक्ष किया जा सकता है, किन्तु उनको मानना पड़ता है, क्योंकि ऐसी मान्यता के बिना कार्य की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। 'अचिन्त्य' शब्द का यह भी अर्थ होता है कि यह कहना कठिन है कि शक्ति द्रव्य से एक रूप है अथवा वह उससे भिन्न है, एक ओर तो शक्ति को द्रव्य से बाह्य नहीं माना जा सकता तथा दूसरी ओर यदि वह उससे एक रूप होती तो कोई परिवर्तन, कोई गति, कोई कार्य नहीं हो सकता था। द्रव्य का प्रत्यक्ष किया जाता है, परन्तु शक्ति का नहीं, किन्तु, चूँकि एक कार्य अथवा एक परिवर्तन उत्पन्न होता है, इसलिए उपपत्ति यह होती है कि द्रव्य ने अभी शक्ति अथवा शक्तियों के माध्यम से व्यापार किया होगा।

इस प्रकार, द्रव्य में स्थित शक्तियों के अस्तित्त्व को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं

---

१७. यत्र वैकुण्ठे रजस् तमश्च न प्रवर्तते।
तयोर्मिश्रं सहचरं.........स्थापयिष्यमाणा।। –वही, पृ० ५८

१८. ननु गुणाद्यभावान् निर्विशेष एवासौ लोक इत्याशंक्य तत्र विशेषस्तस्याः शुद्ध सत्त्वात्मिकायाः स्वरूपानतिरिक्त–शक्तिरेव विलास रूप इति। –षट् सन्दर्भ, पृ० ५९।

१९. ते च स्वरूप शक्ति माया शक्ति परस्पर विरुद्धे तथा......निधनं तदेव।
–षट् संदर्भ, पृ० ६१

किया जा सकता, किन्तु एक उपपत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है।[२०] ब्रह्मन् के सम्बन्ध में भी ऐसा ही होता है, उसकी शक्तियाँ उसके स्वरूप से एकरूप होती है, अतएव उससे सह-नित्य होता है। 'अचिन्त्यत्व' को प्रत्यय प्रत्यक्षतः विरुद्ध प्रत्ययों का सामंजस्य करने के हेतु प्रयुक्त किया जाता है। अन्तरंग-स्वरूप-शक्ति ब्रह्मन् के स्वरूप में स्थित रहती है तथा बैकुण्ठ आदि नामों से सूचित उसकी विविध अभिव्यक्तियों के रूप में भी स्थित रहती है।[२१] द्वितीय शक्ति-तटस्थ शक्ति का प्रतिनिधित्व शुद्ध जीवात्माओं द्वारा किया जाता है। तृतीय शक्ति-बहिरंग-माया-शक्ति का सर्व ब्रह्माण्डीय पदार्थों के विकास-क्रम एवं उनकी मूल 'प्रधान' के द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है। यहाँ सूर्य, उसकी किरणें और परावर्तन के फलस्वरूप अभिव्यक्त विभिन्न रंगों के सादृश्य को प्रस्तुत किया गया है।

'माया' की भागवत में इस रूप में परिभाषा दी जाती है कि वह किसी भी विषय के बिना अभिव्यक्त होता है और फिर भी मिथ्या प्रतिबिम्ब की भांति वह अपने स्वरूप में प्रत्यक्ष नहीं की जा सकती।[२२] इसकी भागवत-सन्दर्भ में एक भिन्न रूप में व्याख्या की गई है, जहाँ यह कहा गया है कि 'माया' वह है जो परम सत्ता अथवा ब्रह्मन् के बाहर प्रतीत होती है, और ब्रह्म प्राप्ति के पश्चात् जिसका आभास समाप्त हो जाता है। प्रकृति और उसके विकार केवल अभिव्यक्तियाँ अथवा आभास मात्र है, जिनकी 'माया' की शक्ति के द्वारा ब्रह्मन् के बाहर सृष्टि की जाती है, 'माया' की प्रक्रिया प्राण 'मनस्' व इन्द्रियों के व्यापार तथा शरीर इस कारण सम्भव होते हैं कि वे ईश्वर की मौलिक स्वरूप-शक्ति' से परिव्याप्त होते हैं। जिस प्रकार एक लोहे का टुकड़ा, जो अग्नि से अपनी उष्णता प्राप्त करता है, स्वयं उस अग्नि को जला अथवा किसी रूप में प्रभावित नहीं कर सकता, उसी प्रकार 'माया' एवं उसके आभास, जो ईश्वर की स्वरूप-शक्ति से अपना तत्त्व प्राप्त करते हैं, स्वयं ईश्वर अथवा उसकी स्वरूप-शक्ति को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं कर सकते।

---

२०. लोके हि सर्वेषां भावानां मणि-मन्त्राणिनां शक्तयः अचिन्त्य ज्ञानगोचराः अचिन्त्यं तर्क सहं यज्ज्ञानं कार्यान्यथानुपपत्ति-प्रमाणकं तस्य गोचराः सन्ति।

—वही, पृ० ६३-४।

२१. षट् सन्दर्भ, पृ० ६५।

२२. ऋतेऽर्थ यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद्विद्यदात्मनो मायां यथा भासं यथा तमः। वही

माया दो प्रकार की कही गई है, 'गुण-माया' जो जड़ात्मिका होती है और आत्म-माया जो पुनः तीन प्रकार की होती है-सृजनात्मक, रक्षात्मक और विनाशात्मक 'आत्म-माया' ईश्वर की स्वरूप-शक्ति होती है।[२३] एक अन्य अर्थ में माया को तीन गुणों से निर्मित माना जाता है। 'योग-माया' शब्द के भी दो अर्थ होते हैं-जब उसका प्रयोग योगियों अथवा ऋषियों की शक्ति के अर्थ में किया जाता है तब उसका अर्थ योगाभ्यास से प्राप्त चमत्कार पूर्ण शक्ति होता है, जब उसका ईश्वर के लिए प्रयोग किया जाता है, तब उसका अर्थ शुद्ध चैतन्य के रूप में उसकी चिच्छक्ति की अभिव्यक्ति होता है। जब माया का प्रयोग आत्म-माया अथवा स्वयं परमेश्वर की माया के रूप में किया जाता है, तब उसके तीन अर्थ होते हैं, अर्थात् उसकी 'स्वरूपशक्ति' ज्ञान व क्रिया से समाविष्ट उसकी इच्छा, तथा चैतन्य के रूप में उसकी शक्ति का विलास (चिच्छक्ति विलास)।[२४] इस प्रकार वैकुण्ठ में कोई 'माया' नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं 'माया' अथवा 'स्वरूप-शक्ति' के रूप का होता है, इस प्रकार बैकुण्ठ मोक्ष से एक रूप होता है।

परमात्म के सन्दर्भ में जीव अथवा व्यक्ति का एक ऐसी सत्ता के रूप में वर्णन किया गया है जो अपने स्वरूप में शुद्ध और 'माया' से अतीत होता है, किन्तु जो 'माया' से उत्पन्न सर्व चित्त-वृत्तियों का प्रत्यक्ष करता है और उनसे प्रभावित होता है, उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है, क्योंकि वह स्वयं को अपने आन्तरिक एवं बाह्य शरीर से सम्बन्धित करके प्रत्यक्ष करता है।[२५] और अधिक प्रत्यक्ष अर्थ में परमेश्वर भी क्षेत्रज्ञ कहा जाता है, क्योंकि वह न केवल 'माया' वरन् उससे प्रभावित सर्व जीवों से अन्तर्यामिन् के रूप में व्यवहार करता है, और फिर भी अपनी स्वरूप-शक्ति से स्वरूपस्थ रहता है।[२६]

क्षेत्रज्ञ की शुद्ध निर्विशेष चैतन्य के अर्थ में अद्वैतवादी व्याख्या नहीं, वरन् चरम अन्तर्यामिन् के रूप में व्याख्या की जानी चाहिए। यह मत त्रुटिपूर्ण है कि निर्विशेष शुद्ध चैतन्य परमसत्ता है। फलतः व्यष्टि-क्षेत्रज्ञ परमेश्वर में विभेद किया

२३. मीयते अनया इति माया शब्देन शक्ति मात्रमपि भयते। —षट् सन्दर्भ, पृ० ७१
२४. वही, पृ०, ७३-४।
२५. षट् सन्दर्भ, पृ० २०९।
२६. मायायां मायिकेऽपि अन्तर्यामितया प्रविष्टोऽपि स्वरूप-शक्त्या स्वरूपस्थ एव न तु तत् संसक्तित्यर्थः, वासुदेवत्वेन सर्व क्षेत्र ज्ञातृत्वात् सोऽपरः क्षेत्रज्ञः आत्मा परमात्मा। —वही, पृ० २१०

जाता है-पश्चादुक्त पूर्वोक्त की उपासना का विषय होता है। अन्तर्यामिन् के रूप में परमेश्वर का यह रूप 'परमात्मन्' कहा जाता है।

'षट् सन्दर्भ' का लेखक इस साधारण वेदान्तमत का निषेध करता है कि ब्रह्मन् शुद्धचैतन्य है तथा वस्तुओं का आश्रय है। वह 'माया' और ब्रह्मन् के सम्बन्ध को अनुभवातीत एवं तर्कातीत मानता है। जिस प्रकार एक विशेष औषधि में विभिन्न व विरोधी शक्तियाँ परमेश्वर में निवास कर सकती हैं, यद्यपि उसके साहचर्य का रूप सर्वथा अव्याख्येय व अचिन्त्य हो सकता है। द्वैत का आभास ब्रह्मन् में 'अज्ञान' की उपस्थिति के कारण नहीं होता, अपितु उसकी अचिन्त्य शक्तियों के कारण होता है। जगत् के द्वैत का चरम अद्वैतवाद से सामंजस्य परमेश्वर की अनुभवातीत एवं तर्कातीत शक्तियों के अचिन्त्य की मान्यता के आधार पर ही किया जा सकता है। इस तथ्य से यह भी व्याख्या हो जाती है कि परमात्मन् की शक्ति परमात्मन् के एकत्व व विशुद्धता को प्रभावित किए बिना अपना जड़ प्रतिभा में कैसे रूपान्तर कर सकती है।[२७] इस प्रकार सूक्ष्म 'जीव' और जगत् की सूक्ष्म जड़ात्मक शक्तियाँ, दोनों का विकीरण परमात्मन् से होता है, जिससे जगत् के चित् एवं अचित् दोनों अंशों की उत्पत्ति होती हैं परमात्मन् स्वयं में उत्पत्ति का निमित्तकारण माना जा सकता है। जबकि अपनी शक्तियों के साहचर्य में वह जगत् का उपादान-कारण माना जा सकता है।[२८] चूँकि परमात्मन् की शक्ति का परमात्मन् के स्वरूप में तादात्म्य होता है, इसलिए अद्वैतवाद की स्थिति का सम्यक् संरक्षक होता है।

अंश और अंशी के सम्बन्ध पर षट्-सन्दर्भ के लेखक का कथन है कि अंशी अंशों का संघात नहीं होता और न अंशी अंशों का रूपांतरण अथवा अंशों में उत्पन्न एक विकार होता है और न अंशी का अंशों से भेद अथवा अभेद माना जा सकता है, अथवा उससे साहचर्य माना जा सकता है। यदि अंशी अंशों से सर्वदा भिन्न होता तो अंशों का अंशी से सम्बन्ध नहीं होता, यदि अंश और अंशी में अन्तर्निहित होते तो कोई भी अंश अंशी में कहीं भी पाया जा सकता था।

इसलिए अंशों और अंशी का सम्बन्ध तर्कातीत स्वरूप का होता है। इस स्थिति में षट् संदर्भ का लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जहाँ कहीं भी किसी अंशी का आभास होता है, वह आभास उस परमात्मन् की अभिव्यक्ति के

२७. षट् सन्दर्भ, पृ० २४९।
२८. षट् सन्दर्भ, पृ० २५०।

कारण होता है, जो चरमकारण एवं परमसत्ता है। इसलिए पृथक् अंशियों की सर्व अभिव्यक्तियाँ सादृश्यता के कारण उत्पन्न मिथ्या आभास देती है, क्योंकि जहाँ कहीं भी एक अंशी होता है, वहाँ परमात्मन् की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार सर्व जगत् को एक माना जा सकता है, अतएव सकल द्वैत मिथ्या है।[२९] जिस प्रकार अग्नि-लकड़ी, स्फुलिंग व धूम से पृथक् होती है, उसी प्रकार पृथक् दृष्टा अथवा ब्रह्मन् कहा जाने वाला आत्मन् भी उन पंच भूतों से पृथक् होता है। जिनको एक साथ 'जीव' की संज्ञा दी जाती है।[३०]

जो व्यक्ति परमात्मन् पर अपना मन स्थिर रखते हैं तथा जगत् को उसकी अभिव्यक्ति समझते हैं वे फलतः उसमें स्थित परमसत्ता के तत्त्व का ही प्रत्यक्ष करते हैं, किन्तु, जो व्यक्ति जगत् को परमात्मन् की अभिव्यक्ति के रूप में देखने के अभ्यस्त नहीं हैं वे उसे अज्ञान के प्रभाव रूप में ही प्रत्यक्ष करते हैं, इस प्रकार उनके लिए परमात्मन् उस शाश्वत सत्ता के रूप में प्रकट नहीं होता, जो जगत् में परिव्याप्त है। जो व्यक्ति शुद्ध स्वर्ण का व्यापार करते हैं, वे उन विविध रूपों को मूल्य नहीं देते, जिनमें स्वर्ण अभिव्यक्त होता है, क्योंकि उनकी मुख्य अभिरुचि शुद्ध स्वर्ण में होती है, किन्तु अन्य वे व्यक्ति होते हैं, जिनकी मुख्य, अभिरुचि शुद्ध स्वर्ण में नहीं होती वरन् उसके विविध मिथ्या रूपों में होती है। इस जगत् की उत्पत्ति परमात्मन् के द्वारा अपनी अन्तर्निहित शक्ति के माध्यम से स्वयं को उपादानकारण बनाकर की गई है, जैसे ही जगत् की उत्पत्ति होती है, वह उसमें प्रविष्ट हो जाता है, तथा उसका प्रत्येक अंश में नियन्त्रण करता है, और अन्तिम अवस्था में वह अभिव्यक्ति के विविध रूपों में स्वयं को पृथक् कर लेता है और अपनी निजी अन्तर्निहित शक्ति से सम्पन्न होकर अपने विशुद्ध सत् के रूप में पुनः स्थित हो जाता है। इस प्रकार विष्णु पुराण में यह कहा गया है कि अज्ञानी व्यक्ति जगत् को विशुद्ध ज्ञान के रूप में देखने के स्थान पर उसे विषयों के दृश्य व स्पर्श-योग्य जगत् के रूप में देखकर विभ्रांत होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति हृदय से पवित्र एवं ज्ञानी होते हैं, वे अखिल जगत् को परमात्मा स्वरूप, शुद्ध चैतन्य-स्वरूप में देखते हैं।

२९. तस्मात् सर्वेक्य-बुद्धि-निदानात् पृथग् देहैक्य-बुद्धि सादृश्यभ्रम स्यात् पूर्वा परात्रयवानुसन्धाने सति परस्परमाशयैकत्व...... भवतीऽत्यर्थः।

३०. यथोल्मुकात् विस्फुलिंगाद् धूमादपि स्वसम्भवातप्यात्मत्वेन विममाद्यथाग्निः।
—षट् सन्दर्भ पृ० २५३

पृथगुल्मुकात् भूतेन्द्रियान्तः करणात्.....ब्रह्म संज्ञितः। —वही, पृ० २५४

जगत् की स्थिति

इस प्रकार वैष्णवतन्त्र में जगत् रज्जु सर्प के सदृश मिथ्या नहीं है, किन्तु नाशवान् हैं। जगत् का कोई पता नहीं है, क्योंकि, यद्यपि वह मिथ्या नहीं है, तथापि उसका भूत, वर्तमान व भविष्य में कोई अबाधित अस्तित्त्व नहीं होता, केवल उसी वस्तु को सत् माना जा सकता है जो न तो मिथ्या होती है और न काल में बाधित अस्तित्त्व रखती है। ऐसी सत्ता का केवल परमात्मन् अथवा उसकी शक्ति के प्रति ही कथन किया जा सकता है।[३१]

उपनिषद् का कथन हैं कि प्रारम्भ में केवल परमसत्ता, 'सत्' का ही अस्तित्त्व था, इस पद का अर्थ ब्रह्मन् की सूक्ष्म अव्यक्त शक्ति और ब्रह्मन् का पारस्परिक तादात्म्य होता है। 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त को इस तथ्य के सम्बन्ध में सत्य माना जा सकता है कि परमात्मन् की सूक्ष्म शक्ति ही विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति करती है। अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि, यदि जगत् का उपादान कारण परम 'सत्' है तो क्या उसे उसके समान ही अविनश्वर होना चाहिए, यदि जगत् अविनश्वर है, तो वह मिथ्या क्यों न होना चाहिए, और फलतः 'विवर्तवाद' को सत्य क्यों न माना जाना चाहिए? ऐसे प्रश्न का उत्तर यह है कि यह तर्क करना गलत है चूँकि कोई वस्तु 'सत्' से उत्पन्न होती है, इसलिए वह भी 'सत्' होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक दशा में ऐसा नहीं होता, यह नहीं कहा जा सकता है कि कार्य के गुणों का कारण के गुणों से पूर्ण तादात्म्य होना चाहिए, अग्नि से जिन प्रकाश किरणों का विकीरण होता है, उसमें दग्ध करने की शक्ति नहीं होती।[३२]

'विष्णु पुराण' पर अपनी टीका में श्रीधर में यह कथन किया है कि ब्रह्मन् का एक अपरिवर्तनशील और एक परिवर्तनशील रूप होता है, परिवर्तनशील की अपरिवर्तनशील से उत्पत्ति की सम्भावना की आभासी असम्बद्धता की व्याख्या अग्नि एवं उससे उत्पन्न किरणों के उपर्युक्त सादृश्य के आधार पर करते हैं। पुनः अन्य उदाहरणों में शुक्ति पर अभिव्यक्ति रजत के समान एक आभास सर्वदा

---

३१. ततो विवर्तवादिनामिव रज्जु-सर्प-वन्न मिथ्यात्वं किन्तु घट-वन्नश्वरत्वमेवं तस्य ततो मिथ्यात्वाभावे अपि त्रिकाला व्यभिचारा-भावाज्जगतो न सत्त्वं विवर्त परिणामासिद्धत्वेन तद् दोष.....सत्वं विधीयते यथा परमात्मनितच्छत्त्मौ वा।

—षट सन्दर्भ, पृ० २५५

३२. वही, पृ० २५६।

मिथ्या होता है, क्योंकि उसका केवल आभास होता है, परन्तु उसकी कोई उपयोगिता नहीं होती, इसलिए अनेकों अन्य वस्तुएं हैं, जिनके प्रति यद्यपि यह विश्वास किया जाता है, कि उनका एक विशेष स्वभाव है, तथापि वस्तुत: वे सर्वथा भिन्न होती है, और उनके सर्वथा भिन्न प्रभाव होते हैं। इस प्रकार किसी काष्ठ विष के प्रति यह विश्वास किया जा सकता है, कि वह सौंठ है, और उस रूप में उसका प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु फिर भी उसके विषैले प्रभाव बने रहेंगे। यहाँ, एक वस्तु के किसी अन्य वस्तु होने के मिथ्याज्ञान के होते हुए भी वस्तुएं अपने स्वाभोविक गुणों को बनाएं रखती है, जो मिथ्याप्रलय से प्रभावित नहीं होते।

एक वस्तु में परिवर्तन अथवा उपयोग को उत्पन्न करने की शक्ति होती है वह सर्व कालों में व स्थानों में, अथवा वस्तु के परिवर्तन के साथ उपस्थित नहीं रह सकती, अतएव किसी परिवर्तन अथवा उपयोग को उत्पन्न करने की शक्ति एक नित्य एवं स्थायी गुण न होने के कारण सत्ता का पारिभाषिक लक्षण नहीं मानी जा सकती, इसलिए शुक्ति-रजत के सदृश एक मिथ्याआभास, जिसका केवल एक दृश्य रूप है, किन्तु जिसमें कोई अन्य उपयोग अथवा परिवर्तनों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती, उसे सत् नहीं माना जा सकता। केवल वही सत् है, जो मिथ्या विषयों अथवा उन विषयों के सभी उदाहरणों में उपस्थित होती है, जिनमें किसी प्रकार का उपयोग होता है, वही जो मिथ्या अथवा सापेक्षत: वस्तुगत सर्व प्रकार के अनुभवों के अधिष्ठान एवं आधार के रूप में स्थित रहता है। हमारे चारों ओर विद्यमान तथा कथित यथार्थ जगत् यद्यपि नि:सन्देह परिवर्तनों अथवा उपयोग को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न है, तथापि वह नाशवान् है। परन्तु 'नाशवान्' शब्द केवल इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है कि जगत् उस मूल कारण-परमात्मन् की शक्ति में पुन: लय हो जाता है-जिससे वह उत्पन्न हुआ था। केवल इस तथ्य से कि हम जगत् के साथ व्यवहार करते हैं और वह कुछ उद्देश्य अथवा उपयोग की पूर्ति में सहायक होता है यह सिद्ध नहीं होता कि वह सत् है, क्योंकि हमारा आचार और हमारा व्यवहार केवल अंध परम्परा के आधार पर उनमें किसी यथार्थता को माने बिना अग्रसर हो सकता। पारस्परिक विश्वास पर आधारित परम्पराओं की शृंखला का प्रचलन किसी अधिष्ठान के बिना उनकी यथार्थता अथवा उनकी 'विज्ञान' स्वरूपता को सिद्ध नहीं कर सकता। इस प्रकार परम्पराओं का प्रचलन उनकी सत्यता को सिद्ध नहीं कर सकता। इस प्रकार जगत् न तो मिथ्या है और न नित्य है, अपितु वह सत् है और फिर भी अपने आभासी

रूप में नहीं रहता किन्तु ब्रह्मन् की शक्ति के अन्तर्गत अपनी अव्यक्तअवस्था में स्वयं को विलीन कर देता है, और इस अर्थ में 'सत्यकार्यवाद' और 'परिणामवाद' दोनों सत्य हैं।[३३]

इस प्रकार वैष्णव मत 'प्रकृति लय' के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। मोक्ष के समय जगत् का नाश नहीं होता, क्योंकि परमेश्वर की शक्ति के स्वरूप का होने के कारण वह नष्ट नहीं हो सकता, यह सुविदित है कि 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था में शरीर बना रहता है। मोक्ष की अवस्था में जगत् सम्बन्धी सर्व मिथ्या संकल्पनाएं विलीन हो जाती है, किन्तु जगत् स्वरूपतः बना रहता है, क्योंकि वह मिथ्या नहीं है, इस प्रकार मोक्ष एक आत्मगत सुधार की अवस्था है, जगत् के वस्तुगत लोप की अवस्था नहीं है। जिस प्रकार वस्तुगत जगत् का परमेश्वर की शक्तियों से तादात्म्य बताया गया है, उसी प्रकार इन्द्रियों एवं बुद्धि का भी बताया जाता है।

जब उपनिषदें यह कहती हैं कि मनस् की परमेश्वर द्वारा सृष्टि की जाती है, तब इसका केवल यही अर्थ है कि परमेश्वर 'अनिरुद्ध' रूप में समष्टि 'मनस्' सर्व भूतों के 'मनस्' से एक रूप है।[३४] चरम कारण का कार्य से तादात्म्य होता है, जहाँ-जहाँ कार्य नवीन होता है और आदि तथा अन्तयुक्त होता है, वहाँ-वहाँ वह मिथ्या होता है, क्योंकि यहाँ कारण और कार्य के प्रत्यय अन्योन्याश्रित है, तथा पृथक् रूप से निर्धारित नहीं किये जा सकते,[३५] इसलिए कारणता के प्रत्यय को सत्य करने के लिए कार्य के रूप में शक्ति का कारण में पूर्व-अस्तित्त्व मानना पड़ेगा। कार्य का यह अव्यक्त अस्तित्त्व ही उसके व्यक्त अस्तित्त्व को सिद्ध करता है, इस प्रकार जगत् परमेश्वर की स्वाभाविक शक्ति के रूप में अस्तित्त्व रखता है, और इस कारण से वह नित्य सत् है। तनिक से परिवर्तन एवं अभिव्यक्ति की व्याख्या परमेश्वर के उल्लेख बिना अथवा उससे स्वतन्त्र रूप में नहीं की जा सकती, यदि ऐसी व्याख्या सम्भव होती, तो जगत् भी स्वयं प्रकाश विशुद्ध चैतन्य होता।

---

३३. षट्, सन्दर्भ, पृ० २५९।

३४. अतस्तन्मनोऽसृजत मनः प्रजापतिमित्यादौ मनः शब्देन समष्टि मनोऽधिष्ठाता श्रीमाननिरुद्धैव। —षट्, सन्दर्भ, पृ० १६२

३५. यावत् कार्य न जायते तावत् कारणत्वं मृत-शुक्त्यादेर्न सिद्धयति कारणत्वासिद्धौ च कार्य न जायते एवेति परस्पर, सापेक्षत्व दोषात्। —वही, पृ० २६५

कहा गया है कि ''जीव'' वस्तुतः परमेश्वर की शक्ति हैं, किन्तु फिर भी वे अपने स्वप्रकाशत्व के आवृत्त होने के दोष से पीड़ित हो सकते हैं। 'जीव' तटस्थ शक्ति से न्यून होते हैं, जिसके द्वारा उनको स्वप्रकाशत्व आवृत्त हो सकता है।[३६] यह आवरण जीवों के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा की भावना के माध्यम से परमेश्वर की इच्छा से ही दूर किया जा सकता है। 'षट् सन्दर्भ' के अनुसार जगत् एक यथार्थसृष्टि है, परन्तु वह कुछ अनुमोदन सहित एक अन्य मत का उल्लेख करता है कि जगत् एक मायावीसृष्टि है जो जीवों को जगत् के यथार्थ वस्तुगत अस्तित्त्व में विश्वास करने के लिए छलती है। किन्तु इस मत का शंकर के अद्वैतवादी मत से विभेद करना चाहिए, जिसके अनुसार एक सत्यकर्ता अपनी सत्यशक्ति से एक सत्यद्रष्टा के प्रति जगत्-प्रपंच की अभिव्यक्ति करता है,[३७] और वह 'षट्-सन्दर्भ' से भी इस बात में भिन्न है कि पश्चादुक्त जगत् को एक यथार्थ सृष्टि मानता है। किन्तु, यह कहना पड़ेगा कि वैष्णवों की मुख्य अभिरुचि इस बाल की खाल निकालने वाले द्वन्द्वात्मक वाद-विवादों में नहीं है, उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार उनका तन्त्र एक व्यावहारिक धार्मिक भावावेशवाद का तन्त्र है, और इस कारण से एक वैष्णव के लिए यह बात बहुत कम महत्त्व की है कि जगत् सत् है अथवा असत् है। उसकी मुख्य अभिरुचि परमेश्वर के प्रति उसकी भक्ति के आनन्द में निहित होती हैं।[३८] आगे यह माना गया है कि जगत् के साधारण अनुभव की व्याख्या जगत्-सम्बन्धी सादृश्यताओं के द्वारा सुचारु रूप से की जा सकती है, किन्तु परमेश्वर जीव, आत्माओं और जगत् के मध्य स्थित अनुभवातीत सम्बन्ध की इस प्रकार कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। उपनिषद्-पाठ जीव एवं परमेश्वर के तादात्म्य की घोषणा करते हैं, किन्तु उनका तात्पर्य केवल यही है कि परमेश्वर और 'जीव' समान रूप से शुद्धचैतन्य हैं।

ईश्वर की शक्तियों के विषय में इनकी अवधारणा है कि ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य और अपरिवर्तनशील है, वह 'प्रकृति' के साधारण गुणों से किस प्रकार

---

३६. षट् सन्दर्भ, पृ० २६६।

३७. सत्येनैव कर्ता सत्यमेव द्रष्टारं प्रति सत्यैव तया शक्त्या वस्तुनः स्फुरणात् लोके अपि तथैव दृश्यत इति। —वही, पृ० २६८

३८. सत्यं न सत्यं नः कृष्ण-पादाब्जामोदमन्तरा जगत् सत्यं असत्यं वा कोऽयं तस्मिन् दुराग्रहः। —षट् सन्दर्भ, पृ० २६९

सम्बधित हो सकता है। क्रीड़ा की साधारण सादृश्यता परमेश्वर पर लागू नहीं हो सकती, बच्चे क्रीड़ा में आनन्द लेते हैं, अथवा अपने साथियों द्वारा खेलने के लिए प्रोत्साहित किए जा सकते हैं, किन्तु परमेश्वर स्वयं में तथा अपनी शक्तियों में आत्म-सिद्ध है वह किसी के द्वारा क्रिया में प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता, वह सदा प्रत्येक वस्तु से विलग रहता है, और किसी प्रकार के भावावेश से प्रभावित नहीं होता, क्योंकि वह गुणातीत है, इसलिए गुण और उनके कार्यों से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि कैसे 'जीव' जो परमेश्वर से एकरूप है, अनादि अविद्या से सम्बन्धित हो सकता है। उसके शुद्धचैतन्य स्वरूप होने के कारण उनकी चेतना काल, दिक्, उपाधियों अथवा किसी आन्तरिक या बाह्य कारण के द्वारा किसी रूप में 'आवृत्त' नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, चूँकि परमेश्वर सकल शरीरों में जीव के रूप में विद्यमान रहता है, इसलिए 'जीव' दुःख अथवा 'कर्म' के बन्धन में नहीं रहना चाहिए। ऐसी कठिनाइयों का हल परमेश्वर की 'माया शक्ति' के विवेकातीत स्वरूप में मिलता है जो तर्कातीत होने के कारण साधारण तर्क शास्त्र के उपकरणों से ग्रहण नहीं की जा सकती। परमेश्वर की शक्ति को अन्तरंग और 'वहिरंग' रूपों में संकल्पित किया जाने वाला सत्य व्याख्या करता है कि घटना परमेश्वर की बहिरंग शक्ति के क्षेत्र में घटित होती है वह स्वयं उसकी अन्तरंग शक्ति को प्रभावित नहीं कर सकती।

इस प्रकार यद्यपि परमेश्वर 'जीवों' के रूप में 'माया' और उससे उत्पन्न जगत्-प्रपंच के प्रभाव में हो सकता है, तथापि वह सर्वकाल में अपने अन्तरंग स्वरूप में अप्रभावित रहता है। परमेश्वर की तीन प्रकार की शक्तियों के मध्य स्थित तर्कातीत एवं विवेकातीत विभेद तथा उनके साथ उसका सम्बन्ध उन कठिनाइयों की व्याख्या कर देता है, जो साधारणतः अजेय प्रतीत होती है। यह तर्कातीत संकल्पना ही इस बात की व्याख्या कर देती है कि परमेश्वर कैसे माया के प्रभाव में रहकर भी उसका नियंत्रक हो सकता है।[३९]

'जीव' वस्तुतः दुःखों के प्रभाव में नहीं होता, किन्तु फिर भी वह परमेश्वर की 'माया' के द्वारा ऐसा प्रतीत होता है, जिस प्रकार स्वप्नों में एक व्यक्ति को सर्व प्रकार के असत्य एवं विकृत अनुभव हो सकते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर की 'माया' के द्वारा जीव पर जगत् अनुभव आरोपित किये जाते हैं। विशुद्ध 'जीव'

३९. षट् सन्दर्भ, पृ० २७०।

में अशुद्धता का आभास उसकी 'उपाधि' के रूप में क्रियान्वित 'माया' के प्रभाव से उत्पन्न होता है। जैसे-गतिहीन चंद्रमा बहती हुई नदी की लहरों पर कम्पायमान प्रतीत होता है। 'माया' प्रभाव के द्वारा 'जीव' अपना 'प्रकृति' से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, और प्रकृति के गुणों को अपने गुण समझता है।[४०]

जगत् की स्थिति के लिए परमेश्वर का 'अवतार' लेना अथवा किसी प्रकार का प्रयास करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह सर्वव्यापी शक्तिमान् है, पुराणों में वर्णित, परमेश्वर के सकल अवतार भक्तों को संतुष्ट करने के उद्देश्य से दिए गए हैं। वे उसके भक्तों की सहानुभूति के लिए परमेश्वर की स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति की सहानुभूति के लिए परमेश्वर की स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति से आविष्कृत किए जाते हैं। इससे स्वभावतः यह लक्षित होता है कि परमेश्वर अपने भक्तों के दुःख एवं पीड़ा से प्रभावित होता है, तथा वह उनके सुख से प्रसन्न होता है। परमेश्वर की स्वरूप शक्ति की सारभूत प्रक्रिया को 'ह्लादिनी' कहा जाता है, और इस ह्लादिनी की सारभूत 'भक्ति' होती है, जो विशुद्ध आनन्द-स्वरूप होती है। भक्ति भगवान् एवं भक्त दोनों में एक द्विविध सम्बन्ध में स्थित रहती है।[४१]

डॉ० दास गुप्ता[४२] ईश्वर के विषय में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भगवान् आत्म-सिद्ध है, क्योंकि भक्ति का अस्तित्त्व भक्त में होता है और परमेश्वर की एक शक्ति होने के कारण वह स्वरूपतः न तो उससे भिन्न है और न एक रूप है। भक्ति भक्त में उसकी शक्ति की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति मात्र है, जिसमें द्वैत का समावेश होता है और जिससे भगवान् में आनन्द की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति का उदय होता है, जिसकी व्याख्या भक्त की 'भक्ति' से उत्पन्न सुख के रूप में की जा सकती है। जब भगवान् यह कहता है कि वह भक्त पर आश्रित है, तब इस प्रत्यय की केवल इसी मान्यता पर व्याख्या की जा सकती है कि 'भक्ति' भगवान् की स्वरूप-शक्ति की सारभूत है, भक्त अपनी भक्ति के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप को स्वयं धारण करता है।

---

४०. यथा जले प्रतिबिम्बतस्यैव चन्द्रमसो जलोपाधिकृत कम्पादि-गुणो धर्मो दृश्यते न त्वाकाश स्थितस्य तद्वदनात्मनः प्रकृति.....तं पश्यति। —वही, पृ० २७२

४१. परम सारभूताया अपि स्वरूप-शक्तः सार भूता ह्लादिनी नाम या वृत्तिस्तस्यैव सार-भूतो वृत्ति विशेषो भक्तिः सा च रत्यपर-पर्याया। भक्तिर्मेगवति भक्तेषु निक्षिप्त्तं-निजोभयकोतिः सर्वदा तिष्ठति। —वही, पृ० २७४

४२. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ४, डॉ० दासगुप्ता, पृ० ४१५।

जब परमेश्वर अपनी नानात्मक सृष्टि में स्वानन्द लेने की इच्छा करता है, तब वह 'सत्त्व' को उत्पन्न करता है, और जब वह अपनी सम्पूर्ण सृष्टि के साथ सुप्त होने की इच्छा करता है, तब वह 'तमस्' की सृष्टि करता है। इस प्रकार परमेश्वर के सकल सृजनात्मक कार्य उसके भक्तों के लिए आरम्भ किए जाते हैं। परमेश्वर के निद्रामग्न होने की अवस्था अन्तिम प्रलय की स्थिति होती है। पुनः यद्यपि परमेश्वर सब में 'अन्तर्यामिन्' के रूप में अस्तित्त्व रखता है, तथापि वह उस रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता, अपितु वह केवल भक्त के लिए ही वस्तुतः अपने यथार्थ 'अन्तर्यामिन्' स्वरूप में प्रकट होता है।

'षट् सन्दर्भ' का लेखक पंचरात्रों के चार 'व्यूहो' के सिद्धान्त के विपरीत तीन 'व्यूहो' के सिद्धान्त के पक्ष में है। इसलिए वह एक, दो तीन और चार व्यूहों की विभिन्न परम्पराओं के लिए 'महाभारत' का उल्लेख करता है, और कहता है कि इस असंगति की व्याख्या एक अथवा अधिक 'व्यूहो' के अन्य 'व्यूहो' में समावेश के द्वारा की जा सकती है। 'भागवत-पुराण' को भी यह संज्ञा इसी तथ्य के कारण दी गई है कि वह 'भगवान्' को प्रमुख 'व्यूह' के रूप में स्वीकार करता है।[४३] इस ब्रह्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा की रामानुज द्वारा ध्यान के रूप में व्याख्या की गई है, परन्तु 'षट् सन्दर्भ' के अनुसार यह 'ध्यान' एक निश्चित रूप में भगवान् की उपासना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, क्योंकि किसी भी ध्यान में लीन होना तब तक सरल नहीं होता, जब तक कि उसे ऐसे रूप में सम्बन्धित न कर लिया जाए, जिस पर व्यक्ति अपने मन को स्थिर कर सके। ब्रह्म का अपरिवर्तनशील सत्य के रूप में वर्णन किया जाता है, और चूँकि केवल दुःख परिवर्तनशील होता है, इसलिए उसको पूर्णतः आनन्दमय मानना चाहिए। ब्रह्म को 'सत्यम्' भी माना जाता है, क्योंकि वह आत्म-निर्धारक होता है, और उसका अस्तित्त्व किसी अन्य सत्ता के अस्तित्त्व अथवा इच्छा पर निर्भर नहीं करता। वह स्व-प्रकाशत्व के रूप में अपनी शक्ति द्वारा 'माया' के रूप में अपनी अन्य शक्ति पर आधिपत्य रखता है और स्वयं में उससे रहता है। इससे यह प्रकट होता है कि यद्यपि 'माया' उसकी एक शक्ति है तथापि स्वरूपतः वह 'माया' से अतीत होता है। 'माया' से उद्भूत यथार्थ सृष्टि अग्नि, जल और पृथ्वी तत्त्वों से निर्मित होती है जो एक दूसरे के अंशों में हिस्सा बटाते हैं।

शंकरवादी कहते हैं कि जगत् एक यथार्थसृष्टि नहीं है, किन्तु शुक्ति में

४३. षट् सन्दर्भ, पृ० २८३।

रजत के सदृश एक मिथ्या अध्यारोपण होता है, किन्तु ऐसा भ्रम केवल समानता के कारण ही हो सकता है, और यदि उसके द्वारा शुक्ति रजत के रूप में संकल्पित की जा सकती है, तो यह भी सम्भव है कि रजत भी शुक्ति के रूप में कुसंकलित की जा सकती है। यह सत्य नहीं है कि भ्रम का अधिष्ठान एक होना चाहिए और भ्रम का अनेकत्व होना चाहिए, क्योंकि अनेक वस्तुओं के संघात में एक वस्तु का भ्रम होना सम्भव है, अनेक वृक्षों, पर्वतों और काहरों की संस्थिति एक एक धन-खण्ड का संयुक्त प्रभाव उत्पन्न हो सकता है। विषयों के जगत् का सदा प्रत्यक्ष किया जाता है, जबकि ब्रह्म का स्व-प्रकाशत्व के रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है, और ब्रह्म को भी यदि मिथ्या मानना सम्भव है तो उसका यह तात्पर्य हो जाएगा कि ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान नहीं माना जा सकता। इसलिए जगत् को यथार्थ मानना चाहिए। यह अद्वैतवादीमत असत्य है कि ब्रह्मन् पूर्णतः निर्विशेष है, क्योंकि ब्रह्म का नाम ही स्वयं यह प्रदर्शित करता है कि वह सर्वाधिक महान् है। जगत् भी न केवल उसमें से उद्‌भूत हुआ है, बल्कि उसमें स्थित रहता है और अन्ततः उसमें ही विलीन हो जाएगा। इसके अतिरिक्त, कार्य की कारण से कुछ समानता होनी चाहिए तथा दृश्य एवं स्पर्श-योग्य जगत् जिसका परमेश्वर कारण है, स्वभावतः यह संकेत करता है कि कारण स्वयं गुण रहित नहीं हो सकता।[४४]

इस मान्यता के आधार पर भी ब्रह्म की इस रूप में परिभाषा दी जानी चाहिए कि वह ऐसी सत्ता है जिससे जगदाभास उत्पन्न हुआ है, यह बात सिद्ध होती है कि वह स्वयं एक विभेदात्मक गुण है, और यदि ब्रह्म को स्व-प्रकाश भी माना जाए तो स्व-प्रकाशत्व स्वयं एक ऐसा गुण है जो ब्रह्म का अन्य विषयों से विभेद प्रदर्शित करता है। यदि स्वप्रकाशत्व एक विभेदात्मक गुण है, और यदि ब्रह्म को उससे युक्त माना जाए तो उसे निर्विशेष नहीं माना जा सकता।[४५]

भक्ति निरूपण

भक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुए 'षट् सन्दर्भ' में कहा है कि यद्यपि 'जीव' परमेश्वर की शक्ति के अंश होते हैं, तथापि परमतत्त्व के सत्य

४४. साध्य धर्माव्यभिचारि-साधन-धर्मान्वित-वस्तुविषयत्वान्न तावप्रमाणम्।
—षट् सन्दर्भ, पृ० २७

४५. जगज्जन्मादि भ्रमो यतस्तद् ब्रह्मेति स्वोत्प्रेक्षा पक्षे च न निर्विशेष वस्तुसिद्धिः भ्रम-मूलमज्ञान साक्षि ब्रह्मेति उपगमात्। साक्षित्वं हि प्रकाशैकरसतया उच्यते।
—षट् सन्दर्भ, पृ० २९१

ज्ञान के अनादि अभाव के कारण उनका चित्त उससे विलग हो जाता है, और इस दुर्बलता के कारण उनका आत्म-ज्ञान 'माया' से आच्छादित हो जाता है, वे प्रधान (सत्व, रजस् और तमस्) को स्वयं से एकरूप समझने के अभ्यासी हो जाते हैं, और फलतः जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्रों से संबन्धित दुःखों से पीड़ित होते हैं। किन्तु जिन 'जीवों' ने अपनी धर्म-साधना द्वारा पूर्वजन्म से परमेश्वर के प्रति झुकाव पैतृकसम्पत्ति के रूप में प्राप्त किया है, अथवा परमेश्वर की विशेष दया से जिनके ज्ञानचक्षु खुल गए हैं, वे स्वभावतः परमेश्वर की ओर प्रवृत्त होते हैं और जब भी वे धार्मिक उपदेश का श्रवण करते हैं तभी उसके स्वरूप की अपरोक्षानुभूति करते हैं। परमेश्वर की उपासना के द्वारा ही परमेश्वर की अपरोक्षानुभूति का उदय होता है, जिससे सकल दुःखों का नाश हो जाता है। उपनिषदों में यह कहा गया है कि एक व्यक्ति को ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् पाठों का श्रवण करना चाहिए तथा उन पर ध्यान करना चाहिए। ऐसी साधना व्यक्ति को ईश्वर के निकट ले जाती है, क्योंकि कहा जाता है कि उसके द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव होती है। अष्टांग-योग की प्रक्रियाएं भी एक व्यक्ति को ईश्वर प्राप्ति के निकट ले जाती हैं। कर्म का अनुपालन भी एक व्यक्ति को ईश्वर सान्निध्य की प्राप्ति में सहायक होता है अपने कर्त्तव्यों के पालन द्वारा एक व्यक्ति परमेश्वर के आदेशों की आज्ञा मानता है, और नित्य कर्त्तव्यों के उदाहरण में तो कर्त्ता को कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि उन कर्मों के फल स्वभावतः परमेश्वर को समर्पित किए जाते हैं। 'भक्ति' से सम्बन्धित ज्ञान भी परमेश्वर के अतिरिक्त विषयों से हमारे मन को पृथक् करके निषेधात्मक ढंग से सहायक होता है, फिर भी भगवन्नाम का कीर्तन एवं भगवान् के प्रति भावावेश के उन्माद में अभिव्यक्त 'भक्ति' को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। 'भक्ति' के दोनों रूपों का केवल एक ही उद्देश्य होता है, अर्थात् परमेश्वर को सुख देना इसलिए उनको 'अहेतुकी' माना जाता है।

सच्चा भक्त भगवन्नाम के कीर्तन में और मानवता के लिए परमेश्वर के दयामय कार्यों के ध्यान में स्वयं को लीन करने में एक नैसर्गिक सुख प्राप्त करता है। यद्यपि कुछ वर्गों के व्यक्तियों के लिए कर्म और ज्ञान मार्गों का विधान किया गया है, तथापि 'भक्ति मार्ग' को श्रेष्ठ माना गया है, जो व्यक्ति उस मार्ग पर हैं, उन्हें ज्ञान मार्ग एवं सांसारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य-मार्ग का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं है।[४६] शास्त्रों में निर्देशित सकल कर्म तभी फलदायक होते

---

४६. भजतां ज्ञान वैराग्याभ्यासेन प्रयोजनं नास्ति। —षट् सन्दर्भ, पृ० ४८१

हैं जब वे 'भक्ति' की प्रेरणा से किए जाते हैं और यदि उनका पालन न किया जाए तो भी एक व्यक्ति 'भक्ति' मात्र से अपने उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

'भक्ति' का इस रूप में भी वर्णन किया जाता है कि वह 'मुक्ति' है।[४७] सच्चा 'तत्त्व ज्ञान' का गौण प्रभाव है। सच्चा 'तत्त्व ज्ञान' ईश्वर की त्रिविध रूप की अपरोक्षानुभूति में निहित होता है, जिनके साथ उसका अभेद एवं भेद दोनों है। ईश्वर की इस सत्यता की सम्यक् अनुभूति एवं संप्रत्यक्ष केवल 'भक्ति' के द्वारा ही किए जा सकते हैं।[४८] ज्ञान अपरोक्षानुभूति की तुलना में अधिक दूरवर्ती होता है। भक्ति न तो केवल ज्ञान को ही उत्पन्न करती है, वरन् साक्षात्कार की भी प्राप्ति करवाती है। इसलिए यह माना जाता है कि 'भक्ति' तत्त्व ज्ञान से अधिक उच्च है जो उसका गौण प्रभाव माना जाता है। सच्चा भक्त ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार अपनी इच्छानुसार या तो उसकी शक्तियों के साहचर्य में अथवा उनसे पृथक् उसके त्रिविध रूप में अथवा उसके किसी एक रूप में कर सकता है।

एक व्यक्ति में शुभ कर्मों का प्रभाव स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, वरन् 'भक्ति' की उत्पत्ति के द्वारा परमेश्वर की संतुष्टि में सफलता की प्राप्ति होती है। उपनिषदों के 'निदिध्यासन' का अर्थ भगवान् के नाम एवं विभूति के कीर्तन द्वारा उसकी 'उपासना' करना होता है, जब कोई व्यक्ति परमेश्वर के प्रति पूर्ण आसक्ति से उसकी उपासना करता है, तब उसके 'कर्म' के सकल बंधन टूट जाते हैं। किन्तु अपने मन में परमेश्वर की ओर उन्मुख होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को उत्पन्न करना तथा उसके नाम एवं विभूतियों के कीर्त्तन में परम संतोष की प्राप्ति करना वस्तुत: कठिन होता है। सच्चे भक्तों के साहचर्य से एक व्यक्ति का मन क्रमश: परमेश्वरोन्मुख होता है, तथा 'भागवत पुराण' जैसे धार्मिक साहित्य के अध्ययन से यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल बनती है। इसके फल स्वरूप मन 'रजस् एवं तमस्' से मुक्त हो जाता है, और परमेश्वर के प्रति आसक्ति में अधिक विस्तार होने पर परमेश्वर के स्वरूप एवं उसके साक्षात्कार का ज्ञान उदित होता है, फलत: अहंकार नष्ट होता है, सकल संशय विलीन होते हैं, तथा कर्म का सर्वबंधन नष्ट होता है। भगवन्नाम के कीर्तन और उसके स्वरूप का

४७. निश्चला त्वपि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्दन। (स्कन्दपुराण) –वही, पृ० ४५३
४८. षट् सन्दर्भ, पृ० ४५४।

वर्णन करने वाले धार्मिक पाठों के श्रवण द्वारा एक व्यक्ति परमेश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में अपने वस्तुगत अज्ञान का निवारण करता है, गहनचिन्तन एवं ध्यान से यह परमेश्वर सम्बन्धी अपने मिथ्या विचारों के विनाश द्वारा अपने आत्मगत अज्ञान का निवारण करता है, तथा ईश्वर के साक्षात्कार एवं प्रत्यक्ष दर्शन से परमेश्वर के स्वरूप के अवबोध में बाधक व्यक्तिगत अपूर्णता को नष्ट करता है।

भक्ति का अनुष्ठान कर्म के अनुष्ठान से इस बात में भिन्न है कि पूर्वोक्त साधन-काल और साध्य काल दोनों में सुखदायी होता है, पश्चादुक्त नहीं होता।[४९] इस प्रकार एक व्यक्ति को नित्य अथवा अन्य कर्मों के अनुष्ठान अथवा ज्ञान या वैराग्य के अनुष्ठान को सर्वप्रयत्न त्याग देना चाहिए।[५०] 'भक्ति' के बिना ये सब निष्फल रहते हैं, क्योंकि जब तक कर्म भगवान् को समर्पित नहीं किए जाते वे एक व्यक्ति को 'कर्म' के बन्धन से अवश्य ही पीड़ित करते हैं, तथा 'भक्ति' के बिना कोरा ज्ञान बाह्य होता है और वह न तो साक्षात्कार उत्पन्न कर सकता है और न आनन्द, इस प्रकार न तो 'नित्य' कर्म करने चाहिए और न नैमित्तिक कर्म, प्रत्युत् केवल भक्ति का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि 'भक्ति' की चरम सफलता प्राप्त कर ली जाती है तो फिर कहना ही क्या है, किन्तु यदि भक्ति का अनुष्ठान वर्तमान जीवन में सफलतापूर्वक न किया जा सके, तो भी भक्त के भाग्य में कोई दण्ड नहीं होता, क्योंकि भक्ति-रसिक को ज्ञान अथवा कर्म के अनुष्ठान का कोई अधिकार नहीं होता।[५१] परमेश्वर सर्व मानवों की चेतन प्रक्रियाओं में अपनी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करता है, और वह सर्वान्तरात्मा है।[५२] और केवल उसी की उपासना की जानी चाहिए। चूँकि 'भक्ति' स्वरूपतः मुक्ति से एकरूप होती है, इसलिए हमारा चरम लक्ष्य 'भक्ति' है। जो मनुष्य भक्तिमार्ग में है उसे आत्म-चिन्तन के हेतु-दुःखमय प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि स्वयं भक्ति भक्तिमय भावावेश के सम्बल से एक सहज व सरल ढंग से आत्म-चिन्तन उत्पन्न कर देगी। भक्ति का स्थान इतना उच्च है कि वे व्यक्ति जो संतत्त्व अथवा 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं, तथा जिनके पाप भस्म हो चुके हैं, यदि भगवान् के प्रति अनादर करते हैं, तो उनका

४९. कर्मानुष्ठानवन्न साधन-काले साध्य-काले वा भक्त्यानुष्ठानं दुःख रूपं प्रत्युत सुख रूपमेवं। —षट् संदर्भ, पृ० ४५७

५०. वही, पृ० ४५७।

५१. भक्तिरसिकस्य कर्मानाधिकारात्.....इत्यादयः। —षट् सन्दर्भ, पृ० ४६०

५२. सर्वेषां धी वृत्तिभिः अनुभूतं सर्वं येन स एकैव सर्वान्तरात्मा। —वही, पृ० ४६०

भी भगवान् की इच्छा से पतन हो सकता है, और उनके पापों का पुनर्विकास हो सकता है।[५३]

जब भक्ति के द्वारा 'कर्म' के बन्धन का नाश हो ज़ाता है, तब भी 'भक्ति' के उच्चतर विकास की गुंजाइश रहती है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने स्वरूप के और भी अधिक पवित्र रूप की प्राप्ति करता है। इस प्रकार 'भक्ति' शाश्वत अपरोक्षानुभूतियों की अवस्था है जो बन्धन की अशुद्धताओं की पूर्ण निवृत्ति के पश्चात् भी विद्यमान रहती है। परमेश्वर सर्व वस्तुओं का परम प्रदाता है, उसकी इच्छा से निकृष्टतम मनुष्य भी देवता में रूपान्तरित हो सकते हैं, और देवता भी निकृष्टतम मानवों में रूपान्तरित हो सकते हैं। भक्ति का अस्तित्त्व सकल अशुभो का सर्व निवारक माना जाता है, इस प्रकार 'भक्ति' न केवल सर्व प्रकार के दोषों को दूर करती है, अपितु उसकी शक्ति से प्रारब्ध-कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।[५४] अतः एक सच्चा 'भक्त' न सामान्य मुक्ति की कामना करता है न किसी अन्य वस्तु की वरन् केवल भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने के लिए चिन्तित रहता है।

भक्ति के अनेक प्रकारों में भक्ति को वैधी और रागानुन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। वैधी-भक्ति दो प्रकार की होती है जो भक्ति को भगवान् के प्रति समर्पण तथा किसी भी दूरस्थ प्रयोजन के बिना उसकी उपासना के लिए प्रेरित करती है। वह वैधी होती है क्योंकि उक्त 'भक्ति' को प्रोत्साहन शास्त्रों में (जिन्हें अन्यथा 'विधि' अथवा शास्त्रीय आदेश भी कहते हैं) प्राप्त होता है। 'शरणागत्ति' अच्छे आचार्यों व भक्तों का समागम भगवान् के नाम का श्रवण और उसके नाम एवं विभूतियों का संकीर्तन आदि 'वैधी भक्ति' के अन्तर्गत आते हैं। इनमें से 'शरणागति' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ जीवन के सभी भय से दुःखों से निराश होकर भगवान् की शरण में जाना होता है।[५५]

इस प्रकार 'शरणागति' में कोई उत्तेजक कारण होना चाहिए, जो एकमात्र

---

५३. जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः यद्यचिन्त्य-महा-शक्तौ भगवत्यपराधीनः।
—षट् सन्दर्भ, पृ० ५०५

५४. वही, पृ० ५१६।

५५. अथ वैधी-भेदाः शरणापत्ति-श्री गुर्वादि सत्-सेवा-श्रवण-कीर्तनाद्यः।
—षट् सन्दर्भ, पृ० ५९३

संरक्षक के रूप में भगवान् की शरण में जाने के लिए भक्त को प्रेरित करता है। जो व्यक्ति भगवान् की ओर उसके प्रति प्रगाढ़ अनुराग के कारण उन्मुख होते हैं वे भी अपनी उस पूर्व अवस्था के प्रति घृणा से प्रेरित होते हैं, जब उनके मन भगवान् से विमुख थे। उसमें भी इस धारणा का समावेश होता है कि अन्य कोई संरक्षक उपलब्ध नहीं हैं अथवा किसी भी ऐसे अन्य व्यक्ति अथवा प्राणी के परित्याग का समावेश होता है। जिस पर भक्त पहले आश्रित था। व्यक्ति को वैदिक अथवा 'स्मृति' के आदेशों में सभी आशाओं का परित्याग कर देना चाहिए तथा एकमात्र आश्रय के रूप में भगवान् की ओर उन्मुख होना चाहिए। 'शरणागत्ति' की परिभाषा निम्नलिखित तत्त्वों के समावेश द्वारा की जा सकती है—१. नित्यप्रति ईश्वर के अनुकूल कार्य एवं विचार करना। २. परमेश्वर के किसी भी प्रकार से प्रतिकूल सभी वस्तुओं का वर्जन करना, ३. यह प्रबल विश्वास रखना कि वह रक्षा करेगा। ४. संरक्षण के हेतु उस पर आश्रित रहना, ५. स्वयं को सम्पूर्णतः भगवान् के हाथों में समर्पित करना तथा स्वयं को उस पर पूर्णतः आश्रित समझना, ६. स्वयं को एक अत्यधिक दीन प्राणी समझना जो भगवान् के अनुग्रह के अवतरण की प्रतीक्षा में हैं।[५६] इनमें से प्रमुख महत्त्व भगवान् को एकमात्र संरक्षक समझने पर दिया जाना चाहिए, जिससे अन्य तत्त्वों का केवल घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

परमेश्वर के संरक्षण की प्रार्थना के पश्चात् अपने गुरु से सहायता की प्रार्थना एवं उसकी सेवा में अनुरक्ति तथा उन महापुरुषों की सेवा का स्थान आता है जिनके साहचर्य से एक व्यक्ति अन्यथा अप्राप्य अधिकांश वस्तुओं की प्राप्ति कर सकता है।[५७] एक प्रमुख रूप जिसमें 'वैधी-भक्ति' अभिव्यक्ति होती है-वह है-स्वयं को भगवान् का दास मानना अथवा भगवान् को हमारा परम मित्र समझना। सेवा और मैत्री के भाव इतने प्रगाढ़ व तीव्र होने चाहिए कि उनके फलस्वरूप एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्त्व को भगवान् के लिए सम्पूर्णतः त्याग दे, परमेश्वर के प्रति यह पूर्ण आत्मत्याग शास्त्रीय दृष्टि से 'आत्म-निवेदन' कहलाता है।

षट्-सन्दर्भ के लेखक ने अपने छठे विभाग 'प्रीति-सन्दर्भ में परमतत्त्व एवं

---

५६. शरणापत्तेर्लक्षणं वैष्णव तन्त्रे आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य विवर्जनम् रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा आत्म-निक्षेप-कार्पण्ये षड् विधा शरणागति।
—वही, पृ० ५९३

५७. षट् सन्दर्भ, पृ० ५९५-६०४।

श्रेष्ठतम पुरुषार्थ के रूप में आनन्द के स्वरूप का निरूपण किया है। मानव का चरम लक्ष्य अथवा उद्देश्य सुख की प्राप्ति एवं दुःख का विनाश होता है, जब भगवान् संतुष्ट होते हैं तब ही व्यक्ति दुःख के अन्तिम विनाश एवं नित्य सुख की प्राप्ति कर सकता है। व्यक्ति अथवा 'जीव' ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का सत्य ज्ञान न होने व 'माया' से आवृत्त होने के कारण उसके यथार्थ स्वरूप को जानने में असफल रहता है। अनेक आत्मगत उपाधियों से सम्बन्धित हो जाता है और जन्म एवं पुनर्जन्म के अनादि चक्रों के दुःख को भोगता है। परम आनन्द की प्राप्ति परमतत्त्व की अपरोक्षानुभूति में निहित होती है, यह केवल व्यक्ति के अज्ञान के अन्त एवं तज्जन्य दुःखों की अत्यधिक समाप्ति के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। इनमें से पूर्वोक्त, यद्यपि अभावात्मक रूप में अभिव्यक्त किया गया है, तथापि परमतत्त्व के स्वप्रकाश स्वरूप होने एवं उसी की आत्माभिव्यक्ति होने के कारण वस्तुतः भावात्मक होता है। पश्चादुक्त विनाश के द्वारा अभावात्म्क स्वरूप होने के कारण नित्य व अपरिवर्तनशील होता है-इस रूप में कि, जब दुःखों का एक बार अन्तिम रूप से मूलोच्छेदन हो जाता है, तब आगे कोई दुःख की वृद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार भगवत् प्राप्ति ही परमसुख अथवा आह्लाद को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।[५८] युक्ति भगवत् प्राप्ति ही है, जिसके फलस्वरूप अहंकार के बन्धन का अन्त होता है, जो आत्म-स्वरूप में स्थिति की ही अनुभूति (अवस्था) होती है। यह आत्म स्वरूप में स्थिति परमात्मन् के रूप में अपने स्वरूप की अनुभूति ही होती है।

कैवल्य प्राप्ति–

सूक्ष्मतम अर्थात् ब्रह्म के रूप में स्थूल अथवा एक सगुण ईश्वर जिसे की परमात्मन् के रूप में कहा जाता है, उसकी प्राप्ति होती है। यह सिद्धि की पराकाष्ठा कही जा सकती है। जब एक भक्त भगवान् को उसके सभी विविध रूपों में प्राप्त करना सीख जाता है।[५९] इस अवस्था में यद्यपि भक्त भगवान् की विविध अनेकात्मक व अनन्त शक्तियों की अपरोक्षानुभूति करता है, तथापि वह अपने आत्म-स्वरूप का विशुद्ध आनन्द रूपी भगवान् के स्वरूप से एकाकार करना सीखता है। भगवान् के स्वरूप का ऐसा तादात्म्यीकरण स्वयं को 'भक्ति' अथवा आनन्द के संवेग में अभिव्यक्त करता है, भक्त आनन्द के रूप में अपने

---

५८. निरस्तातिशयाह्लाद सुख-भावैक लक्षणा, भेषजं भगवत् प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिका मता।
–विष्णुपुराण, षट् सन्दर्भ, पृ० ६७४

५९. षट् सन्दर्भ, पृ० ६७५।

आत्मस्वरूप की अनुभूति करता है, और ईश्वर के आनन्द अथवा प्रीति स्वरूप के माध्यम से भगवान् के साथ अपने तादात्म्य की प्राप्ति करता है। ऐसे आनन्द की अनुभूति के द्वारा ही दु:ख की नि:शेष समाप्ति सम्भव होती है, तथा उसके बिना भक्त भगवान् की सभी विविध व अनन्त शक्तियों के साहचर्य में प्राप्ति नहीं कर सकता।

भगवान् के आनन्द स्वरूप की अन्तरंग अनुभूति के द्वारा भक्त के लिए उसके अन्य गुणों, लक्षणों व शक्तियों का भी प्रकाशन हो सकता है। मनुष्य स्वभावत: आनन्द के द्वारा आत्म-सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, किन्तु साधारणतया वह आनन्द के विषय के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता और इस प्रकार वह विविध सांसारिक विषयों में आनन्द की खोज करने में अपनी शक्तियों का अपव्यय करता है। वह तभी अपने यथार्थलक्ष्य की प्राप्ति करता है जब वह यह अनुभव कर लेता है कि भगवान् सकल आनन्द का स्रोत है, उसी का हमारे सभी प्रयत्नों द्वारा अनुसंधान किया जाना चाहिए, तथा इस विधि से ही हम पूर्ण आनन्द एवं आनन्द में चरममुक्ति की प्राप्ति कर सकते हैं। सच्चा भक्त 'कैवल्य' की प्राप्ति का इच्छुक होता है, किन्तु, कैवल्य का अर्थ शुद्धता होता है, और चूँकि ईश्वर का यथार्थ स्वरूप एकमात्र शुद्धता है, इसलिए 'कैवल्य' का अर्थ भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति होगा। अत: भगवान् और केवल परमात्मा की प्राप्ति का आनन्द ही सच्चा 'कैवल्य' ईश्वर का परमस्वरूप माना जाना चाहिए।

डॉ० दासगुप्ता[६०] कैवल्य का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था में व्यक्ति आत्म-ज्ञान व भगवान् से अपने सम्बन्ध के ज्ञान द्वारा यह अनुभव करता है कि जगत् सत् एवं असत् दोनों है, अतएव अपने वास्तविक स्वरूप में उसका कोई यथार्थ अस्तित्त्व नहीं है, वरन् केवल स्वयं उसकी 'अविद्या' के द्वारा वह उसका अंश माना जाता है। जगत् का निषेध मात्र यथेष्ठ नहीं होता, क्योंकि यहाँ भगवान् पर आधारित जीव के यथार्थ स्वरूप का भावात्मकज्ञान भी उपस्थित होता है। इस अवस्था में व्यक्ति सांसारिक अनुभव को अपने स्वरूप से संबन्धित करने के मिथ्या की अनुभूति कर लेता है, तथा पूर्वोक्त को भगवान् के अंश के रूप में पहचानना सीख लेता है। इस दशा में उसे अपने प्रारब्ध कर्मों के सभी फलों को भोगना पड़ता है, किन्तु वह उक्त भोगों में कोई रुचि का अनुभव नहीं करता, तथा उनके बंधन में नहीं रहता।[६१]

---

६०. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ४, डॉ० दास गुप्ता, पृ० ४३४।

६१. अस्य प्रारब्ध-कर्म-मात्राणामनभिनिवेशेनैव भोग:। —षट् सन्दर्भ, पृ० ६७८

इस अवस्था में चरमोत्कर्ष में ईश्वर के यथार्थ स्वरूप के साक्षात् व अपरोक्ष प्रकाशन और आनन्द के रूप में उसके स्वरूप में भागीदार होने के साथ-साथ व्यक्ति की 'अविद्या' के रूप में 'माया' का कार्य-व्यापार समाप्त हो जाता है, इसलिए 'माया' की पूर्ण समाप्ति को ही मुक्ति की चरम अवस्था समझना चाहिए।[६२]

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि 'जीव' और 'जीवों' की समष्टि निरूपित भगवान् की शक्ति के साहचर्य में परमतत्त्व का एक अंश होता है। परमतत्त्व सूर्य के सदृश है तथा 'जीव' उसमें से प्रस्फुरित किरणों के समान है। भगवान् (ईश्वर) में अपने मूल से वे प्रस्फुटित हुए है और यद्यपि वे उससे स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं, तथापि उस पर पूर्णरूपेण आश्रित रहते हैं। उससे बाह्य उनके अस्तित्त्व का कथन करना उंचित नहीं, क्योंकि वस्तुत: उससे बाह्य उक्त अस्तित्त्व का आभास केवल 'माया' के आवरण का प्रभाव होता है। जीवों की किरणों से तुलना का अर्थ केवल यही है कि उनका उस सत्ता से कोई पृथक् अस्तित्त्व नहीं है, जिसकी वे किरणें हैं, और इस अर्थ में परमेश्वर पर पूर्णत: आश्रित है।

जब 'जीव' परमेश्वर की शक्ति माना जाता है तब उसका तात्पर्य यह होता है कि ऐसे साधन है, जिनके माध्यम से परमेश्वर अपनी अभिव्यक्ति करता है। चूँकि परमेश्वर अनन्त शक्तियों से सम्पन्न होता है, इसलिए यह स्वीकार करना कठिन नहीं है कि परमेश्वर की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ 'जीव' स्वयं में यथार्थ कर्ता एवं भोक्ता है, तथा एक उग्र अद्वैतवादी का यह निर्देश अवैध है कि उनके कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्व का कथन करना मिथ्या है क्योंकि एक जीव का कर्तव्य परमेश्वर की शक्ति की एक अभिव्यक्ति है। उसी के द्वारा 'जीव' संसार-चक्र में भ्रमण करते हैं तथा परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की प्रक्रिया के द्वारा ही वे अपने स्वरूप के परमेश्वर से तादात्म्य को ज्ञान करना सीखते हैं और उसके प्रति भावावेश में स्वयं को तल्लीन करते हैं। यह मत गलत है कि मुक्ति की अवस्था में आनन्द की कोई अनुभूति नहीं होती, क्योंकि उस दशा में मुक्ति की अवस्था वांछनीय नहीं होती। इसके अतिरिक्त, यह मत त्रुटिपूर्ण है कि मुक्तावस्था में जीव का आनन्द-स्वरूप ब्रह्म से पूर्ण तादात्म्य हो जाता है क्योंकि कोई भी व्यक्ति आनन्द से एकरूप होने की इच्छा नहीं करता, वरन् उसका अनुभव करने की इच्छा करता है। इसलिए अद्वैतवाद का उग्र रूप इस बात की व्याख्या नहीं कर

६२. वही, पृ० ६७८।

सकता कि मुक्तावस्था क्यों वांछनीय है, यदि मुक्ति (कैवल्य) को एक अत्यन्त वांछनीय अवस्था सिद्ध नहीं की जा सकती है, तो कोई कारण नहीं होगा कि उसकी प्राप्ति के लिए एक व्यक्ति प्रयास करे।

आगे यह कहा जा सकता है कि यदि परमतत्त्व विशुद्ध आनन्द व ज्ञान स्वरूप है तो इस बात की व्याख्या करने की कोई विधि नहीं है कि वह 'माया' के आवरण से क्यों प्रभावित होता है। अंशी एवं अंश का प्रत्यय तथ्य की व्याख्या करता है कि यद्यपि 'जीव' परमेश्वर से भिन्न नहीं है तथापि वास्तव में उस पर आश्रित होने के कारण वे उससे पूर्णतः एकरूप भी नहीं है। परमेश्वर को समझने की सम्यक् विधि है; उसे विशिष्ट उपाधियों व परिसीमाओं से सम्बन्धित सकल प्राणियों के अध्यक्ष के रूप में पहचानना अर्थात् वह विभिन्न व्यक्तित्त्वों के रूप में ओर होते हुए भी एकत्व के रूप में है, इसी प्रकार 'परमात्मन्' के प्रत्यय का ईश्वर के प्रत्यय से एकीकरण किया जा सकता है।[६३]

बलदेव विद्या भूषण का दर्शन :–

बलदेव विद्या भूषण वैरागी पिताम्बरदास के शिष्य थे। इनके कम से कम निम्नलिखित १४ ग्रन्थ माने जाते हैं। जो इस प्रकार हैं–साहित्य-कौमुदी, एवं उसकी टीका, 'कृष्णानन्द' गोविंद भाष्य; सिद्धान्त रत्न; काव्य-कौस्तुभ; गीता पर एक टीका, 'गीता भूषण' राधा दामोदर के 'छन्द कौस्तुभ' पर एक टीका, 'प्रमेय रत्नावली' और उसकी टीका, 'कांति-माला' रूप के लघु-भागवतामृत 'पर एक टीका, नामार्थ-शुद्धिका' नामक सहस्रनाम 'पर एक टीका, जयदेव के चन्द्रालोक' पर एक टीका, सिद्धांत-दर्पण, 'तत्त्व-सन्दर्भ' पर एक टीका, रूप की 'नाटक चंद्रिका' पर एक टीका। उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण उपनिषदों पर भी टीकाएं लिखी है।[६४]

बलदेव की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'ब्रह्मसूत्र' पर उनकी टीका है जो अन्यथा गोविन्दभाष्य भी कहलाती है। इस पर सूक्ष्म नामक एक उप टीका है, इस टीका के लेखक का नाम ज्ञात नहीं है, यद्यपि कुछ विद्वान् उसे स्वयं बलदेव ही की रचना मानते हैं। बलदेव ने अपने 'गोविन्द-भाष्य' के अन्तर्विषय का 'सिद्धान्त-रत्न' में संक्षिप्तीकरण भी किया है, जिसकी एक टीका है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का कथन है कि सिद्धान्त-रत्न स्वयं बलदेव द्वारा लिखा गया

---

६३. षट् सन्दर्भ, पृ० ६९१।

६४. महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज की 'सिद्धान्त-रत्न', भाग २, की प्रस्तावना।

था। इस कथन की पुष्टि में कुछ भी नहीं दिया गया है, जबकि इसके विरोध में स्वाभाविक आपत्ति यह है कि बलदेव के समान एक वैष्णव स्वयं अपनी रचना की भूरि-भूरि स्तुति नहीं कर सकता।[६५] बलदेव सिद्धान्त-रत्न 'को गोविन्द-भाष्य' का सारांश नहीं मानते, अपितु अंशतः एक पूरक रचना एवं अंशतः एक टीका मानते हैं।[६६] यह सम्भव है कि 'गोविन्द-भाष्य' पर 'सूक्ष्म' नामक टीका का लेखक भी 'सिद्धान्त रत्न' पर लिखी गई टीका का लेखक है, क्योंकि एक प्रस्तावना श्लोक दोनों में सामान्य है।[६७] 'सिद्धान्त रत्न' में बहुत कुछ सामग्री ऐसी है जो 'गोविन्द-भाष्य' में नहीं मिलती।

डॉ० दास गुप्ता ने इनके दर्शन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि आनन्द का नित्य स्वामित्व एवं दुःख का नित्य निरोध मानव का चरम लक्ष्य है। यह लक्ष्य आत्म-स्वरूप को जानने वाले व्यक्ति द्वारा भगवान् के स्वरूप एवं गुणों से संबन्धित रूप के यथार्थज्ञान के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। परमेश्वर का स्वरूप शुद्ध, चित्त व आनन्द है।

इन दोनों को भगवान् का शरीर माना जा सकता है। उसका आत्मन् ज्ञान, ऐश्वर्य व शक्ति से निर्मित होता है।[६८] यद्यपि वह अपने स्वरूप में एक है, तथापि वह अनेक स्थानों में व अपने विविध भक्तों के रूपों में आविर्भूत होता है। इस लिए ये आत्म-लीला में उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार मात्र है, तथा यह उसकी उन अचिन्त्य शक्तियों के कारण सम्भव होता है, जिसका उसके स्वरूप से तादात्म्य है।[६९] किन्तु इस कारण से हमें 'भेदाभेद' सिद्धान्त की एक और अनेक अथवा भेद और अभेद के युगपत् सत्य की शुद्धता को नहीं मान लेना चाहिए।[७०]

---

६५. सान्द्रानन्द स्यन्दि गोविन्द भाष्यं, जीयादेततसिन्धु गाम्भीर्य-सम्भृत्।
यस्मिन् सद्यः संश्रुते मानवानाम्, मोहोच्छेदी जायते तत्त्व-बोधः।
—सिद्धांत-रत्न, पृ० १ पर टी०

६६. सिद्धान्त-रत्न, पृ० १ पर टी०

६७. आलस्याद् प्रवृत्ति स्याद् पुंसां यद् ग्रन्थ-विस्तरे। गोबिन्द-भाष्ये संक्षिप्ते टिप्पणी क्रियतेऽत्र तत्। —सू०टी०, पृ० ५, सिद्धान्त-रत्न, पृ० १ पर टी०

६८. भगवत्स्वरूप विशेषभूत ह्यदिन्यादिसारात्मा भक्तिर्भगवद् विशेषणतया भक्ते च पृथग् ...भवति। —सिद्धान्त-रत्न, पृ० ३९

६९. तत्र सदात्माऽपि यथा सत्तं द्यन्ते ददाति च सा सर्व-देश-काल-द्रव्य व्याप्ति हेतु सन्धिनी, संविदात्माऽपि यथा संवेति संवेदयति च सा...ह्लादिनी।
—सिद्धान्त-रत्न, पृ० ३९-४०

७०. गोविन्द भाष्य ४.१.१७

जिस प्रकार एक अभिनेता स्वरूपतः एक रहकर भी स्वयं को विविध रूप में अभिव्यक्त करता है; उसी प्रकार हरि भी कार्य-भेद के अनुसार और विविध भक्त जिस मनः स्थिति एवं रूपों में उसकी संकल्पना करते हैं। उनके अनुसार स्वयं को अभिव्यक्त करता है।[७१] उसकी अचिन्त्य शक्तियों के कारण विरोध के नियम उस पर लागू नहीं होते, उसके प्रति हमारी संकल्पना में विरोधी धर्मों व प्रत्ययों का साहचर्य हो सकता है। इसी प्रकार उसकी देह उससे भिन्न नहीं है; अतः वह अपनी देह से एकरूप है। उससे भिन्न उसकी देह का प्रत्यय चिन्तन की प्रक्रिया के सहायक के रूप में केवल भक्तों के मन में ही होता है; किन्तु यद्यपि यह उनकी कल्पना है, तथापि ऐसा रूप मिथ्या नहीं है, अपितु स्वयं भगवान् ही है।

परमात्मा के अलौकिक स्वरूप के कारण, उसका यथार्थ रूप शुद्ध, चित् व आनन्द होते हुए भी वह कृष्ण के रूप में अपना यथार्थ स्वरूप देह रूप में धारण कर सकता है। यह मूर्ति वस्तुतः उसी प्रकार भक्त के मन के साहचर्य में उत्पन्न होती है, जिस प्रकार एक गन्धर्व के प्रशिक्षित श्रवणों के साहचर्य में राग-मूर्तियाँ आविर्भूत होती हैं।[७२] इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि बलदेव के अनुसार स्वप्न-सृष्टियाँ भी मिथ्या नहीं होती, वरन् सत्य होती है, तथा भगवान् की इच्छा से उत्पन्न होती हैं और जाग्रतावस्था में भगवान् की इच्छा से तिरोहित होती है।[७३] इसीलिए भक्तों के मन में आविर्भूत होने वाली ये मूर्तियाँ यथार्थ मूर्तियाँ होती हैं जो भगवान् के द्वारा भगवान् की इच्छा से अभिव्यक्त होकर भक्तों के मन के साहचर्य से क्रियान्वित होती है।

इस सम्बन्ध में यह भी निर्देश किया जा सकता है कि 'जीव' भगवान् से भिन्न होते हैं। 'जीव' की ब्रह्म के प्रतिबिम्ब के रूप में एवं उससे बाह्य कोई यथार्थ अस्तित्त्व न रखने के रूप में व्याख्या करने के लिए उग्र अद्वैतवादियों द्वारा कल्पित किया गया 'अविद्या' में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब भी दोषपूर्ण है, क्योंकि समानता अथवा प्रतिबिम्ब की संकल्पना में भेद का समावेश होता है। 'जीव' चरमाण्वीय स्वरूप के 'प्रकृति' के गुणों से संबन्धित व भगवान् पर पूर्णतः आश्रित होते हैं। यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापी है तथापि वह ज्ञान व भक्ति के द्वारा ज्ञात

---

७१. महोपाध्यास गोपीनाथ कविराज की सिद्धान्त-रत्न, भाग-२ की प्रस्तावना।
७२. सान्द्रानन्द स्यन्दि गोविन्द भाष्यं जीयादेततसिन्धु गाम्भीर्य--सम्भृत।
७३. सिद्धान्त-रत्न, पृ० १ पर टीका।

किया जा सकता है। उसके स्वरूप की यथार्थ अपरोक्षानुभूति तथा उसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी केवल साध्य-भक्ति के द्वारा सम्भव होता है–साधनभक्ति द्वारा नहीं।

यह माना जाता है कि ईश्वर जगत् का उपादानकारण तथा कर्ता अर्थात् निमित्तकारण है। उसकी चरम-शक्ति 'विष्णु-शक्ति' क्षेत्रज्ञ-शक्ति 'अविद्या शक्ति' के रूप में तीन मूलभूत शक्तियाँ है। अपनी प्रथम शक्ति में ब्रह्मन् स्वयं में विकार-रहित बना रहता है, तथा अन्य दो शक्तियाँ 'जीव' तथा जगत् में रूपान्तरित होती हैं। सांख्यवादी तर्क करते हैं कि चूंकि जगत् ब्रह्मन् से भिन्न स्वरूप है इसलिए ब्रह्म को उसका उपादान कारण नहीं माना जा सकता। यदि यह आग्रह किया जाए कि जगत् एवं जीवों का उपादानकारण मानी जा सकने वाली दो सूक्ष्म शक्तियाँ होती है तो भी उनकी आपत्ति बनी रहती है, क्योंकि सूक्ष्म से भिन्न होने वाले स्थूल के विकास की व्याख्या नहीं की जा सकती।

इसका उत्तर देते हुए कहा है कि यह आवश्यक नहीं कि कार्य अनिवार्यत: उपादान कारण के समान अथवा सदृश हो। ब्रह्म स्वयं को उससे सर्वथा भिन्न जगत् में रूपान्तरित करता है। यदि उपादान कारण और कार्य में पूर्ण एकरूपता होती तो एक को कारण व दूसरे को कार्य नहीं कहा जा सकता था, यथा-घर में कार्य रूप से होने वाला मृत्तिका के ढेले के समान स्वरूप नहीं देखा जाता, अत: जिन उदाहरणों की हम समीक्षा कर सकते हैं, उन सब में कार्य उपादान कारण से अनिवार्यत: भिन्न होना चाहिए। उक्त रूपान्तरण किसी भी रूप में ब्रह्म के स्वरूप को परिवर्तित नहीं करता। परिवर्तन तो उसकी शक्तियों में होते हैं तथा वह अपनी शक्तियों के रूपान्तरण में अपरिवर्तित रहता है। यदि हम एक साधारण उदाहरण लें तो यह संकेत किया जा सकता है कि लाठीवाला मनुष्य किसी ओर का नहीं वरन् स्वयं उसी मनुष्य का द्योतक है। यद्यपि उस मनुष्य एवं लाठी में भेद है।

इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म की शक्ति का शक्तियों सहित ब्रह्म से तादात्म्य होता है, तथापि ब्रह्म और उसकी शक्तियों में भेद का अस्तित्त्व का निषेध नहीं किया जाता है।[७४] इसके अतिरिक्त, उपादानकारण और उसके कार्य में सदा भेद होता है। घट मृत्तिका के ढेले से तथा स्वर्ण से बने अलंकार स्वर्ण से भिन्न रहते हैं, तथा वे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं और भिन्न-भिन्न कालों में अस्तित्त्व होता तो कारण की प्रक्रिया का अनुप्रयोग अनावश्यक होता, और कार्य नित्य होता।

जगत् की अभिव्यक्ति परमात्मा की अभिव्यक्ति के माध्यम से होती है,

७४. गोविन्द भाष्य–३.२.१२ पर सूक्ष्म टीका।

जिस पर वह आश्रित होता है। ऐसी अभिव्यक्ति केवल ईश्वर में अन्तर्निहित कारण की प्रक्रिया के द्वारा और उसकी इच्छा द्वारा प्रेरित हो सकती है। इस प्रकार जगत् भगवान् की शक्ति से अभिव्यक्त होता है तथा एक सीमित अर्थ में जगत् का भगवान् से तादात्म्य होता है, किन्तु एक बार कार्य रूप में पृथक् हो जाने पर वह उससे भिन्न हो जाता है। अपने वर्तमान रूप में अभिव्यक्त होने से पूर्व जगत् का किसी भी काल में अस्तित्त्व नहीं था; यह मान लेना त्रुटिपूर्ण है कि जगत् का किसी भी अवस्था में भगवान् से तादात्म्य था, इसलिए यद्यपि भगवान् को सदा जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है।[७५]

इन समस्त विवेचनों के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि बलदेव के मत एवं सांख्यमत में कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं है। बलदेव का कहना यह है कि अपनी शक्तियों से सम्पन्न भगवान् में जगत् एक सूक्ष्म रूप में अस्तित्त्व रखता है। वह केवल 'कारिका' के इस शाब्दिक प्रकाशन पर आपत्ति करते हैं कि कारणता के कारको की प्रक्रिया से पूर्व कार्य का कारण में अस्तित्त्व होता है, क्योंकि कार्य कारण में कार्य के रूप में अस्तित्त्व नहीं रखता वरन् एक सूक्ष्म अवस्था में अस्तित्त्व रखता है। यह सूक्ष्म अवस्था कारणता के कारकों की प्रक्रिया से कार्य रूप में अभिव्यक्त होने से पूर्व अभिवृद्ध एवं दिक्कालीन् गुणों से सम्पन्न हो जाती है। किन्तु कारण में कार्य के अस्तित्त्व पर अत्यधिक बल देने में और कारणता के कारकों द्वारा व्यापार केवल अव्यक्त रूप में पूर्व अस्तित्वान् सत्ता को अभिव्यक्त करने में सांख्य का मतभेद है।

आचार्य बलदेव के अनुसार कारणता के कारक एक यथार्थ परिवर्तन एवं अभिवृद्धि उत्पन्न करते हैं। यह नवीन गुणों एवं व्यापारों की अभिवृद्धि ईश्वर को कारणता-विषयक इच्छा की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है, वह इस अर्थ में एक अचिन्त्य स्वरूप की होती है, क्योंकि सूक्ष्म कारणावस्था में अस्तित्त्व नहीं होने पर भी वे परमात्मा की इच्छा की प्रक्रिया से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु, भगवान् के साहचर्य द्वारा जहाँ तक सूक्ष्म कारण भगवान् में अस्तित्त्व रखता है; जगत् अपने वर्तमान रूप में भी भगवान् से भिन्न एवं स्वतन्त्र नहीं है।[७६] 'जीव' भी स्वयं कोई स्वातन्त्र्य नहीं रखते, उनकी परमात्मा ने अपनी इच्छा मात्र से सृष्टि की है, तथा

७५. ध्यातृ-भेदात् कार्य-भेदाच्च अनेकतया प्रतीतोऽमि हरिः स्वरूपैक्यं स्वास्मिन्नमुञ्चति। गोविन्द भाष्य-३.२.१३

७६. तन-मूर्तत्वं खलु भक्ति-विभावितेन हृदा ग्राह्यं गान्धर्वानुशिलितेन श्रोत्रेण रागमूर्तत्वमिव। गोविन्द भाष्य-३.२.१७

जगत् व जीवों की सृष्टि करने के पश्चात् वह उसमें प्रविष्ट होकर उनके अन्तर्यामिन् के रूप में स्थित रहता है। इसलिए 'जीव' जड़ जगत् के विषयों के समान ही प्राकृतिक अनिवार्यता के अधीन है, और उनमें कर्तृत्व अथवा इच्छा की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती है।[७७] जगत् की प्राकृतिक अनिवार्यता केवल उसके माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली हरि-इच्छा मात्र है। मनुष्य में पाए जाने वाले संकल्प और स्वतः स्फूर्त इच्छा भी मनुष्य के माध्यम से क्रियाशील हरि-इच्छा की अभिव्यक्ति हैं।

वास्तव में भक्ति को एक ज्ञान विशेष माना जाता है[७८] 'भक्ति' के द्वारा एक व्यक्ति किसी वस्तुगत हेतु के बिना ईश्वरोन्मुखी होता है। 'भक्ति' एक ऐसी शक्ति भी मानी जाती है जो भगवान् को हमारे वशीभूत कर सकती है।[७९] यह शक्ति संवित् से सम्बन्धित भगवान् की 'ह्लादिनी-शक्ति' का सार मानी जाती है। उक्तं संवित् का 'ह्लाद' से तादात्म्य होता है, तथा उसका सार सहज प्रवृत्ति के अनुकूल प्रवाह में निहित होता है।[८०] इस प्रकार इसका चित् व आनन्द के रूप में भगवान् के स्वरूप से तादात्म्य होता है फिर भी उसे भगवान् से एकरूप न मानकर उसकी एक शक्ति माना जाता है।[८१]

यद्यपि 'भक्ति' का भगवान् में उसकी शक्ति के रूप में अस्तित्त्व होता है, तथापि वह भक्त का विशेषण भी होता है। वह दोनों को आनन्ददायी होता है तथा वे दोनों उसके संघटक तत्त्व होते हैं। यद्यपि आनन्द का यह स्वरूप है जो आह्लाद का अनुभव करता है तथा अन्य व्यक्तियों के लिए आह्लाद अनुभवों की प्राप्ति सम्भव बनाता है। जिस शक्ति के द्वारा वह ऐसा करता है, उसे ह्लादिनी' कहते हैं। सच्ची भक्ति का स्वंय से बाह्य कोई हेतु इस कारण नहीं हो सकता कि वह स्वयं परमानन्द के रूप में भगवान् की अनुभूति होती है।

सत्य ज्ञान सकल पुण्य एवं पाप को नष्ट कर देते हैं, अतएव 'जीवन्मुक्ति'

७७. गोविन्द भाष्य–२.१.१३.

७८. गोविन्द भाष्य–२.१.१४.

७९. तस्मादेवमेव जीव–प्रकृति–शक्तिमद् ब्रह्म जगदुपादान तदात्मकं च इति सिद्धमेवं कार्यावस्थेत्वऽप्यविचिन्त्यत्व.........चावतिष्ठते। गोविन्दभाष्य–२.१.२०.

८०. चेतनस्यापिजीवस्याश्म–काष्ठ–लोष्ट्रवदस्वातन्त्र्यात् स्वतः कर्तृत्व–रूपानापत्ति। गोविन्द भाष्य–२.१.२३

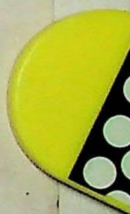
८१. भक्तिरपि ज्ञान–विशेषोभविति। सिद्धान्तरत्न पर टीका, पृ० २९.

में मनुष्य केवल भगवान् की इच्छा से अपनी देह को धारण करता है। अनिवार्य कर्मों का प्रभाव नष्ट नहीं होता-स्वर्ग में प्रवेश आदि पुण्य फलों की उत्पत्ति इसके अपवाद हैं–तथा वह सत्य ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है, जब सत्य ज्ञान का उदय होता है, तब वह आगे स्वंय को प्रकट नहीं करता। कौशीतकी उपनिषद् में भी कहा गया है कि एक ज्ञानी मनुष्य के पुण्य उसके मित्रों में चले जाते हैं और उसके पाप उसके शत्रुओं में, इसलिए जो भक्त भगवान् के समागम में प्रविष्ट होने को व्याकुल होते हैं, उसके उदाहरणों में उनके कर्मों के पुण्य-फल भगवान् के प्रिय व्यक्तियों में वितरित हो जाते हैं, तथा उनके पाप-कर्मों के फल उसके शत्रुओं में वितरित हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रारब्ध 'कर्म' के फल अन्य व्यक्तियों में बट जाते हैं, अत: इस नियम की पूर्ति हो जाती है कि सर्व प्रारब्ध 'कर्म' अनिवार्यत: फलीभूत होने ही चाहिए, तथा परमेश्वर का भक्त उनसे मुक्त हो जाता है। सत्य-विकास का सर्वोत्तम साधन केवल भक्तों का साहचर्य ही हो सकता है। हमारा बन्धन यथार्थ है और बन्धन का विनाश यथार्थ व नित्य है। चरम मुक्ति की अवस्था में भी 'जीव' भगवान् से अपने पृथक् अस्तित्त्व को बनाये रखता है।







लेखक परिचय

नाम– डॉ० जयदेव वेदालंकार
पिता का नाम–श्री जुगलाल सिंह
जन्म स्थान–झाड़ौदा कलाँ, नई दिल्ली-४३
जन्म तिथि–५.१२.१९४१
शिक्षा–

हाई स्कूल–पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
वेदालंकार–गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
सिद्धान्त भूषण–दयानंद उपदेशक विद्यालय, यमुनानगर (हरियाणा)
एम०ए०–गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पी-एच०डी०–मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ
डी० लिट्०–रांची विश्वविद्यालय, बिहार

ग्रन्थ–

वैदिक दर्शन, भारतीय दर्शन की समस्याएँ, उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, भारतीय दर्शन में प्रमाण, वैदिक साहित्य का इतिहास, भारतीय दर्शन तत्त्व एवं ज्ञान मीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय, भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास (पाँच खण्ड)।

राष्ट्रीय पुरस्कार–

१. स्वामी प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार, १९८७
२. आर्य साहित्य पुरस्कार शान्ताक्रुज, मुम्बई १९९८
३. उत्तर-प्रदेश संस्कृत अकादमी विशेष पुरस्कार १९९९
४. वेद-वेदांग राष्ट्रीय पुरस्कार २०००, स्वामी गंगेश्वरानन्द वेद प्रतिष्ठान नासिक
५. वर्षीय उत्तम ग्रन्थ-२००२ (भारतीय दर्शानिक अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली।



न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन

5824, शिव मंदिर के पास, न्यू चन्द्रावल,
जवाहर नगर, दिल्ली - 110007 (भारत)
दूरभाष : 91-11-23851294, 55195809
ई मेल : newbbc@indiatimes.com